ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

(प्रथम-तृतीयाध्यात्मक प्रथम भाग)

लेखक -

पदवाक्यप्रमाणज्ञ स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

प्रकाशक-

रामलाल कपूर ट्रस्ट

सोनीपत (हरियाणा)

रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला संख्या– ३२

ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

[प्रथम-तृतीयाध्यात्मक प्रथम भाग]

(प्रथम भाग)

लेखक-
पदवाक्यप्रमाणज्ञ श्री पं॰ ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु

प्रकाशक-
रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो॰ शाहपुरतुर्क
जि॰ सोनीपत- १३१००१
(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

प्रकाशक-
रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो॰ शाहपुरतुर्क
जि॰ सोनीपत- १३१००१
(हरियाणा)

अष्टम वार- १००० प्रति
आषाढ, सं॰ २०६०,
जुलाई, सन् २००३
मूल्यम् - १४०.००

मुद्रक-
राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली

॥ ओ३म् क्रतो स्मर ॥

भूमिका

प्रथमावृत्ति का प्रारम्भ

प्रथमावृत्ति पढ़ाने का वास्तविक प्रारम्भ गण्डासिंह वाला (अमृतसर) में सन् १९२२ ई० में हुआ। जो १९२५ तक वहाँ रहा, उसके पश्चात् १९२८ तक काशी में, पीछे १९३१ तक अमृतसर (रामभवन) में, तत्पश्चात् काशी में १९३२ से ३६ तक रहा। १९३६ से १९४७ तक रावी तट लाहौर और १९५० से १९६४ तक (मोतीझील) काशी में चलता रहा और चल रहा है। हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही सदा से प्रथमावृत्ति पढ़ाते रहे। सन् १९५३ में पाणिनि महाविद्यालय में संस्कृत पठन-पाठन की श्रेणियां चलती रहीं। उसके पश्चात् अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करने वाले विद्यार्थी भी पढ़ते रहे, उधर पाणिनि महाविद्यालय में बिना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराये श्रेणियां चल रहीं थीं। वे जब ३५-४० दिन में सरलतम विधि के पाठ समाप्त कर लेते थे तो उन्हें अष्टाध्यायी के मुख्य-मुख्य प्रकरण पढ़ाये जाते थे और साथ में उनको मार्ग दिखा दिया जाता था कि वह अन्य प्रकरणों को भी यत्न से समझ सकेंगे। जब सरलतम विधि के ये ३५-४० पाठ पढ़ कर समाप्त करने वालों की संख्या अधिक हुई तब प्रकरणों को सरल ढंग से पढ़ाने के विचार से सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर सरल ढंग से लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ और मन में लिखने का पुनः नये सिरे से संस्कार जागृत हुआ। पठनार्थी बहुत संख्या में लिखते थे कि सरलतम विधि से आगे का पाठ्यक्रम भी लिख देवें, ऐसी प्रेरणा बराबर हो रही थी। मेरे मन में यही उठता था कि सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर सरलतम ढंग से लिखा जाये तो ये आवश्यकताय स्वयं पूरी हो जाती हैं, और उधर जब सोचता था कि यह काम (अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति का काम) पूरा कैसे होगा तो मन निराश हो जाता था। अवकाश न होने से और निरन्तर कार्य भार के अधिक बढ़ते रहने से अवसर ही न मिल पाता था, यदि कोई प्रथमावृत्ति सम्पूर्ण लिख देता तो मेरा मन शान्त हो जाता और मेरे में प्रबल भावना न उठती। वर्षों से अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये हुओं को पढ़ाते समय कापियों पर लिखा कर पढ़ाते थे बड़ी कठिनता सामने आती थी यह

सब विचार मस्तिष्क में घूम ही रहे थे कि सरलतम विधि वालों की आगे की समस्या का प्रबल विचार भी सामने आने लगा तब प्रथमावृत्ति का लिखना अनिवार्य है यह मन में बैठ गया ।।

इस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति अर्थ-उदाहरण आदि जानने की आवश्यकता अधिक से अधिक पड़ने लगी, तब यह प्रश्न सामने आया कि प्रथमावृत्ति की रचना अनिवार्य है । काशिका से पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-उदाहरणों की सिद्धि विदित होती नहीं थी, अर्थ भी सरल ढ़ग से समझने में कठिनाई थी पढ़ाने वाले भी ढ़ंग से पढ़ाने वालों के सुहृद् बन कर, ज्ञान न होने से तथा विधि का पता न होने से ठीक से समझा नहीं पाते थे । हमारे यहां तो सब समझ लेते थे और समझा लेते थे, पर हम कितनों को सम्हाल सकते थे, सबका काम कैसे चले यह समस्या बराबर खड़ी थी पढ़ने वाले श्रद्धालुओं की मांग पूरी कैसे हो ? पढ़ाने वाले श्रद्धा रखते हुये भी अजब ढ़ग से पढ़ाते थे, यह सब देखकर बड़ा दुःख होता था । पढ़ने वाला निराश हो जाता था । हमारे यहां जो भी कुछ दिन ठहर जाता था, वह तो इस कठिनाई से पार हो जाता था, कितने विद्यार्थियों को भला हम सहारा देते । पाणिनि विद्यालय की श्रेणियां चलती रहती थीं पर समस्या का ठीक हल नहीं बन पाता था ।।

वास्तव में तो सन् २५ के पश्चात् ही प्रथमावृत्ति लिखी जानी चाहिये थी, लिखी भी जा सकती थी, पर पठनार्थियों की कठिनाइयों का ठीक-ठीक अनुभव गत १०-१२ वर्षों में हुआ । स्वयं स्वाध्याय (Self Study) से पढ़ने वालों को अष्टाध्यायी से संस्कृत व्याकरण का व्यावहारिक (अनिवार्य) ज्ञान कैसे हो, इसका १०-१२ वर्ष तक ऐसे व्यक्तियों को पढ़ाते-पढ़ाते खूब अनुभव किया । अब तो ऐसा लगता है कि यद्यपि उस समय (२५-३० वर्ष पहले) शक्ति तो बहुत थी, पर अनुभव जो मिला वह अपूर्व है, इसको देख के तो यही कहना पड़ रहा है कि इस में भी प्रभु का ही हाथ था जो उस समय स्वयं लिखना आरम्भ न किया और न ही अपने योग्य शिष्यों द्वारा लिखवाना आरम्भ किया उनकी भी इच्छा लिखने की न हुई !!! यह सब इस समय रहस्यमय ही प्रतीत हो रहा है । अब मेरा विचार बदल गया हैं प्रभु को यह काम मेरे द्वारा ही कराना था इसी से किसी अति प्रिय शिष्य की भी इच्छा प्रथमावृत्ति लिखने में न लगी और अन्त में ३५-४० वर्ष पश्चात् मुझे ही इसके लिखने में लगना पड़ा यद्यपि मेरी शक्ति-अवकाश और सब शिथिल हो गये थे । मैंने सन् १९६० के अन्त में प्रथमावृत्ति लिखने का निश्चय किया मेरे द्वारा इसका प्रारूप निश्चय हुआ और लिखने का आरम्भ हुआ, मुझसे सारा ढंग समझ कर और आव-

श्यकता पड़ने पर पूछ-पूछ कर लिखा जाता था मैं यथेष्ट समय नहीं दे पाता था, पर सहायक की श्रद्धाउत्साह एवं योग्यता से दिसम्बर सन् १९६३ तक सवा ५ अध्याय तक प्रथमावृत्ति (रफ) लिखी गई । हर वर्ष साढ़े नौ ९॥ मास काम होता रहा, वर्ष में २॥ मास अवकाश रखा गया ॥

विशेष घटना

अन्त में १५ दिसम्बर सन् १९६३ को मैं जम्मू में था, जब कि एक विशेष घटना घटी, रात्रि को लगभग ११॥ बजे के पश्चात् हृदय पर विशेष कष्ट हुआ, (जो पहले कभी नहीं हुआ था) तो प्रभु की कृपा एवं वहां के सज्जनों की विशेष सेवा से यह सङ्कट टल गया, प्रात: यही निश्चय मन में किया कि प्रभु को तुमसे कुछ काम लेना इष्ट है, इसीलिये तुम बच गये हो । बस वहां से कुछ दिन अमृतसर चिकित्सा के पश्चात् काशी आने पर यही निश्चय किया कि 'प्रथमावृत्ति का काम पूरा किया जावे और इसे छापने का ढङ्ग बनाया जावे, बनाने से ही ढङ्ग बनेगा' नहीं तो इतना बड़ा काम कैसे पूरा होगा । तब स्वास्थ्य पूरा ठीक न होने पर भी लग गया, और कुछ मास में रफ को सुना गया, पढ़ा गया, संशोधन किया गया, एवं पुन: शुद्ध प्रेस कापी लिखवाई गई साथ-साथ में आगे का संशोधन भी चलता रहा, अन्त में अप्रैल ६४ के अन्त वा मई के प्रारम्भ में प्रेस का निश्चय हुआ । यहां हम प्रसङ्गत: यह बात और अधिक व्यक्त करते हैं कि प्रथमावृत्ति के बनाने एवं छापने की आवश्यकता का अनुभव तो हमें प्रारम्भ से ही बराबर रहा पर चाहते हुये भी यह काम पूरा न हो सका, और इसके बनाने की तीव्र भावना कैसे जागृत हुई यह लिख देना भी कदाचित् अनुचित न होगा, इसलिये इस विषय में कुछ और स्पष्ट रूप से लिखते हैं —

प्रथमावृत्ति की भावना अधिक तीव्र कैसे हुई

हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये छात्रों को पढाते थे तो उनको प्रारम्भ से ही सिद्धि पूरी पढाते थे,हमारी यही प्रक्रिया रही सिद्धि में आगे पीछे के जो सूत्र लगते थे उनका हमने यह क्रम रखा था कि आगे के लगने वाले सूत्रों को हम संक्षेप से अर्थ-उदाहरण बोल देते थे इतनी बात पर विशेष ध्यान देते थे कि उस आगे लगने वाले सूत्र ने हमारे प्रकृत (प्रारम्भ के) उदाहरण में क्या काम कर दिया । हम इतनी बात पर ही सन्तुष्ट हो जाते थे जब छात्र उलट कर बता दे, कि इस उदाहरण में इस सूत्र ने यह काम किया । आगे लगने वाले सूत्र का अर्थ छात्र सुन तो लेता था,पर हम उस पर यह भार नहीं डालते थे कि वह उस आगे लगने वाले सूत्र के सम्बन्ध में

बतावे, छात्र से पूछते भी नहीं थे, कि वह हमारे बताये उस सूत्र को हमें सुनावे। छात्र इतना तो कहता था कि उस सूत्र ने यह काम किया। अब जब १९५३ में प्रौढ श्रेणियों के पाठ चले तो हम पूर्ववत् आगे लगने वाले सूत्र का अर्थादि बोलते तो थे ही छात्र इसमें से जितना ग्रहण करना चाहे कर ले सब पर हम बल न देते थे, पर बुद्धिमान, तीव्र भावना वाले, संस्कृत में निष्ठावान् प्रौढ पठनार्थी जब आगे लगने वाले सूत्र को अधिक प्रौढता से समझने का यत्न करने लगे तो हम उन्हें अच्छी प्रकार बताकर सन्तुष्ट कर देते थे। किन्तु जब हमें यह ध्यान आया कि प्रौढ पठनार्थियों को जो आगे लगने वाले सूत्रों को भली प्रकार समझ एवं ग्रहण कर सकते हैं उन्हें तो आगे लगने वाले सूत्रों को भी समझा देना ठीक है हम उन्हें क्यों निराश करें, पर उन्हें अन्य अध्यापक कैसे बतायेगा तब मस्तिक में यह बात तीव्रता से बैठ गई कि अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति तैयार हो तो बुद्धिमान् पठनार्थी स्वयं ही बिना किसी दूसरे की सहायता के आगे लगने वाले सूत्र को भी समझ लेगा। यह बात काशिका से हल नहीं हो सकती। इसके लिये आगे के सूत्रों की व्याख्या भी पदच्छेदादि ढंग से बनाया जाना आवश्यक है, तब प्रथमावृत्ति के छापने की भावना प्रबलता से उत्पन्न हुई। इसीलिये इस सारी प्रथमावृत्ति में प्रौढ़ पठनार्थियों की समस्या पदे-पदे हमारे सामने रही या हमें सामने रखनी पड़ी। कई बातें हमने इनको विचार में रखकर की हैं। साधारण संस्कृत के अध्यापक इस बात को समझ नहीं सकते॥

वास्तविक व्याकरण प्रथमावृत्ति ही है।

हम तो व्याकरण के तीन भाग करते हैं। प्रथम तृतीय भाग मूलाष्टाध्यायी कण्ठस्थ करना है। दूसरा तृतीय भाग प्रथमावृत्ति है, अर्थात् पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि। तृतीय, एक तिहाई भाग है, द्वितीयावृत्ति शंका समाधान-वार्त्तिक-कारिका-परिभाषा तथा महाभाष्य सम्पूर्ण। इसमें प्रथमावृत्ति ही मुख्य व्याकरण समझना चाहिये। प्रथमावृत्ति तक व्याकरण तो प्रत्येक भारत वासी को आना चाहिये। तभी संस्कृत का वास्तविक प्रचार हो सकता है। प्रथमावृत्ति तक व्याकरण तो हाई स्कूलों में भी चल सकता है, चाहे वह लड़कों का हो या लड़कियों का। यह बात सुनी सुनाई नहीं कह रहे हैं अपितु स्वानुभूत कह रहे हैं, जब ऐसी स्थिति आवेगी और वह अवश्य आवेगी, जब भारत में यह समझा जायेगा कि जिसने संस्कृत नहीं पढ़ी, वह भारतीय ही नहीं है, तब लोग अनिवार्यता से संस्कृत पढ़ने लगेंगे। यह अवस्था अष्टाध्यायी पद्धति से ही हो सकती है। इसी परिणाम पर सब पहुचेंगे॥ अष्टाध्यायी पद्धति की विशेषता हम पृथक् दर्शायेंगे। जब भारत में यह नियम हो जायेगा कि सबको संस्कृत अनिवार्यतया पढ़नी ही होगी तब प्रश्न उठेगा

कि यह कैसे हो। हमारा अपने आचार्यों के लेख पर तथा अनुभव द्वारा यह मत है कि "कम से कम व्याकरण और व्यावहारिक वैद्यक प्रत्येक भारतीय पुरुष वा महिला को पढ़नी चाहिये। गणित का भी व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहना चाहिये"। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में पठन-पाठन विधि के अन्तर्गत लिखा है—"जैसे पुरुषों को व्याकरण धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण-धर्म-वैद्यक-गणित-शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये, क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसे चाहिये करना-कराना, वैसे वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग आनन्दित रहें"——।

इसमें कम से कम व्याकरण तो सब को ही पढ़ना लिखा। वैसे तो अधिकार वेद तक का दिया, पर कम से कम व्याकरण प्रत्येक (भारतीय वा व्यक्ति) को पढ़ना, अनिवार्य बताना तो ठीक ही है। जो इतना भी न पढ़ सके वह शूद्र सेवा कार्य किया करे। सारभूत बात यह निकली कि व्याकरण तो प्रत्येक को पढ़ना है। इसलिए हम कहते हैं कि व्याकरण प्रथमावृत्ति तो प्रत्येक स्त्री पुरुष को पढ़नी चाहिये। इतना मात्र पढ़ लेने से व्याकरण पढ़ना हो जाता है। विशेष के लिये चाहे कोई सारा जीवन लगा दे। प्रथमावृत्ति पढ़ लेने से व्याकरण का पर्याप्त बोध हो जाता है। जो अधिक चाहे वह द्वितीयावृत्ति वार्त्तिक परिभाषादि तथा महाभाष्य को पढ़ ले तो और अच्छा है। नहीं तो व्याकरण अध्ययन प्रथमावृत्ति तक है, यह हमारा कहना है॥

यह बात विदित न रहने से लोगों ने व्याकरण सर्वथा छोड़ दिया, और काव्यादि पढ़कर ही विद्वान् समझे जाने लगे। व्याकरण (प्रथमावृत्ति) के बिना काव्यादि का भी यथावत् ज्ञान नहीं होता, इसीलिए अनेक साहित्याचार्य आदि व्याकरण की अपनी कमी समझकर इसको पूरा करते हैं जो अच्छी बात है। व्याकरण (प्रथमावृत्ति) का ज्ञान सब के लिए अनिवार्य है। यह बात कभी नहीं भूलना चाहिए। व्याकरण प्रथमावृत्ति ही है यह न भूलना चाहिये। यही हमारा कहना है। धातुपाठ-उणादि-गणपाठ आदि भी इसी में आ जाते हैं॥

हमने देखा कि सरलतम विधि के ४० पाठ पढ़नेवालों ने हमसे बिना पूछे ही ४-५ मास में अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करके सुना दी। हम चकित रहे कि इतना कार्य उन्होंने कैसे किया। उसके पश्चात् उन्होंने प्रथमावृत्ति पढ़ ली। कहने का तात्पर्य यह

है कि अष्टाध्यायी की सरलतम पद्धति से समझकर पढ़ने वाले बिना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये पठनार्थी भी, स्वयं अन्तःप्रेरणा से अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करने लग जाते हैं। उसमें उनको आनन्द आने लगता है और पदे-पदे वे यह अनुभव करने लगते हैं कि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेने से हम व्याकरण के अद्भुत विद्वान् बन सकते हैं। शंका समाधान की बातें समझने में भी उन की गति फिर उत्तम रीति से चल पड़ती है। इस प्रकार प्रथमावृत्ति का ज्ञान हो जाने पर पठनार्थी अपने आप को बहुत कुछ समर्थ समझने लग जाता है।

प्रथमावृत्ति में क्या है ?

पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-भाषार्थ ये हैं मुख्य विषय जो हमने लिखे हैं। इनके विषय में पाठकों को हम कुछ विस्तार से बताते हैं—

(१) पदच्छेद=सूत्र के पदों को पृथक् करके बताना।

(२) विभक्ति वचन=किस विभक्ति का कौन सा वचन है यह दर्शाना। किस शब्द के समान इसके रूप चलेंगे यह बताना।

(३) समास जो पद समस्त है, उसका विग्रह दिखाकर, अन्त में समास कौन सा है यह बताना। हमने यद्यपि स्पष्ट बता दिया है कि विग्रह दर्शाने में कहीं-कहीं कठिनाई होगी सो दस-पांच सूत्रों से आगे वह कठिनाई नहीं रहेगी। हमारा विश्वास है कि सूत्रों का पदच्छेद और विभक्ति जान लेने पर विद्यार्थी को अर्थ का आभास होने लगता है॥

(४) अनुवृत्ति=हमने सर्वत्र अनुवृत्ति दिखाने का विशेष यत्न किया है, यहां तक किया है कि **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२) जैसी दूर तक व्यापक अनुवृत्तियों को भी हमने प्रत्येक सूत्रों में दिखाया है। हमारा दृढ़ निश्चय है कि अनुवृत्ति दिखा देने से सूत्र का अर्थ ठीक-ठीक समझ में आ जाता है। इसमें कहीं-कहीं पाठकों को कठिनाई आवे तो पूर्वापर विचार करने से सब समझ में आ जाता है॥ यद्यपि हम **प्रत्ययः, परश्च** (३।१।१,२) जैसे व्यापक अधिकारों को एक जगह आरम्भ में लिख कर आगे न भी लिखते तो भी काम चल जाता, पर साधारण बुद्धि वालों को ध्यान में रखकर हमने अनुवृत्ति सब सूत्रों में निबाही है। यह सोचकर कि कागज वाले कागज बनावेंगे, छापने वाले छापेंगे, पुस्तक का दाम कुछ अधिक भले ही हो जायेगा पर अनुवृत्ति स्पष्ट कर देने से परम लाभ होगा। शीशे के समान सब साफ विदित हो जायेगा। वृन्दावन वाली मूल अष्टाध्यायी से विषय पूरा स्पष्ट नहीं होता। हां! ऐसा विचार है कि पूरी प्रथमावृत्ति छप जाने पर संशोधन करके नई पुस्तक अनुवृत्ति

की छापी जावे। प्रथमावृत्ति वाले को उसकी अलग आवश्यकता नहीं पड़ेगी यह विश्वास है।

(५) अर्थ हमने अनुवृत्ति के आधार पर संस्कृत में लिखा है। भाषार्थ में भी [ ] बड़े कोष्टक में सूत्रों के सब पदों को दर्शा कर ही अर्थ किया है जिससे भाषार्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है। केवल अनुवृत्ति वाले पदों को कोष्ट में नहीं दिखाया है।

(६) उदाहरण—संस्कृत में इसलिये दर्शाना पड़ा है कि हिन्दी न जानने वाले प्रान्तों में भी उदाहरण संस्कृत भाग में दर्शा कर ही पूरा होता है अहिन्दी प्रान्त वाले हिन्दी न भी देखें तो भी उन्हें बोध हो जायेगा॥

उदाहरणों के अर्थ

इस प्रथमावृत्ति में हमने यथासम्भव सब उदाहरणों के अर्थ लिखने का साहस किया है। यदि हम संस्कृत के उदाहरणों के आगे उनके अर्थ भी हिन्दी में दिखा देते तो भी काम चल सकता था, दुबारा भाषार्थ में उदाहरण दिखाकर अर्थ न लिखना पड़ता, पर इसे ठीक न समझकर भाषार्थ में अर्थ दिखाने के लिये उदाहरण दुबारा दिखाना पड़ा है। प्रौढ़ विद्यार्थियों की सुगमता के लिये ही ऐसा करना पड़ा। जहाँ तक हमसे हो सका हमने अर्थ दिखाने का प्रयास किया है। आगे इस विषय में न्यूनाधिकता का अवकाश भी रखा है। भाषार्थ के अन्त में किसी आवश्यक विशेष बात की व्याख्या वा स्पष्टीकरण भी कर दिया है जो संस्कृत भाग में नहीं। वह भी इसी आशा पर किया है हिन्दी हमारी राजभाषा हो गई है, यह तो सबको जाननी ही होगी, जबकि रूस जैसे विदेशों में हिन्दी के ज्ञान के लिये प्रयास होने लगा है॥

सिद्धि

उदाहरणों की सिद्धि हमने पृथक् दी है। इस विषय में अष्टाध्यायी पढ़नेवालों को सबसे अधिक कठिनाई सिद्धि की थी। यहीं पर पढ़ानेवाले हतोत्साह होकर बैठ जाते थे। कई न जाननेवालों ने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न कराकर अष्टाध्यायी के एक द्रुत पाठ का आविष्कार किया, वह सब अष्टाध्यायी न जाननेवालों की क्रीड़ा मात्र थी, और कुछ नहीं था, और कहीं-कहीं अष्टाध्यायी पढ़ाते थे तो उदाहरण भी (बिना सिद्धि के) साथ पढ़ा देते थे। उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया, यह कुछ नहीं बताते थे। इस प्रकार अष्टाध्यायी की कई-कई आवृत्तियाँ घड़ी गईं। इन सब कारणों से अष्टाध्यायी के उदाहरणों की सिद्धियाँ छात्र नहीं कर पाते थे, क्योंकि

अध्यापक पढ़ा नहीं सकते थे। पढ़ानेवाले कौमुदी पढ़े होते थे, 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' जो वह कहते थे, अष्टाध्यायी वालों को झक मारकर मानना पड़ता था। क्योंकि वे तो स्वयं सर्वथा अनभिज्ञ थे। पढ़ानेवाले या तो पौराणिक थे। वेतन के लिए कुछ उदारता दिखाकर भीतर से अष्टाध्यायी को फेल करनेवाले ही प्रायः थे। पढ़वानेवाले सर्वथा शून्य होने से कुछ बोल नहीं पाते थे। ये पौराणिक अध्यापक स्पष्ट कहते थे कि 'अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाना चाहो, तो विद्वान् नहीं बन सकते। विद्वान् बनाना चाहते हो, तो आर्य नहीं रह सकते"। यह कपट प्रक्रिया २५-३० वर्ष तक चली। पढ़नेवालों की बुद्धियाँ भ्रष्ट हो गयीं। जो अब तक भी यत्र-तत्र भ्रष्ट देखी जाती हैं। सूर्य उदय होने पर भी आँखें चुंधिया रही हैं। अब सनातनधर्मी विद्वान् भी अष्टाध्यायी पर लट्टू हो रहे हैं। अनार्षता पौराणिकता का इतना गहरा प्रभाव पड़ा। उत्साह भंग हो गया। अतः जानने की इच्छा भी कम ही होती है। अब क्या है व्याकरण ही व्यर्थ है! बिना व्याकरण के भी साहित्य पढ़ा जा सकता है यह मिथ्या प्रवाह चल पड़ा है। जो 'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धा' की कोटि में ही कहा जायेगा॥ हमारी प्रथमावृत्ति ने सब कठिनाईयों को दूर कर दिया है। अब हमें पहले २५-३० वर्ष की विचारधारा को छोड़कर नये सिरे से अष्टाध्यायी को पुनः फिर से अपने यहाँ पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करना होगा। यदि श्रद्धावान् उत्साहपूर्ण और निष्ठावान् होकर हम लग जायेंगे तो २-४ वर्षों में ही सब कठिनाई दूर होकर फिर से व्याकरण का यथेष्ट मार्ग प्रशस्त रूप से चल पड़ेगा। उपर्युक्त-प्रक्रिया को हमने इस प्रथम भाग में पूरा निभाया है। पाठक इसी दृष्टि से पढ़ें एवं पढ़ावें।

अर्थों के विषय में विशेष निवेदन

यद्यपि हमने अर्थ बड़े परिश्रम से दिया है, पुनरपि उसमें अवकाश रखा है। सद्भावना से विचार करने पर उसमें न्यूनाधिकता की सम्भावना रखी है, क्योंकि प्रथम बार के प्रयास में अवकाश रखना आवश्यक है॥

हमारा यह दृढ़ मत है कि काशिका को प्रथमावृत्ति तथा द्वितीयावृत्ति दो भाग अलग-अलग करके छापने से कदापि काम नहीं चल सकता। न ही काशिका के हिन्दी वा अंग्रेजी अनुवाद करने से यह कठिनाई दूर हो सकती है हम तो यह समझते हैं, कि जो व्यक्ति प्रथमावृत्ति समझ लेगा, वह तो आगे द्वितीयावृत्ति समझ ही लेगा। शंका समाधान का विषय तो ठीक-ठीक महाभाष्य पढ़ने के पश्चात् ही स्पष्ट होगा।

काशिका से अलग प्रथमावृत्ति क्यों लिखनी पड़ी

हम लोग प्रारम्भ में काशिका से सहायता लेकर प्रथमावृत्ति पढ़ाने लगे, तो प्रथमावृत्ति हमें कापियों पर अलग लिखानीप ती थी। जिससे पढ़नेवाले छात्र का बहुतसा समय लिखने में ही लग जाता था। उदाहरणों की सिद्धियां भी हम लिखवा देते थे। प्रथमावृत्ति हमने काशिका से कभी नहीं पढ़ाई, पर अपने विद्यालयों से अन्यत्र जब हम काशिका पर से प्रथमावृत्ति पढ़ाते एवं रटाते भी देखते तो हृदय पर गह ी चोट लगती थी। एक बार मैं काशी के प्रौढ़ विद्वान् पं० गोपाल शास्त्री जी के साथ एक गुरुकुल में गया तो वहां देखा कि काशिका की वृत्ति सिद्धान्त कौमुदी की तरह बिना समझाये वा अनुवृत्ति बताये रटाई जा रही थी, जिसके स्नातकों को भी नहीं सूझता था कि अब तो समझाकर पढ़ावें। पौराणिक पण्डित तो वृत्ति के लिये उदारता दिखाने लगते हैं, वास्तव में अष्टाध्यायी के मर्म से सर्वथा शून्य हैं। इस घटना से भी मन पर गहरी चोट लगी और प्रथमावृत्ति लिखने की गहरी प्रेरणा मिली।

पढ़ाने वाले पौराणिक पण्डित गुरुकुल में बैठकर भी मूर्त्ति पूजा करते और स्पष्ट कहते कि यदि "आर्ष पाठ विधि से पढ़ाना चाहते हो तो छात्र विद्वान् नहीं बन सकते। विद्वान् बनाना चाहते हों तो आर्य नहीं रह सकने"। जब पढ़ाने वालों की यह मनोगति हो तो तब प्रेम से पढ़ाने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है तभी तो काशी के एवं सनातन धर्म के प्रमुख विद्वान्, महमहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने कहा कि "हमको तो ऋषिकुल हरिद्वार में रहते यह विश्वास हो गया था कि अष्टाध्यायी से विद्वान् नहीं बन सकता, क्योंकि गुरुकुल में दिन में अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती थी और रात्रि में सिद्धान्त कौमुदी"। इस प्रकार प्रायः सभी गुरुकुलों में ८ वीं श्रेणी तक अष्टाध्यायी रटवा दी जाती थी, अब भी रटवा दी जाती हैं। हमारी दृष्टि में तो वह व्यर्थ रटवाई जाती है क्योंकि आगे प्रथमावृत्ति तो कोई पढ़ा नहीं सकता। रटने का परिश्रम सब व्यर्थ हो जाता है। प्रथमावृत्ति छप जाने पर उनको भी ढंग पर डाला जा सकता है, जो कुछ भी कठिन नहीं।

यह प्रथमावृत्ति इन सब आवश्यकताओं को पूरा करेगी। गम्भीर विचारक हमारी इस प्रथमावृत्ति को पढ़ना और पढ़ाना गुरुकुलों में अनिवार्य कर देगें। चाहे वर्त्तमान आचार्य और मुख्याधिष्ठाता अपनी कमी के कारण न पढ़ा सकें पर थोड़ा परिश्रम उठाकर स्नातक-शास्त्री-आचार्य सुगमता से प्रथमावृत्ति पढ़ा सकेंगे।

सिद्धियों का परिशिष्ट अलग

हम यहां यह भी दर्शाये देते हैं कि उदाहरणों के पश्चात् तत् तत् उदाहरण में उक्त सूत्र ने क्या काम किया, जब तक यह न बताया जावे, तब तक सूत्र कुछ भी समझ में नहीं आ सकता, सो उदाहरण के पश्चात् उदाहरण में सूत्र प्रयोजन समझाने के लिये यत्न अनिवार्य है। इसके लिए प्रथमावृत्ति १-२-३अध्याय के अन्त में एक अलग परिशिष्ट छापा गया है। जिसमें आरम्भ से लेकर तीसरे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त सब उदाहरणों की पूरी सिद्धियां दर्शाई गई हैं। इसमें क्रमशः सूत्र देकर परिशिष्ट दिया गया है। यदि हम ये सिद्धियां उदाहरणों के साथ-साथ ही छाप देते तो सूत्रों के परस्पर सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई पड़ती। उनका क्रम भंग वा व्यवधान होकर कठिनाई होती, नीचे दिखाते तो ग्रंथ का आकार भी बढ़ जाता। इसलिए यह सब सोचकर परिशिष्ट तीन अध्यायों के अन्त में पृथक् पृथक् अध्याय का दिया गया है, जिसमें जिस सूत्र का परिशिष्ट है वह सूत्र मोटे टाइप में छापा है, ताकि पता लगे यह सिद्धि अमुक सूत्र की है, या हैं। आरम्भ में प्रथमावृत्ति में दिये गये उदाहरणों की सिद्धि क्रमशः दी गई है। उसमें आरम्भिक उदाहरण में "सूत्र प्रयोजन" शीर्षक देकर संक्षेप से उस उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया यह समझाया गया है, जो पठनार्थी को अवश्य समझना होगा तभी आगे चलेगा। यदि अति निर्बल छात्र हो तो उसे कई उदाहरणों में से किसी भी एक उदाहरण में सूत्र का प्रयोजन समझना होगा। समझाने वाला धैर्य्य-शक्ति और उत्साह से समझायेगा तो छात्र के हृदय में बैठ जायेगा कि 'इस उदाहरण में इस सूत्र ने क्या काम किया'। वास्तव में तो उसकी पूरी सिद्धि समझने वा समझाने पर ही पूरा समझ में आयेगा। समझदार पठनार्थी को आरम्भ में २-४ सिद्धियों में कठिनाई प्रतीत होगी जो आगे नहीं रहेगी यह निश्चित एवं अनुभूत बात है। किसी एक उदाहरण की सिद्धि समझ में आ जाने पर आगे सिद्धियां छात्र बड़ी उत्सुकता एवं प्रेम से समझता जायेगा। एक सिद्धि समझ में आजाने पर वैसी ही दूसरी सिद्धियां तो अनायास ही समझ में आ जाती हैं। **वृद्धिरादैच्** की सिद्धियों में ३-४ पर ही विशेष परिश्रम पड़ता है। कम समझने वाले को एक ही सिद्धि समझा लेना बड़ी सफलता है। एक सिद्धि में कुछ कठिनाई हो भी तो पढ़ानेवाला ऐसा बतावे कि पठनार्थी सुगमता से समझ ले। इसका प्रकार हम संस्कृत पठन-पाठन की सरलतम विधि में दर्शा चुके हैं। वहां 'भवति' की सिद्धि के पश्चात् दसों गणों के लट् लकार की सिद्धियां झट समझ में आने लगती हैं। भवति' की सिद्धि नई होने से कुछ कष्ट भले ही प्रतीत हो, पर ५ सूत्रों की सिद्धियां समझ लेने से पूरे पाद की सिद्धियां समझ में आ जाती हैं। १ पाद की सिद्धियां समझ लेने

से पूरे अध्याय या ग्रन्थ की सिद्धियाँ समझ में आ जाती हैं। पहिले १-२ सिद्धि में कठिनाई प्रतीत होगी। यह अनुभूत बात है, देखी सुनी नहीं। हाँ एक बात और समझ लेनी है, कि यदि २० दिन तक किसी को सिद्धि मन में न बैठे तो वह छोड़ दे, और प्रत्येक उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया इतना ही समझ ले। जहाँ प्रयोजन लिखा है, उसको समझ ले, जहाँ नहीं लिखा हो, तो अध्यापक से समझ ले। ऐसा करने पर भी आगे जाकर सिद्धि समझनी ही पड़ेगी, चाहे जब भी समझ में आवे। 'सरलतम पद्धति' में एक 'भवति' की सिद्धि समझ लेने पर दसों गणों के लट् लकार के रूप सिद्धि सहित समझ में आ जाते हैं। एक वाचः की सिद्धि समझ लेने से पुरुषः, अग्निः, वायुः, कृष्णः, रामः तथा २० प्रकार के हलन्त शब्दों की सिद्धियाँ समझ में आ जाती हैं। छात्र समझने लगता है कि अब तो सैंकड़ों शब्दों की सिद्धियाँ समझ में आ गईं। इसलिये सिद्धि एक जान लेने से सैंकड़ों शब्द समझ में आ जाते हैं। इस बात को कभी मत भूलें। पहली सिद्धि में जो सूत्र लगेंगे, आगे भी कुछ सूत्र तो सर्वथा वही लगेंगे। नये लगनेवाले सूत्र जमा होते जायेंगे। आगे लगनेवाले सूत्रों का अर्थ भी पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति और अर्थ उदाहरण के क्रम से ही समझ लेता है, जो पहले कठिन पड़ता था। प्रथमावृत्ति बन जाने से अब कठिन नहीं। निर्बल छात्र भी इतना तो समझ ही लेगा कि अमुक काम किस सूत्र ने किया। बार-बार लगनेवाले सूत्र अर्थ सहित ही दो तीन बार में समझ में आने लगेंगे। छात्र स्वयं बोलने लगेंगे। यह प्रत्येक पढ़नेवाले को अनुभव होने लगेगा, अतः यदि छात्र पहले ही उदाहरण के साथ सिद्धि को भी ग्रहण कर लेंगे, तो वे व्याकरण पर काबू पा लेंगे, यह निश्चित है। स्वयं स्वाध्याय करनेवाले बिना अध्यापक के भी हमारी पद्धति से समझते देखे जाते हैं। हाँ, उन्हें कुछ समय आरम्भ में कुछ कठिनाई का सामना तो करना ही पड़ता है। जो दृढ़-संकल्प होते हैं, वे अधिक संख्या में इससे पार होते देखे जाते हैं। अस्थिरमान वाले ही डूबते देखे गये हैं। साहस वाले कभी परास्त नहीं होते। हाँ, जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होती है, उन्हें तो अपूर्व लाभ होता है। स्वयं स्वाध्याय करने वाले बहुत सफल होते देखे जाते हैं। जिनको पढ़ते समय घर की चिन्ता रहती है और घर जाकर श्रेणी की चिन्ता करते हैं ऐसे लोग ही असफल होते हैं, दूसरे नहीं। इसलिये आरम्भ में सिद्धि देर में भी समझ में आवे तो भी काम चल जाता है। यह बात तो हमारी बनाई सरलतम विधि के समय खूब सामने आती है। पाणिनि की रचना ही ऐसी है जो अद्भुत ढंग से सामने आती है। जब तक छात्र यह न कह दे और अनुभव न करले कि समझ में आ गया तब तक समझाते ही जाना है और समझते जाना। अध्यापक की योग्यता तो तभी है, तभी वह सफल अध्यापक है जब निर्बल से निर्बल छात्र को भी समझा दे। पूछने पर कभी

नाराज न हो। एक बात समझ लेने पर दूसरी बात में पहिली बात का बड़ा भाग रहता है, पाणिनि की रचना ही ऐसी है, जो दूसरी बात भी समझ में आ जाती है और पहली भी दुबारा पक्की हो जाती है। मैंने अंग्रेजी पढ़ी है। जितना परिश्रम केवल इतिहास के तैय्यार करने में लगता है, अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति में उससे भी कम परिश्रम पड़ता है। स्वयं स्वाध्याय करने वाले पीछे की बात को समझ कर आगे की बात को समझते समझते पूरा समझ जाते हैं। स्वयं स्वाध्याय करने वाले भी स्वयं समझ लें अतः हमने सर्वत्र बहुत खोल-खोल कर लिखा है लोगों ने कहा कि 'आप इतना अधिक क्यों खोलते हैं, आपने तो इतना खोल दिया है कि कौमुदी आदि पढ़े हुये भी पढ़ाने लगेंगे।' हमने कहा कि 'यही तो हम चाहते हैं, कि सब कोई समझ सकें समझा सकें,कौमुदी वाले जब समझाने में हृदय से प्रवृत्त हो जायेंगे, तो उन्हें स्वयं अनुभव होने लगेगा कि यदि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, तो तब अद्भुत लाभ हो, तभी वे लोग भी अष्टाध्यायी को क्रम से उपस्थित करेंगे, भारत में वास्तविक संस्कृत का प्रचार तभी होगा, हमारी सम्मति में द्वितीयावृत्ति अर्थात् शङ्का समाधान यदि महाभाष्य के साथ पढ़ायें, तब भी कार्य चल सकता है। नहीं तो ६ मास या एक वर्ष द्वितीयावृत्ति में लगाकर १॥ वर्ष में सम्पूर्ण महाभाष्य हम पूरा करा सकते हैं ॥ हमारी पद्धति से अधिक से अधिक ५ वर्ष में महाभाष्य सम्पूर्ण हो जाता है। और व्याकरण का पूरा ज्ञान हो जाता है, वैसे कोई चाहे सारी आयु उनमें लगा दे ॥

विशेष—सिद्धियाँ हमने परिशिष्ट में पूरी दी हैं। आगे जहाँ-जहाँ वैसी सिद्धियाँ आती गईं, उन पर हम लिखते गये कि इसकी सिद्धि हम अमुक सूत्र पर पूरी कर चुके हैं, वहीं देखें, अतः पूर्व सिद्धि में बार-बार आनेवाले सूत्रों को, आगे हमने कहीं-कहीं नहीं भी दिखाया है। क्योंकि वे सूत्र बार-बार स्पष्ट हो चुके हैं, अतः पुनः-पुनः लगाने में विस्तार ही होता है। प्रारम्भ की सिद्धि समझ लेने से सब ठीक हो जायेगा। बार-बार सूत्र न लिखना कोई दोषवाह भी नहीं समझा। कहीं-कहीं पूर्ववत् कहकर निर्देश कर दिया गया है, कहीं ऐसा भी नहीं कहा, सो स्पष्ट सूत्रों में ही ऐसा है, विशेष में नहीं। कहीं-कहीं परिभाषायें एवं वार्तिक भी सिद्धियों में लगती हैं, सो वे यथावश्यक लिखी तो गई हैं, किन्तु वस्तुतः द्वितीयावृत्ति का विषय होने से कहीं-कहीं छोड़ भी दी गई हैं। सिद्धि एक स्थान पर जान लेने से वह हृदय में स्वयं बैठ जाती है। बार-बार समझनी नहीं पड़ती। व्याकरण की यही विशेषता है कि एक शब्द जान लेने पर उस प्रकार के सैकड़ों शब्द समझ में आ जाते हैं यह बात प्रथमावृत्ति में ही है, इसलिए हम प्रथमावृत्ति को मुख्य व्याकरण कहते हैं ॥

विदित रहे कि आजकल शङ्का समाधान ही इतना प्रबल और जटिल कर दिया गया है कि, पढ़ने-पढ़ने वालों को यह भी पता नहीं रहता कि सूत्र का यह अर्थ बन कैसे गया । संस्कृत पाठकों ने देखा होगा कि लघुकौमुदी में इको यणचि (६।१। ७४) पढ़ाते समय आरम्भ में ही यह पढ़ाया जाता है कि 'अचि ग्रहणं किमर्थम्' ? इस सूत्र में अच् ग्रहण क्यों कर दिया, अभी तो छात्र की समझ में यह पूरा बैठा भी नहीं कि, सूत्र का अर्थ क्या हुआ, उदाहरण क्या है, उसमें सूत्र घटा कैसे ? और अच् ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? यह छात्र के मस्तिष्क में बिना समझाये थोपा जाता है जिसे छात्र पूरा-पूरा रटता है । क्या बात बनी पता कुछ नहीं, यही रट्टा सर्वत्र चल गया इसलिये आचार्य प्रायः प्रथमा वा मध्यमा वाले को भी नहीं पढ़ा सकते । संस्कृत समाज कहां से कहां पहुंच गया !!! सूत्र का अर्थ कैसे बन गया सो न तो पढ़ाने वाले को पता, न पढ़ने वाले को, 'भवसागर में डूबते बैठ पत्थर की नाव' यही अन्धपरम्परा चल पड़ी । नहीं तो पुरा काल में बड़े-बड़े वैयाकरण भी मूलाष्टाध्यायी का प्रतिदिन पाठ करके पाठ करके गद्दी पर बैठते थे । श्री पं० बाल शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री, पूज्य तिवारी जी आदि सब महावैयाकरण प्रतिदिन अष्टाध्यायी का पाठ करके पाठ पढ़ाना आरम्भ करते थे । वह अष्टाध्यायी अब बीच में से लुप्त हो गई । खेद तो यह है कि ऋग्वेदी मूलाष्टाध्यायी अत्यन्त शुद्ध कण्ठस्थ करके भी वही लघु कौमुदी-सिद्धान्त-कौमुदी की वृत्ति कण्ठस्थ करने लगे । इतना घोर अन्धकार फैल गया । उन्हें तो अष्टाध्यायी पर से पढ़ाते !!!

(क) **विशेष**—(१) हमारे सामने तो संस्कृत न जानने वाले या बहुत कम जाननेवाले प्रौढ़ व्यक्ति रहे, अतः उनको कठिनाई न हो, इस दृष्टि से हमने कठिन सन्धि लगभग इस प्रथम भाग में छोड़ दी है । ऐसा हमने जानकर किया है, अत. यह दोषावह नहीं ।

बहुत से शब्दों के रूप कठिन पड़ते थे हमने यथासम्भव समझनेवाले की दृष्टि से सरलता रखी । अपने पाण्डित्य की चिन्ता हमने नहीं की, प्रौढ़ छात्रों की चिन्ता मुख्य रही । स्वयं स्वाध्याय द्वारा पढ़ने वालों को कहीं कठिनाई न पड़े इसका हमने पूरा ध्यान रखा है । सब सूत्रों की संख्याएं देते हैं ताकि पाठक इस ग्रन्थ में ही वहीं-वहीं सूत्र निकाल-निकाल कर भी वह बात आसानी से समझ लें ।

(२) शंका समाधान द्वितीयावृत्ति का विषय मानकर हमने जानकर उसे प्रथमावृत्ति में नहीं दिखाया । हमारा दृढ़ विश्वास है कि इससे प्रथमावृत्ति में नहीं दिखाया । हमारा दृढ़ विश्वास है कि इससे प्रथमावृत्ति में बड़ीभारी बाधा उपस्थित होती है । छात्र के पल्ले कुछ नहीं पड़ता । वह भ्रमजाल में ही घूमने लगता

है। हमारा विश्वास है कि प्रथमावृत्ति के पश्चात् ६ मास या एक वर्ष में द्वितीयावृत्ति शंका समाधान समझा जा सकता है पहिले नहीं।

हम प्रथमावृति दितीयावृति ४०-५० वर्ष से पढ़ाते चले आ रहे हैं। अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होने पर हम प्रथमावृति १॥ वर्ष में अधिक से अधिक २ वर्ष में पढ़ाते हैं। १॥ या २ वर्ष में सम्पूर्ण महाभाष्य पढ़ाते चले आ रहे हैं। ५ वर्ष हम महाभाष्य की समाप्ति पर्यन्त लगाते हैं। साथ में अन्य ग्रन्थ गौण दृष्टि से कराते हैं। महाभाष्य पढ़ने से बुद्धि वा मस्तिष्क की शक्ति का अद्भुत विकास होता है, जो सब शास्त्रों में अत्यन्त सहायक होता है। बुद्धि इतनी विशद हो जाती है कि सब विषयों को तत्काल ग्रहण कर लेती है। द्वितीयावृत्ति=शंका समाधान, प्रथमावृत्ति के पश्चात् ही पढ़ें पहले नहीं यह रहस्य की बात है। अष्टाध्यायी पद्धति की सबसे बड़ी बात यही है। शङ्काओं का समाधान तो महाभाष्य में बहुत ही सुन्दर सरल और हृदयग्राही ढंग से किया है॥

सरलतम विधि की सहायता

हम पुनः दर्शा रहे हैं कि यदि प्रथमावृत्ति के प्रथम पाद तक जो हमने लिखा है वह पठनार्थी के मस्तिष्क में बैठ जावे पूरा याद हो या न हो, तो हम निश्चय से कहते हैं कि सरलतम विधि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। यदि पहले सूत्र की सिद्धियां समझ में आ गईं तो पूरे पाद की सिद्धियां समझ में आ जायेंगी यह निश्चय है। हां! यदि पहले सूत्र की सिद्धियाँ समझ में न आवें तब सरलतम विधि पढ़नी चाहिये, पीछे प्रथमावृति की सिद्धियां पढ़नी चाहिये। सरलतम विधि में प्रकरणानुसार सरलता से बताया गया है, और वह क्रमश. वुद्धि के विकास को ध्यान में रखकर लिखा गया है। जिनको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न हो उन्हें उसमें सहारा मिल जाता है। ४४ पाठ के पश्चात् वृद्धिरादैच् की सब सिद्धियाँ समझ में आ जायेंगी, यह बात प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिये है दूसरों के लिये नहीं, अष्टाध्यायी कण्ठ किये हुए तो इसी से पढ़ सकते हैं। जैसे सरलतम विधि से पहले १ मास संस्कृत की प्रथम पुस्तकादि पर अभ्यास कर लेना अच्छा है, ऐसे ही प्रथमावृत्ति से पहले सरलतमविधि कर लेना प्रौढ़ों के लिए बहुत सहायक हो जाता है। यह बात निर्बल छात्रों के लिये है न कि सबल-बुद्धिमान्-दूरदर्शी-परिश्रमी छात्रों के लिये॥

(ख) प्रथमावृत्ति सम्बन्धी विशेष निर्देश

वैसे तो सामान्य निर्देश हम कर ही चुके हैं, विशेष निर्देश इसलिये करते हैं कि पाठकों को कहीं-कहीं भ्रान्ति न हो। सहेतुक निर्देश ज्ञान वृद्धि में कारण होते हैं, सो लिखते हैं—

(१) प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति से पहिले है, सूत्र विषयक अनिवार्य ज्ञान पदच्छेद-विभक्ति-समास अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण और सिद्धि में पूरा होता है। संस्कृत में तथा आर्यभाषा (हिन्दी) में प्रथमावृत्ति का विषय समाप्त हो जाता है। कहीं-कहीं अनिवार्य होने से हमें द्वितीयावृत्ति का कुछ अंश भी प्रथमावृत्ति में ही दर्शाना पड़ा है, जैसे स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ में अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता। यह बात समझानी अनिवार्य इसलिये हो गई है कि अगला सूत्र अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) यह अल्विधि का अपवाद है। फिर इसका अपवाद अगला सूत्र न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप० है सो यह सब, तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक पहिले स्थानिवदादेशः को न समझ लें। अनल्विधि इसका अपवाद है, अचः परस्मिन् पूर्वविधौ यह अनल्विधि का अपवाद है। न पदान्तद्विर्वचन० यह सूत्र अचः परस्मिन् पूर्वविधौ का अपवाद है। यह प्रकरण समझ में नहीं आ सकता जब तक अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता यह न समझ लिया जावे। इसलिये यह समझाना हमारे लिये अनिवार्य हो गया। पाठक इसको ध्यान देकर समझें, शंका में न पड़ें, इसलिये स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेवें।

(२) उञ ऊँ (१।१।१७) को हमने महाभाष्य के आधार पर एक सूत्र माना है। ऐसा ही अन्यत्र भी हमने महाभाष्य के आधार पर किया है, जो कि ठीक है। पीछे से लोगों ने इनको दो सूत्र बना दिया। यदि दो सूत्र होते तो महाभाष्यकार कभी न कहते कि "यहाँ योगविभाग करना चाहिये" इत्यादि।

(३) हमने कई वार्त्तिकों को, जो कि काशिकादियों में सूत्र रूप में पढ़ी हैं, निकाल दिया है, क्योंकि महाभाष्यकार ने इनको सूत्र नहीं माना। सो हमारे पाठक सूत्रों की संख्या में भेद देख कर घबरायें नहीं। हमने मूलाष्टाध्यायी भी तदनुसार ही छापी है। यदि कोई सज्जन काशिका या अन्यत्र की छपी अष्टाध्यायी देखें तो संख्या के इस भेद को समझ लें। घबराहट में न पड़ें।

(४) जहाँ छान्दस उदाहरण हैं, उनके अर्थ हमने जानकर ही नहीं लिखे। विदित रहे कि हम तो इस विषय में प्रामाणिक अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती के मानते हैं। जो सज्जन चाहें वे सायणाचार्य आदि अन्य भाष्यकारों के किये अर्थों को देखें। पते हमने यथासम्भव सभी के देने का यत्न किया है।

(५) लौकिक उदाहरणों के अर्थ देने का यत्न हमने यथासम्भव पूरा किया है। यह सभी बड़े-बड़े कोशों के आधार पर अत्यधिक परिश्रम करके दिया है कोई-कोई ऐसे अप्रसिद्ध उदाहरण हैं, जो किसी भी कोश में नहीं मिले, उनका अर्थ हमने स्वयं

प्रकृति प्रत्यय के आधार पर किया है। आगे विचार करने के लिये अवकाश रखा है। कोई इससे अधिक खोज करके सुझाव देंगे, तो हम उनका धन्यवाद करेंगे।

(६) उदाहरणों के भौगोलिक अर्थों के विषय में हमने कहीं-कहीं श्री डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल कृत 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' से भी सहायता ली है, यद्यपि इस विषय में अभी भारी खोज की आवश्यकता है।

(७) यद्यपि अर्थ देना व्याकरण का विषय नहीं, तो भी लोग पढ़कर इनको प्रयोग में लावें, इस विचार से अर्थ दिये हैं। हमें अत्यधिक परिश्रम अनुवृत्ति तथा उदाहरणों के अर्थ में पड़ा है।

(८) हमने अपनी बात महाभाष्य के आधार पर दिखाने का यत्न किया है। खण्डन मण्डन में जानकर नहीं पड़े। क्योंकि यह एक अलग विवाद का विषय है। द्वितीयावृत्ति में इस पर विचार होना उपयुक्त होगा। विशेष व्याख्या का अंश संस्कृत में चाहते हुये भी विस्तार भय से नहीं लिखा। किसी बात को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से हमने टिप्पणियाँ भी दी हैं।

प्रथमावृत्ति कौमुदी प्रक्रियावालों के लिए भी परमसहायक

हम लिख चुके हैं कि काशी में (अन्यत्र भी ऐसा होना सम्भव है) पुराने प्रसिद्ध विद्वान् श्री पण्डित बाल शास्त्री जी, तथा पूज्य पं० हरनारायण त्रिपाठी जी (तिवारी जी) आदि अष्टाध्यायी का पाठ करने के पश्चात् ही गद्दी पर बैठकर पढ़ाते थे, कभी-कभी भूल जाते थे तो कहते थे कि ठहरो, "आज हमने अष्टाध्यायी का पाठ नहीं किया है" समादरणीय पाठ कर लें तो पढ़ाते हैं, यह बात देखने में छोटी-सी प्रतीत होती है, पर इसका परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारा निवेदन है कि अष्टाध्यायी का पाठ व्याकरण पढ़ने वाले सभी अध्यापक एवं छात्र करें। कृदन्त-तद्धितान्त-आत्मनेपद-परस्मैपद-कारक-विभक्ति-समास-सेट्-अनिट् आदि प्रकरण पढ़ाते समय कौमुदी पढ़ाने वाले महानुभाव भी अनुवृत्ति क्रम से दूसरे शब्दों में प्रथमावृत्ति के ढंग से उन प्रकरणों को पढ़ावें, तो छात्रों को ठीक समझ में आवेगा और अध्यापकों को भी कम परिश्रम पड़ेगा। हमारी यह प्रथमावृत्ति उस में परम सहायक हो सकती है। जो लोग इसमें हठधर्मी करते हैं कि, 'यह अमुक ने कहा है जो हमारे मत का नहीं इसलिये इसको छूना भी नहीं चाहिये' यह हठधर्मी अब नहीं चल सकती। जब लोग देखेंगे तब विद्यार्थियों को स्वयं बिना किसी दूसरे के कहे स्वानुभूत अनुभव हो जायेगा कि यह विधि (अष्टाध्यायी की अनुवृत्ति का क्रमादि) बहुत ही सरल एवं सुबोध है, तो वे स्वयं उसको ग्रहण करने लगेंगे। लोग संस्कृतको एवं केवल रटने की विद्या समझ कर छोड़ ही दें यह भी तो हमें रोकना ही होगा।

इसके रोकने का उपाय अष्टाध्यायी पद्धति से व्याकरण पढ़ाने का क्रम फिर से आरम्भ किया जावे यही है। इसमें लज्जा-भय-सङ्कीर्णता आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। तभी संस्कृत जीवित रह सकती है। कौमुदी पद्धति के विद्वानों की सेवा में हमारा यह नम्र-निवेदन है। वे समय पर जागृत हों, नहीं तो 'फिर पछताये क्या होत जब चिड़ियाँ चुग गई खेत' संस्कृत ही नष्ट हो जायेगी, विदेशों में चली जायेगी, तब भारतीय हाथ मलते रह जायेंगे फिर पछताने से भी कुछ न होगा।

कृतज्ञता प्रकाश

(१) सबसे प्रथम परम पिता परमात्मा का अति धन्यवाद है कि, एक अनपढ़ माता-पिता के यहाँ जन्म लेकर भी इस ओर प्रवृत्ति हुई। अपने पूज्य श्रद्धेय आर्ष ग्रन्थों और ऋषि दयानन्द में पूर्ण निष्ठावान् श्री स्व० पू० गुरुवर स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज का आभारी हूं, जिन्होंने मुझे प्रेरणा दी एवं अष्टाध्यायी और (कुछ) महाभाष्य का अध्ययन बड़े परिश्रम से कराया। मैं उनके ऋण से उऋण कभी नहीं हो सकता। मेरे में यदि कुछ गुण हैं, वा समझे जाते हैं, वह सब उनकी कृपा है, दोष मेरे अपने हैं। श्री पं० अखिलानन्द जी झरिया मेरे उसी समय के सहपाठी हैं, वह भी कई वर्ष तक उनकी सेवा में रहे, और घोर कष्ट उठाये। उसके पश्चात् जिन विद्वानों के चरणों में बैठकर शास्त्र का ज्ञान प्राप्त हुआ, उन स्व० पूज्य पं० हरनारायण तिवारी जी महाराज, श्री पूज्य चिन्न स्वामी जी शास्त्री अद्वितीय मीमांसक, पूज्य गोस्वामी दामोदरलाल जी, पूज्य पं० ढुण्ढिराज जी शास्त्री एवं श्री पूज्य पं० रामभट्ट राटाटे जी वेदज्ञ आदि महानुभावों का मैं ऋणी हूं। उन सब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। संस्कृत वाङ्मय के प्रौढ़ विद्वान् कर्मनिष्ठ ईश्वर भक्त-माननीय डा० मङ्गल देव जी शास्त्री एम० ए० (आक्सन), वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम प्रारूप निर्धारक-भूतपूर्व वाइस चांसलर संस्कृत विश्वविद्यालय,से समय-समय पर बड़ी प्रेरणा मिलती रही,तथा काशी के प्रमुख विद्वान् श्री पं० गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी ने अष्टाध्यायी पद्धति के प्रति अपनी निष्ठा-उत्साह-उदारता प्रदान की। इनका भी मैं आभारी हूं। तथा अन्य महानुभावों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता निवेदन करता हूं जिन्होंने मुझे इस पद्धति में उत्साहित एवं प्रेरित किया।

(२) आरम्भ से अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि के पठन-पाठन तथा वेदभाष्य आदि के कार्य में लगभग ४० वर्षों से श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर के संचालकों सर्व श्री स्वर्गीय धर्मनिष्ठ बाबू रूपलाल जी कपूर, स्व० बाबू हंसराज जी कपूर, स्व० बाबू ज्ञानचन्द जी कपूर तथा वर्तमान संचालक श्री बाबू प्यारेलाल जी कपूर,

बाबू सुरेन्द्र कुमार जी कपूर (सब भाइयों सहित) एवं पूरे परिवार की सद्भावना सेवा आदि के कारण ही ये सब कार्य आज तक चलते रहे, तथा इस अष्टाध्यायी का कार्य भी उसी का एक अङ्गरूप बराबर चलता रहा, और मैं इन कार्यों को यथेष्ट रीति से करने में सफल होता रहा, अतः इस प्रथमावृत्ति के विषय में भी इन सब को नहीं भुलाया जा सकता। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, यह सब कार्य उनकी सद्भावना का ही फल है।

(३) आर्थिक सहयोग

सन् १९६० में जब प्रथमावृत्ति निर्माण का विचार उठा तो वह कैसे हो? यह समस्या सामने आने पर मैंने झरिया निवासी 'श्री बाबू मदनलाल जी अग्रवाल' से परामर्श किया, उन्होंने एक सहायक का व्यय १०० रु० मासिक देना स्वीकार किया, जिसे वह प्रति वर्ष २॥ मास छोड़कर शेष समय के लिये देते रहे। वास्तव में यह सहायता मेरे इस कार्य में परम सहायक सिद्ध हुई, इसके बिना मेरा कार्य चल नहीं सकता था। आगे सहायक की निष्ठा, तीव्र भावना, उत्साह, सहनशीलता एवं घोर परिश्रम से यह कार्य आंशिक पूरा हुआ। और जब छपने का विचार आया तो हमारे इस श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिवेशन में ट्रस्ट की ओर से प्रथमावृत्ति छापने का निश्चय हुआ, पर मैंने यह देख कर कि ट्रस्ट का बहुत सा धन पुस्तकादि छपने में व्यय हो चुका है और रामलाल कपूर एण्ड सन्स अमृतसर (दुकान) का धन अनेक पुस्तकों में लगा हुआ है, यह यत्न किया कि यह पुस्तक अन्य सहयोग से छपे, और ट्रस्ट पर अधिक भार न पड़े तो अधिक अच्छा हो। तब मैंने झरिया निवासी श्री बाबू मदनलाल जी अग्रवाल से इस विषय में बात की। वे जहां पुस्तक तैयार कराने में लगभग ४००० रु० लगा चुके थे, वहां उन्होंने एवं उनके भाइयों ने अपने पूज्य पिता स्व० श्री बाबू शंकरलाल अग्रवाल जी की स्मृति में १०००० रु० की सहायता इस पुस्तक के छापने में भी दी, जिसे उन्होंने स्वाधीन रखा, कि चाहें तो वह रुपया पुस्तक बिक्री होने पर वापस भी ले सकते हैं।

मैं समझता हूं पुस्तक के प्रकाशन में यह बड़ी भारी सहायता हुई, जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं। उनके सहयोग एवं उदारता से यह प्रथम भाग छप कर तैयार हुआ है। आशा है अगले भाग भी इसी प्रकार तैयार हो जायेंगे। इस सब में माननीय श्री पं० अखिलानन्द जी झरिया के सहयोग सद्भावना के लिये भी मैं अत्यन्त आभारी हूं।

(४) प्रथमावृत्ति में सहायक कार्य

अब आन्तरिक कार्य का कुछ विवरण देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। गत

४० वर्ष से प्रथमावृत्ति बन नहीं पा रही थी। कार्यों की अधिकता इसमें मुख्य कारण रही। गत सन् १९६० के अन्त में यही विचार तीव्र हुआ कि कोई सहायक मिले तो यह कार्य भले ही हो सकता है, वैसे तो नहीं हो पा रहा। इस प्रकार सन् १९६० के अन्त में प्रिय पुत्री (कन्या) कुमारी प्रज्ञा देवी से बात हुई, तो वह मेरी विचारधारा में पूर्ण सहमत थी।

सहायक का संक्षिप्त परिचय

यह देवी पहिले महिला कन्या हाई स्कूल सतना (मध्य प्रदेश) में अध्यापिका थी, एफ० ए० तक पढ़ी थी। इसके पिता स्वर्गीय मास्टर श्री कमलाप्रसाद आर्य ने अपनी सभी पुत्रियों तथा पुत्र को घर पर ही अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करा रखी थी। कई वर्ष तक वे ग्रीष्मावकाश में मेरे पास आकर अष्टाध्यायी पढ़ते थे। प्रज्ञा देवी ने भी अष्टाध्यायी याद कर रखी थी, और कहती थी, कि मेरे पिता ने मुझ से जबरदस्ती अष्टाध्यायी कण्ठ कराई थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् इसकी माता हरदेवी जी पुत्र एवं पुत्रियों के साथ काशी पहुंच गई, और आश्रम से कुछ दूरी पर सब रहने लगे। आर्ष ग्रन्थों के प्रति सारे परिवार में भावना तो थी ही, उसी में लगने का निश्चय किया। प्रज्ञा देवी ने सरलतम विधि पढ़ी तो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराई काम आ गई। उत्साह यहां तक बढ़ा कि यह स्कूल अध्यापन कार्य छोड़, अपनी माता के सहयोग से, एवं अपनी सद्भावना से पूर्णतया आर्ष ग्रन्थों के पठन में लग गई। इस प्रकार सरलतमविधि अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति, द्वितीयावृत्ति, सम्पूर्ण महाभाष्य, निरुक्त, श्रौत, मीमांसा का मुख्य भाग एवं वैदिक विषय के अनेक ग्रन्थ इसने अध्ययन किये। इस समय अपनी छोटी बहिन 'मेधा' को आरम्भ से महाभाष्य का ६ वां अध्याय पढ़ा रही है। इसने महाभाष्य करने के पश्चात् प्राचीन व्याकरण में मध्यमा, शास्त्री, आचार्य प्रथम खण्ड तक प्रायः प्रथम श्रेणी में किया है। सरलतमविधि प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति तथा महाभाष्य बड़ी श्रद्धा एवं उत्साह, परिश्रम से पढ़ाती है। ८ वर्ष में इसने बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली। जब मेरा विचार प्रथमावृत्ति लिखने का सामने आया तो यह योग्य तो थी ही, इसकी विचारधारा भी प्रथमावृत्ति के साथ मिल गई। तब योग्यता एवं भावना देख कर मैं भी प्रथमावृति तैयार करने के लिये पूरी तरह सन्नद्ध हो गया, सब योजना इसको नोट करा दी, और अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति लिखनी प्रारम्भ हुई। बीच में बड़ी २ कठिनाइयां भी आईं, पर इसके धैर्य-सहनशीलता-पुरुषार्थ से सब ठीक हो जाता रहा। यह सहायक मेरे लिये बहुत ही सन्तोषप्रद रहा, और यह कार्य इस रूप में सामने आया, जिसकी आशा मुझे बहुत कम थी।

इस प्रकार १९६० के अन्त में प्रथमावृत्ति लिखनी प्रारम्भ हुई। मैंने एक दो

दिन में इसका प्रारूप लिखा दिया, जो कि आश्चर्य का ही विषय है, कि हमने कितना दूर तक सोच कर एवं पूर्ण लिखा। प्रथमावृत्ति लिखनी आरम्भ हुई मैं साथ साथ बीच में जो कुछ पूछा जाता था, वही बताने लगा। आगे चल कर इसके लिये भी समय नहीं मिल पाता था। अन्त में १९६३ के आरम्भ तक ५। अध्याय तक रफ कापी लिखी गई। इसमें कई एक परिवर्त्तन हमने पीछे किये जो कि सारे रफ कापी में परिवर्धित करने पड़े। जहां तक मुझसे पूछने का प्रश्न था, मैं पूरा समय नहीं दे पाता था। हां ! बीच-बीच में समय देता रहता था। इस स्थिति को देखकर निराशा होती थी, कि यह ग्रन्थ पूरा कैसे होगा। ५। अध्याय तक रफ कापी लिखा जाना भी पुत्री प्रज्ञा के तप-त्याग एवं निरन्तर परिश्रम तथा निष्ठा का ही परिणाम है, जो लिखा गया। वह समय-समय पर मुझे प्रेरित एवं बाधित करती रही, कि 'मैं उसमें समय लगाऊं'। वास्तविक आरम्भ मेरे द्वारा १९६४ जनवरी में ही हुआ जब मैंने रफ को सुनकर पढ़कर संशोधन करना आरम्भ किया। तब से मेरा समय निरन्तर इस कार्य में लगा, और परिणामस्वरूप अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति का प्रथम भाग तैयार है। आगे भी छपने को प्रेस कापी तैयार हो रही है।

मैं तो यही कह सकता हूं कि पुत्री प्रज्ञा के निरन्तर उत्साह, परिश्रम एवं निष्ठा ने ही यह कार्य पूरा किया। मैं तो वर्त्तमान स्थिति में करने में समर्थ नहीं था। इसके पूरा होने में सब से अधिक कष्ट इसी ने उठाया, मुख्य तपस्या इसी की है। इसी ने मुझ से भी समय लगवा लिया नहीं तो यह कार्य पूरा कभी न होता। सन् १९६० के अन्त से १९६४ के अन्त तक चार वर्ष का समय (कुछ मास छोड़ कर) लगा कर तैयार करने का यह सब श्रेय इसी का है। साथ में पुत्री प्रज्ञा के छोटे भाई प्रिय सुद्युम्न (जो कि महाभाष्य पढ़ाता है) की पूरी शक्ति निष्ठा एवं तत्परता का उपयोग इस कार्य में प्राप्त हुआ एवं इसी की सगी छोटी बहिन मेधा (जो कि अपनी बड़ी बहिन प्रज्ञा देवी से महाभाष्य का ६ वां अध्याय पढ़ रही है) से भी प्रेस कापी लिखने, प्रूफ देखने, पते पूरे मिलाने आदि आवश्यक कार्य में पूरा सहयोग मिला। यह सब प्रत्यक्षदर्शी के ही सोचने का विषय है। प्रज्ञा देवी को ही इस सबका श्रेय है। यह प्रथमावृत्ति इसी की गम्भीर तपस्या का फल है। इसे मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। मैं समझता हूं इन सब ने अपने पर किये मेरे परिश्रम को सफल बना दिया, अतः मेरा हार्दिक आशीर्वाद एवं भविष्य के लिये, जीवन की सफलता के लिये आशीर्वाद निकलना स्वाभाविक ही है। आर्ष ग्रन्थों में इनकी निष्ठा उत्साह, एवं परिश्रम बढ़े यही कामना है।

आर्ष पाठविधि में पूर्ण निष्ठावान्, आर्य समाज के सुयोग्य विद्वान् आर्ष गुरुकुल एटा के आचार्य, हमारे शिष्य प्रिय पं० ज्योतिस्वरूप जी ने प्रेस कापी पूरी बड़े

परिश्रम से देखी, एवं संशोधन किया आगे भी देख रहे हैं। काशी के प्रौढ़ विद्वान् श्री पं० गोपाल शास्त्री दर्शन केसरी (काशी) वर्त्तमान आचार्य श्री बदरीनाथ संस्कृत महाविद्यालय जोशीमठ (गढ़वाल) की प्रथमावृत्ति छापने की निरन्तर प्रेरणा को मैं नहीं भुला सकता। वह यहां काशी में रहते तो उनसे बड़ी सहायता मिलती। प० इन्द्रदेवजी आचार्य घनश्यामदास वैदिक विद्यालय देवरिया, वैदिक वाङ्मय के प्रौढ़ विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक अजमेर, तथा विद्वद्वर्य पं० शङ्करदेव जी आचार्य टोनेर आदि महानुभावों ने जितनी भी सहायता की उसके लिये सब का आभारी हूं।

प्रूफ देखने तथा कुछ उपयोगी सूत्रों पर आवश्यक विचार देनेवाले, महाभाष्यादि पढ़ाने, तथा वेदभाष्य के कार्य में पूरे सहायक, वेदवाणी के कार्यों में व्यस्त, योग्य विद्वान् प्रिय पं० विजयपाल जी आयुर्वेदाचार्य, बी० एस-सी०, द्वारा पूरा सहयोग देने, तथा प्रिय सुद्युम्न, मेधा, धर्मानन्द द्वारा निष्ठा और परिश्रम से प्रूफ देखने के लिये मैं हार्दिक आशीर्वाद एवं प्रेम प्रदर्शित करता हूं। जीवन में ये आर्ष ग्रन्थों में निष्ठावान् बनकर आर्य समाज की सेवा करें, और जनता को लाभ पहुंचावें, यही मङ्गल कामना करता हूं।

प्रिय रणवीर कपूर (सुपुत्र स्वर्गीय बाबू हंसराज जी कपूर) अध्यक्ष रामलाल कपूर एण्ड सन्स प्रा० लिमिटेड कानपुर को भी मैं भुला नहीं सकता, जिसने अपनी बहिनों के पश्चात् सरलतम विधि, अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति एवं कुछ द्वितीयावृत्ति को पढ़ा, तथा मेरे द्वारा अष्टाध्यायी क्रम के परिमार्जित होने में कारण बना। काशी के अनेक विद्वानों तथा गुरुकुल कांगड़ी में अष्टाध्यायी के इस क्रम के प्रकाशन में सहायक हुआ। पुस्तक छपने का विचार चल ही रहा था कि सुश्री डा० प्रेमलता शर्मा एम. ए. साहित्याचार्य वाइस प्रिंसिपल सङ्गीत महाविद्यालय वाराणसी की प्रेरणा एवं पुत्री प्रज्ञा के सहयोग से तारा प्रिंटिंग प्रेस वाराणसी में छापने का निश्चय हो गया। मैंने स्वीकृति दे दी, अन्यथा यह पुस्तक कुछ विलम्ब से पाठकों तक पहुंचती। इस विषय में उनका भी धन्यवाद है। उनका इस कार्य में आरम्भ से ही अत्यधिक प्रेम रहा।

अन्त में मैं तारा प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री आनन्द शंकर पाण्डेय, श्री रमा शंकर पाण्डेय, एवं श्री विनय शंकर पाण्डेय के प्रेम-उदारता एवं सद्व्यवहार के लिये अनुगृहीत हूं। साथ ही कम्पोजिङ्ग विभाग में श्री रामचन्द्र सिंह, बाबा सदानन्द, रामनरेश तथा प्रेसमैन शिवप्रसाद सिंह इन सब को भी मैं धन्यवाद देता हूं, कि उन्होंने बड़ी श्रद्धा प्रेम एवं लगन से यह कार्य किया और आगे भी करने को तैयार हैं।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
आचार्य पाणिनि महाविद्यालय,
मोतीझील, वाराणसी नं० ६

३० मार्गशीष, सं० २०२१
१५-१२-१९६४ ई०

प्राक्कथनम्

अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रमोऽतिप्राचीनः

अद्यत्वे सर्वत्रैव भारतवर्षे प्रायेण संस्कृतविद्यालयेषु प्रारम्भिकशिक्षणे लघुकौमुदीमध्यकौमुदीसिद्धान्तकौमुद्येवोपलभ्यते । केवलमाङ्गलविद्यालयेषु संस्कृतस्याध्ययनाध्यापनमाङ्गलभाषाविद्वद्भिरेव निर्मितग्रन्थैः प्रचलति । संस्कृतविद्यालयेषु सर्वत्र कौमुदीरीत्यैव व्याकरणशास्त्रस्य समस्तमपि पठनपाठनं चतुश्शताब्दीभ्य एतावद् व्यापकं जातमस्ति, यदष्टाध्याय्याऽपि व्याकरणस्याध्ययनं सम्भवतीति ज्ञानं विश्वासो वा प्रायेण नोत्पद्यते केषाञ्चित् साम्प्रतम् । साधनिका (प्रयोगसिद्धिः) कथं सम्भविष्यतीत्याद्याशङ्कमाना उच्चकोटिकविद्वांसोऽपि दृश्यन्ते, अन्येषां तु का कथा ? कालक्रमेणाष्टाध्याय्या लोप एव जात इति मन्तव्यम् । हा हन्त ! काश्यामन्यत्रापि वैदिकानामृग्वेदिनां गृहेष्वष्टाध्यायीमतिशुद्धां धाराप्रवाहरूपां कण्ठस्थीकृत्यापि, ते बालाः पुनः सवृत्तीनि लघुकौमुदीसूत्राणि (तेषां सूत्राणामर्थानिप्यनवबुध्यैव) घोषन्तः सर्वत्र दरीदृश्यन्ते । अहो ! कीदृश्येषाऽनर्थपरम्परा प्रचलिता !! अष्टाध्यायीं कण्ठस्थीकृतवतामपि बालानां साम्प्रतिकवैयाकरणैर्व्याकरणस्याध्ययनं लघुकौमुदीमन्तरा कारयितुं न पार्यते, इत्यनिर्वचनीयानर्थपरम्परा, दौर्भाग्यमेवैतद्देशस्य किमन्यत् ?

भट्टोजिदीक्षितमहोदयस्य कालः सं० १५१०-१५७५ वर्त्तते । ततः पूर्वं त्वष्टाध्याय्या एव पठनपाठनस्य प्रचार आसीत्, नात्र शङ्कालेशस्याप्यवसरः । तद्यथा चीनदेशीययात्री इत्सिङ्गनामा भारते कतिपयवर्षेभ्यः (सन् ६८१-६९१ ईस्वी) अस्थात् । अष्टाध्याय्युपक्रममेव संस्कृताध्ययनं तेनात्र कृतमिति स्वयं तेन स्वयात्राविवरणे विवृतं वर्त्तते । तद्यथा—

(१) "इस (अष्टाध्यायी) में १००० श्लोक (४००० सूत्रों का १००० श्लोक बनता है—लेखक) हैं । यह पाणिनि की रचना है जो प्राचीनकाल में बहुत भारी विद्वान् था............आज कल के भारतवासियों का प्रायः इसमें विश्वास है । बच्चे आठ वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्रपाठ को सीखना आरम्भ करते हैं और ८ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं" ॥ (इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २६४) ।

(२) "यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जायें, तो उन्हें सब से पहले (व्याकरण के) इस (अष्टाध्यायी) ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय । यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम व्यर्थ जायेगा........" (इत्सिंग की भारत यात्रा पृ० २६८) ।

(३) "प्रौढ़ विद्यार्थी उसे (चूर्णि अर्थात् महाभाष्य को) ३ वर्ष में सीख लेते हैं।"

(४) "सन् ९११ ई० में इन्द्र वर्मा तृतीय राजा बना। यह इस (भृगु) वंश का अन्तिम राजा था। इसके आठ लेख मिलते हैं, इनसे पता चलता है कि इन्द्रवर्मा षड्दर्शन का पण्डित था। काशिका सहित व्याकरण में पारंगत था और बौद्धदर्शन का भी अच्छा ज्ञाता था। यह अपने समय का भारी विद्वान् था"॥

(चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार कृत वृहत्तरभारत पृ० ३४२)

अयं चम्पादेशस्य ('अनाम' इति वर्तमाना संज्ञा) राजासीत्, देशोऽयं हिन्द-चीनद्वीपेषु वर्तते ऽनेनैतत् सिद्ध्यति यद्बौद्धा अप्यष्टाध्यायीपद्धत्यैव व्याकरणमधीयते स्म॥

पूर्वोद्धरणैरेतत्स्पष्टं यद् इत्सिङ्ग (६८१-६९१ ई०) समये (सन् ९११ ई०) इन्द्रवर्मराज्यसमयेऽप्यष्टाध्याय्या अध्ययनं न केवलं भारतवर्ष एवासीत्, अपितु भारताद् बहिः चम्पादेशे (अनामदेशे) अपि विस्तृतमासीत्। कालक्रमेणैवास्या अष्टा-ध्याय्या एतावान् लोपोऽभूत्, यदष्टाध्याय्याऽपि व्याकरणस्य ज्ञानं सम्भवतीत्यत्र विद्वांसोऽपि सन्दिहाना दरीदृश्यन्ते किमुत छात्रा इति।

प्रक्रियानुसारिक्रमस्यारम्भः

इत्सिङ्गसमये (सन् ६८१-६९१ ई०) अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रम आसी-दिति सप्रमाणमुक्तं पूर्वमस्माभिः, स क्रमः कथं लुप्तः, तत्रारुचौ किं बीजं, प्रक्रियाक्रमे च जनानां प्रवृत्तौ किं निदानमित्यभिलक्ष्येदानीं किंचिदुच्यते—

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, धातुपाठः, उणादिपाठः, गणपाठः, लिङ्गानुशासनं समुदि-तमेतत् 'पञ्चपाठी' इत्युच्यते सर्वविदितमेतत्। समुचितमेतत् पठित्वैव 'अधीताष्टा-ध्यायी' इति मन्तव्यम्। 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रमधीयानश्छात्रोऽस्य सूत्रस्य पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरणादि सर्वं पठन् तत्र चोदाहरणानां (शालीयः, भागः, नायकः, अचैषीत्, अलावीत्, मार्ष्टि, इत्यादीनां) सिद्धिं सर्वैस्सूत्रैरष्टाध्यायीपद्धत्या सम्पादयति। एवमष्टाध्यायीं धातुपाठञ्च सयगम्यस्य प्रथमावृत्तावेव (उदाहरणानां सिद्धिं कुर्वन्त एवेत्यर्थः) छात्राः सर्वां तिङन्तप्रक्रियां कृदन्तप्रक्रियां तद्धितसमासप्र-क्रियाञ्च विनापि प्रक्रियाग्रन्थाश्रयेणावबुद्ध्यन्ते स्म। तत्र च सर्वधातूनां सर्वलकारेषु सर्वप्रक्रियासु चैकैकशो रूपाणि सूत्रपुरस्सरं संसाधयन्तः प्रक्रियाग्रन्थानामभावेऽपि ते छात्रा न कीदृशीमपि न्यूनतां तत्रानुभवन्ति स्म। अयं क्रमस्तदानीं सर्वसाधारणेषु प्रच-लित आसीत्। प्रक्रियाग्रन्थनिर्माणस्य प्रश्न एव नोदतिष्ठत। कालप्रभावाद्यथा

ह्यध्यापकास्तद्रीत्या छात्राणामध्यापने प्रमादाद् भूयांसं क्लेशमनुभवन्तः शैथिल्यामाजह्रुस्तदा ते तामेव प्रयोगसाधनसमये छात्रैर्लिपिकृतां प्रयोगसाधनप्रक्रियां ग्रन्थरूपेण निर्मापयाञ्चक्रुः शनैः शनैरष्टाध्यायीक्रमेण प्रयोगसाधनप्रक्रिया तु शिथिलतामगात् । प्रक्रियाग्रन्थानामाश्रयग्रहणमेवोत्तरोत्तरमवर्द्धत ।।

तदानीमप्येतत्त्वासीदेव यदष्टाध्यायीमभ्यस्य तत्क्रमानुरूपं सूत्रार्थं विज्ञायैव प्रक्रियाग्रन्थरूपेण परिणतानां सिद्धान्तकौमुदीपूर्ववर्तिनां रूपावतार-प्रक्रियारत्न-रूपमाला-प्रक्रियाकौमुद्यादीनां, प्रक्रियासर्वस्वप्रभृतीनाञ्चाष्टाध्यायीकालिकच्छात्रकर्तृक-प्रयोगसाधनलिपिरूपाणामाश्रयमध्येतारो गृह्णन्ति स्म । अष्टाध्याय्याश्रयणन्तु तदानीमनिवार्यमेवासीद्, यथा काशीस्था महाविद्वांसः "तात्या" शास्त्रिप्रभृतयोऽपि 'न मया समयाभावादष्टाध्यायीसूत्राणामावृत्तिः कृता' इति स्वच्छात्रेषूदघोषयन् ।

प्रक्रियाग्रन्थानां निर्मित्यनन्तरमपि यद्यष्टाध्यायीसूत्रपाठस्य त्यागो नाभविष्यत्, तदाप्यष्टाध्याय्या उपस्थित्या प्रक्रियाग्रन्थेभ्योऽपि साधारणबुद्धिभ्यश्छात्रेभ्यस्तत्र किञ्चित्सौकर्यमभविष्यत्--(यदि मूलं त्यक्त्वा शाखासु गमनं नाभविष्यत्) । एवमष्टाध्यायीसूत्रक्रमपाठाश्रयेण प्रक्रियाग्रन्थानामभ्यासो बहुकालाय प्राचलत् । अग्रे बहुतिथे काले गतेऽष्टाध्यायीसूत्रक्रमपाठः प्रमादात् सर्वथाऽपि विलुप्तः, केवलं प्रक्रियाग्रन्थानां पठनपाठनक्रम एव सर्वत्र प्रचलितोऽभूत् । तदारभ्यैवैतेषां प्रक्रियाकौमुदीसिद्धान्तकौमुदीप्रभृतीनामुत्पत्तिपरम्परा तेषां व्यापकता च समजनि । एतत्कालमध्य एवैकैकस्योपर्यपरस्य प्रक्रियाग्रन्थस्य निर्माणप्रवाहः प्रवृत्तः ।। प्रक्रियाऽग्रन्थानामुत्पत्तिक्रमविषय इदानीं किञ्चिदत्र विमृशामः—

प्रक्रियाग्रन्थानामितिहासः

(१) रूपावतारः—(सं० ११४० विक्रमीयः)

अष्टाध्यायीग्रहणेऽसमर्थेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यश्च व्यावहारिकज्ञानमात्रधिया बौद्धभिक्षुणा धर्मकीर्तिना प्रक्रियाक्रमस्य सर्वप्रथमो ग्रन्थः' रूपावतार' नामकोऽष्टाध्यायीसूत्रे व्यरचि । अस्मिन् ग्रन्थेऽष्टाध्यायीक्रमं परित्यज्य केवलं प्रयोगसाधनमभिलक्ष्य संज्ञा-संहिता-सुबन्त-अव्यय-स्त्रीप्रत्यय-कारक-समास-तद्धितप्रकरणानि प्रथमभागे सङ्ग्रथितानि । दशलकार-दशप्रक्रिया-कृदन्तञ्चापरभागे । (स्वरवैदिकप्रकरणं विहाय) २६६४ सूत्राणि प्रक्रियाक्रमेण व्याख्यातानि । प्रक्रियाग्रन्थानामुत्पत्तिर्बौद्धकाल एवाभूद् इत्यपि ध्येयम् ।

(२) प्रक्रियाकौमुदी—(सं० १४८० वि०)—

यद्यपि 'प्रक्रियारत्नम्' 'रूपमाला' इमौ प्रक्रियाग्रन्थौ रूपावतारानन्तरं निर्मिताविति ज्ञायते तथापि तयोरनुपलम्भात् प्रक्रियाकौमुदीविषय एवोच्यते । प्रक्रियाकौमुदी-

नामकोऽयं ग्रन्थो रामचन्द्राचार्येण, सूत्राणां व्याख्यानं किञ्चिद्विस्तरेण विधाय, स्वर-वैदिकप्रकरणे च संयोज्य २४७० सूत्राणि व्याचक्षाणेन रूपावतारानन्तरं निरमायि। तेन च प्रक्रियाक्रमस्य विस्तरः प्रचारश्च प्राचुर्येणाभूत्। ग्रन्थोऽयं सिद्धान्तकौमुद्या आधार इति मन्तव्यम्।

(३) सिद्धान्तकौमुदी—(सं० १५१०–१५७५ वि०)

भट्टोजिदीक्षितमहोदयेनाष्टाध्यायीक्रमं परित्यज्यैव पूर्वप्रचलितप्रक्रियाकौमुदीक्रममेवाश्रित्य सिद्धान्तकौमुदीनामकस्स्वग्रन्थो व्यरचि। तत्र च प्रायः सर्वाण्यपि सूत्राणि (३९७८) व्याख्यातानि। तेन चायं यत्नः कृतो यन्मद्रचितोऽयं ग्रन्थः "सिद्धान्तकौमुदी" एव सर्वत्र प्रचलेत्। व्याकरणविषये सिद्धान्तकौमुदीं विहाय कस्याप्यन्यग्रन्थस्याध्ययनाध्यापनं न तिष्ठेत्। अनेन कियन्महत्काठिन्यं छात्रेभ्यो भविष्यतीति तु न विचारितम्। तस्यैवैतत् फलं यत्संस्कृतस्याध्येतारो द्वादशवर्षाण्यधीत्य व्याकरणार्णवस्यापि पारं न यान्ति, अन्यशास्त्राणां तु का कथा? तदपि "द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" इति श्रवणमात्रं, ज्ञानं पुनरपि सन्दिग्धमेव॥

(४) मध्यकौमुदी—

शिखरमध्यारूढेव सिद्धान्तकौमुदी यदा छात्रेभ्योऽतीव दुःखावहा-दुरूहा-अतीव-परिश्रमसाध्या-अतिकालसाध्या चेत्यनुभूतवान् वरदराजस्तदैव सं० २३१७ सूत्राणि व्याख्याय मध्यकौमुद्या निर्माणं कृतवान्। मध्यकौमुदीनिर्माणमेव सिद्धान्तकौमुद्यसाफल्यस्य प्रत्यक्षं प्रमाणम्। अन्यथा काऽऽसीदावश्यकता मध्यकौमुदीनिर्माणस्य? एवं शिखरान्मध्यमार्गे समागता संस्कृताध्ययनपद्धतिरिति सुव्यक्तम्॥

(५) लघुकौमुदी—

मध्यमार्गेणापि यदा सन्तोषो नाभूत् तदानीमन्यमपि लघुतरमार्गमन्विच्छता तेनैव वरदराजेन स्वपूर्वनिर्मितया मध्यकौमुद्या असन्तुष्य ११८८ सूत्राणि व्याख्याय लघुकौमुदी विरचिता। शिखरान्मध्ये, मध्यान्नीचैरागतोऽयं व्याकरणस्य पठन-पाठनक्रमः। सिद्धान्तकौमुद्यां काठिन्यं नाभविष्यत्तर्हि मध्यकौमुदीलघुकौमुदीग्रन्थयोर्निर्माणं कदापि नाभविष्यदिति सुव्यक्तम्। तयोर्निर्माणं प्रत्यक्षं प्रमाणं यत् सिद्धान्तकौमुदीक्रमेण न सर्वेषामध्ययनं सुकरं समभवत्, नात्र सन्देहावसरः॥

अष्टाध्यायीक्रम एव पुनः समुपस्थितः

"वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता"—(अथर्व)

यथा चायं भूगोलो वर्त्तुलाकारः, तत्र 'यतश्चलितुमारब्धस्य तत्रैव पुनः प्रत्या-

वृत्तिर्भवतीति' जनश्रवस्तथ्यञ्च, तथैवायमष्टाध्यायीक्रमोऽत्र स्वतन्त्रभारते पुनरपि यथाक्रमं सम्प्राप्तः ।

मूलतोऽतिदूरङ्गता व्याकरणस्याध्येतार इति पूर्वमस्माभिः प्रतिपादितम्, यस्य वृक्षस्य मूलात् सम्बन्धो विच्छिद्यते, कालक्रमेण स्वयमेव तस्य वृक्षस्य पत्राणां पुष्पाणाञ्च नाशो दुर्निवारः, अतः पुनर्मूलस्यैवाश्रये कल्याणसम्भव इति सुधिय एव प्रमाणम् । अतोऽधुनाऽष्टाध्यायीपद्धत्याश्रयणं संस्कृताध्यायिनां भारतस्य च कृते कल्याणकरं स्वश्रेयस्साधकञ्च भवेदित्याशास्यते ॥

नान्यश्रुतोऽयं वादः, अपि तु स्वानुभूत एव । स च स्वानुभव इदानीं स्वमित्राणामाग्रहेण समादरणीयविदुषां, व्याकरणाध्येतॄणां, व्याकरणमधिजिगमिषूणाञ्च पुरतः प्रकाश्यते मनाक् ।

व्याकरणसारल्ये स्वानुभवः

(१) सर्वथाऽपि संस्कृतानभिज्ञानां द्वित्राणां कन्यानाम्, अष्टाध्यायीमूलसूत्राणां कण्ठस्थीकरणेन विनापि, अष्टाध्यायीक्रमेण पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि-(सर्वैः सूत्रैः) इत्यादि-सम्पादनेन व्याकरण एतावती प्रगतिरभूत्, यदष्टाध्यायीक्रमेण व्याकरणमधीयानाभिस्ताभिः पञ्जाबविश्वविद्यालयस्य विशारदपरीक्षा दशभिर्मासैरेवोत्तीर्णा । अस्यां परीक्षायां व्याकरणेन सह संस्कृतसाहित्यग्रन्थाः, दर्शनग्रन्थाः, धर्मशास्त्रं, भगवद्गीता, संस्कृतेऽनुवादो निबन्धश्चेत्यादिसर्वेष्वपि विषयेषु योग्यता सम्पादनीया भवति । ताभिरेव विशारदपरीक्षानन्तरं सप्तभिर्मासैः शास्त्रिपरीक्षाप्युत्तीर्णा, यस्यां वेदो निरुक्तं, संस्कृतसाहित्यग्रन्थाः, महाभाष्यं, दर्शने सांख्ययोगौ सभाष्यौ, अनुवादो निबन्धश्चेत्येतावन्तो विषया भवन्तीत्यपि ध्येयम् । सप्तदशभिर्मासैः (सार्द्धवर्षेणैव) सर्वथापि संस्कृतानभिज्ञाः कन्या विशारद-शास्त्रिपरीक्षोत्तीर्णा जाता इति श्रुत्वा प्राकृतजनास्तु विश्वासमपि न कुर्वन्ति, विशिष्टास्तु चकितचकिता विस्मिताश्च जायन्ते । परञ्च सर्वमेतदधुनाऽपि मर्मज्ञैः प्रत्यक्षीकर्त्तुं शक्यते ॥

(२) अपरञ्च—बी० ए०, एल० एल० बी० इत्युपाधिधारिण इञ्जीनियर-पदवीमलङ्कुर्वाणा अपि ३५, ४० वर्षाः प्रौढाः सज्जनाः सर्वथाऽपि संस्कृतानभिज्ञाः, सप्तभिर्दिनैरेव 'पठति' शालीयः' 'पुरुषः' इत्युदाहरणानां पूर्वापरसूत्रनिर्देशपुरःसरं सिद्धिमष्टाध्यायीसूत्रैः (विना रटनेन) कुर्वन्तीत्यपि द्रष्टुं शक्यते ॥

(३) एफ० ए० परीक्षार्थ्यपि छात्रः २१ सपादद्वयमासैनैवाष्टाध्यायीक्रमेणाऽष्टाध्यायीसूत्राण्यकण्ठस्थीकृत्यापि केवलमवबुद्ध्यैव ६०० षट्शतसंख्यकानि सूत्राणि पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धिपुरःसराणि सम्यगधीतवान् । तत्र च

'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इत्यादिकठिनतमप्रकरणस्यान्येषां प्रकरणानाञ्च कठिनतमसूत्राणां व्याख्यानं तेषामुदाहरणानां सिद्धिञ्च (प्रत्येकं ५०, ६० सूत्रैः) सम्यगवबोध्य (विनापि रटनेन) काशीस्थवैयाकरणविद्वत्समाजेऽन्यत्रापि च प्रदर्शितवान् । येन ते सर्वेऽपि विद्वांस आश्चर्यचकिता अभूवन् । अत एवास्माभिरुच्यते, यदष्टाध्याय्येव संस्कृतज्ञानस्य व्याकरणज्ञानस्य च परमं साधनम् ॥

कुतो जनाः संस्कृताध्ययनात् पलायन्ते ?

न हि व्याकरणेन विना संस्कृतभाषायामधिकारस्तत्र च सम्यक् प्रवेशो भवतीत्यस्माकं सिद्धान्तः । किन्तु तदेव व्याकरणमद्यत्वे दुरूहतयाऽर्थरहितघोषणपुरःसरतया च संस्कृताध्येतॄणां मार्गेऽवरोधकत्वेन सुदृढार्गलरूपेण समुपतिष्ठते । यावदस्यावरोधकत्वन्नापाकृतं स्यात्तावन्नास्या देववाण्याः पुनरुद्धारः सम्पत्स्यत इत्यपि सुनिश्चितमेव । ये केवल स्वमनीषिकयाऽन्येषां प्रेरणया, धर्म-देशभक्तिभावनया वा संस्कृताध्ययनमारभन्ते, ते पूर्वोक्तामर्थरहितघोषणपुरःसरतां दुरूहताञ्च दृष्ट्वैव संस्कृताध्ययनतः पलायिता हताशाश्च यत्र-तत्र सर्वत्र दरीदृश्यन्ते । एवम्भूतानां संस्कृताध्ययनतः पराङ्मुखानां पलायितानां भुक्तभोगानां संख्या न जाने भारते कति लक्षाणि स्यात् । तैः (स्कूलकालेजादिष्वधीतवद्भिः 'बी॰ ए॰, एम॰ ए॰ इत्युपाधिधारिभिः, आर्य्यभाषाविशेषज्ञैर्वा) न केवलं स्वयमेव संस्कृताध्ययनं परित्यज्यतेऽपित्वग्रे स्वसन्ततेरपि संस्कृताध्ययनस्य मार्गोऽवरोध्यते । एवम्भूता जनाः स्वसन्ततिभ्य एवमुपदिशन्तो दृश्यन्ते—"वत्स ! मया स्वबाल्यकाले संस्कृताध्ययनमारब्धमासीत्, किन्त्वतिक्लिष्टं महाकष्टसाध्यमर्थरहितघोषणप्रायिकं दुरूहञ्चेदं संस्कृताध्ययनमिति कृत्वाऽनिच्छताऽपि मया त्यक्तं पुरा, त्वयापि नात्र समयनाशः शक्तिनाशो वा कर्त्तव्यः" इत्थंभूतैः प्रवादैः संस्कृताध्ययनं देशे लुप्तप्रायमेवाभूत् । ये केवलोत्कृष्टमस्तिष्कास्ते पूर्वमाङ्ग्लीयैः प्रायेण नवनीतवत् संगृह्य इङ्ग्लैण्डादिदेशेषूपाधिलोभं प्रदर्श्य, महार्घाश्छात्रवृत्तीः प्रदाय विदेशीयवेश-भूषा-भावनायुक्ता अन्ते राजकार्येषु नियोजिताः, येन च ते स्वयं भारतीयसंस्कृतेः सभ्यतायाः, संस्कृतसाहित्याच्च पराङ्मुखा अभूवन् । ये भिक्षुवृत्तयः साधारणमस्तिष्का देशस्य संसारस्य वा भूत-वर्तमान-भविष्यद्विषये सर्वथाप्यनभिज्ञास्ते प्रायेण फल्गुवत् संस्कृताध्ययनेऽवशिष्टा दरीदृश्यन्ते, ते च न संस्कृताध्ययने स्वकर्तव्यबुद्ध्या प्रवृत्ता भवन्ति, अपि त्वर्थाभाव एव तेषां प्रवृत्तिहेतुर्दृश्यत इत्येवम्भूतायां विषमसमस्यायां कथं स्यात् संस्कृताभ्युदय इति सुधीभिर्विमर्शनीयम् ॥

तत्र व्याकरणाध्ययनस्यातीव सरलोपायः

व्याकरणाध्ययनं यदाऽनिवार्यं, नानेन विना संस्कृतसाहित्ये प्रवेशस्यापि संभव

इत्यस्माभिः पूर्वमुक्तम्, अस्यामवस्थायां "व्याकरणाध्ययनस्य कश्चन सरलोपायः स्यात्" इति विचारे समुत्पन्नेऽस्माभिरेकमेव सूत्रमुद्घोष्यते—

अष्टाध्यायीक्रमेणाध्ययनस्य पुनरुद्धार एवास्य सर्वस्य महौषधम् ॥

अस्यां विंशतितम्यां शताब्द्यामस्याष्टाध्यायीक्रमस्य पुनरुद्धारे बहुकालानन्तरं प्रथमः प्रयासः श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां वर्तते। तदनन्तरं तच्छिष्याणां श्रीमतां परमहंसपरिव्राजकाचार्यदयानन्दसरस्वतीस्वामिनामेव कृपा वर्त्तते, यद् वयं साम्प्रतमष्टाध्यायीपठनपाठनक्रमस्य विषये किञ्चिद् वक्तुं समर्थाः स्मः ॥

अष्टाध्यायीक्रमस्य वैशिष्ट्यम्

(१) किमत्र रहस्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—मूलाष्टाध्यायीग्रन्थाभ्यास एवात्र रहस्यं नान्यत् किञ्चिदपि। **'आद् गुणः'** (अ० ६-१-८४) इति सूत्रमस्माभिरित्थं पाठ्यते—'आत्' ५-१ (पञ्चम्येकवचनान्तम्)। 'गुणः' १-१ (प्रथमैकवचनान्तम्) पदम्। उपरिष्टाद् **"एकः पूर्वपरयोः"** (अ० ६-१-८१) **'इको यणचि'** (अ० ६-१-७४) **'संहितायाम्'** (अ० ६-१।७०) इति सूत्रेभ्यः 'एकः' 'पूर्वपरयोः' 'अचि' 'संहितायम्' इति पदानामनुवृत्तिरपकृष्यते, अनुवर्त्तन्त इमानि पदानीत्यर्थः। तदानीं वाह्यशब्दस्याध्याहारेण विनापि सूत्रस्यार्थं इत्थं सम्पद्यते—"आत्-अचि संहितायाम्—पूर्वपरयोः गुणः-एकः"। अग्रे 'स्यात्', 'भवेत्' 'भविष्यति', 'भवति', 'वर्तते', 'सम्पद्यते', 'जायते' एषु कतमदपि पदमध्याहर्त्तुं शक्यते, नात्र विवादोऽस्ति। 'सूत्र एव सूत्रस्यार्थः' इति रहस्यम्। स चार्थः छात्रेभ्यः (स्युस्ते बालाः प्रौढा वा) सूत्रत एव बोधनीयो भवति। मूलाष्टाध्यायीपुस्तक एव छात्राय सर्वमेतत् प्रदर्श्यतेऽवबोध्यते च। सूत्राणां घोषणेन विनाऽपि छात्र एवं प्रदर्शितं सूत्रार्थमचिरेणैवावबुध्यते। पाठनसमयेऽध्यापकेन पुनः पुनरावृत्त्या सूत्रार्थे कृते, तस्यार्थस्य स्वयमेव छात्रस्य हृदये स्थितिर्जायते, न तत्र घोषणस्यावसर उपतिष्ठते। पुनःपुनरावृत्तावध्यापकस्य परिश्रमो भवति न छात्रस्य। अन्ते स छात्रस्तत्सूत्रं तस्यार्थञ्च सम्यग् गृहीत्वा स्वस्मृतौ सञ्चिनोति। अयं हि प्रत्यक्षदर्शनस्य विषयः। इदमेव साधारणतया रहस्यमित्युच्यते।

(२) लघुकौमुदी—मध्यकौमुदी—सिद्धान्तकौमुदी—प्रक्रियाकौमुदीप्रभृतीन् कौमुदीपरिवारान् जोघुष्यमाणाश्छात्रा आजीवनमेतदपि नावबुद्ध्यन्ते, यत् सूत्रस्यार्थः कथमेवं सम्पन्नः। व्याकरणाचार्या भूत्वाप्यनुवृत्तिविषये सर्वथाऽनभिज्ञा एव प्रायेण सर्वत्र दरीदृश्यन्ते। सूत्राणां कण्ठस्थीकृतोऽप्यर्थः (चतुर्गुणः १६००० षोडशसहस्रपादपरिमितः) न चिराय स्मृतौ स्थातुमर्हति, इच्छतोऽनिच्छतो वा। स्वाभाविकञ्चैतत्,

सम्यगनवगतोऽनवबुद्धः सम्बन्धविज्ञानविरहितोऽर्थः स्मृतौ कथमवतिष्ठेत, अवस्थातुं वा शक्नुयादिति सर्वजनीनेयमनुभूतिः सर्वत्रापि द्रष्टुं शक्यते, दृश्यते च ॥

(३) अष्टाध्यायीक्रमे चायमपि विशेषः—प्रौढच्छात्रा अष्टाध्यायीसूत्राणि विना रटनेन पूर्वं बुद्धावध्यापकद्वारा पठनसमये स्थापयन्ति, अग्रे च पुनः पुनस्तेषां सूत्राणां प्रयोगसाधनावसरेऽध्यापकद्वाराऽभ्यासः सम्पद्यते, तदनु तानि सूत्राणि तेषामर्थाश्च स्वयमेव बुद्धौ स्थिरा जायन्ते। यानि यानि सूत्राणीत्थमवबुद्ध्यन्ते तेषां नीचैः रक्ततूलिकया चिह्नानि क्रियन्ते कार्यन्ते च। येन स्वावगतसूत्राणां ज्ञानं स्मृतिर्वा तेषामनायासेनैव सम्पद्यते। स्वाभ्यस्तचिह्नितसूत्रावलोकनेन प्रौढच्छात्रस्याध्ययनोत्साहोऽपि भृशं समेधते एतदप्यस्ति रहस्यमष्टाध्याय्या अध्ययनपद्धतौ। इतरपद्धतौ तु नैवं सम्भवति, न च सम्पद्यते तादृशं ज्ञानमिति प्रत्यक्षगोचरोऽयं विषयो न श्रवणपरः॥

(४) अष्टाध्याय्यां सर्वाणि प्रकरणानि वैज्ञानिकेन विधिना सुसम्बद्धानि वर्त्तन्ते, तेन तत्तत्प्रकरणस्य ज्ञानं सुतरामनायासेन जायते। तद्यथा—सर्वनाम-इत्संज्ञा-आत्मनेपद-परस्मैपद-कारक-विभक्ति-समास-द्विर्वचन-संहिता-सेट्-अनिट्प्रकरणानां सूत्राणि परस्परं सुसम्बद्धानि वर्त्तन्ते, अतस्तेषामर्थावगमे न काचनापि बाधा छात्राणां जायते। यदि कस्यचिच्छात्रस्येड्विषये द्विर्वचनविषये वा शङ्कोत्पद्यते तर्ह्यष्टाध्यायीक्रमेणाधीतवांश्छात्रो द्वित्रैरेव पलैस्तत्प्रकरणस्य समस्तसूत्राणां पाठं कृत्वा निःसंशयो जायते कौमुदीक्रमेणाधीतवांश्छात्रस्तु काठिन्येनातिपरिश्रमेण चापि व्युत्क्रमेण सूत्रविन्यासहेतोर्न तत्र निस्सन्दिग्धः सम्पद्यते। कुतः? तस्य क्रमे तु सूत्राणि विभिन्नप्रकरणेषु विकीर्णानि वर्त्तन्ते, तेषां विभिन्नप्रकरणपठितसूत्राणां परस्परं ज्ञानं कथङ्कारं सम्भवेत्?

(५) अष्टाध्याय्यां 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' 'असिद्धवदत्राभात्' 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्याद्यधिकारसूत्राणां कार्येषु सूत्रक्रमज्ञानस्य महत्यावश्यकतैव न विद्यते, अपि तु तेषां क्रमज्ञानस्यानिवार्यताऽप्यपेक्षिता भवति। सूत्रपाठक्रमज्ञानमन्तरा 'पूर्वम्' 'परम्' 'आभात्' 'त्रिपादी' 'सपादसप्ताध्यायी' बाध्यबाधकभावश्चेत्यादिज्ञानं न कदापि सम्भवत्यध्येतृणामध्यापकानाञ्चापि। सिद्धान्तकौमुदीप्रक्रियाक्रमेणाधीतवतां छात्राणां सूत्रपाठक्रमज्ञानस्याभावान्महाभाष्यं पूर्णतया बुद्धिं नाधिरोहति। प्रतिपदं प्रतिसूत्रं वा तत्र महत् कष्टमनुभूयते, स्वाभाविकञ्चैतत्। स्वप्रत्यक्षीकृतमेतत् सर्वं, यदत्रास्माभिः प्रतिपाद्यते॥

(६) सिद्धान्तकौमुदीक्रमेणाधीतं व्याकरणं छात्राणां स्मृतिपथाच्छीघ्रं विलुप्यते। पुनः पुनर्घोषणेनापि सत्वरमेव विस्मृतं भवति। सर्वेषामेव व्युत्क्रमेणाधीतवतां छात्राणां स्वानुभूतिरेवात्र प्रमाणम्। नास्त्यत्र कस्यचिदन्यस्य कथनावसरः।

(७) अष्टाध्यायीक्रमे सूत्राणां प्राप्तिः सामान्येनावबोध्यते सिद्धान्तकौमुदीक्रमे तु यत् सूत्रं यत्रोल्लिखितं विद्यते तत्रैव तस्य प्राप्तिश्छात्रस्य मस्तिष्कमारोहति, न चान्यत्रापि तस्य प्राप्तिश्छात्रस्य मस्तिष्के सौकर्य्येणोपतिष्ठते। एकस्मिन्नुदाहरणे प्रयुक्तसूत्रस्य तत्सदृश उदाहरणान्तरे प्रयोक्तुमाधुनिकप्रक्रियानुसारेणाधीतवन्तश्छात्राः सर्वथैव विस्मरन्ति। 'उपेन्द्रः' इति प्रयोग, उदाहरणे वा प्रयुक्तं 'आद् गुणः' इति सूत्रं 'दिनेशः' इत्युदाहरणे प्रयोगे वा प्रयोक्तुं ते छात्रा बहुधा विस्मयतो दृश्यन्ते।

(८) लेटि रूपाणि, स्वरवैदिकसूत्राणामर्थोदाहरणानि, तेषां सिद्धिर्वाऽष्टाध्यायीक्रम आरम्भादेव 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रस्योदाहरणसिद्धावेवावबोध्यन्ते। सिद्धान्तकौमुदीक्रमे तु ग्रन्थस्यान्ते संस्थापितत्वादाजीवनमपि तत्र यत्नो न क्रियते। यतो ह्युपेक्षिते तत्प्रकरणे, अतस्तत्र कथं गतिः स्यादिति सर्वजनीनोऽयमनुभवः॥ अन्येऽपि बहवो दोषाः सिद्धान्तकौमुदीप्रक्रियया व्याकरणाध्ययनाध्यापने सन्ति, विस्तरभिया विरम्यते॥

अष्टाध्यायीक्रमेणाध्ययने ये गुणाः सन्ति, ते ये सम्पूर्णामष्टाध्यायीं पूर्वं कण्ठस्थीकृत्याधीयते, तेभ्य एवोपकारिणो भवन्ति, तत्रमहाभाष्याध्ययनपर्यन्तमष्टाध्यायीसूत्राणां पारायणस्यावश्यकता भवति। येषामष्टाध्यायी कण्ठस्था न भवति, अष्टाध्याय्याः पठनक्चारभन्ते, ते तु तेभ्यो गुणेभ्यो वञ्चितास्तिष्ठन्ति। सति तत्रैवं अष्टाध्यायीक्रमज्ञानाभावे तैर्महाभाष्यादिपठने महत् कष्टमनुभूयते अतो महाभाष्यस्याद्यन्ताध्ययनकर्तॄणां सर्वप्रथममष्टाध्याय्याः कण्ठस्थीकरणमनिवार्यमेवेति दिक्॥

ये तु प्रौढाः पठनार्थिनो लघुकौमुदीं वाऽधीयते (यत्र च तेषां घोषणस्य महान् परिश्रमः कालश्चापि सुमहान् व्ययेव जायते) तेभ्योऽप्यष्टाध्यायीसूत्रपाठस्य कण्ठस्थीकरणेन विनापि तावज्ज्ञानमष्टाध्यायीक्रममात्रेण (केवलं सूत्रार्थप्रयोगसिद्धिमात्रेणेत्यर्थः) कतिपयैरेव मासैः सम्पद्यते, यावत् ताभ्यां लघुकौमुदीमध्यकौमुदीभ्यां द्वित्रैः वर्षैरपि न सम्भवति। समयस्य परिश्रमस्य च महान् लाभोऽष्टाध्यायीक्रमस्य महद् वैशिष्ट्यम्।

अत एव "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" अष्टाध्याय्यैवैतत् सर्वं सम्भवति नान्यथेत्यस्माभिर्मुहुर्मुहुरुच्यते॥

—:०:—

आचार्य पाणिनि का महत्त्व

आचार्य पाणिनि केवल शब्द शास्त्र के ही ऋषि (साक्षात्कृतधर्मा) नहीं थे, अपितु सम्पूर्ण लौकिक वैदिक वाङ्मय में अव्याहतगति थे, ऐसा सभी का मत है।

वैदिक वाङ्मय सम्बन्धी विद्वत्ता का निर्देश तो उनकी बनाई अष्टाध्यायी के सूत्रों में जहाँ तहाँ मिलता ही है, किन्तु ये भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र तथा लोकव्यवहार के भी महाविद्वान् थे, ऐसा पाणिनि शास्त्र के अवगाहन से प्रतीत होता है। उनका शब्द-शास्त्र न केवल व्याकरण का ही प्रतिपादन करता है, अपितु भूगोल इतिहास आदि विषयों के ज्ञान के लिये भी इनके शास्त्र की अद्भुत महिमा एवं महान् उपयोगिता है, ऐसा विद्वान् लोग अनुभव करते हैं।

पाणिनीय अष्टाध्यायी का गौरव न केवल हम ही घोषित करते हैं, अपितु भगवान् पतञ्जलि भी आचार्य पाणिनि का महान् गौरव आदर के साथ मुक्त कण्ठ से प्रदर्शित करते हैं। जैसे कि—

(१) "प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण" (महाभाष्य १।१।१ पृष्ठ १३४ चौखम्बा संस्करण)। "दर्भ पवित्र से युक्त हाथों वाले अर्थात् यज्ञवत् प्रवृत्त हुए, प्रमाणभूत आचार्य प्राची दिशा की ओर मुख करके पवित्र स्थान में बैठकर महान् यत्न से सूत्र रचना करते थे, अतः उनका एक वर्ण भी अनर्थक नहीं, फिर इतने बड़े सूत्र की तो बात ही क्या है"।

(२) पुनः कहते हैं—"सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्" (अ० ६।१।७७ महाभाष्य), शास्त्र के सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी (कोई भी वर्ण या पद) ऐसा नहीं देखता जो कि अनर्थक हो"।

(३) जयादित्य भी जवब्ल विपाशः (अ० ४।२।७४) इस सूत्र की वृत्ति में कहते हैं कि—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य "सूत्रकार पाणिनि की अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि है"।

(४) चीन देशवासी यात्री ह्वेनसाङ्ग भी इस प्रकार कहता है—"पूर्ण मनोयोग से महर्षि पाणिनि ने शब्दभण्डार से शब्दराशि का चुनना प्रारम्भ किया। १००० श्लोकों में (अर्थात् ४००० सूत्रों में) सारी व्युत्पत्ति समाप्त हो गई है। प्रत्येक श्लोक ३२ अक्षरों में था। इसी में ही सारी प्राचीन तथा नवीन ज्ञानराशि परिसमाप्त हो जाती है। शब्द एवं अक्षर विषयक कोई भी ज्ञान इससे शेष नहीं बचा" (ह्यूनसाङ्ग हिन्दी-अनुवाद प्रथम भाग के २२१ पृष्ठ से उद्धृत)।

पाश्चात्य-विद्वानों की भी पाणिनि के विषय में अति उत्कृष्ट भावना है।

(१) जैसे कि—मोनियर विलियम कहता है—संस्कृत का व्याकरण (अष्टाध्यायी ग्रन्थ) मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है, जो कि मानव मस्तिष्क के सामने आया"।

(२) हण्टर भी कहता है--"मानवमस्तिष्क का अतीव महत्त्वपूर्ण आविष्कार यह अष्टाध्यायी है"।

(३) लेनिनग्राड के प्रो० टी वारसकी कहते हैं—"मानवमस्तिष्क की यह अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ रचना है"।

अष्टाध्यायी पठन-पाठन का क्रम अति प्राचीन है

आजकल भारतवर्ष में प्राय: सर्वत्र ही संस्कृत विद्यालयों में लघुकौमुदी, मध्य-कौमुदी एवं सिद्धान्तकौमुदी ही देखी जाती हैं, केवल अंग्रेजी स्कूलों, कालेजों में ही संस्कृत का पठन पाठन अंग्रेजी भाषा के विद्वानों के द्वारा रचित ग्रन्थों से होता है। संस्कृत विद्यालयों में सर्वत्र कौमुदी रीति से ही व्याकरण शास्त्र का पठन पाठन १४वीं शताब्दी से इतना व्यापक हो गया है, कि अष्टाध्यायी से भी व्याकरण का अध्ययन हो सकता है, ऐसा ज्ञान वा विश्वास ही प्राय: करके आजकल किन्हीं-किन्हीं को नहीं होता। प्रयोगों की सिद्धि (अष्टाध्यायी क्रम से) कैसे हो सकेगी इस प्रकार की शङ्काएं करते हुए उच्चकोटि के विद्वान् भी देखे जाते हैं, अन्यों का तो कहना ही क्या? कालक्रम से अष्टाध्यायी का लोप ही हो गया ऐसा ही मानना पड़ेगा। खेद से कहना पड़ता है कि काशी में तथा अन्यत्र भी ऋग्वेदी वैदिकों के घरों में बालक अतीव शुद्धोच्चारण सहित धाराप्रवाह रूप से अष्टाध्यायी को कण्ठ करने पर भी वृत्ति सहित लघुकौमुदी के सूत्र (उन सूत्रों का अर्थ बिना समझे ही) रटते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं। ओहो! कैसी यह अनर्थपरम्परा प्रचलित हो गई!!! अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेने पर भी आधुनिक वैयाकरण बालकों को व्याकरण का अध्ययन लघुकौमुदी के बिना नहीं करा सकते, यह कितनी अनिर्वचनीय अन्ध परम्परा है। यह देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है?

भट्टोजिदीक्षित महोदय का समय संवत् १५१०-१५७५ तक है इससे पूर्व अष्टाध्यायी से ही पठन-पाठन का प्रचार था, इसमें कुछ भी शङ्का का स्थान नहीं है। क्योंकि चीन देश का यात्री इत्सिङ्ग भारत में कई वर्षों तक(सन् ६८१-६९१ई०) रहा। अष्टाध्यायी के आधार पर ही संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन है, जैसा कि उसने यहाँ किया, जिसे उसने स्वयं अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है। जैसे कि—

(१) "इस अष्टाध्यायी में १००० श्लोक (४००० सूत्रों का १००० श्लोक बनना है—लेखक) हैं। यह पाणिनि की रचना है, जो प्राचीनकाल में बहुत भारी विद्वान था......आजकल के भारतवासियों का प्राय: इसमें विश्वास है। बच्चे ८वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्रपाठ को सीखना प्रारम्भ करते हैं, और ८ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं"॥ (इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २६४)

(२) यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जायें तो उन्हें सबसे पहले (व्याकरण के) इस (अष्टाध्यायी) ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय। यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम व्यर्थ जायेगा.........(इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २६८)।

(३) "प्रौढ़ विद्यार्थी उसे (चूर्णि अर्थात् महाभाष्य को) तीन वर्ष में सीख लेते हैं"। (इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २७३)।

(४) सन् ९११ ई० में इन्द्र वर्मा तृतीय राजा बना, यह इस भृगु वंश का अन्तिम राजा था। इसके ८ लेख मिलते हैं, इनसे पता चलना है कि इन्द्रवर्मा षड्-दर्शन का पण्डित था। काशिका सहित व्याकरण में पारङ्गत था, और बौद्ध-दर्शन का भी अच्छा ज्ञाता था, यह अपने समय का भारी विद्वान् था" (चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार कृत बृहत्तर भारत पृ० ३४२)। यह चम्पादेश का (इस समय इस की 'अनाम' संज्ञा है) राजा था। यह देश हिन्द चीन द्वीप में है, इससे यह सिद्ध होता है, कि बौद्ध भी अष्टाध्यायी पद्धति से ही व्याकरण पढ़ते थे॥

पहिले के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि इत्सिङ्ग (६८१-६९१ ई०) के काल में इन्द्रवर्मा के राज्य के समय भी अष्टाध्यायी से अध्ययन, न केवल भारतवर्ष में ही था, अपितु भारत से बाहर चम्पा देश में (अनाम देश में) भी विस्तृत था। कालक्रम से ही इस अष्टाध्यायी का इतना लोप हो गया, कि अष्टाध्यायी से भी व्याकरण का ज्ञान सम्भव है इसमें विद्वान् लोग भी सन्देह करते हुए देखे जाते हैं, फिर छात्रों की तो बात ही क्या।

प्रक्रिया क्रम का आरम्भ

इत्सिङ्ग के समय में (सन् ६८१-६९१ ई०) अष्टाध्यायी पठन-पाठन का क्रम था ऐसा हम सप्रमाण पूर्व कह चुके हैं, वह क्रम कैसे लुप्त हो गया? उस क्रम में अरुचि का क्या कारण है, प्रक्रिया क्रम में लोगों की प्रवृत्ति का क्या हेतु रहा? इन सब बातों को मन में रखकर यहाँ हम कुछ लिखते हैं—

अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, धातुपाठ, उणादिपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन यह सब पञ्चपाठी के नाम से कहा जाता है ऐसा सभी जानते हैं। यह सारा पढ़ने के पश्चात् ही अष्टाध्यायी का पढ़ना हुआ ऐसा माना जाता है। वृद्धिरादैच् यह सूत्र पढ़ता हुआ छात्र इस सूत्र का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण आदि सब कुछ पढ़ते हुए तथा उदाहरणों की (शालीयः, भागः, नायकः, अचैषीत्, अलावीत् मार्ष्टि इत्यादियों

की) सिद्धि सब सूत्रों के द्वारा अष्टाध्यायी पद्धति से करता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी धातु पाठ का भी ठीक-ठीक अभ्यास करके प्रथमावृत्ति में ही (उदाहरणों की सिद्धि करते हुए) सब छात्र तिङन्त प्रक्रिया, सुबन्त प्रक्रिया, कृदन्त प्रक्रिया एवं तद्धित समास प्रक्रिया भी प्रक्रिया ग्रन्थ के आश्रयण के बिना ही समझ लेते थे। सब धातुओं के सब लकारों में तथा सब प्रक्रियाओं में एक-एक प्रयोग सूत्रों के साथ-साथ सिद्ध करते हुए प्रक्रिया ग्रन्थों के न होने पर भी वे छात्र किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं करते थे। यह क्रम उस समय सर्वसाधारण में प्रचलित था। प्रक्रिया ग्रन्थों के निर्माण का उस समय प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु काल के प्रभाव से जब आलस्यवशात् अध्यापक लोग इस रीति से छात्रों को पढ़ाने में अधिक कष्ट का अनुभव करते हुए शिथिलता को प्राप्त हो गये तब वे प्रयोग साधन के समय में लिखाई हुई उन्हीं प्रयोग सिद्धि की कापियों को ग्रन्थ रूप से बनाने लगे तब धीरे-धीरे अष्टाध्यायी के क्रम से प्रयोग सिद्धि की प्रक्रिया शिथिलता को प्राप्त हो गई प्रक्रिया ग्रन्थों का आश्रयण ही उत्तरोत्तर बढ़ता गया। किन्तु उस समय भी यह तो था ही कि अष्टाध्यायी अभ्यास करके उस क्रम के अनुसार ही सूत्रार्थ को जानकर प्रयोग सिद्धि करते थे। प्रक्रिया ग्रन्थों के रूप में परिणत सिद्धान्तकौमुदी से पूर्ववर्ती रूपावतार, प्रक्रियारूपमाला, प्रक्रियाकौमुदी आदियों का तथा प्रक्रियासर्वस्व आदियों का भी आश्रयण अष्टाध्यायी पढ़ते समय लिखी गई प्रयोग सिद्धि की कापियों के रूप में पढ़ने वाले करते थे, प्रक्रिया ग्रन्थों के अलग निर्माण की आवश्यकता ही नहीं थी। अष्टाध्यायी का आश्रयण उस समय अनिवार्य था कि जिस प्रकार आज भी कुछ काल पहले तक काशी के महाविद्वान् तात्या शास्त्री इत्यादि भी "आज मैंने समयाभाव से अष्टाध्यायी की आवृत्ति नहीं की" ऐसा अपने छात्रों से कहते थे।

प्रक्रिया ग्रन्थों के बन जाने पर भी यदि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ का त्याग न होता तो भी अष्टाध्यायी उपस्थित (कण्ठ) होने से साधारण बुद्धि के छात्रों के लिये प्रक्रिया ग्रन्थों से भी कुछ सुगमता हो जाती (यदि मूल को त्याग कर शाखाओं में न चले जाते)। इस प्रकार अष्टाध्यायी सूत्रक्रम पाठ का आश्रयण करके प्रक्रिया ग्रन्थों का अभ्यास बहुत काल तक प्रचलित रहा। तत्पश्चात् प्रमाद से अष्टाध्यायी सूत्रक्रम पाठ का भी लोप हो गया, केवल प्रक्रिया ग्रन्थों के पठन-पाठन का क्रम ही सर्वत्र प्रचलित हो गया। तभी से इन प्रक्रिया-कौमुदी सिद्धान्त-कौमुदी आदियों की उत्पत्ति एवं व्यापकता हो गई। इसी समय के बीच में ही एक के ऊपर एक प्रक्रिया ग्रन्थ का बनना प्रारम्भ हो गया। अब प्रक्रिया ग्रन्थों की उत्पत्ति के विषय में भी यहां कुछ लिखते हैं—

प्रक्रिया ग्रन्थों का इतिहास

(१) रूपावतार—(सं० ११४० वि०)

अष्टाध्यायी के ग्रहण में असमर्थ एवं अल्पबुद्धि वालों के लिए व्यावहारिक ज्ञानमात्रार्थ बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति ने प्रक्रिया-क्रम का सबसे पहला ग्रन्थ 'रूपावतार' अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा रचा। इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी-क्रम को छोड़कर केवल प्रयोग-सिद्धि को ध्यान में रख के संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, अव्यय, स्त्री-प्रत्यय, कारक, समास तथा तद्धितप्रकरण प्रथम भाग में रखा। दश लकार दश प्रक्रिया तथा कृदन्त दूसरे भाग में रखा (स्वर-वैदिक प्रकरण को छोड़कर)। इस प्रकार २६६४ सूत्र प्रक्रिया-क्रम से व्याख्यात किये। प्रक्रिया-ग्रन्थों की उत्पत्ति बौद्ध-काल में ही हुई, यह भी जानना चाहिए।

(२) प्रक्रिया-कौमुदी—(सं० १४८० वि०)

यद्यपि 'प्रक्रिया-रत्न' तथा 'रूपमाला' ये ग्रन्थ रूपावतार के पश्चात् रचे गये, तो भी उनके अनुपलब्ध होने से प्रक्रिया-कौमुदी के विषय में ही यहाँ कहते हैं। स्वर-वैदिक प्रकरण को भी मिला कर २४७० सूत्रों का व्याख्यान-रूप प्रक्रिया-कौमुदी नामक यह ग्रन्थ सूत्रों का कुछ विस्तार से व्याख्यान करते हुए रामचन्द्र आचार्य के द्वारा रूपावतार के पश्चात् बनाया गया। उसके द्वारा प्रक्रिया क्रम का विस्तार तथा प्रचार प्रचुर रूप में हुआ। यह ग्रन्थ सिद्धान्त-कौमुदी का आधार-रूप है, ऐसा मानना पड़ेगा।

(३) सिद्धान्त-कौमुदी—(सं० १५१०-१५७५ वि०)

भट्टोजीदीक्षित महोदय ने अष्टाध्यायी क्रम को छोड़कर पूर्व-प्रचलित प्रक्रिया-कौमुदी के क्रम को आश्रयण कर सिद्धान्त-कौमुदी नामक ग्रन्थ रचा। उसमें प्रायः सभी सूत्र (३९७८) व्याख्यात हैं। उन्होंने यह प्रयत्न किया कि मेरा बनाया हुआ यह सिद्धान्त-कौमुदी नामक ग्रन्थ ही सर्वत्र प्रचलित हो, व्याकरण के विषय में सिद्धान्त-कौमुदी को छोड़कर किसी भी अन्य ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन न चले। यह छात्रों के लिए कितना महान् कष्टदायक होगा, यह नहीं सोचा। उसी का यह फल है कि संस्कृत पढ़ने वाले बारह वर्ष व्याकरण पढ़ कर भी व्याकरण रूपी समुद्र से पार नहीं पाते, अन्य शास्त्रों के विषय में तो क्या कहना? तो भी "द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" अर्थात् "बारह वर्ष में व्याकरण का ज्ञान हो पाता है", यह श्रुति मात्र है, बारह वर्ष में भी ज्ञान हो पाता है कि नहीं, इसमें तो सन्देह ही है।

(४) मध्य-कौमुदी—

पर्वत के समान स्थापित सिद्धान्त-कौमुदी 'छात्रों के लिए अतीव दुःखदायी, दुरूह, अतीव परिश्रम-साध्य एवं अति काल की अपेक्षा रखनेवाली है' ऐसा वरदराज ने जब अनुभव किया तब उन्होंने २११७ सूत्रों की व्याख्या करते हुए मध्यकौमुदी की रचना की। मध्यकौमुदी का निर्माण ही सिद्धान्त-कौमुदी की असफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है, नहीं तो क्या आवश्यकता थी कि मध्यकौमुदी बनाई जाती? इस प्रकार पर्वत से तराई पर संस्कृत के अध्ययन की पद्धति पहुंच गई। यह स्पष्ट है।

(५) लघु-कौमुदी—

जब इस मध्यम मार्ग से भी संतोष नहीं हुआ, तब उससे भी लघुतर मार्ग की इच्छा करके उन्हीं वरदराज ने अपने पूर्व-निर्मित मध्य-कौमुदी से असंतुष्ट होकर ११८८ सूत्रों की व्याख्या करते हुए लघुकौमुदी की रचना की तब पर्वत से तराई एवं तराई से नीची भूमि में व्याकरण का पठन-पाठन क्रम पहुंच गया। यदि सिद्धान्त-कौमुदी कठिन न होती, तो मध्यकौमुदी, लघुकौमुदी नामक ग्रन्थों का निर्माण कभी न होता यह स्पष्ट है। उनका निर्माण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सिद्धान्त-कौमुदी के क्रम से अध्ययन सुकर नहीं है, इसमें सन्देह नहीं।

अष्टाध्यायी का क्रम पुनः प्रादुर्भूत हुआ

"वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता" (अथर्व)—

जिस प्रकार यह पृथ्वी गोल है, "उसमें जहां से चलना आरम्भ करें, वहीं पुनः लौट करके आ जाते हैं" यह जनश्रुति है तथा तथ्य भी है, उसी प्रकार इस अष्टाध्यायी का क्रम आज स्वतन्त्र भारत में फिर से प्रादुर्भूत हो रहा है।

व्याकरण के पढ़नेवाले मूल से (अष्टाध्यायी-प्रक्रिया से) अत्यन्त दूर हट गये थे, यह हमने पहले प्रतिपादित किया है। जिस वृक्ष का जड़ से सम्बन्ध हट जाता है, काल-क्रम से स्वयं ही उस वृक्ष के पत्ते तथा फूलों के नाश को रोकना दुर्निवार है, इसलिये फिर से मूल का आश्रयण करने से ही कल्याण संभव है, इसमें विद्वान् ही प्रमाण हैं। इस प्रकार इस समय अष्टाध्यायीपद्धति का आश्रयण संस्कृत पढ़ने वालों वा भारतीयों के लिए कल्याणकर, श्रेयस्कर तथा साधक होगा, ऐसी आशा की जाती है।

दूसरों के द्वारा सुनी हुई यह बात नहीं है, अपितु स्वानुभूत है। वह अनुभव इस समय अपने मित्रों के आग्रह से आदरणीय विद्वानों व्याकरण पढ़ने वालों तथा व्याकरण जानने की इच्छा रखने वालों के समक्ष प्रकाशित किया जाता है।

व्याकरण की सरलता का स्वानुभव

(१) संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ दो-तीन कन्याओं को अष्टाध्यायी मूल सूत्रों को कण्ठस्थ किये बिना ही, अष्टाध्यायी-क्रम से पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण, सिद्धि (सब सूत्रों से) इत्यादि करते हुए व्याकरण में इतनी प्रगति हो गई कि अष्टाध्यायी क्रम से ही उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की विशारद परीक्षा दश महीने में उत्तीर्ण कर ली। इस परीक्षा में व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ, दर्शन, धर्म-शास्त्र, भगवद्गीता, संस्कृत अनुवाद तथा निबन्ध इत्यादि विषयों में भी योग्यता प्राप्त करनी होती है। उन्हीं कन्याओं ने विशारद परीक्षा के पश्चात् सात महीने में ही पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण की। शास्त्री परीक्षा में भी वेद, निरुक्त, संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ, महाभाष्य, सांख्य-योग दर्शन (भाष्य-सहित) अनुवाद तथा निबन्ध इतने विषय होते हैं। "सत्रह महीने में (डेढ़ साल में) ही संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ कन्यायें विशारद तथा शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण हो गईं" यह सुनकर सामान्य लोग तो विश्वास भी नहीं करते तथा विशिष्ट लोग आश्चर्य चकित एवं विस्मित होते हैं, पर आजकल भी यह सब कुछ मर्मज्ञ विद्वान् लोग देख सकते हैं॥

(२) दूसरे बी० ए०, एल्-एल्० बी० उपाधि-धारी इन्जीनियर पैंतीस चालीस वर्ष के प्रौढ़, संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ सज्जनों को भी सात दिन में ही पठति, शालीयः, पुरुषः इन उदाहरणों की पूर्वापर के सूत्रों का निर्देश करते हुए अष्टाध्यायी के सूत्रों से सिद्धि करते हुए (वह भी बिना रटे हुए) देखा जा सकता है।

(३) तीसरे एफ० ए० के परीक्षार्थी ने भी सवा दो मास में अष्टाध्यायी के क्रम से अष्टाध्यायी के सूत्रों को बिना याद किये ही केवल समझकर ६०० सूत्र पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण और सिद्धि सहित ठीक-ठीक पढ़ लिये। उसने "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इत्यादि कठिनतम प्रकरणों तथा अन्य प्रकरणों के कठिनतम सूत्रों की व्याख्या, एवं उदाहरणों की सिद्धि (प्रत्येक में ५०-६० सूत्रों के द्वारा) ठीक-ठीक समझकर (बिना रटे हुए) काशी के वैयाकरण विद्वत्समाज में एवं अन्यों के सामने भी प्रदर्शित किया। जिससे वे सभी विद्वान् आश्चर्य-चकित हो गये। इसलिए हम कहते हैं कि 'अष्टाध्यायी ही व्याकरण ज्ञान का परमसाधन है'॥

संस्कृत के अध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं ?

व्याकरण के बिना संस्कृत भाषा में अधिकार एवं सम्यक् प्रवेश नहीं होता, यह हमारा सिद्धान्त है, किन्तु वही व्याकरण आजकल दुरूह बिना समझे रटने के

कारण संस्कृत पढ़ने वालों के मार्ग में सुदृढ़ पाषाण के रूप में अवरोधक बन गया है। जब तक इसकी रुकावट नहीं हटायी जायेगी, अर्थात् सरल नहीं किया जायेगा तब तक इस देववाणी का पुनरुद्धार सम्भव नहीं, यह भी निश्चित है। जो कोई अपने आप या अन्यों की प्रेरणा के द्वारा धर्म, देश भक्ति की भावना से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, वे भी पूर्वोक्त अर्थ रहित घोखन की दुरूहता को देखकर संस्कृत के अध्ययन से हताश होकर जहाँ-तहाँ सब जगह भागते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार के अध्ययन से पराङ्मुख हुए, एवं भागे हुए भुक्तभोगियों की संख्या न जाने भारत में कितने लाख होगी। न केवल उनके द्वारा (स्कूल कालेज आदि में पढ़ने वाले बी. ए., एम. ए. उपाधिधारियों एवं आर्य भाषा के विशेषज्ञों द्वारा) संस्कृत का अध्ययन छोड़ दिया जाता है, अपितु आगे उनकी सन्तानों का भी संस्कृत अध्ययन का मार्ग रुक जाता है। इस प्रकार के लोग अपनी सन्तानों को ऐसा उपदेश देते हुए देखे जाते हैं--"पुत्र' मैंने बाल्यकाल में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया था किन्तु संस्कृत अध्ययन अति क्लिष्ट, महा कष्टसाध्य, दुरूह एवं बिना अर्थ जाने घोखने की विद्या है, ऐसा समझ कर चाहते हुए भी मैंने उसे छोड़ दिया। तुम भी इसमें समय एवं शक्ति का नाश मत करो"। इस प्रकार के प्रवाद से संस्कृत का अध्ययन देश से लुप्तप्राय ही हो गया। जो कोई उत्कृष्ट मेधा वाले हैं, उन्हें अंग्रेज पहले मक्खन के समान इकट्ठा करके इङ्गलैण्ड आदि देशों में उपाधि का लोभ प्रदर्शन करके बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियां देकर, विदेशी वेश-भूषा एवं भावना से युक्त करके अन्त में बड़े-बड़े वेतन देकर राजकीय कार्य में लगा देते रहे और दुर्भाग्य से अभी तक वही प्रक्रिया चल रही है जिससे वे स्वयं भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं संस्कृत-साहित्य से पराङ्मुख हो जाते हैं। जो भिक्षु-वृत्ति के साधारण बुद्धि वाले देश एवं संसार के भूत, भविष्यत् वर्त्तमान विषय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, वह प्रायः करके शेष बचे हुए फोक के समान देखे जाते हैं। वे संस्कृत के अध्ययन में अपनी कर्तव्य-बुद्धि से नहीं प्रवृत्त होते, वरन् धनाभाव ही उनकी प्रवृत्ति का हेतु है। इस प्रकार की विषम समस्या में किस प्रकार संस्कृत का अभ्युदय हो, यह बात विद्वानों के द्वारा विचारणीय है।

व्याकरण के अध्ययन का अतीव सरल उपाय

व्याकरण का अध्ययन जब अनिवार्य था तथा बिना इसके संस्कृत साहित्य में प्रवेश संभव नहीं, यह हम पहले कह चुके हैं। ऐसी अवस्था में "व्याकरण के अध्ययन का कोई सरल उपाय हो" ऐसा विचार उत्पन्न होने पर हम एक ही मूल तत्त्व बताते हैं—

'अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन ही इसके पुनरुद्धार का सबसे बड़ा औषध है'।

बहुत काल के पश्चात् इस बीसवीं शताब्दी में अष्टाध्यायी क्रम के पुनरुद्धार में पहला प्रयास श्रीमत् परमहंस परिव्राजक आचार्य परम विद्वान् विरजानन्द सरस्वती स्वामी ने किया। इस के पश्चात् उनके शिष्य श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद् दयानन्द सरस्वती स्वामी की ही कृपा है कि हम इस समय अष्टाध्यायी पठन-पाठन के क्रम के विषय में कुछ कहने में समर्थ हो रहे हैं।

अष्टाध्यायी-क्रम का वैशिष्ट्य

(१) इसमें क्या रहस्य है, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं :—

मूल अष्टाध्यायी ग्रन्थ का अभ्यास ही इसमें रहस्य है और कुछ नहीं। "आद्-गुणः" (६।१।८४) यह सूत्र हम इस प्रकार पढ़ाते हैं :—

'आत्' ५।१ (पंचमी का एक वचन), 'गुणः' १।१ (प्रथमा का एकवचन)। ऊपर से 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८१), 'इको यणचि' (६।१।७४), 'संहितायाम्' (६।१।७०) इन सूत्रों से 'एकः', 'पूर्वपरयोः', 'अचि', 'संहितायाम्' इन पदों की अनुवृत्ति आ रही है। यहां बाह्य शब्द के अध्याहार के बिना भी सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो जाता है—

'आत् अचि संहितायां पूर्वपरयोः गुणः एकः'। आगे 'स्यात्', 'भवेत्' 'भविष्यति' 'भवति', 'वर्त्तते', 'संपद्यते', 'जायते' इनमें से किसी भी क्रिया पद का अध्याहार कर सकते हैं, इसमें कोई विवाद नहीं। सूत्र में ही सूत्र का अर्थ है, यह रहस्य है। वह अर्थ छात्रों को (चाहे वे बालक हों या प्रौढ़) सूत्र से ही जनाना चाहिए। मूल अष्टाध्यायी की पुस्तक ही छात्र के लिए यह सब कुछ प्रदर्शित करती है, एवं जनाती है। सूत्रों के घोखे बिना भी छात्र इस प्रकार प्रदर्शित किया हुआ सूत्रार्थ शीघ्र ही समझ लेते हैं। पढ़ाने के समय अध्यापक के द्वारा बार-बार सूत्रार्थ की आवृत्ति कर देने पर वह अर्थ स्वयं ही छात्र के हृदय में स्थित हो जाता है। रटने का कोई काम नहीं पड़ता। पुनः पुनः आवृत्ति करने में अध्यापक को परिश्रम पड़ता है, न कि छात्र को। अन्त में वह छात्र सूत्र तथा उसका अर्थ ठीक-ठीक समझ कर अपनी स्मृति में बिठा लेता है। यह प्रत्यक्ष दर्शन का विषय है। यही बात सामान्य जन को रहस्य प्रतीत होती है।

(२) लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी, प्रक्रियाकौमुदी वाले कौमुदी-परिवारों के छात्र रटते हुए जीवन भर इसको समझ नहीं पाते कि सूत्र का अर्थ यह कैसे बन गया। व्याकरणाचार्य हो जाने पर भी अनुवृत्ति के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ ही प्रायः सर्वत्र देखे जाते हैं। सूत्रों का कंठस्थ किया हुआ अर्थ (चौगुना १६ हजार) देर तक स्मृति में चाहते या न चाहते हुए भी नहीं रह सकता यह

स्वाभाविक बात है। ठीक-ठीक बिना जाना हुआ संबन्ध के ज्ञान से रहित अर्थ कैसे स्मृति-पथ में चिरस्थायी हो वा स्थिर हो सके यह सर्वमान्य अनुभूति है, जो सब जगह देखी जा सकती है वा दिखाई देती है।

(३) अष्टाध्यायी-क्रम में यह भी विशेष है :— प्रौढ़ छात्र अष्टाध्यायी के सूत्रों को बिना रटे पहले अध्यापक के द्वारा पढ़ने के समय बुद्धि में बिठा लेते हैं, आगे बार-बार उन सूत्रों का प्रयोग-सिद्धि के समय अध्यापक के द्वारा अभ्यास हो जाता है। उसके पश्चात् वे सूत्र एवं उनका अर्थ स्वयमेव बुद्धि में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार जो-जो सूत्र समझ लिए जाते हैं इनके नीचे लाल चिह्न लगवा दिये जाते हैं। अथवा लगवा देना चाहिये जिससे समझे हुए सूत्रों का ज्ञान अनायास ही उनको हो जाता है। अपने अभ्यस्त चिह्नित सूत्रों को देखने से प्रौढ़ छात्रों के अध्ययन का उत्साह भी खूब बढ़ जाता है। यह भी रहस्य अष्टाध्यायी-पद्धति का है और पद्धतियों में यह संभव नहीं, न उस प्रकार ज्ञान होता है। यह विषय हमारा प्रत्यक्ष किया हुआ है न कि सुना हुआ।

(४) अष्टाध्यायी में सब प्रकरण वैज्ञानिक रीति से सुसंबद्ध हैं, इसलिए उन-उन प्रकरणों का ज्ञान अनायास ही हो जाता है, जैसे कि सर्वनाम, इत् संज्ञा, आत्मनेपद, परस्मैपद, कारक, विभक्ति, समास, द्विर्वचन, संहिता, सेट्, अनिट् प्रकरणों के सूत्र परस्पर सुसम्बद्ध हैं। अतः उनके अर्थ जानने में छात्रों को कोई बाधा नहीं होती। यदि किसी छात्र को इट् या द्विर्वचन विषय में शंका होती है, तो उसको अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ा हुआ छात्र दो-तीन मिनट में ही उस प्रकरण के समस्त सूत्रों का पाठ करके निःशंक हो जाता है। कौमुदी-क्रम से पढ़ा हुआ छात्र तो कठिनाई एवं परिश्रम से भी अच्छी तरह सूत्रार्थ के बनने में हेतु नहीं बता सकता एवं निस्संदिग्ध नहीं होता। कैसे ? उस क्रम में तो सूत्र भिन्न-भिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं। भिन्न-भिन्न प्रकरणों में पठित सूत्रों का परस्पर ज्ञान कैसे हो सकता है ?

(५) अष्टाध्यायी में **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (१।४।२), **'असिद्धवदत्राभात्'** (६।४।२२), **'पूर्वत्रासिद्धम्'** (८।२।१)। इत्यादि अधिकार सूत्रों के कार्य में सूत्र-क्रम का ज्ञान अत्यधिक आवश्यक ही नहीं, किंतु अनिवार्यतया अपेक्षित है। सूत्रपाठ के क्रम के ज्ञान के बिना 'पूर्व' 'परं' 'आभात्' 'त्रिपादी' 'सपाद सप्ताध्यायी', 'बाध्य-बाधकभाव', इत्यादि का ज्ञान पढ़ने वालों एवं पढ़ाने वालों को भी कभी संभव नहीं है। सिद्धान्त-कौमुदी प्रक्रिया-क्रम से पढ़े हुए छात्रों को सूत्र-पाठ के क्रम के ज्ञान न होने से महाभाष्य पूर्णतया बुद्धि में नहीं बैठता। प्रत्येक पद एवं प्रत्येक सूत्र में वे बहुत कष्ट का अनुभव करते हैं, यह स्वाभाविक भी है यह हम अपना प्रत्यक्ष किया हुआ अनुभव ही यहां प्रतिपादन करते हैं।

(६) सिद्धान्त-कौमुदी के क्रम से पढ़ा हुआ व्याकरण छात्रों की स्मृति से शीघ्र लुप्त हो जाता है। बार-बार घोखने पर भी शीघ्र विस्मृत होता है। सभी प्रकरण रहित पढ़नेवाले छात्रों के स्वानुभव ही इसमें प्रमाण हैं। इसमें किसी के कहने की कुछ बात नहीं।

(७) अष्टाध्यायी-क्रम में सूत्रों की प्राप्ति सामान्यतया समझ में आ जाती है। सिद्धान्त-कौमुदी क्रम में तो जो सूत्र जहाँ उल्लिखित है, वहीं उसकी प्राप्ति बुद्धि में बैठती है किन्तु अन्यत्र उस सूत्र की प्राप्ति छात्र के मस्तिष्क में सुगमता से नहीं बैठती। एक उदाहरण में प्रयुक्त सूत्र का तत्सदृश अन्य उदाहरण में प्रयोग करने में आधुनिक प्रक्रिया से पढ़े हुए छात्र सर्वथा डरते हैं। 'उपेन्द्रः' इस प्रयोग या उदाहरण में प्रयुक्त 'आद्गुणः' सूत्र का प्रयोग 'दिनेशः' इस उदाहरण या प्रयोग में करते हुए छात्र बहुधा डरते देखे जाते हैं।

(८) लेट् में रूप स्वर-वैदिक प्रकरणों का अर्थोदाहरण, उनकी सिद्धि भी अष्टाध्यायीक्रम में आरम्भ से ही 'वृद्धिरादैच्' इस सूत्र के उदाहरण की सिद्धि में ही छात्र जान लेते हैं सिद्धान्त-कौमुदी-क्रम में तो ग्रन्थ के अन्त में (स्वर-वैदिक प्रकरण) होने से आजीवन भी उसमें यत्न नहीं करते, क्योंकि वह प्रकरण उपेक्षित कर दिया गया है, अतः उस प्रकरण में कैसे मति हो ! यह सर्वसम्मत अनुभव है। अन्य भी बहुत सारे दोष सिद्धान्त-कौमुदी प्रक्रिया से व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन करने में हैं ? यहाँ हम विस्तार-भय से इतना ही लिखते हैं।

अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन में जो गुण हैं, वे जो संपूर्ण अष्टाध्यायी पहले कंठ करके पढ़ते हैं, उनके लिए ही उपकारी होते हैं, वहाँ महाभाष्य अध्ययन पर्यन्त अष्टाध्यायी-सूत्रों के पारायण की आवश्यकता होती है। जिनको अष्टाध्यायी कंठ नहीं होती और वे अष्टाध्यायी का पठन आरम्भ करते हैं, वे तो उसके गुणों से वंचित रह जाते हैं। इसलिए अष्टाध्यायी क्रम के ज्ञान के बिना वे महाभाष्य के पढ़ने में महान् कष्ट का अनुभव करते हैं। इस प्रकार महाभाष्य का आद्यन्त अध्ययन करने वालों का सबसे पहले अष्टाध्यायी कंठ करना अनिवार्य है। जो प्रौढ़ पठनार्थी लघुकौमुदी या मध्यकौमुदी पढ़ते हैं (जहाँ कि उनका घोखने में महान् परिश्रम एवं समय व्यर्थ जाता है) उनके लिए भी अष्टाध्यायी-क्रम मात्र से अष्टाध्यायी-सूत्र-पाठ के कंठ किये बिना भी उतना ज्ञान (केवल सूत्रार्थ एवं प्रयोग-सिद्धि मात्र) छः महीने में ही हो जाता है, जितना उन लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी से दो-तीन साल में भी संभव नहीं। समय एवं परिश्रम का महान् लाभ अष्टाध्यायी-क्रम का ही महान् वैशिष्ट्य है।

इसलिए "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"—'छुटकारे का और कोई रास्ता नहीं"—अष्टाध्यायी से ही यह सब सम्भव है, अन्य किसी प्रकार से भी नहीं, यह हम बार-बार कहते हैं।

निवेदक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

सम्मति

मुझे यह कहते हुए बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि आदरणीय श्री पंडित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु महोदय ने पाणिनि महर्षि विरचित अष्टाध्यायी के सूत्रों की एक सरल सुबोध व्याख्या तैयार की है। मैं ऐसा मानता था कि छोटे बालकों को सूत्रबद्ध व्याकरण पढ़ाना कुछ क्लिष्ट है, परन्तु श्री जिज्ञासु जी महोदय ने बड़े प्रयत्न से सूत्रबद्ध व्याकरण को समझने की ऐसी पद्धति निकाली, जो वास्तव में सबसे प्राचीन है और जो संस्कृत व्याकरण को कम समय में सुचारु रूप से हृदयंगम कराने में पूर्ण सहयोगी है। आपने न केवल इस प्रक्रिया को सिद्धांत रूप में ही सामने रक्खा अपितु इसका एक ऐसा प्रायोगिक रूप भी उपस्थित कर दिया जिसको देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। छोटे-छोटे बालकों को तथा प्रौढ़ों को भी आपने इस पद्धति से पढ़ा कर सूत्रों का अर्थ करने तथा उनका प्रयोग करने में प्रवीण बना दिया। अब आपने उसे ग्रन्थ रूप में भी लिखकर प्रकाशित करा दिया है। इस पुस्तक में जहां-जहां जिस सूत्र से पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में अनुवृत्ति है, उसको पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया गया है और स्थान-स्थान पर उदाहरणों में भी घटा दिया गया है। मैं समझता हूं कि यह पुस्तक सभी प्रकार के विद्यार्थियों को परम लाभदायक होगी। इस भगीरथ प्रयत्न के लिए श्री जिज्ञासु जी महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं चाहता हूं कि यह पद्धति निरन्तर बढ़े और जनता में संस्कृत भाषा का प्रचार करने में सहायक सिद्ध हो।

धर्मसंघ
दुर्गाकुंड, वाराणसी
११ दिसम्बर, १९६४

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
वाचस्पति, साहित्यवाचस्पति
संमानित प्राध्यापक
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रयुक्त सङ्केत सूची ।

स० = समास
अनु० = अनुवृत्ति
उदा० = उदाहरण
वा० = वार्त्तिक
भा० वा० = भाष्य वार्तिक
म० भा० = महाभाष्य
परि० = परिशिष्ट

प्रमाण सङ्केत सूची ॥

ऋ० = ऋग्वेद
ऋ० खिल० = ऋग्वेद खिलपाठ
य० = यजुर्वेद
सा० = सामवेद
अथ० = अथर्ववेद
तै० सं० = तैत्तिरीय संहिता
का० सं० = काठक संहिता
मै० सं० = मैत्रायणी संहिता
श० = शतपथ ब्राह्मण
ऐ० = ऐतरेय ब्राह्मण
कौषी० = कौषीतकी ब्राह्मण
तै० = तैत्तिरीय ब्राह्मण
ऐ० आ० = ऐतरेय आरण्यक
तै० आ० = तैत्तिरीय आरण्यक
आ० श्रौ० = आश्वलायन श्रौत सूत्र
नि० = निरुक्त
द० भा० = दयानन्द भाष्य
अ० भा० = अष्टाध्यायी भाष्य अजमेर

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

अध्याय १-३

॥ ओ३म् ॥

अष्टाध्यायी (भाष्य) प्रथमावृत्तिः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ यजु० ३०।३॥

अथ शब्दानुशासनम् ॥

अथ । अव्ययपदम् ॥ शब्दानुशासनम् १।१ ॥ समासः—शब्दानाम् अनुशासनम् शब्दानुशासनम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः ॥ अत्र कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—अथ इत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनम्=व्याकरणशास्त्रम् आरभ्यत इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—इस सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार के लिये है। यहां से लौकिक (लोक में प्रयुक्त) तथा वैदिक (वेद में प्रयुक्त) शब्दों का अनुशासन, उपदेश (अर्थात् व्याकरण) का आरम्भ करते हैं। यहां से व्याकरणशास्त्र का अधिकार चलता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

[अथ प्रत्याहारसूत्राणि]

अइउण् ॥१॥

अ, इ, उ इत्येतान् वर्णानुपदिश्यान्ते णकारमितं करोति (पाणिनिराचार्यः) प्रत्याहारार्थम् । स णकार एकेन आदिना अकारेण गृह्यते उरण्रपरः (१।१।५०) इत्यादिषु सूत्रेषु । अकारोऽत्र विवृतः प्रतिज्ञायते सावर्ण्यार्थम् ॥

भाषार्थः—'अ, इ, उ' इन तीन वर्णों का उपदेश करके, अन्त में (आचार्य पाणिनि ने) इत्संज्ञक (१।३।३) णकार रखा है। इससे आदि अकार के साथ एक 'अण्' प्रत्याहार सिद्ध होता है, जिसका ग्रहण उरण्रपरः (१।१।५०) इत्यादि सूत्रों में होता है ॥ प्रयोग में अकार संवृत प्रयत्नवाला है, परन्तु यहां अकार को विवृत माना गया है, जिससे वह आकार का सवर्ण सिद्ध हो जाता है ॥

विशेष—'प्रत्याहार' संक्षेप करने को कहते हैं। जैसे अण् कहने से अ,इ,उ तीन वर्णों का ग्रहण होता है, अच् कहने से अ से च् तक सब स्वरों का। हल् कहने से सारे व्यञ्जनों का ॥

ऋलृक् ॥२॥

ऋ, लृ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ककारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः अ-इ-उ इत्येतैः। अक्—अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)। इक्=इको गुणवृद्धी (१।१।३)। उक्—उगितश्च (४।१।६) ॥

भाषार्थः—ऋ, लृ इन वर्णों का उपदेश करके, अन्त में ककार इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे ३ प्रत्याहार बनते हैं—अक्, इक्, उक्। कहां-कहां बनते हैं, सो ऊपर संस्कृत में दिखा दिये हैं ॥

एओङ् ॥३॥

ए, ओ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ङकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन एङि पररूपम् (६।१।९१) इत्येकारेण ॥

भाषार्थः—ए, ओ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ङ् इत्संज्ञक रखा है। इससे एक एङ् प्रत्याहार बनता है ॥

ऐऔच् ॥४॥

ऐ, औ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते चकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः अ-इ-ए-ऐ इत्येतैः। अच्—अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)। इच्—इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च (६।३।६६)। एच्—एचोऽयवायावः (६।१।७५)। ऐच्—वृद्धिरादैच् (१।१।१) ॥

भाषार्थः—ऐ, औ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में इत्संज्ञक 'च्' रखा है। इससे ४ प्रत्याहार बनते हैं—अच्, इच्, एच्, ऐच् ॥

हयवरट् ॥५॥

ह, य, व, र इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते टकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन शश्छोऽटि (८।४।६२) इत्यकारेण ॥

भाषार्थः—ह, य, व, र इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में ट् इत्संज्ञक रखा है। इससे एक अट् प्रत्याहार ही बनता है ॥

विदित रहे कि हयवरट् से लेकर हल् सूत्र तक जितने व्यञ्जनों का उपदेश किया है, उन सब में अकार उच्चारणार्थ है। वस्तुतः ये ह्, य् इस प्रकार हैं ॥

लण् ॥६॥

ल इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । अण—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६८) । इण्—इण्कोः (८।३।५७) । यण्—इको यणचि (६।१।७४) ॥

भाषार्थ:—ल इस वर्ण का उपदेश करके अन्त में इत्संज्ञक ण् रखा है प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे तीन प्रत्याहार बनते हैं—अण्, इण्, यण् ॥

ञमङणनम् ॥७॥

ञ, म, ङ, ण, न इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते मकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः अ-य-ङ-ञ इत्येतैः । अम्—पुमः खय्यम्परे (८।३।६) । यम्—हलो यमां यमि लोपः (८।४।६३) । ङम्—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् (८।३।३२) । ञम्—ञमन्ताड्डः (उणा० १।११४) ॥

भाषार्थ:—ञ, म, ङ, ण, न इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में म् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहारसिद्धि के लिये । इससे चार प्रत्याहार बनते हैं—अम्, यम्, ङम्, ञम् ॥

झभञ् ॥८॥

झ, भ इति द्वौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ञकारमितं करोति प्रत्याहारसिद्ध्यर्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) इति यकारेण ॥

भाषार्थ:—झ, भ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ञ् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे एक प्रत्याहार बनता है—यञ् ॥

घढधष् ॥९॥

घ, ढ, ध इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते षकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति द्वाभ्यां झ-भ इत्येताभ्याम् । झष्, भष्—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) ॥

भाषार्थ:—घ, ढ, ध इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में ष् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे दो प्रत्याहार बनते हैं—झष्, भष् ॥

जबगडदश् ॥१०॥

ज, ब, ग, ड, द इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते शकारमितं करोति प्रत्याहारसिद्ध्यर्थम् । तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः अ-ह-व-झ-ज-ब इत्येतैः । अश्—भोभगो-

ऽघो अपूर्वस्य योऽशि (८।३।१७)। हश्—हशि च (६।१।११०)। वश्—नेड् वशि कृति (७।२।८)। झश्, जश्—झलां जश् झशि (८।४।५२)। बश्—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७)॥

भावार्थः—ज, ब, ग, ड, द इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में श् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे ६ प्रत्याहार बनते हैं—अश्, हश्, वश्, झश्, जश्, बश्॥

खफछठथचटतव् ॥११॥

ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते वकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन नश्छव्यप्रशान् (८।३।७) इति छकारेण॥

भावार्थः—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में व् इत्संज्ञक रखा है, एक प्रत्याहार बनाने के लिये—छव्॥

कपय् ॥१२॥

क, प इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते यकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः य, म, झ, ख, च इत्येतैः। यय्—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७)। मय्—मय उञो वो वा (८।३।३३)। झय्—झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६१) खय्—पुमः खय्यम्परे (८।३।६)। चय्—चयो द्वितीयः शरि पौष्करसादेः (वार्तिक ८।४।४७)॥

भावार्थः—क, प इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में य् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे पांच प्रत्याहार बनते हैं—यय्, मय्, झय्, खय्, चय्॥

शषसर् ॥१३॥

श, ष, स इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते रेफमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः य-झ-ख-च-श इत्येतैः। यर्—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४४)। झर्—झरो झरि सवर्णे (८।४।६४)। खर्—खरि च (८।४।५४)। चर्—अभ्यासे चर्च (८।४।५३)। शर्—वा शरि (८।३।३६)॥

भावार्थः—श, ष, स इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में र् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे पांच प्रत्याहार बनते हैं—यर्, झर्, खर्, चर्, शर्॥

हल् ॥१४॥

ह इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते लकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः अ-ह-व-र-झ-श इत्येतैः। अल्—अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।

६४)। हल्—हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७)। वल्—लोपो व्योर्वलि (६।१।६४)। रल्—रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६)। झल्—झलो झलि (८।२।२६)। शल् शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५)॥

भावार्थः—ह इस एक वर्ण का उपदेश करके अन्त में ल् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये। जिससे छः प्रत्याहार बनते हैं—अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्॥

विशेष—इन सूत्रों से प्रत्याहार तो सैंकड़ों बन सकते हैं, पर पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में ४१ प्रत्याहारों का ही व्यवहार किया है। इसके अतिरिक्त एक उणादि-सूत्र में ञमन्ताड्डः (उणा० १।११४) से ञम् प्रत्याहार, तथा एक चय् प्रत्याहार चयो द्वितीयः शरि पौष्करसादेः (वा० ८।४।४७) इस वार्त्तिक से बनेगा। सो इन दो को मिलाकर कुल ४३ प्रत्याहार हुये॥

ये सारे प्रत्याहार अन्तिम अक्षरों के अनुसार दिखाये गये हैं। ये दूसरे प्रकार अर्थात् आदि अक्षरों के अनुसार भी दिखाये जा सकते हैं, जिनको हम यहीं दिखाते हैं, यद्यपि अन्तिम से ही दिखाना अधिक अच्छा है॥

अकार से ८ प्रत्याहार – अण्, अक्, अच्, अट्, अण्, अम्, अश्, अल्।

इकार से तीन प्रत्याहार– इक्, इच्, इण्।

उकार ,, एक ,, —उक्।

एकार ,, दो ,, —एङ्, एच्।

ऐकार ,, एक ,, —ऐच्।

हकार ,, दो ,, —हश्, हल्।

यकार ,, पांच ,, —यण्, यम्, यञ्, यय्, यर्।

वकार ,, दो ,, —वश्, वल्।

रेफ ,, एक ,, —रल्।

मकार ,, ,, ,, —मय्।

ङकार ,, ,, ,, —ङम्।

झकार ,, पांच ,, —झष्, झश्, झय्, झर्, झल्।

भकार ,, एक ,, —भष्।

जकार ,, ,, ,, —जश्।

वकार से एक प्रत्याहार —वश् ।

छकार ,, ,, ,, —छव् ।

खकार ,, दो ,, —खय्, खर् ।

चकार ,, एक ,, —चर् ।

शकार ,, दो ,, —शर्, शल् ।

ये प्रत्याहार अष्टाध्यायी में कुल ४१ हुये, तथा ऊपर के दो उणादिसूत्र और वार्त्तिक को मिलाकर ४३ हुये ॥

॥इति प्रत्याहारसूत्राणि॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

वृद्धिः आत् ऐच्

संज्ञा सूत्र

वृद्धिरादैच् ॥१।१।१॥

पदच्छेदः, विभक्तिः—वृद्धिः १।१॥ आदैच् १।१॥ समासः—आत् च=आच्च, ऐत् च=ऐच्च आदैच्, समाहारद्वन्द्वसमासः ॥ संज्ञासूत्रमिदम् ॥

अर्थः—आ ऐ औ इत्येतेषां वर्णाणां वृद्धिसंज्ञा भवति ॥

उदाहरणानि—भागः, त्यागः, यागः ॥ नायकः, चायकः, पावकः, स्तावकः, कारकः, हारकः, पाठकः, पाचकः ॥ शालायां भवः=शालीयः मालीयः ॥ उपगोरपत्यम्=औपगवः, औपमन्यवः । ऐतिकायनः, आश्वलायनः, आरण्यः ॥ अचैषीत् अनैषीत्, अलावीत् अपावीत्, अकार्षीत् अहार्षीत्, अपाठीत्[1] ॥

भाषार्थः—[आदैच्] आत्=आ, ऐच्=ऐ, औ की [वृद्धिः] वृद्धि संज्ञा होती है ॥ यह संज्ञासूत्र है ॥ यहां से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति १।१।३ में जाती है, १।१।२ में अनावश्यक होने से इसका संबन्ध नहीं बैठता है ॥

अत् एङ् गुणः

अदेङ् गुणः ॥१।१।२॥

पद०, वि०—अदेङ् १।१॥ गुणः १।१॥ स०—अत् च=अच्च एङ् च=अदेङ्, समाहारद्वन्द्वसमासः ॥

अर्थः—अ ए ओ इत्येषां वर्णानां गुणसंज्ञा भवति ॥

उदा०—चेता, नेता, स्तोता, कर्ता, हर्ता, तरिता, भविता । जयति, नयति । पचन्ति, पठन्ति । पचे, यजे, देवेन्द्रः, सूर्योदयः, महर्षिः ॥

भाषार्थः—[अदेङ्] अत्=अ, एङ्=ए, ओ की [गुणः] गुण संज्ञा होती है ॥

यहां से 'गुणः' की अनुवृत्ति १।१।३ तक जाती है ॥

---

१. उदाहरणों की सिद्धि, तथा इनके अर्थ परिशिष्ट में देखें । जिनका परिशिष्ट न हो, उनका अर्थ वा सिद्धि भाषार्थ में देखें । जिनके अर्थ विग्रह में ही स्पष्ट हैं, उनका अर्थ प्रायः छोड़ दिया गया है ॥

इको गुणवृद्धी ॥१।१।३॥

पद० वि०—इकः ६।१॥ गुणवृद्धी १।२॥ **स०**—गुणश्च वृद्धिश्च=गुणवृद्धी, इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासः॥ **अनुवृत्तिः**—वृद्धिः, गुणः॥ **अर्थः**—वृद्धिः स्यात्, गुणः स्यात् इति गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते, तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपस्थितं द्रष्टव्यम्=तत्रेकः स्थाने भवत इत्यर्थः॥

उदा०—मेद्यति, चेता कर्ता, जयति। मार्ष्टि। अलावीत्॥

भाषार्थः—यह परिभाषासूत्र है॥ गुण हो जाये, वृद्धि हो जाये, ऐसा नाम लेकर जहां [गुणवृद्धी] गुण वृद्धि का विधान किया जाये, वहां वे [इकः] इक् (=इ उ ऋ ऌ) के स्थान में ही हों। यहां 'इकः' में स्थान-षष्ठी है, अर्थात् इक् के स्थान में गुण वृद्धि हो। इस सूत्र में 'इति' पद का अध्याहार किया गया है॥

इस सारे सूत्र की अनुवृत्ति १।१।६तक जाती है॥

न धातुलोप आर्द्धधातुके ॥१।१।४॥

पद० वि०—न अव्ययपदम्॥ धातुलोपे ७। ॥ आर्द्धधातुके ७।१॥ **स०**—धात्ववयवो धातुः, धातोर्लोपो यस्मिन् तदिदं धातुलोपम्, तस्मिन् धातुलोपे, बहुव्रीहिसमासः॥ **अनु०**—इको गुणवृद्धी॥ **अर्थः**—यस्मिन्नार्द्धधातुके धातोरवयवस्य लोपो भवति, तस्मिन्नेवार्द्धधातुके इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः॥ **उदा०**—लोलुवः पोपुवः। मरीमृजः सरीसृपः॥

भाषार्थः—यह निषेधसूत्र है॥ [आर्द्धधातुके] जिस आर्धधातुक को निमित्त मानकर [धातुलोपे] धातु के अवयव का लोप हुआ हो, उसी आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर इक् के स्थान में जो गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे [न] नहीं होते॥

यहां से 'न' इस पद की अनुवृत्ति १।१।६ तक जाती है॥

क्क्ङिति च ॥१।१।५॥

पद० वि०—क्क्ङिति ७।१॥ च अ०॥ **स०**—गश्च कश्च ङश्च=क्क्ङः, क्क्ङ इतो यस्य स क्क्ङित्, तस्मिन् क्क्ङिति, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः॥ **अनु०**—इको गुणवृद्धी, न॥ **अर्थः**—गित्-कित्-ङित्-निमित्तके इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः। **उदा०**—**गित्**—जिष्णुः भूष्णुः। **कित्**—चितः चितवान्, स्तुतः स्तुतवान् कृतः कृतवान्। मृष्टः मृष्टवान्। **ङित्**—चिनुतः सुनुतः, चिन्वन्ति सुन्वन्ति, मृजन्ति॥

भाषार्थः—यहां क्क्ङिति में निमित्त-सप्तमी है[1]॥ [क्क्ङिति] कित् गित् ङित्

---

१. सप्तमी तीन प्रकार की होती है (i) पर सप्तमी—परे होने पर (ii) विषय सप्तमी—विषय में (iii) निमित्त सप्तमी—निमित्त मानकर। सो यहां

को निमित्त मानकर [च] भी इक् के स्थान में जो गुण और वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे न हों ॥

दीधीवेवीटाम् ॥१।१।६॥

दीधीवेवीटाम् ६।३॥ स०—दीधी च वेवी च इट् च=दीधीवेवीटः, तेषां दीधीवेवीटाम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासः ॥ अनु०—इको गुणवृद्धी, न ॥

अर्थः—दीधीङ् (दीप्तिदेवनयोः), वेवीङ् (वेतिना तुल्ये) छान्दसौ धातू अदादिगणे पठितौ स्तः । दीधीवेव्योः इटश्च इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः ॥ उदा०—आदीध्यनम् आदीध्यकः, आवेव्यनम् आवेव्यकः । पठिता कणिता ॥

भाषार्थः—[दीधीवेवीटाम्] दीधी वेवी धातुओं, तथा इट् के इक् के स्थान में जो गुण वृद्धि प्राप्त हों, वे नहीं होते ॥ इट् की वृद्धि का उदाहरण नहीं हो सकता, अतः नहीं दिखाया है ॥

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥१।१।७॥

हलः १।३॥ अनन्तराः १।३॥ संयोगः १।१॥ स०—न विद्यतेऽन्तरं येषाम्=ते अनन्तराः, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अनन्तराः=व्यवधानरहिता हलः संयोगसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—अग्निः, अत्र ग् न् । अश्वः=श् व् । इन्द्रः=न् द् र् । गोमान्, यवमान्, चितवान्¹ ॥

भाषार्थः—[अनन्तराः] व्यवधानरहित (जिन के बीच में अच् न हों ऐसे) [हलः] हलों (दो या दो से अधिक) की [संयोगः] संयोग संज्ञा होती है ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१।१।८॥

मुखनासिकावचनः १।१॥ अनुनासिकः १।१॥ स०—मुखञ्च नासिका च=मुखनासिकम्, ईषद्वचनम् आवचनम्, मुखनासिकम् आवचनं यस्य स मुखनासिकावचनः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—मुखनासिकमावचनं यस्य वर्णस्य, सोऽनुनासिकसंज्ञको भवति ॥ उदा०—अभ्र आँ अपः (ऋ० ५।४८।१॥ निरु० ५।५), गभन आँ इन्द्रः । सुँ, पठँ, एधँ, गाधृँ, लिमिदाँ ॥

भाषार्थः—यह संज्ञासूत्र है ॥ [मुखनासिकावचनः] कुछ मुख से कुछ नासिका

निमित्त सप्तमी है । अर्थात् गित् कित् ङित् को निमित्त मानकर, ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥

से (अर्थात् दोनों की सहायता से) बोले जानेवाले वर्ण की [अनुनासिकः] अनुनासिक संज्ञा होती है ॥ अभ्र आँ अपः, गम आँ इन्द्रः इन उदाहरणों में 'आङ्' के आ का आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (६।१।१२२) से अनुनासिक विधान होने पर, प्रकृत सूत्र ने बताया कि अनुनासिक किसे कहते हैं ॥ सँु के अनुनासिक अच् का उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से इत् संज्ञा होकर लोप होता है ॥ उपदेश क्या है, या अनुनासिक चिह्न कहाँ या कब थे, यह हमने परिशिष्ट १।१।१ में लिखा है, और १।३।२ सूत्र पर भी लिखा है, पाठक वहीं देखें ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१।१।९॥

तुल्यास्यप्रयत्नम् १।१॥ सवर्णम् १।१॥ स०—आस्ये प्रयत्नः आस्यप्रयत्नः, सप्तमीतत्पुरुषः । तुल्य आस्यप्रयत्नो यस्य (येन सह),तत् तुल्यास्यप्रयत्नं, बहुव्रीहिः । आस्ये भवं आस्यम् ॥ अर्थः—तुल्य आस्ये प्रयत्नो येषां, ते वर्णाः परस्परं सवर्णसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—दण्डाग्रम् खट्वाग्रम् । यदीदम् कुमारीशः । भानूदयः मधूदकम्, कर्तॄकारः ॥

भाषार्थः—यह संज्ञासूत्र है ॥ [तुल्यास्यप्रयत्नम्] आस्य अर्थात् मुख में होनेवाला स्थान और प्रयत्न तुल्य हों जिनके, ऐसे वर्णों की परस्पर [सवर्णम्] सवर्ण संज्ञा होती है ॥

उदा०—दण्डस्य+अग्रम्=दण्डाग्रम् (दण्ड का अगला भाग), खट्वा+अग्रम् =खट्वाग्रम् (खाट का अगला भाग), यदि+इदम्=यदीदम् (यदि यह), कुमारी +ईशः=कुमारीशः (कुमारी का स्वामी), भानु+उदयः=भानूदयः (सूर्य का उदय), मधु+उदकम्=मधूदकम् (मीठा जल), कर्तृ+ऋकारः=कर्तॄकारः (कर्तृ शब्द का ऋकार) ॥

इन सब उदाहरणों में सवर्ण संज्ञा होने से, सवर्ण अच् परे रहते अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ हो जायेगा, यही प्रयोजन है ॥

इस सारे सूत्र की अनुवृत्ति १।१।१० तक जाती है ॥

न अच्_हलौ　स्वर+व्यञ्जन ≠ सवर्ण

नाज्झलौ ॥१।१।१०॥

न अ० ॥ अज्झलौ १।२॥ स०—अच् च हल् च=अज्झलौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ अर्थः—तुल्यास्यप्रयत्नावपि अच्-हलौ परस्परं सवर्णसंज्ञकौ न भवतः ॥ उदा०—दण्ड हस्तः, दधि शीतम् । वैपाशो मत्स्यः, आनडुहं चर्म ॥

भाषार्थः—स्थान और प्रयत्न तुल्य होने पर भी [अज्झलौ] अच् और हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा [न] नहीं होती है ॥

[अथ प्रगृह्यसंज्ञा-प्रकरणम्]

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१।१।११॥

ईदूदेद् १।१॥ द्विवचनम् १।१॥ प्रगृह्यम् १।१॥ स०—ईच्च ऊच्च एच्च=ईदूदेद्, समाहारद्वन्द्वः ॥

अर्थः—ईदाद्यन्तं द्विवचनं शब्दरूपं प्रगृह्यसंज्ञं भवति ॥ उदा०—अग्नी इति, वायू इति, माले इति । पचेते इति, पचेथे इति । इन्द्राग्नी इमौ, इन्द्रवायू इमे सुताः (ऋ० १।२।४) ॥

भाषार्थः—[ईदूदेद्द्विवचनम्] ईत्=ई, ऊत्=ऊ, एत्=ए जिनके अन्त में हों, ऐसे जो द्विवचन शब्द हैं, उनकी [प्रगृह्यम्] प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥ यहां येन विधि० (१।१।७१) से तदन्तविधि होती है ॥

यहां से 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति १।१।१८ तक, तथा ईदूदेत् की १।१।१२ तक जाती है ॥

अदसो मात् ॥१।१।१२॥

अदसः ६।१॥ मात् ५।१॥ अनु०—ईदूदेत्, प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—अदसः सम्बन्धी यो मकारः, तस्मात् परे य ईदूदेतः तेषां प्रगृह्यसंज्ञा भवति ॥ उदा०—अमी अत्र, अमी आसते । अमू अत्र, अमू आसाते ॥ एकारस्योदाहरणं नास्ति ॥

भाषार्थः—[अदसः] अदस् शब्द के [मात्] मकार से परे ई, ऊ, ए की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

शे ॥ १।१।१३॥

'शे' इति लुप्तप्रथमान्तो निर्देशः । सुपां सुलुक्० (७।१।३९) इत्यनेन छान्दस आदेशो गृह्यते ॥ अनु०—प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—शे इत्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति ॥ उदा०—अस्मे इन्द्राबृहस्पती (ऋ० ४।४९।४), युष्मे इति, अस्मे इति । त्वे इति, मे इति ॥

भाषार्थः—सुपों के स्थान में जो [शे] शे आदेश (७।१।३९ से) होता है, उस की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

निपात एकाजनाङ् ॥१।१।१४॥

निपातः १।१॥ एकाच् १।१॥ अनाङ् १।१॥ स०—एकश्च असौ अच्च=एकाच्,

कर्मधारयसमासः । न आङ्=अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—प्रगृह्यम् ।। अर्थः—एकाच् यो निपातः तस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति, आङं वर्जयित्वा ।। उदा०—अ अपेहि, अ अपक्राम। इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ ।।

भाषार्थः—[एकाच्] केवल जो एक ही अच् [निपातः] निपात है, उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है, [अनाङ्] आङ् को छोड़कर ।।

उदा०—अ अपेहि (अरे हट)। 'अ' निपात निषेध तथा तिरस्कार अर्थ में होता है । इ इन्द्रं पश्य (ओहो ! इन्द्र को देखो) । यहां 'इ' विस्मयार्थक निपात है । उ उत्तिष्ठ (अरे ! उठ जा) । 'उ' निपात निन्दा संताप तथा वितर्क अर्थ में होता है ।।

यहां सर्वत्र अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ की प्राप्ति है, पर अ, इ, उ इन तीनों का चादिगण में पाठ होने से चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से निपात संज्ञा होकर निपात एकाजनाङ् इस प्रकृत सूत्र से एक अच् रूप निपात होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का ६।१।१२१ से निषेध हो जाता है ।।

यहां से 'निपातः' की अनुवृत्ति १।१।१५ तक जाती है ।।

ओत् ।।१।१।१५।।

ओत् १।१।। अनु०—निपातः, प्रगृह्यम् ।। अर्थः—ओदन्तो निपातः प्रगृह्यसंज्ञको भवति ।। उदा०—आहो इति, उताहो इति । नो इदानीम् । अथो इति । अहो अधुना ।।

भाषार्थः—[ओत्] ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है ।। यहां येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७१) से तदन्त का ग्रहण होता है ।।

उदा०—आहो+इति, उताहो+इति, (अथवा ऐसा)। नो+इदानीम् (इस समय नहीं) । अथो+इति (अनन्तर) । अहो+अधुना (ओहो अब) ।।

इन उदाहरणों में सर्वत्र एचोऽयवायावः (६।१।७५ की प्राप्ति थी, पर ओदन्त निपात होने से प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का निषेध ६।१।१२१ से हो गया है ।।

यहां से 'ओत्' की अनुवृत्ति १।१।१६ तक जाती है ।।

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ।।१।१।१६।।

सम्बुद्धौ ७।१।। शाकल्यस्य ६।१।। इतौ ७।१।। अनार्षे ७।१।। स०—न आर्षः अनार्षः, तस्मिन् अनार्षे, नञ्तत्पुरुषसमासः ।। अनु०—ओत्, प्रगृह्यम् ।। अर्थः—सम्बुद्धिनिमित्तको य ओकारः, तस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, अनार्षे (अवैदिके) इतौ परतः ।।

संबोधन वाला ओकारान्त शब्द भी प्रगृह्य होता है यदि इति परे हो तो

शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति, अन्येषामाचार्याणां मतेन न भविष्यति। तेन शाकल्यग्रहणेन विकल्पोऽपि सिध्यति ॥ उदा०—(शाकल्यमते)वायो इति, (अन्येषां मते) वायविति। भानो इति, भानविति। अध्वर्यो इति, अध्वर्यविति॥

भाषार्थः—[सम्बुद्धौ] सम्बुद्धिनिमित्तक जो ओकारान्त शब्द उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है, [शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में, [अनार्षे] अनार्ष = अवैदिक (मन्त्र से अन्यत्र, पदपाठ में जो इतिकरण है वह अनार्ष पद से यहां विवक्षित है) [इतौ] इति परे रहते ॥

यहां पाणिनि मुनि ने शाकल्य का मत प्रगृह्य संज्ञा का दिखाया है। सो अन्यों के मत में तो प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी, अतः विकल्प से दो उदाहरण बनेंगे ॥

यहां से 'शाकल्यस्य' 'इतौ' 'अनार्षे' की अनुवृत्ति १।१।१७ तक जायेगी ॥

उञः ऊँ ॥१।१।१७॥

उञः ६।१॥ ऊँ लुप्तविभक्तिकम् ॥ अनु०—शाकल्यस्य, इतौ, अनार्षे, प्रगृह्यम्॥ अर्थः—उञः प्रगृह्यसंज्ञा भवति, तस्य स्थाने 'ऊँ' आदेशश्च प्रगृह्यसंज्ञको भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, अनार्षे इतौ परतः ॥ उदा० — उ इति। विति। ऊँ इति ॥

भाषार्थः—[उञः]उञ् की प्रगृह्य संज्ञा होती है शाकल्य आचार्य के मत में, तथा उस के स्थान में प्रगृह्यसंज्ञक [ऊँ] ऊं आदेश शाकल्य आचार्य के मत मे होता है, अनार्ष 'इति' परे रहते पर ॥

यहां शाकल्य आचार्य के मत में 'उ इति' में उको यणचि (६।१।७४) से प्राप्त सन्धि का निषेध प्रगृह्य संज्ञा होने से पूर्ववत् हो गया। अन्यों के मत में सन्धि होकर 'विति' बना। अब 'उ' के स्थान में ऊँ आदेश शाकल्याचार्य के मत में होकर 'ऊँ इति' तथा दूसरों के मत में 'विति' भी बना। इस प्रकार कुल तीन रूप बनते हैं। शाकल्य आचार्य के मत में 'ऊँ' आदेश बिना किये 'उ इति', एवं आदेश करके 'ऊँ इति'। ये दो रूप महाभाष्यकार के योगविभाग करने से सुस्पष्ट सिद्ध होते हैं, जो कि शङ्कासमाधान का विषय होने से यहां नहीं बताया जा सकता ॥ उञ् में ञकार अनुबन्ध है, सो उसका हलन्त्यम् (१।३।३) से इत् संज्ञा एवं लोप हो जायेगा ॥

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १।१।१८॥

ईदूतौ १।२॥ च अ० ॥ सप्तम्यर्थे ७।१॥ स०—ईच्च ऊच्च = ईदूतौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। सप्तम्या अर्थः=सप्तम्यर्थः, तस्मिन् सप्तम्यर्थे, षष्ठीतत्पुरुषः। अनु० —प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—सप्तम्यर्थे वर्त्तमानौ ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ प्रगृह्यसंज्ञकौ

भवतः ॥ उदा०—सोमो गौरी अधिश्रितः । अध्यस्यां मामकी तनू—मामकी इति, तनू इति ॥

भावार्थः—[सप्तम्यर्थे] सप्तमी के अर्थ में वर्तमान [ईदूतौ] ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

दाधा घ्वदाप् ॥१।१।१९॥

दाधाः १।३॥ घु १।१ ॥ अदाप् १।१॥ स०—दाश्च धौ चेति दाधाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । दाप् च दैप् च=दाप्, न दाप् अदाप्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—दारूपाः धारूपौ च धातवो घुसंज्ञका भवन्ति, दाप्दैपौ वर्जयित्वा ॥ दारूपाश्चत्वारो धातवः—डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दोऽवखण्डने, देङ् रक्षणे इति । धारूपावपि द्वौ धातू—डुधाञ् धारणपोषणयोः, धेट् पाने इति ॥ उदा०—प्रणिददाति, प्रणिदीयते, प्रणिदाता । प्रणियच्छति । प्रणिद्यति । प्रणिदयते । प्रणिदधाति, प्रणिधीयते, प्रणिधाता । प्रणिधयति । देहि । धेहि ॥

भावार्थः—[दाधाः] दा रूपवाले=जिनका 'दा' रूप बन जाता है (अनुबन्धादि लोप होकर), तथा 'धा' रूपवाले=जिनका 'धा' रूप बन जाता है, धातुओं की [घु] घु संज्ञा हो जाती है, [अदाप्] दाप् (लवने) और दैप् (शोधने) इन दो धातुओं को छोड़ कर ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १।१।२०॥

आद्यन्तवत् अ० ॥ एकस्मिन् ७।१॥ स०—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । आद्यन्तयोरिव आद्यन्तवत्, सप्तम्यर्थे वतिप्रत्ययः (५।१।११५)॥ अतिदेशसूत्रमिदम् ॥ अर्थः—एकस्मिन्नपि आदाविव अन्त इव च कार्यं भवति ॥ उदा०—औपगवः, आभ्याम् ॥

भावार्थः—यह अतिदेश सूत्र है ॥ [एकस्मिन्] एक में भी [आद्यन्तवत्] आदि और अन्त के समान कार्य हो जाते हैं ॥

जिससे पहिले कोई वर्ण न हो, वह 'आदि' कहलाता है । जिसके पीछे कोई वर्ण न हो वह 'अन्त' कहलाता है । इस प्रकार आदि और अन्त का व्यवहार दो या दो से अधिक वर्णों के होने पर ही सम्भव है । पर यदि कोई वर्ण एक ही हो, वहां पर यदि कोई कार्य आदि को कहें या अन्त को कहें, तो वह कैसे हो क्योंकि वह अकेला है, न आदि का है, न अन्त का । सो अकेले में भी आदि और अन्त का व्यवहार मान कर कार्य हो जावे, इसलिये यह सूत्र बनाया है । लोक में भी यदि किसी का एक ही

पुत्र, हो तो वही उसका छोटा एवं वही उसका बड़ा मान लिया जाता है। इसी प्रकार शास्त्र में भी एक में ही आदि और अन्त का अतिदेश कर दिया ॥

तरप्तमपौ घः ॥१।१।२१॥

तरप्तमपौ १।२॥ घः १।१॥ स०—तरप् च तमप् च=तरप्तमपौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अर्थः—तरप्तमपौ घसंज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—कुमारितरा, कुमारितमा । ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा ॥

भाषार्थः—[तरप्तमपौ] तरप् और तमप् प्रत्ययों की [घः] घ संज्ञा होती है॥

बहुगणवतुडति संख्या ॥१।१।२२॥

बहुगणवतुडति १।१॥ संख्या १।१॥ स०—बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च=बहुगणवतुडति, समाहारद्वन्द्वः ॥ अर्थः—बहुगणशब्दौ, वतुडतिप्रत्ययान्तौ च शब्दौ संख्यासंज्ञका भवन्ति॥ उदा०—बहुकृत्वः, बहुधा, बहुकः, बहुशः। गणकृत्वः, गणधा, गणकः, गणशः। तावत्कृत्वः, तावद्धा, तावत्कः, तावच्छः। कतिकृत्वः, कतिधा, कतिकः, कतिशः ॥

भाषार्थः—[बहुगणवतुडति] बहु गण शब्दों की, तथा वतुप् और डति प्रत्ययान्त शब्दों की [संख्या] संख्या संज्ञा होती है ॥

यहां से 'संख्या' की अनुवृत्ति २।२।२४ तक जाती है ॥

ष्णान्ता षट् ॥१।१।२३॥

ष्णान्ता १।१॥ षट् १।१॥ स०—षश्च नश्च=ष्णौ, ष्णौ अन्ते यस्याः सा ष्णान्ता, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संख्या ॥ अर्थः—षकारान्ता नकारान्ता च या संख्या सा षट्संज्ञिका भवति ॥ उदा०—षकारान्ता—षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य । नकारान्ता—पञ्च सप्त नव दश ॥

भाषार्थः—[ष्णान्ता] षकारान्त तथा नकारान्त जो संख्यावाची शब्द हैं,उनकी [षट्] षट् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'षट्' की अनुवृत्ति १।१।२४ तक जाती है ॥

डति च ॥१।१।२४॥

डति १।१॥ च अ० ॥ अनु०—षट्, संख्या ॥ अर्थः—डतिप्रत्ययान्ता संख्या षट्संज्ञिका भवति ॥ उदा०—कति तिष्ठन्ति, कति पश्य ॥

भाषार्थः—[डति] डतिप्रत्ययान्त संख्यावाची शब्द की [च] भी षट् संज्ञा होती है ॥ कति की सिद्धि परि० १।१।२२॥ में देखें । यहां कति के आगे पूर्ववत् जस् या शस् आया, तो प्रकृत सूत्र से षट्संज्ञा होने से षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से लुक् हो गया, यही षट् संज्ञा का प्रयोजन है ॥

क्तक्तवतू निष्ठा ॥१।१।२५॥

क्तक्तवतू १।२॥ निष्ठा १।१॥ स०—क्तश्च क्तवतुश्च=क्तक्तवतू इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अर्थः**—क्तक्तवतू प्रत्ययौ निष्ठासंज्ञकौ भवतः ॥ **उदा०**—पठितः, पठितवान् । चितः चितवान् । स्तुतः स्तुतवान् । भिन्नः भिन्नवान् । पक्वः पक्ववान् ॥

भाषार्थः—[क्तक्तवतू] **क्त और क्तवतु प्रत्ययों की** [निष्ठा] **निष्ठा संज्ञा होती है ॥**

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१।१।२६॥

सर्वादीनि १।३॥ सर्वनामानि १।३॥ स०—सर्व आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि, बहुव्रीहिसमासः ॥ **अर्थः**—सर्वादिशब्दानां सर्वनामसंज्ञा भवति ॥ **उदा०**—सर्वे, सर्वस्मै, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, सर्वेषाम्, सर्वकः । विश्वे, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वस्मिन्, विश्वेषाम्, विश्वकः ॥

भाषार्थः—[सर्वादीनि] **सर्वादिगण[1] में पढ़े शब्दों की** [सर्वनामानि] **सर्वनाम-संज्ञा होती है ॥**

यहां से 'सर्वनामानि' की अनुवृत्ति १।१।३५ तक जाती है, तथा 'सर्वादीनि' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जाती है ॥

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥१।१।२७॥

विभाषा १।१॥ दिक्समासे ७।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ स०—दिशां समासः दिक्समासः, तस्मिन् दिक्समासे, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अनु०**—सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ **अर्थः**—दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि विभाषा भवन्ति ॥ **उदा०**—उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै । दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्याः, उत्तरपूर्वायाः । दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वायाः ॥

भाषार्थः—[दिक्समासे] **दिशावाची** [बहुव्रीहौ] **बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा** [विभाषा] **विकल्प से होती है ॥**

आगे न बहुव्रीहौ (१।१।२८) से बहुव्रीहि समास में सर्वनाम संज्ञा का नित्य प्रतिषेध करेंगे, पर यहां दिगुपदिष्ट (२।२।२६) बहुव्रीहि समास में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हो, इसके लिये यह सूत्र है ॥

न बहुव्रीहौ ॥१।१।२८॥

न अ० ॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ अनु०—सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ **अर्थः**—बहुव्रीहौ

---

१. सब गणशब्द गणपाठ में देखें, जो काशिका में भी तत्तत् सूत्र में दिखायें हैं ॥

समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—प्रियविश्वाय, प्रियोभयाय । द्व्यन्याय, त्र्यन्याय ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा [न] नहीं होती ॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जाती है ॥

तृतीयासमासे ॥ १।१।२९॥

तृतीयासमासे ७।१॥ स०—तृतीयायाः समासः=तृतीयासमासः, तस्मिन् तृतीयासमासे, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—मासपूर्वाय, संवत्सरपूर्वाय । द्व्यहपूर्वाय, त्र्यहपूर्वाय ॥

भाषार्थः—[तृतीयासमासे] तृतीया तत्पुरुष समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ॥

द्वन्द्वे च ॥१।१।३०॥

द्वन्द्वे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—द्वन्द्वे समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—पूर्वापराणाम् । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । कतरकतमानाम् ॥

भाषार्थः—[द्वन्द्वे] द्वन्द्व समास में [च] भी सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ॥

यहां से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जायगी ॥

विभाषा जसि ॥१।१।३१॥

विभाषा १।१॥ जसि ७।१॥ अनु०—द्वन्द्वे, न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—द्वन्द्वे समासे जसि सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि विभाषा न भवन्ति ॥ उदा०—कतरकतमे कतरकतमाः । दक्षिणपूर्वे दक्षिणपूर्वाः ॥

भाषार्थः—द्वन्द्व समास में सर्वादियों की सर्वनामसंज्ञा [जसि] जस् सम्बन्धी कार्य में [विभाषा] विकल्प से नहीं होती ॥

यहां से 'विभाषा जसि' की अनुवृत्ति १।१।३५ तक जाती है ॥

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ॥१।१।३२॥

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः १।३ ॥ च अ० ॥ स०—प्रथमश्च चरमश्च

तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च=प्रथम···नेमाः,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०–विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय, नेम इत्येते शब्दा जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—प्रथमे प्रथमाः । चरमे चरमाः । द्वितये द्वितयाः । अल्पे अल्पाः । अर्धे अर्धाः । कतिपये कतिपयाः । नेमे नेमाः ॥

भाषार्थः—[प्रथम···नेमाश्च] प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त शब्द, अल्प, अर्ध, कतिपय तथा नेम इन शब्दों की जस्-सम्बन्धी कार्य में विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा होती है ॥

उदा०—प्रथमे प्रथमाः (पहिले) । चरमे चरमाः (अन्तिम) । द्वितये द्वितयाः (दो अवयववाले) । अल्पे अल्पाः (न्यून) । अर्धे अर्धाः (आधे) । कतिपये कतिपयाः (कई एक) । नेमे नेमाः (आधे) । यहां सर्वनामसंज्ञा पक्ष में सर्वत्र पूर्ववत् जसः शी (७।१।१७) से 'शी' होकर 'प्रथमे' आदि बनता है । तथा दूसरे पक्ष में जब सर्वनाम संज्ञा न हुई, तो 'प्रथमाः' आदि बना । परिशिष्ट १।१।३१ के समान ही सिद्धियां जानें ॥ 'द्वितये' इस उदाहरण में संख्याया अवयवे तयप् (५।२।४२) से तयप् हो जाता है ॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥१।१।३३॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि १ । ३ ॥ व्यवस्थायाम् ७ । १ ॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ स०—पूर्वं च परं च अवरं च दक्षिणं च उत्तरं च अपरं च अधरञ्च= पूर्वपरावर······धराणि, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम् असंज्ञायाम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इत्येतानि जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति संज्ञाभिन्नव्यवस्थायाम् ॥ उदा०—पूर्वे पूर्वाः, परे पराः, अवरे अवराः, दक्षिणे दक्षिणाः, उत्तरे उत्तराः, अपरे अपराः । अधरे अधराः ॥

भाषार्थः—[पूर्व······धराणि] पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इन शब्दों की जस्-सम्बन्धी कार्य में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, [व्यवस्थायामसंज्ञायाम्] संज्ञा से भिन्न व्यवस्था हो तो ॥

उदा०—पूर्वे पूर्वाः (पूर्व वाले) । परे पराः (बादवाले) । अवरे अवराः (पहिले वाले) । दक्षिणे दक्षिणाः (दक्षिण वाले) । उत्तरे उत्तराः (उत्तरवाले) । अपरे अपराः (दूसरे) । अधरे अधराः (नीचे वाले) । सिद्धियां सब पूर्ववत् जानें । सर्वनाम संज्ञा पक्ष में जसःशी (७।१।१७) से जस् को शी हो जाता है ॥

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥१।१।३४॥

स्वम् १।१॥ अज्ञातिधनाख्यायाम् ७।१॥ स०—ज्ञातिश्च धनं च ज्ञातिधने, ज्ञातिधनयोः आख्या ज्ञातिधनाख्या, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। न ज्ञातिधनाख्या अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् अज्ञातिधनाख्यायाम्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि॥ अर्थः—अनेकार्थोऽयं 'स्व'शब्दः, ज्ञाति-धन-आत्मीयवाची। ज्ञातिधनाभिधानभिन्नस्य स्वशब्दस्य जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञा भवति॥ उदा०—स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः। स्वे गावः, स्वा गावः। आत्मीया इत्यर्थः॥

भाषार्थः—[स्वम्] स्व शब्द की जस् सम्बन्धी कार्य में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, [अज्ञातिधनाख्यायाम्] ज्ञाति तथा धन की आख्या को छोड़कर॥ 'स्व' शब्द के अनेकार्थवाची होने से सब अर्थों में सर्वनाम संज्ञा ही प्राप्त थी। अतः ज्ञाति और धन को छोड़कर कहा। अर्थात् ज्ञाति और धन को कहने में सर्वनाम संज्ञा न हो, अन्य अर्थों में हो॥

उदा०—स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः (अपने पुत्र)। स्वे गावः, स्वाः गावः (अपनी गायें)। सिद्धि पूर्ववत् ही जानें॥

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥१।१।३५॥

अन्तरम् १।१॥ बहिर्योगोपसंव्यानयोः ७।२॥ बहिरित्यनेन योगः=बहिर्योगः, उपसंवीयत इत्युपसंव्यानम्॥ स०—बहिर्योगश्च उपसंव्यानं च=बहिर्योगोपसंव्याने तयोः बहिर्योगोपसंव्यानयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि॥ अर्थः—बहिर्योगे उपसंव्याने च गम्यमानेऽन्तरशब्दस्य जसि विभाषा सर्वनाम-संज्ञा भवति॥ उदा०—बहिर्योगे—अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः। उपसंव्याने—अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः॥

भाषार्थः—[बहिर्योगोपसंव्यानयोः] बहिर्योग तथा उपसंव्यान गम्यमान होने पर [अन्तरम्] अन्तर शब्द की जस् सम्बन्धी कार्य में विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा होती है॥

उदा०—अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः (नगर या ग्राम के बाहर चाण्डालादिकों के गृह)। अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः (परिधानीय=अन्दर पहिनने का वस्त्र, इसमें चादर नहीं ली जायेगी)। सिद्धि पूर्ववत् ही जानें॥

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥१।१।३६॥

स्वरादिनिपातम् १।१॥ अव्ययम् १।१॥ स०—स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः,

६ निपात, ६ स्वर... 3 3 = अव्यय

स्वरादयश्च निपाताश्च स्वरादिनिपातम्, बहुव्रीहिगर्भः समाहारद्वन्द्वसमासः ॥ अर्थः—स्वरादिशब्दरूपाणि निपाताश्चाव्ययसंज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—स्वरादिः—स्वर् प्रातर् । निपाताः—च, वा, ह ॥ प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६) इत्यतः अधिरीश्वरे (१।४।९६) इति यावत् निपातसंज्ञा वक्ष्यति । तेषां निपातानामत्राव्ययसंज्ञा वेदितव्या ॥

भाषार्थः—[स्वरादिनिपातम्] स्वरादिगणपठित शब्दों की, तथा निपातों की [अव्ययम्] अव्यय संज्ञा होती है ॥ प्राग्रीश्वरान्निपाताः से लेकर अधिरीश्वरे तक निपात संज्ञा कही है । उन निपातों की यहां अव्यय संज्ञा भी कहते हैं ॥

उदा०—स्वर् (सुख) । प्रातर् (प्रातः) । च (और) । वा (अथवा) । ह (निश्चय से) ॥ यहां सर्वत्र अव्यय संज्ञा होने से स्वादि विभक्तियों का अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् (= अदर्शन) हो जाता है । यही अव्यय संज्ञा का प्रयोजन है ॥

यहां से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति १।१।४० तक जाती है ॥

अल्प-विभक्ति तद्धित = अव्यय

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥१।१।३७॥

तद्धितः १।१॥ च अ० ॥ असर्वविभक्तिः १।१॥ स०—नोत्पद्यते सर्वा विभक्तिर्यस्मात् सोऽसर्वविभक्तिस्तद्धितः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—असर्वविभक्तिस्तद्धितप्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसंज्ञको भवति ॥ उदा०—ततः । यतः । तत्र । यत्र । तदा । यदा । सर्वदा । सदा । विना । नाना ॥

भाषार्थः—[असर्वविभक्तिः] जिससे सारी विभक्ति (=त्रिक) उत्पन्न न हो, ऐसे [तद्धितः] तद्धितप्रत्ययान्त शब्द की [च] भी अव्यय संज्ञा होती है ॥

यहां महाभाष्यकार ने अव्यय संज्ञा के प्रयोजक तद्धित-प्रत्ययों का परिगणन किया है, जो इस प्रकार है—तसिलादयः प्राक् पाशपः (पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७) से लेकर (याप्ये पाशप् ५।३।४७) तक । शस्प्रभृतिभ्यः प्राक् समासान्तेभ्यः (बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२) से लेकर (समासान्ताः ५।४।६८) तक । मान्तः—अम्, आम् (अमु च च्छन्दसि ५।४।१२, किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११) । तसिवती—(तसिश्च ४।३।११३, तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११४) । कृत्वोऽर्थाः—(संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।४।१७, द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८, विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ५।४।२०)। नानाञौ—नाञ् (विनञ्भ्यां नानाञौ न सह ५।२।२७) ॥

कृन्मेजन्तः ॥१।१।३८॥

कृत् १।१॥ मेजन्तः १।१॥ स०—मश्च एच् च मेचौ, मेचावन्तेऽस्य स मेजन्तः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—कृद् यो मकारान्त एजन्तश्च, तदन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—अस्वाद्वीं स्वाद्वीं कृत्वा भुङ्क्ते=स्वादुंकारं भुङ्क्ते। सम्पन्नंकारं भुङ्क्ते। लवणंकारं भुङ्क्ते। उदरपूरं भुङ्क्ते। एजन्तः-- वक्षे रायः। ता वामेषे रथानाम्। क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे। म्लेच्छितवै ॥

भाषार्थः—[कृत्] कृत् जो [मेजन्तः] मकारान्त तथा एजन्त, तदन्त शब्दरूप की अव्यय संज्ञा होती है ॥ म, ए - अन्तवाले कृत् = अव्यय

क्त्वातोसुन्कसुनः ॥१।१।३९॥

क्त्वातोसुन्कसुनः १।३॥ स०—क्त्वा च तोसुंश्च कसुंश्च क्त्वातोसुन्कसुनः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अव्ययम्॥ अर्थः—क्त्वा तोसुन् कसुन् इत्येवमन्ताः शब्दा अव्ययसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—क्त्वा—पठित्वा, चित्वा, जित्वा, कृत्वा, हृत्वा। तोसुन्—पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (का० सं० ८।३)। कसुन्—पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् (य० १।२८) ॥

भाषार्थः—[क्त्वातोसुन्कसुनः] क्त्वा तोसुन् कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है ॥ ६ क्त्वा, तोसुन्, कसुन् ३= अव्यय

अव्ययीभावश्च ॥१।१।४०॥

अव्ययीभावः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—अव्ययीभावसमासोऽव्ययसंज्ञको भवति ॥ उदा०—उपाग्नि, प्रत्यग्नि, अधिस्त्रि ॥

भाषार्थः—[अव्ययीभावः] अव्ययीभाव समास की [च] भी अव्यय संज्ञा होती है ॥ ६ अव्ययीभाव समास ३ = अव्यय

६ जस्/शस् → शि ३ शि सर्वनामस्थानम् ॥१।१।४१॥ = सर्वनाम

शि १।१॥ सर्वनामस्थानम् १।१॥ अर्थः—शि=जश्शसोः शिः (७।१।२०) इत्यनेन यः 'शिः' आदेशः, तस्य सर्वनामस्थानसंज्ञा भवति ॥ उदा०—कुण्डानि, वनानि। दधीनि, मधूनि। त्रपूणि, जतूनि ॥

भाषार्थः—[शि] 'शि' की [सर्वनामस्थानम्] सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ॥ जश्शसोः शिः (७।१।२०) से जो जस् और शस् के स्थान में 'शि' आदेश होता है, उसका यहां ग्रहण है ॥

यहां से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति १।१।४२ तक जाती है ॥

सुडनपुंसकस्य ॥१।१।४२॥

सुट् १।१॥ अनपुंसकस्य ६।१॥ स०—न नपुंसकम्=अनपुंसकम्, तस्यानपुंसकस्य, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सर्वनामस्थानम् ॥ अर्थः—नपुंसकभिन्नसम्बन्धी यः सुट् तस्य सर्वनामस्थानसंज्ञा भवति ॥ 'सुट' इत्यनेन सु इत्यारभ्य औट्पर्यन्तं प्रत्याहारो गृह्यते । तत्र च, सु औ जस् अम् औट् इति पञ्च प्रत्ययाः समाविष्टाः सन्ति ॥ उदा०—राजा राजानौ राजानः राजानम् राजानौ ॥

भाषार्थः—[अनपुंसकस्य] नपुंसकलिङ्ग से भिन्न जो [सुट्] सुट् उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ॥ यहां सु से लेकर औट् पर्यन्त पांच प्रत्ययों का सुट् प्रत्याहार से ग्रहण है ॥

न वेति विभाषा ॥१।१।४३॥

न अ० ॥ वा अ० ॥ इति अ० ॥ विभाषा १।१॥ अर्थः—'न' इति निषेधार्थः, 'वा' इति विकल्पार्थः, अनयोर्निषेधविकल्पार्थयोर्विभाषा संज्ञा भवति॥ उदा०—शुशाव, शिश्वाय । शुशुवतुः, शिश्वियतुः । दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै ॥

भाषार्थः—[न वेति] न=निषेध, वा=विकल्प इन अर्थों की [विभाषा] विभाषा संज्ञा होती है ॥

विशेषः—यहां 'न' और 'वा' इन शब्दों की विभाषा संज्ञा नहीं होती, अपितु 'न' का अर्थ जो निषेध, 'वा' का अर्थ जो विकल्प, इन अर्थों की विभाषा संज्ञा होती है । सूत्रों में 'इति' पद जहां लगता है, वहां उस शब्द के अर्थ का बोध कराता है, स्वरूप का नहीं । अतः यहां नवेति में 'इति' शब्द अर्थ का बोधक है ॥

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१।१।४४॥

इक् १।१॥ यणः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अर्थः—यणः (—य् व् र् ल्) स्थाने य इक् (=इ उ ऋ लृ) (भूतो भावी वा) तस्य सम्प्रसारणसंज्ञा भवति ॥ उदा०—उक्तः, उक्तवान् । सुप्तः, सुप्तवान् । इष्टः, इष्टवान् । गृहीतः, गृहीतवान्॥

भाषार्थः—[यणः] यण् के स्थान में जो [इक्] इक् वह [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारणसंज्ञक होता है ॥

यहां यण् के स्थान में जो इक् वर्ण उसकी, तथा 'यण्' के स्थान में जो इक् करना इस वाक्यार्थ की भी सम्प्रसारण संज्ञा होती है ॥

आदि　ट्-इत्　[परिभाषा-प्रकरणम्]

अन्त　क्-इत् **आद्यन्तौ टकितौ ॥१।१।४५॥**

आद्यन्तौ १।२॥ टकितौ १।२॥ स०—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । टश्च कश्च टकौ, टकौ इतौ ययोरिति टकितौ, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ **अर्थः**—षष्ठीनिर्दिष्टस्य 'टित्' आगम आदिर्भवति, 'कित्' आगमोऽन्तो भवति ॥ **उदा०**—टित्—पठिता, भविता । कित्—त्रापुषम्, जातुषम् । जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते ॥

भाषार्थः—षष्ठीनिर्दिष्ट को जो [टकितौ] टित् आगम तथा कित् आगम कहा गया हो, वह क्रम से उसका [आद्यन्तौ] आदि और अन्त अवयव हो ॥

यहां भविता में तास् आर्धधातुक को आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७।२।३५) से कहा हुआ 'इट्' उसका आदि अवयव बनता है, और भीषयते में षुक् 'भी' का अन्तिम अवयव बनता है ॥ यह सूत्र षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) का पूर्व अपवाद है ॥

अन्त्य अच् + मित् **मिदचोऽन्त्यात् परः ॥१।१।४६॥**

मित् १।१॥ अचः ६।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ परः १।१॥ स०—म् इत् यस्य स मित्, बहुव्रीहिः ॥ अन्ते भवः अन्त्यः, तस्मात् अन्त्यात् ॥ **अर्थः**—अचां सन्निविष्टानां योऽन्त्योऽच् तस्मात् परो मित् भवति ॥ **उदा०**—भिनत्ति, छिनत्ति । रुणद्धि । मुञ्चन्ति । वन्दे मातरम् । कुण्डानि, वनानि । यशांसि, पयांसि ॥

भाषार्थः—[अचः] अचों के बीच में जो [अन्त्यात्] अन्तिम अच् उससे [परः] परे [मित्] मित् (मकार जिसका इत् हो) होता है ॥ यह सूत्र आगे आनेवाले १।१।४८, तथा प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) सूत्रों का अपवाद है । प्रत्यय होने के कारण 'श्नम्' आदियों को परे होना चाहिये था, पर इस सूत्र से मित् होने से अन्त्य अच् से परे हो जाता है ॥

ए ऐ → इ

एच इग्घ्रस्वादेशे ॥१।१।४७॥　ओ औ → उ

एचः ६।१॥ इक् १।१॥ ह्रस्वादेशे ७।१॥ स०—ह्रस्वश्चासावादेशश्च ह्रस्वादेशः, कर्मधारयः ॥ **अर्थः**—एचः स्थाने ह्रस्वादेशे कर्त्तव्ये इग् एव ह्रस्वो भवति, नान्यः ॥ **उदा०**—अतिरि कुलम् । अतिनु कुलम् । उपगु ॥

भाषार्थः—[एचः] एच् के स्थान में [ह्रस्वादेशे] ह्रस्वादेश करने में [इक्] इक् ही ह्रस्व हो। अन्य नहीं ॥ इस सूत्र की प्रवृत्ति नियमरूप से होती है, विधिरूप से नहीं । नियम प्राप्तिपूर्वक होता है, अतः एच् के स्थान में जो अन्तरतम (अ,इ,उ) प्राप्त हुए, उन्हीं का नियम किया गया । इस प्रकार यहां यथासंख्य आदेश नहीं होता ॥

षष्ठी स्थानेयोगा ॥१।१।४८॥

षष्ठी १।१॥ स्थानेयोगा १।१॥ स०—स्थाने योगोऽस्याः सेयं स्थानेयोगा, बहुव्रीहिः। अत्र निपातनात् सप्तम्या अलुग् भवति ॥ अर्थः—अस्मिन् शास्त्रे अनियतयोगा (=अनियतसम्बन्धा) षष्ठी स्थानेयोगा मन्तव्या ॥ उदा०—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। दध्यत्र, मध्वत्र, पित्रर्थम्, लाकृतिः ॥

भाषार्थः—इस शास्त्र में अनियतयोगा (जिस षष्ठी का सम्बन्ध कहीं न जुड़ता हो वह) [षष्ठी] षष्ठी [स्थानेयोगा] स्थानेयोगा=स्थान के साथ सम्बन्धवाली होती है ॥

षष्ठी के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—समीप, विकार, अवयव, स्व-स्वाम्यादि। उनमें से शब्द में जितने अर्थ सम्भव हैं, उन सभी के प्राप्त होने पर यह नियम किया गया है। जिस षष्ठी का कोई सम्बन्ध न जुड़ता हो, वह अनियतयोगा षष्ठी कहलाती है। उसका 'स्थाने' शब्द के साथ सम्बन्ध होता है ॥

यहां से 'स्थाने' की अनुवृत्ति १। १। ५० तक जाती है, तथा 'षष्ठी' पद की अनुवृत्ति १।१।५४ तक जाती है ॥

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।४९॥

स्थाने ७।१॥ अन्तरतमः १।१॥ सर्वे इमेऽन्तराः, अयमेषामतिशयेनान्तरः=अन्तरतमः=सदृशतमः। अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) इति तमप् प्रत्ययः ॥ अनु०—स्थाने ॥ अर्थः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतमः=सदृशतम आदेशो भवति ॥ आन्तर्यं चतुर्विधं भवति—स्थानकृतम्, अर्थकृतम्, गुणकृतम्, प्रमाणकृतञ्चेति ॥ उदा०—स्थानकृतम्—दण्डाग्रम् दधीदम् भानूदयः। अर्थकृतम्—अभवताम्, वातण्डयुवतिः। गुणकृतम्—भागः यागः त्यागः। प्रमाणकृतम्=अमुष्मै, अमूभ्याम् ॥

भाषार्थः—[स्थाने] स्थान में प्राप्त होनेवाले आदेशों में जो स्थानी के [अन्तरतमः] सदृशतम=सब से अधिक समान हो, वह आदेश हो ॥

उरण्रपरः ॥१।१।५०॥

उः ६।१॥ अण् १।१॥ रपरः १।१॥ स०—रः परो यस्मात् स रपरः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्थाने ॥ अर्थः—ऋवर्णस्य स्थाने अण् (अ इ उ) प्रसज्यमान एव रपरो भवति ॥ उदा०—कर्ता हर्ता। कारकः हारकः। किरति गिरति। द्वैमातुरः त्रैमातुरः ॥

भाषार्थः—[उः] ऋवर्ण के स्थान में [अण्] अण् (अ-इ-उ में से कोई अक्षर) प्राप्त हो, तो वह होते-होते ही [रपरः] रपरवाला हो जाता है ॥

यहां जब ऋ के स्थान में गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, तब ऋ का अन्तरतम (=सदृशतम) इनमें से कोई है नहीं, तो प्रकृत सूत्र से अ आ (अण्) होते-होते रपर होकर अर् आर् बन जाते हैं। सो स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) सूत्र लगकर अर् आर् गुण और वृद्धि होते हैं। यह बात समझ लेने की है कि गुण या वृद्धि होते-होते अ आ रपर होते हैं, होने के पश्चात् नहीं ॥

अलोऽन्त्यस्य ॥१।१।५१॥

अलः ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—षष्ठीनिर्दिष्टस्य य आदेश उच्यते, सोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति ॥ उदा०—द्यौः। सः। पञ्चगोणिः ॥

भाषार्थः—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट को जो आदेश कहा जाता है, वह [अन्त्यस्य] अन्त्य [अलः] अल् के स्थान में होता है ॥ यह सूत्र षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से प्राप्त कार्य का अनुसंहार अन्तिम अल् में करता है ॥

यहां से 'अलः' की अनुवृत्ति १।१।५३, तथा 'अन्त्यस्य' की अनुवृत्ति १।१।५२ तक जाती है ॥

ङिच्च ॥१।१।५२॥

ङित् १।१॥ च अ० ॥ स०—ङ् इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अलोऽन्त्यस्य, षष्ठी ॥ अर्थः—षष्ठीनिर्दिष्टस्य यो ङिदादेशः, सोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति ॥ अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) इति वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्तादपवादः। अर्थादनेकालपि सन् ङिदादेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति, न तु सर्वस्य ॥ उदा०—चेता, नेता। मातापितरौ। होतापोतारौ ॥

भाषार्थः—[ङित्] ङित् आदेश [च] भी अन्त्य अल् के स्थान में होता है ॥ अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) की प्राप्ति में यह पूर्व अपवाद सूत्र है। अर्थात् अनेकाल् होने पर भी ङित् आदेश सब के स्थान में न होकर अन्त्य अल् के स्थान में ही होता है ॥

आदेः परस्य ॥१।१।५३॥

आदेः ६।१॥ परस्य ६।१॥ अनु०—अलः, षष्ठी ॥ अर्थः—परस्योच्यमानं कार्यं तस्यादेरलः स्थाने भवति ॥ तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) इति परस्य कार्यं शिष्यते ॥ अलोऽन्त्यस्यायमपवादः ॥ उदा०—आसीनः। द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम् ॥

भाषार्थः—[परस्य] पर को कहा हुआ कार्य, उसके [आदेः] आदि अल् के स्थान में हो ॥ तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) सूत्र से पर को कार्य कहा गया है, वह अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् को प्राप्त हुआ। यह सूत्र अलोऽन्त्यस्य का अपवाद है, अतः पर के अन्तिम अल् को कार्य न होकर उस के आदि अल् को हुआ ॥

अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥१।१।५४॥

अनेकाल्शित् १।१॥ सर्वस्य ६।१॥ स०—न एकः अनेकः, नञ्तत्पुरुषः, अनेकः अल् यस्य स अनेकाल्, बहुव्रीहिः। श् इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहिः। अनेकाल् च शिच्च अनेकाल्शित्, बहुव्रीहिगर्भः समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—अनेकाल् शिच्च य आदेशः सः सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने भवति ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) इति सूत्रस्यापवादसूत्रमिदम् ॥ उदा०—अनेकाल्—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। पुरुषैः। शित्—कुण्डानि, वनानि ॥

भावार्थः—[अनेकाल्शित्] अनेक अल्वाला तथा शित् जो आदेश, वह [सर्वस्य] सारे षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान में होता है ॥ यह सूत्र अलोऽन्त्यस्य(१।१।५१) का अपवाद है। अर्थात् षष्ठी-निर्दिष्ट को कहे गये सब आदेश अन्त्य अल् के स्थान में उस सूत्र से प्राप्त थे, इसने अनेकाल् तथा शित् आदेशों को सब के स्थान में हों, ऐसा कह दिया ॥

[अतिदेश-प्रकरणम्]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१।१।५५॥

स्थानिवत् अ०॥आदेशः १।१॥ अनल्विधौ ७।१॥स०—'अल्विधौ' इत्यत्रार्थानुरोधात् चतुर्विधः समासः—अलः (५।१) परस्य विधिः=अल्विधिः, पञ्चमीतत्पुरुषः। अलः (६।१) स्थाने विधिः=अल्विधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। अलि विधिः=अल्विधिः, सप्तमीतत्पुरुषः। अला विधिः=अल्विधिः, तृतीयातत्पुरुषः। न अल्विधिः अनल्विधिः, तस्मिन् अनल्विधौ, नञ्तत्पुरुषः ॥ स्थानमस्यास्तीति स्थानी अत इनिठनौ (५।२।११५) इत्यनेन 'इनिः' प्रत्ययः, स्थानिना तुल्यं स्थानिवत् तेन तुल्यं० (५।१।११४) इत्यनेन वतिप्रत्ययः ॥ अर्थः—आदेशः स्थानिवद् भवति, अल्विधिं वर्जयित्वा ॥ तत्रादेशाः प्रायः अष्टविधा भवन्ति—धातु-अङ्ग-कृत्-तद्धित-अव्यय-सुप्-तिङ्-पदादेशाः ॥ उदा०-धात्वादेशः—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। अङ्गादेशः—केन, काभ्याम्, कैः। कृदादेशः—प्रकृत्य, प्रहृत्य। तद्धितादेशः—दध्ना संस्कृतम्=दाधिकम्, अद्यतनम्। अव्ययादेशः—प्रकृत्य, प्रहृत्य।

सुबादेशः पुरुषाय, वृक्षाय । तिङादेशः—अकुरुताम्, अकुरुतम् । पदादेशः—ग्रामो नः स्वम्, ग्रामो वः स्वम् । अल्विधौ स्थानिवत् न भवति । तद्यथा—अलः (५।१) विधिः—द्यौः, पन्थाः सः । अलः (६।१) विधिः—द्युकामः । अलि (७।१) विधिः—क इष्टः । अला (३।१) विधिः—महोरस्केन, व्यूढोरकेन ॥

भाषार्थः—जिसके स्थान में हो वह स्थानी, जो किया जाये वह आदेश कहाता है ॥ [आदेशः] आदेश [स्थानिवत्] स्थानी के तुल्य माना जाता है [अनल्विधौ] अल्विधि को छोड़कर ॥

आदेश प्रायः आठ प्रकार के होते हैं—(१) धातु = धातु का आदेश धातुवत् होता है, (२) अङ्ग=अङ्ग का आदेश अङ्गवत् होता है, (३) कृत्=कृत् का आदेश कृत्वत् होता है, (४) तद्धित=तद्धित का आदेश तद्धितवत् होता है, (५) अव्यय=अव्यय का आदेश अव्ययवत् होता है, (६) सुप्=सुप् का आदेश सुप्वत् होता है, (७) तिङ्=तिङ् का आदेश तिङ्वत् होता है, (८) पद=पद का आदेश पदवत् होता है ॥

अल्विधि में चार प्रकार का समास है—

पञ्चमी तत्पुरुष—अल् से परे विधि । षष्ठीतत्पुरुष अल् के स्थान में विधि । सप्तमीतत्पुरुष—अल् परे रहते विधि । तृतीयातत्पुरुष—अल् के द्वारा विधि । इन सब उदाहरणों में आदेश स्थानिवत् नहीं होता ॥

इस प्रकार का व्यवहार लोक में भी देखा जाता है। जैसे एक कलेक्टर के स्थान में जो दूसरा कलेक्टर (जिलाधीश) बदल कर आता है । उस नये कलेक्टर को भी पुराने कलेक्टर के समान सारे अधिकार प्राप्त हो जाते हैं । यहां पुराना कलेक्टर स्थानी था, नया उसका आदेश. सो स्थानिवत् व्यवहार हो गया । जिस प्रकार नये कलेक्टर को खरबूजा पसन्द होता है, पर पुराने कलेक्टर को नहीं होता, अर्थात् व्यक्तिगत रुचि में वह स्थानी के तुल्य नहीं होता, उसी प्रकार यहां भी अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता, ऐसा समझें । आगे के अतिदेश सूत्रों में भी अतिदेश-सम्बन्धी यह बात घटा लेनी चाहिये ॥

विशेषः—अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता, इसके उदाहरण देना यद्यपि द्वितीयावृत्ति (शंका-समाधान) का विषय है, तथापि उसको भी यहां समझाना इसलिये अनिवार्य हो गया है कि अगला सूत्र अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) अनल्विधि का अपवाद है । अतः यहां अल्विधि में स्थानिवत् किस प्रकार नहीं होता, यह बता देना आवश्यक है । यह बात अध्यापक धीरे से समझा दें । हम तो समझ

ही देते हैं। छात्र समझ लेता है, और प्रसन्न हो उठता है। कोई न समझे तो जाने दें ॥

यहां से 'स्थानिवदादेशः' की अनुवृत्ति १।१।५८ तक जाती है ॥

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥१।१।५६॥

अचः ६।१॥ परस्मिन् ७।१ [निमित्त-सप्तमी] ॥ पूर्वविधौ ७।१ [विषय-सप्तमी] ॥ स०—पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः, तस्मिन् पूर्वविधौ, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ विधानं विधिः ॥ अनु०—स्थानिवद् आदेशः ॥ अर्थः—परनिमित्तकोऽजादेशः पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद् भवति ॥ स्थान्यजपेक्षयात्र पूर्वत्वम् अभिप्रेतम् ॥ पूर्वेण सूत्रेणाल्-विधौ स्थानिवद्भावस्य निषेधः प्राप्नोति, अनेन सूत्रेण पुनः प्रतिप्रसूयते ॥ उदा०—पटयति, अवधीत्, बहुखट्वकः ।

भाषार्थः—[परस्मिन्] परनिमित्तक=पर को निमित्त या कारण मानकर [अचः] अच् के स्थान में हुआ जो आदेश, वह [पूर्वविधौ] पूर्व की विधि करने में स्थानिवत् हो जाता है ॥ यहां पूर्वविधि में स्थानी से पूर्वत्व अभिप्रेत है । अर्थात्—अनादिष्ट (=स्थानी) अच् से पूर्व जो वर्ण विद्यमान था, उस की विधि (=कार्य)। पूर्व सूत्र से यहां अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त था । इस सूत्र से पुनः अल्विधि में स्थानिवद्भाव प्राप्त कराया गया है ॥

यहां से 'अचः' की अनुवृत्ति १।१।५८ तक, तथा 'परस्मिन् पूर्वविधौ' की १।१।५७ तक जाती है ॥

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥१।१।५७॥

न अ० ॥ पदान्त···—विधिषु ७।३॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः, अथवा पदे अन्तः पदान्तः,सप्तमीतत्पुरुषः । पदान्तश्च द्विर्वचनं च, वरे च, यलोपश्च, स्वरश्च, सवर्णश्च, अनुस्वारश्च, दीर्घश्च, जश् च, चर् च=पदान्तद्विर्वचन······चरः, एतेषां विधयः, तेषु पदान्तद्विर्वचन···विधिषु, द्वन्द्वगर्भः षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अचः परस्मिन्, स्थानिवद् आदेशः ॥ अर्थः—पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर् इत्येतेषां विधिषु परनिमित्तकोऽजादेशः स्थानिवत् न भवति ॥ उदा०—**पदान्तविधौ**—कौ स्तः, यौ स्तः । तानि सन्ति, यानि सन्ति ॥ **द्विर्वचनविधौ**—दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र ॥ **वरेविधौ**—अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान् । **यलोपविधौ**=कण्डूतिः । **स्वरविधौ**—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः । **सवर्णविधौ**—शिण्ढि, पिण्ढि । **अनुस्वारविधौ**—शिंषन्ति, पिंषन्ति । **दीर्घविधौ**—प्रतिदीव्ना प्रतिदीव्ने । **जश्विधौ**—सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे, बब्धां ते हरी धानाः । **चर्विधौ**—जक्षतुः जक्षुः, अक्षन्नमीमदन्त पितरः ॥

भाषार्थः—[पदान्तद्विर्वचन…विधिषु] पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर् इन की विधियों में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से स्थानिवत् प्राप्त था, उसका यह प्रतिषेध है ॥

द्विर्वचनेऽचि ॥१।१।५८॥

द्विर्वचने ७।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—अचः, स्थानिवदादेशः ॥ द्विर्वचनं च द्विर्वचनं च इति द्विर्वचनम्, तस्मिन् द्विर्वचने । सरूपाणाम्० (१।२।६४) इत्येकशेषः ॥ अर्थः—द्विर्वचननिमित्तेऽचि परतोऽजादेशः स्थानिरूपो भवति, द्विर्वचन एव कर्त्तव्ये । रूपातिदेशोऽयम् ॥ उदा०—पपतुः पपुः । जग्मतुः जग्मुः । चक्रतुः चक्रुः । निनय निनाय । लुलव लुलाव । आटिटत् ॥

भाषार्थः—[द्विर्वचने] द्विर्वचन का निमित्त [अचि] अजादि प्रत्यय परे हो, तो अजादेश स्थानिवत् हो जाता है, द्विर्वचन करनेमात्र में ॥

यह रूपातिदेश सूत्र है ॥ पूर्व सूत्रों में कार्यातिदेश था । कार्यातिदेश उसे कहते हैं कि जो आदेश को स्थानी के तुल्य मान कर स्थानी के समान आदेश में कार्य कर दे । रूपातिदेश उसे कहते हैं कि जिसमें स्थानी का जैसा रूप हो, वैसा ही आदेश का रूप भी हो जावे ॥ यह अतिदेश सूत्रों का प्रकरण समाप्त हुआ ॥

अदर्शनं लोपः ॥१।१।५९॥

अदर्शनम् १।१॥ लोपः १।१॥ स०—न दर्शनम् अदर्शनम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—'इति' इत्येतत् पदं न वेति विभाषा (१।१।४३) इत्यतो मण्डूकप्लुतगत्यानुवर्त्तते ॥ अर्थः—यद् भूत्वा न भवति तद् अदर्शनम् = अनुपलब्धिः वर्णविनाशस्तस्य लोप इति संज्ञा भवति, अर्थात् प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—शालीयः । गौधेरः । पचेरन् । जीरदानुः । आस्रेमाणम् ॥

भाषार्थः—जो कोई वस्तु होकर न रहे, न दिखाई पड़े, उसे अदर्शन कहते हैं, अर्थात् विद्यमान के [अदर्शनम्] अदर्शन की [लोपः] लोप संज्ञा होती है ॥ उसको अदर्शन नहीं कह सकते, जो कभी विद्यमान ही न रहा हो ॥

यहाँ अदर्शन के अर्थ की लोप संज्ञा होती है, न कि 'अदर्शन' शब्द की । यह बात न वेति विभाषा (१।१।४३) से मण्डूकप्लुतगति[1] द्वारा 'इति' शब्द की अनुवृत्ति लाकर होती है ॥

यहाँ से 'अदर्शनम्' की अनुवृत्ति १।१।६० तक जाती है ॥

---

१. मण्डूकप्लुत न्याय यह है कि जैसे मण्डूक = मेंढक कूद-कूद कर ही चलते हैं, सरक

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ॥१।१।६०॥

प्रत्ययस्य ६।१॥ लुक्श्लुलुपः १।३॥ स०—लुक् च श्लुश्च लुप् च=लुक्-श्लुलुपः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अनु०—अदर्शनम् । 'इति' इत्येतत् पदमत्रापि सम्बध्यते ॥ अर्थः—प्रत्ययस्य अदर्शनस्य लुक्-श्लु-लुप् इत्येताः संज्ञा भवन्ति ॥ उदा०—लुक् – विशाखः स्तौति । श्लु— जुहोति । लुप्—वरणाः पञ्चालाः ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययस्य] प्रत्यय के अदर्शन की [लुक्श्लुलुपः] लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञाएं होती हैं ॥ यदि "लुक्" हो जाये ऐसा कहकर प्रत्यय का अदर्शन किया जाये, तो उस प्रत्ययादर्शन की लुक् संज्ञा होती है । इसी प्रकार यदि 'श्लु' द्वारा अदर्शन हो, तो उस प्रत्ययादर्शन की श्लु संज्ञा होगी । तथा 'लुप्' के द्वारा अदर्शन की लुप् संज्ञा हो जायगी । इस प्रकार लुक् श्लु लुप् इन तीनों संज्ञाओं का पृथक्-पृथक् विषय-विभाग हो जाता है । भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गये प्रत्यय के अदर्शन होने से इन संज्ञाओं का परस्पर साङ्कर्य नहीं होता ॥

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१।१।६१॥

प्रत्ययलोपे ७।१॥ प्रत्ययलक्षणम् १।१॥ स०—प्रत्ययस्य लोपः प्रत्ययलोपः, तस्मिन् प्रत्ययलोपे, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रत्ययो लक्षणं यस्य कार्यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—प्रत्ययस्य लोपे सति प्रत्ययनिमित्तं (प्रत्ययहेतुकं) कार्यं भवति ॥ उदा०—अग्निचित् । सोमसुत् । अधोक् ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययलोपे] प्रत्यय के लोप हो जाने पर [प्रत्ययलक्षणम्] प्रत्यय-लक्षण कार्य हो जाता है, अर्थात् उस प्रत्यय को निमित्त मानकर जो कार्य पाता था, वह उसके लोप हो जाने पर (हट जाने पर) भी हो जावे ॥

यहां लोप शब्द अदर्शनमात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है, अतः इससे लुक्, श्लु, लुप् का ग्रहण भी होता है ॥

यहां से 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' की अनुवृत्ति १।१।६२ तक जाती है ॥

न लुमताऽङ्गस्य ॥१।१।६२॥

न अ० ॥ लुमता ३।१॥ अङ्गस्य ६।१॥ अनु०—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥ लु अस्मिन्नस्तीति लुमान्, तेन लुमता, तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४)

कर नहीं, इसी प्रकार इस सूत्र का 'इति' पद भी बीच के सूत्रों में न बैठकर यहां उपस्थित हुआ है ॥

इत्यनेन मतुप् प्रत्ययः ॥ अर्थः—लुमता शब्देन प्रत्ययस्य लोपे (अदर्शने) सति तस्मिन् परतो यदङ्गं तस्य यत् प्रत्ययलक्षणं कार्यं तन्न भवति ॥ उदा०—गर्गाः, मृष्टः, जुहुतः, वरणाः ॥

भाषार्थः—[लुमता] लुक्-श्लु और लुप् इन शब्दों के द्वारा जहाँ प्रत्यय का अदर्शन किया गया हो, उसके परे रहते जो [अङ्गस्य] अङ्ग, उस अङ्ग को जो प्रत्यय-लक्षण कार्य प्राप्त हों, वे [न] नहीं होते । पूर्व सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य प्राप्त था, सो नहीं हुआ ॥

अचोऽन्त्यादि टि ॥१।१।६३॥

अचः ६।१ [निर्धारणे षष्ठी] ॥ अन्त्यादि १।१॥ टि १।१॥ अन्ते भवोऽन्त्यः, दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) इत्यनेन यत् प्रत्ययः ॥ स०—अन्त्य आदिर्यस्य तद् अन्त्यादि, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, स आदिर्यस्य समुदायस्य, स टिसंज्ञको भवति ॥ उदा०—'अग्निचित्, सोमसुत्' इत्यत्र इत्-उत् शब्दौ । पचेते, पचेथे ॥

भाषार्थः—[अचः] अचों के मध्य में जो [अन्त्यादि] अन्त्य अच्, वह अन्त्य अच् आदि है जिस (समुदाय) का उस (समुदाय) की [टि] टि संज्ञा होती है ॥

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥१।१।६४॥

अलः ५।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वः १।१॥ उपधा १।१॥ अर्थः—अन्त्यात् अलः पूर्वो योऽल्, स उपधासंज्ञको भवति ॥ उदा०—भेत्ता, छेत्ता ॥

भाषार्थः—[अन्त्यात्] अन्त्य [अलः] अल् से [पूर्वः] पूर्व जो अल्, उसकी [उपधा] उपधा संज्ञा होती है ॥

[परिभाषा-प्रकरणम्]

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥१।१।६५॥

तस्मिन् ७।१॥ इति अ० ॥ निर्दिष्टे ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अर्थः—तस्मिन्निति =सप्तम्या विभक्त्या निर्दिष्टे सति पूर्वस्यैव कार्यं भवति ॥ इहापि इतिकरणोऽर्थ-निर्देशार्थः । तेन 'तस्मिन्' इति पदेन सप्तम्यर्थो गृह्यते, न तु तस्मिन् इति शब्दः ॥ उदा०—दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम् ॥

भाषार्थः—[तस्मिन् इति] सप्तमी विभक्ति से [निर्दिष्टे] निर्देश किया हुआ जो शब्द हो, उससे (अव्यवहित) [पूर्वस्य] पूर्व को ही कार्य होता है ॥

यहाँ भी 'इति' शब्द अर्थनिर्देश के लिये है । सो 'तस्मिन्' इस पद से 'सप्तमी

विभक्ति' का अर्थ लिया जायेगा, न कि 'तस्मिन्' यह शब्द ॥ उदा०—दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम् । यहाँ सर्वत्र इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होता है। इस सूत्र में 'अचि' पद सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट है। सो उदकम् इदम् तथा ओदनम् अच् के परे रहते, उससे (अव्यवहित) पूर्व जो क्रमशः इ, उ, इ इन को ही यण् आदेश हुआ है ॥

यहां से 'निर्दिष्टे' की अनुवृत्ति १।१।६६ तक जायगी ॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥१।१।६६॥

तस्मात् ५।१॥ इति अ० ॥ उत्तरस्य ६।१॥ अनु०—निर्दिष्टे॥ अर्थः—पञ्चम्या विभक्त्या निर्दिष्टे सत्युत्तरस्यैव कार्यं भवति ॥ उदा०—आसीनः, द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम् । ओदनं पचति ॥

भावार्थः—[तस्मात् इति] पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट जो शब्द, उससे [उत्तरस्य] उत्तर को कार्य होता है ॥ 'आसीनः' 'द्वीपम्' आदि की सिद्धि परिशिष्ट १।१।५२ में दिखा ही चुके हैं। ओदनं पचति (चावल पकाता है) यहाँ पर तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से 'ओदनं' अतिङ् से उत्तर 'पचति' तिङ् को सर्वानुदात्त =निघात हो जाता है। यह 'अतिङः' में पञ्चमी विभक्ति है, अतः 'अतिङ्' से उत्तर पचति को स्वरकार्य हुआ ॥

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥१।१।६७॥

स्वम् १।१॥ रूपम् १।१॥ शब्दस्य ६।१॥ अशब्दसंज्ञा १।१॥ स०—शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, षष्ठीतत्पुरुषः, न शब्द संज्ञा अशब्दसंज्ञा, नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—इह व्याकरणे यस्य शब्दस्य कार्यमुच्यते, तस्य स्वं रूपं ग्राह्यम्, न तु शब्दार्थः, न च पर्यायवाची शब्दः, शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा ॥ उदा०—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् ॥

भावार्थः—इस व्याकरणशास्त्र में [शब्दस्य] शब्द के [स्वं रूपम्] अपने रूप का ग्रहण होता है, उस शब्द के अर्थ का नहीं, न ही पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होगा, [अशब्दसंज्ञा] शब्दसंज्ञा को छोड़कर ॥ शब्द तथा अर्थ पृथक्-पृथक् दो वस्तु हैं। यह लौकिक रीति है कि यदि हम किसी से कहें कि "अग्निमानय=अग्नि को लाओ", तो वह "आग" ऐसा शब्द नहीं लाता, "आग" का अर्थ जो अङ्गारा है, उसे लाता है, अर्थात् अर्थ से काम लेता है, न कि शब्द से। सो यही बात कहीं व्याकरणशास्त्र में न ले ली जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥

उदाहरण में अग्नेर्ढक् (४।२।३२) से अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय कहा है, न

कि अग्नि के अर्थ अंगारे=कोयले आदि से ।। यहां पर यदि अग्नि के अर्थ से ढक् करने लगेंगे, तो सारी अष्टाध्यायी ही भस्म हो जायेगी ।। इस सूत्र से स्वरूप-ग्रहण हो, ऐसा कहने के कारण ही यहां अग्नि के पर्यायवाची जो वह्नि-ज्वलन-धूमकेतु आदि शब्द हैं, उनसे भी ढक् प्रत्यय नहीं होगा ।।

यहां से 'स्वं रूपम्' की अनुवृत्ति १।१।७१ तक जाती है ।।

अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः ।।१।१।६८।।

अणुदित् १।१।। सवर्णस्य ६।१।। च अ० ।। अप्रत्ययः १।१।। स०—उत् इत् यस्य=उदित्, अण् च उदित् च=अणुदित्, बहुव्रीहिगर्भसमाहारद्वन्द्वः । न प्रत्ययः अप्रत्ययः, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—स्वं रूपम् ।। अर्थः—अण्प्रत्याहारः उदित् च सवर्णस्य ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य, प्रत्ययं वर्जयित्वा ।। अत्र 'अण्' प्रत्याहारः परेण णकारेण गृह्यते ।। उदा०—अस्य च्वौ (७।४।३२)। अत्र 'अकारेण' सवर्णदीर्घाकारोऽपि गृह्यते, तेन 'मालीभवति' इत्यत्रापि 'ईत्वं' सिध्यति । यस्येति च (६।४।१४८) अत्रापि 'अकारेण' सवर्णं 'आकार' ग्रहणात् 'मालीयः' अत्रापि लोपो भवति । आद्गुणः (६।१।८४) अत्रापि दीर्घस्यापि ग्रहणं भवति । तेन रमा+ईश्वरः=रमेश्वरः, अत्रापि गुणो भवति ।। उदित्—कु (कवर्गः), चु (चवर्गः), टु (टवर्गः), तु (तवर्गः), पु (पवर्गः) ।।

भाषार्थः—[अणुदित्] अण् प्रत्याहार (यहां लण् के णकार का ग्रहण होता है), तथा उदित् (उकार इत्वाले वर्ण) अपने स्वरूप तथा अपने [सवर्णस्य] सवर्ण का [च] भी ग्रहण करानेवाले होते हैं, [अप्रत्ययः] प्रत्यय को छोड़कर ।।

पूर्व सूत्र १।१।६७ से शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण प्राप्त था, उसका सवर्ण नहीं लिया जा सकता था, सो इस सूत्र से विधान कर दिया ।। अस्य च्वौ (७।४।३२); यस्येति च (६।४।१४८); आद्गुणः (६।१।८४) इन सब सूत्रों में ह्रस्व अकार का निर्देश होने पर भी ह्रस्व अकार तथा उसके सवर्ण दीर्घ 'आ' का भी ग्रहण हो जाता है ।। उदित्—इसी प्रकार कु से कवर्ग (क ख ग घ ङ), चु से चवर्ग (च छ ज झ ञ), टु से टवर्ग (ट ठ ड ढ ण), तु से तवर्ग (त थ द ध न), पु से पवर्ग (प फ ब भ म) का ग्रहण होता है । क्योंकि वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः (वर्णो०७७) से अपने-अपने वर्गों में होनेवाले वर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं ।।

यहां से 'सवर्णस्य' की अनुवृत्ति १।१।६९ तक जाती है ।।

तपरस्तत्कालस्य ॥१।१।६९॥

तपरः १।१॥ तत्कालस्य ६।१॥ स०—तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः, बहुव्रीहिः। अथवा तादपि परस्तपरः, पञ्चमीतत्पुरुषः। तस्य कालः तत्कालः, षष्ठीतत्पुरुषः। तत्कालः कालो यस्य स तत्कालः, उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिसमासः ॥ अनु०—सवर्णस्य, स्वं रूपम् ॥ अर्थः—तपरो वर्णः तत्कालस्य सवर्णस्य (गुणान्तरयुक्तस्य) स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अतो भिस ऐस् (७।१।९)—वृक्षैः, प्लक्षैः। आत औ णलः (७।१।३४)—पपौ, ददौ ॥

भाषार्थः—[तपरः] तपर (त् परेवाला, तथा जो त् से परे) वर्ण वह [तत्कालस्य] अपने कालवाले सवर्णों का, तथा अपना भी ग्रहण कराता है, भिन्न कालवाले सवर्ण का नहीं ॥

तपर वर्ण अपने कालवाले, चाहे भिन्न गुणवाले (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक तथा निरनुनासिक आदि) ही हों, उन सवर्णों का ग्रहण तो करा ही देगें, पर भिन्नकालवाले सवर्णों का नहीं ॥

अतो भिस ऐस् (७।१।९) यहां पर 'अतः' से ह्रस्व अ ही लिया जायेगा। सो वृक्ष प्लक्ष जो अकारान्त शब्द हैं, उनके भिस् को ऐस् होगा। माला शब्द से परे भिस् को ऐस् नहीं होगा। इसी प्रकार आत औ णलः (७।१।३४) में दीर्घ 'आ' को तपर किया है, तो आकारान्त जो पा दा आदि धातु हैं, इनसे परे ही णल् को औकारादेश होगा ॥

आदिरन्त्येन सहेता ॥१।१।७०॥

आदिः १।१॥ अन्त्येन ३।१॥ सह अ० ॥ इता ३।१॥ अनु०—स्वं रूपम् ॥ अर्थः—आदिः अन्त्येन इता=इत्संज्ञकेन वर्णेन सह तयोर्मध्यस्थानां स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अण्=अ इ उ। अक्=अ इ उ ऋ ऌ। अच्=अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ॥

भाषार्थः—[आदिः] आदि वर्ण [अन्त्येन] अन्त्य [इता सह] इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिलकर दोनों के मध्य में स्थित वर्णों का, तथा अपने स्वरूप का भी ग्रहण कराता है ॥

येन विधिस्तदन्तस्य ॥१।१।७१॥

येन ३।१॥ विधिः १।१॥ तदन्तस्य ६।१॥ स०—सोऽन्ते यस्य स तदन्तः, तस्य तदन्तस्य, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्वं रूपम् ॥ अर्थः—येन (विशेषणेन) विधिर्विधीयते,

स तदन्तस्य समुदायस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अचो यत् (३।१।९७)—चेयम्, जेयम् । एरच् (३।३।५६)—चयः, जयः, अयः ॥

भावार्थः—[येन] जिस विशेषण से [विधिः] विधि की जावे, वह विशेषण [तदन्तस्य] अन्त में है जिसके, उस विशेषणान्त समुदाय का ग्राहक होता है, और अपने स्वरूप का भी ॥

यहां विशेषण-विशेष्य प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिये—'येन' शब्द में करण में तृतीया है । करण से कर्त्ता का भी अनुमान हो जाता है, अतः अर्थापत्ति से कर्त्ता भी सन्निहित हुआ । कर्त्ता स्वतन्त्र होता है, और करण परतन्त्र, अर्थात् विधियों में कर्त्ता विशेष्य तथा करण विशेषण होगा । विशेषण-विशेष्यभाव विवक्षा के अधीन है । एरच् (३।३।५६)में अधिकारप्राप्त 'धातु' कर्त्ता, इकार करण के द्वारा अच् प्रत्यय का विधान करता है । अर्थात् इकार विशेषणरूप से विवक्षित है, और 'धातु' विशेष्यरूप से । इस अवस्था में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होती है । इस से इकारान्त चि जि आदि धातुओं से, तथा इण् धातु से अच् प्रत्यय होकर क्रमशः चयः जयः अयः रूप बन जाते हैं ॥

[वृद्धसंज्ञा-प्रकरणम्]

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१।१।७२॥

वृद्धिः १।१॥ यस्य ६।१॥ अचाम् ६।३ [निर्धारणे षष्ठी]॥ आदिः १।१॥ तत् १।१॥ वृद्धम् १।१॥ अर्थः—यस्य समुदायस्य अचां मध्ये आदिः अच् वृद्धिसंज्ञको भवति, तत् समुदायरूपं वृद्धसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—शालीयः, मालीयः । औपगवीयः, कापटवीयः ॥

भावार्थः—[यस्य] जिस समुदाय के [अचाम्] अचों में [आदिः] आदि अच् [वृद्धिः] वृद्धिसंज्ञक हो, [तत्] उस समुदाय की[वृद्धम्] वृद्ध संज्ञा होती है ॥

शालीयः, मालीयः की सिद्धि परिशिष्ट १।१।१ में दिखा चुके हैं । इसी प्रकार 'औपगव, कापटवः' शब्दों का आदि अच् वृद्धिसंज्ञक है, अतः वृद्ध संज्ञा होकर पूर्ववत् छ प्रत्यय हो गया ॥

यहां से 'वृद्धम्' की अनुवृत्ति १।१।७४ तक, तथा यस्याचामादिः की १।१।७४ में ही जाती है, १।१।७३ में नहीं जाती ॥

त्यदादीनि च ॥ १।१।७३॥

त्यदादीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—त्यद् आदिर्येषाम् तानीमानि त्यदादीनि,

बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वृद्धम् ॥ अर्थः—त्यदादीनि शब्दरूपाणि वृद्धसंज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—त्यदीयम् । तदीयम् । एतदीयम् ॥

भाषार्थः—[त्यदादीनि] त्यदादिगण में पढ़े शब्दों की [च] भी वृद्ध संज्ञा होती है ॥ वृद्ध संज्ञा का प्रयोजन पूर्ववत् समझें ॥

उदा०—त्यदीयम् (उसका), तदीयम् (उसका), एतदीयम् (इसका) ॥

एङ् प्राचां देशे ॥१।१।७४॥

एङ् १।१॥ प्राचाम् ६।३॥ देशे ७।१॥ अनु०—यस्याचामादिः, वृद्धम् ॥ अर्थः—यस्य समुदायस्य अचाम् आदिः 'एङ्', तस्य प्राचां देशाभिधाने वृद्धसंज्ञा भवति ॥ उदा०—एणीपचने भवः=एणीपचनीयः । गोनर्दे भवः=गोनर्दीयः । भोजकटे भवः=भोजकटीयः ॥

भाषार्थः—जिस समुदाय के अचों का आदि अच् [एङ्] एङ् हो, उसकी (प्राचां देशे) पूर्वदेश को कहने में वृद्ध संज्ञा होती है ॥

उदा०—एणीपचनीयः (एणीपचन देश में रहनेवाला)। गोनर्दीयः (आजकल का गोंडा प्रदेश । यह महाभाष्यकार पतञ्जलि का नाम है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है) । भोजकटीयः (भोजकट नगर प्राचीन विदर्भ की राजधानी थी, उसमें होनेवाला) । यहां भी वृद्ध संज्ञा का प्रयोजन पूर्ववत् ही है ॥

इति प्रथमः पादः

—:०:—

द्वितीयः पादः

[ङित्कित्-प्रकरणम्]

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् ॥१।२।१॥

गाङ्कुटादिभ्यः ५।३॥ अञ्णित् १।१॥ ङित् १।१॥ स०—कुट आदिर्येषां ते कुटादयः, गाङ् च कुटादयश्च गाङ्कुटादयः, तेभ्यः……………बहुव्रीहिगर्भेतरेतर-योगद्वन्द्वः। ञश्च णश्च ञ्णौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, न ञ्णित् अञ्णित्, बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्पुरुषः॥ अर्थः—गाङ्धातोः कुटादिभ्यश्च धातुभ्यः परे ये ञित्णित्भिन्नप्रत्ययास्ते ङिद्वद् भवन्ति। गाङ् इत्यनेन इङादेशो गाङ् गृह्यते, यो विभाषा लुङ्लृङोः (२।४।५०) इत्यनेन सम्पद्यते। कुटादयोऽपि (तुदा०) कुट कौटिल्ये इत्यारभ्य कुङ् शब्दे इति यावद् गृह्यन्ते॥ उदा०—गाङ्—अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत। कुटादिभ्यः—कुटिता, कुटितुम्, कुटितव्यम्। उत्पुटिता, उत्पुटितुम्, उत्पुटितव्यम्॥

भाषार्थः—[गाङ्कुटादिभ्यः] गाङ् तथा कुटादि धातुओं से परे जो [अञ्णित्] ञित्-णित्-भिन्न प्रत्यय, वह [ङित्] ङित्वत् (ङित् के समान) होते हैं॥

गाङ् से यहाँ इङ् धातु का आदेश जो 'गाङ्' वह लिया गया है। कुटादिगण भी 'कुट कौटिल्ये' धातु से लेकर 'कुङ् शब्दे' तक जानना चाहिये॥

यहाँ से 'ङित्' की अनुवृत्ति १।२।४ तक जायेगी॥

विज इट् ॥१।२।२॥

विजः ५।१॥ इट् १।१॥ अनु०—ङित्॥ अर्थः—ओविजी भयसञ्चलनयोः (तुदा० आ०) इत्येतस्मात् पर इडादिः प्रत्ययो ङिद्वद् भवति। उदा०—उद्विजिता, उद्विजितुम्, उद्विजितव्यम्॥

भाषार्थः—[विजः] ओविजी धातु से परे [इट्] इडादि प्रत्यय ङित्वत् होते हैं॥ उद्विजिता (कंपानेवाला) आदि की सिद्धियाँ परि० १।१।४८ के समान ही हैं। सर्वत्र पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण की प्राप्ति का क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जाये, यही ङित् करने का प्रयोजन है॥

यहाँ से 'इट्' की अनुवृत्ति १।२।३ तक जायेगी॥

विभाषोर्णोः ॥१।२।३॥

विभाषा १।१॥ ऊर्णोः ५।१॥ अनु०—इट् ङित् ॥ अर्थः—'ऊर्णुञ् आच्छादने' (अदा० उ०) अस्मात् पर इडादिः प्रत्ययो विभाषा ङिद्वद् भवति ॥ उदा०—ऊर्णुविता ऊर्णविता ॥

भाषार्थः—[ऊर्णोः]ऊर्णुञ् धातु से परे इडादि प्रत्यय [विभाषा] विकल्प करके ङित्वत् होता है ॥ ङित् पक्ष में सार्वधातु० (७।३।८४) से प्राप्त गुण का पूर्ववत् निषेध होकर 'ऊर्णु इट् तृच् सु' रहा। अचि श्नुधातु० (६।४।७७), और ङिच्च (१।१।५२) लगकर उकार के स्थान में उवङ् हुआ, सो ऊर्णुवङ् इ तृ सु =ऊर्णुव् इ तृ सु रहा। शेष परि० १।१।२ के 'चेता' के समान होकर ऊर्णुविता बना। अङित् पक्ष में ७।३।८४ से गुण होकर 'ऊर्णो इ तृ सु' रहा। सो एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अवादेश होकर 'ऊर्णविता' बन गया ॥

उदा०—ऊर्णुविता (आच्छादन करनेवाला), ऊर्णविता ॥

सार्वधातुकमपित् ॥१।२।४॥

सार्वधातुकम् १।१॥ अपित् १।१॥ स०—प् इत् यस्य स पित्, बहुव्रीहिः। न पित् अपित्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ङित् ॥ अर्थः—अपित् सार्वधातुकं ङिद्वद् भवति ॥ उदा०—कुरुतः, कुर्वन्ति। चिनुतः, चिन्वन्ति ॥

भाषार्थः—[अपित्] पित् भिन्न (जो पकार इत्वाला नहीं) [सार्वधातुकम्] सार्वधातुक ङित्वत् होता है ॥

यहां से 'अपित्' की अनुवृत्ति १।२।५ तक जायगी ॥

असंयोगाल्लिट् कित् ॥१।२।५॥

असंयोगात् ५।१॥ लिट् १।१॥ कित् १।१॥ स०—न संयोगः असंयोगः, तस्मादसंयोगात्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अपित् ॥ अर्थः—असंयोगान्ताद्धातोः परोऽपिल्लिट् प्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—बिभिदतुः बिभिदुः। चिच्छिदतुः चिच्छिदुः। ईजतुः ईजुः ॥

भाषार्थः—[असंयोगात्]संयोग जिसके अन्त में न हो ऐसी धातु से परे अपित् [लिट्] लिट् प्रत्यय [कित्] कित्वत् होता है ॥

यहां से 'लिट्' की अनुवृत्ति १।२।६ तक, तथा 'कित्' की १।२।२६ तक जायेगी ॥

इन्धिभवतिभ्यां च ॥१।२।६॥

इन्धिभवतिभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ स०—इन्धिश्च भवतिश्च इन्धिभवती, ताभ्याम् इन्धिभवतिभ्याम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिट्, कित् ॥ अर्थः—इन्धि भवति इत्येताभ्यां परो लिट् प्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—पुत्र ईधे अथर्वणः (ऋ० ६।१६।१४)। समीधे दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१५)। बभूव बभूविथ ॥

भाषार्थः—[इन्धिभवतिभ्याम्] इन्धि तथा तथा भू धातु से [च] भी परे लिट् प्रत्यय कित्वत् होता है ॥

इन्ध से उत्तर लिट् को कित्वत् करने का प्रयोजन इन्ध के अनुनासिक का ६।४।२४ से लोप करना है, तथा अपित् स्थानों में तो भू से उत्तर लिट् १।२।५ से कित्वत् हो ही जायेगा। पित् (=णल् थल् णल् जो पित्स्थानी होने से कित्वत् नहीं हो सकते) स्थानों में भी कित्वत् होकर वृद्धि तथा गुण का निषेध हो जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥

मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा ॥१।२।७॥

मृडमृद···वसः ५।१॥ क्त्वा १।१॥ स०—मृडश्च मृदश्च गुधश्च कुषश्च क्लिशश्च वदश्च वस्च मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवस्, तस्मात् मृड···वसः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—कित् ॥ अर्थः—'मृड सुखने' (तुदा० प०), 'मृद क्षोदे' (क्या० प०), 'गुध रोषे' (क्या० प०), 'कुष निष्कर्षे' (क्या० प०), 'क्लिशू विबाधने' (क्या० प०), 'वद व्यक्तायां वाचि' (भ्वा० प०), 'वस निवासे' (भ्वादि प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः क्त्वाप्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—मृडित्वा, मृदित्वा, गुधित्वा, कुषित्वा, क्लिशित्वा, उदित्वा, उषित्वा ॥

भाषार्थः—[मृड···वसः] मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद तथा वस् इन धातुओं से उत्तर [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय कित्वत् होता है ॥

विशेष—क्त्वा प्रत्यय तो कित् है ही, पुनः उसे कित्वत् करने का यह प्रयोजन है कि न क्त्वा सेट् (१।२।१८) सूत्र से सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, ऐसा कहा है। ये सब सेट् धातु हैं, सो इनसे उत्तर जो क्त्वा वह भी कित् होते हुए भी कित् न माना जाता। कित् माना जाये, अतः यह सूत्र पुरस्तादपवाद रूप में बनाया है। गुध कुष क्लिश इन धातुओं को विकल्प से कित्वत् रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) से प्राप्त था, नित्य कित्वत् हो, इसलिये यहां पुनः कहा है ॥

यहां से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति १।२।८ तक जायेगी ॥

रुद्, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि, प्रच्छ् + सन/क्त्वा = कितवत

कित्

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च ॥१।२।८॥

रुद······प्रच्छः ५।१॥ सन् १।१॥ च अ० ॥ स०—रुदश्च, विदश्च, मुषश्च ग्रहिश्च, स्वपिश्च, प्रट् च रुदविद······प्रट्, तस्मात् रुद······प्रच्छः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—क्त्वा, कित् ॥ अर्थः—'रुदिर् अश्रुविमोचने' (अदा० प०), 'विद ज्ञाने' (अदा० प०), 'मुष स्तेये' (क्र्या० प०), 'ग्रह उपादाने' (क्र्या० उ०), 'ञिष्वप् शये' (अदा० प०), 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' (तुदा० प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परौ क्त्वासनौ प्रत्ययौ किद्वद् भवतः ॥ उदा०—रुदित्वा, रुरुदिषति । विदित्वा, विविदिषति । मुषित्वा, मुमुषिषति । गृहीत्वा, जिघृक्षति । सुप्त्वा, सुषुप्सति । पृष्ट्वा, पिपृच्छिषति ॥

भावार्थः—[रुद······प्रच्छः] रुद, विद, मुष, ग्रह, स्वप तथा प्रच्छ इन धातुओं से परे [सन्] सन् [च] और क्त्वा प्रत्यय कित्वत् होते हैं। रुद विद मुष इन धातुओं को रलो व्युपधा० (१।२।२६) से विकल्प से कित्वत् प्राप्त था, नित्यार्थ यह वचन है। ग्रह का ग्रहण विध्यर्थ है। स्वप प्रच्छ धातु अनिट् हैं। सो इन्हें १।२।१८ से कित् का निषेध प्राप्त ही नहीं था, पुनः इनसे उत्तर क्त्वा को कित् करना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो कित् है ही। तब इनका ग्रहण सन् को कित् करने के लिये ही है, न कि क्त्वा को कित् करने के लिए, ऐसा जानना चाहिये ॥

यहां से 'सन्' की अनुवृत्ति १।२।१० तक जायेगी ॥

इ, उ, ऋ, ऌ - अन्त + झल्-आदि = कितवत

इको झल् ॥१।२।९॥

इकः ५।१॥ झल् १।१॥ अनु०—सन्, कित् ॥ अर्थः—इगन्ताद् धातोः परो झलादिः सन् किदवद् भवति ॥ उदा०—चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीर्षति, जिहीर्षति ॥

भावार्थः—[इकः] इक् अन्तवाले धातु से परे [झल्] झलादि सन् कित्वत् होता है॥

कित्

यहां से 'इकः' की अनुवृत्ति १।२।११, तथा 'झल्' की अनुवृत्ति १।२।१३ तक जायेगी ॥

इ, उ, ऋ, ऌ — हलन्त + झल् = कितवत

हलन्ताच्च १।२।१०॥

हलन्तात् ५।१॥ च० अ० ॥ स०—हल् चासौ अन्तश्च हलन्तः तस्मात् हलन्तात्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—इको झल्, सन्, कित् ॥ अर्थः—इकः समीपो यो हल् तस्मात् परो झलादिः सन् किद्वद् भवति ॥ अन्तशब्दोऽत्र समीपवाची ॥ उदा०—बिभित्सति, बुभुत्सते ॥

भाषार्थः—इक् के [हलन्तात्] समीप जो हल् उससे परे [च] भी झलादि सन् कित्वत् होता है ॥ यहां अन्त शब्द समीपवाची है, अवयववाची नहीं ॥

यहां से 'हलन्तात्' की अनुवृत्ति १।२।११ तक जायेगी ॥

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ॥१।२।११॥

लिङ्सिचौ १।२॥ आत्मनेपदेषु ७।३॥ स०—लिङ् च सिच् च लिङ्सिचौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—हलन्तात्, इको झल्, कित् ॥ अर्थः—इकः समीपाद् हलः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—भित्सीष्ट, भुत्सीष्ट । सिच्—अभित्त, अबुद्ध ॥

भाषार्थः—इक् के समीप जो हल् उससे परे झलादि [लिङ्सिचौ] लिङ् और सिच् [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद विषय में कित्वत् होते हैं ॥

यहां से 'लिङ्सिचौ' की अनुवृत्ति १।२।१३ तक, तथा आत्मनेपदेषु की १।२।१७ तक जायेगी ॥

उश्च ॥१।२।१२॥

उः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु, झल्, कित् ॥ अर्थः—ऋवर्णान्ताद्धातोः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—कृषीष्ट, हृषीष्ट । सिच्—अकृत, अहृत ॥

भाषार्थः—[उः] ऋवर्णान्त धातुओं से परे [च] भी झलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद विषय में कित्वत् होते हैं ॥ सब सिद्धियां परि० १।२।११ के समान जानें । कित्वत् होने से ७।३।८४ से प्राप्त गुण का निषेध पूर्ववत् हो जाता है । अकृत अहृत में सिच् के सकार का लोप ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से होता है ॥

उदा०—लिङ्—कृषीष्ट (वह करे), हृषीष्ट (वह हरण करे) । सिच्—अकृत (उसने किया), अहृत (उसने हरण किया) ॥

वा गमः ॥१।२।१३॥

वा अ० ॥ गमः ५।१॥ अनु०—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु, झल्, कित् ॥ अर्थः—गम्धातोः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये विकल्पेन किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—संगसीष्ट, संगंसीष्ट । सिच्—समगत, समगंस्त ॥

भाषार्थः—[गमः] गम् धातु से परे झलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद विषय में [वा] विकल्प से कित्वत् होते हैं ॥

हनः सिच् ॥१।२।१४॥

हनः ५।१॥ सिच् १।१॥ अनु०—आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—हन्धातोः परः सिच् आत्मनेपदविषये किद्वद् भवति ॥ उदा०—आहत, आहसाताम्, आहसत ॥

भाषार्थः—(हनः) हन् धातु से परे [सिच्] सिच् आत्मनेपदविषय में कित्-वत् होता है ॥

आहत में समगत के समान ही कित्वत् होने से अनुनासिकलोप होकर ८।२।२७ से सिच् के सकार का लोप हुआ है । आङो यमहनः (१।३।२८) सूत्र से हन् धातु से आत्मनेपद हो जायेगा । आहसत में 'झ' को अत् आदेश आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से हो जाता है ॥ उदा०—आहत (उसने मारा), आहसाताम्, आहसत ॥

यहाँ से 'सिच्' की अनुवृत्ति १।२।१७ तक जायेगी ॥

यमो गन्धने ॥१।२।१५॥

यमः ५।१॥ गन्धने ७।१॥ अनु०—सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—गन्धनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम् धातोः परः सिच् आत्मनेपदविषये किद्वद् भवति ॥ गन्धनं= सूचनम्, परस्य दोषाविष्करणम् ॥ उदा०—उदायत, उदायसाताम्, उदायसत ॥

भाषार्थः—[गन्धने] गन्धन अर्थ में वर्तमान [यमः] यम् धातु से परे आत्मने-पद विषय में सिच् प्रत्यय कित्वत् होता है ॥ गन्धन चुगली करने को कहते हैं ॥

उदायत, यहाँ पर भी कित् करने का प्रयोजन अनुनासिकलोप करना ही है । तदनन्तर सिच् के सकार का लोप पूर्ववत् ही हो जायेगा । आत्मनेपद भी आङो यमहनः (१।३।२८) से हो जाता है । उत् आङ् यम् सिच् त=उदायस्त=उदा-यत (उसने चुगली की) बन गया ॥

यहाँ से 'यमः' की अनुवृत्ति १।२।१६ तक जायेगी ॥

विभाषोपयमने ॥१।२।१६॥

विभाषा १।१॥ उपयमने ७।१॥ अनु०—यमः, सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—उपयमनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम् धातोः परः सिच् प्रत्ययः आत्मनेपदविषये विकल्पेन किद्-वद् भवति ॥ उपयमनं पाणिग्रहणम् ॥ उदा०—उपायत कन्याम्, उपायंस्त कन्याम् ॥

भाषार्थः—[उपयमने] उपयमन अर्थ में वर्त्तमान यम् धातु से परे आत्मनेपद विषय में सिच् प्रत्यय [विभाषा] विकल्प करके कित्वत् होता है ॥ उपयमन विवाह करने को कहतेहैं ॥

उप आङ् पूर्वक 'उपायत' तथा 'उपायंस्त' की सिद्धि 'समगत समगंस्त' के समान परि० १।२।१३ में देखें। कित् पक्ष में अनुनासिकलोप, तथा सिच् के सकार का लोप होकर—उपायत कन्याम् (उसने कन्या से विवाह किया), तथा अकित् पक्ष में उपायंस्त कन्याम् बनेगा ॥

स्थाघ्वोरिच्च ॥१।२।१७॥

स्थाघ्वोः ६।२॥ इत् १।१॥ च अ० ॥ स०—स्थाश्च घुश्च स्थाघू, तयोः स्थाघ्वोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—स्थाधातोः घुसंज्ञकेभ्यश्च परः सिच् किद्वद् भवति, इकारश्चान्त्यादेशः ॥ उदा०—उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत । घुसंज्ञकानाम्—अदित, अधित ॥

भाषार्थः—[स्थाघ्वोः] स्था तथा घुसंज्ञक धातुओं से परे सिच् कित्‌वत् होता है, और [इत्] इकारादेश [च] भी हो जाता है ॥

न क्त्वा सेट् ॥१।२।१८॥

न अ० ॥ क्त्वा लुप्तविभक्तिकनिर्देशः ॥ सेट् १।१॥ स०—सह इटा सेट्, तेन सहेति० (२।२।२८) इति बहुव्रीहिसमासः ॥ अनु०—कित् ॥ अर्थः—सेट् क्त्वाप्रत्ययः किन्न भवति ॥ उदा०—देवित्वा, वर्त्तित्वा, वर्धित्वा ॥

भाषार्थः—[सेट्] सेट् [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय कित् [न] नहीं होता है ॥ कित् का निषेध करने से ७।३।८६ से गुण हो जाता है, अन्यथा क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जाता। दिव् इट् क्त्वा=देवित्वा (क्रीड़ा करके), वृत् इट् क्त्वा=वर्त्तित्वा (बरत कर), वृध् इट् क्त्वा=वर्धित्वा (बढ़कर) बनेंगे ॥

यहां से 'न' 'सेट्' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जायेगी ॥

निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ॥१।२।१९॥

निष्ठा १।१॥ शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ५।१॥ स०—शीङ् च स्विदिश्च मिदिश्च क्ष्विदिश्च धृट् च, शीङ्…धृट्, तस्मात् शीङ्…धृषः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—न सेट्, कित् ॥ अर्थः—शीङ् स्वप्ने (अदा० आ०), ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे (दिवा० प०), ञिमिदा स्नेहने (दिवा० प०), ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः (दिवा० प०), ञिधृषा प्रागल्भ्ये (स्वा० प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् निष्ठाप्रत्ययः कित् न भवति ॥

उदा०—शयितः शयितवान्, प्रस्वेदितः प्रस्वेदितवान्, प्रमेदितः प्रमेदितवान्, प्रक्ष्वेदितः प्रक्ष्वेदितवान्, प्रधर्षितः प्रधर्षितवान् ॥

भाषार्थः—[शीङ्……धृषः] शीङ्, स्विद्, मिद्, क्ष्विद् तथा धृष् धातुओं से परे सेट् [निष्ठा] निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता है ॥

निष्ठाप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धियां परि० १।१।५ में दर्शाई हैं,उसी प्रकार यहां भी जानें। सेट् होने से सर्वत्र इट् आगम ७।२।३५ से हो जाता है। कित् निषेध करने का सर्वत्र यही प्रयोजन है कि ७।३।८६ से प्राप्त गुण हो जाय, अन्यथा १।१।५ से निषेध हो जाता ॥

उदा०—शयितः (सोया हुआ) शयितवान् (वह सोया), प्रस्वेदितः (पसीने से भीगा हुआ) प्रस्वेदितवान् (वह पसीने से भीगा), प्रमेदितः (स्नेह किया हुआ) प्रमेदितवान् (उसने स्नेह किया), प्रक्ष्वेदितः (स्नेह किया हुआ) प्रक्ष्वेदितवान् (उसने स्नेह किया), प्रधर्षितः (ढीठ बना हुआ) प्रधर्षितवान् (उसने ढिठाई की) ॥

यहां से "निष्ठा" की अनुवृत्ति १।२।२२ तक जाती है ॥

मृषस्तितिक्षायाम् ॥१।२।२०॥

मृषः ५।१॥ तितिक्षायाम् ७।१॥ अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित्। अर्थः—तितिक्षायामर्थे वर्त्तमानात् मृष्धातोः परः सेट् निष्ठाप्रत्ययो न किद् भवति ॥ तितिक्षा =क्षमा ॥ उदा०—मर्षितः, मर्षितवान् ॥

भाषार्थः—[तितिक्षायाम्] क्षमा अर्थ में वर्त्तमान [मृषः] मृष धातु से परे सेट् निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता ॥

उदा०—मर्षितः (क्षमा किया हुआ) मर्षितवान् (उसने क्षमा किया)। पूर्ववत् कित् निषेध होने से गुण हो जाता है ॥

उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् ॥१।२।२१॥

उदुपधात् ५।१॥ भावादिकर्मणोः ७।२॥ अन्यतरस्याम् अ०॥ स०—उत् उपधा यस्य स उदुपधः, तस्मात् उदुपधात्, बहुव्रीहिः। आदि चासौ कर्म आदिकर्म, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। भावश्च आदिकर्म च भावादिकर्मणी, तयोः भावादिकर्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित्॥ अर्थः—उदुपधाद्धातोः परो भावे आदिकर्मणि च वर्त्तमानः सेट् निष्ठाप्रत्ययोऽन्यतरस्याम्=विकल्पेन कित् न भवति॥ उदा०—भावे—द्योतितमनेन, द्युतितमनेन। मोदितमनेन, मुदितमनेन॥ आदिकर्मणि—प्रद्योतितः, प्रद्युतितः। प्रमोदितः, प्रमुदितः॥

भाषार्थः—[उदुपधात्] उकार जिसकी उपधा है, ऐसी धातु से परे [भावादिकर्मणोः] भाववाच्य तथा आदिकर्म में वर्त्तमान जो सेट् निष्ठा प्रत्यय वह [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ आदिकर्म क्रिया की प्रारम्भिक अवस्था को कहते हैं ॥ उदा०—द्योतितमनेन (यह प्रकाशित हुआ) द्युतितमनेन । मोदितमनेन (यह प्रसन्न हुआ) मुदितमनेन । आदिकर्म में—प्रद्योतितः (प्रकाशित होना आरम्भ हुआ) प्रद्युतितः । प्रमोदितः (प्रसन्न होने लगा) प्रमुदितः ॥

द्युत् तथा मुद् उकारोपध धातुएं हैं। सो कित् निषेध पक्ष में गुण,तथा कित् पक्ष में गुण निषेध हो जाता है । नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४) से भाव में क्त प्रत्यय हुआ है, तथा आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या (वा० ३।२।१०२) इस वार्त्तिक से आदिकर्म को कहने में क्त प्रत्यय हुआ है । भाव, कर्म, कर्त्ता की विशेष व्याख्या भावकर्मणोः (१।३।१३) सूत्र पर देखें ॥

पूङः क्त्वा च ॥१।२।२२॥

पूङः ५।१॥ क्त्वा लुप्तविभक्तिकः ॥ च अ० ॥ अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित्॥ अर्थः—पूङ् पवने (भ्वा० आ०) अस्माद् धातोः परः सेट् निष्ठा क्त्वा च कित् न भवति ॥ उदा०—पवितः पवितवान् । पवित्वा ॥

भाषार्थः—[पूङः] पूङ् धातु से परे सेट् निष्ठा, तथा सेट् [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय [च] भी कित् नहीं होता है ॥

उदा०—पवितः (पवित्र किया हुआ) पवितवान् (पवित्र किया) । पवित्वा (पवित्र करके) ॥

पवितः आदि में पूङश्च (७।२।५१) से इट् आगम पक्ष में होता है । सो सेट् पक्ष में कित् निषेध होने से गुण होकर 'पवितः' आदि रूप बनेंगे । तथा जिस पक्ष में इट् आगम नहीं होगा, उस पक्ष में कित् निषेध नहीं होगा । सो गुण का निषेध होकर पूत पूतवान् तथा पूत्वा रूप भी बनते हैं ॥

यहां से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जाती है ॥

नोपधात्थफान्ताद्वा ॥१।२।२३॥

नोपधात् ५।१॥ थफान्तात् ५।१॥ वा अ० ॥ स०—न उपधा यस्य स नोपधः, तस्माद्, बहुव्रीहिः। थश्च फश्च थफौ, थफौ अन्ते यस्य स थफान्तः, तस्मात्···द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—क्त्वा, न सेट्, कित् ॥ अर्थः—नकारोपधाद् थकारान्ताद् फकारान्ताच्च धातोः परः सेट् क्त्वा प्रत्ययो वा न किद् भवति ॥ उदा०—ग्रथित्वा ग्रन्थित्वा, श्रथित्वा श्रन्थित्वा । गुफित्वा गुम्फित्वा ॥

भावार्थः—[नोपधात्] नकार उपधावाली धातुयें यदि वे [थफान्तात्] थकारान्त और फकारान्त हों, तो उनसे परे जो सेट् क्त्वा प्रत्यय वह [वा] विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ न क्त्वा सेट् (१।२।१८) से नित्य ही कित्त्व निषेध प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है ॥

उदा०—ग्रथित्वा (बांधकर) ग्रन्थित्वा; श्रथित्वा (छूट कर) श्रन्थित्वा, गुफित्वा (गूंथकर) गुम्फित्वा ॥

ग्रन्थ श्रन्थ धातुयें नकारोपध तथा थकारान्त हैं, सो कित् पक्ष में अनिदितां हल० (३।४।२४) से अनुनासिक लोप होगा। तथा अकित् पक्ष में नहीं होगा। इसी प्रकार गुन्फ धातु नकारोपध तथा फकारान्त है, उसमें भी ऐसे ही जानें ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जायेगी ॥ ऋत नथ फ + सेट् क्त्वा = वा कित्

कित् वा

वञ्चिलुञ्च्यृतश्च ॥१।२।२४॥

वञ्चिलुञ्च्यृतः ५।१॥ च अ० ॥ स०—वञ्चिश्च लुञ्चिश्च ऋत् च वञ्चि-लुञ्च्यृत्, तस्मात् ....समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ॥

अर्थः—वञ्चु प्रलम्भने (चुरा० आ०), लुञ्च अपनयने (भ्वा० प०), ऋत् सौत्रो धातुः घृणायाम्, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् क्त्वा वा न किद् भवति ॥ उदा०—वचित्वा वञ्चित्वा। लुचित्वा लुञ्चित्वा। ऋतित्वा अर्तित्वा ॥

भावार्थः—[वञ्चि... तः] वञ्चु, लुञ्च, ऋत् इन धातुओं से परे [च] भी सेट् क्त्वा विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ पूर्ववत् सेट् क्त्वा को कित्त्व निषेध प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है ॥

उदा०—वचित्वा (ठगकर) वञ्चित्वा। लुचित्वा (दूर करके) लुञ्चित्वा। ऋतित्वा (घृणा करके) अर्तित्वा ॥

कित् पक्ष में वञ्च लुञ्च के अनुनासिक का पूर्ववत् लोप होगा, तथा अकित् पक्ष में नहीं होगा। ऋत् धातु को भी कित् पक्ष में गुण निषेध, एवं अकित् पक्ष में गुण होगा, ऐसा जानना चाहिये ॥ वचित्वा वञ्चित्वा में इट् आगम उदितो वा (७।२।५६) से होता है ॥

कित् वा

तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य ॥१।२।२५॥

तृषिमृषिकृशेः ५।१॥ काश्यपस्य ६।१॥ स०—तृषिश्च मृषिश्च कृशिश्च तृषि-मृषिकृशिः, तस्मात्...समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ॥ अर्थः—ञितृष पिपासायाम् (दिवा० प०), मृष तितिक्षायाम् (दिवा० उ०), कृश तनूकरणे

(दिवा० प०), इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् क्त्वा वा न किद् भवति, काश्यपस्याचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—तृषित्वा तर्षित्वा । मृषित्वा मर्षित्वा । कृशित्वा कर्शित्वा ॥

भाषार्थ—[तृषिमृषिकृशेः] तृष मृष कृश इन धातुओं से परे सेट् क्त्वा प्रत्यय [काश्यपस्य] काश्यप आचार्य के मत में विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ काश्यप ग्रहण पूजार्थ है ॥

उदा०—तृषित्वा (प्यासा होकर) तर्षित्वा । मृषित्वा (सहन करके) मर्षित्वा । कृशित्वा (छीलकर या पतला करके) कर्शित्वा ॥ सर्वत्र कित् पक्ष में गुण निषेध, तथा अकित् पक्ष में गुण होता है ॥

रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ॥१।२।२६॥

रलः ५।१॥ व्युपधात् ५।१॥ हलादेः ५।१॥ सन् १।१॥ च अ०॥ स०—उश्च इश्च वी (इको यणचि ६।१।७४ इत्यनेन यणादेशः), वी उपधे यस्य स व्युपधः, तस्मात्...... द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । हल् आदिर्यस्य स हलादिः, तस्मात्......बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ॥ अर्थः—उकारोपधाद् इकारोपधाच्च रलन्ताद्धलादेः धातोः परः सेट् सन्, सेट् क्त्वा च वा कितौ न भवतः ॥ उदा०—द्युतित्वा द्योतित्वा । लिखित्वा लेखित्वा । दिद्युतिषते, दिद्योतिषते । लिलिखिषति लिलेखिषति ॥

भाषार्थः—[व्युपधात्] उकार इकार उपधावाली [रलः] रलन्त एवं [हलादेः] हलादि धातुओं से परे सेट् [सन्] सन [च] और सेट् क्त्वा प्रत्यय विकल्प से कित् नहीं होते हैं ॥

उदा०—द्युतित्वा (प्रकाशित होकर) द्योतित्वा । लिखित्वा (लिखकर) लेखित्वा । दिद्युतिषते (प्रकाशित होना चाहता है) दिद्योतिषते । लिलिखिषति (लिखना चाहता है) लिलेखिषति ॥

'द्युत दीप्तौ' (भ्वा० आ०) तथा 'लिख अक्षरविन्यासे' (तुदा० प०) ये धातुएं उकार इकार उपधावाली, रलन्त तथा हलादि भी हैं । सो इनसे परे सेट् सन् और सेट् क्त्वा को कित्व विकल्प से हो गया है । कित् पक्ष में गुण निषेध, एवं अकित् पक्ष में पूर्ववत् गुण भी हो जायेगा ॥

सिद्धि सारी पूर्ववत् ही समझें । सन्नन्त की सिद्धि परि० १।२।८ के समान जानें । हाँ, दिद्युतिषते में 'द्युत् द्युत्' द्वित्व होने पर द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७।४।६७) से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर—'दि उ त् द्युत् इट् स अ त' = सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर, और हलादि शेष होकर दिद्युतिषते बन गया है, ऐसा जानें ॥

ह्रस्व दीर्घ प्लुत

उ ह्रस्व
ऊ दीर्घ
ऊ३ प्लुत

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ॥१।२।२७॥

ऊकालः १।१॥ अच् १।१॥ ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।१॥ उ, ऊ उ३ काल इति (अकः सवर्णे दीर्घः ७।१।६७ इत्यनेन त्रयाणामुकाराणां दीर्घत्वम्) ऊकालः। कालशब्दः प्रत्येकमुकारं प्रति सम्बध्यते—उकालः, ऊकालः, उ३काल इति ॥ स०—उश्च ऊश्च उ३श्चेति वः, वां काल इव कालो यस्य स ऊकालः, बहुव्रीहिः। ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च ह्रस्वदीर्घप्लुतः, समाहारो द्वन्द्वः। पुंल्लिङ्गनिर्देशस्तु ज्ञापकः क्वचित् समाहारेऽपि नपुंसकत्वाभावस्य ॥ **अर्थः**—उ ऊ उ३ इत्येवंकालो योऽच् स यथासङ्ख्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञको भवति ॥ उदा०—ह्रस्वः— दधिच्छत्रम्, मधुच्छत्रम्। दीर्घः—कुमारी, गौरी। प्लुतः—देवदत्त३ अत्र न्वसि ॥

भाषार्थः - [ऊकालः] उकाल = एकमात्रिक, ऊकाल = द्विमात्रिक, तथा उ३-काल = त्रिमात्रिक [अच्] अच् की यथासङ्ख्य करके [ह्रस्वदीर्घप्लुतः] ह्रस्व दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है। अर्थात् एकमात्रिक की ह्रस्व, द्विमात्रिक की दीर्घ, तथा त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा होती है ॥

यहां सूत्र में 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' में नपुंसकलिङ्ग होना चाहिये था। पुंलिङ्ग-निर्देश से ज्ञापित होता है कि कहीं-कहीं समाहारद्वन्द्व में भी नपुंसकलिङ्ग का अभाव होता है ॥

यहां से 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' की अनुवृत्ति १।२।२८ तक, तथा 'अच्' की १।२।३१ तक जाती है ॥

ह्रस्वदीर्घप्लुत

अचश्च ॥१।२।२८॥

अचः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—अच् ह्रस्वदीर्घप्लुतः ॥ परिभाषेयं स्थानि-नियमार्था ॥ **अर्थः**—ह्रस्व दीर्घ प्लुत इत्येवं विधीयमानो योऽच्, स अचः एव स्थाने भवति ॥ उदा०—अतिरि, अतिनु, उपगु ॥

भावार्थः -यह परिभाषासूत्र है स्थानी का नियम करने के लिये ॥ ह्रस्व हो जाये, दीर्घ हो जाये, प्लुत हो जाये, ऐसा नाम लेकर जब कहा जावे, तो [च] वह पूर्वोक्त ह्रस्व दीर्घ प्लुत [अचः] अच् के स्थान में ही हों ॥ अतिरि आदि की सिद्धि परि० १।१।४७ में देखें ॥ जब ह्रस्वो नपुंसक० (१।२।४७) से ह्रस्व प्राप्त होता है, तो यह परिभाषा उपस्थित हो जाती है। अतः अजन्त प्रातिपदिक के ही अन्तिम अच् का ह्रस्व होता है, हलन्त 'सुवाग्' आदि का नहीं ॥

[स्वर-प्रकरणम्]

उच्चैरुदात्तः ॥१।२।२९॥

उच्चैः प्र० ॥ उदात्तः १।१॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—ताल्वादिषु हि भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते, तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति ॥ अत्र महाभाष्यकार आह—"आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामः=गात्राणां निग्रहः । दारुण्यम्=स्वरस्य दारुणता रूक्षता । अणुता खस्य=कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य" ॥ उदा०—<u>औ</u>प<u>ग</u>वः, ये, ते, के ॥

भाषार्थः—ताल्वादि स्थानों से वर्णों का उच्चारण होता है, उन स्थानों में जो ऊर्ध्व भाग हैं, उन [उच्चैः] ऊर्ध्व भागों से उच्चरित जो अच्, वह [उदात्तः] उदात्तसंज्ञक होता है ॥

यहां महाभाष्यकार कहते हैं कि—"आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य" । आयामः=शरीर के सब अवयवों को सख्त कर लेना । दारुण्यं=स्वर में रूखाई होना । अणुता खस्य=कण्ठ को संकुचित कर लेना । ऐसे-ऐसे यत्नों से बोले जानेवाला जो अच्, वह उदात्तसंज्ञक होता है ॥ प्रायः वेद में उदात्त स्वर का कोई चिह्न नहीं होता है ॥

नीचैरनुदात्तः ॥१।२।३०॥

नीचैः प्र० ॥ अनुदात्तः १।१॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—समाने स्थाने नीच-भागे=अधरभागे निष्पन्नो योऽच् सोऽनुदात्तसंज्ञको भवति ॥ अत्रापि महाभाष्यकार आह—"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । अन्ववसर्गः=गात्राणां शिथिलता । मार्दवं=स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । उरुता खस्य=महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ।" उदा०—नमस्<u>ते</u> <u>दे</u>व<u>द</u>त्त, त्व, सम, सिम ॥

भाषार्थः—ताल्वादि स्थानों में जो [नीचैः] नीचे भागों से बोला जानेवाला अच् वह [अनुदात्तः] अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥

यहां भी महाभाष्यकार कहते हैं—"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ।" अन्ववसर्गः=शरीर के अवयवों को ढीले कर देना । मार्दवं=स्वर को मृदु कोमल करके बोलना । उरुता खस्य=कण्ठ को फैला करके बोलना । इन-इन प्रयत्नों

से बोले जानेवाला अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥ अनुदात्त स्वर का चिह्न सामान्यतया नीचे पड़ी रेखा होती है ॥

स्वरित

समाहारः स्वरितः ॥१।२।३१॥

समाहारः १।१॥ स्वरितः १।१॥ समाहारः इत्यत्र सम्आङ्पूर्वात् हृञ्धातोः घञ् प्रत्ययः, समाहरणं समाहारः। पश्चात् समाहारोऽस्मिन्नस्तीति समाहारः, अर्शआदिभ्योऽच् (५।२।१२७) इत्यनेन मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः ॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—उदात्तानुदात्तगुणयोः समाहारो यस्मिन्नचि सोऽच् स्वरितसंज्ञको भवति ॥ उदा०—क्व॑, शि॒क्य॑म्, क॒न्या॑, सा॒म॒न्य॑ः ॥

भावार्थः—[समाहारः] जिस अच् में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों गुणों का समाहार हो, अर्थात् थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दोनों गुण मिले हों, ऐसा अच् [स्वरितः] स्वरितसंज्ञक होता है ॥

स्वरित का चिह्न सामान्यतया ऊपर खड़ी रेखा होती है ॥

स्वरित

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् ॥१।२।३२॥

तस्य ६।१॥ आदितः अ० ॥ उदात्तम् १।१॥ अर्धह्रस्वम् १।१॥ स०—अर्धं ह्रस्वस्य अर्धह्रस्वम्, अर्धं नपुंसकम् (२।२।२) इत्यनेन तत्पुरुषसमासः ॥ तस्येति सापेक्षकं पदं स्वरित इत्येतमनुकर्षति । 'आदितः' इत्यत्र तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् (वा० ५।४।४४) इत्यनेन वार्त्तिकेन तसिः प्रत्ययः, तद्धितश्चास० (१।१।३७) इत्यनेनाव्ययत्वम् । अर्धह्रस्वमात्रम् अर्धह्रस्वम्, मात्रचोऽत्र प्रमाणे लो वक्तव्यः(वा० ५।२।३७) इत्यनेन वार्त्तिकेन लोपो द्रष्टव्यः ॥ अर्थः—तस्य स्वरितस्यादौ अर्धह्रस्वम् उदात्तं भवति, परिशिष्टमनुदात्तम् ॥ उदा०—क्व॑, क॒न्या॑ ॥

भावार्थः—[तस्य] उस स्वरित गुणवाले अच् के [आदितः] आदि की [अर्द्धह्रस्वम्] आधी मात्रा [उदात्तम्] उदात्त, और शेष अनुदात्त होती है ॥

जिस प्रकार दूध और पानी मिला देने पर पता नहीं लगता कि कहाँ पर पानी वा कहाँ पर दूध है, तथा कितना पानी वा कितना दूध है. इसी प्रकार यहाँ उदात्त तथा अनुदात्त मिश्रित गुणवाले अच् की स्वरित संज्ञा कही है। तो पता नहीं लगता कि कहाँ पर उदात्त वा कहाँ अनुदात्त है, तथा कितना उदात्त वा कितना अनुदात्त है। तो इस सूत्र में पाणिनि आचार्य इस सन्देह का निवारण करते हैं ॥

क्व के स्वरित अच् 'अ' में आदि की आधी मात्रा उदात्त, तथा शेष आधी

अनुदात्त है। कन्या के 'आ' में आदि की आधी मात्रा उदात्त, तथा शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त रहेगी ॥ कर्त्र तथा कन्या की सिद्धि परि० १।२।३१ में देखें ॥

एकश्रुति

एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ ॥१।२।३३॥

एकश्रुति १।१॥ दूरात् ५।१॥ सम्बुद्धौ ७।१॥ स०—एका श्रुतिः श्रवणं यस्य तत् एकश्रुति, बहुव्रीहिः ॥ श्रवणं श्रुतिः। सम्यग् बोधनं सम्बुद्धिः ॥ **अर्थः**—दूरात् सम्बोधने वाक्यम् एकश्रुति भवति॥ यत्रोदात्तानुदात्तस्वरितानां स्वराणां भेदो न लक्ष्यते स एकश्रुतिस्वरः ॥ **उदा०**—आगच्छ भो माणवक देवदत्त३। अत्रोदात्तानुदात्तस्वरितस्वराः पृथक्-पृथक् नोच्चारिता भवन्ति ॥

भाषार्थः—[दूरात्] दूर से [सम्बुद्धौ] सम्बोधन=बुलाने में वाक्य [एकश्रुति] एकश्रुति हो जाता है, अर्थात् वाक्य में पृथक्-पृथक् उदात्त-अनुदात्त-स्वरित स्वरों का श्रवण न होकर, एक ही प्रकार का स्वर सुनाई देता है ॥

यहां सम्बुद्धि पद से एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९) वाला सम्बुद्धि नहीं लेना है, अपितु 'सम्यग् बोधनं सम्बुद्धिः'=भली प्रकार किसी को बुलाना लिया गया है॥

आगच्छ भो माणवक देवदत्त३ (ऐ लड़के देवदत्त आ), यहां उदात्त अनुदात्त स्वरित तीनों स्वर हटकर एकश्रुति हो गई है ॥ एकश्रुति स्वर का कोई चिह्न नहीं होता ॥

यहां से 'एकश्रुति' की अनुवृत्ति १।२।३९ तक जायेगी ॥

एकश्रुति

[1]यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु ॥१।२।३४॥

यज्ञकर्मणि ७।१॥ अजपन्यूङ्खसामसु ७।३॥ स०—यज्ञस्य कर्म यज्ञकर्म, तस्मिन् यज्ञकर्मणि, षष्ठीतत्पुरुषः। जपश्च न्यूङ्खश्च साम च जपन्यूङ्खसामानि, न जपन्यूङ्खसामानि अजपन्यूङ्खसामानि, तेष्वजपन्यूङ्खसामसु, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ **अनु०**—एकश्रुति ॥ **अर्थः**—यज्ञकर्मणि उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणामेकश्रुतिर्भवति, जपन्यूङ्खसामानि वर्जयित्वा ॥ जप उपांशुप्रयोगः। न्यूङ्खा निगदविशेषाः, आश्वलायनश्रौतसूत्रे ७।११ व्याख्यातास्तत्र द्रष्टव्याः ॥ **उदा०**—समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयता-

---

१. किसी भी यज्ञ में वेदमन्त्रों द्वारा कर्म किया जावे, तो मन्त्रों के उच्चारण में एकश्रुति का विधान समझना चाहिये, जप न्यूङ्ख तथा साममन्त्रों को छोड़कर। अतः जो लोग यज्ञ में मन्त्रों का स्वरसहित उच्चारण करके कर्म करने की बात कहते हैं, उन का कथन इस शास्त्रवचन से माननीय नहीं हो सकता ॥

तिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ यजु० ३।१॥ अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वतो३म् ॥ यजु० ३।१२॥ अत्रैकश्रुतिरभूत् ॥

भाषार्थः—[यज्ञकर्मणि] यज्ञकर्म में उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों को एकश्रुति हो जाती है, [अजपन्यूङ्खसामसु] जप न्यूङ्ख तथा साम को छोड़कर ॥ 'जप' ऐसे बोलने को कहते हैं, जिसमें पास बैठे व्यक्ति को भी सुनाई न दे । 'न्यूङ्ख' आश्वलायन श्रौतसूत्र (७।११) में पढ़े हुये निगदविशेष हैं । 'साम' सामवेद के गान को कहते हैं ॥

यहां से 'यज्ञकर्मणि' की अनुवृत्ति १।२।३५ तक जायेगी ॥

उच्चैस्तरां वा वषट्कारः ॥१।२।३५॥

उच्चैस्तराम् अ० ॥ वा अ० ॥ वषट्कारः १।१॥ उच्चैः इत्यनेन उदात्तो गृह्यते, अयमुदात्तोऽयमुदात्तोऽयमनयोरतिशयेनोदात्तः=उच्चैस्तराम्, द्विवचनविभ० (५।३।५७) इत्यनेन तरप्प्रत्ययः, ततः किमेत्तिङ० (५।४।११) इति आम् ॥ अनु०—यज्ञकर्मणि, एकश्रुति ॥ अर्थः—यज्ञकर्मणि वषट्कारउच्चैस्तरां=उदात्ततरो विकल्पेन भवति, पक्षे एकश्रुतिर्भवति ॥ वषट्कारशब्देनात्र वौषट् शब्दो गृह्यते । यद्येवं वौषड्ग्रहणमेव कस्मान्न कृतम् ? वैचित्र्यार्थम् । विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः ॥ उदा०—सोमस्याग्ने वीही३ वौ३षट् । पक्षे एकश्रुतिः—सोमस्याग्ने वीही३वौ३षट् ॥

भाषार्थः—यज्ञकर्म में [वषट्कारः] वषट्कार अर्थात् वौषट् शब्द [उच्चैस्तराम्] उदात्ततर [वा] विकल्प से होता है, पक्ष में एकश्रुति हो जाती है ॥ पूर्वसूत्र से यज्ञकर्म में नित्य ही एकश्रुति प्राप्त थी, सो विकल्प से उदात्ततर विधान कर दिया ॥

विभाषा[1] छन्दसि ॥१।२।३६॥

विभाषा १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थः—छन्दसि विषये उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणामेकश्रुतिर्भवति विकल्पेन, पक्षे त्रैस्वर्यमेव ॥ उदा०—

---

१. यहां यह बात समझ लेने की है कि यज्ञकर्म से अतिरिक्त वेदमन्त्रों के सामान्य उच्चारण (स्वाध्याय) में प्रकृत सूत्र के विधान से उदात्त अनुदात्त स्वरित इन तीनों स्वरों से, तथा एकश्रुति (बिना स्वर के) भी बोला जा सकता है । इससे जो लोग समझते हैं। कि वेदमन्त्रों को स्वर से ही बोला जा सकता है, तो ऐसी बात नहीं। क्योंकि प्रकृत सूत्र में वेदमन्त्रों के उच्चारण के सम्बन्ध में दोनों ही पक्ष स्वीकार किये हैं, अर्थात् स्वर से बोलें अथवा एकश्रुति=तीनों स्वर रहित बोलें ॥

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋक्० १।१।१॥ इष त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो व: सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण० ॥ यजु० १।१॥ अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि ॥ साम०१।१।१॥ ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ अथर्व० १।१।१॥

भाषार्थ:—[छन्दसि] वेदविषय में तीनों स्वरों को [विभाषा] विकल्प से एकश्रुति हो जाती है, पक्ष में तीनों स्वर भी होते हैं ॥ इस सूत्र में यज्ञकर्म की अनुवृत्ति नहीं आ रही है। अतः वेद के सामान्य उच्चारण (स्वाध्यायकाल) के समय का यह विधान है। यज्ञकर्म में एकश्रुति १।२।३४ सूत्र से होती है। पक्ष में जब तीनों स्वर होते हैं, तब क्या स्वर कहां पर होगा, यह सब परिशिष्ट में देखें ॥

तीनों स्वर **न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ॥१।२।३७॥**

न अ० ॥ सुब्रह्मण्यायाम् ७।१॥ स्वरितस्य ६।१॥ तु अ० ॥ उदात्तः १।१॥ अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थ:—सुब्रह्मण्यायां निगदे एकश्रुतिर्न भवति, किन्तु तत्र यः स्वरितस्तस्योदात्तादेशो भवति ॥ यज्ञकर्मण्य० (१।२।३४); विभाषा छन्दसि (१।२।३६) इत्येताभ्यामेकश्रुतिः प्राप्ता प्रतिषिध्यते ॥ सुब्रह्मण्या नाम निगदविशेषः । शतपथब्राह्मणे तृतीये काण्डे तृतीये प्रपाठके, चतुर्थब्राह्मणस्य सप्तदशीं कण्डिकामारभ्य विंशतिकण्डिकापर्यन्तं यो पाठस्तस्य सुब्रह्मण्येति संज्ञाऽस्ति ॥ उदा०—सुब्रह्मण्यो३मिन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार कौशिकब्राह्मण गौतमब्रुवाण श्वः सुत्यामागच्छ मघवन् ॥ श० ३।३।४।१७॥

भाषार्थ:—[सुब्रह्मण्यायां] सुब्रह्मण्या नामवाले निगद में एकश्रुति [न] नहीं होती, किन्तु उस निगद में [स्वरितस्य] जो स्वरित उसको [उदात्तः] उदात्त [तु] तो हो जाता है ॥

यज्ञकर्मण्य० (१।२।३४); तथा विभाषा छन्दसि (१।२।३६) से एकश्रुति की प्राप्ति में यह सूत्र बनाया गया है ॥

शतपथब्राह्मण में 'सुब्रह्मण्या' नाम का निगदविशेष है। ऊपर संस्कृत-भाग में उसका पता दे दिया है ॥

यहां से 'स्वरितस्य' की अनुवृत्ति १।२।३८ तक जाती है ॥

देवब्रह्मणोरनुदात्तः ॥१।२।३८॥ अनुदात्त

देवब्रह्मणोः ७।२॥ अनुदात्तः १।१॥ स०—देवश्च ब्रह्मा च देवब्रह्माणौ, तयोः

देवब्रह्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितस्य ॥ अर्थः—देवब्रह्मणोः शब्दयोः स्वरितस्यानुदात्तो भवति ॥ सुब्रह्मण्यायां 'देवा ब्रह्माण' इति पठ्यते, तत्र पूर्वसूत्रेण स्वरितस्योदात्तः प्राप्नोति, अनेनानुदात्तो विधीयते ॥ उदा०—देवा ब्रह्माण आगच्छत ॥

भाषार्थः—[देवब्रह्मणोः] देव ब्रह्मन् शब्दों को स्वरित के स्थान में [अनुदात्तः] अनुदात्त होता है ॥

सुब्रह्मण्या निगद में 'देवा ब्रह्माणः' ऐसा पाठ है, उसको पूर्वसूत्र से स्वरित के स्थान में उदात्त प्राप्त था, इस सूत्र ने अनुदात्त विधान कर दिया ॥

विशेषः—यहां पर 'देवा ब्रह्माणः' इन दो शब्दों के स्वरित के स्थान में ही अनुदात्त होता है, न कि 'आगच्छत' शब्द को भी । इस विषय में देखो—ऋ० भा०, महर्षि दयानन्द कृत, तथा श० ब्रा० सायणभाष्य ३।३।१।२०, पृ० ११४ बम्बई संस्करण ॥

एकश्रुति

स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् ॥१।२।३९॥

स्वरितात् ५।१॥ संहितायाम् ७।१॥ अनुदात्तानाम् ६।३॥ अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थः—स्वरितात् परेषामनुदात्तानामेकश्रुतिर्भवति संहितायां विषये॥ उदा०—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि ॥ १०।७५।५॥ माणवक जटिलकाध्यापक क्व गमिष्यसि ॥

भाषार्थः—[संहितायाम्] संहिता-विषय में (जब पदपाठ का संहितापाठ करना हो तो) [स्वरितात्] स्वरित से उत्तर [अनुदात्तानाम्] अनुदात्तों को (एक दो या बहुतों को) एकश्रुति होती है ॥

यहां से 'संहितायाम्' 'अनुदात्तानाम्' की अनुवृत्ति १।२।४० तक जायेगी ॥

अनुदात्त

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ॥१।२।४०॥

उदात्तस्वरितपरस्य ६।१॥ सन्नतरः १।१॥ स०—उदात्तश्च स्वरितश्चोदात्तस्वरितौ,उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् स उदात्तस्वरितपरः,तस्योदात्तस्वरितपरस्य, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—संहितायामनुदात्तानाम् ॥ अर्थः—उदात्तपरस्य स्वरितपरस्य चानुदात्तस्य सन्नतरः=अनुदात्ततर आदेशो भवति संहितायाम् ॥ उदा०—देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः । सरस्वति शुतुद्रि । स्वरितपरस्य—अध्यापक क्व ॥

भाषार्थः—[उदात्तस्वरितपरस्य] उदात्त परे है जिसके, तथा स्वरित परे है

जिसके, उस अनुदात्त को [सन्नतरः] सन्नतर अर्थात् अनुदात्ततर आदेश हो जाता है संहिता में ॥ 'सन्नतर' यह अनुदात्ततर की संज्ञा है ॥

अपृक्त एकाल्प्रत्ययः ॥१।२।४१॥

अपृक्तः १।१॥ एकाल् १।१॥ प्रत्ययः १।१॥ स०—एकश्चासावल् च एकाल्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—एकाल्प्रत्ययोऽपृक्तसंज्ञको भवति ॥ असहायवाची एकशब्दः ॥ उदा०—वाक्, लता, कुमारी । घृतस्पृक्, अर्धभाक्, पादभाक् ॥

भाषार्थः—[एकाल्] असहाय=एक अल् (जो अकेला ही है) [प्रत्ययः] प्रत्यय की [अपृक्तः] अपृक्त संज्ञा होती है ॥

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥१।२।४२॥

तत्पुरुषः १।१॥ समानाधिकरणः १।१॥ कर्मधारयः १।१॥ स०—समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणः, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—समानाधिकरणपदस्तत्पुरुषः कर्मधारयसंज्ञको भवति ॥ अत्र अवयवधर्मः सामानाधिकरण्यं (पदेषु वर्त्तमानं) समुदाये (तत्पुरुषे) उपचर्यते ॥ उदा०—पाचकवृन्दारिका, परमराज्यम्, उत्तमराज्यम् ॥

भाषार्थः—[समानाधिकरणः] समान है अधिकरण (आश्रय) जिनका, ऐसे पदोंवाले [तत्पुरुषः] तत्पुरुष को [कर्मधारयः] कर्मधारय संज्ञा होती है ॥ 'समानाधिकरण' उसे कहते हैं, जहां दो धर्म एक ही द्रव्य में रहें । यहां तत्पुरुष के अवयव पदों का सामानाधिकरण्य अभिप्रेत है ॥

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ॥१।२।४३॥

प्रथमानिर्दिष्टम् १।१॥ समासे ७।१॥ उपसर्जनम् १।१॥ स०—प्रथमया (विभक्त्या) निर्दिष्टं प्रथमानिर्दिष्टम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अर्थः—समासे=समासविधायके सूत्रे प्रथमया विभक्त्या निर्दिष्टं यत् पदं तदुपसर्जनसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—कष्टश्रितः, शङ्कुलाखण्डः, यूपदारु, वृकभयम्, राजपुरुषः, अक्षशौण्डः ॥

भाषार्थः—[समासे] समासविधान करनेवाले सूत्रों में जो [प्रथमानिर्दिष्टम्] प्रथमाविभक्ति से निर्देश किया हुआ पद है, उसकी [उपसर्जनम्] उपसर्जन' संज्ञा होती है ॥ यहां "समासे" इस पद से "समासविधान करनेवाला सूत्र" यह अर्थ लेना है ॥

यहां से "समास उपसर्जनम्" की अनुवृत्ति १।२।४४ तक जाती है ॥

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ॥१।२।४४॥

एकविभक्ति १।१॥ च अ० ॥ अपूर्वनिपाते ७।१॥ स०—एका विभक्तिर्यस्य

तदेकविभक्ति (पदम्), बहुव्रीहिः। पूर्वश्चासौ निपातश्चेति पूर्वनिपातः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। न पूर्वनिपातोऽपूर्वनिपातः, तस्मिन्नपूर्वनिपाते, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—समास उपसर्जनम्॥ अर्थः—समासे विधीयमाने एकविभक्तिक=नियतविभक्तिकं पदमुपसर्जनसंज्ञं भवति, (तत्सम्बन्धिपदे बहुभिर्विभक्तियुज्यमानेऽपि) पूर्वनिपातमुपसर्जनकार्यं वर्जयित्वा॥ उदा०—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः॥ निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः। निष्क्रान्तं कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिम्। निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिना। निष्क्रान्ताय कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बये। निष्क्रान्तात् कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बेः। निष्क्रान्तस्य कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बेः। निष्क्रान्ते कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बौ। हे निष्क्रान्त कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बे। सर्वत्रैवात्र 'कौशाम्ब्याः' इति नियतविभक्तिकं पञ्चम्यन्तं पदं वर्त्तते, यद्यपि तत्सम्बन्धि 'निष्क्रान्त' इति पदं बहुभिर्विभक्तिभिर्युज्यते॥ एवं 'निर्वाराणसिः' इत्यपि बोध्यम्॥

भाषार्थः—समास-विधान करना है जिस (विग्रह) वाक्य से, उसमें जो पद [एकविभक्ति] नियतविभक्तिवाला हो (चाहे उससे सम्बन्धित दूसरा पद बहुत विभक्तियों से युक्त हो, तो भी), तो उसकी [च] भी उपसर्जन संज्ञा होती है, [अपूर्वनिपाते] पूर्वनिपात उपसर्जन कार्य को छोड़कर॥

निष्कौशाम्बिः यहां विग्रह करने पर 'कौशाम्बी' शब्द नियत पञ्चमी विभक्तिवाला ही रहता है, सो इसकी उपसर्जन संज्ञा हो गई है॥

प्रातिपदिकम् अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्॥१।२।४५॥

अर्थवत् १।१॥ अधातुः १।१॥ अप्रत्ययः १।१॥ प्रातिपदिकम् १।१॥ अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवत्, तदस्यास्त्य० (५।२।९४) इति मतुप्प्रत्ययः॥ स०—न धातुः अधातुः। न प्रत्ययः अप्रत्ययः, उभयत्र नञ्तत्पुरुषः॥ अर्थः—अर्थवत् शब्दरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं भवति, धातुं प्रत्ययञ्च वर्जयित्वा॥ उदा०—पुरुषः, डित्थः, कपित्थः, कुण्डम्, पीठम्॥

भाषार्थः—[अर्थवत्] अर्थवान् (अर्थवाले=सार्थक) शब्दों की [प्रातिपदिकम्] प्रातिपदिक संज्ञा होती है, [अधातुरप्रत्ययः] धातु और प्रत्यय को छोड़कर॥

उदा०—पुरुषः (एक पुरुष), डित्थः (लकड़ी का हाथी), कपित्थः (बन्दर के बैठने का स्थान), कुण्डम् (कूंडा), पीठम् (चौकी)॥

सब उदाहरणों में प्रातिपदिक संज्ञा होने से ङ्याप्प्रातिपदिकात् के अधिकार में कहे हुये स्वादि प्रत्यय हो जाते हैं। कुण्डम्, पीठम् में 'सु' को 'अम्' अतोऽम् (७।१।२४) से ही गया है॥

यहां से 'प्रातिपदिकम्' की अनुवृत्ति १।२।४६ तक जाती है॥

कृत्तद्धितसमासाश्च ॥१।२।४६॥

कृत्तद्धितसमासाः १।३॥ च अ० ॥ स०—कृत् च तद्धितश्च समासश्च कृत्तद्धितसमासाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रातिपदिकम् ॥ अर्थः—कृत्प्रत्ययान्तास्तद्धितप्रत्ययान्ताः समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—कृत्—कारकः, हारकः, कर्त्ता, हर्त्ता । तद्धितः—शालीयः, औपगवः, ऐतिकायनः । समासः—राजपुरुषः, कष्टश्रितः ॥

भाषार्थः—[कृत्तद्धितसमासाः] कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त, तथा समास की [च] भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है ॥

पूर्वसूत्र में प्रत्यय का निषेध कर देने से कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती थी, सो यहाँ कहना पड़ा ॥

सारे उदाहरणों की सिद्धि परि० १।१।१, तथा १।१।२ में की गई है, वहीं देखें । समास के उदाहरणों की सिद्धि परि० १।२।४३ में देखें ॥

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥१।२।४७॥

ह्रस्वः १।१॥ नपुंसके ७।१॥ प्रातिपदिकस्य ६।१॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गेऽर्थे वर्त्तमानं यत् प्रातिपदिकं तस्य ह्रस्वो भवति ॥ अत्र अचश्च (१।२।२८) इति परिभाषासूत्रमुपतिष्ठते । तेनाजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—अतिरि कुलम्, अतिनु कुलम् ॥

भाषार्थः—[नपुंसके] नपुंसक लिङ्ग में वर्त्तमान जो [प्रादिपदिकस्य] प्रातिपदिक उसको [ह्रस्वः] ह्रस्व हो जाता है ॥ अचश्च (१।२।२८) परिभाषासूत्र यहाँ पर बैठ जाता है ॥ सिद्धि परि० १।१।४७ में देखें ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः प्रातिपदिकस्य' की अनुवृत्ति १।२।४८ तक जाती है ॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥१।२।४८॥

गोस्त्रियोः ६।२॥ उपसर्जनस्य ६।१॥ स०—गौश्च स्त्री च गोस्त्रियौ, तयोः गोस्त्रियोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ह्रस्वः प्रातिपदिकस्य ॥ अर्थः—उपसर्जनगोशब्दान्तस्य प्रातिपदिकस्य, उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तस्य च प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—गोशब्दान्तस्य—चित्रगुः शबलगुः । स्त्रीप्रत्ययान्तस्य—निष्कौशाम्बिः निर्वाराणसिः, अतिखट्वः अतिमालः ॥

भाषार्थः—[उपसर्जनस्य] उपसर्जन [गोस्त्रियोः] गोशब्दान्त प्रातिपदिक, तथा उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है ॥

यहां 'स्त्री' शब्द से स्त्रियाम् (४।१।३) के अधिकार में कहे गये टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन् स्त्रीप्रत्यय लिये गये हैं, न कि 'स्त्री' शब्द लिया गया है ॥

यहां से 'स्त्री' तथा 'उपसर्जनस्य' की अनुवृत्ति १।२।४६ तक जाती है ॥

उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय **लुक् तद्धितलुकि ॥१।२।४६॥**

लुक् १।१॥ तद्धितलुकि ७।१॥ स०—तद्धितस्य लुक् तद्धितलुक्, तस्मिन् तद्धितलुकि, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—स्त्री उपसर्जनस्य ॥ अर्थः—तद्धितलुकि सति उपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ उदा०—पञ्चेन्द्रः, दशेन्द्रः । पञ्चशष्कुलम्, आमलकम्, बकुलम्, कुवलम्, बदरम् ॥

भाषार्थः—[तद्धितलुकि] तद्धित के लुक् हो जाने पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का [लुक्] हो जाता है ॥

यहां से 'तद्धितलुकि' की अनुवृत्ति १।२।५० तक जाती है ॥

इकारादेश **इद् गोण्याः ॥१।२।५०॥**

इत् १।१॥ गोण्याः ६।१॥ अनु०—तद्धितलुकि ॥ अर्थः—तद्धितलुकि सति गोणीशब्दस्येकारादेशो भवति ॥ पूर्वसूत्रेण लुकि प्राप्ते तदपवाद इकारो विधीयते ॥ उदा०—पञ्चगोणिः, दशगोणिः ॥

भाषार्थः—तद्धित—प्रत्यय के लुक् हो जाने पर [गोण्याः] गोणी शब्द को [इत्] इकारादेश हो जाता है । पूर्वसूत्र से स्त्रीप्रत्यय (ङीष्) का लुक् प्राप्त था, इकार अन्तादेश विधान कर दिया ॥ गोण शब्द से जानपदकुण्डगोण० (४।१।४२) से आवपन अर्थ में ङीष् प्रत्यय होकर गोणी शब्द बना है । सिद्धि परि० १।१।५१ में देखें ॥

युक्तवत् **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ॥१।२।५१॥**

लुपि ७।१॥ युक्तवत् अ० ॥ व्यक्तिवचने १।२॥ स०—व्यक्तिश्च वचनञ्च व्यक्तिवचने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ लुप्शब्देनात्र लुप्संज्ञया लुप्तस्य प्रत्ययस्यार्थ उच्यते । युक्तः प्रकृत्यर्थः, प्रत्ययार्थेन सम्बद्धत्वात् । तत्र तस्येव (५।१।११६) इति वतिः । व्यक्तिः=लिङ्गम् । वचनं=सङ्ख्या, एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । 'व्यक्तिवचने' इति लिङ्गसङ्ख्ययोः पूर्वाचार्याणां निर्देशः ॥ अर्थः—लुपि=लुबर्थे युक्तवत्=प्रकृत्यर्थ इव

व्यक्तिवचने=लिङ्गसङ्ख्ये भवतः ॥ उदा०—पञ्चालाः, कुरवः, मगधाः, मत्स्याः, अङ्गाः, वङ्गाः, सुह्माः, पुण्ड्राः । गोदौ ग्रामः । कटुकबदरी ग्रामः ॥

भावार्थः—प्रत्यय के [लुपि] लुप् हो जाने पर उस प्रत्यय के अर्थ में [व्यक्तिवचने] व्यक्ति=लिङ्ग, वचन =संख्या, [युक्तवत्] प्रकृत्यर्थवत् (=प्रकृत्यर्थ के समान) हों ॥ व्यक्तिवचन यह पूर्वाचार्यों का लिङ्ग और संख्या के लिये नाम है ॥

यहां से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति १।२।५२ तक जाती है ॥

विशेषणानां चाजातेः ॥१।२।५२॥

विशेषणानाम् ६।३॥ च अ० ॥ आ अ० ॥ जातेः ५।१॥ अनु०—लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ॥ अर्थः—लुबर्थस्य यानि विशेषणानि, तेषामपि युक्तवत् (प्रकृत्यर्थवत्) लिङ्गसङ्ख्ये भवतः, आ जातेः=जातेः पूर्वम्, आजातिप्रयोगादित्यर्थः ॥ तावद् युक्तवद्भावो भवति, यावज्जातिर्न प्रक्रान्ता । यदा तु विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा जातिः प्रक्रम्यते, तदा युक्तवद्भावो न भवति ॥ उदा०—पञ्चालाः रमणीयाः बह्वन्नाः बहुक्षीरघृताः बहुमाल्यफलाः । गोदौ रमणीयौ बह्वन्नौ बहुक्षीरघृतौ बहुमाल्यफलौ । कटुकबदरी शोभना बहुमाल्यफला बहुक्षीरघृता ॥

भावार्थः—प्रत्यय के लुप होने पर उस लुबर्थ के जो [विशेषणानाम्] विशेषण उनमें [च] भी युक्तवत्=प्रकृत्यर्थ के समान ही लिङ्ग और सङ्ख्या हो जाते हैं, [आजातेः] जाति के प्रयोग से पूर्व ही, अर्थात् जातिवाची कोई शब्द विशेषणरूप में या विशेष्यरूप में प्रयुक्त हो, तो उसे तथा उसके पश्चात् प्रयुक्त होनेवाले विशेषणों में युक्तवद्भाव न हो ॥ पूर्व सूत्र से लुबर्थ में प्रकृत्यर्थस्थ लिङ्ग-संख्या का अतिदेश किया गया । उसी से लुबर्थ विशेषणों में भी सिद्ध था । पुनः इस सूत्र का आरम्भ जाति तथा जातिद्वारक विशेषणों में युक्तवद्भाव के प्रतिषेधार्थ किया गया है ॥

उदा०—पञ्चालाः रमणीयाः बह्वन्नाः बहुमाल्यफलाः सम्पन्नपानीयाः (पञ्चाल बहुत सुन्दर, बहुत अन्न माल्य फलवाला, एवं खूब जलाशयोंवाला जनपद है)। गोदौ रमणीयौ बह्वन्नौ बहुमाल्यफलौ सम्पन्नपानीयौ (गोद नाम का रमणीय बहुत अन्न माल्य फलवाला, एवं खूब जलाशयोंवाला ग्राम है)। कटुकबदरी शोभना बहुमाल्यफला ।

[अशिष्य-प्रकरणम्]

तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् ॥१।२।५३॥

तत् १।१॥ अशिष्यम् १।१॥ संज्ञाप्रमाणत्वात् ५।१॥ स०—शासितुं शक्यम्

शिष्यम्, न शिष्यमशिष्यम्, नञ्तत्पुरुषः। संज्ञायाः प्रमाणं संज्ञाप्रमाणम्, षष्ठीतत्पुरुषः। संज्ञाप्रमाणस्य भावः संज्ञाप्रमाणत्वम्, तस्मात् संज्ञाप्रमाणत्वात्। **तस्य भावस्त्वतलौ** (५।१।११८) इत्यनेन त्वप्रत्ययः॥ संज्ञानं संज्ञा=लौकिकव्यवहारः। तदित्यनेन युक्तवद्भावः परिगृह्यते। अशिष्यमित्यनेन शासितुमशक्यमिति वेदितव्यं, न तु शासितुमयोग्यम्। कुतः? 'शासु अनुशिष्टौ' इत्येतस्माद् धातोः **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (३।१।१०९) इत्यनेन क्यप् प्रत्ययः, स च शक्यार्थे वेदितव्यः। तेनाशिष्यमित्यस्य पूर्णतया शासितुमशक्यमित्यर्थः॥ **अर्थः**—तद्=युक्तवद्भावकथनम्, अशिष्यं=शासितुमशक्यम्। कुतः? संज्ञाप्रमाणत्वात्=लौकिकव्यवहाराधीनत्वात्॥ **उदा०**—पञ्चालाः, वरणाः जनपदादीनां संज्ञा एताः, तत्र लिङ्गं वचनञ्च स्वभावसिद्धमेव॥

भाषार्थः—[तद्] उस उपर्युक्त युक्तवद्भाव का [अशिष्यम्] पूरा-पूरा शासन=विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह [संज्ञाप्रमाणत्वात्] लौकिक व्यवहार के अधीन है॥

विशेष—जिस प्रकार 'दारा' शब्द स्त्रीवाची होते हुये भी पुल्लिङ्ग बहुवचनान्त लोक में प्रयुक्त होता है; 'आपः' शब्द भी नित्य बहुवचनान्त ही है, सो यह सब लोक से ही सिद्ध है। इसका विधान पूरा-पूरा नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो अवैयाकरण लोग "पञ्चालाः में निवास अर्थ में प्रत्यय होकर उसका लुप् होने से युक्तवद्भाव हुआ है", यह नहीं जानते, वह भी तो "पञ्चालाः" का बहुवचन में ठीक प्रयोग करते ही हैं। सो लिङ्ग वचन लोकाधीन ही है, इसमें लौकिक प्रयोग ही प्रमाण है। इसी बात को महाभाष्यकार ने लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य (महा० भा० ४।१।३) **ऐसा कहकर प्रकट किया है॥**

यहां से 'अशिष्यम्' की अनुवृत्ति १।२।५७ तक जाती है॥

लुप् - अशिष्य **लुब्योगाप्रख्यानात्॥१।२।५४॥**

लुप् १।१॥ योगाप्रख्यानात् ५।१॥ **स०**—न प्रख्यानमप्रख्यानम्, नञ्तत्पुरुषः। योगस्याप्रख्यानम् योगाप्रख्यानं, तस्मात् योगाप्रख्यानात्, षष्ठीतत्पुरुषः॥ **अनु०**—अशिष्यम्॥ **अर्थः**—लुब्विधायकं **जनपदे लुप्** इत्यादिकं सूत्रमप्यशिष्यं=शासितुमशक्यम्। कुतः? योगस्य=सम्बन्धस्य, अप्रख्यानात्=अप्रतीतत्वादित्यर्थः॥ पञ्चालाः, वरणा इति देशविशेषस्य संज्ञाः, नहि निवाससम्बन्धादेव पञ्चालाः, वृक्षयोगादेव वरणा इति व्यवह्रियन्ते, तत्राशक्यं लुब्विधानम्। अनन्तरसूत्रमपीदमेव सूत्रं दृढीकरोति॥

भाषार्थः—[लुप्] लुप् **विधायक सूत्र** (जनपदे लुप्; वरणादिभ्यश्च इत्यादि)

भी अशिष्य हैं—नहीं कहे जा सकते [योगाप्रख्यानात्] निवासादि सम्बन्ध के अप्रतीत होने से ।। क्योंकि जो व्याकरण नहीं जानते, वे भी तो लुबर्थ शब्दों का प्रयोग करते ही हैं। पञ्चालाः वरणाः तो जनपदादि की संज्ञाविशेष हैं, न कि निवास के योग से ही पञ्चाल, एवं वृक्ष के योग से ही वरण कहा जाता है। अगला सूत्र इसी कथन को और भी पुष्ट करता है ।।

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् ।।१।२।५५।।

योगप्रमाणे ७।१।। च अ० ।। तदभावे ७।१।। अदर्शनम् १।१।। स्यात् तिङन्तपदम् ।। स०—योगस्य प्रमाणं योगप्रमाणं, तस्मिन् योगप्रमाणे, षष्ठीतत्पुरुषः। न भावः अभावः, नञ्तत्पुरुषः। तस्य अभावस्तदभावः, तस्मिन् तदभावे, षष्ठीतत्पुरुषः। न दर्शनमदर्शनम्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—अशिष्यम् ।। अर्थः—यदि पञ्चालादिशब्दा निवासाद्यर्थस्य वाचकाः स्युस्तदा निवासादिसम्बन्धाभावे पञ्चालादीनामदर्शनमप्रयोगः स्यात्, न चैवं भवति, तेन ज्ञायते नैते योगनिमित्तकाः, परं संज्ञा एताः देशविशेषस्य ।। पूर्वसूत्रार्थमेव दृढीकरोति ।।

भाषार्थः—[योगप्रमाणे] सम्बन्ध को प्रमाण=वाचक मानकर यदि संज्ञा (पञ्चालादि) हो, तो [च] भी [तदभावे] उस सम्बन्ध के हट जाने पर उस संज्ञा का [अदर्शनम् स्यात्] अदर्शन होना चाहिये, पर वह होता नहीं है। इससे पता लगता है कि पञ्चालादि जनपदविशेष की संज्ञायें हैं, योगनिमित्तक इन्हें कहना अशक्य है ।। पूर्व सूत्र के कथन को ही यह सूत्र हेतु देकर स्पष्ट करता है ।।

स्पष्टार्थ व्याख्या—यदि पञ्चालादि शब्द पञ्चालों के निवास करने के कारण ही जनपदविशेष की संज्ञाएं पड़ी होतीं, तो यदि वहां से पञ्चाल क्षत्रिय किसी कारण से सर्वथा चले जावें, तो उस जनपद की पञ्चाल संज्ञा नहीं रहनी चाहिये, क्योंकि जिस कारण से=सम्बन्ध से जनपद की पञ्चाल संज्ञा पड़ी थी, वह सम्बन्ध तो रहा नहीं, फिर भी पञ्चाल का व्यवहार उस जनपद के लिये होता है। इससे पता लगता है कि ये संज्ञायें योगनिमित्तक=निवासादि अर्थनिमित्तक नहीं हैं, परन्तु संज्ञाविशेष ही हैं ।।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् ।।१।२।५६।।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् १।१।। अर्थस्य ६।१।। अन्यप्रमाणत्वात् ५।१।। स०—प्रधानं च प्रत्ययश्च प्रधानप्रत्ययौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। अर्थस्य वचनम् अर्थवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रधानप्रत्यययोरर्थवचनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। अन्यस्य प्रमाणमन्यप्रमाणम् षष्ठीतत्पुरुषः। अन्यप्रमाणस्य भावः अन्यप्रमाणत्वम्,

तस्मादन्यप्रमाणत्वात् ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ अर्थः—प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनमशिष्यं शासितुमशक्यम् । कुतः ? अर्थस्य अन्यप्रमाणत्वात्=लोकप्रमाणत्वात् ॥ शास्त्रापेक्षयाऽन्यो लोकः ॥ केषाञ्चिदाचार्याणामिदं मतमभूत्—"प्रधानोपसर्जने प्रधानार्थं सह ब्रूतः, प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः", तदेतत् पाणिन्याचार्यः प्रत्याचष्टे। अर्थात् ये व्याकरणं न जानन्ति, तेऽपि प्रधानार्थं प्रत्ययार्थमेव प्रयुञ्जते । तस्मात् लोकाधीनमेवैतद्, अस्य लक्षणं कर्त्तुमशक्यम् ॥

भाषार्थः—[प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्] प्रधानार्थवचन तथा प्रत्ययार्थवचन, अर्थात् यह पद प्रधान है, तथा यह पद अप्रधान है, एवं यह प्रत्यय इस अर्थ में आता है, यह पूरा-पूरा नहीं कहा जा सकता, [अर्थस्य] अर्थ के [अन्यप्रमाणत्वात्] अन्य=लोक के अधीन होने से ॥ शास्त्र की अपेक्षा से यहां 'अन्य' शब्द लोक को कहता है । कुछ आचार्यों ने "प्रधानोपसर्जने प्रधानार्थं सह ब्रूतः, प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः" आदि लक्षण किये थे, सो पाणिनि मुनि उनका प्रत्याख्यान करते हैं । क्योंकि जिन्होंने व्याकरण नहीं पढ़ा, वे भी प्रधानार्थ एवं प्रत्ययार्थ को जानते ही हैं । यथा "राजपुरुषमानय" ऐसा कहने पर न राजा को लाते हैं न पुरुषमात्र को, प्रत्युत राजविशिष्ट पुरुष को ही लाते हैं, अर्थात् प्रधानार्थता को वे जानते हैं । तथा प्रत्ययार्थ के विषय में भी 'औपगवमानय' ऐसा कहने पर उपगुविशिष्ट अपत्य को लाते हैं, न उपगु को लाते हैं न केवल अपत्य को, अर्थात् प्रत्ययार्थता (अपत्यार्थता) को वे समझते हैं । सो यह सब लोकव्यवहाराधीन ही समझना चाहिये । इसके लिये पूरा लक्षण बनाना अशक्य है ॥

अशिष्य कालोपसर्जने च तुल्यम् ॥१।२।५७॥

कालोपसर्जने १।२॥ च अ० ॥ तुल्यम् १।१॥ स०—कालश्च उपसर्जनञ्च कालोपसर्जने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ कालः परोक्षादिः ॥ अर्थः—कालः उपसर्जनञ्चाशिष्य शासितुमशक्यम । कुतः ? तुल्यहेतुत्वात्, अर्थात् लोकप्रमाणत्वात् ॥ तुल्यशब्दः पूर्वसूत्रोक्तस्य हेतोरनुकर्षणार्थः ॥

भाषार्थः—[कालोपसर्जने] काल तथा उपसर्जन=गौण की परिभाषा [च] भी पूरी-पूरी नहीं की जा सकती, [तुल्यम्] तुल्य हेतु होने से, अर्थात् पूर्व सूत्र में कहे हेतु के कारण ही ॥

कुछ आचार्य प्रातःकाल से लेकर १२ बजे रात्रि तक अद्यतन काल मानते हैं, तथा कुछ आचार्य १२ बजे रात से अगले १२ बजे रात तक अद्यतन काल मानते हैं । इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने उपसर्जन की भी परिभाषा की है—"अप्रधानमुपसर्जनम्"।

तो यह सब अशिष्य है, लोकव्यवहाराधीन होने से, क्योंकि जिन्होंने व्याकरण नहीं पढ़ा, वे भी 'यह मैंने आज किया, यह कल किया, तथा यह उपसर्जन=गौण है, यह मुख्य है' ऐसा प्रयोग करते ही हैं, सो लोक से ही इनकी प्रतीति हो जावेगी ।।

जाति बहुवचन विकल्प

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ।।१।२।५८।।

जात्याख्यायाम् ७।१।। एकस्मिन् ७।१।। बहुवचनम् १।१।। अन्यतरस्याम् अ० ।। **स०**—जातेः आख्या जात्याख्या, तस्याम्.... षष्ठीतत्पुरुषः । बहूनां वचनं बहुवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः ।। **अर्थः**—जात्याख्यायामेकस्मिन्नर्थे बहुवचनं (बहुत्वं) विकल्पेन भवति ।। जातिर्नामायमेकोऽर्थः, तेनैकवचने प्राप्ते बहुवचनं पक्षे विधीयते ।। **उदा०**—सम्पन्नाः यवाः, सम्पन्नाः व्रीहयः (अत्र बहुत्वम्), सम्पन्नो यवः, सम्पन्नो व्रीहिः (अत्रैकत्वम्) ।। जात्यर्थस्य एकत्वे बहुत्वे च सति **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (१।४।२२) इति, **बहुषु बहुवचनम्** (१।४।२१) इति च यथायोगम् एकवचनबहुवचने भवतः ।।

भाषार्थः—[जात्याख्यायाम्] **जाति को कहने में** [एकस्मिन्] **एकत्व अर्थ में** [बहुवचनम्] **बहुत्व** [अन्यतरस्याम्] **विकल्प करके हो जाता है ।।**

जाति एक होती है, अतः जाति को कहने में एकत्व ही नित्य प्राप्त था, सो यहां पक्ष में बहुत्व विधान किया है ।।

यहां से 'एकस्मिन्' की अनुवृत्ति १।२।५९ तक, तथा 'बहुवचनम्' की अनुवृत्ति १।२।६० तक, एवं 'अन्यतरस्याम्' की १।२।६२ तक जाती है ।।

अस्मद् - बहुत्व

अस्मदो द्वयोश्च ।।१।२।५९।।

अस्मदः ६।१।। द्वयोः ७।२।। च अ० ।। **अनु०**—एकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम् ।। **अर्थः**—अस्मदो योऽर्थस्तस्यैकत्वे द्वित्वे च बहुत्वं विकल्पेन भवति ।। **उदा०**—'अहं ब्रवीमि' इत्यस्य स्थाने वक्ता 'वयं ब्रूमः' इत्यपि वक्तुं शक्नोति, यद्यपि वक्ता एक एव । एवं 'आवां ब्रूवः' इत्यस्य स्थाने 'वयं ब्रूमः' इत्यपि भवति, यद्यपि द्वौ वक्तारौ स्तः ।।

भाषार्थः—[अस्मदः] **अस्मद् का जो अर्थ, उस के एकत्व** [च] **और** [द्वयोः] **द्वित्व अर्थ में बहुवचन विकल्प करके होता है ।।**

एकत्व में एकवचन एवं द्वित्व में द्विवचन ही प्राप्त था, बहुवचन का पक्ष में विधान कर दिया । अहं ब्रवीमि (मैं बोलता हूं) यहां बोलनेवाला यद्यपि एक है,

तो भी वह 'वयं ब्रूमः' ऐसा बहुवचन में भी बोल सकता है। इसी प्रकार द्विवचन में 'आवां ब्रूवः' के स्थान में 'वयं ब्रूमः' भी कह सकते हैं ॥

यहां से 'द्वयोः' की अनुवृत्ति १।२।६१ तक जाती है ॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥१।२।६०॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम् ६।३॥ च अ०॥ नक्षत्रे ७।१॥ स०- फल्गुन्यौ च प्रोष्ठपदे च फल्गुनीप्रोष्ठपदाः, तासाम् ······इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—द्वयोः, बहुवचनम् अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः - फल्गुन्योः द्वयोः प्रोष्ठपदयोश्च द्वयोः नक्षत्रयोः बहुवचनं विकल्पेन भवति ॥ फल्गुन्यौ द्वे नक्षत्रे, प्रोष्ठपदे अपि द्वे, तेन द्वयोर्द्विवचनं प्राप्तम्. बहुवचनमन्यतरस्यां विधीयते ॥ उदा०—उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः (अत्र बहुवचनम्) उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ (अत्र द्विवचनम्)। उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः, उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे ॥

भाषार्थः—[फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम्] फल्गुनी और प्रोष्ठपद [नक्षत्रे] नक्षत्रों के द्वित्व अर्थ में [च] भी बहुत्व अर्थ विकल्प करके होता है ॥

फल्गुनी नाम के दो नक्षत्र हैं, तथा प्रोष्ठपद नाम के भी दो नक्षत्र हैं, सो दो में द्विवचन ही प्राप्त था, पक्ष में बहुवचन भी विधान कर दिया है ॥ उदा०—उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः (पूर्व फल्गुनी नक्षत्र का उदय हुआ), उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ। उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः (पूर्व प्रोष्ठपदा नक्षत्र का उदय हुआ), उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे ॥

यहां से 'नक्षत्रे' की अनुवृत्ति १।२।६२ तक जाती है ॥

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥१।२।६१॥

छन्दसि ७।१॥ पुनर्वस्वोः ६।२॥ एकवचनम् १।१॥ अनु०—नक्षत्रे, द्वयोः, अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः—छन्दसि विषये पुनर्वस्वोः नक्षत्रयोः द्वित्वे विकल्पेनैकवचनं भवति। पुनर्वसू द्वे नक्षत्रे, तेन द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते पक्ष एकवचनं विधीयते ॥ उदा०—पुनर्वसुर्नक्षत्रम् (अत्रैकवचनम्), पुनर्वसू नक्षत्रे (अत्र द्विवचनम्) ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [पुनर्वस्वोः] पुनर्वसु नक्षत्र के द्वित्व अर्थ में विकल्प से [एकवचनम्] एकत्व होता है ॥ पुनर्वसु नाम के दो नक्षत्र हैं, सो द्विवचन ही प्राप्त था। पक्ष में एकत्व अर्थ का भी विधान कर दिया ॥ उदा०—पुनर्वसुर्नक्षत्रम् (पुनर्वसु नाम के दो नक्षत्र), पुनर्वसू नक्षत्रे ॥

यहां से "छन्दसि एकवचनम्" की अनुवृत्ति १।२।६२ तक जाती है ॥

विशाखयोश्च ॥१।२।६२॥

विशाखयोः ६।२॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, एकवचनम्, नक्षत्रे, अन्यतर-

स्याम् ॥ अर्थः—छन्दसि विषये विशाखयोर्नक्षत्रयोर्द्वित्वे, एकवचनं विकल्पेन भवति । द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते, पक्षे एकवचनं विधीयते ॥ उदा०—विशाखा नक्षत्रम्, विशाखे नक्षत्रे ॥

भाषार्थ—[विशाखयोः] विशाखा नक्षत्र के द्वित्व अर्थ में [च] भी एकवचन विकल्प करके होता है, छन्द विषय में ॥

विशाखा नक्षत्र भी दो हैं सो दो में द्विवचन प्राप्त था, पक्ष में एकत्व विधान कर दिया ॥

नित्य द्विवचनम्

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् ॥१।२।६३॥

तिष्यपुनर्वस्वोः ६।२॥ नक्षत्रद्वन्द्वे ७।१॥ बहुवचनस्य ६।१॥ द्विवचनम् १।१॥ नित्यम् १।१॥ स०—तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू तयोस्तिष्यपुनर्वस्वोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । नक्षत्राणां द्वन्द्वः, नक्षत्रद्वन्द्वः, तस्मिन् नक्षत्रद्वन्द्वे:, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—तिष्यपुनर्वस्वोः नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य नित्यं द्विवचनं भवति ॥ तिष्य एकः, पुनर्वसू द्वौ, एतेषां द्वन्द्वे बहुत्वं प्राप्तं द्विवचनं नित्यं विधीयते ॥ उदा०—उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते ॥

भाषार्थः—[तिष्यपुनर्वस्वोः] तिष्य तथा पुनर्वसु शब्दों के [नक्षत्र द्वन्द्वे] नक्षत्रविषयक द्वन्द्वसमास में [बहुवचनस्य] बहुवचन के स्थान में [नित्यम्] नित्य ही [द्विवचनम्] द्विवचन हो जाता है ॥

तिष्य नक्षत्र एक है, तथा पुनर्वसु दो हैं, सो इनके द्वन्द्वसमास में बहुवचन ही प्राप्त था, नित्य ही द्विवचन विधान कर दिया ॥

उदा०—उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते (उदित हुये तिष्य और पुनर्वसू नक्षत्र दिखाई दे रहे हैं) ॥

[एकशेष-प्रकरणम्] एकशेष

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥१।२।६४॥

सरूपाणाम् ६।३॥ एकशेषः १।१॥ एकविभक्तौ ७।१॥ स०—समानं रूपं येषां ते सरूपास्तेषां सरूपाणां, बहुव्रीहिः । ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप० (६।३।८३) इत्यनेन समानस्य सादेशः । एका चासौ विभक्तिश्च, एकविभक्तिः, तस्यामेकविभक्तौ, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । शिष्यते यः स शेषः, एकश्चासौ शेषश्च, एक

शेषः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—सरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति, अर्थादेकः शिष्यते, इतरे निवर्त्तन्ते ॥ उदा०—वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः ॥

भावार्थः—[सरूपाणाम्] समान रूपवाले शब्दों में से [एकशेषः] एक शेष रह जाता है, अन्य हट जाते हैं, [एकविभक्तौ] एक (समान) विभक्ति के परे रहते ॥

वृक्षश्च, वृक्षश्च यहाँ दोनों वृक्ष शब्द समान रूपवाले हैं, तथा एक ही प्रथमा विभक्ति परे हैं, सो एक शेष रह गया, तथा दूसरा हट गया। दो वृक्षों का बोध कराना है अतः द्विवचन 'वृक्षौ' में हो ही जायेगा। इसी प्रकार वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः में भी दो हट गये, एक शेष रह गया, आगे ४-५ वृक्षों के होने पर भी ऐसा ही जानें। अभिप्राय यह है कि जहाँ कई वस्तुओं का बोध कराना हो, जैसे "यह वृक्ष है, यह वृक्ष है" तो वहाँ कई बार सरूप शब्दों का प्रयोग न करके एक बार ही उस शब्द का प्रयोग करके उन सारी वस्तुओं का बोध हो जाता है। नहीं तो जितनी वस्तुएं होतीं उतनी बार उस शब्द का प्रयोग करना पड़ता अतः यह सूत्र बनाया ॥

यहाँ से 'शेषः' की अनुवृत्ति १।२।७३ तक जाती है ॥

एकशेष

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः ॥१।२।६५॥

वृद्धः १।१॥ यूना ३।१॥ तल्लक्षणः १।१॥ चेत् अ० ॥ एव अ० ॥ विशेषः १।१॥ स०-सः गोत्रप्रत्ययो युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तमस्य स तल्लक्षणः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषः ॥ अर्थः—वृद्धशब्देनात्र गोत्रमुच्यते। विशेषः=वैरूप्यम्। गोत्रप्रत्ययान्तश्शब्दः, यूना सह युवप्रत्ययान्तेन सह शिष्यते युवा निवर्त्तते तल्लक्षणश्चेत्=वृद्धयुवनिमित्तकमेव चेत् विशेषो भवेत् अर्थात् समानायामाकृतौ वृद्धयुवप्रत्ययनिमित्तकमेव चेद् वैरूप्यं=भेदो भवेदन्यत् सर्वं समानं स्यात् ॥ अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) इत्यनेन पौत्रप्रभृत्यपत्यं गोत्रसंज्ञं भवति, तद्गोत्रमत्र वृद्धशब्देनोच्यते, पूर्वाचार्यस्य संज्ञैषा। जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३) इत्यादिभिश्च युवसंज्ञा विहिता ॥ उदा०—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ ॥

भावार्थः—[वृद्धः] वृद्ध (गोत्र) प्रत्ययान्त शब्द [यूना] युवा प्रत्ययान्त शब्द के साथ शेष रह जाता है [चेत्] यदि [तल्लक्षणः] वृद्धयुवप्रत्यय निमित्तक [एव] ही [विशेषः] भेद हो, अर्थात् अन्य सब प्रकृति आदि समान हों ॥ वृद्ध शब्द से यहाँ गोत्र लिया गया है, पूर्वाचार्यों की यह गोत्र के लिये संज्ञा है।

गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च यहाँ गर्ग शब्द से गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से

गोत्र अर्थ में यञ् प्रत्यय आकर तद्धिते० (७।२।११७) से आदि अच् को वृद्धि एवं यस्येति च (६।४।१४८) से अकार का लोप होकर, वृद्धप्रत्यान्त गार्ग्य शब्द बना है, तथा उसी गार्ग्य शब्द से यञिञोश्च (४।१।१०१) से युवा प्रत्यय फक् होकर, फक् को आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से 'आयन्' होकर गार्ग्यायण बना है, सो गार्ग्य तथा गार्ग्यायण इन दोनों शब्दों में, एक में गोत्र प्रत्यय 'यञ्' है तथा दूसरे में यञ् के पश्चात् युवप्रत्यय फक् है, ये वृद्ध युवा प्रत्यय ही भिन्न हैं, शेष इन दोनों की प्रकृति समान ही है, अतः समान आकृति (प्रकृति) वाले ये दोनों शब्द हैं, केवल तल्लक्षण ही विशेष है। सो प्रकृत सूत्र से वृद्धप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शेष रह गया, गार्ग्यायण हट गया तो 'गार्ग्यौ' बना। गार्ग्यौ कहने से 'गार्ग्य' (गर्ग का पौत्र) एवं गार्ग्यायण (गर्ग का प्रपौत्र) दोनों की प्रतीति होगी। इसी प्रकार वात्स्यौ (वत्स के पौत्र तथा प्रपौत्र) में भी समझें॥

यहां से 'वृद्धो यूना' की अनुवृत्ति १।२।६६ तक तथा "तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः" की १।२।६६ तक जाती है॥

स्त्री पुंवच्च ॥१।२।६६॥

एकशेष

स्त्री १।१॥ पुंवत् अ० ॥ च अ०॥ अनु०—वृद्धो यूना तल्लणश्चेदेव विशेषः, शेषः ॥ अर्थः—वृद्धा=गोत्रप्रत्ययान्ता स्त्री यूना सह शिष्यते,युवा निवर्त्तते,सा च स्त्री पुंवद् भवति, वृद्धयुवनिमित्तकमेव चेत् वैरूप्यं स्यात् ॥ उदा०—गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्सी च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ ॥

भावार्थः—गोत्रप्रत्यान्त जो [स्त्री] स्त्रीलिंग शब्द हो, वह युवप्रत्यान्त शब्द के साथ शेष रह जाता है, और उस स्त्रीलिंग गोत्रप्रत्यान्त शब्द को [पुंवत्] पुंवत् कार्य [च] भी हो जाता है, यदि उन दोनों शब्दों में वृद्धयुवप्रत्यय निमित्तक ही वैरूप्य हो और सब समान हों॥ गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ,यहां गार्ग्य गोत्रप्रत्ययान्त शब्द से यञश्च (४।१।१६) से ङीप् प्रत्यय होकर 'गार्ग्य ङीप्' रहा। यस्येति च (६।४।१४८) से अकार लोप, एवं हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) से यकार लोप होकर गार्ग् ई=गार्गी गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिंगवाची शब्द बना है सो प्रकृत सूत्र से गार्गी शेष रह गया, गार्ग्यायण युवाप्रत्ययान्त हट गया, तथा प्रकृत सूत्र से ही गार्गी को पुंवद्भाव हो जाने से, गार्गी का ङीप् हटकर पुंलिंग के समान 'गार्ग्य' रूप रह गया, तो गार्ग्यौ बन गया। गार्ग्यौ से गार्गी (गर्ग की पौत्री) एवं गार्ग्यायण (गर्ग के प्रपौत्र) दोनों का ही बोध हुआ करेगा॥

पुमान् स्त्रिया ॥१।२।६७॥

एकशेष

पुमान् १।१॥ स्त्रिया ३।१॥ अनु०—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः ॥ अर्थः—

पुमान् स्त्रिया सह शिष्यते स्त्री निवर्त्तते तल्लक्षण एव चेत् विशेषो भवेत्, लिङ्गभेद एव चेत् स्यादन्यत् प्रकृत्यादिकं सर्वं समानं भवेदित्यर्थः ।। उदा०—ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ, कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ ।।

भाषार्थः—[पुमान्] पुंलिंग शब्द [स्त्रिया] स्त्रीलिंग शब्द के साथ शेष रह जाता है, स्त्रीलिंग शब्द हट जाता है, यदि उन शब्दों में स्त्रीत्व पुंस्त्व कृत ही विशेष हो, अन्य प्रकृति आदि सब समान ही हों ।। 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च' में प्रकृति दोनों की एक है, एक पुंल्लिंग है, दूसरा स्त्रीलिंग है । सो पुंल्लिंग 'ब्राह्मण' शब्द शेष रह गया, तो (ब्राह्मणौ ब्राह्मण और ब्राह्मणी) बना । इसी प्रकार कुक्कुटौ (मुर्गा और मुर्गी) में भी जानें ।।

एकशेष

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ।।१।२।६८।।

भ्रातृपुत्रौ १।२।। स्वसृदुहितृभ्याम् ३।२।। स०—भ्राता च पुत्रश्च, भ्रातृपुत्रौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । स्वसा च दुहिता च स्वसृदुहितरौ ताभ्यां स्वसृदुहितृभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—शेषः ।। अर्थः—भ्रातृपुत्रौ शब्दौ यथाक्रमं स्वसृदुहितृभ्यां शब्दाभ्यां सह शिष्येते स्वसृदुहितरौ निवर्त्तेते ।। उदा०—भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ ।।

भाषार्थः—[भ्रातृपुत्रौ] भ्रातृ और पुत्र शब्द यथाक्रम [स्वसृदुहितृभ्याम्] स्वसृ और दुहितृ शब्दों के साथ शेष रह जाते हैं, अर्थात् भ्रातृ और स्वसृ में से भ्रातृ तथा पुत्र और दुहितृ में से पुत्र शेष रह जाता है,शेष स्वसृ दुहितृ शब्द हट जाते हैं।।

यहाँ भ्रातरौ का अर्थ भाई और बहिन, तथा पुत्रौ का अर्थ पुत्र और पुत्री होगा, न कि दो भाई एवं दो पुत्र होगा ।।

एकशेष विकल्प

नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ।।१।२।६९।।

नपुंसकम् १।१।। अनपुंसकेन ३।१।। एकवत् अ० ।। च अ० ।। अस्य ६।१।। अन्यतरस्याम् अ० ।। स०—न नपुंसकम् अनपुंसकम् तेनानपुंसकेन, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः ।। अर्थः—नपुंसकगुणविशिष्टश्शब्दोऽनपुंसकेन=स्त्रीपुंल्लिङ्गगुणविशिष्टेन शब्देन सह शिष्यते, स्त्रीपुंल्लिङ्गगुणविशिष्टौ शब्दौ निवर्त्तेते, अस्य नपुंसकलिङ्गशब्दस्य च विकल्पेनैकवत् कार्यं भवति नपुंसकानपुंसकगुणस्यैव चेद् वैरूप्यं स्यात् ।। उदा०—शुक्लश्च कम्बलः, शुक्ला च शाटिका, शुक्लं च वस्त्रम् तदिदं शुक्लम् । पक्षे=तानीमानि शुक्लानि, (बहुवचनमभूत्) ।।

भाषार्थः—[नपुंसकम्] नपुंसकलिंग शब्द [अनपुंसकेन] नपुंसकलिंग भिन्न शब्दों के साथ, अर्थात् स्त्रीलिंग पुंलिंग शब्दों के साथ शेष रह जाता है, तथा स्त्रीलिंग

पुंलिंग शब्द हट जाते हैं, एवं [अस्य] उस नपुंसकलिंग शब्द को [एकवत्] एकवत् कार्य [च] भी [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हो जाता, यदि उन शब्दों में नपुंसक गुण एवं अनपुंसकगुण का ही वैशिष्ट्य हो, शेष प्रकृति आदि समान ही हों ॥

"शुक्लः कम्बलः" यह पुंलिंग है, "शुक्ला शाटिका" यह स्त्रीलिंग है, "शुक्लं वस्त्रम्" यह नपुंसकलिंग है तथा शुक्लः, शुक्ला, शुक्लम् में नपुंसकत्व अनपुंसकत्व गुण का ही वैशिष्ट्य है, प्रकृति तो समान ही है, सो इस सूत्र से नपुंसकलिंग वाला "शुक्लम्" ही शेष रहा, शेष हट गये, इसी प्रकार इस 'शुक्लम्' से कम्बल, शाटिका, वस्त्र तीनों का बोध कराना है, सो बहुवचन ही होना चाहिये था पर इसी सूत्र से पक्ष में 'एकवत्' का विधान किया है सो एकवचन हो कर 'तदिदं शुक्लम्' (ये सब सफेद हैं) बना। पक्ष में 'तानीमानि शुक्लानि' भी बन गया है ॥

यहां से "अन्यतरस्याम्" की अनुवृत्ति १।२।७१ तक जाती है ॥

पिता मात्रा ॥१।२।७०॥ एकशेष विकल्प

पिता १।१॥ मात्रा ३।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, शेषः ॥ अर्थः—मातृशब्देन सहवचने पितृशब्दः शिष्यते विकल्पेन, मातृशब्दो निवर्त्तते ॥ उदा०—माता च पिता च पितरौ। पक्षे-मातापितरौ ॥

भाषार्थः—[मात्रा] मातृ शब्द के साथ [पिता] पितृ शब्द विकल्प से शेष रह जाता है, मातृ शब्द हट जाता है।

माता च पिता च पितरौ (माता और पिता) में माता हट गया है, पक्ष में मातापितरौ भी प्रयोग होगा ॥

श्वशुरः श्वश्र्वा ॥१।२।७१॥ एकशेष विकल्प

श्वशुरः १।१॥ श्वश्र्वा ३।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्। शेषः ॥ अर्थः—श्वश्रूशब्देन सहवचने श्वशुरः शिष्यते विकल्पेन, श्वश्रूः निवर्त्तते ॥ उदा०—श्वशुरश्च श्वश्रूश्च श्वशुरौ। पक्षे-श्वश्रूश्वशुरौ।

भाषार्थः—[श्वश्र्वा] श्वश्रू शब्द के साथ [श्वशुरः] श्वशुर शब्द विकल्प से शेष रह जाता है श्वश्रू हट जाता है। पक्ष में वह भी रहेगा ॥ उदा०—श्वशुरौ (सास और श्वसुर), श्वश्रूश्वशुरौ ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ॥ १।२।७२॥ एकशेष

त्यदादीनि १।३॥ सर्वैः ३।३॥ नित्यम् १।१॥ स०—त्यद् आदि येषां तानि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषः ॥ अर्थः—त्यदादीनि शब्दरूपाणि सर्वैः सहवचने नित्यं

शिष्यन्ते, अन्यानि निवर्त्तन्ते ॥ उदा०—स च देवदत्तश्च तौ, यश्च यज्ञदत्तश्च यौ, स च यश्च यौ ॥

भाषार्थः—[त्यदादीनि] त्यदादि शब्द रूप [सर्वैः] सबके साथ अर्थात् त्यदादियों के साथ या त्यदादि से अन्यों के साथ भी [नित्यम्] नित्य ही शेष रह जाते हैं, अन्य हट जाते हैं ॥ त्यदादि गण सर्वादि गण के अन्तर्गत ही पढ़ा है ॥ स च यज्ञदत्तश्च में 'स' त्यदादि है एवं यज्ञदत्त त्यदादि से भिन्न है, सो 'स' शेष रह गया, यज्ञदत्त हट गया है। स च यश्च में दोनों त्यदादि हैं सो कौन शेष रहे कौन हटे ? इस बात को त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत् तच्छिष्यते (वा० १।२।७२) वार्तिक ने बताया कि त्यदादियों में क्रम से जो परे परे के हैं वे शेष रह जाते हैं, अगले हट जाते हैं सो 'स च यश्च' में परला ही शेष रहा, तो 'यौ' (वह और जो) बना ॥

एकशेष

ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री ॥१।२।७३॥

ग्राम्यपशुसङ्घेषु ७।३॥अतरुणेषु १।१॥स्त्री १।१॥ ग्रामे भवा ग्राम्याः, ग्रामाद्यखञौ (४।२।९३) इत्यनेन यत् प्रत्ययः ॥ स०—ग्राम्याश्च ते पशवश्च, ग्राम्यपशवः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। ग्राम्यपशूनां सङ्घाः=समूहाः, ग्राम्यपशुसङ्घास्तेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु षष्ठीतत्पुरुषः न विद्यन्ते तरुणा येषु सङ्घेषु तेऽतरुणास्तेषु, अतरुणेषु बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषः। अर्थः—अतरुणेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु स्त्री शिष्यते पुमान् निवर्त्तते ॥ पुमान् स्त्रिया (१।२।६७) इत्यनेन पुंसः शेषे प्राप्ते स्त्रीशेषो विधीयते ॥ उदा०—गावश्च वृषभाश्च=गाव इमाश्चरन्ति, महिषाश्च महिष्यश्च महिष्य इमाश्चरन्ति ॥

भाषार्थः—[अतरुणेषु] तरुणों से रहित [ग्राम्यपशुसङ्घेषु] ग्रामीण पशुओं के समूह में [स्त्री] स्त्री (स्त्री पशु) शेष रह जाता है, पुमान् (नर) हट जाते हैं ॥

यह सूत्र पुमान स्त्रिया का अपवाद है। उससे पुंलिंग शब्द का शेष प्राप्त था, इसने ग्राम्य पशुओं के झुण्ड को कहने में स्त्रीलिंग शब्द को शेष कर दिया, पुंलिंग शब्द हट गया ॥ गावश्च वृषभाश्च में गौ स्त्रीलिंग शब्द है, सो वह शेष रह गया, वृषभ पुंलिंग हट गया, तो गावः (गाय और बैल) बना। इसी प्रकार 'महिष्य इमाः' में जानें ॥

गाय और बैलों का समूह साथ साथ चरता हो तो लोक में भी "ये गायें चरती हैं" ऐसा कहा जाता है, न कि "ये गाय बैल चरते हैं" ऐसा कहा जाता है, सो वही इस सूत्र ने विधान कर दिया ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

धातु

भूवादयो धातवः ॥१।३।१॥

भूवादयः १।३॥ धातवः १।३॥ स०—भूश्च वाश्च भूवौ, भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—भू इत्येवमादयः वा इत्येवंप्रकारकाः क्रिया-वचनाः शब्दा धातुसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—भवति, पठति, वाति ॥

भाषार्थः—[भूवादयः] भू जिनके आदि में हैं तथा 'वा' (धातु) के समान जो क्रियावाची शब्द हैं उनकी [धातवः] धातु संज्ञा होती है ॥ यहां 'भू' के साथ जो आदि शब्द सम्बन्धित होगा वह व्यवस्था वाची है, "भू आदि में है जिनके उनकी" तथा 'वा' के साथ जो आदि शब्द लगेगा, वह प्रकारवाची है, "वा के प्रकारवाली (क्रियावाची)" यह अर्थ होता है, अतः 'भू' जो पृथिवी का वाचक है उसकी धातु संज्ञा नहीं होती, इसी प्रकार 'वा गतिगन्धनयोः' जो क्रियावाची है उसी 'वा' की धातु संज्ञा होती है, 'वा' जो विकल्पार्थक निपात है, उसकी नहीं होती, क्योंकि ये सब "वाप्रकारक"=क्रियावाची नहीं हैं। धातु संज्ञा होने से धातोः (३।१।९१) के अधिकार में कहे, तिबादि प्रत्यय आ जाते हैं ॥

[इत्संज्ञाप्रकरण]

इत्

उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥१।३।२॥

उपदेशे ७।१॥ अच् १।१॥ अनुनासिकः १।१॥ इत् १।१॥ अर्थः—उपदेशे योऽनुनासिकोऽच् तस्य इत्संज्ञा भवति ॥ उदा०—पठँ=पठति, वदँ=वदति, एधँ=एधते, सुँ ॥

भाषार्थः—[उपदेशे] उपदेश में होनेवाला जो [अनुनासिकः] अनुनासिक (मुख और नासिका से बोला जानेवाला) [अच्] अच् उसकी [इत्] इत् संज्ञा होती है ॥

उपदेश यहां पाणिनि मुनि के बनाये ५ ग्रन्थों का नाम है—

(१) अष्टाध्यायी, (२) धातुपाठ, (३) उणादि सूत्र, (४) गणपाठ, (५) लिङ्गानुशासन, इनमें होनेवाले अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा होती है ॥ पठ इत्यादियों में 'अ' अनुनासिक पाणिनि जी ने पढ़ा था, जो 'पठँ' ऐसा था, पर अब ये

अनुनासिक चिह्न लगभग २०००वर्षों से लुप्त हो गये हैं, जो अब सर्वथा बताने ही पड़ते हैं ॥

इत् संज्ञा का प्रयोजन उस इत्संज्ञक का तस्य लोपः (१।३।८)से लोप करना है॥

यहां से 'उपदेशे' की तथा 'इत्' की अनुवृत्ति १।३।८ तक जाती है ॥

इत्

हलन्त्यम् ॥१।३।३॥

हल् १।१॥ अन्त्यम् १।१॥ अन्ते भवमन्त्यं, दिगादित्वात् (४।३।५४) यत् प्रत्ययः ॥ स०—हस्य ल् हल्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ हल् च हल् च=हल् सरूपाणामित्यनेन (१।२।६४) एकशेषः, जातिविवक्षायामेकवचनञ्च, अनया रीत्या हल् प्रत्याहारो निष्पद्यते ॥ अनु०—उपदेशे, इत् ॥ अर्थः—उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्संज्ञकं भवति ॥ उदा०—अइउण् इति णकारस्य । ऋलृक् इति ककारस्य ॥

भाषार्थः—उपदेश में जो [अन्त्यम्] अन्तिम [हल्] हल् उसकी इत् संज्ञा होती है ॥

विशेषः—यहां यह बात विचार की है, कि प्रथम प्रत्याहार सूत्र 'हल्' के ल्' की इत् संज्ञा हो, तो हल् प्रत्याहार बने, तब हलन्त्यम् सूत्र बने, पर जब तक हलन्त्यम् सूत्र नहीं बनता, तब तक 'हल्' के 'ल्' की इत् संज्ञा हो ही नहीं सकती, सो इतरेतराश्रय दोष आता है, उस दोष को हटाने के लिये 'हस्य ल्' ऐसा समास किया गया है, पुनः हल् च हल् का एकशेष किया है अर्थात् प्रत्याहार वाले हल् सूत्र के "ह के समीप जो 'ल्' उसकी इत् संज्ञा होती है ऐसा कहने से 'हल्' प्रत्याहार बन गया । पश्चात् हल् का एकशेष करने पर "अन्तिम हल् की इत् संज्ञा होती है" यह अर्थ हो जाता है, सो दोष नहीं रहता । वस्तुतः यह द्वितीयावृत्ति का विषय है, पर समास की उपयोगिता दिखाने के लिये यह सब लिख दिया है ॥ यहां से 'हलन्त्यम्' की अनुवृत्ति १।३।४ तक जायगी ।

इत् - निषेध

न विभक्तौ तुस्माः ॥१।३।४॥

न अ० ॥ विभक्तौ ७।१ ॥ तुस्माः १।३॥ स०—तुश्च सश्च मश्च तुस्माः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपदेशे हलन्त्यम् इत् ॥ अर्थः—विभक्तौ वर्तमानानामन्त्यानां तवर्गसकारमकाराणामित्संज्ञा न भवति ॥ पूर्वेणान्त्यं हल् इत्संज्ञकं प्राप्तमनेन प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—रामात् वृक्षात्, इति तकारस्य । सकारः—जस्, शस्, भिस्, ङस्, ओस् । मकारः—अम्, आम् ॥

भाषार्थः—[विभक्तौ] विभक्ति में वर्तमान जो [तुस्माः] तवर्ग सकार और मकार, वे अन्तिम हल् होते हुये भी इत्संज्ञक [न] नहीं होते ॥ यह पूर्व सूत्र का अपवाद है ॥

रामात् में जो ङसि के स्थान में टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) से 'आत्' हुआ था, वह स्थानिवत् होकर विभक्ति का तकार था। सो पूर्व सूत्र से इत् संज्ञा प्राप्त थी, इस सूत्र से निषेध हो गया। इसी प्रकार जस् ङस् अम् इत्यादि के अन्तिम सकार मकार की इत् संज्ञा पूर्व सूत्र से होनी चाहिये थी, पर वह इनके विभक्ति में वर्त्तमान होने से नहीं होती ॥

इत् आदिर्ञिटुडवः ॥१।३।५॥

आदिः १।१॥ ञिटुडवः १।३॥ स०—ञिश्च टुश्च डुश्च ञिटुडवः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे आदौ वर्त्तमानानां ञि, टु, डु इत्येतेषामित्संज्ञा भवति ॥ उदा०—ञिमिदा=मिन्नः । ञिधृषा=धृष्टः । ञिक्ष्विदा=क्ष्विण्णः । ञिइन्धी=इद्धः । टुवेपृ=वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते । टुओश्वि=श्वयथुः । डुपचष्=पक्त्रिमम् । डुवप्=उप्त्रिमम् । डुकृञ्=कृत्रिमम् ॥

भाषार्थः—उपदेश में [आदिः] आदि में वर्त्तमान जो [ञिटुडवः] ञि टु और डु उनकी इत् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'आदिः' की अनुवृत्ति १।३।८ तक जाती है ॥

इत् षः प्रत्ययस्य ॥१।३।६॥

षः १।१॥ प्रत्ययस्य ६।१॥ अनु०—आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्य आदिः षकार इत्संज्ञको भवति ॥ उदा०—नर्त्तकी, रजकी ॥

भाषार्थः—उपदेश में [प्रत्ययस्य] प्रत्यय के आदि में जो [षः] षकार उसकी इत् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति १।३।८ तक जाती है ॥

इत् चुटू ॥१।३।७॥

चुटू १।२॥ स०—चुश्च टुश्च चुटू, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रत्ययस्य, आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चवर्गटवर्गौ इत्संज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—कौञ्जायन्यः । ब्राह्मणाः । शाण्डिक्यः । टवर्गः—वाचा । कुरुचरी, मद्रचरी । उपसरजः, मन्दुरजः । आन्नः ॥

भाषार्थः—उपदेश में प्रत्यय के आदि के जो [चुटू] चवर्ग और टवर्ग उनकी इत् संज्ञा हो जाती है ॥

इत्

लशक्वतद्धिते ॥१।३।८॥

लशकु १।१॥ अतद्धिते ७।१॥ स०—लश्च शश्च कुश्च लशकु, समाहारद्वन्द्वः। न तद्धितः अतद्धितः, तस्मिन् अतद्धिते, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रत्ययस्य, आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्यादयः लकारशकारकवर्गाः इत्संज्ञका भवन्ति, तद्धितं वर्जयित्वा ॥ उदा०—लकारः—चयनम्, जयनम्। शकारः—भवति, पचति। कवर्गः—भुक्तः, भुक्तवान्। प्रियंवदः, वशंवदः। ग्लास्नुः जिष्णुः भूष्णुः। भङ्गुरम्। वाचः ॥

भावार्थः— उपदेश में प्रत्यय के आदि में वर्तमान जो [लशकु] लकार शकार और कवर्ग उनकी इत् संज्ञा होती है, [अतद्धिते] तद्धित को छोड़कर ॥

इत्

तस्य लोपः ॥१।३।९॥

तस्य ६।१॥ लोपः १।१॥ अर्थः—तस्येत्संज्ञकस्य लोपो भवति ॥ उदाहरणानि पूर्वसूत्रेष्वेव द्रष्टव्यानि ॥

भावार्थः—[तस्य] जिसकी इत् संज्ञा होती है, उसका (सारे का) [लोपः] लोप हो जाता है ॥

यथासङ्ख्य

यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥१।३।१०॥

यथासङ्ख्यम् अ० ॥ अनुदेशः १।१॥ समानाम् ६।३॥ स०—सङ्ख्यामनतिक्रम्य यथासंख्यम्, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—समानाम्=समसङ्ख्यानामनुदेशः=पश्चात् कथनम्, यथासङ्ख्यं=सङ्ख्याक्रमेण भवति ॥ उदा०—इको यणचि, तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः (४।३।९४)। तूदीशब्दात् ढक् प्रत्ययः=तौदेयः। शलातुरात् छण्=शालातुरीयः। वर्मतीशब्दात् ढञ्=वार्मतेयः। कूचवारात् यक्=कौचवार्यः, अत्र क्रमेणानुदेशा भवन्ति ॥

भावार्थः—[समानाम्] सम सङ्ख्यावाले शब्दों के स्थान में [अनुदेशः] पीछे आनेवाले शब्द [यथासङ्ख्यम्] यथाक्रम, अर्थात् पहले स्थान में पहला, दूसरे के स्थान में दूसरा इत्यादि होते हैं ॥

उदा०—इको यणचि। तूदीशला० (४।३।९४) तौदेयः (तूदी प्रदेश का रहनेवाला)। शालातुरीयः[1] (शलातुर ग्राम का रहनेवाला) वार्मतेयः (वर्मती नगर का रहने वाला)। कौचवार्यः (कूचवार प्रदेश का रहनेवाला) ॥

---

१. शलातुर ग्राम पंजाब का एक ऐतिहासिक ग्राम था। कहा जाता है कि यहीं पाणिनि जी का जन्म हुआ था।

उदाहरणों में पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा अनुदेश हुआ है। इको यणचि में क्रम से इक्=इ, उ, ऋ, लृ को यण्=य्, व्, र्, ल् होते हैं। इसी प्रकार तूदी शब्द से ढक्, शलातुर से छण् आदि क्रम से ही हुये हैं ।। सिद्धियों में पूर्ववत् ही आदि अच् को वृद्धि (७।२।११७),तथा आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से 'ढ' को एय्, 'छ' को 'ईय्' आदि हुए हैं, ऐसा जानें । और कुछ विशेष नहीं है ।।

स्वरित से अधिकार **स्वरितेनाधिकारः ।।१।३।११।।**[1]

स्वरितेन ३।१।। अधिकारः १।१।। अर्थः—स्वरितेन चिह्नेनाधिकारो वेदितव्यः ।। उदा०—प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२), धातोः (३।१।९१), अङ्गस्य (६।४।१)।।

भाषार्थः—[स्वरितेन] जहां स्वरित का चिह्न (ऊपर खड़ी ऊर्ध्व रेखा) हो, उसे [अधिकारः] अधिकार सूत्र जानना चाहिये ।।

[आत्मनेपद-प्रकरणम्] आत्मनेपद

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ।।१।३।१२।।

अनुदात्तङितः ५।१।। आत्मनेपदम् १।१।। स०—अनुदात्तश्च ङश्च अनुदात्तङौ, अनुदात्तङौ इतौ यस्य, स अनुदात्तङित्, तस्मात् अनुदात्तङितः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।। अर्थः—अनुदात्तेतो ङितश्च धातोः[2] आत्मनेपदं भवति ।। उदा०—आस—आस्ते । वस—वस्ते । एध—एधते । षूङ्—सूते । शीङ्—शेते ।।

भाषार्थः—[अनुदात्तङितः] अनुदात्त जिसका इत्संज्ञक हो उस धातु से, तथा ङकार जिसका इत्संज्ञक हो उस धातु से भी [आत्मनेपदम्] आत्मनेपद होता है ।।

यहां से 'आत्मनेपदम्' का अधिकार १।३।७७ तक जाता है ।।

भावकर्मणोः ।।१।३।१३।। आत्मनेपद

भावकर्मणोः ७।२।। स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः भावकर्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—आत्मनेपदम् ।। अर्थः—भावे कर्मणि चार्थे धातोरात्मनेपद

---

१ यह स्वरित का चिह्न पुराकाल में पाणिनि मुनि ने अधिकारसूत्रों पर लगाया था । इस समय वे विलुप्त हो गये हैं, सो अधिकारसूत्र कौन-कौनसे हैं, अब यह अध्यापक को ही बताना पड़ता है, क्योंकि स्वरित चिह्न का क्रम तो रहा नहीं ।

२ यहां 'धातु' शब्द सामर्थ्य से आ जाता है, क्योंकि आत्मनेपद और परस्मैपद धातु से ही होते हैं ।।

भवति ।। उदा०—भावे—आस्यते देवदत्तेन, ग्लायते भवता, सुप्यते भवता। कर्मणि—देवदत्तेन वेदः पठ्यते, देवदत्तेन फलं खाद्यते, क्रियते कटस्त्वया, ह्रियते भारो मया ।।

भाषार्थः—[भावकर्मणोः]भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में (धातु से) आत्मनेपद होता है ।।

विशेषः—यहाँ यह समझ लेने का विषय है कि भाववाच्य कर्मवाच्य और कर्तृवाच्य क्या होता है, तथा किन-किन धातुओं से होता है। हम यहाँ संक्षेप से ही उसका निरूपण करते हैं—

अकर्मक धातुओं से भाव तथा कर्त्ता में लकार एवं प्रत्यय आते हैं, तथा सकर्मक धातुओं से लकार एवं प्रत्यय कर्म तथा कर्त्ता में होते हैं, देखो सूत्र (३।४।६९,६७, ७०)। जब क्रिया के साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं होता या नहीं हो सकता, तब वह क्रिया अकर्मक होती है। जैसे—देवदत्त आस्ते, देवदत्तः स्वपिति, यहाँ 'आस' धातु के साथ न कर्म का सम्बन्ध है न हो सकता है, तथा स्वप के साथ भी कर्म का सम्बन्ध नहीं है, अतः आस्ते तथा स्वपिति में कर्तृवाच्य में लकार आये हैं। भाववाच्य में इन्हीं का आस्यते देवदत्तेन, सुप्यते देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा बैठा जाता है, सोया जाता है) बनेगा। अकर्मक होने से उपर्युक्त लिखे अनुसार इनका कर्म नहीं हो सकता ।

सामान्यतया वैयाकरणों ने भाव का लक्षण किया है—"अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः" अर्थात् जिसमें हिलना-जुलना आदि न पाया जावे, ऐसे साधन से सिद्ध किया हुआ धातु का अर्थ भाव कहलाता है। उपर्युक्त उदाहरण में देवदत्त बैठा है, सो रहा है, उसमें हिलना-जुलना आदि नहीं हो रहा है। अतः ये धातु अकर्मक हैं। जब धातु के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है या हो सकता है, तब वह धातु 'सकर्मक' होती है। ऊपर लिखे अनुसार सकर्मक धातुओं से लकार कर्म तथा कर्त्ता में आयेंगे, भाव में नहीं आयेंगे ।।

देवदत्तः वेदं पठति, देवदत्तः फलं खादति, यहाँ पठ तथा खाद धातु का कर्त्ता (देवदत्त) के साथ सम्बन्ध है, सो यहाँ पठति खादति में कर्त्ता में लकार आए हैं। कर्मवाच्य में इन्हीं का पठ्यते वेदः देवदत्तेन, खाद्यते फलं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा वेद पढ़ा जाता है, फल खाया जाता है) बनता है ।।

जब क्रिया और कर्त्ता का अधिकरण=आश्रय परस्पर समान होता है, तब कर्तृवाच्य क्रिया बनती है। कर्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता को कहती है ।।

जब क्रिया और कर्म का अधिकरण एक होता है, तो कर्मवाच्य क्रिया बनती है। कर्मवाच्य में क्रिया कर्म को कहती है ॥

भाववाच्य क्रिया में भाव अर्थात् धात्वर्थमात्र कहा जाता है। सो आस्यते इस भाववाच्य क्रिया से 'बैठनामात्र' अभिप्रेत है ॥ कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्त्ता में तृतीया विभक्ति अनभिहिते (२।३।१) अधिकार में वर्त्तमान कर्त्तृकरणोस्तृतीया (२।३।१८) सूत्र से हुई है। विभक्ति-वचन की व्यवस्था वहीं अनभिहिते (२।३।१) सूत्र पर ही देखें ॥

भाव तथा कर्म में चार बातें कर्त्तृवाच्य से विशेष होती हैं—

(१) आत्मनेपद—जो इसी (१।३।१३) सूत्र से होता है। (२) यक्—सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से होता है। (३) चिण्—चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६) से होता है। (४) चिण्वद्भाव—स्यसिच्... चिण्वदिट् च (६।४।६२) से होता है। इस सम्बन्ध में तत्तत्सूत्र देख लेना चाहिये ॥

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे॥ १।३।१४॥ आत्मनेपद

कर्त्तरि ७।१॥ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ स०—कर्मणः व्यतिहारः कर्मव्यतिहारः, तस्मिन्......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ कर्मशब्दः क्रियावाची, न तु कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९) इति । व्यतिहारः=विनिमयः परस्परक्रियाकरणम् ॥ अर्थः—क्रियायाः व्यतिहारे=विनिमये कर्त्तृवाच्ये धातोरात्मनेपदं भवति॥ उदा०—व्यतिलुनते क्षेत्रम्ः, व्यतिपुनते वस्त्रम् ॥

भाषार्थः—[कर्मव्यतिहारे] क्रिया के व्यतिहार अर्थात् अदल-बदल करने अर्थ में [कर्त्तरि] कर्त्तृवाच्य में धातु से आत्मनेपद होता है ॥

यहां से 'कर्मव्यतिहारे' की अनुवृत्ति १।३।१६ तक जाती है ॥

न गतिहिंसार्थेभ्यः ॥१।३।१५॥ आत्मनेपद निषेध

न अ० ॥ गतिहिंसार्थेभ्यः ५।३॥ स०—गतिश्च हिंसा च गतिहिंसे, गतिहिंसे अर्थौ येषां ते गतिहिंसार्थाः, तेभ्यः...द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यः हिंसार्थेभ्यश्च कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—गत्यर्थेभ्यः—व्यतिगच्छन्ति, व्यतिसर्पन्ति । हिंसार्थेभ्यः—व्यतिहिंसन्ति, व्यतिघ्नन्ति ॥

भाषार्थः—[गतिहिंसार्थेभ्यः] गत्यर्थक तथा हिंसार्थक धातुओं से कर्मव्यतिहार

अर्थ में आत्मनेपद [न] नहीं होता है ॥ पूर्वसूत्र से कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया है ॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति १।३।१६ तक जाती है ॥

इतरेतरान्योन्योपपदाच्च ॥१।३।१६॥

इतरेतरान्योन्योपपदात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—इतरेतरश्च अन्योन्यश्च इतरेतरान्योन्यौ, तावुपपदे यस्य स इतरेतरान्योन्योपपदः,तस्मात्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—न, कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—इतरेतरान्योन्योपपदात् धातोः आत्मनेपदं न भवति कर्मव्यतिहारेऽर्थे ॥ **उदा०**—इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति, अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति ॥

भाषार्थः—[इतरे . दात्] **इतरेतर तथा अन्योन्य शब्द यदि उपपद (समीप में श्रूयमाण) हों, तो [च] भी धातु से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है ॥ यह सूत्र भी (१।३।१४) का अपवाद है ॥**

उदा०—**इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति (एक-दूसरे का काटते हैं), अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति (एक-दूसरे का काटते हैं) ॥ सिद्धि परि० १।३।१४ के समान है ॥**

नेर्विशः ॥१।३।१७॥

नेः ५।१॥ विशः ५।१॥ **अनु०**—आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—निपूर्वात् विश (तुदा० पर०) धातोः आत्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—निविशते, निविशेते, निविशन्ते ॥

भाषार्थः—[नेः] **नि उपसर्गपूर्वक** [विशः] **विश धातु से आत्मनेपद होता है॥ विश धातु धातुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी है । सो इसे आत्मनेपद नहीं प्राप्त था, अतः कह दिया ॥**

उदा०—**निविशते (प्रवेश करता है), निविशेते, निविशन्ते ॥ सिद्धियां पूर्ववत् ही हैं । निविशेते की सिद्धि परि० १।१।११ के पचेते के समान जानें ॥**

विशेषः—**धातुपाठ में धातुएँ आत्मनेपदी परस्मैपदी पृथक्-पृथक् पढ़ी ही हैं, सो उन्हीं से कौन आत्मनेपदी हैं कौन परस्मैपदी हैं, इसका परिज्ञान हो ही जायगा, पुनः इस प्रकरण का विधान इसलिये किया है कि जो परस्मैपदी धातु थीं,उनसे आत्मनेपद कब हो जाता है, और जो आत्मनेपदी धातु थीं उनसे परस्मैपद कब हो जाता है, यह बात दर्शा दी जाय । धातुपाठ की सूची, तथा इस प्रकरण से आत्मनेपद और परस्मैपद का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है । सो पाद के अन्त तक यही विधान समझना चाहिये ॥**

परिव्यवेभ्यः क्रियः ॥१।३।१८॥

आत्मनेपद

परिव्यवेभ्यः ५।३॥ क्रियः ५।१॥ स०—परिश्च विश्च अवश्च परिव्यवाः, तेभ्यः…… इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—परि वि अव इत्येवं पूर्वात् डुक्रीञ् धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—परिक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते ॥

भाषार्थः—[परिव्यवेभ्यः] परि वि तथा अव उपसर्ग पूर्वक [क्रियः] डुक्रीञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ ञित् होने से स्वरितञितः०(१।३।७२) से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था । अकर्त्रभिप्राय क्रियाफल (जब क्रिया का फल कर्त्ता के अभिप्राय को सिद्ध न कर रहा हो) में भी आत्मनेपद हो जाये, इसलिये यह वचन है ॥

आत्मनेपद

विपराभ्यां जेः ॥१।३।१९॥

विपराभ्याम् ५।२॥ जेः ५।१॥ स०—विश्च पराश्च विपरौ, ताभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—वि, परा इत्येवं पूर्वाद् जिधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विजयते, पराजयते ॥

भाषार्थः—[विपराभ्याम्] वि, परा पूर्वक [जेः] 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है ॥ 'वि जि शप् त' इस स्थिति में 'जि' अङ्ग को गुण, तथा ६।१।७५ से अयादेश होकर विजयते (विजय को प्राप्त होता है), पराजयते (हराता है, अथवा हारता है) बना है ॥

आत्मनेपद

आङो दोऽनास्यविहरणे ॥१।३।२०॥

आङः ५।१॥ दः ५।१॥ अनास्यविहरणे ७।१॥ स०—आस्यस्य विहरणम्, आस्यविहरणम्, षष्ठीतत्पुरुषः । न आस्यविहरणमनास्यविहरणं, तस्मिन्… नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनास्यविहरणेऽर्थे वर्त्तमानाद् आङ् पूर्वात् डुदाञ् धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विद्याम् आदत्ते ॥

भाषार्थः—[आङः] आङ्पूर्वक [दः] डुदाञ् धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वह [अनास्यविहरणे] मुख को खोलने अर्थ में वर्त्तमान न हो तो ॥

यहाँ से 'आङः' की अनुवृत्ति १।३।२१ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च ॥१।३।२१॥

क्रीडः ५।१॥ अनुसंपरिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—अनुश्च सम् च परिश्च अनुसंपरयः, तेभ्यः…… इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आङः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—

अनु, सम्, परि, इत्येवंपूर्वाद् आङ्पूर्वाच्च क्रीडधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अनुक्रीडते, संक्रीडते, परिक्रीडते, आक्रीडते ॥

भावार्थः—[अनुसंपरिभ्यः] अनु, सम्, परि [च] और आङ्पूर्वक [क्रीडः] क्रीड धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—अनुक्रीडते (साथ में खेलता है)। संक्रीडते (मस्त होकर खेलता है) परिक्रीडते (खूब खेलता है)। आक्रीडते (खेलता है) ॥

आत्मनेपद

समवप्रविभ्यः स्थः ॥१।३।२२॥

समवप्रविभ्यः ५।३॥ स्थः ५।१॥ स०—सम् च अवश्च प्रश्च विश्च समवप्रवयः, तेभ्यः······इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्, अव, प्र, वि इत्येवं पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपद भवति ॥ उदा०—सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते ॥

भावार्थः—[समवप्रविभ्य.] सम्, अव्, प्र तथा वि पूर्वक [स्थः] स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥

शप् परे रहते स्था को 'तिष्ठ' आदेश पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) से हो गया है। शेष सिद्धि पूर्ववत ही है ॥

उदा०—सन्तिष्ठते (सम्यक् स्थित होता है)। अवतिष्ठते (अवस्थित होता है)। प्रतिष्ठते (प्रस्थान करता है)। वितिष्ठते (विशेष रूप से स्थित होता है) ॥

यहां से 'स्थः' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ॥१।३।२३॥

प्रकाशनस्थेयाख्ययोः ७।२॥ च अ० ॥ तिष्ठन्ति अस्मिन्निति स्थेयः। स०—स्थेयस्याख्या स्थेयाख्या, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रकाशनञ्च स्थेयाख्या च प्रकाशनस्थेयाख्ये, तयोः ·········इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—स्वाभिप्रायस्य प्रकाशने, स्थेयाख्ये=विवादपदनिर्णेतुराख्यायां च वर्त्तमानात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०— विद्या तिष्ठते छात्राय। भार्या तिष्ठते पत्ये। स्थेयाख्यायाम्—त्वयि तिष्ठते, मयि तिष्ठते ॥

भावार्थः—[प्रका.....योः] प्रकाशन=अपने भाव के प्रकाशन में, तथा स्थेयाख्या=विवाद के निर्णय करनेवाले को कहने अर्थ में [च] भी स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—विद्या तिष्ठते छात्राय (विद्या छात्र को अपना स्वरूप प्रकाशित करती

है)। भार्या तिष्ठते पत्ये (पतिव्रता स्त्री अपने पति को अपना स्वरूप दर्शाती है)। त्वयि तिष्ठते (निर्णायक के रूप में तुम्हारे ऊपर आश्रित है), मयि तिष्ठते ॥

उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ॥१।३।२४॥ आत्मनेपद

उदः ५।१॥ अनूर्ध्वकर्मणि ७।१॥ स०—ऊर्ध्वं चादः कर्म च ऊर्ध्वकर्म, कर्मधारयः। न ऊर्ध्वकर्म अनूर्ध्वकर्म, तस्मिन्ं नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनूर्ध्वकर्मण्यर्थे वर्त्तमानाद् उत्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—गेहे उत्तिष्ठते, कुटुम्बे उत्तिष्ठते ॥

भाषार्थः—[अनूर्ध्वकर्मणि] अनूर्ध्वकर्म अर्थात् ऊपर उठने अर्थ में वर्त्तमान न हो, तो [उदः] उत् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उत् उपसर्ग ऊपर उठने अर्थ में ही प्रायः आता है ॥ गेहे उत्तिष्ठते में ऊपर उठना अर्थ नहीं है, प्रत्युत "घर में उन्नति करता है" यह अर्थ है, सो आत्मनेपद हो गया ॥

उपान्मन्त्रकरणे ॥१।३।२५॥ आत्मनेपद

उपात् ५।१॥ मन्त्रकरणे ७।१॥ स०—मन्त्रः करणं यस्य (धात्वर्थस्य) स मन्त्रकरणः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—मन्त्रकरणेऽर्थे वर्त्तमानाद् उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते ॥

भाषार्थः—[मन्त्रकरणे] मन्त्र करण (=साधकतम) है जिसका, उस अर्थ में वर्त्तमान [उपात्] उपपूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते (इन्द्रदेवतावाली ऋचा को बोलकर गार्हपत्य अग्नि के समीप जाता है)। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते (अग्निदेवतावाली ऋचा को बोलकर आग्नीध्र के पास जाता है) ॥

यहां से 'उपात्' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

अकर्मकाच्च ॥ १।३।२६॥ आत्मनेपद

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—न विद्यते कर्म यस्य सोऽकर्मकः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपात्, स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अकर्मकाद् उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते (भोजने भोजने सन्निधीयते इत्यर्थः) ॥

भावार्थः—उपपूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक स्था धातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते (भोजन के समय पास खड़ा होता है) ॥ उदाहरण में स्था धातु अकर्मक है, सो आत्मनेपद हुआ ॥

यहाँ से 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

उद्विभ्यां तपः ॥१।३।२७॥

उद्विभ्याम् ५।२॥ तपः ५।१॥ स०—उत् च विश्च उद्वी, ताभ्याम्⋯इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उद् वि इत्येवंपूर्वादकर्मकात् तपधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—उत्तपते। वितपते ॥

भावार्थः—[उद्विभ्याम्] उत् वि पूर्वक अकर्मक [तपः] तप धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—उत्तपते (खूब गरम होता है)। वितपते (विशेष रूप से गरम होता है)॥

आत्मनेपद

आङो यमहनः ॥१।३।२८॥

आङः ५।१॥ यमहनः ५।१॥ स०—यमश्च हन् च यमहन्, तस्मात्⋯⋯समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आङ् पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां यम हन इत्येताभ्यां धातुभ्यामात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आयच्छते, आयच्छेते। आहते, आघ्नाते ॥

भावार्थः—[आङः] आङ् पूर्वक अकर्मक [यमहनः] यम् और हन् धातुओं से आत्मनेपद होता है ॥

आत्मनेपद

समो गम्यृच्छिभ्याम् ॥१।३।२९॥

समः ५।१॥ गम्यृच्छिभ्याम् ५।२॥ स०—गमिश्च ऋच्छिश्च गम्यृच्छी, ताभ्याम्⋯⋯इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां गम् ऋच्छ इत्येताभ्यां धातुभ्यामात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सङ्गच्छते। समृच्छते ॥

भावार्थः—[समः] सम्पूर्वक अकर्मक [गम्यृच्छिभ्याम्] गम् तथा ऋच्छ धातुओं से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—सङ्गच्छते (साथ-साथ चलता है)। समृच्छते (प्राप्त होता है) ॥ सङ्गच्छते की सिद्धि परि० १।३।२८ के आयच्छते के समान जानें। केवल यहाँ सम्

के मकार को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार, तथा वा पदान्तस्य (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' हो गया है, यही विशेष है ॥

निसमुपविभ्यो ह्वः ॥१।३।३०॥

निसमुपविभ्यः ५।३॥ ह्वः ५।१॥ स०—निश्च सम् च उपश्च विश्च निसमुपवयः, तेभ्यः……इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—नि सम् उप वि इत्येवंपूर्वाद् ह्वेञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—निह्वयते। संह्वयते। उपह्वयते। विह्वयते ॥

भाषार्थः—[निसमुपविभ्यः] नि, सम्, उप तथा विपूर्वक [ह्वः] ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥

ह्वेञ् के ञित होने से कर्त्रभिप्राय विषय में आत्मनेपद प्राप्त था, यहां अकर्त्रभिप्रायविषय में भी आत्मनेपद हो जाये, इसलिये यह सूत्र है। ञित् धातुओं में आगे भी यही प्रयोजन समझते जाना चाहिये ॥

उदा०—निह्वयते (निश्चयरूप से बुलाता है)। संह्वयते (अच्छी प्रकार बुलाता है)। उपह्वयते (समीप बुलाता है)। विह्वयते (विशेषरूप से बुलाता है) ॥

'निह्वे अ ते' इस अवस्था में एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर निह्वयते आदि बन गये हैं। कुछ भी विशेष नहीं है ॥

यहां से 'ह्वः' की अनुवृत्ति १।३।३१ तक जाती है ॥

स्पर्धायामाङः ॥१।३।३१॥

स्पर्धायाम् ७।१॥ आङः ५।१॥ अनु०—ह्वः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—स्पर्धायां विषये आङ्पूर्वाद् ह्वेञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—मल्लो मल्लमाह्वयते। छात्रश्छात्रमाह्वयते ॥

भाषार्थः—[स्पर्धायाम्] स्पर्धा-विषय में [आङः] आङ्पूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—मल्लो मल्लमाह्वयते (एक मल्ल=पहलवान दूसरे मल्ल को कुश्ती के लिये ललकारता है, अर्थात् स्पर्धा करता है)। छात्रश्छात्रमाह्वयते (एक छात्र दूसरे को स्पर्धा से ललकारता है) ॥

गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः ॥१।३।३२॥

गन्धना…योगेषु ७।३॥ कृञः ५।१॥ स०—गन्धनञ्च अवक्षेपणञ्च सेवनञ्च

साहसिक्यञ्च प्रतियत्नश्च प्रकथनञ्च उपयोगश्च गन्धना···योगाः, तेषु···इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—गन्धनम्=सूचनम्, अवक्षेपणं=भर्त्सनम्, सेवनं=सेवा, साहसिक्यं=साहसिकं कर्म, प्रतियत्नः=गुणान्तराधानम्, प्रकथनं=प्रकर्षेण कथनम्, उपयोगः=धर्मार्थो विनियोगः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानात् कृञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—गन्धने—उत्कुरुते, उदाकुरुते । अवक्षेपणे—श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते । सेवने—आचार्यमुपकुरुते शिष्यः । साहसिक्ये—परदारान् प्रकुरुते । प्रतियत्ने—एधोदकस्योपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते । प्रकथने—जनापवादान् प्रकुरुते, गाथाः प्रकुरुते । उपयोगे—शतं प्रकुरुते, सहस्रं प्रकुरुते ॥

भाषार्थः—[गन्धना...योगेषु] गन्धन=चुगली करना, अवक्षेपण=धमकाना, सेवन=सेवा करना, साहसिक्य=जबरदस्ती करना, प्रतियत्न=किसी गुण को भिन्न गुण में बदलना, प्रकथन=बढ़ा-चढ़ाकर कहना, तथा उपयोग=धर्मादिकार्य में लगाना, इन अर्थों में वर्त्तमान [कृञः] कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—उत्कुरुते, उदाकुरुते (चुगली करता है) । श्येनो वर्त्तिकामुदाकुरुते (श्येन=बाज पक्षी बतख को भर्त्सना करता है, अर्थात् उठाकर ले जाना चाहता है) । आचार्यमुपकुरुते शिष्यः (शिष्य आचार्य की सेवा करता है) । परदारान् प्रकुरुते (पराई स्त्री पर दुस्साहस करता है)। एधोदकस्योपस्कुरुते (ईंधन जल के गुण को बदलता है)। काण्डं गुडस्योपस्कुरुते (सुकलाई[1]=भिण्डी का पौधा गुड़ के गुण को बदलता है) । जनापवादान् प्रकुरुते (लोगों की बुराई को अच्छी तरह बढ़ाचढ़ाकर कहता है), गाथाः प्रकुरुते (कथायें अच्छी प्रकार करता है) । शतं प्रकुरुते (सौ रुपये धर्मकार्य में लगाता है), सहस्रं प्रकुरुते ॥

यहां से 'कृञः' की अनुवृत्ति १।३।३५ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

अधेः प्रसहने ॥१।३।३३॥

अधेः ५।१॥ प्रसहने ७।१॥ अनु०—कृञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्रसहनेऽर्थे वर्त्तमानादधिपूर्वात् कृञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शत्रुमधिकुरुते ॥

भाषार्थः—[प्रसहने] प्रसहन अर्थ में वर्त्तमान [अधेः] अधिपूर्वक कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ प्रसहन किसी को दबा लेने या हरा देने को कहते हैं ॥

उदा०—शत्रुमधिकुरुते (शत्रु को वश में करता है) ॥

---

१. भिण्डी के पौधे को गुड़ बनाते समय रस में डालकर गुड़ साफ किया जाता है।

वेः शब्दकर्मणः ॥१।३।३४॥

वेः ५।१॥ शब्दकर्मणः ५।१॥ स०—शब्दः कर्म यस्य स शब्दकर्मा, तस्मात् शब्दकर्मणः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कृञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विपूर्वात् शब्दकर्मणः कृञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् । ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान् ॥

भाषार्थः—[शब्दकर्मणः] शब्दकर्मवाले [वेः] विपूर्वक कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा० – क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् (गीदड़ स्वरों को बिगाड़-बिगाड़ कर बोलता है) । ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान् (कौवा स्वरों को बिगाड़-बिगाड़ कर बोलता है)॥ उदाहरणों में 'विकुरुते' का 'स्वर' शब्दकर्म है, सो आत्मनेपद हो गया है ॥

यहां से 'वेः' की अनुवृत्ति १।३।३५ तक जाती है ॥

अकर्मकाच्च ॥१।३।३५॥

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—वेः, कृञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विपूर्वाद् अकर्मकात् कृञ्धातोरप्यात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विकुर्वते सैन्धवाः। ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते ॥

भाषार्थः—विपूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक कृञ् धातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ वि+कुरु+झ, पूर्ववत् होकर झ को आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से अत् आदेश होकर, तथा इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर 'विकुर्वते' बना ॥

उदा०—विकुर्वते सैन्धवाः (अच्छी प्रकार सिखाये हुए घोड़े चौकड़ी मारते हैं)। ओदनस्य पूर्णाश्छात्राः विकुर्वते (भरपेट चावल खाकर छात्र व्यर्थ कूद-फांद करते हैं)॥

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः ॥१।३।३६॥

सम्माननोत्स······व्ययेषु ७।३।। नियः ५।१॥ स०—सम्माननञ्च उत्सञ्जनं च आचार्यकरणं च ज्ञानं च भृतिश्च विगणनं च व्ययश्च सम्माननोत्··· व्ययाः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्माननं=पूजनम्, उत्सञ्जनम्=उत्क्षेपणम्, आचार्यकरणम्=आचार्यक्रिया, ज्ञानं=तत्त्वनिश्चयः, भृतिः =वेतनम्, विगणनं=ऋणादेर्निर्यातनम्, व्ययः=धर्मादिषु विनियोगः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्तमानाद् णीञ् प्रापणे धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सम्माननम्— मातरं सन्नयते, नयते आचार्यो वेदेषु । उत्सञ्जनम्—दण्डमुन्नयते, माणवकमुदानयते । आचार्यकरणम् —माणवकमुपनयते । ज्ञानम्—नयते बुद्धिः वेदेषु । भृतिः—कर्मकरान् उपनयते । विगणनम्—मद्राः करं विनयन्ते । व्ययः—शतं विनयते, सहस्रं विनयते ॥

भावार्थः—[सम्मानन···व्ययेषु] सम्मानन=पूजा, उत्सञ्जन=उछालना, आचार्यकरण=आचार्य किया, ज्ञान=तत्त्वनिश्चय, विगणन =ऋणादि का चुकाना, व्यय =धर्मादि-कार्यों में व्यय करना, इन अर्थों में वर्तमान [नियः] णीञ् धातु से आत्मनेपद होता है ।।

उदा०—सम्मानन–मातरं सन्नयते (माता की पूजा करता है), नयते आचार्यो वेदेषु (आचार्य शिष्य की बुद्धि को वेदों में प्रवृत्त कराता है, वह उसमें प्रवृत्त होकर सम्मान को प्राप्त होता है) । उत्सञ्जन—दण्डमुन्नयते (दण्ड को उछालता है), माणवकमुदानयते (बच्चे को उछालता है) । आचार्यकरण—माणवकमुपनयते (बच्चे का उपनयन करता है) । ज्ञान—नयते बुद्धिः वेदेषु (वेदविषय में बुद्धि चलती है) । भृति—कर्मकरानुपनयते (नौकरों को वेतन देकर अपने अनुकूल करता है) । विगणन—मद्राः करं विनयन्ते (मद्र देशवासी कर देते हैं) । व्यय—शतं विनयते, सहस्रं विनयते (धर्मकार्य में सौ रुपये देता, वा सहस्र रुपये देता है) ।

यहाँ से 'नियः' की अनुवृत्ति १।३।३७ तक जायेगी ।।

कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि ।।१।३।३७।।

कर्तृस्थे ७।१।। च अ०।। अशरीरे ७।१।। कर्मणि ७।१।।स०—कर्तरि तिष्ठतीति कर्तृस्थः, तत्पुरुषः । न शरीरम् इति अशरीरम्, तस्मिन्नशरीरे, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—नियः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—कर्तृस्थेऽशरीरे कर्मणि च सति णीञ्धातोरात्मनेपदं भवति ।। उदा०—क्रोधं विनयते, मन्युं विनयते ।।

भावार्थः—[कर्तृस्थे] कर्ता में स्थित [अशरीरे] शरीर-भिन्न [कर्मणि] कर्म होने पर [च] भी णीञ् धातु से आत्मनेपद होता है ।। उदा०—क्रोधं विनयते, मन्युं विनयते (क्रोध को दूर करता है, मन्यु को दूर करता है) ।। यहाँ पर क्रोध और मन्यु णीञ् धातु के शरीर-भिन्न कर्म हैं, तथा कर्ता में स्थित भी हैं । अतः णीञ् धातु से आत्मनेपद हो गया ।।

वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ।।१।३।३८।।

वृत्तिसर्गतायनेषु ७।३।। क्रमः ५।१।। स०—वृत्तिश्च सर्गश्च तायनञ्च वृत्तिसर्गतायनानि, तेषु वृत्तिसर्गतायनेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—आत्मनेपदम् ।। अर्थः—वृत्तिः=अप्रतिबन्धः, सर्गः=उत्साहः, तायनं=विस्तारः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति ।। उदा०—वृत्तिः—मन्त्रेषु अस्य क्रमते बुद्धिः । सर्गः—व्याकरणाऽध्ययनाय क्रमते । तायनम्—अस्मिन् शास्त्राणि क्रमन्ते ।।

भावार्थः—[वृत्तिसर्गतायनेषु] वृत्ति=अनिरोध (बिना रुकावट के चलना),

सर्ग=उत्साह, तायन=विस्तार, इन अर्थों में वर्तमान [क्रमः] क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—वृत्ति—मन्त्रेषु अस्य क्रमते बुद्धिः (मन्त्रों में इसकी बुद्धि खूब चलती है, रुकती नहीं है) । सर्ग—व्याकरणाध्ययनाय क्रमते (व्याकरण पढ़ने में उत्साहित होता है) । तायन—अस्मिन् शास्त्राणि क्रमन्ते (इसमें शास्त्र समृद्ध होते हैं) ॥ सिद्धि पूर्ववत् ही है ॥

यहाँ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति १।३।४३ तक जायेगी, तथा 'वृत्तिसर्गतायनेषु' की अनुवृत्ति १।३।३९ तक जायेगी ॥

उपपराभ्याम् ॥१।३।३९॥ आत्मनेपद

उपपराभ्याम् ५।२॥ स०—उपश्च पराश्च उपपरौ, ताभ्यामुपपराभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उपपरापूर्वाद् वृत्तिसर्गतायनेष्वर्थेषु वर्त्तमानात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—उपक्रमते । पराक्रमते ॥

भाषार्थः—[उपपराभ्याम्] उप परा पूर्वक क्रम धातु से वृत्ति सर्ग तथा तायन अर्थों में आत्मनेपद होता है (अन्य कोई उपसर्ग पूर्व में हो तो नहीं होता है) ॥

उदा०—उपक्रमते (उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ करता है) । पराक्रमते (पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ करता है) ॥

आङ उद्गमने ॥१।३।४०॥ आत्मनेपद

आङः ५।१॥ उद्गमने ७।१॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आङ्पूर्वात् क्रमधातोरुद्गमनेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आदित्य आक्रमते। आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतींषि ॥

भाषार्थः—[आङः] आङ् पूर्वक [उद्गमने] उद्गमन=उदय होने अर्थ में क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—आदित्य आक्रमते (सूर्य उदय होता है) । आक्रमते चन्द्रमाः (चन्द्रमा उदय होता है) । आक्रमन्ते ज्योतींषि (तारागण उदय होते हैं) ॥

वेः पादविहरणे ॥१।३।४१॥ आत्मनेपद

वेः ५।१॥ पादविहरणे ७।१॥ स०—पादयोः विहरणं पादविहरणम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विपूर्वात् क्रमधातोः पादविहरणेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सुष्ठु विक्रमते वाजी, साधु विक्रमते वाजी ॥

भाषार्थः—[वेः] विपूर्वक [पादविहरणे] पादविहरण=पैर उठाने अर्थ में वर्त्तमान क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ।। उदा०—सुष्ठु विक्रमते वाजी, साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा सुन्दर कदम उठाता है) ।।

आत्मनेपद प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ।।१।३।४२।।

प्रोपाभ्याम् ५।२।। समर्थाभ्याम् ५।२।। स०— समः (समानः) अर्थो ययोः तौ समर्थौ, ताभ्याम्, बहुव्रीहिः । प्रोपाभ्यामित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—प्र उप इत्येवंपूर्वात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति, यदि तौ 'प्र उप' उपसर्गौ समर्थौ=समानार्थौ=तुल्यार्थौ भवतः ।। आदिकर्मण्यर्थेऽनयोस्तुल्यार्थता भवति ।। उदा०—प्रक्रमते भोक्तुम् । उपक्रमते भोक्तुम् ।।

भाषार्थ—[प्रोपाभ्याम्] प्र उप पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वे प्र उप उपसर्ग [समर्थाभ्याम्] समानार्थक=तुल्य अर्थवाले हों, अर्थात् दोनों का एक अर्थ हो तो ।। आदिकर्म अर्थात् कार्य की प्रारम्भिक अवस्था को कहने में दोनों तुल्यार्थक होते हैं ।। उदा०—प्रक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना प्रारम्भ करता है) । उपक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना प्रारम्भ करता है) ।।

आत्मनेपद विकल्प अनुपसर्गाद्वा ।।१।३।४३।।

अनुपसर्गात् ५।१।। वा अ० ।। स०—न उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—अनुपसर्गात्=उपसर्गरहितात् क्रमधातोर्वाऽऽत्मनेपदं भवति ।। उदा०—क्रमते, क्रामति ।।

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित क्रम धातु से आत्मनेपद [वा] विकल्प करके होता है ।। सिद्धि पूर्ववत् है, केवल परस्मैपद पक्ष में क्रमः परस्मैपदेषु (७।३। ७६) से दीर्घ होकर 'क्रामति' बनता है ।। उदा०—क्रमते, क्रामति (चलता है) ।।

आत्मनेपद अपह्नवे ज्ञः ।।१।३।४४।।

अपह्नवे ७।१।। ज्ञः ५।१।। अनु०—आत्मनेपदम् ।। अर्थः अपह्नवोऽपलापः, तस्मिन् वर्त्तमानात् ज्ञाधातोरात्मनेपदं भवति ।। उदा०—शतम् अपजानीते । सहस्रम् अपजानीते ।।

भाषार्थः—[अपह्नवे] अपह्नव अर्थात् मिथ्याभाषण अर्थ में वर्त्तमान [ज्ञः] ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है ।। उदा०—शतम् अपजानीते (सौ रुपये के लिये झूठ बोलता है) । सहस्रम् अपजानीते (हजार रुपये के लिए झूठ बोलता है) ।।

यहां से "ज्ञः" की अनुवृत्ति १।३।४६ तक जायेगी ।।

अकर्मकाच्च ॥१।३।४५॥ आत्मनेपद

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—ज्ञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः – अकर्मकात् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सर्पिषो जानीते, मधुनो जानीते ॥

भाषार्थः – [अकर्मकात्] अकर्मक ज्ञा धातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ सिद्धि पूर्ववत् है । सर्पिषः, मधुनः में करण में षष्ठी ज्ञोऽविदर्थस्य करणे (२।३।५१) से हुई है ॥ उदा०—सर्पिषो जानीते (घी समझकर प्रवृत्त होता है) । मधुनो जानीते (शहद समझकर प्रवृत्त होता है) ॥

संप्रतिभ्यामनाध्याने ॥१।३।४६॥ आत्मनेपद

संप्रतिभ्याम् ५।२॥ अनाध्याने ७।१॥ स०—सम् च प्रतिश्च सम्प्रती, ताभ्याम् सम्प्रतिभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न आध्यानम् अनाध्यानम्, तस्मिन् अनाध्याने, नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—ज्ञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम् प्रति इत्येवं पूर्वाद् अनाध्यानेऽर्थे वर्त्तमानाद् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शतं संजानीते, सहस्रं संजानीते । शतं प्रतिजानीते, सहस्रं प्रतिजानीते ॥

भाषार्थः—[सम्प्रतिभ्याम] सम् प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से [अनाध्याने] अनाध्यान अर्थात् उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ में वर्तमान न हो, तो आत्मनेपद होता है ॥ पूर्वसूत्र में अकर्मक से आत्मनेपद का विधान किया था । यहाँ पर सम् प्रति पूर्वक सकर्मक से भी हो जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥ उदा०—शतं संजानीते, सहस्रं संजानीते (सौ वा हजार की प्रतिज्ञा करता है) । शतं प्रतिजानीते, सहस्रं प्रतिजानीते (सौ वा हजार की प्रतिज्ञा करता है) ॥

आत्मनेपद

भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः ॥१।३।४७॥

भासनोप··· मन्त्रणेषु ७।३॥ वदः ५।१॥ स०—भासनञ्च उपसंभाषा च ज्ञानञ्च यत्नश्च विमतिश्च उपमन्त्रणञ्च भासनोप·····मन्त्रणानि, तेषु, इतरेतरयोग-द्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—भासनं = दीप्तिः, उपसंभाषा = उपसान्त्वनम्, ज्ञानं = सम्यगवबोधः, यत्नः = उत्साहः, विमतिः = नानामतिः, उपमन्त्रणम् = एकान्ते भाषणम्, इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानाद् वदधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—भासनम्—शास्त्रे वदते । उपसम्भाषा—कर्मकरानुपवदते । ज्ञानम्—व्याकरणे वदते । यत्नः—क्षेत्रे वदते, गेहे वदते । विमतिः—क्षेत्रे विवदन्ते, गेहे विवदन्ते । उपमन्त्रणम्—राजानम् उपवदते मन्त्री ॥

भाषार्थः—[भासन...णेषु] भासन आदि अर्थों में वर्त्तमान [वदः] वद धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—भासन—शास्त्रे वदते (शास्त्र में उसकी बुद्धि प्रकाशित होती है)। उपसंभाषा—कर्मकरानुपवदते (नौकरों को सान्त्वना देता है)। ज्ञान—व्याकरणे वदते (व्याकरण का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करता है) यत्न—क्षेत्रे वदते, गेहे वदते (क्षेत्र में वा घर में पुरुषार्थ करता है) विमति—क्षेत्रे विवदन्ते, गेहे विवदन्ते (खेत में या घर में विवाद करते हैं)। उपमन्त्रण—राजानम् उपवदते मन्त्री (राजा से मन्त्री एकान्त में सलाह करता है) ॥

यहां से 'वदः' की अनुवृत्ति १।३।५० तक जायेगी ॥

व्यक्तवाचां समुच्चारणे ॥१।३।४८॥ आत्मनेपद

व्यक्तवाचां ६।३॥ समुच्चारणे ७।१॥ स०—व्यक्ता वाग् येषाम् ते व्यक्तवाचः, तेषां व्यक्तवाचाम्, बहुव्रीहिः। समुच्चारणे इत्यत्र कुगतिप्रादयः (२।२।१८) इत्यनेन तत्पुरुषः ॥ अनु०—वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—व्यक्तवाचां=स्पष्टवाचां समुच्चारणे=सहोच्चारणेऽर्थे वर्त्तमानाद् वदधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—संप्रवदन्ते ब्राह्मणाः। संप्रवदन्ते क्षत्रियाः ॥

भाषार्थः—[व्यक्तवाचाम्] स्पष्टवाणीवालों के [समुच्चारणे] सहोच्चारण=एक साथ उच्चारण करने अर्थ में वर्त्तमान वद धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः (ब्राह्मण परस्पर मिलकर उच्चारण करते हैं)। संप्रवदन्ते क्षत्रियाः (क्षत्रिय परस्पर मिलकर उच्चारण करते हैं) ॥

यहां से "व्यक्तवाचां समुच्चारणे" सारा सूत्र १।३।५० तक जायेगा ॥

अनोरकर्मकात् ॥१।३।४९॥

आत्मनेपद

अनोः ५।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ अनु०—व्यक्तवाचां समुच्चारणे, वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपूर्वाद् अकर्मकाद् वद-धातोर्व्यक्तवाचां समुच्चारणेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अनुवदते कठः कलापस्य। अनुवदते मौद्गः पैप्पलादस्य ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु पूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक वद धातु से व्यक्तवाणीवालों के एक साथ उच्चारण करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—अनुवदते कठः कलापस्य (जैसे कलाप-शाखाध्यायी बोलता है, वैसे ही उसके पीछे कठ बोलता है)। अनुवदते मौद्गः पैप्पलादस्य (जैसे पैप्पलाद-शाखावाला बोलता है, वैसे ही उसके पीछे मौद्ग-शाखावाला बोलता है) ॥

विभाषा विप्रलापे ॥१।३।५०॥ आत्मनेपद विभाषा

विभाषा १।१॥ विप्रलापे ७।१॥ **अनु०**—व्यक्तवाचां समुच्चारणे, वदः, आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—विप्रलापे=विरुद्धकथनात्मके व्यक्तवाचां समुच्चारणेऽर्थे वर्त्तमानाद् वद-धातोरात्मनेपदं वा भवति ॥ **उदा०**— विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ति सांवत्सराः। विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[विप्रलापे] **परस्पर-विरुद्ध कथनरूप, व्यक्तवाणीवालों के सह उच्चारण में वर्त्तमान वद धातु से आत्मनेपद** [विभाषा] **विकल्प करके होता है, पक्ष में परस्मैपद होता है ॥ पूर्वसूत्र** व्यक्तवाचां समुच्चारणे (१।३।४८) **से नित्य आत्मनेपद प्राप्त था, यहां विकल्प कर दिया ॥** उदा०—**विप्रवदन्ते** सांवत्सराः, **विप्रवदन्ति सांवत्सराः (ज्योतिषी लोग परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं)। विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैयाकरणाः (वैयाकरण लोग परस्पर खण्डन करते हैं) ॥**

अवाद् ग्रः ॥१।३।५१॥ आत्मनेपद

अवात् ५।१॥ ग्रः ५।१॥ **अनु०**—आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—'गॄ निगरणे' तुदादौ पठ्यते, तस्येदं ग्रहणम्। अवपूर्वाद् 'गॄ निगरणे' इत्यस्माद् धातोरात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—अवगिरते, अवगिरेते, अवगिरन्ते ॥

भाषार्थः—[अवात्] **अवपूर्वक** [ग्रः] **'गॄ निगरणे' धातु से आत्मनेपद होता है ॥** उदा०—**अवगिरते (निगलता है) ॥**

पूर्ववत् 'गॄ+त' होकर तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) **से शप् का अपवाद श होकर,** ऋत इद्धातोः (७।१।१००) **से ऋ को इत् होकर,** उरण्रपरः (१।१।५०) **से रपरत्व होकर—'अव गिर् अ त'=अवगिरते पूर्ववत् बन गया ॥**

यहां से 'ग्रः' की अनुवृत्ति १।३।५२ तक जायेगी ॥

समः प्रतिज्ञाने ॥१।३।५२॥ आत्मनेपद

समः ५।१॥ प्रतिज्ञाने ७।१॥ **अनु०**— ग्रः, आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—सम्पूर्वात् प्रतिज्ञाने=प्रतिज्ञाऽर्थे वर्त्तमानाद् गॄ-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०** – शतं सङ्गिरते। नित्यं शब्दं सङ्गिरते ॥

भाषार्थः—[समः] **सम् पूर्वक गॄ धातु से** [प्रतिज्ञाने] **स्वीकार करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥** उदा०—**शतं संगिरते (सौ रुपये स्वीकार करता है)। नित्यं शब्दं संगिरते (शब्द नित्य होता है, ऐसा स्वीकार करता है) ॥**

उदश्चरः सकर्मकात् ॥१।३।५३॥

उदः ५।१॥ चरः ५।१॥ सकर्मकात् ५।१॥ स०—सह कर्मणेति सकर्मकः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उत्पूर्वात् सकर्मकात् चर्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—गेहमुच्चरते । कुटुम्बमुच्चरते । गुरुवचनमुच्चरते ॥

भाषार्थः--[उदः] उत् पूर्वक [सकर्मकात्] सकर्मक [चरः] चर् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ यहां गेहम् कुटुम्बं आदि चर् धातु के कर्म हैं, अतः सकर्मक चर् धातु है ॥ उदा०—गेहम् उच्चरते (घर की बात न मानकर चला जाता है)। कुटुम्बमुच्चरते (कुटुम्ब की बात न मानकर चला जाता है) । गुरुवचनमुच्चरते (गुरुवचन न मानकर चला जाताहै) । उत् चरते, यहां स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से त को च् होकर उच्चरते बना । शेष पूर्ववत् ही है ॥

यहां से "चरः" की अनुवृत्ति १।३।५४ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

समस्तृतीयायुक्तात् ॥१।३।५४॥

समः ५।१॥ तृतीयायुक्तात् ५।१॥ स०—तृतीयया युक्तः तृतीयायुक्तः, तस्मात्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—चरः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् तृतीया-युक्तात् चर्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अश्वेन सञ्चरते ॥

भाषार्थः—[तृतीयायुक्तात्] तृतीया विभक्ति से युक्त [समः] सम् पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—अश्वेन सञ्चरते (घोड़े से चलता है) ॥

यहां से "समस्तृतीयायुक्तात्" की अनुवृत्ति १।३।५५ तक जायेगी ॥

आत्मनेपद

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥१।३।५५॥

दाणः ५।१॥ च अ० ॥ सा १।१॥ चेत् अ० ॥ चतुर्थ्यर्थे ७।१॥ स०—चतुर्थ्या अर्थः चतुर्थ्यर्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—समस्तृतीयायुक्तात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् तृतीयायुक्तात् 'दाण् दाने' इति धातोरात्मनेपदं भवति, सा चेत् तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवति ॥ उदा०—स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपाध्यायेन सक्तून् सम्प्रयच्छते ॥ अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम्, इत्यनेन वार्त्तिकेनात्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया भवति ॥

भाषार्थः—तृतीया से युक्त सम् पूर्वक [दाणः] दाण् धातु से [च] भी आत्मनेपद होता है, [चेत्] यदि [सा] वह तृतीया [चतुर्थ्यर्थे] चतुर्थी के अर्थ में हो तो ॥ चतुर्थी के अर्थ में तृतीया उपरिलिखित वार्त्तिक से होती है ॥ दाण् को यच्छ आदेश पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) सूत्र से शित् परे रहते हुआ है । शेष पूर्ववत् ही समझें ॥

उदा०—स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपाध्यायेन सक्तून् संप्रयच्छते (छात्र अपने आप चावल खाता है और उपाध्याय को सत्तू देता है) ॥

उपाद्यमः स्वकरणे ॥१।३।५६॥

उपात् ५।१॥ यमः ५।१॥ स्वकरणे ७।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उपपूर्वात् स्वकरणे=पाणिग्रहणे=विवाहेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—कन्यामुपयच्छते ॥

भाषार्थः—[स्वकरणे] स्वकरण अर्थात् पाणिग्रहण अर्थ में वर्त्तमान [उपात्] उप पूर्वक [यमः] यम् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—कन्यामुपयच्छते (कन्या से विवाह करता है) ॥ 'उप+यम्+शप्+त' इस अवस्था में इषुगमियमां छः (७।३।७७) से छ आदेश अन्त्य अल् मकार के स्थान में होकर, छे च (६।१।७१) से तुक् का आगम होकर—'उप+य+त्+छ्+अ+त' बना। स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से त् को च्, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर—कन्याम् उपयच्छते बन गया ॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः ॥१।३।५७॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां ६।३॥ सनः ५।१॥ स०—ज्ञा च श्रु च स्मृ च दृश् च इति ज्ञाश्रुस्मृदृशः, तेषां ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम्॥ अर्थः—ज्ञा श्रु स्मृ दृश् इत्येतेषां सन्नन्तानाम् आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—धर्मं जिज्ञासते । गुरुं शुश्रूषते । नष्टं सुस्मूर्षते । नृपं दिदृक्षते ॥

भाषार्थः—[ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्] ज्ञा, श्रु, स्मृ, दृश् इन धातुओं के [सनः] सन्नन्त से परे आत्मनेपद होता है ॥ ये धातुयें परस्मैपदी थीं, अतः इन्हें पूर्ववत्सनः (१।३।६२) से आत्मनेपद प्राप्त नहीं था, सो यह सूत्र बनाया ॥ उदा०—धर्मं जिज्ञासते (धर्म को जानने की इच्छा करता है) । गुरुं शुश्रूषते (गुरुवचन को सुनने की इच्छा करता है) । नष्टं सुस्मूर्षते (नष्ट हुये को स्मरण करना चाहता है) । नृपं दिदृक्षते (राजा को देखने की इच्छा करता है) ॥

यहाँ से "सनः" की अनुवृत्ति १।३।५९ तक जायेगी ॥

नानोर्ज्ञः ॥१।३।५८॥

न अ० ॥ अनोः ५।१॥ ज्ञः ५।१॥ अनु०—सनः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपूर्वात् सन्नन्तात् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं न भवति ॥ पूर्वेण सूत्रेणात्मनेपदं प्राप्तं तत् प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—पुत्रम् अनुजिज्ञासति ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु पूर्वक सन्नन्त [ज्ञः] ज्ञा धातु से आत्मनेपद [न] नहीं होता है ॥ पूर्व सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया ॥

उदा०—पुत्रम् अनुजिज्ञासति (पुत्र को अनुमति देना चाहता है) ॥

यहां से "न" की अनुवृत्ति १।३।५९ तक जाती है ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ॥१।३।५९॥

प्रत्याङ्भ्यां ५।२॥ श्रुवः ५।१॥ स०—प्रतिश्च आङ् च प्रत्याङौ, ताभ्याम् — इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, सनः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्रति आङ् इत्येवं-पूर्वात् सन्नन्तात् श्रु-धातोरात्मनेपदं न भवति ॥ उदा०—प्रतिशुश्रूषति । आशुश्रूषति ॥

भाषार्थः—[प्रत्याङ्भ्याम्] प्रति आङ्पूर्वक सन्नन्त [श्रुवः] श्रु धातु से आत्मनेपद नहीं होता है ॥ ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः (१।३।५७) से सामान्य करके आत्मनेपद प्राप्त था, यहाँ प्रति आङ्पूर्व होने पर निषेध कर दिया है ॥ उदा० प्रतिशुश्रूषति (बदले में सुनना चाहता है)। आशुश्रूषति (अच्छे प्रकार सुनना चाहता है) ॥

शदेः शितः ॥१।३।६०॥

शदेः ५।१॥ शितः ६।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—शित् सम्बन्धी यः शद्लृ धातुः, तस्मादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शीयते । शीयेते । शीयन्ते ॥

भाषार्थः—[शितः] शित्सम्बन्धी जो [शदेः] 'शद्लृ शातने' धातु, उससे आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—शीयते (काटता है)। शीयेते । शीयन्ते ॥ शद्+शप्+त', इस अवस्था में पाघ्राध्मास्था० (७।३।७८) से 'शीय' आदेश होकर पूर्ववत् शीयते बन जाता है ॥

यहां से "शितः" की अनुवृत्ति १।३।६१ तक जाती है ॥

म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ॥१।३।६१॥

म्रियतेः ५।१॥ लुङ्लिङोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—लुङ् च लिङ् च लुङ्लिङौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—शितः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—लुङ्लिङोः शिद्भावी च यो "मृङ् प्राणत्यागे" इति धातुः, तस्मादात्मनेपदं भवति॥ उदा०—अमृत । मृषीष्ट। शित्—म्रियते । म्रियेते । म्रियन्ते ॥

भाषार्थः—[लुङ्लिङोः] लुङ् लिङ् लकार में [च] तथा शित् विषय में जो [म्रियतेः] 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु, उससे आत्मनेपद होता है ॥ मृङ् धातु ङित थी,

सो उसे अनुदात्तङित० (१।३।१२) सूत्र से आत्मनेपद सिद्ध ही था, पुनर्विधान नियमार्थ है कि इसको इन-इन विषयों में ही आत्मनेपद हो, सर्वत्र न हो ॥ उदा०—अमृत, मृषीष्ट (वह मर गया, वा मर जाये)। शित्—म्रियते (मरता है), म्रियेते, म्रियन्ते ॥ अमृत, मृषीष्ट की सिद्धि परि० १।२।११ के समान समझें। १।२।११ सूत्र से कित्वत् होता है, तथा अमृत में सिच के सकार का लोप ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से होगा ॥ म्रियते में रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से मृङ् के ऋ को रिङ् आदेश होकर, अचिश्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से इयङ् होकर 'म्रिय् अ त' रहा, पूर्ववत् सब होकर— म्रियते बन गया ॥

पूर्ववत् सनः ॥१।३।६२॥

पूर्ववत् अ० ॥ सनः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ पूर्ववद् इत्यत्र तेन तुल्यं० (५।१।११५) इति वतिः ॥ अर्थः—सनः पूर्वो यो धातुः 'आत्मनेपदी' तद्वत् सन्नन्तादपि आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आस्ते, शेते। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) इत्यनेनात्रात्मनेपदम्। तद्वत् सन्नन्तादपि आसिसिषते, शिशयिषते, इत्यत्रात्मनेपदं सिध्यति ॥

भाषार्थः—सन् प्रत्यय के आने के पूर्व जो धातु आत्मनेपदी रही हो, उससे [सनः] सन्नन्त से भी [पूर्ववत्] पूर्ववत् आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—आसिसिषते (बैठने की इच्छा करता है)। शिशयिषते (सोने की इच्छा करता है ॥ आस् तथा शीङ् धातु सन लाने से पूर्व आत्मनेपदी थीं, सो सन्प्रत्ययान्त बन जाने पर भी उन से आत्मनेपद हुआ ॥ यहां इतना और समझना चाहिए कि सन् से पूर्व जो आत्मनेपदी धातु, उससे आत्मनेपद कह देने पर यह बात स्वयमेव सिद्ध है कि सन् से पूर्व जो परस्मैपदी धातु है, उससे परस्मैपद हो जायगा, जैसे पिपठिषति ॥ सन्नन्त की सिद्धियां पूर्व दिखा ही आये हैं, यहां केवल 'आस्+इट्+सन्' ऐसी अवस्था में अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से प्रथम एकाच को द्वित्व न होकर द्वितीय एकाच् को 'आ सि सि स त' ऐसा द्वित्व हुआ, यही विशेष है। शेष पूर्ववत् हुआ ॥

आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ॥१।३।६३॥

आम्प्रत्ययवत् अ० ॥ कृञः ६।१॥ अनुप्रयोगस्य ६।१॥ स०—आम् प्रत्ययो यस्मात् स आम्प्रत्ययः, बहुव्रीहिः। तस्य इव आम्प्रत्ययवत्, तत्र तस्येव (५।१।११५) इत्यनेन वतिः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आम्प्रत्ययस्येव धातोरनुप्रयोगस्य कृञ आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—ईक्षाञ्चक्रे। ईहाञ्चक्रे ॥

भाषार्थः—[आम्प्रत्ययवत्] जिस धातु से आम् प्रत्यय किया गया है, उसके

समान ही [अनुप्रयोगस्य] पश्चात् प्रयोग की गई [कृञः] कृ धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥

प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ॥१।३।६४॥

प्रोपाभ्यां ५।२॥ युजे. ५।१॥ अयज्ञपात्रेषु ७।३॥ स०—प्रोपाभ्यामित्यत्रेतरेतर-योगद्वन्द्वः । यज्ञस्य पात्राणि यज्ञपात्राणि, षष्ठीतत्पुरुषः । न यज्ञपात्राणि अयज्ञ-पात्राणि, तेष्वयज्ञपात्रेषु, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्र, उप इत्येवंपूर्वाद् युज्-धातोरयज्ञपात्रप्रयोगविषये आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—प्रयुङ्क्ते । उपयुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[अयज्ञपात्रेषु] अयज्ञपात्र विषय में [प्रोपाभ्याम्] प्र उप पूर्वक [युजेः] 'युजिर् योगे' धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥

समः क्ष्णुवः ॥१।३।६५॥

समः ५।१॥ क्ष्णुवः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम् पूर्वात् 'क्ष्णु तेजने' इति धातोरात्मनेपद भवति ॥ उदा०—संक्ष्णुते । संक्ष्णुवाते । संक्ष्णुवते ॥

भाषार्थः—[समः] सम् पूर्वक [क्ष्णुवः] 'क्ष्णु तेजने' धातु से आत्मनेपद होता है॥ उदा०—संक्ष्णुते (तीक्ष्ण करता है)। संक्ष्णुवाते, संक्ष्णुवते में अचि श्नुधातुभ्रु वां० (६।४।७७) से उवङ् आदेश हो जाता है ॥

भुजोऽनवने ॥१।३।६६॥

भुजः ५।१॥ अनवने ७।१॥ स०—अनवन इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति रुधादौ पठ्यते, तस्येदं ग्रहणम् । भुजधातोरनवनेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—भुङ्क्ते । भुञ्जाते । भुञ्जते ॥

भाषार्थः—[अनवने] अनवन अर्थात् पालन न करने अर्थ में [भुजः] भुज् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—भुङ्क्ते (खाता है) ॥ परि० १।३।६४ के समान ही भुङ्क्ते की सिद्धि जानें ॥

णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्त्तानाध्याने ॥१।३।६७॥

णेः ५।१॥ अणौ ७।१॥ यत् १।१॥ कर्म १।१॥ णौ ७।१॥ चेत् अ० ॥ सः १।१॥ कर्त्ता १।१॥ अनाध्याने ७।१॥ स०—न णिः अणिः, तस्मिन्नणौ, नञ्तत्पुरुषः। न आध्यानम् अनाध्यानं, तस्मिन्ननाध्याने, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—

अण्यन्तावस्थायां यत्कर्म, ण्यन्तावस्थायां चेत् =यदि तदेव कर्म स एव कर्त्ता भवति, तदा तस्माद्ण्यन्ताद्धातोरात्मनेपदं भवति, आध्यानं वर्जयित्वा ॥ उदा०—अण्यन्ते—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, ण्यन्ते—आरोहयते हस्ती स्वयमेव । अण्यन्ते - उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, ण्यन्ते—उपसेचयते हस्ती स्वयमेव । अण्यन्ते - पश्यन्ति भृत्या राजानम्, ण्यन्ते—दर्शयते राजा स्वयमेव ॥

भाषार्थः—[अणौ] अण्यन्त अवस्था में [यत्] जो [कर्म] कर्म, [सः] वही [चेत्] यदि [णौ] ण्यन्त अवस्था में [कर्त्ता] कर्त्ता बन रहा हो, तो ऐसी [णे] ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है, [अनाध्याने] आध्यान (उत्कण्ठापूर्वक स्मरण) अर्थ को छोड़कर ॥ उदा०—अण्यन्ते—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हाथी पर चढ़ते हैं), यहां पर अण्यन्त आङ्पूर्वक रुह् धातु का "हस्तिनं" कर्म है । जब हाथी स्वयं झुककर महावत को चढ़ाने की चेष्टा करता है, तब उसी वाक्य को "आरोहयते हस्ती स्वयमेव" (हाथी स्वयं चढ़ाता है) इस प्रकार बोला जाता है । यहां पर आङ्पूर्वक रुह् धातु ण्यन्त है । अण्यन्त अवस्था में उसका कर्म 'हस्तिन' था, वही यहां पर कर्त्ता हुआ है । अतः ण्यन्त आङ्पूर्वक रुह् धातु से आत्मनेपद हो ही गया ॥ उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हस्ती को पानी फेंककर नहलाते हैं), उपसेचयते हस्ती स्वयमेव (हाथी स्वयं झुककर महावत से पानी डलवाता है) । पश्यन्ति भृत्या राजानम् (नौकर राजा को देख रहे हैं), दर्शयते राजा स्वयमेव (राजा इस प्रकार से कर रहा है कि नौकर उसे देख लें) । इन उदाहरणों में भी अण्यन्त अवस्था के कर्म 'हस्तिनं' और 'राजानम्' ण्यन्त अवस्था में कर्त्ता बन गये, तो आत्मनेपद हो गया है ॥ सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है । हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर—आ रुह् इ बना, सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से पुनः धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् शप् त आकर गुण होकर—'आ रोह इ अ त' रहा । पुनः गुण होकर—आ रोहे अ त, अयादेश होकर—आरोहयते बना ॥

यहां से "णेः" की अनुवृत्ति १।३।७१ तक जायेगी ॥

भीस्म्योर्हेतुभये ॥१।३।६८॥

भीस्म्योः ६।२॥ हेतुभये ७।१॥ स०—भी च स्मि च भीस्मी, तयोः भीस्म्योः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । हेतोर्भयं हेतुभयं, तस्मिन् ···पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णेः,आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—'ञिभी भये,' 'ष्मिङ् ईषद्धसने,' आभ्यां ण्यन्ताभ्यामात्मनेपदं

भवति, हेतोः=प्रयोजकाच्चेद् भयं भवति ॥ उदा०—जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते । जटिलो विस्मापयते, मुण्डो विस्मापयते ॥

भाषार्थः—[भीस्म्योः] भी स्मि ण्यन्त धातुओं से [हेतुभये] हेतु=प्रयोजक कर्त्ता से भय होने पर आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते (जटावाला या मुंडा हुआ डराता है)। जटिलो विस्मापयते, मुण्डो विस्मापयते (जटावाला या मुंडा हुआ डराता है, विस्मित करता है) ॥

'भीषयते' की सिद्धि परि० १।१।४५ में कर आये हैं। 'विस्मापयते' में णिच् परे रहते नित्यं स्मयतेः (६।१।५६) से स्मिङ् को आत्व होकर— वि स्मा इ, अर्तिह्री-व्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ । सो 'विस्मा पुक् इ' रहा । शेष पूर्ववत् होकर 'विस्मापयते' बन जायेगा ॥

गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ॥१।३।६९॥

गृधिवञ्च्योः ६।२॥ प्रलम्भने ७।१॥ स०—गृधिश्च वञ्चिश्च गृधिवञ्ची, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—'गृधु अभिकांक्षायाम्,' 'वञ्चु गतौ' इत्येतयोर्ण्यन्तयोः प्रलम्भनेऽर्थे वर्त्तमानयोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—माणवकं गर्धयते । माणवकं वञ्चयते ॥

भाषार्थः—[गृधिवञ्च्योः] गृधु, वञ्चु ण्यन्त धातुओं से [प्रलम्भने] प्रलम्भन अर्थात् ठगने अर्थ में आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—माणवकं गर्धयते (बच्चे को भूषण आदि का प्रलोभन देता है) । माणवकं वञ्चयते (बच्चे को ठगता है) ॥

लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च ॥१।३।७०॥

लियः ५।१॥ सम्माननशालीनीकरणयोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—सम्माननञ्च शालीनीकरणञ्च इति सम्माननशालीनीकरणे, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—ण्यन्तात् लियः धातोः सम्मानने=पूजने, शालीनीकरणे=अभिभवने चकारात् प्रलम्भने च वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—जटाभिरालापयते । श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते । प्रलम्भने—कस्त्वामुल्लापयते ॥

भाषार्थः—यहाँ 'लियः' से 'लीङ् श्लेषणे' तथा 'ली श्लेषणे' दोनों धातुओं का ग्रहण है । [सम्मानन·· करणयो] सम्मानन तथा शालीनीकरण, [च] चकार से प्रलम्भन अर्थ में वर्त्तमान [लियः] ण्यन्त ली धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—जटाभिरालापयते (जटाओं के द्वारा पूजा को प्राप्त होता है) । श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते (बाज पक्षी बतख को दबाता है) । प्रलम्भने—कस्त्वामुल्लापयते

(कौन तुझको ठगता है) ॥ उद्+लापयते=उल्लापयते में तोर्लि (८।४।५९) से द् को ल् हो गया है। सर्वत्र विभाषा लीयतेः (६।१।५०) से आत्व होकर, अर्तिह्री्व्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ है। शेष पूर्ववत् ही जानें ॥

मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे ॥१।३।७१॥

मिथ्योपपदात् ५।१॥ कृञः ५।१॥ अभ्यासे ७।१॥ स०—मिथ्याशब्द उपपदं यस्य स मिथ्योपपदः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—मिथ्याशब्दोपपदादभ्यासे=पुनः पुनरावृत्तिकरणेऽर्थे वर्त्तमानात् कृञ्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—पदं मिथ्या कारयते ॥

भाषार्थः—[मिथ्योपपदात्] मिथ्या शब्द उपपद (=समीप पद) है जिसके, ऐसी ण्यन्त [कृञः] कृञ् धातु से [अभ्यासे] अभ्यास अर्थात् बार-बार करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—पदं मिथ्या कारयते (पद का बार-बार अशुद्ध उच्चारण करता है) ॥

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥१।३।७२॥

स्वरितञितः ५।१॥ कर्त्रभिप्राये ७।१॥ क्रियाफले ७।१॥ स०—स्वरितश्च ञश्च स्वरितञौ, स्वरितञौ इतौ यस्य स स्वरितञित्, तस्मात्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। कर्त्तारमभिप्रैतीति कर्त्रभिप्रायं, तस्मिन्, कर्मण्यण् (३।२।१) इत्यण्, उपपदतत्पुरुषः। क्रियाफले इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं भवति, क्रियाफलं यदि कर्त्तारमभिप्रैति ॥ उदा०—यजते। पचते। सुनुते। कुरुते ॥

भाषार्थः—[स्वरितञितः] स्वरितेत्=स्वरित इत्वाली तथा ञकार इत्वाली धातुओं से आत्मनेपद होता है, यदि उस [क्रियाफले] क्रिया का फल [कर्त्रभिप्राये] कर्त्ता को मिलता हो तो ॥

उदा०—यजते (अपने लिये यज्ञ करता है)। पचते (अपने लिये पकाता है) ॥ विदित रहे कि यहां 'यजते' का अर्थ यह होगा कि वह अपने स्वर्गादि फल के लिये यज्ञ करता है,न कि यजमान के लिये, उसमें तो यजति होगा। पचते का अर्थ भी इसी प्रकार अपने खाने के लिये पकाता है, न कि किसी दूसरे के लिये, उसमें पचति होगा। इस प्रकार इन धातुओं से उभयपद (आत्मनेपद-परस्मैपद) सिद्ध हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ कुरुते की सिद्धि परि० १।३।३२ में देखें। तथा सुनुते की सिद्धि परि० १।१।५ के सुनुतः के समान जानें। केवल यहां आत्मनेपद का 'त' आकर टित आत्मने० (३।४।७९) से एत्व हो जावेगा ॥ जहां तक कर्त्रभिप्राय

क्रियाफल की अनुवृत्ति जायेगी, वहां तक इसी प्रकार आत्मनेपद परस्मैपद दोनों ही हुआ करेंगे, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहां से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति १।३।७७ तक जायेगी ॥

अपाद्वदः ॥१।३।७३॥

अपात् ५।१॥ वदः ५।१॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अपपूर्वाद् वद-धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽर्थे आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—धनकामो न्यायमपवदते ॥

भावार्थः—[अपात्] अप पूर्वक [वदः] वद धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—धनकामो न्यायम् अपवदते (धन का लोभी न्याय छोड़कर बोलता है)। क्रिया का फल कर्त्ता को न मिलता हो, तो 'अपवदति' बनेगा ॥

णिचश्च ॥१।३।७४॥

णिचः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—णिजन्ताद्धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—कटं कारयते ॥

भावार्थः—[णिचः] णिजन्त धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—कटं कारयते (चटाई को अपने लिये बनवाता है)। यदि दूसरे के लिये बनवाता है, तो 'कटं कारयति' बनेगा ॥

समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे ॥१।३।७५॥

समुदाङ्भ्यः ५।३॥ यमः ५।१॥ अग्रन्थे ७।१॥ स०—समुदाङ्भ्य इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः। 'अग्रन्थे' इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम् उद् आङ् इत्येवंपूर्वाद् यम्-धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽर्थे आत्मनेपदं भवति, ग्रन्थविषयश्चेत् प्रयोगो न स्यात् ॥ उदा०—व्रीहीन् संयच्छते। भारम् उद्यच्छते। वस्त्रम् आयच्छते ॥

भावार्थः—[समुदाङ्भ्यः] सम् उद् आङ् पूर्वक [यमः] यम् धातु से [अग्रन्थे] ग्रन्थ-विषयक प्रयोग यदि न हो, तो कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—व्रीहीन् संयच्छते (चावलों को इकट्ठा करता है)। भारम् उद्यच्छते (भार को उठाता है)। वस्त्रम् आयच्छते (वस्त्र को फैलाता है)॥

आयच्छते इत्यादि की सिद्धि आङो यमहनः (१।३।२८) सूत्र पर कर आये हैं, वहीं देखें। अकर्त्रभिप्राय में 'संयच्छति' इत्यादि भी बन ही जायेगा ।।

अनुपसर्गाज्ज्ञः ॥१।३।७६॥

अनुपसर्गात् ५।१।। ज्ञः ५।१।। स०—न विद्यते उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—अनुपसर्गाद् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं भवति कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।। उदा०—गां जानीते। अश्वं जानीते ।।

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित [ज्ञः] ज्ञा धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में आत्मनेपद होता है ।। उदा० गां जानीते (अपनी गाय को जानता है)। अश्वं जानीते (अपने घोड़े को जानता है) ।। सिद्धियां अपह्नवे ज्ञः (१।३।४४) सूत्र की तरह ही समझें। अकर्त्रभिप्राय में 'अश्वं जानाति' बनेगा ।।

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ॥१।३।७७॥

विभाषा १।१।। उपपदेन ३।१।। प्रतीयमाने ७।१।। अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले उपरिष्टात् पञ्चभिः सूत्रैरात्मनेपदं विहितम्, तस्मिन् विषये उपपदेन=समीपोच्चरितेन पदेन कर्त्रभिप्राये क्रियाफले प्रतीयमाने=ज्ञायमाने सति विभाषाऽऽत्मनेपदं भवति ।। उदा०—स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते। स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुरुते। स्वं पुत्रम् अपवदति, स्वं पुत्रमपवदते, इत्यादीनि ।।

भाषार्थः - [उपपदेन] उपपद=समीपोच्चरित पद के द्वारा कर्त्रभिप्राय क्रियाफल के [प्रतीयमाने] प्रतीत होने पर [विभाषा] विकल्प करके, कर्त्रभिप्राय क्रियाफल विषय में आत्मनेपद होता है ।। ऊपर के पांचों सूत्रों से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद नित्य ही प्राप्त था, सो इस सूत्र ने उस विषय में भी विकल्प विधान कर दिया ।। यहां 'स्वं' उपपद से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल प्रतीत हो रहा है ।।

उदा०—स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते (अपने यज्ञ को करता है)। स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुरुते (अपनी चटाई बनाता है)। स्वं पुत्रम् अपवदति, स्वं पुत्रम् अपवदते (अपने पुत्र को बुरा-भला कहता है) ।।

[परस्मैपद-प्रकरणम्]

शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ॥१।३।७८॥

शेषात् ५।१।। कर्त्तरि ७।१।। परस्मैपदम् १।१।। अर्थः—येभ्यो धातुभ्यो येन

विशेषणेनात्मनेपदमुक्तं, ततो यदन्यत् स शेषः। शेषात् कर्त्तरि वाच्ये परस्मैपदं भवति॥ उदा०—याति । वाति । प्रविशति ॥

भाषार्थः—जिन धातुओं से जिस विशेषण द्वारा आत्मनेपद का विधान किया है, उनसे [शेषात्] जो शेष बची धातुयें, उनसे [कर्त्तरि] कर्तृवाच्य में [परस्मैपदम्] परस्मैपद होता है ॥ उदा०—याति (जाता है) । वाति (चलता है) । प्रविशति (प्रविष्ट होता है) ॥

यहाँ से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति पाद के अन्त १।३।९३ तक जाती है ॥

अनुपराभ्यां कृञः ॥१।३।७९॥

अनुपराभ्यां ५।२॥ कृञः ५।१॥ स०—अनुपराभ्यामित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अनु परा इत्येवंपूर्वात् कृञ्धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—अनुकरोति । पराकरोति ॥

भाषार्थः—[अनुपराभ्यां] अनु परा पूर्वक [कृञः] कृञ्-धातु से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—अनुकरोति (अनुकरण करता है) । पराकरोति (दूर करता है) ॥ गन्धन आदि अर्थों में, तथा स्वरितञितः० से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में जो आत्मनेपद प्राप्त था, उसका अपवाद यह सूत्र है ॥

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ॥१।३।८०॥

अभिप्रत्यतिभ्यः ५।३॥ क्षिपः ५।१॥ स०—अभि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अभि प्रति अति इत्येवं पूर्वात् क्षिप्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—अभिक्षिपति । प्रतिक्षिपति । अतिक्षिपति ॥

भाषार्थः—[अभिप्रत्यतिभ्यः] अभि प्रति तथा अति पूर्वक [क्षिपः] क्षिप्-धातु से परस्मैपद होता है ॥ क्षिप् धातु के स्वरितेत् होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था, यहां परस्मैपद का विधान कर दिया है ॥ उदा०—अभिक्षिपति (इधर-उधर फेंकता है) । प्रतिक्षिपति (बदले में फेंकता है) । अतिक्षिपति (बहुत फेंकता है) ॥

प्राद्वहः ॥१।३।८१॥

प्रात् ५।१॥ वहः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—प्रपूर्वाद् वह्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—प्रवहति, प्रवहतः, प्रवहन्ति ॥

भाषार्थः—[प्रात्] प्रपूर्वक [वहः] वह् धातु से परस्मैपद होता है ॥

उदा०—प्रवहति (बहता है), प्रवहतः, प्रवहन्ति ॥ यहां भी स्वरितेत् होने से पूर्ववत् आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद कह दिया ॥

परेर्मृषः ॥१।३।८२॥

परेः ५।१॥ मृषः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—'परि' इत्येवं पूर्वात् मृष्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०— परिमृष्यति, परिमृष्यतः, परिमृष्यन्ति ॥

भाषार्थः—[परेः] परिपूर्वक [मृषः] मृष् धातु से परस्मैपद होता है ॥ उदा०— परिमृष्यति (सब प्रकार से सहन करता है), परिमृष्यतः, परिमृष्यन्ति ॥ यह भी स्वरितेत् धातु था, सो नित्य परस्मैपद का विधान कर दिया ॥ दिवादिगण का होने से दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से शप् का अपवाद श्यन् हो जाता है ॥

व्याङ्परिभ्यो रमः ॥१।३।८३॥

व्याङ्परिभ्यः ५।३॥ रमः ५।१॥ स०—व्याङ्परि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—वि आङ् परि इत्येवं पूर्वाद् रम्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—विरमति । आरमति । परिरमति ॥

भाषार्थः—[व्याङ्परिभ्यः] वि आङ् परि पूर्वक [रमः] रम् धातु से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—विरमति (रुकता है) । आरमति (खेलता है)। परि-रमति (चारों ओर खेलता है) ॥ अनुदात्तेत् होने से अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद कर दिया ॥

यहाँ से 'रमः' की अनुवृत्ति १।३।८५ तक जायेगी ॥

उपाच्च ॥१।३।८४॥

उपात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—रमः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः–उप पूर्वाच्च रम्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—देवदत्तम् उपरमति ॥

भाषार्थः—[उपात्] उपपूर्वक रम् धातु से [च] भी परस्मैपद होता है ॥ उदा०— देवदत्तम् उपरमति (देवदत्त को हटाता है ॥

यहां से 'उपात्' की अनुवृत्ति १।३।८५ तक जाती है ॥

विभाषाऽकर्मकात् ॥१।३।८५॥

विभाषा १।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ अनु०—उपात्, रमः, परस्मैपदम्॥ अर्थः— अकर्मकादुपपूर्वाद् रम्-धातोर्विभाषा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपरमति यावद्भुक्तमुपरमते ॥

भाषार्थः—[अकर्मकात्] अकर्मक उपपूर्वक रम् धातु से [विभाषा] विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपरमति, यावद्भुक्तमुपरमते (प्रत्येक भोजन से निवृत्त होता है) ॥ पूर्व सूत्र से नित्य परस्मैपद प्राप्त था, यहां विकल्प कर दिया ॥

बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः ॥१।३।८६॥

बुधयुध······भ्यः ५।३॥ णेः ५।१॥ स०—बुधयुध० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—बुध, युध, नश, जन, इङ्, प्रु द्रु, स्रु इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—बोधयति । योधयति । नाशयति । जनयति । अध्यापयति । प्रावयति । द्रावयति । स्रावयति ॥

भाषार्थः—[बुध ··· भ्यः] बुध् युध् नश् जन् इङ् प्रु द्रु स्रु इन [णेः] ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—बोधयति (बोध कराता है) । योधयति (लड़ाता है) । नाशयति (नाश करता है)। जनयति (उत्पन्न करता है) । अध्यापयति (पढ़ाता है) । प्रावयति (प्राप्त कराता है) । द्रावयति (पिघलाता है) । स्रावयति (टपकाता है) ॥ यहां ण्यन्त होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में णिचश्च १।३।७४) से आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद विधान कर दिया ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है । केवल जनयति में उपधा वृद्धि होकर जनीजॄष० (धातुसूत्र) से मित् संज्ञा, तथा मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से उपधा ह्रस्वत्व हुआ है । अध्यापयति में अधिपूर्वक इङ् धातु से णिच् आकर, तथा 'इ' को ऐ वृद्धि होकर क्रीङ्जीनां णौ (६।१।४७) से 'ऐ' को आत्व हुआ है, एवं अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयी० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ है, शेष पूर्ववत् है ॥

यहां से 'णेः' की अनुवृत्ति १।३।८९ तक जाती है ॥

निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥१।३।८७॥

निगरणचलनार्थेभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—निगरणञ्च चलनञ्च इति निगरणचलने, निगरणचलने अर्थौ येषाम् ते निगरणचलनार्थाः, तेभ्यः ····· द्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः,परस्मैपदम् ॥ अर्थः—निगरणार्थेभ्यः चलनार्थेभ्यश्च ण्यन्ते-भ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—निगारयति । आशयति । भोजयति ॥ चलनार्थेभ्यः—चलयति । चोपयति । कम्पयति ॥

भाषार्थः—[निगरण...भ्यः]निगरण अर्थात् निगलने अर्थवाले, तथा चलनार्थक ण्यन्त जो धातु हैं, उनसे[च] भी परस्मैपद होता है ॥ उदा०—निगारयति(निगल-वाता है) । आशयति (खिलाता है) । भोजयति (भोजन कराता है)। चलनार्थेभ्यः —चलयति (चलाता है)। चोपयति (धीरे धीरे चलाता है)। कम्पयति(कँपाता है)॥

चलयति में घटादयो मितः (धातुपाठ अज० सं० पृ० १२) से मित् संज्ञा, तथा मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व होता है, शेष पूर्ववत् समझें ।।

अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् ।।१।३।८८।।

अणौ ७।१।। अकर्मकात् ५।१।। चित्तवत्कर्तृकात् ५।१।। स०—अणौ इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः । न विद्यते कर्म यस्य स अकर्मकः, तस्माद्, बहुव्रीहिः । चित्तवान् कर्त्ता यस्य स चित्तवत्कर्तृकः, तस्माद्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—णेः, परस्मैपदम् ।। अर्थः—अण्यन्तावस्थायां यो धातुरकर्मकः चित्तवत्कर्तृकश्च तस्माद् ण्यन्तात् परस्मैपदं भवति ।। उदा०—अण्यन्ते—आस्ते देवदत्तः । ण्यन्ते—आसयति देवदत्तम् । शाययति देवदत्तम् ।।

भाषार्थः—[अणौ] अण्यन्त अवस्था में जो [अकर्मकात्] अकर्मक, तथा [चित्तवत्कर्तृकात्] चेतन कर्तावाला धातु हो, उससे ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है ।। उदा०—अण्यन्त में—आस्ते देवदत्तः (देवदत्त बैठता है) । ण्यन्त में—आसयति देवदत्तम् (देवदत्त को बिठाता है)। शाययति देवदत्तम् (देवदत्त को सुलाता है) ।। यहां पर आस् तथा शीङ् धातु अकर्मक हैं, एवं उनका चेतन कर्ता देवदत्त है। सो ण्यन्त अवस्था में इनसे परस्मैपद हो गया ।। यह णिचश्च (१।३।७४) का अपवाद सूत्र है ।।

न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः ।।१।३।८९।।

न अ० ।। पादम्याङ्य ⋯ वसः ५।१।। स०—पाश्च दमिश्च आङ्यमश्च आङ्यसश्च परिमुहश्च रुचिश्च नृतिश्च वदश्च वश्च इति पाद⋯—वदवः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—णेः, परस्मैपदम् ।। अर्थः—पा, दमि, आङ्यम, आङ्यस, परिमुह, रुचि, नृति, वद, वस इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं न भवति ।। पूर्वेण सूत्रद्वयेन ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं विहितं, तत् प्रतिषिध्यते ।। उदा०—पाययते । दमयते । आयामयते । आयासयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्त्तयते । वादयते । वासयते ।।

भाषार्थः—पूर्व दो सूत्रों में ण्यन्तों से परस्मैपद का विधान किया है, उसका यह प्रतिषेध सूत्र है । [पाद⋯वसः] पा, दमि, आङ्पूर्वक यम, आङ्पूर्वक यस, परि-पूर्वक मुह, रुचि, नृति, वद, वस इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद [न] नहीं होता है ।। उदा०—पाययते (पिलाता है)। दमयते (दमन कराता है) । आयामयते,

आयासयते (फिकवाता है)। परिमोहयते (अच्छी प्रकार मोहित कराता है)। रोचयते पसन्द कराता है)। नर्त्तयते (नचाता है)। वादयते (कहलाता है)। वासयते (बसाता है)॥ पाययते में शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७।३।३७) से युक् आगम होता है। दमयते में पूर्ववत् मित्संज्ञा होने से उपधा-ह्रस्वत्व है। आयामयते में 'यमोऽपरिवेषणे (धातुसूत्र) से मित्संज्ञा का प्रतिषेध होता है॥

वा क्यषः ॥१।३।९०॥

वा अ० ॥ क्यषः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—क्यषन्ताद् धातोर्वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—लोहितायति, लोहितायते। पटपटायति। पटपटायते॥

भाषार्थः—[क्यषः] क्यष्प्रत्ययान्त धातु से [वा] विकल्प करके परस्मैपद होता है॥

यहां से 'वा' की अनुवृत्ति १।३।९३ तक जायेगी।

द्युद्भ्यो लुङि ॥१।३।९१॥

द्युद्भ्यः ५।३॥ लुङि ७।१॥ अनु०—वा, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—'द्युत 'दीप्तौ' इत्यारभ्य कृपूपर्यन्तेभ्यो धातुभ्यो लुङि वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—व्यद्युतत्, व्यद्योतिष्ट। अलुठत्, अलोठिष्ट॥

भाषार्थः—[द्युद्भ्यः] द्युतादि धातुओं से [लुङि] लुङ् को विकल्प करके परस्मैपद होता है॥ द्युद्भ्यः में बहुवचन-निर्देश करने से द्युतादि धातुओं का (द्युत से लेकर कृपू धातु पर्यन्त का) ग्रहण हो जाता है॥

वृद्भ्यः स्यसनोः ॥१।३।९२॥

वृद्भ्यः ५।३॥ स्यसनोः ७।२॥ स०—स्यसनोरित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—वा, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—वृतादिभ्यो धातुभ्यः स्यसनोः वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—वर्त्स्यति। अवर्त्स्यत्। सन्—विवृत्सति। आत्मनेपदे—वर्त्तिष्यते, अवर्त्तिष्यत। सन्—विवर्त्तिषते॥

भाषार्थः—[वृद्भ्यः] वृतादि धातुओं से [स्यसनोः] स्य और सन् प्रत्ययों के होने पर विकल्प करके परस्मैपद होता है॥ द्युतादियों के अन्तर्गत ही वृतादि धातुएं भी हैं॥ यहां भी बहुवचन-निर्देश करने से वृत से वृतादियों का ग्रहण किया गया है॥

यहां से 'स्यसनोः' की अनुवृत्ति १।३।९३ तक जायेगी॥

लुटि च क्लृपः ॥१।३।९३॥

लुटि ७।१॥ च अ० ॥ क्लृपः ५।१॥ अनु०—स्यसनोः, वा, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—कृपूधातोर्लुटि च स्यसनोश्च वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः। कल्प्स्यति, अकल्प्स्यत्। चिक्लृप्सति। आत्मनेपदे—कल्पिता। कल्पिष्यते, अकल्पिष्यत। चिकल्पिषते ॥

भाषार्थः—[क्लृपः] क्लृप (=कृपू) धातु से [लुटि] लुट् को, [च] चकार से स्य सन् होने पर भी विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ उदा०—कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः (वह कल समर्थ होगा)। कल्प्स्यति (वह समर्थ होगा), अकल्प्स्यत् (वह समर्थ होता)। चिक्लृप्सति (वह समर्थ होना चाहता है)। पक्ष में—कल्पिता, कल्पिष्यते, अकल्पिष्यत, चिकल्पिषते ॥ सिद्धियां सारी पूर्ववत् ही हैं। केवल परस्मैपद पक्ष में सर्वत्र तासि च क्लृपः (७।२।६०) से इट् आगम निषेध होता है। तथा आत्मनेपद पक्ष में इट् आगम होता है। कृपो रो लः (८।२।१८) से सर्वत्र धातुस्थ ऋकार के रेफ अंश को लत्व भी होता है। लुट् लकार में सिद्धि परि० १।१।६ में कर आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जानें ॥

॥ इति तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

एक संज्ञा

आ कडारादेका संज्ञा ॥१।४।१॥

आ अ० ॥ कडारात् ५।१॥ एका १।१॥ संज्ञा १।१॥ **अर्थः**—कडाराः कर्मधारये (२।२।३८) इति सूत्रं वक्ष्यति । आ एतस्मात् सूत्रावधेः एका संज्ञा भवतीति अधिकारो वेदितव्यः ॥ **उदा०**—भेत्ता, छेत्ता । शिक्षा, भिक्षा । अततक्षत् ॥

भाषार्थः—[कडारात्] 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) सूत्र [आ] तक [एका] एक [संज्ञा] संज्ञा होती है, यह अधिकार जानना चाहिये ॥

लोक तथा शास्त्र दोनों में एक पदार्थ की कई संज्ञाएं हो जाती हैं, ऐसा देखा जाता है । यथा इन्द्र के शक्र पुरुहूत आदि कई नाम हैं । शास्त्र में भी 'कर्त्तव्यम्' में तव्यत् की प्रत्यय, कृत्, कृत्य कई संज्ञायें होती हैं । सो इस प्रकरण में भी इसी प्रकार प्राप्त था । अतः कडाराः कर्मधारये (२।२।३८) तक जो संज्ञासूत्र हैं, उनमें से इस अधिकार से एक संज्ञा हो कई नहीं, यह नियम किया है ॥ अब जहां पर दो संज्ञायें प्राप्त हों, वहां कौनसी हो कौनसी न हो, यह प्रश्न था । तो जो उनमें से पर हो या अनवकाश हो, उसे होना चाहिये, दोनों को नहीं ॥

परं कार्यम्

विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥१।४।२॥

विप्रतिषेधे ७।१॥ परम् १।१॥ कार्यम् १।१॥ **अर्थः**—विप्रतिषेधः=तुल्यबल-विरोधः, तस्मिन् सति परं कार्यं भवति ॥ **उदा०**—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः ॥

भाषार्थः—[विप्रतिषेधे] विप्रतिषेध होने पर [परम्] परवाला सूत्र [कार्यम्] कार्य करता है ॥ यह परिभाषासूत्र है ॥

तुल्यबलविरोध को 'विप्रतिषेध' कहते हैं, अर्थात् जहां दो सूत्र कहीं अन्यत्र उदाहरणों में पृथक्-पृथक् लग चुके हों, पर किसी एक स्थल में दोनों ही प्राप्त हो रहे हों, तो कौनसा हो ? दोनों कहेंगे कि "मैं लगूंगा, मैं लगूंगा"। तब यह परि-भाषासूत्र निर्णय करेगा कि परवाला ही हो, पूर्ववाला नहीं ॥ जैसे—'वृक्ष भ्याम्', यहां पर सुपि च (७।३।१०२) सूत्र दीर्घ करता है, सो वृक्षाभ्याम् बनता है । तथा 'वृक्ष सुप्' यहां बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से बहुवचन झलादि सुप् परे रहते एत्व होकर वृक्षेषु बनता है । अब यह सुपि च, तथा बहुवचने झल्येत् पृथक्-पृथक् स्थलों में चरितार्थ हैं । पर 'वृक्ष भ्यस्' इस अवस्था में यद्यपि सुप् परे होने से सुपि च से दीर्घ भी प्राप्त है, तथा 'भ्यस्' बहुवचन झलादि सुप् है, सो बहुवचने झल्येत् से एत्व भी

प्राप्त है, सो कौन हो ? तब यहां तुल्यबलविरोध होने से प्रकृत सूत्र से परवाला सूत्र ही लगा। सुपि च की अपेक्षा से बहुवचने झल्येत् अष्टाध्यायी में पर है। अतः बहुवचने झल्येत् से एत्व होकर— वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः बन गया ॥ भ्यस् के सकार को पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय हो ही जायेगा ॥

[संज्ञा-प्रकरणम्]　　नदी

यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥१।४।३॥

यू सुपां सुलुक्० (७।१।३६) इत्यनेन विभक्तिलुप्यतेऽत्र ॥ स्त्र्याख्यौ १।२॥ नदी १।१॥ स०— ई च ऊ च यू, इतरेतरयोगद्वन्द्वः, इको यणचि (६।१।७४) इत्यनेन यणादेशः। स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्यौ, उपपदमतिङ् (२।२।१६) इत्यनेन तत्पुरुष-समासः ॥ अर्थः—ईकारान्तमूकारान्तञ्च स्त्र्याख्यं शब्दरूपं नदीसंज्ञकं भवति ॥ उदा० —कुमार्यै, गौर्यै, शार्ङ्गरव्यै। ऊकारान्तम्—ब्रह्मबन्ध्वै, यवाग्वै ॥

भाषार्थः—[यू] ईकारान्त तथा ऊकारान्त जो [स्त्र्याख्यौ] स्त्रीलिङ्ग को आख्या (कहनेवाले) शब्द हैं, उनकी [नदी] नदी संज्ञा होती है ॥

यहां से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ॥१।४।४॥　　नदी - नदी

न अ० ॥ इयङुवङ्स्थानौ १।२॥ अस्त्री १।१॥ स०— इयङ् च उवङ् च इयङुवङौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। इयङुवङोः स्थानम् अनयोरिति इयङुवङ्स्थानौ, बहुव्रीहिः। न स्त्री अस्त्री, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०— यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ अर्थः—इयङु-वङ्स्थानौ ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ स्त्र्याख्यौ नदीसंज्ञकौ न भवतः, स्त्री शब्दं वर्ज-यित्वा ॥ उदा०—हे श्रीः। हे भ्रूः ॥

भाषार्थः—[इयङुवङ्स्थानौ] इयङ् उवङ् आदेश होता है जिन ईकारान्त ऊकारान्त स्त्री की आख्यावाले शब्दों को, उनकी नदी-संज्ञा [न] नहीं होती, [अस्त्री] स्त्री शब्द को छोड़कर ॥ यह सूत्र पूर्वसूत्र का प्रतिषेध है ॥ स्त्री शब्द इयङ्स्थानी था, सो इस सूत्र से नदी संज्ञा का प्रतिषेध उसको भी प्राप्त था। 'अस्त्री' कहने से उसकी नदी संज्ञा हो गई ॥

यहां से 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

वामि ॥१।४।५॥　　नदी विकल्प

वा अ० ॥ आमि ७।१॥ अनु०—नेयङुवङ्स्थानावस्त्री, यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥

अर्थः—इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ ईकारान्तोकारान्तौ शब्दौ आमि परतो वा नदीसंज्ञकौ न भवतः, स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा ॥ पूर्वेण नित्यप्रतिषेधे प्राप्ते आमि विकल्प्यते ॥उदा०—श्रियाम्, श्रीणाम् । भ्रुवाम्, भ्रूणाम् ॥

भाषार्थः—इयङ्-उवङ् स्थानी, स्त्री की आख्यावाले जो ईकारान्त ऊकारान्त शब्द, उनकी [आमि] आम् परे रहते [वा] विकल्प से नदीसंज्ञा नहीं होती है, स्त्री शब्द को छोड़कर ॥ पूर्वसूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, इस सूत्र ने आम् परे रहते विकल्प कर दिया ॥ उदा०—श्रियाम् (श्रियों का), श्रीणाम् । भ्रुवाम् (भौहों का), भ्रूणाम् ॥

जब नदी संज्ञा नहीं, हुई तब श्री+आम् पूर्ववत् होकर अचि श्नुधातु० (७।४।७७) से इयङ् होकर 'श् इयङ् आम्'=श्रियाम् बना । भ्रू+आम्, यहाँ भी पूर्ववत् उवङ् होकर भ्रुवाम् बन गया ॥ जब नदी संज्ञा हो गई, तब ह्रस्वनद्यापो नुट् (७ १।५४) से नुट् आगम होकर 'श्री नुट् आम्', 'भ्रू नुट् आम्' बनकर, अनुबन्ध लोप होकर, तथा न् को ण् अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से होकर—श्रीणाम् भ्रूणाम् बन गया ॥

यहां से 'वा' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जाती है ॥

ङिति ह्रस्वश्च ॥१।४।६॥ नदी-विकल्प

ङिति ७।१॥ ह्रस्वः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—वा, नेयङुवङ्स्थानावस्त्री, यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ अर्थः—ह्रस्वेकारान्तं ह्रस्वोकारान्तं च स्त्र्याख्यं शब्दरूपम्, इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ ईकारान्तोकारान्तौ च शब्दौ ङिति प्रत्यये परतो वा नदीसंज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—कृत्यै, कृतये । धेन्वै, धेनवे । श्रियै, श्रिये । भ्रुवै, भ्रुवे ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वः] ह्रस्व इकारान्त उकारान्त जो स्त्रीलिङ्ग के वाचक शब्द, तथा इयङ् उवङ् स्थानी जो ईकारान्त ऊकारान्त स्त्री की आख्यावाले शब्द, उनकी [च] भी [ङिति] ङित् प्रत्यय के परे रहते विकल्प से नदी संज्ञा होती है॥ ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की नदी संज्ञा किसी सूत्र से प्राप्त नहीं थी, सो ङित् प्रत्यय के परे रहते विकल्प से विधान कर दिया । तथा इयङ् उवङ् स्थानी ईकारान्त-ऊकार शब्दों की भी नित्य नदी संज्ञा का प्रतिषेध किया था, सो उनकी भी विकल्प से नदी संज्ञा का विधान इस सूत्र में करते हैं ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति १।४।७ तक जायेगी ॥

शेषो घ्यसखि ॥१।४।७॥ घि

शेषः १।१॥ घि १।१॥ असखि १।१॥ स०—असखीत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥

अनु०—ह्रस्वः ॥ अर्थः—शेषो घि-संज्ञको भवति सखि शब्दं वर्जयित्वा॥ कश्च शेषः? ह्रस्वेवर्णो वर्णान्तं शब्दरूपं यन्न स्त्र्याख्यं, यच्च स्त्र्याख्यमपि न नदीसंज्ञकं स शेषः ॥ उदा०—अग्नये, वायवे । कृतये, धेनवे ॥

भाषार्थः—[शेषः] शेष की [घि] घि संज्ञा होती है [असखि] सखि शब्द को छोड़कर ॥ प्रश्न होता है कि शेष किन को कहा जाय ? सो कहते हैं कि जो ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग के वाचक नहीं हैं (स्त्री की आख्यावालों की तो नदी संज्ञा ङिति ह्रस्वश्च ने कह ही दी थी), तथा जो स्त्री के आख्यावाले होते हुये भी नदीसंज्ञक नहीं हैं, वे शेष हैं ॥ अग्नि वायु शब्द ह्रस्व इकार उकार अन्तवाले तो हैं, पर स्त्री की आख्यावाले नहीं हैं, सो शेष होने से उनकी घि संज्ञा हुई । अग्नये वायवे की सिद्धि परि० १।४।६ के कृतये धेनवे के समान समझें ॥ कृति धेनु शब्दों की भी ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६) से पक्ष में नदी संज्ञा नहीं होती, अतः ये भी शेष हैं । सो घिसंज्ञक होकर पूर्ववत् सिद्धि समझें ॥

यहां से 'घि' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

घि

पतिः समास एव ॥१।४।८॥

पतिः १।१॥ समासे ७।१॥ एव अ० ॥ अनु०—घि ॥ अर्थः—पतिशब्दस्य शेषत्वात् पूर्वेण सूत्रेण सर्वत्र घि संज्ञा सिद्धैव, अत्र नियमः क्रियते । समासे एव पतिशब्दस्य घि संज्ञा स्यात्, नान्यत्र ॥ उदा०—प्रजापतिना, प्रजापतये । सेनापतिना, सेनापतये ॥

भाषार्थः—शेष होने से पूर्वसूत्र से पतिशब्द की घिसंज्ञा सर्वत्र सिद्ध ही थी, यहां नियम करते हैं कि—[पतिः] पति शब्द की [समासे] समास में [एव] ही घि संज्ञा हो, समास से अन्यत्र घि संज्ञा न हो ॥

प्रजायाः पति, सेनायाः पतिः,यहां षष्ठीतत्पुरुष समास होकर प्रजापति सेनापति बना था । सो पूर्ववत् टा विभक्ति आकर समास में होने से घि संज्ञा होकर, आङो नाऽस्त्रियाम् (७।३।११९)से 'टा' को 'ना' होकर—प्रजापतिना(प्रजापति के द्वारा), सेनापतिना (सेनापति के द्वारा) बन गया । प्रजापतये आदि भी ङे विभक्ति में पूर्ववत् ही बन जायेंगे ॥

यहां से 'पतिः' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

घि - विकल्प

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥१।४।६॥

षष्ठीयुक्तः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ वा अ० ॥ स०—षष्ठ्या युक्तः षष्ठीयुक्तः, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—पतिः, घि ॥ अर्थः—पूर्वेण सूत्रेणासमासे घि संज्ञा न

प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते । षष्ठ्यन्तेन शब्देन युक्तः पतिशब्दः छन्दसि=वेदे विकल्पेन घिसंज्ञको भवति ॥ उदा०—कुलुञ्चानां पतये नमः, कुलुञ्चानां पत्ये नमः (यजु० १६।२२)॥

भाषार्थः—[षष्ठीयुक्तः] षष्ठ्यन्त शब्द से युक्त जो पतिशब्द उसकी [छन्दसि] छन्दविषय में [वा] विकल्प से घिसंज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से असमास में पति शब्द की घिसंज्ञा प्राप्त नहीं थी, सो पक्ष में विधान कर दिया ॥

घि-संज्ञा पक्ष में घेर्ङिति (७।३।१११)से गुण,तथा अयादेश होकर पतये बना । अन्यत्र 'पति+ए' इस अवस्था में यणादेश होकर—'पत्ये' बन गया । कुलुञ्चाना षष्ठ्यन्त शब्द है, उससे युक्त यहां पति शब्द है ॥

उदा०-कुलुञ्चानां पतये नमः(बुरे स्वभाव से दूसरे के पदार्थों को खसोटनेवालों के पति=अधिपति को नमस्कार), स्वामी द० भा० । कुलुञ्चानां पत्ये नमः ॥

लघु

ह्रस्वं लघु ॥१।४।१०॥

ह्रस्वम् १।१॥ लघु १।१॥ अर्थः—ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञकं स्यात् ॥ उदा०—भत्ता । छेत्ता । अचीकरत् । अजीहरत् ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वम्] ह्रस्व अक्षर की [लघु] लघु संज्ञा होती है ॥

यहां से 'ह्रस्वम्' की अनुवृत्ति १।४।११ तक जायेगी ॥

गुरु

संयोगे गुरु ॥१।४।११॥

संयोगे ७।१॥ गुरु १।१॥ अनु०—ह्रस्वम् ॥ अर्थः—संयोगे परतो ह्रस्वमक्षरं गुरुसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—कुण्डा । हुण्डा । शिक्षा । भिक्षा ॥

भाषार्थः—[संयोगे] संयोग परे रहते ह्रस्व अक्षर की [गुरु] गुरु संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से ह्रस्व अक्षर की लघु संज्ञा प्राप्त थी, यह उसका अपवाद है ॥

यहां से 'गुरु' की अनुवृत्ति १।४।१२ तक जायेगी ॥

दीर्घ

दीर्घं च ॥१।४।१२॥

दीर्घम् १।१॥ च अ०॥ अनु०—गुरु ॥ अर्थः—दीर्घं चाक्षरं गुरुसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—ईहाञ्चक्रे । ऊहाञ्चक्रे ॥

भाषार्थः—[दीर्घम्] दीर्घ अक्षर की [च] भी गुरु संज्ञा होती है ॥

उदा०—ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे (उसने तर्क किया) ॥ सिद्धियां परि० १।३।६३ के समान ही हैं ॥

यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ॥१।४।१३॥

यस्मात् ५।१॥ प्रत्ययविधिः १।१॥ तदादि १।१॥ प्रत्यये ७।१॥ अङ्गम् १।१॥ स०—प्रत्ययस्य विधिः प्रत्ययविधिः, षष्ठीतत्पुरुषः । तस्य आदिः तदादिः, तदादिरादिर्यस्य तत् तदादि, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—यस्मात् (धातोर्वा प्रातिपदिकाद्वा) प्रत्ययविधिः = प्रत्ययो विधीयते, तदादिशब्दरूपस्य प्रत्यये परतोऽङ्गसंज्ञा भवति ॥ उदा०—कर्त्ता, हर्त्ता । औपगवः, कापटवः । करिष्यति, अकरिष्यत्, करिष्यावः, करिष्यामः ॥

भाषार्थः—[यस्मात्] जिस (धातु या प्रातिपदिक) से [प्रत्ययविधिः] प्रत्यय का विधान किया जाये, [प्रत्यये] उस प्रत्यय के परे रहते [तदादि] उस (धातु या प्रातिपदिक) का आदि वर्ण है आदि जिसका, उस समुदाय की [अङ्गम्] अङ्ग संज्ञा होती है ॥

सुप्तिङन्तं पदम् ॥१।४।१४॥

सुप्तिङन्तम् १।१॥ पदम् १।१॥ स०—सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, सुप्तिङौ अन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तम्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—सुबन्तं तिङन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति ॥ सुप्-तिङ् इति प्रत्याहारग्रहणम् ॥ उदा०—ब्राह्मणाः पठन्ति ॥

भाषार्थः—[सुप्तिङन्तम्] सुप् अन्तवाले, तथा तिङ् अन्तवाले शब्दों की [पदम्] पद संज्ञा होती है ॥ सुप् से स्वौजस०(४।१।२)के सु से लेकर सुप् के पकार पर्यन्त २१ प्रत्ययों का ग्रहण है । तथा तिङ् से तिप्तस्झि० (३।४।७८) के तिप् से लेकर महिङ् के ङकार पर्यन्त १८ प्रत्ययों का ग्रहण है ॥

उदा०—ब्राह्मणाः पठन्ति (ब्राह्मण पढ़ते हैं) । यहां पद संज्ञा होने से जस् के सकार को पदस्य (८।१।१६) के अधिकार में वर्त्तमान ससजुषो रुः (८।२।६६) से रुत्व, और खरवसान०(८।३।१५)से विसर्जनीय होता है । 'पठन्ति' के तिङ् अन्त-वाला होने से पद संज्ञा होकर पदस्य (८।१।१६)और पदात्(८।१।१७)के अधिकार में वर्त्तमान (तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से अतिङ् पद से उत्तर तिङ् पद पठन्ति को सर्वानुदात्त हो गया ॥

यहां से 'पदम्' की अनुवृत्ति १।४।१७ तक जायेगी ॥

नः क्ये ॥१।४।१५॥

नः १।१॥ क्ये ७।१॥ अनु०—पदम् ॥ अर्थः—क्ये परतो नान्तं शब्दरूपं पद-

संज्ञं भवति ॥ उदा०—क्यच्—राजीयति । क्यङ्—राजायते । क्यष्—चर्मायति, चर्मायते ॥

भाषार्थः—क्य से क्यच् क्यङ् क्यष् तीनों का सामान्य ग्रहण किया है। [नः] नकारान्त शब्द की [क्ये] क्यच् क्यङ् क्यष् परे रहते पद संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से ही पद संज्ञा सिद्ध थी, सो पुनः विधान नियमार्थ है कि क्य के परे नान्त शब्दों की ही पद संज्ञा हो, अन्यों की नहीं ॥

सिति च ॥१।४।१६॥

पद

सिति ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—पदम् ॥ स०—सकार इत् यस्य स सित्, तस्मिन् सिति, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—सिति प्रत्यये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति ॥ उदा०—भवदीयः । ऊर्णायुः ॥

भाषार्थः—[सिति] सित् प्रत्यय के परे रहते [च] भी पूर्व की पदसंज्ञा होती है ॥ यह यचि भम् (१।४।१८) का अपवादसूत्र है ॥

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥१।४।१७॥

पद

स्वादिषु ७।३॥ असर्वनामस्थाने ७।१॥ स०—सु आदिर्येषां ते स्वादयः, तेषु… बहुव्रीहिः । असर्वनामस्थाने इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पदम् ॥ अर्थः—सर्वनामस्थानभिन्नेषु स्वादिषु प्रत्ययेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति ॥ उदा०—राजभ्याम्, राजभिः, राजत्वम्, राजता, राजतरः, राजतमः । वाग्भिः ॥

भाषार्थः—[असर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान-भिन्न अर्थात् सु, औ, जस्, अम्, औट् से भिन्न [स्वादिषु] स्वादियों के परे रहते पूर्व की पद संज्ञा होती है ॥ स्वादियों में स्वौजस० (४।१।२) से लेकर उरः प्रभृतिभ्यः कप् (५।४।१५१) तक के प्रत्यय लिये गये हैं ॥

यहां से 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र की अनुवृत्ति १।४।१८ तक जायेगी ॥

+ शस्, टा … सुप् **यचि भम् ॥१।४।१८॥** भ

भ संज्ञा

यचि ७।१॥ भम् १।१॥ स०—य् च अच् च यच्, तस्मिन् यचि, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥ अर्थः—सर्वनामस्थानभिन्ने स्वादौ यकारादौ अजादौ च प्रत्यये परतः पूर्वं भसंज्ञं भवति ॥ उदा०—गार्ग्यः, वात्स्यः । दाक्षिः, प्लाक्षिः ॥

भाषार्थः—[यचि] सर्वनामस्थान-भिन्न यकारादि अजादि स्वादियों के परे रहते पूर्व की [भम्] भ संज्ञा होती है ॥ पूर्व सूत्र से पद संज्ञा प्राप्त होने पर उसका यह अपवादसूत्र है ॥ गार्ग्य वात्स्यः की सिद्धि १।२।६५ सूत्र पर देखें । भ संज्ञा

होने से सर्वत्र यस्येति च (६।४।१४८) से इवर्ण अवर्ण का लोप होता है ।। वत्सस्यापत्यं वात्सिः (वत्स का पुत्र), यहाँ भी अत इञ् (४।१।९५) इञ् प्रत्यय, तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से आदि अच् को वृद्धि, तथा भ संज्ञा होने से अकार लोप हो गया है । इसी प्रकार प्लाक्षिः (प्लक्ष का पुत्र) में भी समझें ।।

यहां से 'भम्' की अनुवृत्ति १।४।१९ तक जाती है ।।

तसौ मत्वर्थे ।।१।४।१९।। भ

तसौ १।२।। मत्वर्थे ७।१।। स०—तश्च सश्च तसौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । मतोरर्थः मत्वर्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—भम् ।। अर्थः—तकारान्तं सकारान्तं च शब्दरूपं मत्वर्थे प्रत्यये परतो भसंज्ञकं भवति ।। उदा०—तकारान्तम्—विद्युत्वान् बलाहकः । उदश्वित्वान् घोषः । सकारान्तम्—यशस्वी, पयस्वी, तपस्वी ।।

भाषार्थः—[तसौ] तकारान्त और सकारान्त शब्दों की [मत्वर्थे] मत्वर्थ प्रत्ययों के परे रहते भ संज्ञा हो जाती है ।।

अयस्मयादीनिच्छन्दसि ।।१।४।२०।। भ, पद

अयस्मयादीनि १।३।। छन्दसि ७।१।। स०—अयस्मयमादिर्येषां तानि इमानि अयस्मयादीनि, बहुव्रीहिः ।। अर्थः—अयस्मयादीनि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये साधूनि भवन्ति ।। उदा०—अयस्मयं वर्म । अयस्मयानि पात्राणि । स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन ।।

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद में [अयस्मयादीनि] अयस्मय इत्यादि शब्द साधु होते हैं, अर्थात् इसमें कहीं भ संज्ञा, तथा कहीं भ पद संज्ञा दोनों ही एक साथ देखने में आती हैं ।।

बहुषु बहुवचनम् ।।१।४।२१।। बहुवचन

बहुषु ७।३।। बहुवचनम् १।१।। अर्थः—बहुत्वे विवक्षिते बहुवचनं भवति ।। उदा०—ब्राह्मणाः पठन्ति ।।

भाषार्थः—[बहुषु] बहुतों को कहने की विवक्षा में [बहुवचनम्] बहुवचन का प्रत्यय होता है ।।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ।।१।४।२२।। द्वि, एक वचन

द्व्येकयोः ७।२।। द्विवचनैकवचने १।२।। स०—द्वौ च एकश्च द्व्येकौ, तयोः… इतरेतरयोगद्वन्द्वः । द्विवचनञ्चैकवचनं च द्विवचनैकवचने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अर्थः—द्वित्वे विवक्षिते द्विवचनमेकत्वे विवक्षिते एकवचनं च भवति ।। उदा०—ब्राह्मणौ पठतः । एकत्वे—ब्राह्मणः पठति ।।

भाषार्थः—[द्व्येकयोः] दो तथा एक के कहने की इच्छा में [द्विवचनैकवचने] द्विवचन का प्रत्यय तथा एकवचन का प्रत्यय क्रम से होते हैं। उदा०—ब्राह्मणौ पठतः (दो ब्राह्मण पढ़ते हैं)। ब्राह्मणः पठति (एक ब्राह्मण पढ़ता है)॥ यहां पर दो ब्राह्मणों को कहने में द्विवचन का 'औ', तथा एक को कहने में 'सु' आया है। इसी प्रकार पठ से 'तस् द्विवचन', तथा 'तिप् एकवचन' का प्रत्यय आया है॥ ब्राह्मण+औ, यहां वृद्धिरेचि(६।१।८५) से वृद्धि होकर ब्राह्मणौ हो गया॥

[कारक-प्रकरणम्]

कारके ॥१।४।२३॥

कारके ७।१॥ अर्थः—अधिकारसूत्रमिदम्। तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५) इति यावद् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, कारके इत्येवं तद्वेदितव्यम्। यथा—ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४), इत्यत्र कारक इत्यनुवर्त्तते॥ क्रियायाः निर्वर्त्तकं कारकम् क्रियायामिति वा (क्रियानिमित्ते सति) कारकम्, तच्च विवक्षाधीनमिति वेदितव्यम्॥

भाषार्थः—[कारके] यह अधिकारसूत्र है। यहां से आरम्भ करके तत्प्रयोजको० (१।४,५५) तक सूत्रों में 'कारके' पद उपस्थित होता है॥ क्रिया के बनानेवाले को, अथवा क्रिया के होने में जो निमित्त हो, उसे 'कारक' कहते हैं। वृक्ष से पत्ता गिरता है, यहां गिरना क्रिया बन नहीं सकती, जब तक कि वृक्ष न हो। अतः गिरना क्रिया को बनानेवाला, अथवा निमित्त होने से वृक्ष भी कारक है। अब कौन कारक हो, सो ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४) से अपादान कारक हो गया॥ यहां यह बात और समझने की है कि कारक इच्छाधीन होते हैं। यथा—"बादल से बिजली चमकती है, बादल में बिजली चमकती है, बादल चमकता है", यहां बादल क्रमशः अपादान अधिकरण और कर्त्ता तीनों कारक है॥[1]

ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥१।४।२४॥

अपादान

ध्रुवम् १।१॥ अपाये ७।१॥ अपादानम् १।१॥ अनु०—कारके॥ अर्थः—क्रियायां सत्याम् अपाये=विभागे यद् ध्रुवं तत् कारकमपादानसंज्ञकं भवति॥ उदा०—वृक्षात् पत्रं पतति। ग्रामाद् आगच्छति। पर्वताद् अवरोहति॥

भाषार्थः—क्रिया होने पर [अपाये] अपाय अर्थात् अलग होने पर जो [ध्रुवम्] ध्रुव=अचल रहे, उस कारक की [अपादानम्] अपादान संज्ञा होती है॥ वृक्षात्

---

१. 'कारक' के विषय में विशेष हमारी बनाई 'सरलतमविधि' पाठ १५-१६ तृतीय संस्करण में देखें॥

पत्रं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है), इस उदाहरण में पत्र का वृक्ष से अलग होना पाया जाता है। अलग होने पर पत्र नीचे गिरता है,पर वृक्ष वैसे ही अचल खड़ा रहता है। सो अपाय होने पर भी वह ध्रुव है,अतः उसकी अपादान संज्ञा हो गई॥

विशेषः - यहां कारके=क्रिया होने पर का अभिप्राय यह है कि जब दो वस्तुएं पृथक्-पृथक् पड़ी हैं, सो वे ध्रुव भी हैं, तो यहां उनकी अपादान संज्ञा नहीं हो सकती, चाहे उनका अपाय=पृथक्ता है ही। क्योंकि यहां क्रिया नहीं हो रही, अतः 'क्रियायां सत्याम्' नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र कारक-प्रकरण में समझें॥ अपादान संज्ञा होने से विभक्ति-प्रकरण में वर्त्तमान अपादाने पञ्चमी (२।३।२८) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हो गई। सो 'ङसि' विभक्ति वृक्ष ग्राम आदि के आगे आई। टाङ-सिङसामि० (७।१।१२) से ङसि को आत् होकर वृक्षात् ग्रामात् आदि बन गये॥

यहां से "अपादानम्" की अनुवृत्ति १।४।३१ तक जायेगी॥

भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥१।४।२५॥

भीत्रार्थानां ६।३॥ भयहेतुः १।१॥ स०—भीश्च त्राश्च भीत्रौ, भीत्रौ अर्थौ येषां ते भीत्रार्थाः, तेषां·· द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। भयस्य हेतुः भयहेतुः, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०- अपादानम्, कारके॥ अर्थः—बिभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च धातूनां प्रयोगे भयस्य हेतुः यः तत् कारकम् अपादानसंज्ञं भवति॥ उदा०—बिभेत्यर्थानाम्—चौरेभ्यो बिभेति। चौरेभ्य उद्विजते। त्रायत्यर्थानां -चौरेभ्यस्त्रायते, चौरेभ्यो रक्षति॥

भाषार्थः [भीत्रार्थानाम्] भय अर्थवाली, तथा रक्षा अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में जो [भयहेतुः] भय का हेतु, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है॥

उदा०—चौरेभ्यो बिभेति (चोरों से डरता हूं)। चौरेभ्य उद्विजते (चोरों से डरता है)। चौरेभ्यस्त्रायते (चोरों से रक्षा करता हूं)। चौरेभ्यो रक्षति (चोरों से रक्षा करता है)। अपादान संज्ञा होने से पूर्ववत् पञ्चमी विभक्ति होकर 'चोर+भ्यस्' हुआ। भ्यस् परे रहते बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से अदन्त अङ्ग को एत्व हो गया, शेष पूर्ववत् है॥

पराजेरसोढः ॥१।४।२६॥

पराजेः ६।१॥ असोढः १।१॥ स०—सोढुं शक्यते इति सोढः, न सोढः असोढः, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अपादानम्, कारके॥ अर्थः—परा पूर्वस्य जयतेः धातोः प्रयोगेऽसोढो योऽर्थस्तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति॥ उदा०—अध्ययनात् पराजयते॥

भाषार्थः—[पराजेः] परापूर्वक जि धातु के प्रयोग में [असोढः] जो सहन नहीं

किया जा सकता, ऐसे कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—अध्ययनात् पराजयते (पढ़ाई से भागता है, अर्थात् अध्ययन के श्रम को सहन नहीं कर सकता) ॥

अपादान

वारणार्थानामीप्सितः ॥१।४।२७॥

वारणार्थानाम् ६।३॥ ईप्सितः १।१॥ स०—वारणम् अर्थो येषां ते वारणार्थाः, तेषाम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—वाराणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितो योऽर्थस्तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—यवेभ्यो गां वारयति । यवेभ्यो गां निवर्त्तयति ॥

भाषार्थः—[वारणार्थानाम्] वारणार्थक अर्थात् रोकने अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में [ईप्सितः] ईप्सित='इष्ट' जो पदार्थ उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा० - यवेभ्यो गां वारयति (जौ के खेत से गाय को हटाता है)। यवेभ्यो गां निवर्त्तयति ॥ यहां यव ईप्सित हैं, अतः उनको अपादान संज्ञा हो गई है ॥

अपादान

अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥१।४।२८॥

अन्तर्द्धौ ७।१॥ येन ३।१॥ अदर्शनं १।१॥ इच्छति तिङन्तं पदम् ॥ स०—अदर्शनमित्यत्र, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम, कारके ॥ अर्थः—अन्तर्द्धौ=व्यवधाननिमित्तं येनादर्शनम् आत्मन इच्छति, तत् कारकमपादानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाद् अन्तर्द्धत्ते । उपाध्यायाद् निलीयते ॥

भाषार्थ:—[अन्तर्द्धौ] व्यवधान के कारण [येन] जिससे अपना [अदर्शनम्] छिपना [इच्छति] चाहता हो, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ।

उदा०—उपाध्यायात् अन्तर्द्धत्ते (उपाध्याय से छिपता है)। उपाध्यायाद् निलीयते (उपाध्याय से छिपता है) ॥ उदाहरणों में उपाध्याय से छिपना हो रहा है, सो उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥

अपादान

आख्यातोपयोगे ॥१।४।२९॥

आख्याता १।१॥ उपयोगे ७।१॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—आख्याता=प्रतिपादयिता, पाठयिता वा । उपयोगः=नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम् । नियमपूर्वके विद्याग्रहणे य आख्याता=पाठयिता तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाद् अधीते । उपाध्यायाद् आगमयति ॥

भाषार्थः—[उपयोगे] नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने में [आख्याता] जो पढ़ानेवाला, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से नियमपूर्वक पढ़ता है)। उपाध्यायाद् आगमयति ॥

अपादान

जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥१।४।३०॥

जनिकर्तुः ६।१॥ प्रकृतिः १।१॥ स०—जनेः कर्त्ता जनिकर्त्ता, तस्य······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—जन्यर्थस्य कर्त्ता (=जायमानः), तस्य या प्रकृतिः=उपादानकारणं तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—शृङ्गात् शरो जायते। गोमयाद् वृश्चिको जायते ॥

भाषार्थः—[जनिकर्तुः] जन्यर्थ (जन्म) का जो कर्त्ता (उत्पन्न होनेवाला) उसकी जो [प्रकृतिः] प्रकृति उपादानकारण, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है॥ शृङ्गात् शरो जायते (सींग से बाण बनते हैं) उदाहरण में जायते का कर्त्ता शर है। और उस शर की प्रकृति=उपादानकारण शृङ्ग (सींग) है, तो उसकी अपादान संज्ञा हो गई। इसी प्रकार 'गोमयाद् वृश्चिको जायते' (गोबर से बिच्छू पैदा होता है) इस उदाहरण में भी जायते के कर्त्ता वृश्चिक की प्रकृति गोमय है, सो यहां भी अपादान संज्ञा हुई ॥

यहां से 'कर्तुः' की अनुवृत्ति १।४।३१ तक जाती है ॥

अपादान

भुवः प्रभवः ॥१।४।३१॥

भुवः ६।१॥ प्रभवः १।१॥ अनु०—अपादानम्, कारके, कर्तुः ॥ अर्थः—भू धातोर्यः कर्त्ता, तस्य यः प्रभवः=उत्पत्तिस्थानम्, तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति। कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति ॥

भाषार्थः—[भुवः] भू धातु का जो कर्त्ता, उसका जो [प्रभवः] प्रभव अर्थात् उत्पत्तिस्थान, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है॥

उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति (हिमालय से गङ्गा निकलती है)। कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति (काश्मीर से वितस्ता निकलती है)॥ गङ्गा, जो कि भू धातु का कर्त्ता है, उसका हिमवत्=हिमालय प्रभव उत्पत्ति-स्थान है। सो इस सूत्र से हिमवत् की अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति का ङसि प्रत्यय आया, पूर्ववत् रुत्व विसर्गादि हुये। कश्मीरेभ्यः में इसी पञ्चमी का भ्यस् आया है॥ संस्कृत में देशवाची शब्द प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। अतः यहां काश्मीर के एक होने पर भी बहुवचन हुआ है॥

सम्प्रदानम्

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ॥१।४।३२॥

कर्मणा ३।१॥ यम् २।१॥ अभिप्रैति तिङन्तं पदम् ॥ सः १।१॥ सम्प्रदानम्

१।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—करणभूतेन कर्मणा यस्याभिप्रायं साधयति (यमुद्दिशति), तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति । माणवकाय भिक्षां ददाति ॥

भाषार्थः—[कर्मणा] करणभूत कर्म के द्वारा [यम्] जिसका [अभिप्रैति] अभिप्राय सिद्ध किया जाये (जिसको लक्षित किया जाये), [सः] वह कारक [सम्प्रदानम्] संप्रदानसंज्ञक होता है ॥

उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति (उपाध्याय के लिये गौ देता है)। माणवकाय भिक्षां ददाति (बच्चे के लिये भिक्षा देता है) ॥ यहां उदाहरण में देना क्रिया बन नहीं सकती,जब तक गौ का रस्सा पकड़कर उपाध्याय के हाथ में नहीं दे दिया जाता। इस ददाति क्रिया का बनानेवाला (निर्वर्तक) उपाध्याय भी हुआ, सो वह कारक हुआ । और प्रकृत सूत्र से संप्रदानसंज्ञक हुआ । संप्रदान संज्ञा होने से चतुर्थी संप्रदाने (२।३।१३) से संप्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई ॥

यहां से 'संप्रदानम्' की अनुवृत्ति १।४।४१ तक जायेगी ।

संप्रदान

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥१।४।३३॥

रुच्यर्थानां ६।३॥ प्रीयमाणः १।१॥ स०—रुचिरर्थो येषां ते रुच्यर्थाः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणः =तृप्यमाणः योऽर्थः, तत्कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय रोचते मोदकः । यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूपः ॥

भाषार्थः—[रुच्यर्थानाम्] रुचि अर्थात् अभिलाषार्थ धातुओं के प्रयोग में[प्रीयमाणः] प्रीयमाण अर्थात् जिसको वह वस्तु प्रिय हो, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय रोचते मोदकः (देवदत्त को लड्डू अच्छे लगते हैं)। यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूपः (यज्ञदत्त को पुआ स्वादु लगता है) ॥

यहां उदाहरणों में देवदत्त को लड्डू और यज्ञदत्त को पुआ प्रिय लग रहा है, अतः उनकी संप्रदान संज्ञा हुई ॥

संप्रदान

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ॥१।४।३४॥

श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम् ६।३॥ ज्ञीप्स्यमानः १।१॥ स०—श्लाघह्नुङ्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—श्लाघ, ह्नुङ्, स्था, शप इत्येतेषां धातूनां प्रयोगे ज्ञीप्स्यमानः=ज्ञपयितुमिष्यमाणो योऽर्थः,तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय श्लाघते । देवदत्ताय ह्नुते । देवदत्ताय तिष्ठते । देवदत्ताय शपते ॥

भाषार्थः—[श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम्] श्लाघ, ह्नुङ्, स्था, शप इन धातुओं के प्रयोग में [ज्ञीप्स्यमानः] जो जनाये जाने की इच्छावाला है, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय श्लाघते (देवदत्त की प्रशंसा देवदत्त को जनाने की इच्छा से करता है)। देवदत्ताय ह्नुते (देवदत्त की निन्दा देवदत्त को जनाने की इच्छा से करता है)। देवदत्ताय तिष्ठते (देवदत्त को जनाने की इच्छा से देवदत्त के लिये ठहरता है)। देवदत्ताय शपते (देवदत्त को बुरा-भला देवदत्त को जनाने की इच्छा से कहता है) ॥ उदाहरणों में देवदत्त जनाए जाने की इच्छावाला है, अर्थात् देवदत्त को जनाना चाहता है, सो देवदत्त सम्प्रदानसंज्ञक हो गया ॥

धारेरुत्तमर्णः ॥१।४।३५॥ संप्रदान

धारेः ६।१॥ उत्तमर्णः १।१॥ स०—उत्तमम् ऋणं यस्य स उत्तमर्णः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—धारयतेः धातोः प्रयोगे उत्तमर्णः=ऋणदाता यस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः ॥

भाषार्थः—[धारेः] धारि (णिजन्त धृञ्) धातु के प्रयोग में [उत्तमर्णः] उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः (यज्ञदत्त ने देवदत्त के सौ रुपये देने हैं) ॥ उदाहरण में देवदत्त ऋण देनेवाला है, सो उसकी संप्रदान संज्ञा हुई ॥

स्पृहेरीप्सितः ॥१।४।३६॥ संप्रदान

स्पृहेः ६।१॥ ईप्सितः १।१॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—'स्पृह ईप्सायाम्' चुरादावदन्तः पठ्यते। स्पृहेः धातोः प्रयोगे ईप्सितोऽभिप्रेतो यस्तत्कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—पुष्पेभ्यः स्पृहयति। फलेभ्यः स्पृहयति ॥

भाषार्थः—[स्पृहेः] 'स्पृह ईप्सायाम्' धातु के प्रयोग में [ईप्सितः] ईप्सित जो कारक उसकी संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा—पुष्पेभ्यः स्पृहयति (फूलों की लालसा करता है)। फलेभ्यः स्पृहयति (फलों की लालसा करता है) ॥

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥१।४।३७॥ संप्रदान

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् ६।३॥ यम् २।१॥ प्रति अ० ॥ कोपः १।१॥ स०—

क्रुधश्च द्रुहश्च ईर्ष्यश्च असूयश्च, क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः क्रुधद्रुहेर्ष्यासूया अर्था येषां ते क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः, तेषाम्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—क्रुधार्थानां द्रुहार्थानाम् ईर्ष्यार्थानाम् असूयार्थानां च धातूनां प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञक भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति । देवदत्ताय द्रुह्यति । देवदत्ताय । देवदत्ताय ईर्ष्यति । देवदत्तायासूयति ॥

भाषार्थः—[क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम्] क्रुध, द्रुह, ईर्ष्य तथा असूय इन अर्थों-वाली धातुओं के प्रयोग में [यम्] जिसके [प्रति] ऊपर [कोपः] कोप किया जाये, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति (देवदत्त पर क्रोध करता है) । देवदत्ताय द्रुह्यति (देवदत्त से द्रोह करता है) । देवदत्ताय ईर्ष्यति (देवदत्त से ईर्ष्या करता है) । देव-दत्ताय असूयति (देवदत्त के गुणों की भी निन्दा करता है) ॥

यहां से 'यं प्रति कोपः' की अनुवृत्ति १।४।३८ तक जायेगी ॥

कर्म

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ॥१।४।३८॥

क्रुधद्रुहोः ६।२॥ उपसृष्टयोः ६।२॥ कर्म १।१॥ स०—क्रुधद्रुहोरित्यत्रे-तरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—यं प्रति कोपः, कारके ॥ अर्थः—उपसृष्टयोः=उपसर्ग-पूर्वकयोः क्रुधद्रुहोः प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञकं भवति ॥ पूर्वेण संप्रदान-संज्ञा प्राप्ता, कर्मसंज्ञा विधीयते ॥ उदा०—देवदत्तमभिक्रुध्यति । देवदत्तमभि-द्रुह्यति ॥

भाषार्थः—[उपसृष्टयोः] उपसर्ग से युक्त जो [क्रुधद्रुहोः] क्रुध तथा द्रुह धातु, उनके प्रयोग में जिसके प्रति कोप किया जाये, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, यहां कर्म संज्ञा का विधान किया है । अतः यहां सम्प्रदानम् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता ॥

उदा०—देवदत्तमभिक्रुध्यति (देवदत्त पर क्रोध करता है) । देवदत्तमभि-द्रुह्यति (देवदत्त के साथ द्रोह करता है) ॥ कर्मणि द्वितीया (२।३।२) से कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ॥

संप्रदान

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥१।४।३९॥

राधीक्ष्योः ६।२॥ यस्य ६।१॥ विप्रश्नः १।१॥ स०—राधिश्च ईक्षिश्च राधीक्षी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—राधीक्ष्योः धात्वोः प्रयोगे यस्य विप्रश्नः=विविधः प्रश्नः क्रियते, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय राध्यति । देवदत्ताय ईक्षते ॥

भाषार्थः—[राधीक्ष्योः] राध तथा ईक्ष धातुओं के प्रयोग में [यस्य] जिसके विषय में [विप्रश्नः] विविध प्रश्न हों, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा० - देवदत्ताय राध्यति (देवदत्त के विषय में पूछे जाने पर उसके भाग्य का पर्यालोचन करता है) । देवदत्ताय ईक्षते ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता ॥१।४।४०॥ संप्रदान

प्रत्याङ्भ्याम् ५।२॥ श्रुवः ६।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ कर्त्ता १।१॥ स०—प्रत्याङ्भ्यामित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः - प्रति आङ् इत्येवंपूर्वस्य शृणोतेः धातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्त्ता यस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति । देवदत्ताय गामाशृणोति ॥

भाषार्थः—[प्रत्याङ्भ्याम्] प्रति आङ् पूर्वक [श्रुवः] श्रु धातु के प्रयोग में [पूर्वस्य] पूर्व का जो [कर्त्ता] कर्त्ता, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति (यज्ञदत्त देवदत्त को गौ देने की प्रतिज्ञा करता है)। देवदत्ताय गामाशृणोति ॥ उदाहरणों में पहले देवदत्त गौ मांगता है, अर्थात् देवदत्त मांगना क्रिया का कर्त्ता है, पश्चात् यज्ञदत्त देवदत्त को गौ देने की प्रतिज्ञा करता है । सो देवदत्त की पूर्व क्रिया का कर्त्ता होने से सम्प्रदान संज्ञा हो गई ॥

यहां से 'पूर्वस्य कर्त्ता' की अनुवृत्ति १।४।४१ तक जाती है ॥

अनुप्रतिगृणश्च ॥१।४।४१॥ संप्रदान

अनुप्रतिगृणः ६।१॥ च अ० ॥ स०—अनुश्च प्रतिश्च अनुप्रती, ताभ्यां गृणाः अनुप्रतिगृणाः, तस्य अनुप्रतिगृणः, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—पूर्वस्य कर्त्ता, सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—अनु पूर्वस्य प्रति पूर्वस्य च गृणातेर्धातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्त्ता यस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—होत्रे अनुगृणाति । होत्रे प्रतिगृणाति ॥

भाषार्थः—[अनुप्रतिगृणः] अनुप्रतिपूर्वक गृणाति धातु के प्रयोग में पूर्व का जो कर्त्ता, ऐसे कारक की [च] भी सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—होत्रे अनुगृणाति (होता को प्रोत्साहित करने के लिये अध्वर्यु मन्त्र बोलता है) । होत्रे प्रतिगृणाति । यहाँ होता पहले मन्त्र बोल रहा है, उसको अध्वर्यु (अनुगर-प्रतिगर द्वारा) प्रोत्साहित करता है । सो होता पहले मन्त्र बोलने की क्रिया का कर्त्ता है,अतः पूर्व क्रिया का कर्त्ता होने से उसकी सम्प्रदान संज्ञा हुई है ॥

साधकतमं करणम् ॥१।४।४२॥

साधकतमम् १।१॥ करणम् १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—क्रियायाः सिद्धौ यत् साधकतमं, तत् कारकं करणसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—दात्रेण लुनाति । परशुना छिनत्ति ॥

भाषार्थ:—क्रिया की सिद्धि में जो [साधकतमम्] सब से अधिक सहायक, उस कारक की [करणम्] करण संज्ञा होती है ।

उदा०—दात्रेण लुनाति (दरांती के द्वारा काटता है) । परशुना छिनत्ति (कुल्हाड़ी के द्वारा फाड़ता है)॥ उदाहरणों में दात्र तथा परशु काटने वा फाड़ने की क्रिया में सब से अधिक साधक हैं,ये न होते तो फाड़ना वा काटना क्रिया हो ही नहीं सकती थी । सो साधकतम होने से इनकी करण संज्ञा हुई । करण संज्ञा होने से कर्तृ-करणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हो गई ॥

यहां से 'साधकतमम्' की अनुवृत्ति १।४।४४ तक जाती है ॥

दिवः कर्म च ॥१।४।४३॥

दिवः ६।१॥ कर्म १।१॥ च अ० ॥ अनु०—साधकतमम्, कारके ॥ अर्थः—दिव्धातोः साधकतमं यत् कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति, चकारात् करणसंज्ञं च ॥ उदा०—अक्षान् दीव्यति । अक्षैर्दीव्यति ॥

भाषार्थ:—[दिवः] दिव् धातु का जो साधकतम कारक उसकी [कर्म] कर्म संज्ञा होती है, [च] और करण संज्ञा भी होती है ॥ पूर्व सूत्र से करण संज्ञा ही प्राप्त थी, यहाँ कर्म का भी विधान कर दिया है ॥

उदा०—अक्षान् दीव्यति (पाशों के द्वारा खेलता है) । अक्षैर्दीव्यति ॥

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥१।४।४४॥

परिक्रयणे ७।१॥ सम्प्रदानम् १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—साधकतमम्,कारके ॥ अर्थः—परिक्रयणे=नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणे साधकतमं यत् कारकं, तत् सम्प्रदानसंज्ञकं भवति विकल्पेन, पक्षे यथाप्राप्ता करणसंज्ञा भवति ॥ उदा०—शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि । शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि ॥

भाषार्थ:—[परिक्रयणे] परिक्रयण[1] में जो साधकतम कारक उसकी [सम्प्रदानम्]

१—परिक्रयण का अभिप्राय यह है कि किसी ने किसी को उधार में रुपया दिया, पर वह उसको लौटा नहीं सका । तब उसने उसको खरीद लिया, अर्थात् जब तक वह रुपया न चुका दे, तब तक उसकी नोकरी बजाता रहे ॥

सम्प्रदानसंज्ञा [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होती है। पक्ष में यथाप्राप्त करण संज्ञा हो जाती है ॥

उदा०—शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि (तू तो सौ रुपए से खरीदा हुआ है, अब बोल?) शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि ॥

आधारोऽधिकरणम् ॥१।४।४५॥ अधिकरण

आधारः १।१॥ अधिकरणम् १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—कर्तृकर्मणोः क्रियाश्रयभूतयोः धारणक्रियां प्रति य आधारस्तत्कारकमधिकरणसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—कटे आस्ते। कटे शेते। स्थाल्यां पचति ॥

भाषार्थः—क्रिया के आश्रय कर्त्ता तथा कर्म की धारणक्रिया के प्रति [आधारः] आधार जो कारक, उसकी [अधिकरणम्] अधिकरण संज्ञा होती है ॥

उदा०—कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)। कटे शेते (चटाई पर सोता है)। स्थाल्यां पचति (बटलोई में पकाता है) ॥

उदाहरण में आस्ते शेते क्रियाओं के आश्रय देवदत्त आदि कर्त्ता का आधार कट=चटाई है, सो उसकी अधिकरण संज्ञा हो गई। इसी प्रकार पचति क्रिया के आश्रय तण्डुल आदि कर्म की धारण क्रिया का आधार स्थाली है, सो उस की भी अधिकरण संज्ञा हो गई। अधिकरण संज्ञा होने से सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) से सप्तमी विभक्ति हो गई ॥

यहां से १।४।४८ तक 'आधारः' की अनुवृत्ति जाती है ॥

अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥१।४।४६॥ कर्म

अधिशीङ्स्थासाम् ६।३॥ कर्म १।१॥ स०—शीङ् च स्थाश्च आश्च शीङ्स्थासः, अधेः शीङ्स्थासः अधिशीङ्स्थासः,तेषां......द्वन्द्वगर्भः पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आधारः, कारके ॥ अर्थः—अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येतेषाम् आधारो यस्तत् कारकं कर्मसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—ग्राममधिशेते। ग्राममधितिष्ठति। पर्वतमध्यास्ते ॥

भाषार्थः—[अधिशीङ्स्थासाम्] अधिपूर्वक शीङ् स्था आस् इन का आधार जो कारक, उसकी [कर्म] कर्म संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से आधार कारक की अधिकरण संज्ञा प्राप्त थी, यहां कर्म संज्ञा का विधान कर दिया ॥

उदा०—ग्राममधिशेते (ग्राम में सोता है)। ग्राममधितिष्ठति (ग्राम में अधिष्ठाता बनकर रहता है)। पर्वतमध्यास्ते (पर्वत के ऊपर रहता है) ॥

यहां से 'कर्म' की अनुवृत्ति १।४।४८ तक जाती है ॥

कर्म

अभिनिविशश्च ॥१।४।४७॥

अभिनिविशः ६।१॥ च अ० ॥ स०—अभिश्च निश्च अभिनी, ताभ्यां विश् अभिनिविश्, तस्य, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, आधारः, कारके ॥ **अर्थः**—अभिनिपूर्वस्य विशतेः आधारो यस्तत्कारकमपि कर्मसंज्ञं भवति ॥ **उदा०**—ग्राममभिनिविशते ॥

भाषार्थः—[अभिनिविशः] **अभि नि पूर्वक विश् का जो आधार, उस कारक की [च] भी कर्म संज्ञा होती है ॥**

उदा०—ग्राममभिनिविशते (ग्राम में प्रविष्ट होता है) ॥

कर्म

उपान्वध्याङ्वसः ॥१।४।४८॥

उपान्वध्याङ्वसः ६।१॥ स०—उपश्च अनुश्च अधिश्च आङ् च उपान्वध्याङः, तेभ्यो वस् उपान्वध्याङ्वस्, तस्य, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कारके, कर्म, आधारः ॥ **अर्थः**—उप, अनु, अधि, आङ् इत्येवंपूर्वस्य वसतेः आधारो यस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—ग्राममुपवसति सेना। पर्वतमुपवसति। ग्राममनुवसति। ग्राममधिवसति। ग्राममावसति ॥

भाषार्थः—[उपान्वध्याङ्वसः] **उप अनु अधि और आङ् पूर्वक वस् का जो आधार, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ॥**

उदा०—ग्राममुपवसति सेना (ग्राम के पास सेना ठहरी है)। पर्वतमुपवसति। ग्राममनुवसति सेना (ग्राम के साथ-साथ सेना ठहरी है)। ग्राममधिवसति (ग्राम में सेना ठहरी है)। ग्राममावसति (ग्राम में सेना आवास करती है) ॥

कर्म

कर्तुरीप्सिततमं कर्म ॥१।४।४९॥

कर्तुः ६।१॥ ईप्सिततमम् १।१॥ कर्म १।१॥ अनु०—कारके ॥ **अर्थः**—कर्तुः क्रियया यदाप्तुम् इष्टतमं, तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति ॥ **उदा०**—देवदत्तः कटं करोति। ग्रामं गच्छति देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[कर्तुः] **कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा जो [ईप्सिततमम्] अत्यन्त ईप्सित हो, उस कारक की [कर्म] कर्म संज्ञा होती है ॥**

उदा०—**देवदत्तः कटं करोति (देवदत्त चटाई बनाता है)। ग्रामं गच्छति देवदत्तः (देवदत्त ग्राम को जाता है) ॥ उदाहरणों में देवदत्त कर्त्ता को करोति का**

गच्छति क्रिया से सब से अधिक ईप्सित कट वा ग्राम है। सो कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति पूर्ववत् हुई है ॥

यहां से 'कर्म' की अनुवृत्ति १।४।५३ तक जाती है ॥

तथा युक्तं चानीप्सितम् ॥१।४।५०॥ कर्म

तथा अ० ॥ युक्तम् १।१॥ च अ० ॥ अनीप्सितम् १।१॥ स०— न ईप्सितम् अनीप्सितम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, कारके ॥ अर्थः—येन प्रकारेण कर्तुरीप्सिततमं क्रियया युक्तं भवति, तेनैव प्रकारेण यदि कर्तुरनीप्सितमपि युक्तं भवेत्, तत् कर्मसंज्ञकं स्यात् ॥ उदा०—विषं भक्षयति । चौरान् पश्यति । ग्रामं गच्छन्वृक्षमूलान्युपसर्पति ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार कर्त्ता का अत्यन्त ईप्सित कारक क्रिया के साथ युक्त होता है, [तथा] उस प्रकार [च] ही कर्त्ता का [अनीप्सितम्] न चाहा हुआ कारक क्रिया के साथ [युक्तम्] युक्त हो, तो उसकी कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—विषं भक्षयति (विष को खाता है) । चौरान् पश्यति (चोरों को देखता है) । ग्रामम् गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति (गांव को जाता हुआ वृक्ष की जड़ों को छूता है)॥ उदाहरणों में विष कोई नहीं खाना चाहता, वा चोरों को नहीं देखना चाहता, पर अकस्मात् देखना पड़ता है । विष किसी दुःख के कारण खाना पड़ता है । गांव को जाते हुये न चाही हुई वृक्ष की जड़ों को छूते हुये जाता है, अतः यह सब अनीप्सित थे । सो अनीप्सित होने से पूर्व सूत्र से कर्मसंज्ञक नहीं हो सकते थे, इस सूत्र ने कर दिये ॥

अकथितं च ॥१।४।५१॥ कर्म

अकथितम् १।१॥ च अ०॥ स०—न कथितम् अकथितम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, कारके ॥ अर्थः—अकथितमपादानादिकारकैश्चानुक्तं यत् कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—पाणिना कांस्यपात्र्यां गां दोग्धि पयः । पौरवं गां याचते । गामवरुणद्धि व्रजम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । पौरवं गां भिक्षते । वृक्षमवचिनोति फलम् । माणवकं धर्मं ब्रूते । माणवकं धर्मम् अनुशास्ति ॥

भाषार्थः—[अकथितम्] अनुक्त=अपादानादि से न कहा गया जो कारक, उसकी [च] भी कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—पाणिना कांस्य पात्र्यां गां दोग्धि पयः (हाथ से कांसे के पात्र में गाय का दूध दुहता है) । पौरवं गां याचते (पौरव से गौ को मांगता है) । ग्राम-

वरुणद्धि व्रजम् (गाय को बाड़े में रोकता है)। माणवकं पन्थानं पृच्छति (लड़के से मार्ग को पूछता है)। पौरवं गां भिक्षते। वृक्षमवचिनोति फलम् (वृक्ष से फल तोड़ता है)। माणवकं धर्मं ब्रूते (लड़के को धर्म का उपदेश देता है)। माणवकं धर्मम् अनुशास्ति (लड़के को धर्म का अनुशासन बताता है)॥ गां दोग्धि पयः, पौरवं गां याचते आदि उदाहरणों में पयः गां इत्यादि की तो कर्त्ता के ईप्सिततम होने से कर्तुरीप्सिततमं०(१।४।४६) से कर्म संज्ञा हो ही जायेगी, पर गौ या पौरव इत्यादि में क्या कारक होवें? अपादान करण इत्यादि हो नहीं सकते, अतः ये अकथित =अनुक्त ही हैं। सो इनकी प्रकृत सूत्र से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो गई॥

महाभाष्य में इनका परिगणन कारिका में कर दिया गया है। वह कारिका निम्न प्रकार है—

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना॥

अर्थात् दुह, याच, रुध, प्रच्छ, भिक्ष तथा चिञ् इन धातुओं के उपयोग (दूध इत्यादि) का जो निमित्त=कारण (गौ इत्यादि) उसकी अपूर्वविधि में=अकथित होने पर कर्म संज्ञा होती है। एवं ब्रूञ् शास धातुओं के प्रधान कर्म (धर्मादि) से जो सम्बन्धित होता है (माणवकादि) उसके अकथित की भी कर्म संज्ञा होती है॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ ॥१।४।५२॥

गतिबुद्धि······काणाम् ६।३॥ अणि लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः॥ कर्त्ता १।१॥ सः १।१॥ णौ ७।१॥ स०—गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानञ्च गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि, गति······वसानानि अर्था येषां ते गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। शब्दः कर्म यस्य स शब्दकर्मा, बहुव्रीहिः। न विद्यते कर्म यस्य सोऽकर्मकः, बहुव्रीहिः। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाश्च शब्दकर्मा च अकर्मकश्चेति गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाः, तेषां, बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः। न णिः अणिः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—कर्म, कारके॥ अर्थः—गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थानां प्रत्यवसानार्थानां शब्दकर्मकाणामकर्मकाणाञ्च अण्यन्तावस्थायां यः कर्त्ता स ण्यन्तावस्थायां कर्मसंज्ञको भवति॥ उदा०—गत्यर्थाः—गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम्। याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम्॥ बुद्ध्यर्थाः—बुद्ध्यते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम्। वेत्ति माणवको धर्मम्, वेदयति माणवकं धर्मम्॥ प्रत्यवसानार्थाः—भुङ्क्ते माणवको रोटिकाम्, भोजयति माणवकं रोटिकाम्॥ अश्नाति माणवको रोटिकाम्, आशयति माणवकं रोटिकाम्॥ शब्दकर्मकाणाम्—

अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम् । पठति माणवको वेदम्, पाठयति माणवकं वेदम् ।। अकर्मकाणाम्—आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम् । शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम् ।।

भाषार्थः- [गति ····काणाम्] गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक=भोजनार्थक तथा शब्दकर्मवाली और अकर्मक धातुओं का जो [अणि] अण्यन्त अवस्था का [कर्त्ता] कर्त्ता [सः] वह [णौ] ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञक हो जाता है ।।

उदा०—गति-अर्थवाली—गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम् (लड़के को गांव भेजता है) । याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम् ।। बुद्धि-अर्थवाली—बुद्ध्यते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम् (लड़के को धर्म का बोध कराता है) । वेत्ति माणवको धर्मम्, वेदयति माणवकं धर्मम् । भोजन-अर्थवाली भुङ्क्ते माणवको रोटिकाम्, भोजयति माणवकं रोटिकाम् (माणवक को रोटी खिलाता है) । अश्नाति माणवको रोटिकाम्, आशयति माणवकं रोटिकाम् ।। शब्दकर्मवाली—अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम् (लड़के को वेद पढ़ाता है) । पठति माणवको वेदम्, पाठयति माणवकं वेदम् ।। अकर्मक—आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम् (देवदत्त को बिठाता है) । शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम् (देवदत्त को सुलाता है) ।।

ऊपर के सारे उदाहरण पहले अण्यन्त अवस्था में दिखाकर, पुनः ण्यन्त में दिखाये गये हैं । सो स्पष्ट ही पता लग जाता है कि अण्यन्त में जो 'माणवक' कर्त्ता था, वह ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया विभक्तिवाला हो जाता है । माणवक में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से अनभिहित कर्त्ता होने से तृतीया विभक्ति पाती थी, द्वितीया हो गई है ।।

यहाँ से 'अणि कर्त्ता स णौ' की अनुवृत्ति १।४।५३ तक जायेगी ।।

हृक्रोरन्यतरस्याम् ।।१।४।५३।।

हृक्रोः ६।२।। अन्यतरस्याम् अ० ।। स०—हृक्रोरित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—अणि कर्त्ता स णौ, कर्म, कारके ।। अर्थः—हृञ् कृञ् इत्येतयोर्धात्वोः अण्यन्तयोः यः कर्त्ता स ण्यन्तावस्थायां विकल्पेन कर्मसंज्ञको भवति ।। उदा०—हरति माणवको भारम्, हारयति माणवकं भारम् । हारयति भारं माणवकेन इति वा ।। करोति कटं देवदत्तः, कारयति कटं देवदत्तम् । कारयति कटं देवदत्तेन इति वा ।।

भाषार्थः—[हृक्रोः] हृञ् तथा कृञ् धातु का अण्यन्त अवस्था का जो कर्त्ता, वह

ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञक [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है ॥ जब कर्मसंज्ञक नहीं हुआ, तो कर्तृकरणयो० (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हो गई ॥

उदा० – हरति माणवको भारम्, हारयति माणवकं भारम् (लड़के से भार उठवाता है)। हारयति भारं माणवकेन इति वा ॥ करोति कटं देवदत्तः, कारयति कटं देवदत्तम् (देवदत्त से चटाई बनवाता है) । कारयति कटं देवदत्तेन इति वा ॥

स्वतन्त्रः कर्त्ता ॥१।४।५४॥

स्वतन्त्रः १।१॥ कर्त्ता १।१॥ **अनु०**—कारके ॥ **अर्थः**–क्रियायाः सिद्धौ प्रधानो यः स्वातन्त्र्येण विवक्ष्यते, तत् कारकं कर्तृसंज्ञकं भवति ॥ **उदा०**—देवदत्तः पचति । स्थाली पचति ॥

भाषार्थः– क्रिया की सिद्धि में जो [स्वतन्त्रः] प्रधान अर्थात् स्वतन्त्ररूप से विवक्षित होता है, उस कारक की [कर्त्ता] कर्त्ता संज्ञा होती है ॥ कर्त्ता संज्ञा हो जाने से पचति में कर्त्ता में लकार हुआ । देवदत्त तथा स्थाली लकार द्वारा उक्त हैं । अतः तृतीया विभक्ति न होकर प्रातिपदिकार्थ० (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति हो हो जाती है ॥

यहां से 'कर्त्ता' की अनुवृत्ति १।४।५५ तक जायेगी ॥

तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥१।४।५५॥

तत्प्रयोजकः १।१॥ हेतुः १।१॥ च अ० ॥ स०—तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः, षष्ठीतत्पुरुषः । निपातनात् समासः ॥ **अनु०**—कर्त्ता, कारके ॥ **अर्थः**—तस्य= स्वतन्त्रस्य प्रयोजकः=प्रेरको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञं भवति, चकारात् कर्तृसंज्ञं च ।। उदा०—देवदत्तः कटं करोति, त यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते =यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति ॥

भाषार्थः– [तत्प्रयोजकः] उस स्वतन्त्र का जो प्रयोजक अर्थात् प्रेरक, उस कारक की [हेतुः] हेतु संज्ञा होती है, [च] और कर्त्ता संज्ञा भी होती है ॥

उदा०—देवदत्तः कटं करोति, तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते=यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति (यज्ञदत्त देवदत्त से चटाई बनवाता है) ॥ उदाहरण में यज्ञदत्त को हेतु संज्ञा होने से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय कृञ् धातु से हुआ है, तथा कर्त्ता संज्ञा होने से कर्तृप्रक्रिया में लकार आ गया है ॥

[निपातसंज्ञा-प्रकरणम्]

प्राग्रीश्वरान्निपाताः ॥१।४।५६॥

प्राक् अ० ॥ रीश्वरात् ५।१॥ निपाताः १।३॥ **अर्थः**–अधिरीश्वरे (१।४।९६)

इत्येतस्मात् प्राक् निपातसंज्ञा भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्य: ॥ उदा०—च, वा, ह, अह ॥

भाषार्थ:—[रीश्वरात्] अधिरीश्वरे (१।४।९६) सूत्र से [प्राक्] पूर्व-पूर्व [निपाता:] निपात संज्ञा का अधिकार जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ च, वा, ह आदियों की चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से निपात संज्ञा होकर स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३६) से अव्यय संज्ञा हो जाती है। अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुप: (२।४।८२) से सुप् का लुक् हो जाता है। निपात संज्ञा का सर्वत्र यही फल जानना चाहिये ॥

यहां से 'निपाता:' का अधिकार विभाषा कृञि (१।४।९७) तक जाता है ॥

चादयोऽसत्त्वे ॥१।४।५७॥

चादय: १।३।। असत्त्वे ७।१।। स०—च आदिर्येषां ते चादय:, बहुव्रीहि: । न सत्त्वम् असत्त्वम्, तस्मिन् असत्त्वे, नञ्तत्पुरुष: ।। अनु०—निपाता: ।। अर्थ:—चादयो निपातसंज्ञका भवन्ति, यदि सत्त्वेऽर्थे न वर्तन्ते ।। उदा०—च, वा, ह, एव ।।

भाषार्थ:—[चादय:] चादिगण में पढ़े शब्दों की निपात संज्ञा होती है, यदि वे [असत्त्वे] सत्त्व अर्थात् द्रव्यवाची न हों तो ॥

उदा०—च (और) । वा (विकल्प) । ह (निश्चय से) । एव (ही) ॥

यहां से 'असत्त्वे' की अनुवृत्ति १।४।५८ तक जाती है ॥

प्रादय उपसर्गा: क्रियायोगे ॥१।४।५८॥

प्रादय: १।३।। उपसर्गा: १।३।। क्रियायोगे ७।१।। स०—प्र आदिर्येषां ते प्रादय:, बहुव्रीहि: । क्रियया योग: क्रियायोग:, तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुष: ।। अनु०— असत्त्वे, निपाता: ।। अर्थ:—असत्त्ववाचिन: प्रादयो निपातसंज्ञका भवन्ति, ते च प्रादय: क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञकाश्च भवन्ति ।। उदा०—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप । क्रियायोगे—प्रणयति । परिणयति । प्रणायक: ।।

भाषार्थ:—[प्रादय:] प्रादिगण में पठित शब्दों की निपात संज्ञा होती है। तथा [क्रियायोगे] क्रिया के साथ प्रयुक्त होने पर उनकी [उपसर्गा:] उपसर्ग संज्ञा भी होती है ॥

उदा०—प्र (प्रकर्ष) । परा (परे) । अप (हटना) । क्रिया के योग में—प्रण-यति (बनाता है) । परिणयति (विवाह करता है)। प्रणायक: (लेजानेवाला) ॥ प्र परा शब्दों की निपात संज्ञा होने का पूर्ववत् ही फल है। प्रणयति इत्यादि में नयति

क्रिया के साथ प्रादियों का योग है। सो उपसर्ग संज्ञा होकर उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से उपसर्ग से उत्तर 'न' को 'ण' हो गया है ॥

यहाँ से 'प्रादयः' की अनुवृत्ति १।४।५९ तक, तथा 'क्रियायोगे' की १।४।७८ तक जाती है ॥

[निपातसंज्ञान्तर्गत-गतिसंज्ञा-प्रकरणम्]

गतिश्च ॥१।४।५९॥

गतिः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—प्रादयः, क्रियायोगे ॥ अर्थः—प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—प्रकृत्य, प्रकृतम्, यत् प्रकरोति ॥

भाषार्थः—प्रादियों की क्रिया के योग में [गतिः] गति संज्ञा, [च] और उपसर्ग संज्ञा भी होती है ॥ आगे गति संज्ञा के सूत्रों में प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६) सूत्र से गति संज्ञावाले शब्दों की निपात संज्ञा भी होती जायेगी ॥

यहाँ से 'गति' की अनुवृत्ति १।४।७८ तक जायेगी ॥

ऊर्यादिच्विडाचश्च ॥१।४।६०॥

ऊर्यादिच्विडाचः १।३॥ च अ० ॥ स०—ऊरी आदिर्येषां ते ऊर्यादयः, ऊर्यादयश्च च्विश्च डाच्च इति ऊर्यादिच्विडाचः, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—ऊर्यादयः शब्दा च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञका निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—ऊरीकृत्य । ऊरीकृतम् । यदूरीकरोति ॥ शुक्लीकृत्य। शुक्लीकृतम् । यत् शुक्लीकरोति ॥ पटपटाकृत्य । पटपटाकृतम् । यत् पटपटाकरोति ॥

भाषार्थः—[ऊर्या···चः] ऊर्यादि शब्द, तथा च्व्यन्त और डाजन्त शब्दों की [च] भी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

अनुकरणं चानितिपरम् ॥१।४।६१॥

अनुकरणं १।१॥ च अ० ॥ अनितिपरम् १।१॥ स०—इतिः परो यस्मात् तत् इतिपरम्, न इतिपरम् अनितिपरम्, बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अनितिपरम् अनुकरणं क्रियायोगे गतिसंज्ञकं निपातसंज्ञकं च भवति ॥ उदा०—खाट्कृत्य । खाट्कृतम् । यत् खाट्करोति ॥

भाषार्थः—[अनितिपरम्] इतिशब्द जिससे परे नहीं है, ऐसा जो [अनुकरणम्] अनुकरणवाची शब्द, उसकी [च] भी क्रियायोग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—खाट्कृत्य (खाट् ऐसा शब्द करके)। खाट्कृतम्। यत् खाट्करोति ॥ उदाहरणों में पहले किसी ने 'खाट्' ऐसा बोला था। दूसरे ने उसका अनुकरण करके 'खाट्' ऐसा कहा। तो उस अनुकरणवाले शब्द की प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा हो गई। पूर्ववत् ही सर्वत्र गतिसंज्ञा का फल जानें ॥

आदरानादरयोः सदसती ॥१।४।६२॥

आदरानादरयोः ७।२॥ सदसती १।२॥ स०—आदरश्च अनादरश्च आदरानादरौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। सदसतीत्यत्रापीतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—आदरे अनादरे चार्थे यथाक्रमं सत् असत् शब्दौ क्रियायोगे गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—सत्कृत्य। सत्कृतम्। यत् सत्करोति ॥ असत्कृत्य। असत्कृतम्। यद् असत्करोति ॥

भाषार्थः—[सदसती] सत् और असत् शब्द यदि यथासङ्ख्य करके [आदरानादरयोः] आदर तथा अनादर अर्थ में वर्त्तमान हों, तो उनकी क्रियायोग में गति संज्ञा और निपात संज्ञा होती है ॥ यथासङ्ख्यमनु० (१।३।१०) से यथाक्रम सत् शब्द से आदर, तथा असत् शब्द से अनादर अर्थ में गति संज्ञा होती है ॥ उदा०—सत्कृत्य (सत्कार करके)। सत्कृतम् (सत्कार किया)। यत् सत्करोति ॥ असत्कृत्य (असत्कार करके)। असत्कृतम्। यत् असत्करोति ॥ गति संज्ञा के कार्य सब पूर्ववत् ही हैं ॥

भूषणेऽलम् ॥१।४।६३॥

भूषणे ७।१॥ अलम् अ० ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे निपाताः ॥ अर्थः—भूषणेऽर्थे वर्त्तमानो योऽलं शब्दः, स क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अलंकृत्य। अलंकृतम्। यद् अलंकरोति ॥

भाषार्थः—[भूषणे] भूषण अर्थ में वर्त्तमान जो [अलम्] अलम् शब्द, उसकी क्रियायोग में गति संज्ञा और निपातसंज्ञा होती है ॥

उदा०—अलंकृत्य (भूषित करके)। अलंकृतम्। यद् अलंकरोति ॥

अन्तरपरिग्रहे ॥१।४।६४॥

अन्तः अ० ॥ अपरिग्रहे ७।१॥ स०—अपरिग्रह इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अपरिग्रहेऽर्थे वर्त्तमानो योऽन्तः शब्दः स क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अन्तर्हत्य। अन्तर्हतम्। यदन्तर्हन्ति ॥

भावार्थः—[अपरिग्रहे] अपरिग्रह अर्थात् न स्वीकार करने अर्थ में वसंमान [अन्तः] अन्तर् शब्द की क्रियायोग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अन्तर्हत्य (मध्य में आघात करके)। अन्तर्हतम्। यदन्तर्हन्ति ॥ स्वर-सिद्धि परि० १।४।५६ के समान ही है। केवल यहाँ 'हन्ति' में धातुस्वर से 'हन्ति' आद्युदात्त है ॥

कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते ॥१।४।६५॥

कणेमनसी १।२॥ श्रद्धाप्रतीघाते ७।१॥ स०—कणे च मनश्च कणेमनसी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। श्रद्धायाः प्रतीघातः श्रद्धाप्रतीघातः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। अर्थः—कणे शब्दः मनस् शब्दश्च क्रियायोगे श्रद्धायाः प्रतीघातेऽर्थे गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य पयः पिबति ॥

भावार्थः—[श्रद्धाप्रतीघाते] श्रद्धा के प्रतीघात अर्थ में [कणेमनसी] कणे तथा मनस् शब्दों की क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—कणेहत्य पयः पिबति (मन भरके दूध पीता है)। मनोहत्य पयः पिबति (मन भरके दूध पीता है) ॥ उदाहरणों में दूध उतना पीता है कि उसकी इच्छा और पीने की नहीं रहती, सो श्रद्धा का प्रतीघात अर्थ है ॥

पुरोऽव्ययम् ॥१।४।६६॥

पुरः अ० ॥ अव्ययम् १।१॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययं यत् पुरस् शब्दस्तस्य क्रियायोगे गतिसंज्ञा निपातसंज्ञा च भवति ॥ उदा०—पुरस्कृत्य। पुरस्कृतम्। यत् पुरस्करोति ॥

भावार्थः—[अव्ययम्] अव्यय जो [पुरः] पुरस् शब्द, उसकी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥ असि-प्रत्ययान्त (५।३।३९) पुरस् शब्द अव्यय होता है ॥ उदा०—पुरस्कृत्य (आगे करके)। पुरस्कृतम्। यत् पुरस्करोति ॥

यहाँ से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति १।४।६८ तक जायेगी ॥

अस्तं च ॥१।४।६७॥

अस्तम् अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययम् अस्तं शब्दो गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति क्रियायोगे ॥ उदा०—अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति। अस्तंगतानि धनानि। यदस्तंगच्छति ॥

भाषार्थः—[अस्तम्] अस्तम् शब्द जो अव्यय है, उसकी [च] भी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति (छिपने के बाद सूर्य पुनः उदित होता है)। अस्तंगतानि धनानि (नष्ट हुए धन)। यदस्तं गच्छति (जो अस्त होता है)।

अच्छ गत्यर्थवदेषु ॥१।४।६८॥

अच्छ अ० ॥ गत्यर्थवदेषु ७।३॥ स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, गत्यर्थाश्च वदश्च, गत्यर्थवदाः, तेषु, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययम् अच्छशब्दो गत्यर्थकधातूनां वदधातोश्च योगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अच्छगत्य । अच्छंगतम् । यदुच्छगच्छति ॥ अच्छोद्य । अच्छोदितम् । यत् अच्छवदति ॥

भाषार्थः—[गत्यर्थवदेषु] गत्यर्थक तथा वद धातु के योग में [अच्छ] अच्छ शब्द जो अव्यय, उसकी गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अच्छगत्य (सामने आकर)। अच्छगतम् । यदच्छगच्छति ॥ अच्छोद्य (सामने कहकर)। अच्छोदितम् । यद् अच्छवदति ॥ क्त्वा तथा क्त प्रत्ययों के परे वद को वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर, तथा आद्गुणः (६।१।८४) से पूर्व पर को गुण होकर—अच्छोद्य बना है । अच्छगतम् में अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से, तथा अच्छगत्य में वा ल्यपि (६।४।३८) से अनुनासिक-लोप हो गया है ॥

अदोऽनुपदेशे ॥१।४।६९॥

अदः १।१॥ अनुपदेशे ७।१॥ स०—अनुपदेश इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अनुपदेशे अदः शब्दः क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अदःकृत्य । अदःकृतम् । यददःकरोति ॥

भाषार्थः—[अनुपदेशे] अनुपदेश विषय में [अदः] अदः शब्द क्रिया के योग में गति और निपातसंज्ञक होता है ॥ किसी की कही हुई बात को उपदेश, तथा जो स्वयं सोचा जाये वह अनुपदेश होता है ॥ उदा०—अदःकृत्य (स्वयं विचारकर)। अदःकृतम् । यददःकरोति ॥

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥१।४।७०॥

तिरः अ० ॥ अन्तर्द्धौ ७।१॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—

अन्तर्द्धौ=व्यवधानेऽर्थे तिरः शब्दः क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—तिरोभूय । तिरोभूतम् । यत् तिरोभवति ॥

भाषार्थः—[अन्तर्द्धौ] अन्तर्द्धि अर्थात् व्यवधान अर्थ में [तिरः] तिरः शब्द की क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—तिरोभूय (छिपकर) । तिरोभूतम् । यत् तिरोभवति । यहाँ धातु स्वर से 'भवति' आद्युदात्त है ॥

यहाँ से 'तिरोऽन्तर्द्धौ' की अनुवृत्ति १।४।७१ तक जाती है ॥

विभाषा कृञि ॥१।४।७१॥

विभाषा १।१॥ कृञि ७।१॥ अनु०—तिरोऽन्तर्द्धौ, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—तिरः शब्दोऽन्तर्द्धावर्थे कृञ्धातोर्योगे विभाषा गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य । तिरस्कृतम्, तिरःकृतम । यत् तिरस्करोति, यत् तिरःकरोति । अगतिसंज्ञापक्षे—तिरः कृत्वा । तिरः कृतम् । यत् तिरः करोति ॥

भाषार्थः—अन्तर्द्धि=छिपने अर्थ में तिरः शब्द को [कृञि] कृञ धातु के योग में [विभाषा] विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥ यहाँ तथा अगले सूत्रों में गति संज्ञा का ही विकल्प समझना चाहिये, निपात संज्ञा का नहीं ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति १।४।७५ तक, तथा 'कृञि' की अनुवृत्ति १।४।७८ तक जायेगी ॥

उपाजेऽन्वाजे ॥१।४।७२॥

उपाजेऽन्वाजे विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ ॥ अनु०—विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—उपाजे अन्वाजे इत्येतौ शब्दौ कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकौ भवतः, निपातसंज्ञकौ च ॥ उदा०—उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा ॥

भाषार्थः—[उपाजेऽन्वाजे] उपाजे तथा अन्वाजे शब्दों को कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—उपाजेकृत्य (निर्बल की सहायता करके), उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य (निर्बल की सहायता करके), अन्वाजे कृत्वा ॥ पूर्ववत् गति संज्ञा न होने से समास न होकर क्त्वा को ल्यप् नहीं हुआ है ॥

साक्षात्प्रभृतीनि च ॥१।४।७३॥

साक्षात्प्रभृतीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—साक्षात् प्रभृति येषां तानि साक्षात्-प्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे निपाताः ॥ अर्थः साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकानि निपातसंज्ञकानि च भवन्ति ॥ उदा०—साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा । मिथ्याकृत्य, मिथ्या कृत्वा ॥

भाषार्थः—[साक्षात्प्रभृतीनि] साक्षात् इत्यादि शब्दों की [च] भी कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा० साक्षात्कृत्य (अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करके), साक्षात् कृत्वा । मिथ्याकृत्य (शुद्ध को अशुद्ध बोलकर), मिथ्या कृत्वा ॥ सर्वत्र जब गति संज्ञा नहीं होगी, तब समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होगा । तथा परि० १।४।७१ के समान ही स्वर का भेद हो जायेगा ॥

अनत्याधान उरसिमनसी ॥१।४।७४॥

अनत्याधाने ७।१॥ उरसिमनसी १।२॥ स०—अनत्याधानमित्यत्र नञ्तत्पुरुषः । उरसि च मनसि चेति उरसिमनसी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा कृञि गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अत्याधानमुपश्लेषणं, तदभावे—अनुपश्लेषणे उरसिमनसी शब्दौ कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उरसि-मनसि शब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ ॥ उदा०—उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा ॥

भाषार्थः—[अनत्याधाने] अनत्याधान अर्थात् चिपकाके न रखने विषय में [उरसिमनसी] उरसि और मनसि शब्दों की कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥ उरसि मनसि शब्द विभक्ति-प्रतिरूपक निपात हैं ॥ उदा०—उरसिकृत्य (अन्तःकरण में बिठाकर), उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य (मन में निश्चय करके), मनसि कृत्वा ॥

यहाँ से 'अनत्याधाने' की अनुवृत्ति १।४।७५ तक जाती है ॥

मध्येपदेनिवचने च ॥१।४।७५॥

मध्ये, पदे, निवचने लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—अनत्याधाने, विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—मध्ये, पदे, निवचने इत्येते शब्दाः कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञका निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति अनत्याधाने ॥ मध्ये, पद इ[illegible]

विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ। निवचनं वचनाभावः, अर्थाभावेऽव्ययीभावसमासः (२।१।६)। निपातनाद् एकारान्तत्वं भवति निवचने इति॥ उदा०—मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य, पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा॥

भाषार्थः—[मध्येपदेनिवचने] मध्ये पदे निवचने शब्दों की [च] भी कृञ् के योग में गति और निपात संज्ञा विकल्प से होती है॥

उदा०—मध्येकृत्य (बीच में लेकर), मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य (पद में गिनकर), पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य (वाणी को संयम में करके), निवचने कृत्वा॥

नित्यं हस्ते पाणावुपयमने ॥१।४।७६॥

नित्यं १।१॥ हस्ते पाणौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ॥ उपयमने ७।१॥ अनु०—कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः॥ अर्थः—उपयमने हस्ते पाणौ शब्दौ कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः॥ उदा०—हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य॥

भाषार्थः—[हस्ते पाणौ] हस्ते तथा पाणौ शब्द [उपयमने] उपयमन अर्थात् विवाह-विषय में हों, तो [नित्यम्] नित्य ही उनकी कृञ् के योग में गति और निपात संज्ञा होती है॥ उदा—हस्तेकृत्य (विवाह करके)। पाणौकृत्य (विवाह करके)॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति १।१।७८ तक जाती है॥

प्राध्वं बन्धने ॥१।४।७७॥

प्राध्वम् अ०॥ बन्धने ७।१॥ अनु०—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः॥ अर्थः—प्राध्वम् अव्ययम् आनुकूल्येऽर्थे वर्त्तते। तदानुकूल्यं यदि बन्धनहेतुकं भवति, तदा प्राध्वं शब्दस्य कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञा निपातसंज्ञा च भवति॥ उदा०—प्राध्वंकृत्य॥

भाषार्थः—[प्राध्वम्] प्राध्वं यह अव्यय शब्द आनुकूल्य अर्थ में है। सो इस शब्द की [बन्धने] बन्धनविषयक अनुकूलता अर्थ में कृञ् के योग में नित्य गति और निपात संज्ञा होती है॥ उदा०—प्राध्वंकृत्य (बन्धन के निमित्त से अनुकूलता करके)॥

जीविकोपनिषदावौपम्ये॥१।४।७८॥

जीवकोपनिषदौ १।२॥ औपम्ये ७।१॥ स०—जीविको० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः॥ अर्थः—जीविका उपनिषद् इत्येतौ शब्दौ औपम्ये विषये कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः॥ उदा०—जीविकाकृत्य। उपनिषत्कृत्य॥

भाषार्थः—[जीविकोपनिषदौ] जीविका और उपनिषद् शब्दों की [औपम्ये] उपमा के विषय में कृञ् के योग में नित्य गति और निपात संज्ञा होती है॥ उदा०—जीविकाकृत्य (जीविका के समान करके)। उपनिषत्कृत्य (रहस्य के समान करके)॥

ते प्राग्धातोः ॥१।४।७९॥

ते १।३॥ प्राग् अ० ॥ धातोः ५।१॥ अर्थः—ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः प्राग् प्रयोक्तव्याः ॥ तथा च पूर्वत्रैवोदाहृताः ॥

भाषार्थः—[ते] वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द [धातोः] धातु से [प्राक्] पहले होते हैं। अर्थात् धातु से पीछे वा मध्य में प्रयुक्त नहीं होंगे, पूर्व ही प्रयुक्त होंगे ॥ जैसा कि सारे सूत्रों के उदाहरणों में गति तथा उपसर्गों को धातु से पहले ही लाये हैं ॥

यहाँ से 'ते धातोः' की अनुवृत्ति १।४।८१ तक जायेगी ॥

छन्दसि परेऽपि ॥१।४।८०॥

छन्दसि ७।१॥ परे १।३॥ अपि अ० ॥ अनु०—ते, धातोः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः परेऽपि भवन्ति, अपि शब्दात् प्राक् च ॥ उदा०—याति नि हस्तिना। नियाति हस्तिना। हन्ति नि मुष्टिना। निहन्ति मुष्टिना ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में वे गति-उपसर्गसंज्ञक शब्द धातु से [परे] परे तथा पूर्व में [अपि] भी आते हैं ॥ 'अपि' शब्द से पूर्व भी ले लिया है। जैसा कि उदाहरणों में 'नि' उपसर्ग याति तथा तथा हन्ति से परे तथा पूर्व भी प्रयुक्त हुआ है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति १।४।८१ तक जायेगी ॥

व्यवहिताश्च ॥१।४।८१॥

व्यवहिताः १।३॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, ते, धातोः ॥ अर्थः—ते गत्युपसर्गसंज्ञकाश्छन्दसि विषये व्यवहिताश्च दृश्यन्ते ॥ उदा०—आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः (ऋ० ३।४५।१)॥ आयाहि (ऋ० ३।४३।२)॥ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु० (ऋ० १।८९।१)॥

भाषार्थः—वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द वेद में [व्यवहिताः] व्यवधान से [च] भी देखे जाते हैं ॥ जैसा कि ऊपर उदाहरणों में आङ् उपसर्ग याहि तथा यन्तु से व्यवधान होने पर भी हुआ है, तथा अव्यवहित होने पर भी 'आयाहि' ऐसा वेद में होता है ॥

[निपातान्तर्गतकर्मप्रवचनीय-संज्ञा-प्रकरणम्]

कर्मप्रवचनीयाः ॥१।४।८२॥

कर्मप्रवचनीयाः १।३॥ अर्थः—इत ऊर्ध्वं कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः । विभाषा कृञि (१।४।९७) इति यावत् ॥ तत्रैवोदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[कर्मप्रवचनीयाः] कर्मप्रवचनीयाः यह सूत्र संज्ञा या अधिकार दोनों है। इसका अधिकार विभाषा कृञि(१।४।९७) तक जायेगा। सो यहां तक के सूत्रों में यह कर्मप्रवचनीय संज्ञा करता जायेगा ॥

अनुर्लक्षणे ॥१।४।८३॥

अनुः १।१॥ लक्षणे ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अनु-शब्दः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति, लक्षणे द्योत्ये ॥ उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् । अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः ॥

भाषार्थः—[अनुः] अनु शब्द की [लक्षणे] लक्षण द्योतित हो रहा हो, तो कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा हो जाती है ॥

उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् (शाकल संहिता के समाप्त होते ही वर्षा हुई)। अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः (अगस्त्य नक्षत्र के उदय होते ही वर्षा हुई) ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'संहिता' और 'अगस्त्य' में यहाँ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (२।३।८) से द्वितीया विभक्ति हो गई। एवं उपसर्ग तथा गति संज्ञा का भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से बाध हो गया, तो'अन्वसिञ्चन्' में उपसर्गात् सुनोतिसुवति० (८।३।६५) से उपसर्ग से उत्तर न होने के कारण षत्व नहीं हुआ ॥ निपाताः का अधिकार होने से यहाँ सर्वत्र निपात संज्ञा का भी समावेश होता जा रहा है। सो पूर्व-वत् अव्यय संज्ञा होकर सु का लुक् हो जायेगा। उदाहरण में संहिता की समाप्ति वर्षा को लक्षित करती है ॥

यहाँ से 'अनुः' की अनुवृत्ति १।४।८५ तक जायेगी ॥

तृतीयार्थे ॥१।४।८४॥

तृतीयार्थे ७।१॥ तृतीयायाः अर्थः तृतीयार्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । अनु०—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—तृतीयार्थे द्योत्ये अनुशब्दः कर्म-प्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—नदीमन्ववसिता सेना ॥

भाषार्थः—[तृतीयार्थे] तृतीयार्थ द्योतित हो रहा हो, तो अनु शब्द की कर्म-प्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—नदीमन्ववसिता सेना (नदी के साथ-साथ सेना बस रही है) ॥ कर्म-प्रवचनीय संज्ञा होने से नदी में पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति हो गई है ॥

हीने ॥१।४।८५॥

हीने ७।१॥ अनु०—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—हीने द्योत्येऽनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः । अन्वर्जुनं योद्धारः ॥

भाषार्थः—[हीने] हीन अर्थात् न्यून द्योतित होने पर अनु शब्द की कर्मप्रव-चनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः (सब वैयाकरण शाकटायन से न्यून थे)। अन्वर्जुनं योद्धारः (सब योद्धा अर्जुन से न्यून थे)॥ पूर्ववत् यहां भी द्वितीया विभक्ति हो जाती है ॥

यहां से 'हीने' की अनुवृत्ति १।४।८६ तक जायेगी ॥

उपोऽधिके च ॥१।४।८६॥

उपः १।१॥ अधिके ७।१। च अ० ॥ अनु०—हीने, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—उपशब्दोऽधिके हीने च द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—उपखार्यां द्रोणः । उपनिष्के कार्षापणम् । हीने—उपशाकटायनं वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[उपः] उपशब्द [अधिके] अधिक [च] तथा हीन अर्थ द्योतित होने पर कर्मप्रवचनीय और निपातसंज्ञक होता है ॥

उदा०—उपखार्यां द्रोणः (खारी से अधिक द्रोण, अर्थात् पूरी एक खारी है, तथा उसमें एक द्रोण और अधिक है) । उपनिष्के कार्षापणम् (कार्षापण से अधिक निष्क, अर्थात् पूरा कार्षापण है, तथा उससे अधिक एक निष्क भी है)। हीन में—उपशाकटा-यनं वैयाकरणाः (शाकटायन से सब वैयाकरण छोटे हैं) ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपखार्यां तथा उपनिष्के में यस्मादधिकं यस्य चेश्वर-वचनं तत्र सप्तमी (२।३।९) से सप्तमी विभक्ति हुई है । शेष में पूर्ववत् द्वितीया हो गई ॥

अपपरी वर्जने ॥१।४।८७॥

अपपरी १।२॥ वर्जने ७।१॥ स०—अपपरी इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—

कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अपपरी शब्दौ वर्जने द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—[वर्जने] वर्जन अर्थात् छोड़ना अर्थ द्योतित होने पर [अपपरी] अप परि शब्दों की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः (त्रिगर्त देश को छोड़कर वर्षा हुई) । परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से त्रिगर्तेभ्यः में पञ्चमी विभक्ति पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०) से हो गई है । परेर्वर्जने (८।१।५) से परि का द्विर्वचन कहा गया है । परन्तु वार्तिक से उसका विकल्प हो जाता है, अतः यहां द्विर्वचन नहीं दिखाया गया ॥

आङ् मर्यादावचने ॥१।४।८८॥

आङ् १।१॥ मर्यादावचने ७।१॥ स०—मर्यादाया वचनं मर्यादावचनं, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—मर्यादावचने आङ् कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—मर्यादायाम्—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः । अभिविधौ—आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । आ मथुरायाः, आ साङ्काश्यादित्यादीनि ॥

भाषार्थः—[आङ्] आङ् की [मर्यादावचने] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ सूत्र में वचन ग्रहण करने से 'अभिविधि' अर्थ भी यहां निकल आता है । 'मर्यादा' किसी अवधि को कहते हैं । अभिविधि भी मर्यादा ही होती है । उसमें अन्तर इतना है कि जहां से किसी बात की अवधि बांधी जाय, उसको लेकर अभिविधि होती है । तथा मर्यादा उस अवधि से पूर्व-पूर्व तक समझी जाती है । जैसे कि—आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः, इस उदाहरण में मर्यादा है । सो इसका अर्थ होगा पाटलिपुत्र से (अवधि से) पूर्व पूर्व वर्षा हुई । यदि यह उदाहरण अभिविधि में होगा, तो इसका अर्थ होगा—पाटलिपुत्र को लेकर, अर्थात् पाटलिपुत्र में भी वर्षा हुई । इसी प्रकार अभिविधि में 'आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः' का अर्थ है—बच्चे-बच्चे तक पाणिनि जी का यश है ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से इसके योग में पाटलिपुत्र इत्यादि शब्दों में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२।३।१०) से पञ्चमी विभक्ति पूर्ववत् हुई है । आङ् मर्यादाभिविध्योः (२।१।१२) से यहां पक्ष में समास भी हो जाता है । सो समास होकर आपाटलिपुत्रम्, आकुमारम् इत्यादि रूप भी बनेंगे ॥

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः ॥१।४।८९॥

लक्षणेत्थ···वीप्सासु ७।३॥ प्रतिपर्यनवः १।३॥ स०—कञ्चित् प्रकारं प्राप्त इत्थंभूतः, इत्थंभूतस्य आख्यानम् इत्थंभूताख्यानम्, लक्षणञ्च इत्थम्भूताख्यानञ्च भागश्च वीप्सा च लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्साः, तासु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । प्रति-पर्यनवः इत्यत्रापि इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः निपाताः ॥ अर्थः—प्रति परि अनु इत्येते शब्दाः लक्षण इत्थम्भूताख्यान भाग वीप्सा इत्येतेष्वर्थेषु विषयभूतेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञकाः निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—लक्षणे—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । वृक्षं परि विद्योतते । इत्थम्भूताख्याने—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, मातरं परि,मातरम् अनु । भागे—यदत्र मां प्रति स्यात् । यदत्र मां परि स्यात् । यदत्र माम् अनु स्यात् । वीप्सा—वृक्षं-वृक्षं प्रति सिञ्चति । वृक्षं-वृक्षं परि सिञ्चति । वृक्षम्-वृक्षम् अनु सिञ्चति ॥

भाषार्थः—[प्रतिपर्यनवः] प्रति परि अनु इनको [लक्षणे···प्सासु] लक्षण, इत्थम्भूताख्यान (अर्थात् वह इस प्रकार का है, ऐसा कहने में), भाग और वीप्सा इन अर्थों के द्योतित होने पर कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ वीप्सा व्याप्ति को कहते हैं ॥

उदा०—लक्षण में—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् (वृक्ष पर बिजली चमकती है)। वृक्षं परि विद्योतते, वृक्षमनु विद्योतते । इत्थम्भूताख्यान में—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति (देवदत्त माता के प्रति अच्छा व्यवहार करता है) । मातरं परि, मातरम् अनु । भाग में—यदत्र मां प्रति स्यात् (यहां जो मेरा भाग हो) । यदत्र मां परि स्यात्, यदत्र माम् अनु स्यात् । वीप्सा—वृक्षं-वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)। वृक्षं-वृक्षं परि सिञ्चति, वृक्षम्-वृक्षम् अनु सिञ्चति ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया, तो स्यात् में उपसर्ग० (८।३।८७) से,एवं सिञ्चति में उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व नहीं हुआ है । पूर्ववत् यहां भी द्वितीया हो जायेगी । वीप्सा अर्थ में 'वृक्ष' को द्वित्व नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से हो जाता है ॥

यहां से 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु' की अनुवृत्ति १।४।९० तक जायेगी ॥

अभिरभागे ॥१।४।९०॥

अभिः १।१॥ अभागे ७।१॥ स०—अभाग इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—भागवर्जितेषु लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सास्वर्थेष्वभिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति॥

उदा०—लक्षणे—वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् । इत्थम्भूताख्यान—साधुर्देवदत्तो मातरमभि । वीप्सायाम्—वृक्ष-वृक्षमभि सिञ्चति ॥

भाषार्थः—लक्षणादि अर्थों के द्योतित होने पर [अभिः] अभि शब्द की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है [अभागे] भाग अर्थ को छोड़कर ॥ लक्षणादि अर्थों को कहने में भाग अर्थ में भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा प्राप्त थी । सो 'अभागे' इस पद ने निषेध कर दिया ॥ उदा०—लक्षण में—वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् (वृक्ष पर बिजली चमकती है)। इत्थम्भूताख्यान में—साधुर्देवदत्तो मातरमभि (देवदत्त माता से अच्छा व्यवहार करता है)। वीप्सा में—वृक्षं-वृक्षमभि सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)। पूर्ववत् षत्व-निषेध, तथा द्वितीया विभक्ति कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होने से हो गई ॥

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥१।४।९१॥

प्रतिः १।१॥ प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ७।२॥ स०—प्रतिनिधिश्च प्रतिदानञ्च प्रतिनिधिप्रतिदाने, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—प्रतिशब्दः प्रतिनिधिप्रतिदानविषये कर्मप्रवचनीयसंज्ञो निपातसंज्ञश्च भवति ॥ उदा०—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति । माषान् तिलेभ्यः प्रति यच्छति ॥

भाषार्थः—[प्रतिः] प्रति शब्द की [प्रति··· दानयोः] प्रतिनिधि और प्रतिदान विषय में कर्मप्रवचनीय और निपात सञ्ज्ञा होती है ॥

उदा०—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति (अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है) । माषान् तिलेभ्यः प्रतियच्छति (तिलों के बदले उड़द देता है) ॥ यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (२।३।११) से 'तिलेभ्यः' तथा 'अर्जुनतः' में पञ्चमी विभक्ति हो गई है । अर्जुनतः में प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः (५।४।४४) से तसि प्रत्यय हुआ है । अर्जुन तसि = अर्जुन तस् = अर्जुनतः बना ॥

अधिपरी अनर्थकौ ॥१।४।९२॥

अधिपरि १।२॥ अनर्थकौ १।२॥ स०—अधिश्च परिश्चेति अधिपरी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न विद्यते अर्थो ययोस्तावनर्थकौ, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अनर्थान्तरवाचिनौ अधिपरिशब्दौ कर्मप्रवचनीयसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति ॥

भाषार्थः—[अधिपरी] अधि परि शब्द यदि [अनर्थकौ] अनर्थक अर्थात् अन्य अर्थ के द्योतक न हों, तो उनकी कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ उदाहरण में 'आगच्छति' का जो अर्थ है, वही 'अध्यागच्छति' तथा 'पर्यागच्छति का

भी है। अतः अधि परि अनर्थक हैं, सो कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो गई है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति तथा उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया। अतः गतिर्गतौ (८।१।७०) से अधि परि का निघात नहीं हुआ ॥

सुः पूजायाम् ॥१।४।९३॥

सुः १।१॥ पूजायाम् ७।१॥ **अनु०**—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ **अर्थः**—सुशब्दः पूजायामर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ **उदा०**—सुसिक्तं भवता। सुस्तुतं भवता ॥

भाषार्थः—[सुः] सु शब्द को [पूजायाम्] पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ उदा०—सुसिक्तं भवता (आपने बहुत अच्छा सींचा)। सुस्तुतं भवता (आपने अच्छी स्तुति की) ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया, तो उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व नहीं हुआ ॥

यहाँ से 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति १।४।९४ तक जाती है ॥

अतिरतिक्रमणे च ॥१।४।९४॥

अतिः १।१॥ अतिक्रमणे ७।१॥ च अ० ॥ **अनु०**—पूजायाम्, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ **अर्थः**—अतिशब्दः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति अतिक्रमणेऽर्थे, चकारात् पूजायामपि ॥ **उदा०**—अतिसिक्तमेव भवता। अतिस्तुतमेव भवता। पूजायाम्—अतिसिक्तं भवता। अतिस्तुतं भवता ॥

भाषार्थः—[अतिः] अति शब्द को [अतिक्रमणे] अतिक्रमण=उल्लङ्घन [च] और पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीय तथा निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अतिसिक्तमेव भवता (आपने अधिक ही सींच दिया)। अतिस्तुतमेव भवता (आपने बहुत ही स्तुति की)। पूजा में—अतिसिक्तं भवता (आपने अच्छा सींचा)। अतिस्तुतं भवता (आपने सम्यक् स्तुति की) ॥ पूर्ववत् षत्व न होना ही कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है ॥

अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ॥१।४।९५॥

अपिः १।१॥ पदार्थ……समुच्चयेषु ७।३॥ **स०**—पदार्थसंभा० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ **अर्थः**—अपिशब्दः पदार्थ सम्भावन अन्ववसर्ग गर्हा समुच्चय इत्येतेष्वर्थेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ **उदा०**—पदार्थे—मधुनोऽपि स्यात्। सर्पिषोऽपि स्यात्। सम्भावने—अपि

सिञ्चेत् मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयात् राजानम् । अन्ववसर्गे—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि । गर्हायाम्—धिग् जाल्मं देवदत्तम्, अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम् । समुच्चये—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि ॥

भाषार्थः—[अपिः] अपि शब्द की [पदार्थ······षु] पदार्थ (=अप्रयुक्त पद का अर्थ), सम्भावन, अन्ववसर्ग (=कामचार=करे या न करे), गर्हा=निन्दा तथा समुच्चय इन अर्थों में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—पदार्थ में—मधुनोऽपि स्यात् (थोड़ासा शहद भी चाहिये)। सर्पिषोऽपि स्यात् (थोड़ासा घी भी चाहिये) । सम्भावन में—अपि सिञ्चेत् मूलकसहस्रम् (सम्भव है यह हजार मूली तक सींच दे) । अपि स्तुयात् राजानम् (शायद यह राजा की भी स्तुति करे) । अन्ववसर्ग में—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (चाहे सींच, चाहे स्तुति कर) । गर्हा में—धिग्जाल्मं देवदत्तम्, अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम् (धिक्कार है देवदत्त को, जो प्याज को भी सींचता है) । समुच्चय में—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (सींच भी, और स्तुति भी कर) ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से पूर्ववत् षत्व नहीं होता ॥

अधिरीश्वरे ॥१।४।९६॥

अधिः १।१॥ ईश्वरे ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अधिशब्द ईश्वरेऽर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ स्वस्वामिसम्बन्धे ईश्वरशब्दः ॥ उदा०=अधि देवदत्ते पञ्चालाः । अधि पञ्चालेषु देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[अधिः] अधि शब्द की [ईश्वरे] ईश्वर=स्वस्वामि-सम्बन्ध अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अधि देवदत्ते पञ्चालाः (पञ्चाल देवदत्त के आधीन हैं) । अधि पञ्चालेषु देवदत्तः (पञ्चालों का देवदत्त स्वामी है) । ईश्वर शब्द स्व-स्वामी-सम्बन्धवाची है । सो स्वामी व स्व दोनों में यस्मादधिकं यस्य० (२।३।९) से सप्तमी विभक्ति हो गई है ॥

यहां से 'अधिः' की अनुवृत्ति १।४।९७ तक जाती है ॥

विभाषा कृञि ॥१।४।९७॥

विभाषा १।१॥ कृञि ७।१॥ अनु०—अधिः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अधिशब्दः कृञि परतो विभाषा कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—यदत्र मामाधिकरिष्यति । पक्षे—यदत्र माम् अधि करिष्यति ॥

भाषार्थः—अधि शब्द की [कृञि] कृञ् के परे [विभाषा] विकल्प से कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

[ल-प्रकरणम्]

लः परस्मैपदम् ॥१।४।९८॥

लः ६।१॥ परस्मैपदम् १।१॥ अर्थः—लादेशाः परस्मैपदसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—तिप्, तस्, झि । सिप्, थस्, थ । मिप्, वस्, मस् । शतृ, क्वसु ॥

भाषार्थः—[लः] लादेश [परस्मैपदम्] परस्मैपदसंज्ञक होते हैं ॥ सूत्र में 'लः' पद में आदेश की अपेक्षा से षष्ठी है । सो लस्य (३।४।७७) से लकारों के स्थान में जो तिप्तस्झि० (३।४।७८) सूत्र से आदेश होते हैं, वे लिये गये हैं। लटः शतृशानचा-व० (३।२।१२४) से लट् के स्थान में जो शतृ शानच् होते हैं, वे भी लादेश हैं । सो शानच् की तो आगे आत्मनेपद संज्ञा करेंगे, शतृ की यहाँ परस्मैपद संज्ञा हो गई है । क्वसुश्च (३।२।१०७) से लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हुआ है, सो वह भी लादेश है, अतः परस्मैपदसंज्ञक हो गया । परस्मैपद संज्ञा होने से यह प्रत्यय परस्मैपदी धातुओं से ही होंगे ॥

तङानावात्मनेपदम् ॥१।४।९९॥

तङानौ १।२॥ आत्मनेपदम् १।१॥ स०—तङ् च आनश्च तङानौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अर्थः—तङानौ आत्मनेपदसंज्ञकौ भवतः॥पूर्वेण सूत्रेण परस्मैपदसंज्ञायां प्राप्तायाम् आत्मनेपदं विधीयते ॥ उदा०—त, आताम्, झ । थास्, आथाम्, ध्वम् । इट्, वहि, महिङ् । आनः—शानच्, कानच् ॥

भाषार्थः—[तङानौ] तङ् और आन [आत्मनेपदम्] आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं ॥ तङ् से 'त' से लेकर महिङ् के ङकारपर्यन्त प्रत्याहार का ग्रहण है । तथा आन से शानच् कानच् का ॥ पूर्वसूत्र से लादेशों को परस्मैपद कहा था, यह उसका अपवादसूत्र है । अर्थात् लादेशों में तङ् तथा आन आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं । तो शेष बचे लादेश पूर्वसूत्र से परस्मैपद हो गये ॥

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ॥१।४।१००॥

तिङः ६।१॥ त्रीणि १।३॥ त्रीणि १।३॥ प्रथममध्यमोत्तमाः १।३॥ स०—प्रथमश्च मध्यमश्च उत्तमश्च प्रथममध्यमोत्तमाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—तिङः अष्टादश प्रत्ययाः त्रीणि त्रीणि यथाक्रमं प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—तिप्, तस्, झि इति प्रथमः पुरुषः । सिप्, थस्, थ इति मध्यमः । मिप्, वस्, मस् इति उत्तमः । तथैवात्मनेपदेषु ॥

भाषार्थः—[तिङः] तिङ्=१८ प्रत्ययों के [त्रीणि त्रीणि] तीन-तीन के जुट अर्थात् त्रिक क्रम से [प्रथम···माः] प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञक होते हैं ॥

यहाँ से 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' की अनुवृत्ति १।४।१०३ तक जाती है ॥

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ॥१।४।१०१॥

तानि १।३॥ एक······नानि १।३॥ एकशः अ० ॥ स०—एकवचनं च द्विवचनं च बहुवचनं चेति एकवचनद्विवचनबहुवचनानि, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तिङः त्रीणि त्रीणि ॥ अर्थः—तानि तिङस्त्रीणि त्रीणि एकशः=एकैकं पदं क्रमेण एकवचनद्विवचनबहुवचन-संज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—तिप् (एकवचनम्), तस् (द्विवचनम्), झि (बहुवचनम्)। एवमग्रेऽपि ॥

भाषार्थः—[तानि] उन तिङों के तीन तीन(=त्रिक) की [एकशः] एक-एक करके क्रम से [एक······चनानि] एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' की अनुवृत्ति १।४।१०२ तक जाती है ॥

सुपः ॥१।४।१०२॥

सुपः ६।१॥ अनु०—एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः, त्रीणि त्रीणि ॥ अर्थः—सुपश्च त्रीणि-त्रीणि एकशः=क्रमेण एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—सु (एकवचनम्), औ (द्विवचनम्), जस् (बहुचनम्)। एवं सर्वत्र ॥

भाषार्थः—[सुपः] सुपों के तीन-तीन की एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा एक-एक करके हो जाती है ॥ पूर्व सूत्र में तिङों के तीन-तीन की क्रम से एकवचनादि संज्ञायें की थीं, यहाँ सुपों की भी विधान कर दीं ॥

यहाँ से 'सुपः' की अनुवृत्ति १।४।१०३ तक जाती है ॥

विभक्तिश्च ॥१।४।१०३॥

विभक्तिः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुपः, तिङः, त्रीणि-त्रीणि ॥ अर्थः—सुपः तिङश्च त्रीणि-त्रीणि विभक्तिसंज्ञकानि च भवन्ति ॥ उदा०—पठतः, पुरुषान् ॥

भाषार्थः—सुपों और तिङों के तीन-तीन की [विभक्तिः] विभक्ति संज्ञा [च] भी हो जाती है ॥ उदाहरण में पठ् के आगे जो तस् आया था, तथा पुरुष के आगे जो शस् आया, उस शस् को पूर्ववत् प्रथमयोः० (६।१।९८) से दीर्घ, तथा तस्माच्छसो नः० (६।१।९९) से 'स्' को 'न्' होकर पुरुषान् व पठतस् बना। अब आन् (शस्) व तस् की विभक्ति संज्ञा होने से नकार व सकार की इत् संज्ञा हलन्त्यम् (१।३।३) से प्राप्त होती है, पर उसका न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से निषेध हो जाता है ॥

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ॥१।४।१०४॥

युष्मदि ७।१॥ उपपदे ७।१॥ समानाधिकरणे ७।१॥ स्थानिनि ७।१॥ अपि अ० ॥ मध्यमः १।१॥ स्थानं प्रसक्तमस्यास्तीति स्थानी ॥ **अर्थः**—युष्मदि शब्द उपपदे समानाधिकरणे सति=समानाभिधेये तुल्यकारके सति स्थानिनि=अप्रयुज्यमाने, अपि=प्रयुज्यमानेऽपि मध्यमपुरुषो भवति ॥ **उदा०**—त्वं पचसि, युवां पचथः, यूयं पचथ । अप्रयुज्यमामेऽपि—पचसि, पचथः, पचथ ॥

भाषार्थः—[युष्मदि] **युष्मद् शब्द के** [उपपदे] **उपपद रहते** [समानाधिकरणे] **समान अभिधेय होने पर** [स्थानिनि] **युष्मद् शब्द का प्रयोग न हो** [अपि] **या हो, तो भी** [मध्यमः] **मध्यम पुरुष होता है ।**

यहाँ से 'उपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि' **की अनुवृत्ति** १।४।१०६ **तक, तथा** 'युष्मदि मध्यमः' **की अनुवृत्ति** १।४।१०५ **तक जाती है ॥**

प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥१।४।१०५॥

प्रहासे ७।१॥ च अ० ॥ मन्योपपदे ७।१॥ मन्यतेः ५।१॥ उत्तमः १।१॥ एक-वत् अ० ॥ च अ० ॥ स०—मन्य उपपदं यस्य स मन्योपपदः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ॥ **अर्थः**—प्रहासः=परिहासः, प्रहासे गम्यमाने मन्योपपदे धातोर्युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमपुरुषो भवति, मन्यतेर्धातोश्चोत्तमपुरुषो भवति, स चोत्तम एकवद् भवति ॥ **उदा०**—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता ॥

भाषार्थः—[प्रहासे] **परिहास गम्यमान हो रहा हो,तो** [च] **भी** [मन्योपपदे] **मन्य है उपपद जिसका, ऐसी धातु से युष्मद् उपपद रहते, समान अभिधेय होने पर, युष्मद् शब्द का प्रयोग हो या न हो, तो भी मध्यम पुरुष हो जाता है, तथा उस** [मन्यतेः] **मन धातु से** [उत्तमः] **उत्तम पुरुष हो जाता है, और उस उत्तम पुरुष को** [एकवत्] **एकवत्=एकत्व** [च] **भी हो जाता है ॥**

उदा०—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे,न हि भोक्ष्यसे,भुक्तः सोऽतिथिभिः (तुम ऐसा समझते हो कि मैं चावल खाऊंगा,नहीं खाओगे,क्योंकि वह तो तुम्हारे अथिति खा गये)। एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता (तुम यह समझते हो कि मैं रथ पर चढ़कर जाऊंगा, सो नहीं जा सकते, क्योंकि रथ पर तो चढ़कर तुम्हारे पिता चले गये) ॥ उदाहरण में कोई किसी को चिढ़ाके ये वाक्य बोल रहा था कि तुम क्या खाओगे, वा रथ से जाओगे ? सो यहां हंसी=प्रहास से कहा जा रहा है।

यहाँ भोक्ष्यसे में उत्तम पुरुष (भोक्ष्ये), तथा मन्ये में मध्यम पुरुष (मन्यसे) प्राप्त था, तो उत्तम के स्थान में मध्यम, तथा मध्यम के स्थान में उत्तम का विधान कर दिया है। उदाहरण में 'भुज्' धातु 'मन्य' उपपदवाली है, अतः मध्यम पुरुष हो गया है ॥

अस्मद्युत्तमः ॥१।४।१०६॥

अस्मदि ७।१॥ उत्तमः १।१॥ अनु०—उपपदे, समानाधिकरणे स्थानिन्यपि ॥ अर्थः—अस्मद्युपपदे समानाभिधेये सति प्रयुज्यमानेऽप्यप्रयुज्यमानेऽप्युत्तमपुरुषो भवति॥ उदा०—अहं पचामि। आवां पचावः। वयं पचामः। अप्रयुज्यमानेऽपि—पचामि, पचावः, पचामः ॥

भाषार्थः—[अस्मदि] अस्मद् शब्द उपपद रहते, समान अभिधेय हो, तो अस्मद् शब्द प्रयुक्त हो या न हो, तो भी [उत्तमः] उत्तम पुरुष हो जाता है॥ उदा०—अहं पचामि। आवां पचावः। वयं पचामः। अप्रयुज्यमान होने पर—पचामि, पचावः, पचामः ॥

शेषे प्रथमः ॥१।४।१०७॥

शेषे ७।१॥ प्रथमः १।१॥ अर्थः—मध्यमोत्तमविषयादन्य शेषः। यत्र युष्मदस्मदी समानाधिकरणे उपपदे न स्तः, तस्मिन् शेषविषये प्रथमपुरुषो भवति ॥ उदा०—पचति, पचतः, पचन्ति ॥

भाषार्थः—मध्यम उत्तम पुरुष जिन विषयों में कहे गए हैं, उनसे [शेषे] अन्य विषय में [प्रथमः] प्रथम पुरुष होता है ॥ उदा०—पचति, पचतः, पचन्ति ॥

यहाँ शेष का अभिप्राय है—'युष्मद् अस्मद् का अभाव', न कि 'युष्मद् अस्मद् से अन्य का सद्भाव'। इसीलिए त्वं च देवदत्तश्च पचथः इत्यादि वाक्यों में युष्मद् अस्मद् से अन्य का सद्भाव होने पर भी प्रथम पुरुष नहीं होता, और 'भूयते' आदि में युष्मद् अस्मद् का अभाव होने के कारण प्रथम पुरुष होता है ॥

परः सन्निकर्षः संहिता ॥१।४।१०८॥

परः १।१॥ सन्निकर्षः १।१॥ संहिता १।१॥ अर्थः—परशब्दोऽतिशयवाची, वर्णानां परः=अतिशयितः सन्निकर्षः=प्रत्यासत्तिः संहितासंज्ञको भवति ॥ उदा०—दधि+अत्र=दध्यत्र। मधु+अत्र=मध्वत्र ॥

भाषार्थः—वर्णों के [परः] अतिशयित=अत्यन्त [सन्निकर्षः] सन्निकर्ष अर्थात् समीपता की [संहिता] संहिता संज्ञा होती है ॥

उदाहरणों में इकार अकार, तथा उकार अकार की अत्यन्त समीपता में

संहिता संज्ञा होने से संहितायाम् (६।१।७०) के अधिकार में इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश हो गया है ॥ यहां वर्णों की अत्यन्त समीपता का अर्थ है—'वर्णों के उच्चारण में अर्द्धमात्रा से अधिक काल का व्यवधान न होना ॥'

विरामोऽवसानम् ॥१।४।१०६॥

विरामः १।१॥ अवसानम् १।१॥ अर्थः—विरामोऽवसानसंज्ञको भवति ॥ उदा०—वृक्षः, प्लक्षः । दधिँ, मधुँ ॥

भाषार्थः—[विरामः] विराम अर्थात् वर्णोच्चारण के अभाव की [अवसानम्] अवसान संज्ञा होती है ॥

अवसान संज्ञा होने से खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) से विसर्जनीय हो जाता है । दधिँ मधुँ में अवसान संज्ञा होने से अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५६) से अनुनासिक हो गया है । इस सूत्र में वावसाने (८।४।५५) से अवसान की अनुवृत्ति आती है ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

समर्थः पदविधिः ॥२।१।१॥

समर्थः १।१॥ पदविधिः १।१॥ स०—चतुर्विधोऽत्र विग्रहो द्रष्टव्यः—सङ्गतार्थः समर्थः; संसृष्टार्थः समर्थः; सम्प्रेक्षितार्थः समर्थः; संबद्धार्थः समर्थः, उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः । पदस्य विधिः, पदयोर्विधिः, पदानां विधिः, पदात् विधिः=पदविधिः, इति सर्वविभक्त्यन्तः तत्पुरुषसमासोऽत्र बोध्यः ॥ **अर्थः**—परिभाषासूत्रमिदम् । समर्थानां=सम्बद्धार्थानां पदानां विधिर्भवति ॥ **उदा०**—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः इत्यत्र समासो भवति, यतो ह्यत्र 'राज्ञः पुरुषः' इति उभे पदे परस्परं सम्बद्धार्थे=समर्थे स्तः । परं 'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य' इत्यत्र राज्ञः पुरुषः इत्यनयोः पदयोः सम्बद्धार्थता=परस्परमाकाङ्क्षा नास्ति, इत्यतः समासो न भवति । एवं कष्टं श्रितः=कष्टश्रितः इत्यत्र सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् समासो भवति । एवं सर्वत्र योजनीयम् ॥

भाषार्थः—[पदविधिः] **पदों की विधि** [समर्थः] **समर्थ=परस्पर सम्बद्ध अर्थवाले पदों की होती है ॥ यह परिभाषासूत्र है, अतः सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र में इसकी प्रवृत्ति होती है ॥ जिस शब्द के साथ जिस शब्द का परस्पर सम्बन्ध होता है, वे परस्पर 'समर्थ' कहाते हैं । जैसे कि समासविधि में राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)=राजपुरुषः, यहां राजा का पुरुष है एवं पुरुष राजा का है, अतः राज्ञः और पुरुषः दोनों पद परस्पर सम्बद्ध=समर्थ हैं, सो समास हो गया है । पर 'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य' (राजा की भार्या, पुरुष देवदत्त का) यहाँ राजा का सम्बन्ध भार्या के साथ है, तथा पुरुष का सम्बन्ध देवदत्त के साथ है । यहाँ परस्पर राजा एवं पुरुष की सम्बद्धार्थता=समर्थता नहीं है । अतः राज्ञः पुरुषः का यहां समास नहीं हुआ । सूत्र में समर्थ ग्रहण करने का यही प्रयोजन है ॥ इसी प्रकार कष्टं श्रितः, यहां समर्थ होने से समास होकर 'कष्टश्रितः' बन जाता है । पर 'पश्य देवदत्त कष्टं, श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्' (हे देवदत्त ! कष्ट को देख, विष्णुमित्र गुरुकुल में पहुँच गया), यहाँ पर कष्टं तथा श्रितः की परस्पर सम्बद्धार्थता नहीं है, सो समास नहीं हुआ । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥**

'राजपुरुषः' आदि की सिद्धियां परि० १।२।४३ में देखें ॥

सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे ॥२।१।२॥

सुप् १।१॥ आमन्त्रिते ७।१॥ पराङ्गवत् अ० ॥ स्वरे ७।१॥ स०—अङ्गेन तुल्यम् अङ्गवत्, परस्य अङ्गवत् पराङ्गवत्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—आमन्त्रिते पदे परतः सुबन्तं पराङ्गवद् भवति स्वरे कर्त्तव्ये ॥ उदा०—कुण्डेन अटन् । परशुना वृश्चन् । मद्राणां राजन् । कश्मीराणां राजन् ॥

भावार्थः—[आमन्त्रिते] आमन्त्रितसंज्ञक पद के परे रहते, उसके पूर्व जो [सुप्] सुबन्त पद उसको [पराङ्गवत्] पर के अङ्ग के समान कार्य होता है, [स्वरे] स्वरविषय में ॥ यह अतिदेशसूत्र है ॥

यहाँ से 'सुप्' का अधिकार २।२।२६ तक जायेगा ॥

प्राक् कडारात् समासः ॥२।१।३॥

समास

प्राक् अ० ॥ कडारात् ५।१॥ समासः १।१॥ अर्थः—'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८)इति सूत्रं वक्ष्यति, प्राग् एतस्मात् समाससंज्ञा भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अग्र उदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[कडारात्] कडाराः कर्मधारये (२।२।३८) से [प्राक्] पहले-पहले [समासः] समास संज्ञा का अधिकार जायेगा, यह जानना चाहिये ॥

विशेषः—'समास' संक्षेप करने को कहते हैं । जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति, तथा अनेक स्वरों का एक स्वर हो, उसे समास कहते हैं । यह चार प्रकार का होता है, जिसकी व्याख्या द्वितीय पाद के अन्त तक की जायगी ॥ इस विषय में विशेष जानकारी के लिये हमारी बनाई 'सरलतम विधि' तृ० सं०, पृ० ४०-४१, पाठ १७ देखें ॥

सह सुपा ॥२।१।४॥

सह सुबन्त

सह अ० ॥ सुपा ३।१॥ अनु०—समासः, सुप् ॥ अर्थः—सुपा सह सुप् समस्यते, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अग्र उदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[सुपा] सुबन्त के [सह] साथ सुबन्त का समास होता है, यह अधिकार २।२।२२ तक जानना चाहिये ॥

[अव्ययीभाव-समास-प्रकरणम्]

अव्ययीभाव

अव्ययीभावः ॥२।१।५॥

अव्ययीभावः १।१॥ अर्थः—अयमप्यधिकारो वेदितव्यः । इतोऽग्रे यः समासो भवति तस्याव्ययीभावसंज्ञा भवतीति वेदितव्यम् ॥ अग्र उदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—यह भी अधिकारसूत्र है, २।१।२१ तक जायगा। यहाँ से आगे जो समास कहेंगे, उसकी [अव्ययीभावः] अव्ययीभाव संज्ञा होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥

विशेषः—अव्ययीभाव समास में प्रायः पूर्वपद का अर्थ प्रधान होता है। यथा—उपकुम्भम् में 'उप' अव्यय है, जिसका अर्थ है समीप। सो इसमें समीप अर्थ की प्रधानता है, न कि कुम्भ की ॥

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्द-प्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्ति-साकल्यान्तवचनेषु ॥२।१।६॥

अव्ययम् १।१॥ विभक्ति···वचनेषु ७।३॥ स०—विभक्तिश्च, समीपञ्च, समृद्धिश्च, व्यृद्धिश्च, अर्थाभावश्च, अत्ययश्च, असम्प्रति च, शब्दप्रादुर्भावश्च, पश्चाच्च, यथा च, आनुपूर्व्यञ्च, यौगपद्यञ्च, सादृश्यञ्च, सम्पत्तिश्च, साकल्यञ्च, अन्तश्चेति विभक्तिस···न्ताः, ते च ते वचनाश्च, तेषु, द्वन्द्वपूर्वः कर्मधारयः ॥ अनु०—सह सुपा, सुप्, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—विभक्ति, समीप, समृद्धि (ऋद्धेराधिक्यम्), व्यृद्धि (ऋद्धेरभावः), अर्थाभाव (वस्तुनोऽभावः), अत्यय (भूतत्वमतिक्रमः), असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव (प्रकाशता शब्दस्य) पश्चाद्, यथार्थ, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य, अन्तवचन इत्येतेष्वर्थेषु यदव्ययं वर्त्तते, तत् समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ विभक्तिशब्देनेह कारकमुच्यते। विभज्यते प्रातिपदिकार्थोऽनयेति कृत्वा तच्चेहाधिकरणं विवक्षितं, न तु सर्वे कारकाः ॥ उदा०—विभक्तिः—स्त्रीष्वधिकृत्य=अधिस्त्रि, अधिकुमारि ॥ **समीपम्**—कुम्भस्य समीपम्=उपकुम्भम्, उपकूपम् ॥ **समृद्धिः**—सुमगधम्, सुभारतम् ॥ **व्यृद्धिः**—मगधानां व्यृद्धिः=दुर्मगधम्, दुर्गवदिकम् ॥ **अर्थाभावः**—मक्षिकाणामभावः=निर्मक्षिकम्, निर्मशकम् ॥ **अत्ययः**—अतीतानि हिमानि=निर्हिमं, निःशीतम् ॥ **असंप्रति**—अतितैसृकम् ॥ **शब्दप्रादुर्भावः**—पाणिनिशब्दस्य प्रकाशः=[1]इतिपाणिनि, तत्पाणिनि ॥ **पश्चात्**—रथानां पश्चात्=अनुरथं पादातम् ॥ **यथा**—यथाशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः—योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्तिः, सादृश्यञ्चेति। तत्र क्रमेण उदाह्रियते—**योग्यता**—रूपस्य योग्यम्=अनुरूपम् ॥ **वीप्सा**—अर्थम् अर्थं प्रति=प्रत्यर्थम् शब्दनिवेशः ॥ **पदार्थानतिवृत्तिः**—शक्तिम् अनतिक्रम्य=यथाशक्ति ॥ **सादृश्यम्**—यथाऽसादृश्ये (२।१।७) इति सादृश्यप्रतिषेधाद् उदाहरणं न प्रदीयते। **आनुपूर्व्यम्**—

१. समास के अपने पदों को लेकर जहां विग्रह न हो, उसे अस्वपद विग्रह कहते हैं, न स्वपद=अस्वपद। सो यहां अस्वपद विग्रह समास है ॥

ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्यम्=अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः ॥ **यौगपद्यम्**—युगपत् चक्रं= सचक्रं धेहि ॥ **सादृश्यम्**—सदृशः सख्या=ससखि ॥ **सम्पत्तिः**—ब्रह्मणः सम्पत्तिः= सब्रह्म बाभ्रवाणाम्, सक्षत्रं शालङ्कायनानाम् ॥ **साकल्यम्**—तृणानां साकल्यं=सतृण मभ्यवहरति, सबुसम् ॥ **अन्तवचनम्**—अग्नेरन्तः=साग्नि, ससमागम् अष्टाध्यायीम- धीते ॥

भाषार्थः—[विभक्ति...वचनेषु] **विभक्ति समीपादि अर्थों में वर्त्तमान जो** [अव्ययम्] **अव्यय, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और समास अव्ययीभाव-संज्ञक होता है ॥**

विभक्ति शब्द से यहां कारक लिया गया है । उन कारकों में यहां अधिकरण **कारक ही विवक्षित है, न कि सब कारक । ऋद्धि** (वृद्धि) की अधिकता को **समृद्धि कहते हैं, तथा ऋद्धि के अभाव को व्यृद्धि** कहते हैं । **वस्तु के** अभाव को अर्थाभाव **कहते हैं । जो भूतकालीन है उसके अतीत** हो जाने को अत्यय **कहते हैं, अथवा जो हो वह न रहे । तथा शब्द की प्रकाशता को शब्दप्रादुर्भाव** कहते हैं । यहां 'वचन' शब्द का **प्रत्येक के साथ सम्बन्ध लगा लेना ॥**

उदा०—विभक्ति—**अधिस्त्रि** (स्त्रियों के विषय में), **अधिकुमारि** । समीप—**उपकुम्भम्** (घड़े के पास), **उपकूपम्** (कूएं के पास) । समृद्धि—**सुमगधम्** (मगध **देशवालों की समृद्धि), सुभारतम्** । व्यृद्धि—**दुर्मगधम्** (मगध देशवालों के ऐश्वर्य **का अभाव), दुर्यवनिकम्** । अर्थाभाव—**निर्मक्षिकम्** (मक्खियों का अभाव), **निर्मशकम्** **(मच्छरों का अभाव)** । अत्यय—**निर्हिमं वर्त्तते** (शीतकाल व्यतीत हो गया), **निःशीतम्** । असंप्रति—**अतितैसृकम्**[1] **वर्त्तते (तैसृक ओढ़ने का अब समय नहीं है)** । शब्दप्रादुर्भाव—**इतिपाणिनि (पाणिनि शब्द की प्रसिद्धि), तत्पाणिनि** । पश्चात्— **अनुरथं पादातम् (रथों के पीछे-पीछे पैदल सेना)** । यथार्थ—**यथा शब्द के चार अर्थ हैं**—**योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति, और सादृश्य । यहां क्रम से उदाहरण देते हैं**—योग्यता—**अनुरूपम् (रूप के योग्य होता है)** । वीप्सा—**प्रत्यर्थं शब्द- निवेशः (अर्थ-अर्थ के प्रति शब्द का व्यवहार होता है)**। पदार्थानतिवृत्ति—**यथाशक्ति (शक्ति का उल्लङ्घन न करके)** । सादृश्य—यथाऽसादृश्ये (२।१।७) में **सादृश्य अर्थ का प्रतिषेध किये जाने से यहां सादृश्य का उदाहरण नहीं दिया जा सकता** ॥ आनु- पूर्व्य—**अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः (जो-जो ज्येष्ठ हों, वैसे-वैसे क्रम से प्रवेश करते**

---

१. तिसृका नाम का एक ग्राम है, उसमें होनेवाला (तत्र भवः ४।३।५३), अथवा वहां से आनेवाला (तत आगतः ४।३।७४) पदार्थ तैसृक कहा जायगा । तैसृक कोई ओढ़ने का गरम कपड़ा होगा, जिसके उपभोग का सम्प्रति प्रतिषेध है, ऐसा अनुमान है । यह कपड़ा तिसृका ग्राम में बनता होगा, यह भी सम्भव है ॥

जायें)। यौगपद्य—सचक्रं धेहि (एक साथ चक्कर लगायें)। सादृश्य—ससखि (सखी के तुल्य)। सम्पत्ति—सब्रह्म बाभ्रवाणाम् (बभ्रु कुलवालों का ब्राह्मणानुरूप आत्मभाव होना), सक्षत्रं शालङ्कायनानाम् (शालङ्कायनों का क्षत्रियानुरूप होना)। साकल्य—सतृणमभ्यवहरति (तिनके समेत खा जाता है), सबुसम्। अन्तवचन—साग्नि अधीते (अग्निविद्या के समाप्तिपर्यन्त पढ़ता है), ससमासमष्टाध्यायीमधीते (समास की समाप्तिपर्यन्त अष्टाध्यायी पढ़ता है)॥

अधिस्त्रि, उपाग्नि आदि की सिद्धि हम परि० १।१।४० में दिखा आये हैं। समास की सिद्धियां तो हम और भी बहुत बार दिखा चुके हैं। अव्ययीभाव समास की सिद्धि में ३-४ कार्यविशेष होते हैं। प्रथम—अव्ययीभावश्च (१।१।४०) से अव्यय संज्ञा होकर अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से समास के पश्चात् आई हुई विभक्ति का लुक् हो जाना। द्वितीय—अदन्त शब्द हो, तो अव्ययादाप्सुपः से लुक् न होकर नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः (२।४।८३) से विभक्ति को अम् हो जायगा। जैसे 'उपकुम्भ सु' में सु को अम् होकर उपकुम्भम् बना है। तृतीय—अव्ययीभावश्च (२।४।१८) से अव्ययीभाव समास को नपुंसक लिङ्ग होकर, ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से ह्रस्व होता है। जैसे अधिकुमारि में कुमारी को ह्रस्व हो गया है॥ पाठक देखें कि सम्पूर्ण सूत्र के उदाहरणों तथा अव्ययीभाव के सारे प्रकरण में यही विशेष कार्य हुए हैं। शेष समास की सिद्धि तो पूर्व दिखा ही चुके हैं। अधि उप सु इत्यादि अव्यय हैं। सिद्धि में एक बात और ध्यान देने की है कि जिस विभक्ति में विग्रह करें, उसी को रखकर समास करना चाहिये। यथा 'कुम्भस्य समीपम्' में षष्ठी से विग्रह है, सो 'कुम्भ ङस् उप सु' रख के समास करेंगे॥

विशेषः—विभाषा (२।१।११) अधिकार से पहले-पहले तक ये सब सूत्र नित्य समास करते हैं। "यस्य स्वपदविग्रहो नास्ति स नित्यसमासः", जिस समास का अपने पदों से विग्रहवाक्य प्रयुक्त न हो, केवल समस्त पद प्रयोग में आये, उसे नित्य समास कहते हैं। सो यहां नित्य समास होने से, इनका विग्रह नहीं होता। पुनरपि केवल अर्थप्रदर्शनार्थ इनका विग्रह किया गया है॥

यहां से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति २।१।८ तक जायेगी॥

अव्ययीभावे

यथाऽसादृश्ये ॥२।१।७॥

यथा अ० ॥ असादृश्ये ७।१॥ स०—असादृश्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अव्ययम्, सुप्, समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—असादृश्येऽर्थे वर्त्तमानं यथा इत्येतदव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावसंज्ञकश्च समासो भवति॥

उदा०—ये ये वृद्धाः=यथावृद्धम्, यथाध्यापकम् । ये ये चौराः=यथाचौरं बध्नाति, यथापण्डितं सत्करोति ॥

भाषार्थः—[असादृश्ये] असादृश्य अर्थ में वर्त्तमान [यथा] यथा अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो जाता है, और वह अव्ययीभाव समास कहा जाता है ॥

उदा०—यथावृद्धम् (जो-जो वृद्ध हैं), यथाध्यापकम् । यथाचौरं बध्नाति (जो-जो चोर हैं, उन-उनको बांधता है), यथापण्डितं सत्करोति (जो-जो पण्डित हैं, उन-उन का सत्कार करता है) ॥

यावदवधारणे ॥२।१।८॥ अव्ययीभाव

यावत् अ० ॥ अवधारणे ७।१॥ अनु०—अव्ययम्, सुप्, समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अवधारणेऽर्थे वर्त्तमानं यावद् इत्येतदव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—यावन्ति अमत्राणि=यावदमत्र ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व । यावन्ति कार्षापणानि=यावत्कार्षापणम् फलं क्रीणाति ॥

भाषार्थः—[यावत्] यावत् अव्यय [अवधारणे] अवधारण अर्थात् परिमाण का निश्चय करने अर्थ में वर्त्तमान हो, तो उसका समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है, और वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है ॥

उदा०—यावदमत्रं ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व (जितने पात्र हैं, उतने ब्राह्मणों को बुलाओ) । यावत्कार्षापणं फलं क्रीणाति (जितने कार्षापण हैं, उतने फल खरीदता है) ॥

सुप् प्रतिना मात्रार्थे ॥२।१।९॥ अव्ययीभाव

सुप् १।१॥ प्रतिना ३।१॥ मात्रार्थे ७।१॥ स०—मात्रायाः अर्थः मात्रार्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—[1]समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—मात्रार्थे=स्वल्पार्थे वर्त्तमानेन प्रतिना सह समर्थं सुबन्तं समस्यते अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ अस्त्यत्र किञ्चित् शाकम्=शाकप्रति, सूपप्रति ॥ अर्थप्रदर्शनार्थमत्र विग्रहः प्रदर्श्यते ॥

भाषार्थः—[मात्रार्थे] मात्रा अर्थात् स्वल्प अर्थ में वर्त्तमान [प्रतिना] प्रति शब्द के साथ समर्थ [सुप्] सुबन्त का समास हो जाता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥ उदा०—शाकप्रति (थोड़ा शाक), सूपप्रति (थोड़ी दाल) ॥

---

१. यहां २।१।२ सूत्र से सुप् की अनुवृत्ति आ रही है । पुनः जो 'सुप्' इस सूत्र मे कहा, वह 'अव्ययं' की निवृत्ति के लिए है । अतः यहां 'सुप्' के आते हुए भी सुप का सम्बन्ध नहीं दिखाया ॥

अव्ययीभाव

अक्षशलाकासंख्याः परिणा ॥२।१।१०॥

अक्षशलाकासंख्याः १।३॥ परिणा ३।१॥ स०—अक्षश्च शलाका च संख्या च अक्षशलाकासंख्याः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अक्षशब्दः शलाका शब्दः संख्याशब्दाश्च परिशब्देन सह समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ द्यूतक्रीडायाम् अयं समास इष्यते । पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति । तत्र यदा सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति, तदा पातयिता जयति,अन्यथा पाते तु पराजयो जायते ॥ उदा०—अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा जये=अक्षपरि । शलाकापरि । एकपरि, द्विपरि ॥

भाषार्थः—[अक्षशलाकासंख्याः] अक्ष शलाका तथा संख्यावाची जो शब्द हैं, वे [परिणा] परि सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास अव्ययीभावसंज्ञक होता है ॥ यह समास द्यूतक्रीडा सम्बन्धी है । पञ्चिका नामक द्यूत में पांचों अक्षों या शलाकाओं के सीधे या उलटे गिरने पर फेंकनेवाले की जय होती है । एक, दो, तीन या चार अक्षों या शलाकाओं के विपरीत पड़ने पर पराजय मानी जाती है ॥

उदा०—अक्षपरि (जब एक पासा उल्टा गिरा हो अर्थात् हारा हो, उसे अक्षपरि कहते हैं) । शलाकापरि (इसमें भी शलाका उलटी पड़ गई) । एकपरि (एक की कमी से हार गया), द्विपरि (दो की कमी से हार गया) ॥ समास करने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् करना ही प्रयोजन है ॥

अव्ययीभाव विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या॥२।१।११॥

विभाषा १।१॥ अपपरिबहिरञ्चवः १।३॥ पञ्चम्या ३।१॥ स०—अपश्च परिश्च बहिश्च अञ्चुश्च अपपरिबहिरञ्चवः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अप परि बहिस् अञ्चु इत्येते सुबन्ताः पञ्चम्यन्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अपत्रिगर्त्तं वृष्टो देवः, अप त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः । परित्रिगर्त्तम्, परि त्रिगर्त्तेभ्यो वा । बहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात् । प्राग्ग्रामम्, प्राग्ग्रामात् ॥

भाषार्थः—[अपपरिबहिरञ्चवः] अप परि बहिस् अञ्चु ये सुबन्त [पञ्चम्या] पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ [विभाषा] विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

उदा०—अपत्रिगर्त्तं वृष्टो देवः (त्रिगर्त्त देश=कांगड़ा को छोड़कर वर्षा हुई), अप त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः । परित्रिगर्त्तं, परि त्रिगर्त्तेभ्यो वा (त्रिगर्त्त को छोड़

कर वर्षा हुई)। बहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात् (ग्राम से बाहर)। प्राग्ग्रामम्, प्राग्ग्रामात् (ग्राम से पूर्व)॥

असमास पक्ष में अपपरी वर्जने (१।४।८७) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०) से होती है। समास पक्ष में सु आकर नाव्ययी० (२।४।८३) से पूर्ववत् सु को अम् हो गया है॥

यहाँ से 'विभाषा' का अधिकार २।२।२९ तक जाता है। इसे 'महाविभाषा' कहते हैं। 'पञ्चम्या' की अनुवृत्ति भी २।१।१२ तक जाती है॥

अव्ययीभाव

आङ् मर्यादाभिविध्योः ॥२।१।१२॥

आङ् अ० ॥ मर्यादाभिविध्योः ७।२॥ स०—मर्यादा च अभिविधिश्च मर्यादाभिविधी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, पञ्चम्या, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—मर्यादाभिविध्योः वर्त्तमानं आङ् इत्येष शब्दः समर्थेन पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः, आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः। अभिविधौ—आकुमारं यशः पाणिनेः, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः ॥

भाषार्थः—[मर्यादाभिविध्योः] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्त्तमान [आङ्] आङ् शब्द समर्थ पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह समास अव्ययीभावसञ्ज्ञक होता है॥ उदाहरण में पूर्व सूत्र के समान पञ्चमी विभक्ति हुई है, तथा आङ्मर्यादावचने (१।४।८८) से आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है। मर्यादा एवं अभिविधि के विषय में आङ् मर्यादा० (१।४।८८) सूत्र देखें॥

अव्ययीभाव

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये ॥२।१।१३॥

लक्षणेन ३।१॥ अभिप्रती १।२॥ आभिमुख्ये ७।१॥ अनु०—विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अभिप्रती इत्येतौ शब्दौ आभिमुख्ये वर्त्तमानौ लक्षणवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्निम् अभि। प्रत्यग्नि, अग्निम् प्रति। अग्निं लक्ष्यीकृत्य शलभाः पतन्ति इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[लक्षणेन] लक्षणवाची सुबन्त के साथ [आभिमुख्ये] आभिमुख्य अर्थ में वर्त्तमान [अभिप्रती] अभि प्रति शब्दों का विकल्प से समास हो जाता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है॥

उदा०—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति (अग्नि को लक्ष्य करके पतङ्गे गिरते हैं),

अग्निम् अभि । प्रत्यग्नि (अग्नि की ओर), अग्निम् प्रति ॥ प्रत्यग्नि की सिद्धि परि० १।१।४० में कर चुके हैं ॥

यहाँ से 'लक्षणेन' की अनुवृत्ति २।१।१५ तक जाती है ॥

अनुर्यत्समया ॥२।१।१४॥

अनुः १।१॥ यत्समया अ० ॥ स०—यस्य समया, यत्समया, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—लक्षणेन, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अनुः यस्य समीपवाची तेन लक्षणभूतेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अनुवनम् अशनिर्गतः, अनुपर्वतम् । वनस्य अनु, पर्वतस्य अनु ॥

भाषार्थः—[यत्समया] जिसका समीपवाची [अनुः] अनु सुबन्त हो, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ अनुशब्द विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

उदा०—अनुवनम् अशनिर्गतः (वन के समीप बिजली चमकी), अनुपर्वतम् । वनस्य अनु, पर्वतस्य अनु ॥ समास होने से अव्ययीभावश्च (२।४।१८) से नपुंसक लिङ्ग हो गया है ॥

यहाँ से 'अनुः' की अनुवृत्ति २।१।१५ तक जाती है ॥

यस्य चायामः ॥२।१।१५॥

यस्य ६।१॥ च अ० ॥ आयामः १।१॥ अनु०—अनुः, लक्षणेन, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अनुर्यस्यायामः = दैर्घ्यवाची तेन लक्षणवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अनुगङ्गं वाराणसी, गङ्गाया अनु । अनुयमुनं मथुरा, यमुनाया अनु ॥

भाषार्थः—अनु शब्द [यस्य] जिसका [आयामः] दीर्घतावाची हो, ऐसे लक्षणवाची समर्थ सुबन्त के साथ [च] भी अनु शब्द विकल्प करके समास को प्राप्त हो, और वह अव्ययीभाव समास हो ॥

उदा०—अनुगङ्गं वाराणसी, गङ्गाया अनु । अनुयमुनं मथुरा, यमुनाया अनु (गङ्गा की लम्बाई के साथ-साथ वाराणसी बसी हुई है । तथा यमुना की लम्बाई के साथ साथ मथुरा बसी हुई है)॥ पूर्ववत् ही समास होने से ह्रस्व यहाँ भी जानें ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च ॥२।१।१६॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—तिष्ठद्गु प्रभृति येषां तानि तिष्ठद्गुप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अव्ययीभावः समासः ॥ अर्थः—तिष्ठद्गु

इत्येवमादीनि समुदायरूपाणि अव्ययीभावसंज्ञाकानि निपात्यन्ते ॥ उदा०—तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय स=तिष्ठद्गु कालः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले स= वहद्गु कालः ॥

भाषार्थः—[तिष्ठद्गुप्रभृतीनि] तिष्ठद्गु इत्यादि समुदायरूप शब्दों की [च] भी अव्ययीभाव संज्ञा निपातन से होती है ॥ गण में ये शब्द जैसे पढ़े हैं, वैसे ही साधु समझने चाहिएं । विग्रह अर्थप्रदर्शन के लिए है ॥

उदा०—तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय स=तिष्ठद्गु कालः (जिस समय गौएं दोहन के लिए अपने स्थान पर ठहरती हैं) । वहन्ति गावो यस्मिन् काले स=वहद्गु कालः ॥ अव्ययीभाव संज्ञा होने से पूर्ववत् सु का लुक् होता है । तिष्ठद्गु आदि में गोस्त्रियोरुप० (१।२।४८), तथा एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) से 'गो' को ह्रस्व भी हो जायेगा ॥

पारे मध्ये षष्ठ्या वा ॥२।१।१७॥　अव्ययीभाव

पारे मध्ये उभयत्र लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ षष्ठ्या ३।१॥ वा अ० ॥ अनु०— अव्ययीभावः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पारमध्यशब्दो षष्ठ्यन्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्येते, अव्ययीभावश्च समासो भवति, तत्सन्नियोगेन चैतयोरे-कारान्तत्वं निपात्यते ॥ षष्ठीसमासापवादसूत्रमिदम् । वा वचनात् सोऽपि भवति । महाविभाषया तु विग्रहवाक्यविकल्पो भवति । तेन त्रीणि रूपाणि सिद्ध्यन्ति ॥ उदा०—पारेगङ्गम्, पारं गङ्गायाः । षष्ठीसमासपक्षे—गङ्गापारम् ॥ मध्येगङ्गम्, मध्यं गङ्गायाः । षष्ठीसमासपक्षे—गङ्गामध्यम् ॥

भाषार्थः—[पारे मध्ये] पार मध्य शब्दों का [षष्ठ्या] षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ [वा] विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है, तथा अव्ययीभाव समास के साथ-साथ इन शब्दों को एकारान्तत्व भी निपातन से हो जाता है ॥ प्रकृत महाविभाषा से विग्रह वाक्य का विकल्प होता है, तथा सूत्र में कहे 'वा' से षष्ठी तत्पुरुष समास भी पक्ष में पक्ष होता है, क्योंकि यह सूत्र षष्ठीसमास का अपवाद है ॥ षष्ठीसमास पक्ष में गङ्गा की (१।२।४३ से) उपसर्जन संज्ञा हुई है, सो उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से गङ्गा का पूर्वनिपात हुआ है । नपुंसकलिङ्ग होने से सु को अतोऽम् (७।१।२४) से अम् आदेश हुआ है । अव्ययीभाव समास पक्ष में तो पूर्ववत् गङ्गा को ह्रस्वत्व, तथा अम् हो जायेगा, कोई विशेष नहीं है ॥

उदा०—पारेगङ्गम् (गङ्गा के पार), पारं गङ्गायाः । षष्ठीसमास-पक्ष में

—गङ्गापारम् । मध्येगङ्गम् (गङ्गा के बीच में), मध्यं गङ्गायाः । षष्ठीसमास-पक्ष में—गङ्गामध्यम् ॥

अव्ययीभाव

सङ्ख्या वंश्येन ॥२।१।१८॥

सङ्ख्या १।१॥ वंश्येन ३।१॥ अनु०—विभाषा, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ वंशे भवः वंश्यः, दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) इति यत्प्रत्ययः ॥ अर्थः—संख्यावाचिसुबन्तं वंश्यवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ, द्विमुनि व्याकरणस्य । त्रिमुनि व्याकरणस्य ॥

भाषार्थः—[संख्या] संख्यावाची सुबन्त [वंश्येन] वंश्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

उदा०—द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ, द्विमुनि व्याकरणस्य (व्याकरण के दो मुनि=पाणिनि तथा कात्यायन) । त्रिमुनि व्याकरणस्य (व्याकरण के तीन मुनि—पाणिनि पतञ्जलि और कात्यायन) ॥

'वंश' विद्या अथवा जन्म से प्राणियों के एकरूपता होने को कहते हैं । सो उदाहरण में दोनों मुनियों की विद्या से समानता होने से एक ही वंश है । विभक्ति-लुक् ही समास का प्रयोजन है ॥

यहाँ से 'संख्या' की अनुवृत्ति २।१।१९ तक जाती है ॥

अव्ययीभाव

नदीभिश्च ॥२।१।१९॥

नदीभिः ३।१॥ च अ० ॥ अनु०—संख्या, विभाषा, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—संख्यावाचिसुबन्तं नदीवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—सप्तानां गङ्गानां समाहारः=सप्तगङ्गम् । द्वयोः यमुनयोः समाहारः=द्वियमुनम् । पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् ॥

भाषार्थः—संख्यावाची सुबन्त [नदीभिः] नदीवाची समर्थ सुबन्तों के साथ [च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास अव्ययीभावसंज्ञक होता है ॥

उदा०—सप्तानां गङ्गानां समाहारः=सप्तगङ्गम् (गङ्गा की सात धारायें जैसा कि हरिद्वार में हैं) । द्वयोः यमुनयोः समाहारः=द्वियमुनम् (यमुना की दो शाखायें) । पञ्चनदम् (पांच नदियों का जहां संगम हो)। सप्तगोदावरम् (गोदावरी नदी की सात धारायें) ॥ पञ्चनदम् तथा सप्तगोदावरम् में गोदावर्याश्च नद्याश्च०

(का० ५।४।७५) से समासान्त अच् प्रत्यय होकर, यस्येति च (६।४।१४८) से ईकार का लोप हो जाता है ॥

यहाँ से 'नदीभिः' की अनुवृत्ति २।१।२० तक जायेगी ॥

अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् ॥२।१।२०॥ अव्ययीभाव

अन्यपदार्थे ७।१॥ च अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—अन्यच्चादः पदं चेति अन्यपदम्,कर्मधारयः । अन्यपदस्यार्थः अन्यपदार्थः,तस्मिन्,षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—नदीभिः, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अन्यपदार्थे गम्यमाने संज्ञायां विषये सुबन्तं नदीवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् ॥

भाषार्थः—[अन्यपदार्थे] अन्यपदार्थ गम्यमान होने पर [च] भी [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में सुबन्त का नदीवाची समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

यहाँ 'विभाषा' के आने पर भी नित्यसमास ही होता है । क्योंकि विग्रहवाक्य से संज्ञा की प्रतीति ही नहीं हो सकती । अतः हम अनुवृत्ति में विभाषा पद नहीं लाये हैं ॥

उदा०—उन्मत्तगङ्गम् (जिस देश में गङ्गा उन्मत्त होकर बहती है, वह देश) । लोहितगङ्गम् ॥

तत्पुरुषः ॥२।१।२१॥ तत्पुरुष

तत्पुरुषः १।१॥ अनु०—सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अधिकारोऽयम् । इतोऽग्रे यः समासः स तत्पुरुषसंज्ञको भवतीति वेदितव्यम्, २।२।२३ इति यावत् ॥ उदाहरणानि अग्रे वक्ष्यन्ते ॥

भाषार्थः—यह अधिकार और संज्ञासूत्र है । यहाँ से आगे जो समास कहेंगे, उसकी [तत्पुरुषः] तत्पुरुष संज्ञा जाननी चाहिए ॥

विशेषः—तत्पुरुष समास प्रायः उत्तरपदार्थ-प्रधान होता है । यथा—राजपुरुषः में षष्ठीतत्पुरुष है । सो यहाँ पर 'पुरुष' की प्रधानता है, क्योंकि राजपुरुषम् आनय कहने पर लोग पुरुष को लाते हैं, राजा को नहीं लाते । इससे पता लगता है कि यहाँ उत्तरपद 'पुरुष' की ही प्रधानता है ॥

द्विगुश्च ॥२।१।२२॥ द्विगु

द्विगुः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—तत्पुरुषः ॥ अर्थः—द्विगुसमासस्तत्पुरुषसंज्ञको

भवति ॥ संज्ञासूत्रमिदम् ॥ उदा०—पञ्चराजम्, दशराजम् । द्व्यहः, त्र्यहः । पञ्च-गवम्, दशगवम् ॥

भाषार्थः—[द्विगुः] द्विगु समास की [च] भी तत्पुरुष संज्ञा होती है ॥ संख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से द्विगु-संज्ञा का विधान किया है। इस सूत्र से तत्पुरुष संज्ञा भी हो जाती है ॥ श्रित अतीत पतित गत अत्यस्त प्राप्त आपन्न

द्वितीया तत्पुरुष **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ॥२।१।२३॥**

द्वितीया १।१॥ श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ३।३॥ स०—श्रितातीत० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न इत्येतैः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कष्टं श्रितः, कष्टश्रितः । अरण्यम् अतीतः, अरण्यातीतः । कूपं पतितः, कूपपतितः । नगरं गतः, नगरगतः । तरङ्गान् अत्यस्तः, तरङ्गात्यस्तः । आनन्दं प्राप्तः, आनन्दप्राप्तः । सुखम् आपन्नः, सुखापन्नः ॥

भाषार्थः—[द्वितीया] द्वितीयान्त सुबन्त [श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः] श्रित इत्यादि समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥

उदा०—कष्टं श्रितः, कष्टश्रितः (कष्ट को प्राप्त हुआ) । अरण्यम् अतीतः, अरण्यातीतः (जङ्गल को उलङ्घन कर गया) । कूपं पतितः, कूपपतितः (कूँए में गिरा हुआ) । नगरं गतः, नगरगतः (नगर को गया हुआ) । तरङ्गान् अत्यस्तः, तरङ्गात्यस्तः (लहरों में फेंका हुआ) । आनन्दं प्राप्तः, आनन्दप्राप्तः (आनन्द को प्राप्त हुआ) । सुखम् आपन्नः, सुखापन्नः (सुख को प्राप्त हुआ) ॥

यहाँ से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति २।१।२८ तक जाती है ॥

तत्पुरुष **स्वयं क्तेन ॥२।१।२४॥**

स्वयम् अ० ॥ क्तेन ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—स्वयमित्येतद् अव्ययम् क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—स्वयं धौतौ पादौ, स्वयंधौतौ । स्वयं भुक्तम्, स्वयंभुक्तम् ॥

भाषार्थः—[स्वयम्] स्वयं इस अव्यय शब्द का [क्तेन] क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ स्वयं शब्द अव्यय है,अतः यहाँ 'द्वितीया' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं बिठाया है। क्योंकि अव्यय द्वितीयान्त हो ही नहीं सकता ॥

उदा०—स्वयंधौतौ पादौ (स्वयं धोये हुये दो पैर)। स्वयंभुक्तम् (स्वयं खाया हुआ)॥

यहाँ से 'क्तेन' की अनुवृत्ति २।१।२७ तक जायेगी॥

खट्वा क्षेपे॥२।१।२५॥ तत्पुरुष

खट्वा १।१॥ क्षेपे ७।१॥ अनु०—क्तेन, द्वितीया, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—द्वितीयान्तः खट्वाशब्दः क्षेपे गम्यमाने क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ उदा०—खट्वारूढोऽयं दुष्टः। खट्वाप्लुतः॥

भाषार्थः—[क्षेपे] निन्दा गम्यमान हो, तो [खट्वा] द्वितीयान्त खट्वा शब्द क्तान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है॥

उदा०—खट्वारूढोऽयं दुष्टः (बिना गुरुजनों की आज्ञा के ही यह दुष्ट गृहस्थ में चला गया)। खट्वाप्लुतः (कुमार्गगामी हो गया)॥ विद्या पढ़कर गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह निन्दा का पात्र है। उसी को यहाँ 'खट्वारूढः' कहा है,सो यहाँ क्षेप गम्यमान है॥ यहाँ विग्रह-वाक्य से क्षेप की प्रतीति नहीं होती, अतः यहाँ विभाषा का सम्बन्ध अधिकार आते हुये भी नहीं बैठता। अतः यह भी नित्य समास है॥

सामि॥२।१।२६॥ तत्पुरुष

सामि अ०॥ अनु०—क्तेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—सामि इत्येतदव्ययम् क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ उदा०—सामिकृतम्। सामिपीतम्। सामिभुक्तम्॥

भाषार्थः—[सामि] सामि इस अव्यय शब्द का क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है॥ यहाँ भी सामि शब्द के अव्यय होने से 'द्वितीया' पद का सम्बन्ध नहीं बैठा है॥ उदा०—सामिकृतम् (आधा किया हुआ)। सामिपीतम्। सामिभुक्तम्॥

कालाः॥२।१।२७॥ तत्पुरुष

कालाः १।३॥ अनु०—क्तेन, द्वितीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—कालवाचिनो द्वितीयान्ताः शब्दाः क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते,तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ अनत्यन्तसंयोगार्थमिदं वचनम्,अत्यन्त-संयोगे ह्युत्तरसूत्रेण क्रियते॥ उदा०—अहरतिसृता मुहूर्त्ताः। अहस्सङ्क्रान्ताः। रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः। रात्रिसङ्क्रान्ताः। मासप्रमितश्चन्द्रमाः, मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपच्चन्द्रमा इत्यर्थः॥

भाषार्थः—[कालाः] कालवाची द्वितीयान्त शब्द का क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास हो जाता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ अनत्यन्त-संयोग में समास हो जाये, इसलिये यह सूत्र है। अत्यन्तसंयोग में तो अगले सूत्र से समास प्राप्त ही था। उदाहरणों में अनत्यन्तसंयोग कैसे है, यह परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से 'कालाः' की अनुवृत्ति २।१।२८ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

अत्यन्तसंयोगे च ॥२।१।२८॥

अत्यन्तसंयोगे ७।१॥ च अ० ॥ स०—अत्यन्तः संयोगः अत्यन्तसंयोगः, तस्मिन्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—कालाः, द्वितीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अत्यन्तसंयोगः=कृत्स्नसंयोगः, तस्मिन् गम्यमाने कालवाचिनो द्वितीयान्ताः शब्दाः समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—मुहूर्त्तं सुखम्=मुहूर्त्तसुखम्। सर्वरात्रकल्याणी। सर्वरात्रशोभना ॥

भाषार्थः—[अत्यन्तसंयोगे] अत्यन्त संयोग गम्यमान होने पर [च] भी कालवाची द्वितीयान्त शब्दों का समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है। अत्यन्त संयोग से अभिप्राय लगातार संयोग से है ॥

उदा०—मुहूर्त्तं सुखम्=मुहूर्त्तसुखम् (मुहूर्त्तभर सुख)। सर्वरात्रं कल्याणी =सर्वरात्रकल्याणी (कल्याणप्रद सारी रात)। सर्वरात्रशोभना (सुन्दर सारी रात)। सर्वरात्रि शब्द से यहाँ अहः सर्वैकदेशसं० (५।४।८७) से समासान्त अच् प्रत्यय होकर 'सर्वरात्र' बना है ॥

तृतीया तत्पुरुष

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ॥२।१।२९॥

तृतीया १।१॥ तत्कृत लुप्ततृतीयान्तनिर्देशः ॥ अर्थेन ३।१॥ गुणवचनेन ३।१॥ स०—तेन कृतम् तत्कृतम्, तृतीयातत्पुरुषः। गुणमुक्तवान् गुणवचनः, तेन, (उपपद) तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—तृतीयान्तं सुबन्तं तत्कृतेन=तृतीयान्तार्थकृतेन गुणवचनेन, अर्थशब्देन च सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ उदा०—शङ्कुलया खण्डः=शङ्कुलाखण्डः। किरिणा काणः=किरि-काणः। अर्थशब्देन—धान्येन अर्थः=धान्यार्थः ॥

भाषार्थः—[तृतीया] तृतीयान्त सुबन्त [तत्कृतार्थेन गुणवचनेन] तत्कृत= तृतीयान्तार्थकृत गुणवाची शब्द के साथ, तथा अर्थ शब्द के साथ समास को प्राप्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

विशेषः—जिसने पहले गुण को कहा था, किन्तु अब तद्वान् द्रव्य को ही कहता है, उसे "गुणवचन" कहते हैं। जैसे कि उदाहरण में खण्ड तथा काणशब्द क्रमशः खण्डन

(तोड़ना) तथा निमीलन (बन्द करना) गुण को पहले कहते थे, किन्तु अब 'खण्ड-गुण' अर्थात् खण्ड है गुण जिसका, तथा 'काणगुण' काण है गुण जिसका, उस द्रव्य को कहते हैं। सो खण्ड और काण गुणवचन शब्द हैं। यहाँ खण्डगुणोऽस्यास्तीति, काण-गुणोऽस्यास्तीति इस अर्थ में खण्ड तथा काण शब्द से मतुप् प्रत्यय (५।२।९४ से) आया था, पर उसका गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक् (५।२।९४ वा०) इस वार्तिक से लुक् हो जाता है ॥ तत्कृतार्थेन, यहाँ महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है, अर्थात् 'तत्कृतेन' को गुणवचनेन का विशेषण माना है, एवं 'अर्थेन' इसको अलग माना है। सो अर्थ हुआ—"अर्थ शब्द के साथ भी समास होता है", जिसका उदाहरण है—'धान्यार्थ:'। तत्कृत का अर्थ हुआ – तृतीयान्तार्थकृत। जैसे कि उदाहरण में शङ्कुलया (सरोते से), किरिणा (बाण से) तृतीयान्त हैं, सो तत्कृत ही खण्डत्व (टुकड़ा) एवं काणत्व (काना) है, अतः यहाँ समास हो गया है ॥ उदा०—शङ्कुलाखण्ड: (सरोते के द्वारा किया हुआ खण्ड=टुकड़ा)। किरिकाण: (बाण के द्वारा काना किया)। धान्यार्थ: (धान्य से प्रयोजन) ॥

तृतीया यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृत्ति २।१।३४ तक जायगी ॥ पूर्व सदृश सम ऊनार्थ

तत्पुरुष पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णै: ॥२।१।३०॥ कलह निपुण मिश्र श्लक्ष्णै

पूर्वसदृश⋯श्लक्ष्णै: ३।३॥ स०—पूर्वसदृश० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुष:, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समास: ॥ अर्थ:—तृतीयान्तं सुबन्तं पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र, श्लक्ष्ण इत्येतै: सुबन्तै: सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—मासेन पूर्व:=मासपूर्व:, संवत्सरपूर्व:। मात्रा सदृश:=मातृसदृश:, भ्रातृसदृश:। मात्रा सम:=मातृसम:। ऊनार्थे—कार्षापणेन ऊनं रूप्यं=कार्षापणोनम् रूप्यम्, कार्षापणन्यूनम्। वाचा कलह:=वाक्कलह:, असिकलह:। वाचा निपुण:=वाङ्निपुण:, विद्यानिपुण:। गुडेन मिश्र:=गुडमिश्र:, तिलमिश्र:। आचारेण श्लक्ष्ण:=आचारश्लक्ष्ण: ॥

भाषार्थ:—तृतीयान्त सुबन्त का [पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णै:] पूर्वादि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास हो जाता है, और वह तत्पुरुष समास होता है॥

उदा०—मासपूर्व: (एक मास पूर्व का), संवत्सरपूर्व:। मातृसदृश: (माता के तुल्य), भ्रातृसदृश:। मातृसम: (माता के समान), भ्रातृसम:। ऊनार्थ में—कार्षा-पणोनं रूप्यम् (कार्षापण से कम रुपया), कार्षापणन्यूनम्। वाक्कलह: (वाणी के द्वारा झगड़ा), असिकलह: (तलवार से लड़ाई)। वाङ्निपुण: (वाणी में निपुण), विद्यानिपुण:। गुडमिश्र: (गुड़ मिलाया हुआ), तिलमिश्र:। आचारश्लक्ष्ण: (आचार से अच्छा) ॥

तृतीया तत्पुरुष

कर्तृकरणे कृता बहुलम् ॥२।१।३१॥

कर्त्तृकरणे ७।१॥ कृता ३।१॥ बहुलम् १।१॥ स०—कर्त्ता च करणं च कर्त्तृकरणम्, तस्मिन्, समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुषः, सुप्,सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कर्तरि करणे च या तृतीया तदन्तं सुबन्तं समर्थेन कृदन्तेन सुबन्तेन सह बहुलं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अहिना हतः=अहिहतः, वृकहतः। करणे—दात्रेण लूनं=दात्रलूनम्, परशुना छिन्नः=परशुछिन्नः, नखैर्निर्भिन्नः=नखनिर्भिन्नः ॥

भाषार्थः—[कर्तृकरणे] कर्त्तृवाची और करणवाची जो तृतीयान्त सुबन्त, वे समर्थ [कृता] कृदन्त सुबन्त के साथ [बहुलम्] बहुल करके समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—अहिना हतः, में हननक्रिया का कर्त्ता अहि है। उस अहि कर्त्ता में तृतीया कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से हुई है, अतः यह कर्त्तृवाची ही है ॥ दात्रेण लूनः, में लवन क्रिया का करण कारक दात्र है। सो यहाँ पूर्वोक्त सूत्र से करण कारक में तृतीया है, अतः यह करणवाची है ॥ हतः इत्यादि क्त-प्रत्ययान्त हैं, 'क्त' की कृदतिङ् (३।१।९३) से कृत् संज्ञा हो गई ॥

अहिना हतः=अहिहतः (सांप के द्वारा मारा हुआ), वृकहतः। करणे—दात्रेण लूनं=दात्रलूनम् (दरांती से काटा हुआ), परशुना छिन्नः=परशुछिन्नः (कुल्हाड़ी से काटा हुआ), नखैर्निर्भिन्नः=नखनिर्भिन्नः (नाखूनों के द्वारा तोड़ कर निकाला हुआ) ॥

विशेष—बहून् अर्थान् लातीति बहुलम्, जो बहुत अर्थों को प्राप्त करावे, उसे 'बहुल' कहते हैं। जो कि चार प्रकार का होता है। जिसका लक्षण निम्न प्रकार है—

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

अर्थात् कहीं पर विधि न प्राप्त होते हुये भी कार्य होना, कहीं विधि प्राप्त होने पर भी कार्य न होना, कहीं विकल्प से होना, तथा कहीं और ही हो जाना, यह चार प्रकार का 'बहुल' देखने में आता है। सो जहाँ-जहाँ बहुल हो, वहाँ ऐसे ही कार्य जानना ॥

यहाँ से 'कर्त्तृकरणे' की अनुवृत्ति २।१।३२ तक जायेगी ॥

तृतीया तत्पुरुष

कृत्यैरधिकार्थवचने ॥२।१।३२॥

कृत्यैः ३।३॥ अधिकार्थवचने ७।१॥ स०—अधिकः (अध्यारोपितः) अर्थः

अधिकार्थः, तस्य वचनम् अधिकार्थवचनम्,षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्तृकरणे, तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कर्तृवाचि करणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं समर्थैः कृत्यसंज्ञकप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह अधिकार्थवचने गम्यमाने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—काकैः पेया=काकपेया नदी; शुना लेह्यः=श्वलेह्यः कूपः । करणे—वाष्पेण छेद्यानि=वाष्पछेद्यानि तृणानि; कण्टकेन सञ्चेयः=कण्टकसञ्चेय ओदनः ॥

भाषार्थः—कर्त्तावाची तथा करणवाची जो तृतीयान्त सुबन्त,वह समर्थ [कृत्यैः] कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ विकल्प से [अधिकार्थवचने] अधिकार्थवचन गम्यमान होने पर समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

किसी की स्तुति या निन्दा में कुछ बढ़कर अधिक बात बोल देना 'अधिकार्थवचन' होता है । पेया लेह्यः इत्यादि में यत् और ण्यत् प्रत्यय हुए हैं, सो कृत्याः (३।१।६५) से कृत्यसंज्ञक हैं ॥

उदा०—काकैः पेया=काकपेया नदी (इतने थोड़े[1] जलवाली नदी, जिसे कौए भी पी डालें), शुना लेह्यः=श्वलेह्यः कूपः (कुत्ते के चाट जाने योग्य कूँआ, अर्थात् समीप जलवाला) । करण में—वाष्पेण छेद्यानि=वाष्पछेद्यानि तृणानि (भाप से भी टूट जानेवाले कोमल तिनके); कण्टकेन सञ्चेयः=कण्टकसञ्चेय ओदनः (इतने थोड़े चावल, जो कांटे से भी इकट्ठे हो जायें)॥

ऊपर के दो उदाहरणों में कर्त्ता में तृतीया है, और निन्दा में अधिकार्थवचनता है । तथा पिछले दो उदाहरणों में करण में तृतीया है,और प्रशंसा में अधिकार्थवचनता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

अन्नेन व्यञ्जनम् ॥२।१।३३॥ तृतीया तत्पुरुष

अन्नेन ३।१॥ व्यञ्जनम् १।१॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—व्यञ्जनवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं अन्नवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—दध्ना उपसिक्त ओदनः =दध्योदनः; क्षीरौदनः ॥

भाषार्थः—[व्यञ्जनम्] व्यञ्जनवाची तृतीयान्त सुबन्त [अन्नेन] अन्नवाची

---

१. वस्तुतः इतने थोड़े जलवाली नदी हो ही नहीं सकती, जिसे कौए ही पी जायें । यहाँ ऐसा कहना ही अधिकार्थवचनता है । इसी प्रकार और उदाहरणों में भी समझें ।

समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—दध्ना उपसिक्त ओदनः=दध्योदनः (दही मिला हुआ चावल); क्षीरौदनः ॥ दध्योदनः में यणादेश, तथा क्षीरौदनः में वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हुआ है ॥

तृतीया तत्पुरुष **भक्ष्येण मिश्रीकरणम् ॥२।१।३४॥**

भक्ष्येण ३।१॥ मिश्रीकरणम् १।१॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—मिश्रीकरणवाची तृतीयान्तं सुबन्तं भक्ष्यवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—गुडेन मिश्रा धानाः=गुडधानाः; गुडपृथुकाः ॥

भाषार्थः—[मिश्रीकरणम्] मिश्रीकरणवाची तृतीयान्त सुबन्त [भक्ष्येण] भक्ष्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—गुडेन मिश्रा धानाः=गुडधानाः (गुड़ मिले हुए धान=गुडधानी); गुडपृथुकाः (गुड़ से मिला हुआ च्यूड़ा=भक्ष्यविशेष) ॥

चतुर्थी तत्पुरुष **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥२।१।३५॥**

चतुर्थी १।१॥ तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ३।३॥ स०—तस्मै इदम् तदर्थम्, चतुर्थीतत्पुरुषः। तदर्थं च अर्थश्च बलिश्च हितञ्च सुखञ्च रक्षितञ्च तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितानि, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, रक्षित इत्येतैः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ 'तद्' इति पदेन चतुर्थ्यन्तस्यार्थः परामृश्यते। तदर्थेन प्रकृतिविकारभावे समास इष्यते॥ उदा०—तदर्थ—यूपाय दारु=यूपदारु; कुण्डलाय हिरण्यम्=कुण्डलहिरण्यम्। अर्थ[1]—ब्राह्मणार्थं पयः, ब्राह्मणार्था यवागूः। बलि—इन्द्राय बलिः=इन्द्रबलिः, कुबेरबलिः। हित—गोभ्यो हितं=गोहितम्। सुख—गोभ्यः सुखं=गोसुखम्; अश्वसुखम्। रक्षित—पुत्राय रक्षितम्=पुत्ररक्षितम्; अश्वरक्षितम् ॥

भाषार्थः—[चतुर्थी] चतुर्थ्यन्त सुबन्त [तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः] तदर्थ

१—'अर्थ' शब्द के साथ नित्यसमास वार्तिक (२।१।३६) से कहा है, अतः 'ब्राह्मणार्थ' का विग्रह नहीं दिखाया है ॥

तथा अर्थ बलि हित सुख रक्षित इन समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—तदर्थ (यहां विकार का प्रकृति के साथ समास इष्ट है)—यूपाय दारु=यूपदारु (खम्भे के लिए जो लकड़ी), कुण्डलाय हिरण्यम्=कुण्डलहिरण्यम् (कुण्डल के लिए जो सोना)। अर्थ—ब्राह्मणार्थं पयः (ब्राह्मण के लिये दूध), ब्राह्मणार्था यवागूः (ब्राह्मण के लिये लप्सी)। बलि—इन्द्राय बलिः=इन्द्रबलिः (इन्द्र देवता के लिये जो बलि), कुबेरबलिः। हित—गोभ्यो हितं=गोहितम् (गायों के लिये जो हित)। सुख—गोभ्यः सुखं=गोसुखम् (गायों के लिये जो सुख), अश्वसुखम्। रक्षित—पुत्राय रक्षितम्=पुत्ररक्षितम् (पुत्र के लिये रक्षित), अश्वरक्षितम्।

पञ्चमी भयेन ॥२।१।३६॥

पञ्चमी १।१॥ भयेन ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयशब्देन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ उदा०—वृकेभ्यो भयम्=वृकभयम्, चौरभयम् ॥

भाषार्थः—[पञ्चमी] पञ्चम्यन्त सुबन्त समर्थ [भयेन] भयशब्द सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है॥ उदा०—वृकेभ्यो भयम्=वृकभयम् (भेड़ियों से भय), चौरभयम् ॥

यहां से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।१।३८ तक जायेगी ॥

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः ॥२।१।३७॥

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तै ३।३॥ अल्पशः अ० ॥ स०—अपेतापोढ० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु:—पञ्चमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अल्पं पञ्चम्यन्तं सुबन्तम् अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त इत्येतैः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—दुःखाद् अपेतः =दुःखापेतः, सुखापेतः। धनाद् अपोढः=धनापोढः। दुःखाद् मुक्तः=दुःखमुक्तः। स्वर्गात् पतितः=स्वर्गपतितः। तरङ्गाद् अपत्रस्तः=तरङ्गापत्रस्तः ॥

भाषार्थः—[अल्पशः] अल्प पञ्चम्यन्त सुबन्त [अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैः] अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त इन समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ सूत्र में 'अल्पशः' कहने का अभिप्राय यह है कि=अल्प थोड़े ही पञ्चम्यन्त सुबन्तों का समास होता है, सब पञ्चम्यन्तों का नहीं। यथा प्रासादात् पतितः इस पञ्चम्यन्त का समास नहीं होता है ॥

उदा०—दुःखापेतः (दुःख से दूर), सुखापेतः। धनापोढः (धन से बाधित)।

दुःखमुक्तः (दुःख से छूट गया)। स्वर्गपतितः (स्वर्ग से गिरा हुआ)। तरङ्गापत्रस्तः (तरङ्गों से फेंका हुआ) ॥

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ॥२।१।३८॥

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि १।३॥ क्तेन ३।१॥ स०—स्तोकश्च अन्तिकश्च दूरश्चेति स्तोकान्तिकदूराः, तेऽर्थाः येषां ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः, स्तोकान्तिकदूरार्थाश्च कृच्छ्रञ्च तानि स्तो···कृच्छ्राणि, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—पञ्चमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—स्तोक, अन्तिक, दूर इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च पञ्चम्यन्ताः क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—स्तोकाद् मुक्तः=स्तोकान्मुक्तः; अल्पान्मुक्तः। अन्तिकाद् आगतः=अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः। दूराद् आगतः=दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्राद् मुक्तः=कृच्छ्रान्मुक्तः; कृच्छ्राद् लब्धः=कृच्छ्राल्लब्धः ॥

भाषार्थः—[स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि] स्तोक अन्तिक और दूर अर्थवाले पञ्चम्यन्त सुबन्त, तथा कृच्छ्र शब्द जो पञ्चम्यन्त सुबन्त, उनका समर्थ क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ समासपक्ष में सुपो धातु० (२।४।७१) से जो पञ्चमी का लुक् प्राप्त था, उसका पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः (६।३।२) से अलुक् अर्थात् लुक् नहीं हुआ। समास होने से यही लाभ हुआ कि एकपद तथा एकस्वर हो गया ॥ स्तोकान्मुक्तः, में द् को न् यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से हुआ है। दूरादागतः, में त् को द् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से हो गया है ॥

उदा०—स्तोकान्मुक्तः (थोड़े से ही छूट गया), अल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः (समीप से आया हुआ), अभ्याशादागतः (पास से आया हुआ)। दूरादागतः (दूर से आया), विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रान्मुक्तः (थोड़े से छूट गया), कृच्छ्राल्लब्धः ॥

सप्तमी शौण्डैः ॥२।१।३९॥

सप्तमी १।१॥ शौण्डैः ३।३॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अक्षेषु शौण्डः=अक्षशौण्डः। अक्षधूर्त्तः। अक्षकितवः ॥

भाषार्थः—[सप्तमी] सप्तम्यन्त सुबन्त [शौण्डैः] शौण्ड इत्यादि समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ शौण्ड में बहुवचन निर्देश होने से यहाँ शौण्डादिगण लिया गया है ॥

उदा०—**अक्षशौण्डः** (द्यूत-क्रीडा में चतुर)। **अक्षधूर्तः। अक्षकितवः॥**

यहाँ से 'सप्तमी' **की अनुवृत्ति** २।१।४७ **तक आयेगी॥**

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च ॥२।१।४०॥

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैः३।३॥ च अ०॥ **स०**—सिद्धशुष्क० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ **अनु०**—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः॥ **अर्थः**—सिद्ध शुष्क पक्व बन्ध इत्येतैः समर्थैः सुबन्तैः सह सप्तम्यन्तं सुबन्तं विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ **उदा०**—ग्रामे सिद्धः=ग्रामसिद्धः, नगरसिद्धः। आतपे शुष्कः =आतपशुष्कः, छायायां शुष्कः=छायाशुष्कः। स्थाल्यां पक्वः=स्थालीपक्वः। यूपे बन्धः=यूपबन्धः, चक्रबन्धः॥

भाषार्थः—[सिद्धशुष्कपक्वबन्धैः] **सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध इन समर्थ सुबन्तों के साथ** [च] **भी सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है॥**

उदा०—**ग्रामसिद्धः (ग्राम में बना), नगरसिद्धः। आतपशुष्कः (धूप में सूखा हुआ), छायाशुष्कः। स्थालीपक्वः (बटलोई में पकाया हुआ)। यूपबन्धः (यज्ञ के खम्भे में बाँधा हुआ), चक्रबन्धः (चक्र में बाँधा हुआ)॥**

ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ॥२।१।४१॥

ध्वाङ्क्षेण ३।१॥ क्षेपे ७।१॥ **अनु०**—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः॥ **अर्थः**—सप्तम्यन्तं सुबन्तं ध्वाङ्क्षवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह क्षेपे गम्यमाने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ **उदा०**—तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव= तीर्थध्वाङ्क्षः, तीर्थे काक इव=तीर्थकाकः, तीर्थवायसः॥

भाषार्थः—**सप्तम्यन्त सुबन्त** [ध्वाङ्क्षेण] **ध्वाङ्क्ष=(कौआ)वाची समर्थ सुबन्त के साथ** [क्षेपे] **क्षेप=निन्दा गम्यमान होने पर विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है॥**

उदा०—**तीर्थध्वाङ्क्षः (जैसे कौआ एक स्थान पर नहीं रह सकता, उसी प्रकार जो छात्र एक स्थान पर न पढ़कर यत्र-तत्र सर्वत्र पढ़ता फिरे, वह तीर्थध्वाङ्क्षः[1] कहलाता है), तीर्थकाकः, तीर्थवायसः॥**

कृत्यैर्ऋणे ॥२।१।४२॥

कृत्यैः ३।३॥ ऋणे ७।१॥ **अनु०**—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः॥ **अर्थः**—सप्तम्यन्तं सुबन्तं कृत्यप्रत्ययान्तैः समर्थैः सुबन्तैः सह ऋणे गम्य-

---

१. विद्यार्थी का यत्र तत्र भागना ही यहाँ क्षेप है॥

माने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—मासे देयम् ऋणं= मासदेयम् ऋणम् । संवत्सरदेयम्, त्र्यहदेयम् ।।

भाषार्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त [कृत्यैः] कृत्यप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्तों के साथ [ऋणे] ऋण गम्यमान होने पर विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ।।

उदा०—मासे देयम् ऋणं=मासदेयम् ऋणम् (महीने भर में चुका दिया जानेवाला ऋण) । संवत्सरदेयम्, त्र्यहदेयम् ।। देयम् में यत् प्रत्यय अचो यत् (३।१।९७ से हुआ है । सो कृत्याः (३।१।९५) से वह कृत्यसंज्ञक है ।।

सप्तमी तत्पुरुष **संज्ञायाम् ।।२।१।४३।।**

संज्ञायाम् ७।१।। अनु०—सप्तमी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ।। अर्थः—सप्तम्यन्तं सुबन्तं संज्ञायां विषये समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—अरण्येतिलकाः । अरण्येमाषाः । वनेकिंशुकाः । वनेबिल्वकाः । कूपेपिशाचकाः ।।

भाषार्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में समर्थ सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ।। यहाँ महाविभाषा का अधिकार आते हुये भी नित्य समास ही होता है । क्योंकि विग्रह-वाक्य से संज्ञा की प्रतीति ही नहीं होती है ।।

उदा०—अरण्येतिलकाः (जङ्गली तिल) । अरण्येमाषाः (जङ्गली उड़द) । वनेकिंशुकाः (जङ्गली टेसू के फूल) । वनेबिल्वकाः (पूर्ववत् ही अर्थ जानें) । कूपेपिशाचकाः (यहाँ भी पूर्ववत् जानें) ।। सर्वत्र उदाहरणों में हलदन्तात् सप्तम्याः० (६।३।७) से विभक्ति का अलुक् हुआ है ।।

सप्तमी तत्पुरुष **क्तेनाहोरात्रावयवाः ।।२।१।४४।।**

क्तेन ३।१।। अहोरात्रावयवाः १।३।। स०—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रौ, तयोरवयवाः अहोरात्रावयवाः, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ।। अर्थः—सप्तम्यन्ताः अहरवयववाचिनः रात्र्यवयववाचिनश्च शब्दाः क्तप्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—पूर्वाह्णे कृतम्=पूर्वाह्णकृतम्, मध्याह्नकृतम् । पूर्वरात्रे कृतम्= पूर्वरात्रकृतम्, मध्यरात्रकृतम् ।।

भाषार्थः—[अहोरात्रावयवाः] दिन के अवयववाची एवं रात्रि के अवयववाची

सप्तम्यन्त सुबन्तों का [क्तेन] क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।।

उदा०—पूर्वाह्णे कृतम् = पूर्वाह्णकृतम् (दिन के पूर्व भाग में किया हुआ), मध्याह्नकृतम् । पूर्वरात्रे कृतम् = पूर्वरात्रकृतम् (रात्रि के पूर्व भाग में किया हुआ), मध्यरात्रकृतम् ।।

यहाँ से "क्तेन" की अनुवृत्ति २।१।४६ तक जाती है ।।

तत्र ।।२।१।४५।। सप्तमी तत्पुरुष

तत्र अ० ।। अनु०—क्तेन, सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ।। अर्थ—'तत्र' इति सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्तप्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—तत्रभुक्तम् । तत्रपीतम् । तत्रकृतम् ।।

भाषार्थः—[तत्र] 'तत्र' इस सप्तम्यन्त शब्द का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।। समास होने से एकपद एकस्वर हो जाता है । पक्ष में पृथक्-पृथक् पद भी रहते हैं ।।

उदा०—तत्रभुक्तम् (वहाँ खाया) । तत्रपीतम् (वहाँ पिया) । तत्र कृतम् ।।

क्षेपे ।।२।१।४६।। सप्तमी तत्पुरुष

क्षेपे ७।१।। अनु०—क्तेन, सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः।। अर्थः—सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह क्षेपे गम्यमाने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—अवतप्तेनकुलस्थितं तव एतत् । प्रवाहेमूत्रितम् । भस्मनिहुतम् ।।

भाषार्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ [क्षेपे] क्षेप (निन्दा) गम्यमान होने पर समास को विकल्प से प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ।। उदा०—अवतप्तेनकुलस्थितं तव एतत् (तपी हुई भूमि में जिस प्रकार नेवला अस्थिर होकर इधर-उधर भागता है, क्षणभर नहीं ठहरता, उसी प्रकार तुम्हारा कार्य है, अर्थात् अत्यन्त चञ्चल है) । प्रवाहेमूत्रितम् (बहते पानी में मूत्र करने के समान तुम्हारा किया काम है, अर्थात् निष्फल है) । भस्मनिहुतम् (भस्म में = राख में आहुति डालने के समान तुम्हारा काम निष्फल है) ।।

तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६।३।१२) से अवतप्ते इत्यादियों में सप्तमी का अलुक्

हुआ है। नकुलस्थितं इत्यादि क्तान्त शब्द हैं। अत्यन्त चञ्चलता आदि ही यहाँ क्षेप है। कार्यों को प्रारम्भ करके जो धैर्य से उसे पूरा न कर इधर-उधर भागे, उसके लिये यह कहा है॥

यहाँ से 'क्षेपे' की अनुवृत्ति २।१।४७ तक जायेगी॥

सप्तमी तत्पुरुष

पात्रेसंमितादयश्च ॥२।१।४७॥

पात्रेसंमितादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—पात्रेसंमित आदिर्येषां ते पात्रेसंमितादयः, बहुव्रीहिः॥ अनु:—क्षेपे, सप्तमी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थ:—पात्रेसंमिताः इत्यादयः शब्दाः क्षेपे गम्यमाने समुदाया एव निपात्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ उदा—पात्रेसंमिताः। पात्रेबहुलाः॥

भाषार्थ:—[पात्रेसंमितादयः] पात्रेसंमित इत्यादि शब्द [च] भी क्षेप गम्यमान होने पर समुदायरूप से, अर्थात् जैसे गण में पठित हैं, उसी प्रकार निपातन किये जाते हैं, और तत्पुरुषसंज्ञक होते हैं॥ चकार यहाँ अवधारण के लिए है॥

उदा०—पात्रेसंमिताः (भोजन के समय में ही जो इकट्ठे हो जावें, किसी कार्य के समय नहीं)। पात्रेबहुलाः (भोजनकाल में ही जो आवें, किसी कार्य में नहीं)॥ पूर्व काल एक सर्व जरत् पुराण नव केवलाः समानाधिकरणे

समानाधिकरण तत्पुरुष

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन ॥२।१।४८॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः १।३॥ समानाधिकरणेन ३।१॥ स०—पूर्वकाल० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः। समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल इत्येते सुबन्ता समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ उदा०—स्नातश्चानुभुक्तश्च=स्नातानुभुक्तः, कृष्टसमीकृतम्। एकश्चासौ वैद्यश्च=एकवैद्यः, एकभिक्षा। सर्वे च ते मनुष्याः=सर्वमनुष्याः, सर्वदेवाः। जरंश्चासौ हस्ती च=जरद्धस्ती, जरदश्वः। पुराणं च तदन्नञ्च=पुराणान्नम्, पुराणावसथम्। नवञ्च तदन्नं च=नवान्नम्, नवावसथम्। केवलञ्च तदन्नं च=केवलान्नम्॥

भाषार्थ:—[पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः] पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल इन सुबन्तों का [समानाधिकरणेन] समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है॥ समानाधिकरण की व्याख्या १।२।४२ में कर आये हैं॥ यह सूत्र विशेषणं० (२।१।५६) का अपवाद है॥

उदा०—स्नातश्चानुभुक्तश्च=स्नातानुभुक्तः (पहले स्नान किया, पीछे खाया),

कृष्टसमीकृतम् (पहले खेत को जोता, पीछे बराबर किया)। एकश्चासौ वैद्यश्च = एकवैद्यः (एक ही है, और वही वैद्य है), एकभिक्षा। सर्वे च ते मनुष्याः = सर्वमनुष्याः (सब मनुष्य), सर्वदेवाः। जरंश्चासौ हस्ती च = जरद्धस्ती (बूढ़ा हाथी), जरदश्वः। पुराणं च तदन्नं च = पुराणान्नम् (पुराना अन्न), पुराणावसथम् (पुराना गृह)। नवञ्च तदन्नं च = नवान्नम् (नया अन्न), नवावसथम्। केवलञ्च तदन्नं च = केवलान्नम् (केवल अन्न)॥ जरद्धस्ती में ह् को घ् झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६१) से हुआ है॥

यहाँ से 'समानाधिकरणेन' की अनुवृत्ति पाद के अन्त २।१।७१ तक जाती है॥

दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम् ॥२।१।४९॥ सप्तमी तत्पुरुष

दिक्सङ्ख्ये १।२॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—दिक् च सङ्ख्या च दिक्सङ्ख्ये, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—दिग्वाचिनः सङ्ख्यावाचिनश्च सुबन्ताः समानाधिकरणेन समर्थेन सुबन्तेन सह संज्ञायां विषये समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ उदा०—पूर्वा चासौ इषुकामशमी च = पूर्वेषुकामशमी, अपरेषुकामशमी। सङ्ख्या—पञ्च च ते आम्राः = पञ्चाम्राः; सप्त च ते ऋषयः = सप्तर्षयः॥

भाषार्थः—[दिक्सङ्ख्ये] दिशावाची और संख्यावाची जो सुबन्त वे समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है॥

उदा०—पूर्वा चासौ इषुकामशमी च = पूर्वेषुकामशमी (किसी ग्राम की संज्ञा है), अपरेषुकामशमी। संख्या—पञ्च च ते आम्राः = पञ्चाम्राः (आम के पांच वृक्ष = संज्ञाविशेष), सप्तर्षयः (सात ऋषि)॥ पूर्वेषुकामशमी में समानाधिकरण समास होने से तत्पुरुषः समा० (१।२।४२) से कर्मधारय संज्ञा होकर 'पूर्वा' को पुंवत् कर्मधारय० (६।३।४१) से पुंवद्भाव हुआ है। आद्गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर पूर्वेषुकामशमी बना है॥

यहाँ से 'दिक्सङ्ख्ये' की अनुवृत्ति २।१।५० तक जाती है॥ सप्तमी तत्पुरुष

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च ॥२।१।५०॥

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे ७।१॥ च अ०॥ स०—तद्धितस्यार्थस्तद्धितार्थः, षष्ठीतत्पुरुषः। तद्धितार्थश्च उत्तरपदञ्च समाहारश्च तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारम्, तस्मिन्, समाहारो

द्वन्द्वः ।। अनु०—दिक्सङ्ख्ये, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ।। अर्थः—तद्धितार्थे = तद्धितोत्पत्तिविषये उत्तरपदे च परतः समाहारे चाभिधेये, दिक्सङ्ख्ये सुबन्ते समर्थेन समानाधिकरणवाचिना सुबन्तेन सह विभाषा समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—पूर्वस्यां शालायां भवः = पौर्वशालः आपरशालः । संङ्ख्या—तद्धितार्थे—पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम् = पाञ्चनापितिः; पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः = पञ्चकपालः ।। दिक्—उत्तरपदे—पूर्वा शाला प्रिया यस्य = पूर्वशालाप्रियः । सङ्ख्या—उत्तरपदे—पञ्च गावो धनं यस्य स पञ्चगवधनः; पञ्चनावप्रियः ।। समाहारे दिक्शब्दो नास्तीति नोदाह्रियते । सङ्ख्या—समाहारे—पञ्चानां पूलानां समाहारः = पञ्चपूली, दशपूली; पञ्चानां कुमारीणां समाहारः = पञ्चकुमारि, दशकुमारि; अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः = अष्टाध्यायी ।।

भाषार्थः—[तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे] तद्धितार्थ का विषय उपस्थित होने पर, उत्तरपद परे रहते, तथा समाहार वाच्य होने पर [च] भी दिशावाची तथा सङ्ख्यावाची सुबन्तों का समर्थ समानाधिकरणवाची सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ।।

द्विगु

सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः ।।२।१।५१।।

सङ्ख्यापूर्वः १।१।। द्विगुः १।१।। स०—सङ्ख्या पूर्वा यस्मिन् स सङ्ख्यापूर्वः बहुव्रीहिः ।। अर्थः—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे इत्यत्र सङ्ख्यापूर्वो यः समासः स द्विगुसंज्ञको भवति ।। पूर्वसूत्रस्यायं शेषः।। उदा०—अत्र पूर्वसूत्रस्यैवोदाहरणानि बोद्धव्यानि । अन्यच्च - पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य = पञ्चेन्द्रः, दशेन्द्रः ।।

भाषार्थः—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहार में जो [सङ्ख्यापूर्वः] सङ्ख्यापूर्व समास है, वह [द्विगुः] द्विगुसंज्ञक होता है ।। यह सूत्र पूर्वसूत्र का शेष है ।। पञ्चेन्द्रः की सिद्धि हम परि० १।२।४९ पर दिखा चुके हैं, शेष उदाहरण पूर्वसूत्र के ही हैं ।।

सप्तमी तत्पुरुष

कुत्सितानि कुत्सनैः ।।२।१।५२।।

कुत्सितानि १।३।। कुत्सनैः ३।३।। अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ।। अर्थः—कुत्सितवाचीनि सुबन्तानि कुत्सनवचनैः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—वैयाकरणश्चासौ खसूचिश्च = वैयाकरणखसूचिः । याज्ञिककितवः । मीमांसकदुर्दुरूढः ।।

भाषार्थः—[कुत्सितानि] कुत्सितवाची (निन्दावाची) सुबन्त [कुत्सनैः] कुत्सनवाची (निन्दावाची) समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।।

यहाँ से पहले-पहले के सब सूत्र विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२।१।५६) के अपवाद है। उस सूत्र से समास करते,तो "खसूचिः" आदि के विशेषणवाची उपसर्जन-संज्ञक होने से उनका पूर्वनिपात होता। यहाँ परनिपात हो गया, यही पृथक् सूत्र बनाने का प्रयोजन है। ऐसा सर्वत्र इन सूत्रों में जानना चाहिये ॥

उदा०—वैयाकरणखसूचिः (आकाश की ओर देखनेवाला वैयाकरण, अर्थात् ऐसा वैयाकरण जो कि व्याकरण की बात पूछने पर आकाश की ओर देखने लगे, बता न सके)। याज्ञिककितवः (ऐसा याज्ञिक जो यज्ञ के अनधिकारियों के यहाँ भी यज्ञ कराये)। मीमांसकदुर्दुरूढः (नास्तिक मीमांसक) ॥

यहाँ से 'कुत्सनैः' की अनुवृत्ति २।१।५३ तक जाती है ॥

पापाणके कुत्सितैः ॥२।१।५३॥ सामानाधिकरण तत्पुरुष

पापाणके १।२॥ कुत्सितैः ३।३॥ स०—पापञ्च अणकञ्च पापाणके, इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कुत्सनैः, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पाप अणक इत्येतौ कुत्सनवाचिनौ सुबन्तौ कुत्सितवाचिभिः समाना-धिकरणैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ पूर्वसूत्रस्याप-वादोऽयम् ॥ उदा०—पापश्चासौ नापितश्च=पापनापितः, पापकुलालः। अणक-नापितः, अणककुलालः ॥

भावार्थः—[पापाणके] पाप और अणक जो कुत्सनवाची सुबन्त, वे समाना-धिकरण [कुत्सितैः] कुत्सितवाची सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। कुत्सनवाची पाप अणक शब्द थे ही, सो समास पूर्वसूत्र से हो ही जाता, पुनः आरम्भ पूर्वनिपा-तार्थ है ॥ उदा०—पापनापितः (पापी नाई), पापकुलालः। अणकनापितः (निन्दित नाई), अणककुलालः (निन्दित कुम्हार) ॥ सामानाधिकरण तत्पुरुष

उपमानानि सामान्यवचनैः ॥२।१।५४॥

उपमानानि १।३॥ सामान्यवचनैः ३।३॥ स०—सामान्यम् उक्तवन्त इति समा-न्यवचनाः,तैः, तत्पुरुषः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—उपमानवाचीनि सुबन्तानि समानाधिकरणैः सामान्यवचनैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उपमीयते अनेन इति उपमानम् ॥ उदा०—घन इव श्यामः=घनश्यामो देवदत्तः। शस्त्री इव श्यामा= शस्त्रीश्यामा देवदत्ता ॥

भावार्थः—[उपमानानि] उपमानवाची सुबन्त [सामान्यवचनैः] सामान्यवाची

समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

जिस वस्तु से किसी की उपमा दी जाये,वह वस्तु उपमान होती है। तथा जिसकी दी जाय, वह उपमेय होता है । उदाहरणों में घन तथा शस्त्री उपमान, व देवदत्त तथा देवदत्ता उपमेय हैं ।। जिस विशेष गुण को लेकर उपमेय में उपमान का साम्य दिखाया जाये,वह सामान्य=साधारण धर्म कहलाता है। यथा पूर्वोक्त एक उदाहरण में शस्त्री के श्यामत्व गुण का साम्य देवदत्ता में दिखाया है । श्यामत्व गुण से विशिष्ट श्यामा है, सो श्यामा सामान्यवचन है । अतः उसके साथ समास हुआ है ॥ जो शब्द उनकी समानता को बताये, वह तद्वाचक शब्द कहलाता है, जैसे—इव, यथा । ये ४ बातें उपमालङ्कार में होती हैं ।।

उदा०—घनश्यामो देवदत्तः (बादलों की तरह काला देवदत्त) । शस्त्रीश्यामा देवदत्ता (शस्त्री=आरी के समान जो काली देवदत्ता स्त्री) ।।

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ॥२।१।५५॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

उपमितं १।१॥ व्याघ्रादिभिः ३।३॥ सामान्याप्रयोगे ७।१॥ स०—व्याघ्र आदिर्येषां ते व्याघ्रादयः, तैः, बहुव्रीहिः । न प्रयोगः अप्रयोगः, सामान्यस्य अप्रयोगः सामान्याप्रयोगः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सामान्यस्य=साधारणधर्मवाचिशब्दस्य अप्रयोगे=अनुच्चारणे सति, उपमितं=उपमेयवाचि सुबन्तं समानाधिकरणैः व्याघ्रादिभिः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—पुरुषोऽयं व्याघ्र इव=पुरुषव्याघ्रः । पुरुषोऽयं सिंह इव=पुरुषसिंहः ॥

भाषार्थः—[सामान्याप्रयोगे] साधारणधर्मवाची शब्द के अप्रयोग=अनुच्चारण होने पर [उपमितम्] उपमेयवाची सुबन्त का समानाधिकरण [व्याघ्रादिभिः] व्याघ्रादि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ।। पूर्वसूत्र का यह अपवादसूत्र पूर्वनिपातार्थ है ॥

उदा०—पुरुषव्याघ्रः (व्याघ्र के समान शूरवीर पुरुष); पुरुषसिंहः ॥ उदाहरण में पुरुष उपमेय,और व्याघ्र उपमान है। साधारणधर्म शूरता है,अर्थात् शूरत्व को लेकर उपमा दी गई । सो उसका यहां अप्रयोग है जहां प्रयोग होगा वहां समास नहीं होगा॥

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ॥२।१।५६॥

विशेषणं १।१॥ विशेष्येण ३।१॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—विशेषणवाचि सुबन्तं विशेष्यवाचिना

समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह बहुलं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—नीलञ्च तदुत्पलञ्च = नीलोत्पलम् । रक्तोत्पलम् ॥ बहुलवचनात् क्वचित् नित्यसमास एव—कृष्णसर्पः, लोहितशालिः ॥

भाषार्थः—[विशेषणम्] विशेषणवाची सुबन्त [विशेष्येण] विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ [बहुलम्] बहुल करके समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ 'बहुल' की व्याख्या हम २।१।३१में कर चुके हैं ॥ जो किसी की विशेषता को बताये, वह विशेषण अर्थात् भेदक होता है, तथा जिसकी विशेषता बताये वह विशेष्य होता है ॥

उदा०—नीलोत्पलम् (नीला कमल) । रक्तोत्पलम् (लाल कमल)। कृष्णसर्पः (काला साँप) । लोहितशालिः (लाल धान) ॥ उदाहरण में नील उत्पल की विशेषता को बताता है, अतः वह विशेषण है । तथा उत्पल विशेष्य है, तो समास हो गया है ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

यहाँ से "विशेषणं विशेष्येण" की अनुवृत्ति २।१।५७ तक जाती है ॥

पूर्व - अपर - प्रथम - चरम - जघन्य - समान - मध्य - मध्यम वीराः च

पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च ॥२।१।५७॥

पूर्वापर···—वीराः १।३॥ च अ० ॥ स०—पूर्वापर० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विशेषणं विशेष्येण, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर इत्येते विशेषणवाचिनः सुबन्ताः समानाधिकरणैः विशेष्यवाचिभिः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—पूर्वश्चासौ पुरुषश्च=पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । प्रथमपुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । समानपुरुषः । मध्यपुरुषः । मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः ॥

भाषार्थः—[पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराः] पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर इन विशेषणवाची सुबन्तों का [च] भी विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ पूर्वसूत्र से ही समास सिद्ध था, पुनः यह सूत्र प्रपञ्चार्थ है ॥

उदा०—पूर्वपुरुषः (पहला पुरुष) । अपरपुरुषः (दूसरा पुरुष) । प्रथमपुरुषः । चरमपुरुषः (अन्तिम पुरुष) । जघन्यपुरुषः (क्रूर पुरुष)। समानपुरुषः (समान पुरुष) । मध्यपुरुषः (बीच का आदमी)। मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः (वीर पुरुष) ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

श्रेण्यादयः कृतादिभिः ॥२।१।५८॥

श्रेण्यादयः १।३॥ कृतादिभिः ३।३॥ स०—श्रेणिः आदिर्येषां ते श्रेण्यादयः, बहुव्रीहिः। कृत आदिर्येषां ते कृतादयः, तैः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—श्रेण्यादयः सुबन्ताः समानाधिकरणैः कृतादिभिः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अश्रेणयः श्रेणयः कृताः=श्रेणिकृताः। एककृताः ॥

भाषार्थः—[श्रेण्यादयः] श्रेण्यादि सुबन्त [कृतादिभिः] कृतादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।। उदा०—श्रेणिकृताः (जो पंक्ति में नहीं थे, उन्हें पंक्ति में किया)। एककृताः (जो एक नहीं थे, उनको एक किया गया)॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् ॥२।१।५९॥

क्तेन ३।१॥ नञ्विशिष्टेन ३।१॥ अनञ् १।१॥ स०—नञा एव विशिष्टः नञ्विशिष्टः, तेन, बहुव्रीहिः। न विद्यते नञ् यस्मिन् सोऽनञ्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अनञ् क्तान्तं सुबन्तं नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कृतं च तदकृतं च=कृताकृतम्। भुक्ताभुक्तम्। पीतापीतम् ॥

भाषार्थः—[अनञ्] अनञ्क्तान्त सुबन्त [नञ्विशिष्टेन] नञ्विशिष्ट (अर्थात् जिस शब्द में नञ् ही विशेष हो, अन्य सब प्रकृतिप्रत्यय आदि द्वितीय पद के तुल्य हों) समानाधिकरण [क्तेन] क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—कृताकृतम् (जो किया न किया बराबर हो)। भुक्ताभुक्तम् (जो खाया न खाया एक हो)। पीतापीतम् ॥ उदाहरण 'कृताकृतम्' आदि में पूर्वपद नञ्-रहित, तथा उत्तरपद नञ्विशिष्ट है। उत्तरपद में पूर्वपद से केवल नञ् ही विशेष है, अन्य सब प्रकृति प्रत्ययादि तुल्य हैं ॥ समानाधिकरण तत्पुरुष

सत् महत् परम उत्तम उत्कृष्ट

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः ॥२।१।६०॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः १।३॥ पूज्यमानैः ३।३॥ स०—सत् च महत् च परमश्च उत्तमश्च उत्कृष्टश्च सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सत्, महत्,

समानाधिकरण तत्पुरुष

परम, उत्तम, उत्कृष्ट इत्येते सुबन्ताः समानाधिकरणैः पूज्यमानैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—सन् चासौ पुरुषश्च=सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः ॥

भाषार्थः—[सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः] सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट सुबन्त समानाधिकरण [पूज्यमानैः] पूज्यमानवाची (पूजा के योग्य) सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥ ये सब सूत्र २।१।५६ के प्रपञ्च हैं ॥

उदा०—सत्पुरुषः (सज्जन पुरुष) । महापुरुषः । परमपुरुषः (परम पुरुष) । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः (अच्छा पुरुष) ॥ महापुरुषः में महत् को आन्महतः समानाधिकरण० (६।३।४४) से आत्व होता है, जो कि अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् के त् को हुआ है ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् ॥२।१।६१॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः ३।३॥ पूज्यमानम् १।१॥ स०—वृन्दारकश्च नागश्च कुञ्जरश्च वृन्दारकनागकुञ्जराः, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूज्यमानवाचि सुबन्तं वृन्दारक नाग कुञ्जर इत्येतैः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—गौश्चासौ वृन्दारकश्च=गोवृन्दारकः, अश्ववृन्दारकः । गोनागः, अश्वनागः । गोकुञ्जरः, अश्वकुञ्जरः ॥

भाषार्थः—[पूज्यमानम्] पूज्यमानवाची सुबन्त [वृन्दारकनागकुञ्जरैः] वृन्दारक नाग कुञ्जर इन समानाधिकरणवाची सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ गो अश्व पूज्यमानवाची थे, सो समास होकर उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से इनका पूर्व निपात हुआ है ॥

उदा०—गोवृन्दारकः (उत्तम बैल), अश्ववृन्दारकः । गोनागः (उत्तम बैल), अश्वनागः । गोकुञ्जरः (उत्तम बैल), अश्वकुञ्जरः ॥ समानाधिकरण तत्पुरुष

कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ॥२।१।६२॥

कतरकतमौ १।२॥ जातिपरिप्रश्ने ७।१॥ स०—कतरश्च कतमश्च कतरकतमौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । जातेः परितः प्रश्नः, जातिपरिप्रश्नः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—जातिपरिप्रश्नेऽर्थे वर्त्तमानौ कतर-कतमशब्दौ समर्थेन समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा

समस्येते तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कतरः कठः=कतरकठः, कतरकलापः । कतमकठः, कतमकलापः ॥

भाषार्थः—[जातिपरिप्रश्ने] जातिपरिप्रश्न, अर्थात् जाति के विषय में विविध प्रश्न में वर्त्तमान जो [कतरकतमौ] कतर कतम शब्द, वे समानाधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं,और वह तत्पुरुष समास होता है॥

उदा०—कतरकठः (इन दोनों में कौन कठ है), कतरकलापः । कतमकठः (इन सब में कौन कठ है), कतमकलापः ॥

किं क्षेपे ॥२।१।६३॥

किम् १।१॥ क्षेपे ७।१॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—किम् इत्येतत् सुबन्तं क्षेपे गम्यमाने समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कथंभूतः सखा =किंसखा योऽभिद्रुह्यति, किंराजा यो न रक्षति ॥

भाषार्थः—[किम्] किं सुबन्त का [क्षेपे] निन्दा गम्यमान होने पर समानाधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—किंसखा यो अभिद्रुह्यति (वह कैसा मित्र है अर्थात् मित्र नहीं है, जो द्रोह करता है), किंराजा यो न रक्षति (वह कैसा राजा है, जो प्रजा की रक्षा नहीं करता) ॥

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्त्तैर्जातिः ॥२।१।६४॥

पोटायुवति॰॰ धूर्तैः ३।३॥ जातिः १।१॥ स०—पोटा च युवतिश्च स्तोकश्च कतिपयं च गृष्टिश्च धेनुश्च वशा च वेहच्च बष्कयणी च प्रवक्ता च श्रोत्रियश्च अध्यापकश्च धूर्तश्च पोटा···धूर्ताः, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा,समासः ॥ अर्थः—पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहद्, बष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक, धूर्त्त इत्येतैः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह जातिवाचि सुबन्तं विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—इभा चासौ पोटा च=इभपोटा । इभयुवतिः । अग्निस्तोकः । उदश्वित्कतिपयम् । गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवेहत् । गोबष्कयणी । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । कठाध्यापकः । कठधूर्त्तः ॥

भाषार्थः—[जातिः] जातिवाची जो सुबन्त वह [पोटायुवति······धूर्तैः]

पोटा युवति आदि समानाधिकरण समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।। इभ, गो, कठ आदि जातिवाची सुबन्त हैं ।। यहाँ पर जाति विशेष्य है, पोटादि शब्द विशेषण हैं, सो २।१।५६ से समास प्राप्त था । पुनर्वचन विशेष्यवाचियों का पूर्वनिपात (२।२।३०) हो, विशेषण-वाचियों का नहीं, इसलिये है ।।

उदा०—इभपोटा (वन्ध्याहथिनी) । इभयुवति: (नौजवान हथिनी) । अग्नि-स्तोक: (थोड़ी अग्नि) । उदश्वित्कतिपयम् (कुछ मट्ठा) । गोगृष्टि: (एकबार प्रसूता गौ) । गोधेनु: (तत्काल ब्याई हुई गौ) । गोवशा (वन्ध्या गौ) । गोवेहत् (गर्भ-पातिनी गौ) । गोवष्कयणी (तरुण हैं बछड़े जिसके ऐसी गौ) । कठप्रवक्ता (कठ व्याख्याता) । कठश्रोत्रिय: (कठ वेद पढ़नेवाला) । कठाध्यापक: (कठ अध्यापक) । कठधूर्त: (कठ धूर्त) ।।

यहाँ से 'जाति:' की अनुवृत्ति २।१।६५ तक जायेगी ।।

प्रशंसावचनैश्च ।।२।१।६५।।

प्रशंसावचनै: ३।३।। च अ० ।। अनु०—जाति:, समानाधिकरणेन, तत्पुरुष:, विभाषा, सुप्,सह सुपा, समास: ।। अर्थ:—जातिवाचि सुबन्तं प्रशंसावचनै: समाना-धिकरणै: सुबन्तै: सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—ब्राह्मणश्चासौ तेजस्वी च = ब्राह्मणतेजस्वी । ब्राह्मणशूर: । गोप्रकाण्डम् । गोमतल्लिका । गोमर्चचिका ।।

भाषार्थ:—जातिवाची सुबन्त [प्रशंसावचनै:] प्रशंसावाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ [च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ।। प्रकाण्ड, मतल्लिका आदि प्रशंसावाची शब्द हैं ।।

युवा खलतिपलितवलिनजरतीभि: ।।२।१।६६।।

युवा १।१।। खलतिपलितवलिनजरतीभि: ३।३।। स०—खलतिश्च पलितश्च वलिनश्च जरती च खलति···जरत्य:, ताभि:, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ।। अनु०—समाना-धिकरणेन, तत्पुरुष:, विभाषा: सुप्, सह सुपा, समास: ।। अर्थ:—युवशब्द: खलति, पलित, वलिन, जरती इत्येतै: समानाधिकरणै: सुबन्तै: सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। उदा०—युवा खलति:=युवखलति: । युवा पलित:=युवपलित: । युवा वलिन:=युववलिन: । युवति: जरती=युवजरती ।।

भाषार्थः—[युवा] युवन् शब्द [खलतिपलितवलिनजरतीभिः] खलति, पलित, वलिन, जरती इन समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—युवखलतिः (नौजवान गञ्जा पुरुष)। युवपलितः (नौजवान सफेद बालोंवाला)। युववलिनः (नौजवान झुर्रीवाला)। युवजरती (नौजवानी में ही बूढ़ी हुई स्त्री) ॥ 'युवन् सु खलति सु' इस अवस्था में समास होकर नलोपः प्राति० (८।२।७) से युवन् के न् का लोप हो गया, शेष पूर्ववत् है ॥ स्त्रीलिङ्ग में 'युवति खलती' तथा 'युवति जरती' का समास होने पर १।२।४२ से कर्मधारय संज्ञा होकर, पुंवत् कर्मधारय० (६।३।४०) से पुंवद्भाव होकर युव रहा गया। शेष पूर्ववत् समझें ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष **कृत्यतुल्याख्या अजात्या ॥२।१।६७॥**

कृत्यतुल्याख्याः १।३॥ अजात्या ३।१॥ स०—तुल्यमाचक्षत इति तुल्याख्याः, उपपदतत्पुरुषः। कृत्याश्च तुल्याख्याश्च कृत्यतुल्याख्याः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कृत्यप्रत्ययान्ताः तुल्यपर्यायाश्च सुबन्ता अजातिवाचिना समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते,तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—भोज्यं चादः उष्णञ्च=भोज्योष्णम्। भोज्यलवणम्। पानीयशीतम् ॥ तुल्याख्याः—तुल्यश्वेतः, तुल्यमहान्। सदृश्श्वेतः, सदृशमहान् ॥

भाषार्थः—[कृत्यतुल्याख्याः] कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्त, तथा तुल्य के पर्यायवाची सुबन्त [अजात्या] अजातिवाची समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—भोज्योष्णम् (खाने योग्य गर्म पदार्थ)। भोज्यलवणम् (भोजन योग्य नमकीन पदार्थ)। पानीयशीतम् (पीने योग्य शीतल पदार्थ) ॥ तुल्य की आख्यावाले—तुल्यश्वेतः (बराबर सफेद), तुल्यमहान् (बराबर महान्)। सदृशश्वेतः, सदृशमहान् ॥ भुजधातु से ण्यत् (३।१।१२४) प्रत्यय होकर भोज्य, तथा पा धातु से अनीयर् प्रत्यय होकर पानीय बना है। ये प्रत्यय कृत्याः (३।१।९५) से कृत्यसंज्ञक हैं। उष्ण लवणादि शब्द अजातिवाची हैं, सो पूर्ववत् समास हो गया है ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष **वर्णो वर्णेन ॥२।१।६८॥**

वर्णः १।१॥ वर्णेन ३।१॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—वर्णविशेषवाचि सुबन्तं वर्णविशेषवाचिना समाना-

धिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कृष्णश्चासौ सारङ्गश्च=कृष्णसारङ्गः। लोहितसारङ्गः। कृष्णशबलः। लोहितशबलः ॥

भाषार्थः—[वर्णः] वर्णविशेषवाची सुबन्त [वर्णेन] वर्णविशेषवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को विकल्प से प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा० --कृष्णसारङ्गः (काला और चितकबरा)। लोहितसारङ्गः (लाल और चितकबरा)। कृष्णशबलः (काला और चितकबरा)। लोहितशबलः ॥

कुमारः श्रमणादिभिः ॥२।१।६९॥

कुमारः १।१॥ श्रमणादिभिः ३।३॥ स०—श्रमणा आदिर्येषां ते श्रमणादयः,तैः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कुमारशब्दः समानाधिकरणैः श्रमणादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कुमारी चासौ श्रमणा च=कुमारश्रमणा। कुमारप्रव्रजिता ॥

भाषार्थः—[कुमारः] कुमार शब्द समानाधिकरण [श्रमणादिभिः] श्रमणादि समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—कुमारश्रमणा (कुमारी तपस्विनी)। कुमारप्रव्रजिता (कुमारी संन्यासिनी)॥ सूत्र २।१।६६ की सिद्धि के समान ही यहाँ भी पुंवद्भाव हुआ है ॥

चतुष्पादो गर्भिण्या ॥२।१।७०॥

चतुष्पादः १।३॥ गर्भिण्या ३।१॥ स०—चत्वारः पादा यासां ताः चतुष्पादः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः विभाषा,सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—चतुष्पाद्वाचिनः सुबन्ताः समानाधिकरणेन गर्भिणीशब्देन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—गौश्चासौ गर्भिणी च=गोगर्भिणी। महिषगर्भिणी। अजगर्भिणी ॥

भाषार्थः—[चतुष्पादः] चतुष्पादवाची (चार पैर हैं जिनके, पशु आदि) जो सुबन्त, वह समानाधिकरण [गर्भिण्या] गर्भिणी सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥

उदा०—गोगर्भिणी (गर्भिणी गाय)। महिषगर्भिणी (गर्भिणी भैंस)। अजगर्भिणी (गर्भिणी बकरी) ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

मयूरव्यंसकादयश्च ॥२।१।७१॥

मयूरव्यंसकादयः १।३॥ च अ० ॥ **स०**—मयूरव्यंसक आदिर्येषां, ते मयूरव्यंसकादयः, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ **अर्थः**—मयूरव्यंसकादयो गणशब्दाः समानाधिकरणे तत्पुरुषसञ्ज्ञका भवन्ति, समुदाया एव निपात्यन्ते ॥ **उदा०**—मयूरव्यंसकः । छात्रव्यंसकः ॥

भाषार्थः—[मयूरव्यंसकादयः] **मयूरव्यंसकादि गणपठित समुदायरूप शब्द [च] भी समानाधिकरण तत्पुरुषसंज्ञक होते हैं ॥**

उदा०—**मयूरव्यंसकः (बहुत चालाक मोर) । छात्रव्यंसकः(चालाक विद्यार्थी)** ॥

॥ इति प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

एकाधिकरण तत्पुरुष

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ॥२।२।१॥

पूर्वापराधरोत्तरम् १।१॥ एकदेशिना ३।१ एकाधिकरणे ७।१ (तृतीयार्थे सप्तमी) ॥ **स०**—पूर्वं च अपरं च अधरं च उत्तरं च पूर्वापराधरोत्तरम्, समाहारो द्वन्द्वः । एकं च तदधिकरणम् च एकाधिकरणम्, तस्मिन्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । एकदेशोऽस्यास्तीति एकदेशी,तेन एकदेशिना ॥ **अनु०**—तत्पुरुषः,विभाषा सुप्,सह सुपा, समासः ॥ **अर्थः**—पूर्व, अपर, अधर, उत्तर इत्येते सुबन्ताः एकाधिकरणवाचिना=एकद्रव्यवाचिना एकदेशिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते,तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ षष्ठीसमासापवादः ॥ **उदा०**—पूर्वं कायस्य=पूर्वकायः, नद्याः पूर्वं=पूर्वनदी । अपरं कायस्य=अपरकायः, वृक्षस्य अपरं=अपरवृक्षम् । कायस्य अधरं=अधरकायः, गृहस्य अधरं=अधरगृहम् । उत्तरं कायस्य=उत्तरकायः ॥

भाषार्थः—[पूर्वापराधरोत्तरम्] **पूर्व, अपर, अधर, उत्तर ये सुबन्त** [एकाधिकरणे] **एकाधिकरणवाची=एकद्रव्यवाची** [एकदेशिना] **एकदेशी(=अवयवी)समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥ एकदेश=अवयव जिसमें हो वह एकदेशी कहलाता है, अर्थात् समुदाय (=अवयवी) । अवयवी के एक द्रव्य होने पर ही समास होगा, अनेक द्रव्य होने पर नहीं । जैसे 'छात्राणां पूर्वम्' में अवयवी छात्र अनेक हैं, अतः समास नहीं होगा ॥**

उदा०—**पूर्वकायः (शरीर का पूर्वभाग), पूर्वनदी । अपरकायः (शरीर का अपर भाग), अपरवृक्षम् । अधरकायः (शरीर का निचला भाग), अधरगृहम् ।**

उत्तरकायः (शरीर का उत्तर भाग) ॥ उदाहरणों में काय नदी इत्यादि एकदेशी हैं। क्योंकि उन्हीं का अवयव पूर्व उत्तर है, सो अवयववाले हैं। और एक अधिकरण (=द्रव्य) भी हैं अनेक नहीं ॥ यह सूत्र षष्ठीसमास का अपवाद है। षष्ठीसमास होता, तो काय वा नदी का उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से पूर्वनिपात होता, अब पर निपात ही होता है ॥

यहाँ से 'एकदेशिनैकाधिकरणे' की अनुवृत्ति २।२।३ तक जायेगी ॥

अर्धं नपुंसकम् ॥२।२।२॥ एकाधिकरण तत्पुरुष

अर्धम् १।१॥ नपुंसकम् १।१॥ अनु०—एकदेशिनैकाधिकरणे, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गे वर्त्तमानो योऽर्द्धशब्दः, स एकाधिकरण-वाचिना एकदेशिना सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ समप्रविभागे अर्द्धशब्दो नपुंसके वर्त्तते, ततोऽन्यत्र पुंल्लिङ्गः ॥ अयमपि षष्ठीसमासा-पवादः ॥ उदा०—पिप्पल्याः अर्द्धम्=अर्द्धपिप्पली। अर्द्धकोशातकी ॥

भाषार्थः—[अर्द्धम्] अर्द्ध शब्द [नपुंसकम्] नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान हो,तो एकाधिकरणवाची एकदेशी सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ अर्द्ध शब्द आधे को कहने में नपुंसकलिङ्ग होता है, उससे अन्यत्र पुंल्लिङ्ग होता है ॥ यह भी षष्ठीसमास का अपवादसूत्र है ॥

उदा०—अर्द्धपिप्पली (पिप्पली का आधा)। अर्द्धकोशातकी (आधी तुरई) ॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् ॥२।२।३॥ तत्पुरुष

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याणि १।३॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—द्वितीय० इत्यत्रे-तरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—एकदेशिनैकाधिकरणे, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्य इत्येते सुबन्ताः एकाधिकरणवाचिना एकदेशिसुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ षष्ठीसमासा-पवादोऽयम् ॥ अन्यतरस्याम् ग्रहणेन पक्षे सोऽपि भवति, महाविभाषया तु विग्रहवाक्य-विकल्पः ॥ उदा०—द्वितीयं भिक्षायाः=द्वितीयभिक्षा । षष्ठीसमासपक्षे—भिक्षा-द्वितीयम्। तृतीयं भिक्षायाः=तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयम्। चतुर्थं भिक्षायाः=चतुर्थ-भिक्षा, भिक्षाचतुर्थम्। तुर्यं भिक्षायाः=तुर्यभिक्षा, भिक्षातुर्यम् ॥

भाषार्थः—[द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याणि] द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्य सुबन्त एका-धिकरणवाची एकदेशी सुबन्त के साथ [अन्यतरस्याम्] विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

यह सूत्र षष्ठीसमास का अपवाद है। महाविभाषा का अधिकार आ रहा है,

उससे विग्रहवाक्य भी रहेगा। और 'अन्यतरस्याम्' कहने से पक्ष में षष्ठीसमास भी होगा। षष्ठीसमास होने पर षष्ठ्यन्त शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्वनिपात होगा,यही विशेष है ॥

उदा०—द्वितीयभिक्षा (भिक्षा का दूसरा भाग), भिक्षाद्वितीयम्। तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयम्। चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थम्। तुर्यभिक्षा (भिक्षा का चौथा भाग), भिक्षातुर्यम् ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति २।२।४ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ॥२।२।४॥

प्राप्तापन्ने १।२॥ च अ० ॥ द्वितीयया ३।१॥ स०—प्राप्तश्च आपन्नं च प्राप्तापन्ने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—प्राप्त आपन्न इत्येतौ सुबन्तौ द्वितीयान्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—प्राप्तो जीविकां=प्राप्तजीविकः। द्वितीयासमासपक्षे—जीविकाप्राप्तः। आपन्नो जीविकाम्=आपन्नजीविकः, जीविकापन्नः ॥

भाषार्थः—[प्राप्तापन्ने] प्राप्त आपन्न सुबन्त [च] भी [द्वितीयया] द्वितीयान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

यह सूत्र द्वितीयातत्पुरुष (२।१।२३) का अपवाद है॥ उदाहरण में एकविभक्ति चापूर्वनिपाते (१।२।४४) से जीविका शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व हो जाता है ॥

उदा०—प्राप्तजीविकः (जीविका को प्राप्त किया)। द्वितीयासमास-पक्ष में —जीविकाप्राप्तः। आपन्नजीविकः (जीविका को प्राप्त किया), जीविकापन्नः ॥

तत्पुरुष

कालाः परिमाणिना ॥२।२।५॥

कालाः १।३॥ परिमाणिना ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ परिमाणमस्यास्तीति परिमाणी, तेन ॥ अर्थ—परिमाणवाचिनः कालशब्दाः परिमाणिवाचिना सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—मासो जातस्य=मासजातः। संवत्सरजातः। द्व्यहजातः। त्र्यहजातः ॥

भाषार्थः—परिमाणवाची [कालाः] काल शब्द [परिमाणिना] परिमाणिवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं,और वह तत्पुरुष समास होता है॥

यह सूत्र भी षष्ठीसमास का अपवाद है ॥ जात शब्द परिमाणी है, अर्थात् परिमाण=मास या संवत्सर का अवधारण उसी में है ॥ यहाँ परिमाणी के साथ समास कहने से सामर्थ्य से कालवाची शब्द भी परिमाण ही होंगे ॥ उदा०—मासजातः (एक महीने का पैदा हुआ) । संवत्सरजातः (एक साल का पैदा हुआ) । द्व्यहजातः । त्र्यहजातः ॥

नञ् ॥२।२।६॥ नञ तत्पुरुष

नञ् अ० ॥ अनु०—तत्पुरुषः,विभाषा सुप्,सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—नञ् इत्येतदव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—न ब्राह्मणः=अब्राह्मणः । अक्षत्रियः ॥

भाषार्थः—[नञ्] नञ् इस अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—अब्राह्मणः (जो ब्राह्मण नहीं) । अक्षत्रियः (जो क्षत्रिय नहीं) ॥

ईषदकृता ॥२।२।७॥ तत्पुरुष

ईषत् अ० ॥ अकृता ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः,विभाषा, सुप्,सह सुपा,समासः ॥ अर्थः—'ईषत्' इत्ययं शब्दोऽकृदन्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—ईषच्चासौ कडारः=ईषत्कडारः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्विकटः । ईषदुन्नतः ॥

भाषार्थः—[ईषत्] ईषत् शब्द [अकृता] अकृदन्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—ईषत्कडारः (थोड़ा पीला) । ईषत्पिङ्गलः (थोड़ा पीला) । ईषद्विकटः (थोड़ा बिगड़ा हुआ)। ईषदुन्नतः (थोड़ा उन्नत) ॥

षष्ठी ॥२।२।८॥ षष्ठी तत्पुरुष

षष्ठी १।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः । ब्राह्मणकम्बलः ॥

भाषार्थः—[षष्ठी] षष्ठ्यन्त सुबन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।४३ में देखें ॥

यहाँ से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति २।२।१७ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष 9

याजकादिभिश्च ॥२।२।९॥

याजकादिभिः ३।३॥ च अ० ॥ स०—याजक आदिर्येषां ते याजकादयः, तैः याजकादिभिः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—षष्ठी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—षष्ठ्यन्तं सुबन्तं याजकादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणस्य याजकः=ब्राह्मणयाजकः । ब्राह्मणपूजकः ॥

भाषार्थः—षष्ठ्यन्त सुबन्त [याजकादिभिः] याजकादि सुबन्तों के साथ [च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ समास पूर्व सूत्र से ही प्राप्त था, पुनर्वचन तृजकाभ्यां कर्त्तरि(२।२।१५) से निषेध प्राप्त होने पर पुनः षष्ठीसमास प्राप्त कराने के लिये है ॥

उदा०—ब्राह्मणयाजकः (ब्राह्मण का यज्ञ करानेवाला)। ब्राह्मणपूजकः (ब्राह्मण की पूजा करनेवाला) ॥

[षष्ठीसमास-निषेध-प्रकरणम्]

तत्पुरुष निषेध 0

न निर्द्धारणे ॥२।२।१०॥

न अ० ॥ निर्द्धारणे ७।१॥ अनु०—षष्ठी, तत्पुरुषः सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—निर्द्धारणे वर्त्तमानं षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते ॥ उदा०—मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः । कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा । धावतांध्वगानां शीघ्रतमः ॥

भाषार्थः—जाति गुण अथवा क्रिया के द्वारा समुदाय में से एक के पृथक् करने को 'निर्धारण' कहते हैं ॥ [निर्द्धारणे] निर्धारण में वर्त्तमान षष्ठ्यन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास [न] नहीं होता है ॥ यह सारा प्रकरण षष्ठी (२।२।८) सूत्र से समास प्राप्त होने पर निषेध के लिये है ॥

उदा०—मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः (मनुष्यों में क्षत्रिय शूरतम होते हैं) । कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा (गौओं में काली गौ उत्तम और खूब दूध देनेवाली होती है) । धावतांध्वगानां शीघ्रतमः (रास्ता चलनेवालों में दौड़नेवाला शीघ्रगामी होता है) ॥

उदाहरण में सारे मनुष्यों में से क्षत्रियों को शूर कहा है, सो निर्द्धारण अर्थ है। अतः मनुष्य और क्षत्रिय का समास नहीं हुआ । इन उदाहरणों में यतश्च निर्धारणम् (२।३।४१) से षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति २।२।१६ तक जायेगी ॥

पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन ।।२।२।११।।

पूरणगुण ··· करणेन ३।१।। स०—सुहितोऽर्थो येषां ते सुहितार्थाः, बहुव्रीहिः । पूरणं च गुणश्च सुहितार्थाश्च सत् च अव्ययञ्च तव्यश्च समानाधिकरणञ्च पूरणगुण-सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणम्, तेन, समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ।। अर्थः—पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाचि, सुहितार्थ= तृप्त्यर्थक, सत्, अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त समानाधिकरणवाचि इत्येतैः सुबन्तैः सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते ।। उदा०—छात्राणां पञ्चमः । छात्राणां दशमः । गुण — बलाकायाः शौक्ल्यम् । काकस्य कार्ष्ण्यम् । सुहितार्थ—फलानां सुहितः । फलानां तृप्तः । सद्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् । ब्राह्मणस्य कुर्वाणः । अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा । ब्राह्मणस्य हृत्वा । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् । समानाधिकरण—शुकस्य माराविदस्य । राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य । पाणिनेः सूत्रकारस्य ।।

भाषार्थः—[पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन] पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाची शब्द, सुहित=तृप्ति अर्थवाले, सत्संज्ञक प्रत्यय, अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त, तथा समानाधिकरणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त समास को प्राप्त नहीं होता है ।।

उदा०—छात्राणां पञ्चमः (छात्रों में पाँचवां), छात्राणां दशमः । गुण — बलाकायाः शौक्ल्यम् (बगुले की सफेदी), काकस्य कार्ष्ण्यम् । सुहितार्थ — फलानां सुहितः (फलों की तृप्ति), फलानां तृप्तः । सद्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् (ब्राह्मण का कार्य करता हुआ), ब्राह्मणस्य कुर्वाणः । अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा (ब्राह्मण का कार्य करके), ब्राह्मणस्य हृत्वा । तव्य — ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् (ब्राह्मण के करने योग्य)। समानाधि-करण — शुकस्य माराविदस्य (माराविद नाम के तोते का), राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य (पाटलिपुत्रक राजा का), पाणिनेः सूत्रकारस्य ।।

पञ्चमः आदि में तस्य पूरणे डट् (५।२।४८) से डट् प्रत्यय, तथा नान्तादसङ्-ख्या० (५।२।४९) से मट् आगम पूरण अर्थ में हुआ है । शौक्ल्यम् आदि गुणवाची शब्द हैं । तौ सत् (३।२।१२७) से शतृ शानच् प्रत्ययों की सत् संज्ञा कही है । कुर्वन् कुर्वाणः में शतृ शानच् प्रत्यय हुए हैं । कृत्वा हृत्वा में 'क्त्वा' प्रत्यय है, उसकी क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३९) से अव्यय संज्ञा है, सो समास नहीं हुआ । शुकस्य माराविदस्य आदि समानाधिकरणवाले शब्द हैं, क्योंकि वही शुक है और वही माराविद नामवाला है । इसी प्रकार औरों में भी समझना चाहिये ।।

क्तेन च पूजायाम् ।।२।२।१२।। न षष्ठी तत्पुरुष

क्तेन ३।१।। च अ० ।। पूजायाम् ७।१।। अनु०—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्,

सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूजायां यः क्तप्रत्ययो विहितः, तेन सह षष्ठी न समस्यते॥ मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८) इत्यनेन विहितः क्तप्रत्ययोऽत्र पूजाशब्देन लक्ष्यते ॥ उदा०—राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः ॥

भाषार्थः—[पूजायाम्] पूजा के अर्थ में जो [क्तेन] क्त प्रत्यय का विधान है, उसके साथ [च] भी षष्ठयन्त सुबन्त समास को प्राप्त नहीं होता ॥ मतिबुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च इस सूत्र से जो क्त विहित है, उसी का उपलक्षण यहाँ पर पूजायाम् शब्द से किया गया है ॥ उदा०—राज्ञां मतः (राजाओं का माना हुआ) । राज्ञां बुद्धः (राजाओं का जाना हुआ) । राज्ञां पूजितः (राजाओं का पूजित) ॥

यहाँ से 'क्तेन' की अनुवृत्ति २।२।१३ तक जायेगी ॥

षष्ठी-तत्पुरुष निषेध अधिकरणवाचिना च ॥२।२।१३॥

अधिकरणवाचिना ३।१॥ च अ० ॥ अनु०—क्तेन, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अधिकरणवाचिना क्तेन सह षष्ठी न समस्यते ॥ उदा०—इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् ॥

भाषार्थः—[अधिकरणवाचिना] अधिकरणवाची क्तप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ [च] भी षष्ठयन्त सुबन्त समास को प्राप्त नहीं होता ॥

उदा०—इदमेषां यातम् (यह इनके जाने का रास्ता) । इदमेषां भुक्तम् (यह इनके भोजन का स्थान) ॥ क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगति० (३।४।७६) सूत्र से अधिकरण में क्त विधान किया गया है ॥

तत्पुरुष निषेध कर्मणि च ॥२।२।१४॥

कर्मणि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कर्मणि या षष्ठी सा समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते ॥ उभय-प्राप्तौ कर्मणि (२।३।६६) इत्यनेन या कर्मणि षष्ठी विधीयते, तस्या एवात्र ग्रहणम्॥ उदा०—आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । रोचते मे मोदकस्य भोजनं बालेन ॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म में जो षष्ठी विहित है, वह [च] भी समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त नहीं होती ॥

उदा०—आश्चर्यो गवां दोहो अगोपालकेन (अगोपालक का दूध दुहना आश्चर्य का विषय है) । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन (मुझे देवदत्त का चावल खाना

प्रिय है)। रोचते मे ओदनस्य भोजनं बालेन (मुझे बालक का लड्डू खाना प्रिय है)॥ 'गवाम्, ओदनस्य' आदि में उभयप्राप्तौ कर्मणि (२।३।६६) सूत्र से कर्म में षष्ठी हुई है, तो उनका प्रकृत सूत्र से भोजन आदि समर्थ सुबन्तों के साथ समास नहीं हुआ है॥

यहाँ से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति २।२।१५ तक जायेगी॥

तृजकाभ्यां कर्त्तरि ॥२।२।१५॥ षष्ठी - तत्पुरुष निषेध

तृजकाभ्या ३।२॥ कर्त्तरि ७।१॥ स०—तृज० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—कर्मणि, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—कर्त्तरि यौ तृच्-अकौ ताभ्यां सह कर्मणि या षष्ठी सा न समस्यते॥ उदा०—पुरां भेत्ता। अपां स्रष्टा। यवानां लावकः। कूपस्य खनकः॥

भाषार्थः—[कर्त्तरि] कर्त्ता में जो [तृजकाभ्याम्] तृच् और अकप्रत्ययान्त सुबन्त उनके साथ कर्म में जो षष्ठी वह समास को नहीं प्राप्त होती॥ यहाँ कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्म में षष्ठी होती है॥

उदा०—पुरां भेत्ता (पुरों को तोड़नेवाला)। अपां स्रष्टा (जलों को उत्पन्न करनेवाला)। यवानां लावकः (जौ को काटनेवाला)। कूपस्य खनकः (कूएं को खोदनेवाला)॥

यहाँ से 'अकः' की अनुवृत्ति २।२।१७ तक जायेगी॥

[1]कर्त्तरि च ॥२।२।१६॥ तत्पुरुष - निषेध

कर्त्तरि ७।१॥ च अ०॥ अनु०—अक, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः॥ अर्थः—कर्त्तरि या षष्ठी साऽकान्तेन सह न समस्यते॥ उदा०—तव शायिका। मम जागरिका॥

भाषार्थः—[कर्त्तरि] कर्त्ता में जो षष्ठी, वह [च] भी अकप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त नहीं होती है॥ 'वु' को युवोरनाकौ (७।१।१) से जो अक हुआ है, उसका ही इन दोनों सूत्रों में ग्रहण है॥

नित्यं क्रीडाजीविकयोः ॥२।२।१७॥ तत्पुरुष

नित्यं १।१॥ क्रीडाजीविकयोः ७।२॥ स०—क्रीडा च जीविका च क्रीडाजीविके, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—अक, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः॥

---

१. २।२।१५, १६ इन दो सूत्रों का व्याख्यान काशिका में महाभाष्य के विरुद्ध होने से मान्य नहीं॥ देखो—अष्टा० भाष्य स्वामी द० कृत, पृ० २४४।

अर्थः—क्रीडार्थे जीविकार्थे च षष्ठ्यन्तं सुबन्तं अकान्तेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । जीविकायाम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः ॥

भाषार्थः—[क्रीडाजीविकयोः] क्रीडा और जीविका अर्थ में षष्ठ्यन्त सुबन्त अक अन्तवाले सुबन्त के साथ [नित्यम्] नित्य ही समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है । विभाषा का अधिकार आ रहा था । अतः उसकी निवृत्ति के लिये यहाँ नित्य शब्द का ग्रहण है । सो पक्ष में विग्रह-वाक्य नहीं बनेगा ॥ षष्ठी (२।२।८) सूत्र से यहाँ समास प्राप्त ही था, पुनः यह सूत्र क्रीडाविषय में नित्य समास हो जावे, पक्ष में विग्रहवाक्य न रहे इसलिये है । तथा जीविका-विषय में षष्ठीसमास का तृजकाभ्यां कर्त्तरि (२।२।१५) से निषेध प्राप्त था, वहाँ भी समास हो जावे, इसलिये यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति २।२।१९ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

कुगतिप्रादयः ॥२।२।१८॥

कुगतिप्रादयः १।३॥ स०—प्र आदिर्येषां ते प्रादयः, कुश्च गतिश्च प्रादयश्च कुगतिप्रादयः, बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः ॥ अनु०—नित्यं, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कुशब्दो, गतिसंज्ञकाः, प्रादयश्च शब्दाः समर्थेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कुब्राह्मणः, कुपुरुषः । गतिः—उररीकृत्य, उररीकृतम् । प्रादयः—दुष्पुरुषः । सुपुरुषः । अतिपुरुषः ॥

भाषार्थः—[कुगतिप्रादयः] कु, गतिसञ्ज्ञक और प्रादि शब्द समर्थ सुबन्त के साथ समास को नित्य ही प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुषसंज्ञक समास होता है ॥

उदा०—कुब्राह्मणः (बुरा ब्राह्मण), कुपुरुषः (बुरा पुरुष) । गतिः—उररीकृत्य (स्वीकार करके), उररीकृतम् । प्रादयः—दुष्पुरुषः (दुष्ट पुरुष) । सुपुरुषः (अच्छा पुरुष) । अतिपुरुषः (अच्छा पुरुष) ॥

यहाँ कु शब्द अव्यय लिया गया है । उररीकृत्य की गति संज्ञा ऊर्यादिच्विडाचश्च (१।४।६०) से होती है । इनकी सिद्धि १।४।५९ के समान ही जानें ॥

तत्पुरुष

उपपदमतिङ् ॥२।२।१९॥

उपपदम् १।१॥ अतिङ् १।१॥ स०—न तिङ् अतिङ्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नित्यं, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अतिङन्तम् उपपदं समर्थेन शब्दान्तरेण सह नित्यं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कुम्भं करोति=कुम्भकारः, नगरकारः ॥

भाषार्थः—[अतिङ्] तिङ्‌भिन्न जो [उपपदम्] उपपद, वह समर्थ शब्दान्तर के साथ नित्य समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ उदा०—कुम्भकारः (कुम्हार), नगरकारः (नगर बनानेवाला) ॥

सिद्धि परि० १।१।३८ में की गई स्वादुङ्कारम् के समान ही है। भेद केवल यहाँ इतना है कि कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय हुआ है, णमुल् नहीं। शेष उसी के समान है ॥

यहाँ से 'उपपदम्' की अनुवृत्ति २।२।२२ तक जायेगी ॥

अमैवाऽव्ययेन ॥२।२।२०॥

अमा ३।१॥ एव अ० ॥ अव्ययेन ३।१॥ अनु०—उपपदम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अव्ययेन उपपदस्य यः समासः, सोऽमन्तेन अव्ययेनैव सह भवति, नान्येन ॥ उदा०—स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—यह सूत्र नियमार्थ है। [अव्ययेन] अव्यय के साथ उपपद का यदि समास होता है, तो वह [अमा] अमन्त अव्यय के साथ [एव] ही होता है, अन्य अव्ययों के साथ नहीं ॥

उदाहरणों की सिद्धि क्त्वोतोसुन्कसुनः (१।१।३८) के परि० में देखें। क्त्वोतोसुन्कसुनः से ही इनकी अव्यय संज्ञा होती है। स्वादुम् आदि मकारान्त शब्द उपपद हैं ॥

विशेषः—यहाँ उपपद का समास पूर्वसूत्र से सिद्ध था। अतः नियम हो जाता है। पुनः 'एवकार अमन्त उपपद का ही विशेषण हो,' इस इष्ट का अवधारण करने के लिये है। अर्थात् जिस सूत्र के द्वारा केवल अम् (णमुलादि) प्रत्यय का ही विधान हो, वहीं तदन्त के साथ समास हो। क्त्वा णमुल् दोनों प्रत्ययों का जहाँ एक साथ विधान हो, वहाँ इस सूत्र से समास न हो। यथा—अग्रे भुक्त्वा, अग्रे भोजम्, यहाँ विभाषाऽग्रेप्रथम० (३।४।२४) से दोनों प्रत्ययों का विधान है, अतः प्रकृत सूत्र से समास नहीं हुआ ॥

यहाँ से 'अमैवाव्ययेन' की अनुवृत्ति २।२।२१ तक जायेगी ॥

तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् ॥२।२।२१॥

तृतीयाप्रभृतीनि १।३॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—तृतीया प्रभृति येषां तानि तृतीयाप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अमैवाव्ययेन, उपपदम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—उपदंशस्तृतीयायाम् (३।४।४७) इति सूत्रमारभ्य यानि उपपदानि, तानि

तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि अमन्तेनैवाव्ययेन सह अन्यतरस्यां समस्यन्ते ॥ उदा०—मूलकोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते । उच्चैःकारम् आचष्टे, उच्चैः कारम् । यष्टिग्राहम्, यष्टिं ग्राहम् ॥

भाषार्थः – [तृतीयाप्रभृतीनि] तृतीयाप्रभृति उपदंशस्तृतीयायाम् (३।४।४७) सूत्र से आरम्भ करके अन्वच्यानुलोम्ये (३।४।६४ तक) जो उपपद हैं, वे अमन्त अव्यय के साथ ही [अन्यतरस्याम्] विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं ॥

उदा०—मूलकोपदंशं भुङ्क्ते (मूली को दाँत से काटकर खाता है), मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते । उच्चैःकारम् आचष्टे (दुःख की बात को भी ऊँचे स्वर से कहता है), उच्चैः कारम् । यष्टिग्राहं (लाठी लेकर), यष्टिं ग्राहम् ॥

पूर्वसूत्र की तरह 'उपदंशम्' आदि की अव्यय संज्ञा मकारान्त होने से है। उपदंशस्तृ० (३।४।४७) से उपपूर्वक 'दंश दशने' धातु से णमुल् प्रत्यय हुआ है । उच्चैःकारम् में कृ धातु से अव्ययेऽयथाभि० (३।४।५९) से णमुल् हुआ है । वृद्धि आदि पूर्ववत् हुई हैं । ग्रह धातु से द्वितीयायाञ्च (३।४।५३) से णमुल् प्रत्यय हुआ है। सो ये सब अमन्त अव्यय हैं, अतः मूलक आदि उपपद रहते विकल्प से समास हुआ है । असमासपक्ष में 'उच्चैःकारम्' उदाहरण में स्वर का भेद पड़ता है ॥ यहाँ महाविभाषा के आते हुये भी अन्यतरस्याम् 'नित्य' पद की अनुवृत्ति को हटाने के लिये है ।'

यहाँ से 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति २।२।२२ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष क्त्वा च ॥२।२।२२॥

क्त्वा ३।१॥ च अ० ॥ अनु०—तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि क्त्वाप्रत्ययान्तेन सह अन्यतरस्यां समस्यन्ते. तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा ॥

भाषार्थः—तृतीयाप्रभृति जो उपपद वे [क्त्वा] क्त्वाप्रत्ययान्त शब्दों के साथ [च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ पूर्वसूत्र से अमन्त में प्राप्त था, अतः यह सूत्र अन्यत्र भी विधान करे, इसलिये है ॥

उदा०—उच्चैःकृत्य (ऊँचा करके), उच्चैः कृत्वा ॥

समासपक्ष में क्त्वा को ल्यप् ७।१।३७ से हो गया । तथा असमासपक्ष में नहीं हुआ ॥ यहाँ से तत्पुरुष समास का अधिकार समाप्त हुआ ॥

[बहुव्रीहि-समास-प्रकरणम्]

बहुव्रीहि

शेषो बहुव्रीहिः ॥२।२।२३॥

शेषः १।१॥ बहुव्रीहिः १।१॥ अर्थः—उक्तादन्यः शेषः । शेषः समासो बहुव्रीहि-संज्ञको भवति, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अग्र एवोदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—जो ऊपर समास कहा गया है, उससे जो अन्य वह शेष है । [शेषः] शेष समास [बहुव्रीहिः] बहुव्रीहि-संज्ञक होता है, यह अधिकार २।२।२८ तक जानना चाहिये ॥

बहुव्रीहि

अनेकमन्यपदार्थे ॥२।२।२४॥

अनेकम् १।१॥ अन्यपदार्थे ७।१॥ स०—न एकम् अनेकम्, नञ्तत्पुरुषः । अन्य-श्चासः पदम् अन्यपदम्, तस्य अर्थः अन्यपदार्थः, तस्मिन्, कर्मधारयगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ अर्थः—अन्यपदार्थे वर्तमानम् अनेकं सुबन्तं परस्परं विभाषा समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ उदा०—प्राप्तम् उदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतः पशुः यस्मै स उपहृतपशुः । उद्धृत ओदनो यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली । चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः, शबलगुः । वीराः पुरुषाः यस्मिन् स वीरपुरुषको ग्रामः ॥

भाषार्थः—[अन्यपदार्थे] अन्यपदार्थ में वर्त्तमान [अनेकम्] अनेक सुबन्त परस्पर समास को विकल्प से प्राप्त होते हैं, और वह समास बहुव्रीहि-संज्ञक होता है ॥

उदा०—प्राप्तोदको ग्रामः (प्राप्त हो गया है पानी जिस गाँव को) । ऊढरथो-ऽनड्वान् (जिसके द्वारा रथ ले जाया गया ऐसा बैल) । उपहृतपशुः (जिसके लिये पशु भेंट किया गया ऐसा पुरुष) । उद्धृतौदना स्थाली (जिस से चावल निकाल लिया गया, वह बटलोई) । चित्रगुः, शबलगुः । वीरपुरुषको ग्रामः (वीर पुरुषोंवाला गाँव) ॥

बहुव्रीहि समास में अन्यपद का अर्थ प्रधान होता है । जैसा कि चित्रगुः उदाहरण में चित्राः गावः दो पद थे, तो चित्रगुः का अर्थ न चित्रित है न गौ है, प्रत्युत किसी तीसरे ही पदार्थ का 'जिसकी चित्रित गायें हैं', उसका बोध होता है । अतः अन्य पदार्थ का ही प्रधानत्व है । इसी प्रकार सब उदाहरणों में समझें ॥ सूत्र में 'अनेकम्' इसलिये कहा है कि दो पदों से अधिकों का भी बहुव्रीहि समास हो जावे ॥ चित्रगुः आदि की सिद्धि परि० १।२।४८ पर देखें ॥

सङ्ख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये ॥२।२।२५॥

सङ्ख्यया ३।१॥ अव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः १।३॥ सङ्ख्येये ७।१॥ स०—अव्ययञ्च आसन्नश्च अदूरश्च अधिकश्च सङ्ख्या च अव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ **अर्थः**— अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक, सङ्ख्या इत्येते सुबन्ताः सङ्ख्येये वर्त्तमानया संख्यया सह विभाषा समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ **उदा०**—उपदशाः । उपविंशाः । आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूरदशाः । अदूरविंशाः । अधिकदशाः । अधिकविंशाः । संख्या —द्वित्राः, त्रिचतुराः, द्विदशाः ॥

भाषार्थः—[सङ्ख्येये] सङ्ख्येय में वर्त्तमान जो [सङ्ख्यया] सङ्ख्या उसके साथ [अव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः] अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक तथा सङ्ख्या का समास विकल्प से हो जाता है, और वह बहुव्रीहिसमास होता है ॥ जिस पदार्थ का गणन किया जाये, वह सङ्ख्येय कहाता है । दशानां समीपं ये ते उपदशाः, यहाँ दस जो पदार्थ गणन किये गये हैं वे सङ्ख्येय हुये, उनके जो समीप हैं, वे उपदशाः हैं । इस प्रकार सङ्ख्येय में वर्त्तमान दशन् सङ्ख्या है ॥

दिङ्नामान्यन्तराले ॥२।२।२६॥

दिङ्नामानि १।३॥ अन्तराले ७।१॥ स०—दिशां नामानि दिङ्नामानि, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अनु०**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ **अर्थः**—दिङ्नामानि सुबन्तानि अन्तराले वाच्ये परस्परं विभाषा समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ **उदा०**—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दक्षिणपूर्वा दिक् । पूर्वोत्तरा । उत्तरपश्चिमा, पश्चिमदक्षिणा ॥

भाषार्थः—[दिङ्नामानि] दिशा के नामवाची सुबन्तों का [अन्तराले] अन्तराल अर्थात् दो दिशाओं के बीच की दिशा (कोना) वाच्य हो, तो परस्पर विकल्प से समास होता है, और वह बहुव्रीहिसमास होता है ॥ उदाहरणों की सिद्धियाँ परि० १।१।२७ में देखें ॥

तत्र तेनेदमिति सरूपे ॥२।२।२७॥

तत्र अ०॥ तेन ३।१॥ इदम् १।१॥ इति अ०॥ सरूपे १।२॥ स०—समानं रूपं ययोस्ते सरूपे, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ **अर्थः**—'तत्र' इति सप्तम्यन्ते सरूपे पदे, 'तेन' इति तृतीयान्ते सरूपे पदे, इदम् इत्येतस्मिन् अर्थे विभाषा समस्येते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ **उदा०**—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं

प्रवृत्तं=केशाकेशि, कचाकचि । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं=दण्डादण्डि, मुसलामुसलि ॥

भाषार्थः—[तत्र] सप्तम्यन्त, तथा [तेन] तृतीयान्त [सरूपे] सरूप दो सुबन्त परस्पर [इदम्] 'यह' [इति] इस अर्थ में विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह बहुव्रीहिसमास होता है ॥

उदा०—केशाकेशि (एक-दूसरे के केशों को पकड़-पकड़कर जो युद्ध हो वह युद्ध), कचाकचि । दण्डादण्डि (दोनों ओर से डण्डों से जो युद्ध हो वह युद्ध), मुसलामुसलि ॥ उदाहरणों में केशेषु केशेषु दण्डैश्च दण्डैश्च आदि परस्पर दोनों सरूप पद हैं, इदम्='यह' अर्थ है ही, सो समास हो गया ॥ केश आदि में दीर्घ अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३५) से होता है । तथा बहुव्रीहिसमास होने से यहाँ इच् कर्मव्यतिहारे (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय होकर केशाकेशि बना है । तिष्ठद्गु० (२।१।१६) गण में पाठ होने से इच्प्रत्ययान्त की अव्ययीभाव संज्ञा होती है । अतः उदाहरणों में नपुंसकलिङ्ग, तथा विभक्ति का लुक् होता है ॥

तेन सहेति तुल्ययोगे ॥२।२।२८॥ बहुव्रीहि

तेन ३।१॥ सह अ० ॥ इति अ० ॥ तुल्ययोगे ७।१॥ स०—तुल्येन योगः तुल्ययोगः, तस्मिन्,······तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ अर्थः—तुल्ययोगे वर्त्तमानं सह इत्येतद् अव्ययं तेनेति तृतीयान्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ उदा०—सह पुत्रेण आगतः=सपुत्रः । सच्छात्रः । सकर्मकरः ॥

भाषार्थः—[सह] सह [इति] यह अव्यय [तुल्ययोगे] तुल्ययोग में वर्तमान हो, तो [तेन] तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह समास बहुव्रीहि-संज्ञक होता है ॥

उदा०—सपुत्रः (पुत्र के साथ) । सच्छात्रः (छात्र के साथ) । सकर्मकरः (नौकर के साथ) ॥

तुल्य=समान (आगमन आदि क्रिया के साथ) योग अर्थात् सम्बन्ध को 'तुल्ययोग' कहते हैं। सो उदाहरण में 'पुत्र के साथ पिता आया है'।यहाँ आगमन क्रिया के साथ पिता-पुत्र दोनों का समान सम्बन्ध है,जो सह के द्वारा द्योतित होता है । अतः तुल्ययोग में सह वर्त्तमान है । पुत्रेण में तृतीया सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१९) से हुई

है। सह को स भाव वोपसर्जनस्य (६।३।८०) से हुआ है। सच्छात्रः में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, तथा स्तोः श्चुना० (८।३।३९) से श्चुत्व हुआ है। शेष पूर्ववत् है॥

द्वन्द्व

चार्थे द्वन्द्वः ॥२।२।२९॥

चार्थे ७।१॥ द्वन्द्वः १।१॥ स०—चस्य अर्थः चार्थः। तस्मिन् चार्थे, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—विभाषा, सुप्, समासः। अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) इत्यतः 'अनेकम्' मण्डूकप्लुतगत्यानुवर्त्तते॥ अर्थः—चार्थे वर्त्तमानम् अनेकं सुबन्तम् परस्परं विभाषा समस्यते, द्वन्द्वश्च समासो भवति॥ समुच्चयः, अन्वाचयः, इतरेतरयोगः, समाहारः इति चत्वारः चकारस्यार्थाः। तत्रेतरेतरयोगे, समाहारे च समासो भवति नान्यत्र, सामर्थ्याभावात्॥ उदा०—रामश्च लक्ष्मणश्च इति रामलक्ष्मणौ। रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्चेति रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः॥ समाहारे—पाणी च पादौ च=पाणिपादम्॥

भाषार्थः—[चार्थे] च के द्वारा द्योतित अर्थों में वर्त्तमान अनेक सुबन्तों का परस्पर विकल्प से समास हो जाता है, और वह [द्वन्द्वः] द्वन्द्व समास होता है॥

'च' के द्वारा चार अर्थ द्योतित होते हैं—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, और समाहार। इतरेतरयोग और समाहार में द्वन्द्व समास होता है, समुच्चय अन्वाचय में नहीं, सामर्थ्य का अभाव होने से॥ द्वन्द्वसमास में सारे पदों के अर्थ प्रधान होते हैं॥

उदा०—रामलक्ष्मणौ (राम और लक्ष्मण)। रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः (राम लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न)। समाहार में—पाणिपादम् (हाथ और पैर)॥

'राम सु लक्ष्मण सु' इस अवस्था में समासादि होकर पूर्ववत् ही रामलक्ष्मणौ बन गया। पाणिपादम्, यहाँ द्वन्द्वश्च प्राणि० (२।४।२) से एकवद्भाव हो जाता है॥

उपसर्जन

उपसर्जनं पूर्वम् ॥२।२।३०॥

उपसर्जनम् १।१॥ पूर्वम् १।१॥ अनु०—समासः॥ अर्थः—उपसर्जनसंज्ञकं समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्॥ तथा चैवोदाहृतम्॥

भाषार्थः—[उपसर्जनम्] उपसर्जनसंज्ञक शब्द का समास में [पूर्वम्] पहले प्रयोग करना चाहिये॥ प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३) से उपसर्जन संज्ञा होती है॥

यहाँ ऊपर से 'समासः' जो प्रथमान्त आ रहा था, वह अर्थ के अनुसार विभक्ति-विपरिणाम होकर सप्तमी में बदल जाता है ॥

यहाँ से 'उपसर्जनम्' की अनुवृत्ति २।२।३१ तक, तथा 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति २।२।३८ तक जायेगी ॥

राजदन्तादिषु परम् ॥२।२।३१॥

राजदन्तादिषु ७।३॥ परम् १।१॥ स०—राजदन्त आदिर्येषां ते राजदन्तादयः, तेषु, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपसर्जनम् ॥ अर्थः—राजदन्तादिषु गणशब्देषु उपसर्जनं परं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—दन्तानां राजा=राजदन्तः । वनस्य अग्रे=अग्रेवणम् ॥

भाषार्थः—[राजदन्तादिषु] राजदन्तादि गणशब्दों में उपसर्जनसंज्ञक का [परम्] पर प्रयोग होता है । पूर्वसूत्र से पूर्वनिपात प्राप्त होने पर इस सूत्र का आरम्भ है । अतः यहाँ 'पूर्वम्' पद की अनुवृत्ति आते हुये भी नहीं बिठाई ॥

उदा०—राजदन्तः (दाँतों का राजा) । अग्रेवणम् (वन के आगे) ॥

दन्तानां राजा, आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास है । सो दन्तानाम् उपसर्जन-संज्ञक है, अतः पूर्व प्रयोग न होकर परप्रयोग हुआ है । अग्रे में निपातन से सप्तमी का अलुक् माना है । वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिका० (८।४।४) से वनं के न को ण हो गया है ॥

द्वन्द्वे घि ॥२।२।३२॥

द्वन्द्वे ७।१॥ घि १।१॥ अनु०—पूर्वम् ॥ अर्थः—द्वन्द्वसमासे घिसंज्ञकं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—पटुश्च गुप्तश्चेति=पटुगुप्तौ । मृदुगुप्तौ ॥

भाषार्थः—[द्वन्द्वे] द्वन्द्वसमास में [घि] घि-संज्ञक का पहले प्रयोग करना चाहिये ॥ द्वन्द्वसमास में सभी पद प्रधान होते हैं, सो किसी का भी पूर्व प्रयोग हो सकता है । अतः इस सूत्र ने नियम किया कि घ्यन्त का ही पूर्व प्रयोग हो ॥

उदा०—पटुगुप्तौ (चतुर और गुप्त) । मृदुगुप्तौ ॥ शेषो घ्यसखि (१।४।७) से पटु तथा मृदु की घि-संज्ञा है ॥

यहाँ से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति २।२।३४ तक जायेगी ॥

अजाद्यदन्तम् ॥२।२।३३॥

अजाद्यदन्तम् १।१॥ स०—अच् आदिर्यस्य तत् अजादि, बहुव्रीहिः । अत् अन्ते यस्य तत् अदन्तम्, बहुव्रीहिः । अजादि चादः अदन्तं च अजाद्यदन्तम्, कर्मधारय-

तत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वन्द्वे, पूर्वम् ॥ अर्थः—द्वन्द्वसमासे अजाद्यदन्तं शब्दरूपं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशकम् ॥

भाषार्थः—द्वन्द्वसमास में [अजाद्यदन्तम्] अजाद्यदन्त शब्दरूप का पूर्व प्रयोग होता है ॥

उदा०—उष्ट्रखरम् (ऊंट और गधा) । उष्ट्रशशकम् (ऊंट और खरगोश) ॥ उदाहरणों में उष्ट्र शब्द अजादि तथा अदन्त है, अतः वह पहले आया है । खर एवं शशक केवल अदन्त हैं, अतः पूर्व प्रयोग नहीं हुआ है ॥ यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ द्वन्द्वसमास में कई अजाद्यदन्त शब्द होंगे, वहाँ 'बहुषु अनियमः' इस वचन से कोई भी अजाद्यदन्त पहले आ सकता है । जैसे—उष्ट्ररथेन्द्राः, इन्द्ररथोष्ट्राः ॥

अल्पाच्तरम् ॥२।२।३४॥

अल्पाच्तरम् १।१॥ स०—अल्पोऽच् यस्मिन् तत् अल्पाच्, बहुव्रीहिः ॥ द्वे इमे अल्पाची, इदमनयोरतिशयेन अल्पाच्, तत् अल्पाच्तरम् । द्विवचनविभज्यो० (५।३।५७) इत्यनेन तरप् प्रत्ययः ॥ अनु०—द्वन्द्वे,पूर्वम् ॥ अर्थः—द्वन्द्वे समासेऽल्पाच्तरं शब्दरूपं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—प्लक्षन्यग्रोधौ । धवखदिरपलाशाः ॥

भाषार्थः—[अल्पाच्तरम्] अल्पाच्तर शब्दरूप का द्वन्द्वसमास में पूर्व प्रयोग होता है ॥

उदा०—प्लक्षन्यग्रोधौ (पिलखन और वटवृक्ष) । धवखदिरपलाशाः ॥

प्लक्ष और न्यग्रोध में प्लक्ष अल्प अच्वाला है, तथा धवखदिरपलाशाः में धव अल्पाच्तर है, सो ये पहले आये हैं ॥ द्वन्द्वसमास में अनियम प्राप्त होने पर इन सूत्रों ने नियम कर दिया ॥

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ॥२।२।३५॥

सप्तमीविशेषणे १।२॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ स०—सप्तमी च विशेषणञ्च सप्तमीविशेषणे, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वम् ॥ अर्थः—बहुव्रीहिसमासे सप्तम्यन्तं विशेषणञ्च पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—कण्ठे स्थितः कालो यस्य स कण्ठेकालः । उरसिलोमा । विशेषणम्—चित्रगुः, शबलगुः ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहिसमास में [सप्तमीविशेषणे] सप्तम्यन्त जो पद, तथा विशेषणवाची जो पद हो, उसका पूर्व प्रयोग करना चाहिये ॥

बहुव्रीहिसमास में सभी पद उपसर्जन होते हैं। अतः कोई भी पद उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से पहले आ सकता था । कोई नियम नहीं था, सो यह सूत्र बनाया ॥

उदा०—कण्ठेकालः (कण्ठ में स्थित है काला पदार्थ जिसके) । उरसिलोमा (छाती में बाल हैं जिसके) । विशेषणम्—चित्रगुः, शबलगुः ॥ उदाहरणों में कण्ठे उरसि सप्तम्यन्त होने से पहले आये हैं । यहाँ अमूर्द्धमस्तकात् स्वा० (६।३।१०) से विभक्ति का अलुक् हुआ है । सप्तम्युपमान० (वा० २।२।२४) इस वार्त्तिक से समास, तथा स्थित शब्द का लोप हुआ है ॥ चित्र तथा शबल यह गौ के विशेषण हैं, सो पहले आये हैं ॥

यहाँ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति २।२।३७ तक जायेगी ॥

निष्ठा ॥२।२।३६॥

निष्ठा १।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ, पूर्वम् ॥ अर्थः—निष्ठान्तं शब्दरूपं बहुव्रीहौ समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—कटः कृतोऽनेन कृतकटः । भिक्षितभिक्षः । अवमुक्तोपानत्कः । आहूतसुब्रह्मण्यः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहिसमास में [निष्ठा] निष्ठान्त शब्दरूप का पहले प्रयोग होता है ॥ उदा०—कृतकटः (जिसने चटाई बना ली है) । भिक्षितभिक्षः (जिसने भिक्षा याचन करली है) । अवमुक्तोपानत्कः (जिसने जूता उतार दिया है) । आहूतसुब्रह्मण्यः (जिसने सुब्रह्मण्य को बुलाया है) ॥ कृत तथा भिक्षित आदि निष्ठान्त शब्द हैं ॥

यहाँ से 'निष्ठा' की अनुवृत्ति २।२।३७ तक जायेगी ॥

वाहिताग्न्यादिषु ॥२।२।३७॥

वा अ० ॥ आहिताग्न्यादिषु ७।३॥ स०—आहिताग्निः आदिर्येषां ते आहिताग्न्यादयः, तेषु, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—निष्ठा, बहुव्रीहौ, पूर्वम् ॥ अर्थः—पूर्वेण नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्प उच्यते ॥ आहिताग्न्यादिषु निष्ठान्तं शब्दरूपं बहुव्रीहौ समासे पूर्वं वा प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—आहितोऽग्निः येन स आहिताग्निः, अग्न्याहितः । जातपुत्रः, पुत्रजातः ॥

भाषार्थः—[आहिताग्न्यादिषु] आहिताग्न्यादिगण में पठित निष्ठान्त शब्दों का बहुव्रीहिसमास में [वा] विकल्प से पूर्व प्रयोग करना चाहिये, अर्थात् पूर्वप्रयोग तथा परप्रयोग दोनों होंगे ॥ पूर्वसूत्र से नित्य ही निष्ठान्त का पूर्वप्रयोग प्राप्त था, विकल्प कह दिया ॥ उदा०—आहिताग्निः (जो अग्न्याधान कर चुका), अग्न्याहितः । जातपुत्रः (जिसके पुत्र उत्पन्न हुआ), पुत्रजातः ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति २।२।३८ तक जायेगी ॥

कडाराः कर्मधारये ॥२।२।३८॥

कडाराः १।३।। कर्मधारये ७।१।। अनु०—वा, पूर्वम् ॥ अर्थः—कर्मधारये समासे कडारादयः शब्दा वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः ॥ उदा०—कडारश्चासौ जैमिनिश्च कडारजैमिनिः, जैमिनिकडारः ॥

भाषार्थः—[कर्मधारये] कर्मधारयसमास में [कडाराः] कडारादि शब्दों का विकल्प से पूर्वप्रयोग होता है ॥ 'कडाराः' में बहुवचन होने से कडारादिगण लिया गया है ॥ विशेषणं विशेष्येण० (२।१।५६) से समास होने पर विशेषण का पूर्व-निपात उपसर्जनं० (२।२।३०) से प्राप्त था, यहाँ विकल्प कह दिया ॥ उदा०—कडारजैमिनिः (पीला जैमिनि), जैमिनिकडारः ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

[विभक्ति-प्रकरणम्]

अनुत १

अनभिहिते ॥२।३।१॥

अनभिहिते ७।१।। स०—न अभिहितम् अनभिहितम्, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—अनभिहिते = अकथिते = अनुक्ते = अनिर्दिष्टे कर्मादौ विभक्तिर्भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ सामान्येन आपादपरिसमाप्तेः अधिकारोऽयं वेदितव्यः । विशेषतस्तु कारकविभक्तिष्वेव प्रवर्त्तते, न तु उपपदविभक्तिषु, तत्रानावश्यकत्वात् ॥ केनान-भिहितम् ? तिङ्कृत्तद्धितसमासैः ॥ उदा०—कटं करोति । ग्रामं गच्छति ॥ 'कटम्, ग्रामम्' इत्यत्रानभिहितत्वात् कर्मणि द्वितीया (२।३।२) इति द्वितीया भवति ॥

भाषार्थः—[अनभिहिते] अनभिहित = अकथित = अनुक्त = अनिर्दिष्ट कर्मादि कारकों में आगे कही हुई विभक्तियाँ होती हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ यह अधिकार सामान्यतया पाद के अन्त तक है । पर विशेषतया कारक-विभक्तियों में ही प्रवृत्त होता है, उपपद-विभक्तियों (अर्थात् अमुक के योग में अमुक विभक्ति होती है) में अनावश्यक होने से प्रवृत्त नहीं होता ॥ अब प्रश्न होता है, किसके द्वारा अन-भिहित ? सो तिङ् कृत् तद्धित एवं समास के द्वारा अनभिहित लिया गया है । जैसा कि—'देवदत्तः कटं करोति' यहाँ 'करोति' तिङन्त पद में तिप् कर्त्ता में आया है । अतः उसका कर्त्ता के साथ ही समानाधिकरण है, अर्थात् कर्त्ता को ही तिङन्त पद कहता है, 'कट' कर्म को नहीं कहता । सो यह 'कट' अनभिहित कर्म हो गया, अतः कर्मणि द्वितीया (२।३।२) से अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति हो गई है ।

इसी प्रकार ग्रामं गच्छति में जानें ।। अनभिहित कहने से अभिहित कर्मादि कारकों में विभक्तियाँ नहीं होतीं । जैसा कि—'क्रियते कटः देवदत्तेन' यहाँ 'क्रियते' में 'त' कर्मवाच्य में आया है । सो कर्म के साथ समानाधिकरण होने से कर्म को ही कहता है,कर्त्ता को नहीं । अतः यहाँ 'कट' अभिहित कर्म है। सो कट में पहले के समान द्वितीया विभक्ति नहीं हुई, अपितु प्रातिपदिकार्थ० (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति हो गई है । जो तिङ् से अभिहित है, उसका जो वचन होगा, वही क्रिया का भी होगा, यह भी समझना चाहिये ।।

इसी प्रकार कृत् में 'कृतः कटः देवदत्तेन' यहाँ 'कृतः' में 'क्त' कर्म में आया है, अतः कर्म को कहता है । सो कर्म कृत् के द्वारा अभिहित है । अतः उसमें द्वितीया न होकर पूर्वोक्तानुसार प्रथमा हो गई है । देवदत्त कर्त्ता 'क्त' के द्वारा अभिहित नहीं है, अतः अनभिहित कर्त्ता में कर्तृकरणयो० (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हुई है ।। इसी प्रकार तद्धित तथा समास के विषय में भी समझ लेना चाहिये । यह सब द्वितीयावृत्ति का विषय है, अतः अधिक नहीं दिया ।

द्वितीया

कर्मणि द्वितीया ।।२।३।२।।

कर्मणि ७।१।। द्वितीया १।१।। अनु०—अनभिहिते ।। अर्थः—अनभिहिते कर्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति ।। उदा०—ग्रामं गच्छति । कटं करोति ।।

भाषार्थः—अनभिहित [कर्मणि] कर्म में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है ।। पूर्व सूत्र में 'कट' अनभिहित कैसे है, यह दिखा चुके हैं । अतः कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९) से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति इस सूत्र से हो जाती है ।।

यहाँ से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति २।३।५ तक, तथा 'कर्मणि' की अनुवृत्ति २।३।३ तक जायेगी ।।

तृतीया

तृतीया च होश्छन्दसि ।।२।३।३।।

तृतीया १।१।। च अ० ।। होः ६।१।। छन्दसि ७।१।। अनु०—अनभिहिते, कर्मणि, द्वितीया ।। अर्थः—छन्दसि विषये "हु दानादनयोः" इत्येतस्य धातोरनभिहिते कर्मणि कारके तृतीया विभक्तिर्भवति, चकाराद् द्वितीया च ।। उदा०—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति ।।

भाषार्थः—[छन्दसि] छन्दविषय में [होः] हु धातु के अनभिहित कर्म में [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है, [च] चकार से द्वितीया विभक्ति भी होती है ।। उदा०—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति (लप्सी को अग्नि में डालता है), यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति ।। यवागू+टा, इको यणचि (६।१।७४) लगकर यवाग्वा बन गया ।।

अन्तरान्तरेणयुक्ते ॥२।३।४॥

अन्तरान्तरेणयुक्ते ७।१॥ स०—अन्तरा च अन्तरेण च अन्तरान्तरेणौ, ताभ्यां युक्तम् अन्तरान्तरेणयुक्तम्, तस्मिन्, द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वितीया ॥ अर्थः—अन्तरा अन्तरेण शब्दौ निपातौ, ताभ्यां योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति॥उदा०—अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः । अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चित् लभ्यते । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् । अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः ॥

भाषार्थः—[अन्तरान्तरेणयुक्ते] अन्तरा अन्तरेण शब्द निपात हैं, उनके योग में द्वितीया विभक्ति होती है ॥ उदा०—अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः (तुम्हारे और मेरे बीच में कमण्डलु है) । अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चित् लभ्यते (बिना पुरुषार्थ के कुछ भी प्राप्त नहीं होता) । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् (अग्नि के बिना कैसे पके) । अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः(तुम्हारे और मेरे बीच में कमण्डलु है)॥

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥२।३।५॥

कालाध्वनोः ७।२॥ अत्यन्तसंयोगे ७।१॥ स०—कालश्च अध्वा च कालाध्वानौ, तयोः कालाध्वनोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः, अत्यन्तः संयोगः अत्यन्तसंयोगः, तस्मिन्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वितीया ॥ अर्थः—कालवाचिनि शब्दे, अध्ववाचिनि शब्दे च अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—मासम् अधीतोऽनुवाकः । मासं कल्याणी । मासं गुडधानाः । अध्वनि—क्रोशमधीते । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशं पर्वतः ॥

भाषार्थः—[अत्यन्तसंयोगे] अत्यन्त संयोग गम्यमान होने पर [कालाध्वनोः] कालवाची और अध्ववाची=मार्गवाची शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है ॥ अत्यन्तसंयोग का अर्थ है—क्रिया गुण अथवा द्रव्य के साथ काल तथा अध्वा का पूर्ण सम्बन्ध ॥

उदा०—मासम् अधीतोऽनुवाकः (महीनेभर अनुवाक पढ़ा) । मासं कल्याणी (मासभर सुखदायी) । मासं गुडधानाः (मासभर गुड़धानी) । अध्वा—क्रोशमधीते (कोसभर पढ़ता है) । क्रोशं कुटिला नदी (कोसभर तक नदी टेढ़ी है) । क्रोशं पर्वतः (कोस भर तक पर्वत है) ॥

यहाँ से 'कालाध्वनोः' की अनुवृत्ति २।३।७ तक, तथा 'अत्यन्तसंयोगे' की अनुवृत्ति २।३।६ तक जायेगी ॥

अपवर्गे तृतीया ॥२।३।६॥

तृतीया
(accomplishment of an action)

अपवर्गे ७।१॥ तृतीया १।१॥ अनु०—कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥ अर्थः—अपवर्गे गम्यमाने कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—मासेनानुवाकोऽधीतः, संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः । अध्वनः—क्रोशेनानुवाकोऽधीतः, योजनेनानुवाकोऽधीतः ॥

भाषार्थः—पूर्वसूत्र से द्वितीया प्राप्त थी । यहाँ पर [अपवर्गे] अपवर्ग (अर्थात् क्रिया की समाप्ति होने पर फल भी मिल जाये) प्रतीत होने पर कालवाची और मार्गवाची शब्दों से अत्यन्तसंयोग गम्यमान होने पर [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है ॥

उदा०—मासेनानुवाकोऽधीतः (मासभर में अनुवाक पढ़ लिया, और उसे याद भी कर लिया), संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः । अध्वा का—क्रोशेनानुवाकोऽधीतः, योजनेनानुवाकोऽधीतः (कोस एवं योजनभर में अनुवाक पढ़ लिया) ॥ मासेनानुवाकोऽधीतः का अर्थ यह होगा कि मासभर में अनुवाक पढ़ा, और वह अच्छे प्रकार याद भी हो गया । सो याद हो जाना अपवर्ग हुआ ॥ अनुवाक, अष्टकादि वेद में कुछ मन्त्रों के गणन का नाम है ॥

सप्तमी, पञ्चमी

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये ॥२।३।७॥

सप्तमीपञ्चम्यौ १।२॥ कारकमध्ये ७।१॥ स०—सप्तमी च पञ्चमी च सप्तमीपञ्चम्यौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । कारकयोर्मध्यः कारकमध्यः, तस्मिन्......, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कालाध्वनोः ॥ अर्थः—कारकयोर्मध्ये यौ कालाध्वानौ तद्वाचिभ्यां शब्दाभ्यां सप्तमीपञ्चम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहे भोक्ता । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता । एवं त्र्यहे त्र्यहाद् वा भोक्ता । अध्वनः—इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे लक्ष्यं विध्यति । क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति ॥

भाषार्थः—[कारकमध्ये] दो कारकों के बीच में जो काल और अध्वा तद्वाची शब्दों में [सप्तमीपञ्चम्यौ] सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति होती हैं ॥

उदा०—अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहे भोक्ता (आज देवदत्त खाकर दो दिन के पश्चात् खायेगा) । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता । एवं त्र्यहे त्र्यहाद् वा भोक्ता । अध्वा का—इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे लक्ष्यं विध्यति (यहाँ पर स्थित यह बाण चलानेवाला कोसभर पर लक्ष्य को बींधता है) । क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति ॥ अद्य देवदत्तो

भुक्त्वा द्वयहे भोक्ता, यहाँ कारक को शक्ति मानने से दो कारकों के मध्यवाली बात ठीक हो जाती है। क्योंकि आज की भोजनक्रिया की कर्त्तृ-शक्ति, तथा दो दिन के पश्चात् की भोजनक्रिया का कर्त्तृ-शक्ति भिन्न-भिन्न हैं, अतः कारकमध्य हो गया। इसी प्रकार इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे लक्ष्यं विध्यति, यहाँ भी 'इष्वासः' कर्ता है 'लक्ष्यं' कर्म है। सो 'क्रोश' अध्वा कर्त्ता एवं लक्ष्य कर्म कारक के मध्य में है। अतः क्रोश शब्द से सप्तमी एवं पञ्चमी हो गई है। अथवा कर्म और अपादान कारक के मध्य में है। कर्म पूर्ववत् ही है, तथा अपादान जहाँ से बाण छूटता है वह है॥

द्वितीया

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ॥२।३।८॥

कर्मप्रवचनीययुक्ते ७।१॥ द्वितीया १।१॥ स०—कर्मप्रवचनीयैर्युक्तम् कर्मप्रवचनीययुक्तम्, तस्मिन्…… तृतीयातत्पुरुषः ॥ अर्थः—कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञकैः शब्दैर्युक्ते द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् ॥

भाषार्थः—[कर्मप्रवचनीययुक्ते] कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्दों के योग में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है॥ उदाहरण में अनुर्लक्षणे (१।४।८३) से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है, अतः संहिताम् यहाँ द्वितीया विभक्ति हो गई॥

यहाँ से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' की अनुवृत्ति २।३।११ तक जायेगी॥

सप्तमी

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी ॥२।३।९॥

यस्मात् ५।१॥ अधिकम् १।१॥ यस्य ६।१॥ च अ० ॥ ईश्वरवचनम् १।१॥ तत्र अ० ॥ सप्तमी १।१॥ स०—ईश्वरस्य वचनम् ईश्वरवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीययुक्ते ॥ अर्थः—यस्माद् अधिकं यस्य च ईश्वरवचनं तत्र कर्मप्रवचनीययोगे सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—उपखार्यां द्रोणः, उपनिष्के कार्षापणम्। अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः ॥

भाषार्थः - [यस्मात्] जिससे [अधिकम्] अधिक हो, [च] और [यस्य] जिसका [ईश्वरवचनम्] ईश्वरवचन अर्थात् सामर्थ्य हो, [तत्र] उसमें कर्मप्रवचनीय के योग में [सप्तमी] सप्तमी विभक्ति होती है॥ पूर्वसूत्र से द्वितीया प्राप्त थी, उसका यह अपवाद है॥

उदा०—उप खार्यां द्रोणः (खारी से अधिक द्रोण), उप निष्के कार्षापणम्। अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः।

स्व स्वामी दोनों सम्बन्धी शब्द होने से पञ्चाल तथा ब्रह्मदत्त दोनों में पर्याय से सप्तमी विभक्ति होती है॥ उपखार्याम् आदि में उप की उपोऽधिके च (१।४।८६) से, तथा अधि ब्रह्मदत्ते में अधि की अधिरीश्वरे (१।४।९६) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है॥

पञ्चम्यपाङ्परिभिः ॥२।३।१०॥

पञ्चमी १।१॥ अपाङ्परिभिः ३।३॥ स०—अपश्च आङ् च परिश्च अपाङ्परयः, तैः……, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीययुक्ते ॥ अर्थः—अप आङ् परि इत्येतैः कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञकैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । आपाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः । परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—कर्मप्रवचनीय-संज्ञक [अपाङ्परिभिः] अप आङ् परि के योग में [पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति होती है ॥ अपपरी वर्जने (१।४।८७), तथा आङ् मर्यादावचने (१।४।८८) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।३।११ तक जायेगी ॥

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ॥२।३।११॥

प्रतिनिधिप्रतिदाने १।२॥ च अ० ॥ यस्मात् ५।१॥ स०—प्रतिनिधिश्च प्रतिदानञ्च प्रतिनिधिप्रतिदाने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पञ्चमी, कर्मप्रवचनीययुक्ते॥ अर्थः—यस्मात् प्रतिनिधिः यस्माच्च प्रतिदानं तत्र कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति, प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति ॥ प्रतिदाने—तिलेभ्यः प्रति माषान् अस्मै प्रतियच्छति ॥

भाषार्थः—[यस्मात्] जिससे [प्रतिनिधिप्रतिदाने] प्रतिनिधित्व हो, तथा जिससे प्रतिपादन हो, उससे [च] पञ्चमी विभक्ति होती है ॥ उदाहरण में अर्जुन तथा वासुदेव से प्रतिनिधित्व हुआ है । सो उसमें पञ्चमी विभक्ति होने से प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः (५।४।४४) से तसि प्रत्यय हुआ है । प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः (१।४।९१) से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है ॥ तिलों से उड़द बदले जा रहे हैं, सो प्रतिदान होने से तिल में पञ्चमी विभक्ति हुई ॥

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ॥२।३।१२॥

गत्यर्थकर्मणि ७।१॥ द्वितीयाचतुर्थ्यौ १।२॥ चेष्टायाम् ७।१॥ अनध्वनि ७।१॥ स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, गत्यर्थानां (धातूनां) कर्म गत्यर्थकर्म, तस्मिन्…, बहुव्रीहिगर्भषष्ठीतत्पुरुषः । द्वितीया च चतुर्थी च द्वितीयाचतुर्थ्यौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न अध्वा अनध्वा, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अनभिहिते ॥ अर्थः—चेष्टाक्रियाणां गत्यर्थानां धातूनाम् अध्ववर्जितेऽनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीयाचतुर्थ्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—ग्रामं व्रजति, ग्रामाय व्रजति । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति ॥

भावार्थः—[चेष्टायाम्] चेष्टा जिनकी क्रिया हो, ऐसे [गत्यर्थकर्मणि] गत्य-

र्थक धातुओं के [अनध्वनि] मार्गरहित कर्म में [द्वितीयाचतुर्थ्यौ] द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती हैं ।।

उदा०—ग्रामं व्रजति (गाँव को जाता है) इत्यादि में व्रजादि गत्यर्थक धातु हैं । इनका कर्म ग्राम है, सो केवल द्वितीया (२।३।२) प्राप्त थी, चतुर्थी का भी विधान कर दिया है ।। गाँव को चलकर चेष्टा करके जायेगा, अतः चेष्टा-क्रियावाली व्रज वा गम् धातु हैं ।।

चतुर्थी सम्प्रदाने ।।२।३।१३।।

चतुर्थी १।१।। सम्प्रदाने ७।१।। अनु०—अनभिहिते ।। अर्थः—अनभिहिते सम्प्रदानकारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति ।। उदा०—माणवकाय भिक्षां ददाति । शिष्याय विद्यां ददाति । देवदत्ताय रोचते मोदकः ।।

भाषार्थः—अनभिहित [सम्प्रदाने] सम्प्रदान कारक में [चतुर्थी] चतुर्थी विभक्ति होती है ।।

उदा०—माणवकाय भिक्षां ददाति (बच्चे को भिक्षा देता है) । शिष्याय विद्यां ददाति । देवदत्ताय रोचते मोदकः ।।

सम्प्रदान संज्ञा कर्मणा यमभि० (१।४।३२) से होती है । देवदत्ताय रोचते में रुच्यर्थानां प्रीय० (१।४।३३) से सम्प्रदान संज्ञा हुई है ।।

यहाँ से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति २।३।१८ तक जायेगी ।।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ।।२।३।१४।।

क्रियार्थोपपदस्य ६।१।। च अ० ।। कर्मणि ७।१।। स्थानिनः ६।१।। स०—क्रियार्थं इयं=क्रियार्था, तत्पुरुषः । क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य स क्रियार्थोपपदः (धातुः), तस्य···,उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः ।। अनु०—चतुर्थी,अनभिहिते ।। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते शब्दः, स स्थानी ।। अर्थः—स्थानिनः=अप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोः अनभिहिते कर्मणि कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति ।। कर्मणि द्वितीया प्राप्ता, चतुर्थी विधीयते ।। उदा०—एधेभ्यो व्रजति । पुष्पेभ्यो व्रजति । वृकेभ्यो व्रजति । शशेभ्यो व्रजति ।।

भाषार्थः—[क्रियार्थोपपदस्य] क्रिया के लिये क्रिया उपपद हो जिसको, ऐसी [स्थानिनः] अप्रयुज्यमान धातु के अनभिहित [कर्मणि] कर्म कारक में [च] भी चतुर्थी विभक्ति होती है ।।

उदा०—एधेभ्यो व्रजति (ईंधन को लेने के लिये जाता है) । पुष्पेभ्यो व्रजति। वृकेभ्यो व्रजति (भेड़ियों को मारने के लिये जाता है) । शशेभ्यो व्रजति ।।

उदाहरण में व्रजति क्रियार्थ क्रिया उपपद है। क्योंकि जाता इसलिये हो रहा है कि इंधन को लाना क्रिया करे, या वृकों को मारे। सो क्रिया के लिये क्रिया हो हो रही है। यहाँ एधान् (आहर्तुं) व्रजति, वृकान् (हन्तुं) व्रजति, ऐसा चाहिये था, पर स्थानिनः=अप्रयुज्यमान कहा है। अतः आहर्तुं या हन्तुं का प्रयोग नहीं किया है, केवल उसका अर्थ है। यहाँ पर तुमुन्ण्वुलौ क्रियायाम्० (३।३।१०) से व्रजति क्रिया उपपद है, क्योंकि क्रियायाम् में सप्तमी है, उसका विशेषण क्रियार्थायाम् है। अतः तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२) से उपपद संज्ञा हो गई है॥ तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां० से आहर्तुम् आदि में तुमुन् प्रत्यय होता है, यह सूत्र उसी का विषय है॥

तुमर्थाच्च भाववचनात् ॥२।३।१५॥ चतुर्थी

तुमर्थात् ५।१॥ च अ० ॥ भाववचनात् ५।१॥ स०—तुमुनः अर्थ इवार्थो यस्य स तुमर्थः, तस्मात् ··, बहुव्रीहिः। उच्येते अनेनेति वचनः, भावस्य वचनः भाववचनः, तस्मात्, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—चतुर्थी, अनभिहिते॥ अर्थः—तुमर्थाद् भाववचन-प्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकात् चतुर्थी विभक्तिर्भवति॥ उदा०—पाकाय व्रजति। त्यागाय व्रजति। सम्पत्तये व्रजति। इष्टये व्रजति॥

भाषार्थः—[तुमर्थात्] तुमर्थ [भाववचनात्] भाववचन से [च] भी चतुर्थी विभक्ति होती है॥

उदा०—पाकाय व्रजति (पकाने के लिये जाता है)। त्यागाय व्रजति (त्याग करने के लिए जाता है)। सम्पत्तये व्रजति (सम्पन्न करने के लिए जाता है)। इष्टये व्रजति (यज्ञ करने के लिए जाता है)॥

इस सूत्र में प्रयुक्त भाववचन शब्द से भाववचनाश्च (३।३।११) के विषय को लक्षित किया गया है। उस सूत्र से क्रियार्थक्रिया के उपपद होने पर घञ् आदि प्रत्ययों का विधान किया है। उसी विषय में तुमुन्ण्वुलौ० (३।३।१०) से तुमुन् भी विहित है। अतः घञ् आदि तुमर्थ भाववचन हुए। इस प्रकार पक्तुं व्रजति, यष्टुं व्रजति के अर्थ में पाकाय व्रजति, इष्टये व्रजति के प्रयोग के लिए यह सूत्र है॥

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च ।२।३।१६। चतुर्थी

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—नमश्च स्वस्ति च स्वाहा च स्वधा च अलञ्च वषट् च, इति नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्, तैर्योगः नमःस्वस्ति - योगः, तस्मात् ,द्वन्द्वगर्भस्तृतीयातत्पुरुषः॥ अनु०—चतुर्थी॥ अर्थः—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट् इत्येतैः शब्दैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति॥ उदा०—नमो गुरुभ्यः, नमो देवेभ्यः। स्वस्ति प्रजाभ्यः। अग्नये स्वाहा, सोमाय

स्वाहा । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । अलमित्यर्थग्रहणम् – प्रभुर्मल्लो मल्लाय । वषड् अग्नये वषड् इन्द्राय ॥

भाषार्थः [नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगात्] नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा अलं, वषट् इन शब्दों के योग में [च] भी चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

उदा०—नमो गुरुभ्यः (गुरुओं को नमस्कार है), नमो देवेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः (प्रजा का कल्याण हो) । अग्नये स्वाहा (अग्नि देवता के लिये आहुति) सोमाय स्वाहा (सोम के लिए आहुति) । स्वधा पितृभ्यः (पितरों के लिए अन्न) । अलं मल्लो मल्लाय (पहलवान के लिए पहलवान समर्थ है), प्रभुर्मल्लो मल्लाय (मल्ल मल्ल के लिए समर्थ है) । वषड् अग्नये (अग्नि के लिए हवि त्याग), वषड् इन्द्राय ॥

चतुर्थी

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ॥२।३।१७॥

मन्यकर्मणि ७।१॥ अनादरे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ स०—मन्यस्य कर्म मन्यकर्म तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । न आदरः अनादरः, तस्मिन् अनादरे नञ्तत्पुरुषः । न प्राणिनः अप्राणिनः, तेषु, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—चतुर्थी ॥ अर्थः—अनादरे गम्यमाने, प्राणिवर्जिते मन्यते कर्मणि विभाषा चतुर्थी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—न त्वा तृणं मन्ये, न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा बुसं मन्ये, न त्वा बुसाय मन्ये ॥

भाषार्थः—[अनादरे] अनादर गम्यमान होने पर, [मन्यकर्मणि] मन्य धातु के [अप्राणिषु] प्राणिवर्जित कर्म में चतुर्थी विभक्ति [विभाषा] विकल्प से होती है॥

उदा०—न त्वा तृणं मन्ये (मैं तमको तिनके के बराबर भी नहीं समझता), न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा बसं मन्ये (मैं तुमको बुस के बराबर भी नहीं समझता) न त्वा बसाय मन्ये ॥

मन्य धातु का 'तृणं' प्राणिवर्जित कर्म है, तो उसमें विकल्प से चतुर्थी हो गई है । तिनका भी नहीं समझता, ऐसा कहने से स्पष्ट अनादर है । जिस कर्म से अनादर प्रतीत होता है, उसी में चतुर्थी होती है, साधारण कर्म में नहीं । इसलिए तृणाय में चतुर्थी हुई, त्वा में नहीं ॥ दिवादिगण की मन धातु का यहां ग्रहण है ॥ द्वितीया की प्राप्ति में यह विधान है ॥

तृतीया

कर्त्तृकरणयोस्तृतीया ॥२।३।१८॥

कर्त्तृकरणयोः ७।२॥ तृतीया १।१॥ स०—कर्त्ता च करणञ्च कर्त्तृकरणे, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अनभिहिते ॥ अर्थः—अनभिहितयोः कर्त्तृकरणयो-

स्तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—कर्त्तरि—देवदत्तेन कृतम् । यज्ञदत्तेन भुक्तम् । करणे—असिना छिनत्ति । दात्रेण लुनाति । अग्निना पचति ॥

भाषार्थः—अनभिहित [कर्त्तृकरणयोः] कर्त्ता और करण में [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है ॥ उदा०—देवदत्तेन कृतम् (देवदत्त के द्वारा किया गया) । यज्ञदत्तेन भुक्तम् । करण में—असिना छिनत्ति (तलवार के द्वारा काटता है) । दात्रेण लुनाति (दरांती के द्वारा काटता है) । अग्निना पचति (अग्नि के द्वारा पकाता है) ॥

देवदत्तेन कृतम् में देवदत्त अनभिहित कर्त्ता है, क्योंकि कृतम् में 'क्त' प्रत्यय कर्म में तयोरेव कृत्यक्त० (३।४।७०) से हुआ है । सो कृतम् क्रिया का समानाधिकरण कर्म से है, न कि कर्त्ता से । अतः कर्त्ता अनभिहित=अकथित=अनुक्त है, सो तृतीया हो गई । असिना छिनत्ति आदि में क्रिया का समानाधिकरण 'करण असि' से नहीं है अतः यह भी अनभिहित करण है । साधकतमं करणम् (१।४।४२) से करण संज्ञा, तथा स्वतन्त्रः कर्त्ता (१।४।५४) से कर्त्ता संज्ञा पूर्व कह चुके हैं ॥ अनभिहिते (२।३।१) सूत्र पर अनभिहित विषय में हम पर्याप्त समझा आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जानें ॥

यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृत्ति २।३।२३ तक जायेगी ॥

सहयुक्तेऽप्रधाने ॥२।३।१९॥

सहयुक्ते ७।१॥ अप्रधाने ७।१॥ स०—सह शब्देन युक्तम् सहयुक्तम्, तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुषः । न प्रधानम् अप्रधानं, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीया ॥ अर्थः—सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—पुत्रेण सह आगतः पिता । पुत्रेण सह स्थूलः । पुत्रेण सह गोमान् । पुत्रेण सार्द्धम् ॥

भाषार्थः—[सहयुक्ते] सह के अर्थवाची शब्दों के योग में [अप्रधाने] अप्रधान में तृतीया विभक्ति हो जाती है ॥

उदा०—पुत्रेण सह आगतः पिता (पुत्र के साथ पिता आया) । पुत्रेण सह स्थूलः (पुत्र के साथ मोटा) । पुत्रेण सह गोमान् (पुत्र के साथ गौवाला) । पुत्रेण सार्द्धम् (पुत्र के साथ) ॥

क्रिया-गुण-द्रव्य से दो पदार्थों का सम्बन्ध होने पर 'सह' का प्रयोग होता है । दोनों में से जिसका क्रियादि के साथ सम्बन्ध साक्षात् शब्द द्वारा कहा जाता है, उस को प्रधान माना जाता है । उदाहरणों में पिता का सम्बन्ध आगमनक्रिया, स्थूलता-गुण तथा गोद्रव्य के साथ शब्दों द्वारा प्रतिपादित है । इनके साथ पुत्र का सम्बन्ध

अनुमित है, अतः पुत्र अप्रधान है। सह के अर्थवाची के योग में तृतीया होती है। सो सार्द्धम् आदि के योग में भी हो गई। तथा जहाँ केवल सह का अर्थ रहे, सहार्थ शब्दों का योग न हो, वहाँ भी तृतीया हो जाती है। यथा—वृद्धो यूना ॥

तृतीया

येनाङ्गविकारः ॥२।३।२०॥

येन ३।१॥ अङ्गविकारः १।१॥ अङ्गम् अस्यास्तीति अङ्गः, अर्शआदिभ्योऽच् (५।२।१२७) इत्यनेन मतुबर्थे अच् प्रत्ययः ॥ स०—अङ्गस्य विकारः अङ्गविकारः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीया ॥ अर्थः—येन अङ्गेन अङ्गस्य=शरीरस्य विकारो लक्ष्यते तस्मात् तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अक्ष्णा काणः। पादेन खञ्जः। पाणिना कुण्ठः ॥

भाषार्थः—[येन] जिस अङ्ग (शरीरावयव) के द्वारा [अङ्गविकारः] अङ्गी अर्थात् शरीर का विकार लक्षित हो, उससे तृतीया विभक्ति होती है ॥ अङ्ग अर्थात् शरीर के अवयव हैं जिस समुदाय में, वह शरीर (समुदाय) 'अङ्ग' कहलाया। येन अर्थात् जिस अङ्ग के द्वारा, यहाँ आक्षेप से विशेष अङ्ग=शरीरावयववाची लिया गया है ॥ उदा०—अक्ष्णा काणः (आँख से काना)। पादेन खञ्जः (पैर से लंगड़ा)। पाणिना कुण्ठः (हाथ से लुञ्जा) ॥

उदाहरण में आँख शरीरावयव के द्वारा शरीर समुदाय का काणत्व विकार परिलक्षित हो रहा है, सो उसमें तृतीया हुई है। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी समझें ॥

तृतीया

इत्थंभूतलक्षणे ॥२।३।२१॥

इत्थंभूतलक्षणे ७।१॥ लक्ष्यते अनेनेति लक्षणम् ॥ स०—कञ्चित् प्रकारं प्राप्तः इत्थम्भूतः, तस्य लक्षणम् इत्थम्भूतलक्षणम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीया ॥ अर्थः—इत्थंभूतलक्षणे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत् ॥

भाषार्थः—[इत्थंभूतलक्षणे] इत्थंभूत का जो लक्षण उसमें तृतीया विभक्ति होती है ॥ उदा०—अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् (क्या आपने कमण्डलु लिये हुए छात्र को देखा)। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत (क्या आपने मेखला-वाले छात्र को देखा) ॥

उदाहरण में मनुष्यत्व सामान्य है, उसमें छात्रत्व और ब्रह्मचारित्व प्रकार है, अर्थात् छात्रत्व प्रकार=धर्म को प्राप्त हुआ मनुष्य, ब्रह्मचारित्व प्रकार को प्राप्त हुआ मनुष्य, यह इत्थंभूत है। इस इत्थंभूत का कमण्डलु, और मेखला लक्षण है,

अर्थात् कमण्डलु से छात्र लक्षित किया जा रहा है, और मेखला से ब्रह्मचारी। अतः उनमें तृतीया हो गई है ॥ भू प्राप्तौ चुरादिगण धातु से क्त प्रत्यय होकर भूत शब्द बना है, अतः भूत का अर्थ प्राप्त है। इत्थम् में इदमस्थमुः (५।३।२४) से थमु प्रत्यय हुआ है ॥

द्वितीया, तृतीया

संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ॥२।३।२२॥

संज्ञः ६।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ कर्मणि ७।१॥ अनु०—तृतीया, अनभिहिते॥ अर्थः—सम्पूर्वस्य ज्ञाधातोरनभिहिते कर्मणि कारके तृतीया विभक्तिर्भवति विकल्पेन॥ उदा०—मात्रा संजानीते बालः, मातरं सञ्जानीते। पित्रा संजानीते, पितरं संजानीते ॥

भावार्थः—[संज्ञः] सम्पूर्वक ज्ञा धातु के अनभिहित [कर्मणि] कर्मकारक में [अन्यतरस्याम्] विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है ॥ पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया विभक्ति होती है ॥

उदा०—मात्रा संजानीते बालः (बालक माता को पहचानता है), मातरं सञ्जानीते। पित्रा संजानीते, पितरं संजानीते ॥

मातृ शब्द संजानीते का कर्म है। सो उसमें द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति हो गई है ॥ संप्रतिभ्याम्० (१।३।४६) से संजानीते में आत्मनेपद हुआ है ॥

हेतौ ॥२।३।२३॥

तृतीया

हेतौ ७।१॥ अनु०—तृतीया ॥ अर्थः—हेतुवाचिशब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—विद्यया यशः। सत्सङ्गेन बुद्धिः। धनेन कुलम् ॥

भावार्थः—[हेतौ] हेतुवाची शब्द में तृतीया विभक्ति होती है। जिससे किसी कार्य की सिद्धि की जाये वह 'हेतु' होता है ॥

उदा०—विद्यया यशः (विद्या के द्वारा यश प्राप्त हुआ)। सत्सङ्गेन बुद्धिः (सत्सङ्ग के द्वारा बुद्धि प्राप्त हुई)। धनेन कुलम् (धन के द्वारा कुल स्थित है) ॥ उदाहरण में विद्या के द्वारा यश प्राप्त हुआ, अतः वह हेतु है। इसी प्रकार अन्यों में भी समझें ॥ पूर्ववत् 'विद्या टा' आकर आङि चापः (७।३।१०५) से एत्व होकर विद्ये आ, एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर विद्यया बन गया ॥ शेष पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'हेतौ' की अनुवृत्ति २।३।२७ तक जायेगी ॥

पञ्चमी

अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी ॥२।३।२४॥

अकर्त्तरि ७।१॥ ऋणे ७।१॥ पञ्चमी १।१॥ अनु०—हेतौ ॥ अर्थः—ऋणे वाच्ये कर्तृरहिते हेतौ पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—शताद् बद्धः । सहस्राद् बद्धः ॥

भावार्थः—[अकर्त्तरि] कर्तृभिन्न हेतुवाची शब्द में [ऋणे] ऋण वाच्य होने पर [पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—शताद् बद्धः (सौ रुपये के ऋण से बँध गया, अर्थात् मालिक ने उसे नौकर बना लिया) । सहस्राद् बद्धः ॥

उसके बन्धन का हेतु सौ रुपये हैं, सो हेतुवाची होने से पञ्चमी हो गई है ॥ पूर्व सूत्र से हेतु में तृतीया प्राप्त थी, पञ्चमी हो गई ॥

यहाँ से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।३।२५ तक जाती है ॥

पञ्चमी विकल्प

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ॥२।३।२५॥

विभाषा १।१॥ गुणे ७।१॥ अस्त्रियाम् ७।१॥ स०—न स्त्री अस्त्री, तस्याम् अस्त्रियाम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—हेतौ, पञ्चमी ॥ अर्थः—अस्त्रियाम्=स्त्रीलिङ्गं विहाय पुँल्लिङ्गनपुंसकलिङ्गे वर्त्तमानो यो हेतुवाची गुणवाचकशब्दः,तस्मिन् विकल्पेन पञ्चमी विभक्तिर्भवति, पक्षे तृतीया भवति ॥ पूर्वेण नित्यं तृतीया प्राप्ता विकल्प्यते॥ उदा०—जाड्याद् बद्धः, जाड्येन बद्धः । पाण्डित्यान् मुक्तः, पाण्डित्येन मुक्तः ॥

भावार्थः—[अस्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अर्थात् पुँल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान जो हेतुवाची [गुणे] गुणवाचक शब्द, उसमें [विभाषा] विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—जाड्याद् बद्धः (मूर्खता से बन्धन में फँस गया), जाड्येन बद्धः । पाण्डित्यान् मुक्तः (पाण्डित्य के कारण मुक्त हो गया), पाण्डित्येन मुक्तः ॥ जाड्य वा पाण्डित्य नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान गुणवाची शब्द हैं, तथा बन्धन वा मुक्त होने के हेतु हैं, सो पञ्चमी विभक्ति हो गई । नित्य तृतीया हेतौ (२।३।२३ से)प्राप्त थी, पञ्चमी विकल्प से कर दी । अतः पञ्चमी होने के पश्चात् पक्ष में हेतौ (२।३।२३) सूत्र से प्राप्त तृतीया भी हो गई ॥

षष्ठी हेतुप्रयोगे ॥२।३।२६॥

षष्ठी १।१॥ हेतुप्रयोगे ७।१॥ स०—हेतोः प्रयोगः हेतुप्रयोगः, तस्मिन्, षष्ठी-

षष्ठी

तत्पुरुषः ॥ अनु०—हेतौ ॥ अर्थः—हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति ॥

भाषार्थः—[हेतुप्रयोगे] हेतु शब्द के प्रयोग में, तथा जिससे हेतु द्योतित हो रहा हो, उस शब्द में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति होती है ॥

उदा०— अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति (अन्न के कारण से धनवान् के कुल में वास करता है) । अन्न हेतु है, सो उसमें षष्ठी हो गई है ॥

यहाँ से 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' की अनुवृत्ति २।३।२७ तक जायेगी ॥

सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥२।३।२७॥

तृतीया

सर्वनाम्नः ६।१॥ तृतीया १।१॥ च अ० ॥ अनु०—षष्ठी, हेतुप्रयोगे, हेतौ ॥ अर्थः—सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया विभक्तिर्भवति, चकारात् षष्ठी च ॥ उदा०—कस्य हेतोर्वसति, केन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति, येन हेतुना वसति ॥

भाषार्थः—हेतु शब्द के प्रयोग में, तथा हेतु के विशेषणवाची [सर्वनाम्नः] सर्वनामसंज्ञक शब्द के प्रयोग में, हेतु द्योतित होने पर [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है, [च] चकार से षष्ठी विभक्ति भी होती है ॥

यहाँ पर निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् इस वार्त्तिक से प्रायः करके सर्वनाम विशेषणवाची शब्द प्रयुक्त होने पर, निमित्त, कारण, हेतु का प्रयोग हो तो सब विभक्तियाँ होती हैं ॥

उदा०—कस्य हेतोर्वसति (किस हेतु से बसता है), केन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति (जिस हेतु से बसता है), येन हेतुना वसति ॥

अपादाने पञ्चमी ॥२।३।२८॥

पञ्चमी

अपादाने ७।१॥ पञ्चमी १।१॥ अनु०—अनभिहिते ॥ अर्थः—अनभिहितेऽपादाने कारके पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—वृक्षात् पर्णानि पतन्ति । ग्रामाद् आगच्छति ॥

भाषार्थः—अनभिहित [अपादाने] अपादान कारक में [पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति होती है ॥ ध्रुवमपायेऽपा० (१।४।२४) से अपादान संज्ञा हुई है ॥ उदा०—वृक्षात् पर्णानि पतन्ति (वृक्ष से पत्ते गिरते हैं) । ग्रामाद् आगच्छति ॥ उदाहरण में आगच्छति क्रिया से अपादान अनभिहित है, अतः पञ्चमी हुई है ॥

यहां से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।३।३५ तक जायेगी ॥

अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ॥२।३।२९॥

अन्या······हियुक्ते ७।१॥ स०—अन्यश्च आराच्च इतरश्च ऋते च दिक्शब्दश्च अञ्चूत्तरपदश्च आच्च आहिश्चेति अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहयः, तैर्युक्तम् अन्या······ ········जाहियुक्तम्, तस्मिन्, द्वन्द्वगर्भस्तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—पञ्चमी ॥ अर्थः—अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्, आहि इत्येतैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अन्यो देवदत्तात् । अन्य इत्यर्थग्रहणं, तेन पर्यायप्रयोगेऽपि भवति—भिन्नो देवदत्तात्, अर्थान्तरं देवदत्तात् । आरात् यज्ञदत्तात् । इतरो देवदत्तात् । ऋते यज्ञदत्तात् । पूर्वो ग्रामात् पर्वतः, उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्मात् वसन्तः । अञ्चूत्तरपदे—प्राग् ग्रामात्, प्रत्यग् ग्रामात् । आच्—दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि—दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् ॥

भाषार्थः—[अन्यारादित······युक्ते] अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त तथा आहिप्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—अन्यो देवदत्तात्, भिन्नो देवदत्तात् (देवदत्त से भिन्न), अर्थान्तरं देवदत्तात् । आरात् देवदत्तात् (देवदत्त से दूर या समीप) । आरात् यज्ञदत्तात् । इतरो देवदत्तात् (देवदत्त से इतर=भिन्न) । ऋते यज्ञदत्तात् (यज्ञदत्त के बिना) । पूर्वो ग्रामात् पर्वतः (ग्राम से पूर्व पर्वत), उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्माद् वसन्तः (ग्रीष्म से पूर्व वसन्त) । अञ्चूत्तरपद में—प्राग् ग्रामात् (ग्राम से पूर्व), प्रत्यग् ग्रामात् (ग्राम से पश्चिम) । आच्—दक्षिणा ग्रामात् (गाँव से दक्षिण), उत्तरा ग्रामात् । दक्षिणाहि ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण) । उत्तराहि ग्रामात् ॥

प्र, प्रति पूर्वक अञ्चु धातु से ऋत्विग्दधृग्० (३।२।५९) से क्विन् प्रत्यय होकर दिक्शब्देभ्यः० (५।३।२७) से अस्ताति, तथा अञ्चेर्लुक् (५।३।३०) से उसका लुक् होकर प्राक् और प्रत्यक् शब्द बने हैं । दक्षिणा में दक्षिणादाच् (५।३।३६), तथा उत्तरा में उत्तराच्च (५।३।३८) से आच् प्रत्यय हुआ है । आहि च दूरे (५।३।३७) से दक्षिणाहि आदि में आहि प्रत्यय हुआ है ॥

षष्ठी

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ॥२।३।३०॥

षष्ठी १।१॥ अतसर्थप्रत्ययेन ३।१॥ स०—अतसोऽर्थः अतसर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः, अतसर्थे प्रत्ययः अतसर्थप्रत्ययः, तेन, सप्तमीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—अतसर्थप्रत्ययेन

युक्ते षष्ठीविभक्तिर्भवति ॥ उदा०—दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । पुरो ग्रामस्य । पुरस्तात् ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्टात् ग्रामस्य ॥

भाषार्थ:—[अतसर्थप्रत्ययेन] अतसर्थ प्रत्यय के योग में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति होती है ॥ अतसुच् के अर्थ में विहित, दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् (५।३।२८) के अधिकार में कहे हुए प्रत्यय अतसर्थ प्रत्यय कहलाते हैं ॥

उदा०—दक्षिणतो ग्रामस्य (ग्राम के दक्षिण में) । उत्तरतो ग्रामस्य । पुरो ग्रामस्य (ग्राम के पूर्व में) । पुरस्तात् ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य (ग्राम के ऊपर) । उपरिष्टात् ग्रामस्य ॥

दक्षिणतः, उत्तरतः में दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् (५।३।२८) से अतसुच् प्रत्यय हुआ है । पुरः में पूर्वाधरावरा० (५।३।३९) से पूर्व को पुर् आदेश, तथा असि प्रत्यय अतसर्थ में हुआ है । दिक्शब्देभ्यः० (५।३।२७) से पुरस्तात् में अस्ताति प्रत्यय हुआ है । उपर्युपरिष्टात् (५।३।३१) से ऊर्ध्व को उप भाव तथा रिल् रिष्टातिल् प्रत्यय उपरि उपरिष्टात् में हुए हैं । इन सब के योग में षष्ठी हो गई है ॥

एनपा द्वितीया ॥२।३।३१॥

एनपा ३।१॥ द्वितीया १।१॥ अर्थ:—एनप्प्रत्ययान्तेन योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ पूर्वेण षष्ठी प्राप्ता द्वितीया विधीयते ॥ उदा०—दक्षिणेन ग्रामम् । उत्तरेण ग्रामम् ॥

भाषार्थ:—[एनपा] एनप्प्रत्ययान्त शब्दों के योग में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है ॥ एनबन्यतरस्यामदूरे० (५।३।३५) से एनप् प्रत्यय का विधान है । एनप् के अतसर्थ प्रत्यय होने से पूर्व सूत्र से षष्ठी प्राप्त थी, द्वितीया का विधान कर दिया ॥

उदा०—दक्षिणेन ग्रामम् (ग्राम से दक्षिण) । उत्तरेण ग्रामम् ॥

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥२।३।३२॥

पृथग्विनानानाभिः ३।३॥ तृतीया १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—पृथक् च विना च नाना च पृथग्विनानानाः, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पञ्चमी ॥ अर्थ:—पृथक्, विना, नाना इत्येतैर्योगे तृतीया विभक्तिर्भवति अन्यतरस्यां च ॥ उदा०—पृथक् ग्रामेण, पृथक् ग्रामात् । विना घृतेन विना घृतात् । नाना देवदत्तेन, नाना देवदत्तात् ॥

भाषार्थ:—[पृथग्विनानानाभिः] पृथक्, बिना, नाना इन शब्दों के योग में

[तृतीया] तृतीया विभक्ति [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होती है, पक्ष में पञ्चमी भी होती है ॥

उदा०—पृथक् ग्रामेण (ग्राम से पृथक्), पृथक् ग्रामात्। विना घृतेन (बिना घी के), विना घृतात्। नाना देवदत्तेन (देवदत्त से भिन्न), नाना देवदत्तात् ॥

यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृति २।३।३३ तक जायेगी ॥

तृतीया पञ्चमी

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ॥२।३।३३॥

करणे ७।१॥ च अ० ॥ स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य ६।१॥ असत्त्ववचनस्य ६।१॥ स०—स्तोकश्च अल्पश्च कृच्छ्रश्च कतिपयश्च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयम्, तस्य, समाहारो द्वन्द्वः। सत्त्वस्य वचनं सत्त्ववचनम्, न सत्त्ववचनम् असत्त्ववचनम् तस्य, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीया, पञ्चमी ॥ अर्थः—स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय इत्येतेभ्योऽसत्त्ववचनेभ्यः करणे कारके तृतीयापञ्चम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—स्तोकान् मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः। अल्पान् मुक्तः, अल्पेन मुक्तः। कृच्छ्रान् मुक्तः, कृच्छ्रेण मुक्तः। कतिपयान् मुक्तः, कतिपयेन मुक्तः ॥

भावार्थः—[स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य] स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय इन [असत्त्ववचनस्य] असत्त्ववाची=अद्रव्यवाची शब्दों से [करणे] करण कारक में तृतीया [च] और पञ्चमी विभक्ति होती हैं ॥ उदा०—स्तोकान् मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः। अल्पकान् मुक्तः, अल्पेन मुक्तः। कृच्छ्रान् मुक्तः, कृच्छ्रेण मुक्तः। कतिपयान् मुक्तः (कुछ से छूट गया), कतिपयेन मुक्तः ॥

करण में तृतीया (२।३।१८) से प्राप्त ही थी, पञ्चमी का ही यहाँ विधान किया है ॥ स्तोकान् आदि में त् को न् यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से हुआ है ॥

पञ्चमी षष्ठी

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ॥२।३।३४॥

दूरान्तिकार्थैः ३।३॥ षष्ठी १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—दूरश्च अन्तिकश्च दूरान्तिकौ, तौ अर्थौ येषां ते दूरान्तिकार्थाः, तैः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—पञ्चमी॥ अर्थः—दूरार्थैः अन्तिकार्थैः= समीपार्थैः शब्दैः योगे षष्ठीविभक्ति-र्विकल्पेन भवति, पक्षे पञ्चमी च ॥ उदा०—दूरं ग्रामात्, दूरं ग्रामस्य। विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य। अन्तिक—अन्तिकं ग्रामात्, अन्तिकं ग्रामस्य। समीपं ग्रामात्, समीपं ग्रामस्य। अभ्याशं ग्रामात्, अभ्याशं ग्रामस्य ॥

भावार्थः—[दूरान्तिकार्थैः] दूर अर्थवाले, तथा समीप अर्थवाले शब्दों के, योग में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होती है, पक्ष में पञ्चमी भी होती है ॥

उदा०—दूरं ग्रामात् (ग्राम से दूर), दूरं ग्रामस्य । विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य ॥ अन्तिकं ग्रामात् (ग्राम से समीप), अन्तिकं ग्रामस्य । समीपं ग्रामात्, समीपं ग्रामस्य । अभ्याशं ग्रामात्, अभ्याशं ग्रामस्य ॥

यहाँ से 'षष्ठ्यन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति २।३।३५ तक जायेगी ॥

पञ्चमी षष्ठी **दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ॥२।३।३५॥** द्वितीया

दूरान्तिकार्थेभ्यः ५।३॥ द्वितीया १।१॥ च अ० ॥ स०—पूर्वसूत्रानुसारमेव दूरान्तिकार्थेभ्य इत्यत्र समासः ॥ अनु०—षष्ठ्यन्यतरस्याम्, पञ्चमी ॥ अर्थः—दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यः द्वितीया विभक्तिर्भवति[1], चकारात् षष्ठी च भवति विकल्पेन । अतः पक्षे पञ्चम्यपि भवति ॥ एवं विभक्तित्रयं सिद्धं भवति ॥ उदा०—दूरं ग्रामस्य, दूरस्य ग्रामस्य, दूराद् ग्रामस्य । विप्रकृष्टं विप्रकृष्टस्य विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य ॥ अन्तिकं अन्तिकस्य अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । समीपं समीपस्य समीपाद् वा ग्रामस्य ॥

भाषार्थः—[दूरान्तिकार्थेभ्यः] दूर अर्थवाले तथा समीप अर्थवाले शब्दों से [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है, [च] और चकार से षष्ठी भी होती है, तथा अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति होने से पक्ष में पञ्चमी भी होती है ॥ इस प्रकार तीन रूप बनते हैं । पूर्व सूत्र में दूर अन्तिक के योग में षष्ठी विकल्प से कही थी, तथा यहाँ दूरान्तिक शब्दों से द्वितीयादि कहा है, यह भेद है ॥

यहाँ से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति २।३।३६ तक जायेगी ॥

सप्तम्यधिकरणे च ॥२।३।३६॥ सप्तमी

सप्तमी १।१॥ अधिकरणे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—दूरान्तिकार्थेभ्यः, अनभिहिते ॥ अर्थः—अनभिहितेऽधिकरणे सप्तमी विभक्तिर्भवति, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यश्च ॥ उदा०—कटे आस्ते । शकटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । दूरान्तिकार्थेभ्यः—दूरे ग्रामस्य, विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य, अभ्याशे ग्रामस्य ॥

भाषार्थः—अनभिहित [अधिकरणे] अधिकरण में [सप्तमी] सप्तमी विभक्ति होती है, तथा [च] चकार से दूरान्तिकार्थक शब्दों से भी होती है ॥ आधारोऽधिकरणम् (१।४।४५) से अधिकरण संज्ञा कही है । उस अधिकरण में यहाँ सप्तमी विभक्ति कह दी है ॥

---

१. यहां काशिकादियों में षष्ठी की अनुवृत्ति न लाकर तृतीया का समुच्चय किया है । सो प्रयोगाधीन जानना चाहिये ॥

उदा०—कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)। शकटे आस्ते (गाड़ी में बैठता है)। स्थाल्यां पचति (बटलोई में पकाता है)। दूरान्तिकार्थों से—दूरे ग्रामस्य, विप्रकृष्टे ग्रामस्य। अन्तिके ग्रामस्य, अभ्याशे ग्रामस्य।

यहाँ से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति २।३।४१ तक जायेगी॥

सप्तमी

यस्य च भावेन भावलक्षणम् ॥२।३।३७॥

यस्य ६।१॥ च अ० ॥ भावेन ३।१॥ भावलक्षणम् १।१॥ स०—भावस्य लक्षणम् भावलक्षणम्, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—सप्तमी॥ अर्थः—यस्य च भावेन =क्रियया भावः=क्रियान्तरं लक्ष्यते, तस्मात् सप्तमी विभक्तिर्भवति॥ उदा०—गोषु दुह्यमानासु गतः। दुग्धासु आगतः। अग्निषु हूयमानेषु गतः। हुतेष्वागतः॥

भावार्थः—[यस्य] जिसकी [भावेन] क्रिया से कोई [भावलक्षणम्] दूसरी क्रिया लक्षित की जाय, उसमें [च] भी सप्तमी विभक्ति होती है॥ इस सूत्र में भाव का अर्थ क्रिया है॥

उदा०—गोषु दुह्यमानासु गतः (गौओं के दोहनकाल में गया था)। दुग्धासु आगतः (दोहनकाल के पश्चात् आ गया)। अग्निषु हूयमानेषु गतः (यज्ञकाल में गया था)। हुतेष्वागतः (यज्ञकाल के बाद आ गया)॥

उदाहरण में गौ की दोहनक्रिया से गमनक्रिया (जाना) लक्षित की जा रही है, अतः उसमें सप्तमी हो गई है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझें॥

यहाँ से 'इस सारे सूत्र' की अनुवृत्ति २।३।३८ तक जायेगी॥

षष्ठी, सप्तमी

षष्ठी चानादरे ॥२।३।३८॥

षष्ठी १।१॥ च अ० ॥ अनादरे ७।१॥ स०—न आदरः अनादरः, तस्मिन् अनादरे, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—यस्य च भावेन भावलक्षणम्, सप्तमी॥ अर्थः—यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततोऽनादरे गम्यमाने षष्ठी विभक्तिर्भवति, चकारात् सप्तमी च॥ उदा०—रुदतः प्राव्राजीत्, रुदति प्राव्राजीत्। क्रोशतः प्राव्राजीत्, क्रोशति प्राव्राजीत्॥

भावार्थः—जिसकी क्रिया से क्रियान्तर लक्षित हो, उसमें [अनादरे] अनादर गम्यमान होने पर [षष्ठी] षष्ठी, तथा [च] चकार से सप्तमी विभक्ति भी होती है॥

उदा०—रुदतः प्राव्राजीत् (रोते हुए को छोड़कर बिना परवाह किये परिव्राजक बन गया), रुदति प्राव्राजीत्। क्रोशतः प्राव्राजीत् (क्रोध करते हुये को छोड़कर

परिव्राजक बन गया), कोशति प्राव्राजीत् ॥ रुदन का कोसन क्रिया से क्रियान्तर (उसका जाना) लक्षित हो रहा है। तथा अनादर भी प्रकट हो रहा है, तो षष्ठी सप्तमी विभक्ति हो गई ॥

यहाँ से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति २।३।४१ तक जायेगी ॥ षष्ठी सप्तमी

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥२।३।३९॥

स्वामीश्व प्रसूतैः ३।३॥ च अ० ॥ स०—स्वामी च ईश्वरश्च अधिपतिश्च दायादश्च साक्षी च प्रतिभूश्च प्रसूतश्चेति स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूताः, तैः······,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी, सप्तमी ॥ अर्थः—स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत इत्येतैः शब्दैर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—गवां स्वामी, गोषु स्वामी। गवाम् ईश्वरः, गोषु ईश्वरः। गवाम् अधिपतिः, गोषु अधिपतिः। गवां दायादः, गोषु दायादः। गवां साक्षी, गोषु साक्षी। गवां प्रतिभूः, गोषु प्रतिभूः। गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः ॥

भाषार्थः—[स्वामी ····प्रसूतैः] स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू, प्रसूत इन शब्दों के योग में [च] भी षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥

उदा०—गवां स्वामी (गौओं का स्वामी), गोषु स्वामी। गवाम् ईश्वरः (गौओं का मालिक), गोषु ईश्वरः। गवाम् अधिपतिः (गौओं का मालिक), गोषु अधिपतिः। गवां दायादः (गोरूपी पैतृक धन का अधिकारी), गोषु दायादः। गवां साक्षी (गौओं का साक्षी), गोषु साक्षी। गवां प्रतिभूः (गौओं का जामिन), गोषु प्रतिभूः। गवां प्रसूतः (गौओं का बछड़ा), गोषु प्रसूतः ॥

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ॥२।३।४०॥ षष्ठी, सप्तमी

आयुक्तकुशलाभ्यां ३।२॥ च अ० ॥ आसेवायाम् ७।१॥ स०—आयुक्तश्च कुशलश्च आयुक्तकुशलौ, ताभ्याम्······,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥अनु०—षष्ठी, सप्तमी ॥ अर्थः—आसेवायां गम्यमानायाम् आयुक्त कुशल इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—आयुक्तः कटकरणस्य, आयुक्तः कटकरणे। कुशलः कटकरणस्य, कुशलः कटकरणे ॥

भाषार्थः—[आयुक्तकुशलाभ्याम्] आयुक्त तथा कुशल शब्दों के योग में [च] भी [आसेवायाम्] आसेवा=तत्परता गम्यमान हो, तो षष्ठी सप्तमी विभक्ति हो जाती हैं ॥

उदा०—आयुक्तः कटकरणस्य (चटाई बनाने में लगा है), आयुक्तः कटकरणे। कुशलः कटकरणस्य (चटाई बनाने में होशियार है), कुशलः कटकरणे ॥

षष्ठी, सप्तमी

यतश्च निर्द्धारणम् ॥२।३।४१॥

यतः अ० ॥ च अ० ॥ निर्द्धारणम् १।१॥ अनु०—षष्ठी, सप्तमी ॥ अर्थः—यतः=यस्मात् निर्द्धारणम् (जातिगुणक्रियाभिः समुदायाद् एकस्य पृथक्करणम्) भवति, तस्मात् षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः, मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः। गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा गोषु कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा। अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः, अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः ॥

भाषार्थः—[यतः] जिससे [निर्द्धारणम्] निर्द्धारण हो, उसमें [च] भी षष्ठी सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥ उदाहरणों में मनुष्य गौ तथा दौड़ते हुओं से निर्द्धारण किया जा रहा है, अतः षष्ठी सप्तमी विभक्ति हो गई हैं ॥

यहाँ से 'यतश्च निर्द्धारणम्' की अनुवृत्ति २।३।४२ तक जायेगी ॥

पञ्चमी

पञ्चमी विभक्ते ॥२।३।४२॥

पञ्चमी १।१॥ विभक्ते ७।१॥ अनु०—यतश्च निर्द्धारणम् ॥ अर्थः—यस्मिन् निर्द्धारणे विभागो भवति, तत्र पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः सुकुमारतराः। पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः ॥

भाषार्थः—जिस निर्द्धारण में [विभक्ते] विभाग किया जाये, उसमें [पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ॥ ऊपर के सूत्र का यह अपवाद है ॥

उदा०—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः सुकुमारतराः (मथुरा के लोग पटनावालों से अधिक सुकुमार हैं)। पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः ॥

निर्द्धारण के आश्रय तथा निर्धार्यमाण का विभाग होने पर ही निर्धारण होता है। फिर भी इस सूत्र में 'विभक्ते' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जिस निर्धारणाश्रय में सदा विभाग ही होता है (अन्तर्भाव कभी नहीं होता), इस प्रकार अवधारण हो सके। जैसे उदाहरण में मथुरावालों से पटनावाले सर्वथा विभक्त हैं। परन्तु पूर्व सूत्र के उदाहरणों में गौ आदि में कृष्णा आदि का गोत्व आदि के रूप में अन्तर्भाव भी होता है ॥

सप्तमी

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ॥२।३।४३॥

साधुनिपुणाभ्याम् ३।२॥ अर्चायां ७।१॥ सप्तमी १।१॥ अप्रतेः ६।१॥ स०—साधुश्च निपुणश्च साधुनिपुणौ, ताभ्याम्……,इतरेतरयोगद्वन्द्वः। न प्रतिः अप्रतिः,

तस्य ......,नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—अर्चायाम् = सत्कारे गम्यमाने साधुनिपुणशब्दाभ्यां योगे सप्तमी विभक्तिर्भवति, न चेत् प्रतेः प्रयोगो भवेत् ॥ उदा० —मातरि साधुः, पितरि साधुः । मातरि निपुणः, पितरि निपुणः ॥

भाषार्थः—[अर्चायाम्] अर्चा = सत्कार गम्यमान होने पर [साधुनिपुणाभ्याम्] साधु निपुण शब्दों के योग में [अप्रतेः] प्रति का प्रयोग न हो, तो [सप्तमी] सप्तमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—मातरि साधुः (माता के प्रति साधु है), पितरि साधुः । मातरि निपुणः (माता के प्रति कुशल है), पितरि निपुणः ॥

यहाँ से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति २।३।४५ तक जायेगी ॥

तृतीया, सप्तमी

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ॥२।३।४४॥

प्रसितोत्सुकाभ्यां ३।२॥ तृतीया १।१॥ च अ० ॥ स०—प्रसितश्च उत्सुकश्च प्रसितोत्सुकौ, ताभ्यां...,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सप्तमी ॥ अर्थः—प्रसित उत्सुक इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां योगे तृतीया विभक्तिर्भवति, चकारात् सप्तमी च ॥ उदा०—केशैः प्रसितः, केशेषु प्रसितः । केशैरुत्सुकः, केशेषूत्सुकः ॥

भाषार्थः—[प्रसितोत्सुकाभ्याम्] प्रसित उत्सुक इन शब्दों के योग में [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है, [च] तथा चकार से सप्तमी भी होती है ॥ उदा०—केशैः प्रसितः (केशों को सम्हालने में लगा रहनेवाला), केशेषु प्रसितः । केशैरुत्सुकः (केशों के लिये उत्सुक), केशेषूत्सुकः ॥

यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृत्ति २।३।४५ तक जायेगी ॥

तृतीया, सप्तमी

नक्षत्रे च लुपि ॥२।३।४५॥

नक्षत्रे ७।१॥ च अ० ॥ लुपि ७।१॥ अनु०—तृतीया, सप्तमी ॥ अर्थः—लुबन्तात् नक्षत्रशब्दात् तृतीयासप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—पुष्येण पायसमश्नीयात्, पुष्ये पायसमश्नीयात् ॥

भाषार्थः—[लुपि] लुबन्त [नक्षत्रे] नक्षत्रवाची शब्द से [च] भी तृतीया और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥ नक्षत्रवाची शब्द से जहाँ काल अर्थ में प्रत्यय आकर लुप् हो जाता है, उसका इस सूत्र में ग्रहण है ॥

उदा०—पुष्येण पायसमश्नीयात् (पुष्य नक्षत्र से युक्त काल में खीर खावे), पुष्ये पायसमश्नीयात् ॥

पुष्य शब्द से नक्षत्रेण युक्तः कालः (४।२।३) से अण् प्रत्यय होकर, लुबविशेषे

(४।२।४) से उस अण् का लुप् हो गया है। अतः यह लुबन्त नक्षत्रवाची शब्द है, सो तृतीया और सप्तमी हो गई हैं ॥

प्रथमा

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ॥२।३।४६॥

प्रातिपदि···मात्रे ७।१॥ प्रथमा १।१॥ स०—प्रातिपदिकस्य अर्थः प्रातिपदिकार्थः, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गञ्च परिमाणञ्च वचनञ्च प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनं, समाहारो द्वन्द्वः। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनञ्चादः मात्रञ्च प्राति···वचनमात्रं, तस्मिन्···,कर्मधारयतत्पुरुषः। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इत्येतस्मात् नियमात् मात्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते॥ अर्थः—प्रातिपदिकार्थः=सत्ता। लिङ्गं=स्त्रीपुंनपुंसकानि। परिमाणं=तोलनम्। वचनम्=एकत्वद्वित्वबहुत्वानि। प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे, वचनमात्रे च प्रथमा विभक्तिर्भवति॥ उदा०—प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः, नीचैः। लिङ्गमात्रे—कुमारी, वृक्षः, कुण्डम्। परिमाणमात्रे—द्रोणः, खारी, आढकम्। वचनमात्रे—एकः, द्वौ, बहवः॥

भाषार्थः—[प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे] प्रातिपदिकार्थमात्र, लिङ्ग-मात्र, परिमाणमात्र, तथा वचनमात्र में [प्रथमा] प्रथमा विभक्ति होती है॥

विशेषः—यहाँ इतनी बात समझने की है कि प्रातिपदिकार्थ क्या है? प्राति-पदिकार्थ पञ्चक (सत्ता, द्रव्य, लिङ्ग, सङ्ख्या, कारक) एवं त्रिक (सत्ता, द्रव्य, लिङ्ग) तथा द्विक (सत्ता, द्रव्य) को भी कहते हैं। जब पञ्चक प्रातिपदिकार्थ मानेंगे, तो लिङ्गादि के पृथक् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वे सब प्रातिपदिकार्थ में ही आ गये। जब द्विक मानेंगे, तो बाकी सब पृथक्-पृथक् कहने पड़ेंगे॥ लिङ्गमात्र आदि का यहाँ अर्थ यह है कि 'जहाँ प्रातिपदिकार्थ के अति-रिक्त लिङ्ग की भी अधिकता हो, परिमाण की भी अधिकता हो' सो लिङ्गमात्र का लिङ्गाधिक्ये, परिमाणाधिक्ये आदि अर्थ हुआ॥

यहाँ से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति २।३।४८ तक जायेगी॥

प्रथमा

सम्बोधने च ॥२।३।४७॥

सम्बोधने ७।१॥ च अ०॥ अनु०—प्रथमा॥ अर्थः—सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिर्भवति॥ उदा०—हे देवदत्त, हे देवदत्तौ, हे देवदत्ताः॥

भाषार्थः—[सम्बोधने] सम्बोधन में [च] भी प्रथमा विभक्ति होती है॥ इस प्रकार सु औ जस् सम्बोधन विभक्ति में भी आते हैं॥ सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति आकर—हे देवदत्त सु इस अवस्था में २।३।४९ से सम्बुद्धि संज्ञा हो गई है।

तथा सम्बुद्धि संज्ञा होने से एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) से सु का लोप हो गया है ॥

सामन्त्रितम् ॥२।३।४८॥

सा १।१॥ आमन्त्रितम् १।१॥ अनु०—प्रथमा ॥ अर्थः—सा इत्यनेन सम्बोधने या प्रथमा सा निर्दिश्यते ॥ सम्बोधने या प्रथमा तदन्तं शब्दरूपं आमन्त्रित-सञ्ज्ञं भवति ॥ उदा०—अग्ने ॥

भाषार्थः—[सा] सम्बोधन में जो प्रथमा उसकी [आमन्त्रितम्] आम-न्त्रित संज्ञा होती है ॥ आमन्त्रित संज्ञा होने से आमन्त्रितस्य च (६।१।१६२) से अग्ने को आद्युदात्त हो गया है ॥

यहाँ से 'आमन्त्रितम्' की अनुवृत्ति २।३।४६ तक जायेगी ॥

एकवचनं सम्बुद्धिः ॥२।३।४६॥

एकवचनम् १।१॥ सम्बुद्धिः १।१॥ अनु०—आमन्त्रितम् ॥ अर्थः—आमन्त्रित-प्रथमाविभक्तेर्यद् एकवचनं तत्सम्बुद्धिसञ्ज्ञकं भवति ॥ उदा०—अग्ने । वायो । देवदत्त ॥

भाषार्थः—आमन्त्रितसञ्ज्ञक प्रथमा विभक्ति के [एकवचनम्] एकवचन की [सम्बुद्धिः] सम्बुद्धि संज्ञा होती है ॥ सम्बुद्धि संज्ञा होने से अग्ने वायो में ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) से गुण, तथा एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) से सु का लोप हो गया है ॥

षष्ठी शेषे ॥२।३।५०॥

षष्ठी १।१॥ शेषे ७।१॥ अर्थः—कर्मादीनि कारकाणि प्रातिपदिकार्थश्च यत्र न विवक्ष्यन्ते स शेषः ।शेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—राज्ञः पुरुषः । कार्पासस्य वस्त्रम् । वृक्षस्य शाखा ॥

भाषार्थः—कर्मादि कारक तथा प्रातिपदिकार्थ जहाँ विवक्षित न हों, वह शेष है । [शेषे] शेष में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति होती है ॥ उदा०—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष) । कार्पासस्य वस्त्रम् (रुई का वस्त्र) । वृक्षस्य शाखा (वृक्ष की शाखा) ॥

यहाँ से 'षष्ठी शेषे' की अनुवृत्ति पाद के अन्त तक जायेगी । तथा जिन-जिन सूत्रों में 'शेषे' अधिकार लगेगा, वहाँ 'अनभिहिते' अधिकार नहीं लगेगा, ऐसा जानें ॥

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ॥२।३।५१॥

ज्ञः ६।१॥ अविदर्थस्य ६।१॥ करणे ७।१॥ स०—विद् अर्थो यस्य स विदर्थः, बहुव्रीहिः । न विदर्थः अविदर्थः, तस्य···,नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—अविदर्थस्य=अज्ञानार्थस्य ज्ञाधातोः करणे कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—सर्पिषो जानीते । मधुनो जानीते ॥

भाषार्थः—[अविदर्थस्य] अज्ञानार्थक जो [ज्ञः] ज्ञा धातु उसके [करणे] करण कारक में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ घी के कारण प्रवृत्ति हो रही है, अथवा—भ्रान्ति के कारण घी समझ कर प्रवृत्ति हो रही है, अतः अज्ञानार्थ है । अकर्मकाच्च (१।३।४५) से जानीते में आत्मनेपद हुआ है ॥ शेष सर्वत्र इसलिये कहते हैं कि कारक विवक्षाधीन हैं, सो किसी कारक की विवक्षा न हो, तब शेष विवक्षित होने पर षष्ठी होगी ॥

अधीगर्थदयेशां कर्मणि ॥२।३।५२॥

अधीगर्थदयेशाम् ६।३॥ कर्मणि ७।१॥ अनु०—षष्ठी शेषे ॥ स०—अधीग् अर्थो येषां धातूनां ते अधीगर्थाः । अधीगर्थाश्च दयश्च इट् च अधीगर्थदयेशः, तेषां ···बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—अधीगर्थ=स्मरणार्थक, दय, ईश इत्येतेषां धातूनां शेषे विवक्षिते कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—मातुरध्येति, मातुः स्मरति । सर्पिषो दयते । सर्पिष ईष्टे ॥

भाषार्थः—[अधीगर्थदयेशाम्] अधि पूर्वक इक् धातु के अर्थवाली धातुओं के, तथा दय और ईश धातुओं के [कर्मणि] कर्म कारक में, शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ अधि पूर्वक इक् धातु स्मरण अर्थ में होती है ॥ उदा०—मातुरध्येति (माता का स्मरण करता है), मातुः स्मरति । सर्पिषो दयते (घी देता है) । सर्पिष ईष्टे (घी पर अधिकार करता है) ॥

यहाँ से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति २।३।६१ तक जायेगी ॥

कृञः प्रतियत्ने ॥२।३।५३॥

कृञः ६।१॥ प्रतियत्ने ७।१॥ अर्थः—कर्मणि, षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—कृञ् धातोः कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते प्रतियत्ने गम्यमाने षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—एधोदकस्य उपस्कुरुते ॥

भाषार्थः—[कृञः] कृञ् धातु के कर्म में शेष विवक्षित होने पर [प्रतियत्ने] प्रतियत्न गम्यमान हो, तो षष्ठी विभक्ति होती है ॥ 'प्रतियत्न' किसी गुण को किसी और रूप में बदलने को कहते हैं ॥

उदा०—एधोदकस्य उपस्कुरुते (ईंधन जल के गुण को बदलता है) ॥

षष्ठी

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ॥२।३।५४॥

रुजार्थानाम् ६।३॥ भाववचनानाम् ६।३॥ अज्वरेः ६।१॥ स०—रुजा अर्थो येषां ते रुजार्थाः, तेषां……बहुव्रीहिः। भावो वचनः (कर्त्ता) येषां ते भाववचनाः, तेषाम्… बहुव्रीहिः। न ज्वरिः अज्वरिः, तस्य अज्वरेः, नञ्तत्पुरुषः॥ वक्तीति वचनः कर्त्तरि ल्युट्, तेन वचनशब्दस्य कर्त्तरि तात्पर्यम्॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे॥ अर्थः—भाववचनानां=भावकर्त्तृकाणां रुजार्थानां धातूनां ज्वरवर्जितानां कर्मणि कारके शेषे विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति॥ उदा०—चौरस्य रुजति रोगः। चौरस्य आमयति आमयः॥

भाषार्थः—[भाववचनानाम्] धात्वर्थ को कहनेवाले जो घञादिप्रत्ययान्त शब्द, वे हैं कर्त्ता जिन [रुजार्थानाम्] रुजार्थक धातुओं के, उनके कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है, [अज्वरेः] ज्वर धातु को छोड़कर॥ उदा०—चौरस्य रुजति रोगः (रोग चोर को कष्ट देता है)। चौरस्य आमयति आमयः॥ यहां भाववचन का अर्थ भावकर्त्तृक है। भाव का अर्थ हुआ धात्वर्थ, तथा वचन का तात्पर्य कर्त्ता से है। सो उदाहरण में 'रुज्' धातु का कष्ट भोगना जो धात्वर्थ है, वह घञ्प्रत्ययान्त 'रोग' शब्द से कहा जा रहा है। तथा रोग शब्द रुजति का कर्त्ता है, अतः चोर कर्म में षष्ठी हो गई है॥

षष्ठी

आशिषि नाथः ॥२।३।५५॥

आशिषि ७।१॥ नाथः ६।१॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे॥ अर्थः—आशिषि वर्त्तमानस्य नाथधातोः कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति॥ उदा०—सर्पिषो नाथते। मधुनो नाथते॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वचन अर्थ में [नाथः] नाथ धातु के कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है॥ यहां 'आशीः' का अर्थ इच्छा है॥ उदा०—सर्पिषो नाथते (घी की इच्छा करता है)। मधुनो नाथते। (शहद की इच्छा करता है)॥

षष्ठी

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥२।३।५६॥

जासिनि…पिषाम् ६।३॥ हिंसायाम् ७।१॥ स०—जासिश्च निप्रहणं च नाटश्च क्राथश्च पिट् च जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषः, तेषां……, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे॥ अर्थः—जसुधातोः चौरादिकस्य निपूर्वकस्य प्रपूर्वकस्य हनधातोः, नाट क्राथ पिष इत्येतेषां च हिंसाक्रियाणाम् कर्मणि कारके शेषत्वेन

विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ।। उदा०—चौरस्य उज्जासयति । दुष्टस्य निप्रहन्ति, वृषलस्य निहन्ति, चौरस्य प्रहन्ति । सङ्घातविगृहीतस्य नि प्र इत्येतस्य ग्रहणम् । चौरस्य उन्नाटयति । चौरस्य क्राथयति । चौरस्य पिनष्टि ।।

भाषार्थः—[हिंसायाम्] हिंसा क्रियावाली [जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषाम्] जसु ताडने, नि प्र पूर्वक हन, ण्यन्त नट एवं, क्रथ पिष् इन धातुओं के कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।। उदा०—चौरस्य उज्जासयति (चोर को मारता है) । दुष्टस्य निप्रहन्ति (दुष्ट को मारता है), वृषलस्य निहन्ति (नीच को मारता है), चौरस्य प्रहन्ति (चोर को मारता है) । चौरस्य उन्नाटयति (चोर को नष्ट करता है) । चौरस्य क्राथयति (चोर को मारता है) । चौरस्य पिनष्टि (चोर को मार-मार कर पीसता है) ।। क्रथ धातु घटादिगण में पढ़ी है, सो घटादयो मितः (धातुपाठ भ्वादिगण का सूत्र पृ० १२) से मित् होकर मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व प्राप्त था, पर यहाँ निपातन से वृद्धि हो जाती है । उदाहरण में चौर कर्म है, सो यहाँ षष्ठी हो गई है ।।

षष्ठी

व्यवहृपणोः समर्थयोः ।।२।३।५७।।

व्यवहृपणोः ६।२।। समर्थयोः ६।२।। स०—व्यवहृ च पणश्च व्यवहृपणौ, तयोः ....,इतरेतरयोगद्वन्द्वः । समोऽर्थो ययोः तौ समर्थौ, तयोः... बहुव्रीहिः ।। अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे ।। अर्थः—वि अव पूर्वको यो हृञ् धातुः, पण धातुश्च, तयोः समर्थयोः कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ।। उदा०—शतस्य व्यवहरति, सहस्रस्य व्यवहरति । शतस्य पणते, सहस्रस्य पणते ।।

भाषार्थः—[व्यवहृपणोः] वि अव पूर्वक हृ धातु, तथा पण धातु [समर्थयोः] समर्थ=समानार्थक हों, तो उनके कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।। वि अव पूर्वक हृ धातु व्यवहारार्थक है, तथा पण धातु भी व्यवहार अर्थ-वाली ली गई है, सो दोनों समानार्थक हैं ।। उदा०—शतस्य व्यवहरति (सौ रुपये व्यवहार में लाता है), सहस्रस्य व्यवहरति । शतस्य पणते (सौ रुपये व्यवहार में लाता है), सहस्रस्य पणते ।।

षष्ठी

दिवस्तदर्थस्य ।।२।३।५८।।

दिवः ६।१।। तदर्थस्य ६।१।। स०—सः (व्यवहारः) अर्थो यस्य स तदर्थः, तस्य .....,बहुव्रीहिः ।। अनु०—कर्मणि, षष्ठी ।। अर्थः—तदर्थस्य=व्यवहारार्थस्य दिव्धातोः अनभिहिते कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति ।। उदा०—शतस्य दीव्यति, सहस्रस्य दीव्यति ।।

भाषार्थः—[तदर्थस्य] व्यवहारार्थक [दिवः] दिव् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥ तदर्थ से यहाँ व्यवहृ पण् धातुओं का जो व्यवहार अर्थ है, वह लिया गया है ॥ इस तथा अगले दो सूत्रों में 'शेषे' का सम्बन्ध नहीं है ॥

उदा०—शतस्य दीव्यति (सौ रुपये व्यवहार में लाता है), सहस्रस्य दीव्यति ॥

यहाँ से 'दिवस्तदर्थस्य' की अनुवृत्ति २।३।६० तक जायेगी ॥

विभाषोपसर्गे ॥२।३।५९॥

षष्ठी, द्वितीया

विभाषा १।१॥ उपसर्गे ७।१॥ अनु०—दिवस्तदर्थस्य, कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—तदर्थस्य दिव्धातोः सोपसर्गस्य कर्मणि कारके विभाषा षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ पूर्वेण नित्यं प्राप्ता षष्ठी विकल्प्यते ॥ उदा०—शतस्य प्रतिदीव्यति, शतं प्रतिदीव्यति । सहस्रस्य प्रतिदीव्यति, सहस्रं प्रतिदीव्यति ॥

भाषार्थः—व्यवहारार्थक दिव् धातु [उपसर्गे] सोपसर्ग हो, तो कर्म कारक में [विभाषा] विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है, पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया होती है ॥

द्वितीया ब्राह्मणे ॥२।३।६०॥

द्वितीया

द्वितीया १।१॥ ब्राह्मणे ७।१॥ अनु०—दिवस्तदर्थस्य, कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—ब्राह्मणविषयके प्रयोगे तदर्थस्य दिव्धातोः कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः ॥

भाषार्थः—[ब्राह्मणे] ब्राह्मणविषयक प्रयोग में व्यवहारार्थक दिव् धातु के कर्म में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है ॥ कर्म में द्वितीया तो होती ही है, पुनर्वचन पूर्व सूत्रों से जो षष्ठी प्राप्त थी, उसके हटाने के लिए है । अतः 'गाम्' में यहाँ षष्ठी न होकर द्वितीया हो गई ॥

षष्ठी

प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने ॥२।३।६१॥

प्रेष्यब्रुवोः ६।२॥ हविषः ६।१॥ देवतासम्प्रदाने ७।१॥ स०—प्रेष्यश्च ब्रूश्च प्रेष्यब्रुवौ, तयोः ......,इतरेतरयोगद्वन्द्वः । देवता सम्प्रदानं यस्य (अर्थस्य) स देवतासम्प्रदानः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्त्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो हविषो वाचकात् शब्दात् षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रे३ष्य । अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रू३हि ॥

भावार्थ:—[देवतासम्प्रदाने] देवता सम्प्रदान है जिसका, उस क्रिया के वाचक [प्रेष्यब्रुवः] प्र पूर्वक इष धातु (दिवादि गणवाली) तथा ब्रू धातु के कर्म [हविषः] हवि के वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ॥

षष्ठी

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥२।३।६२॥

चतुर्थ्यर्थे ७।१॥ बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—चतुर्थ्यर्थे इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थ:—छन्दसि विषये चतुर्थ्यर्थे बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम् (यजु० २४।३५॥ तै० ५।५।१५।१। मै० ३।१४।१६)। ते 'वनस्पतिभ्यः' एवं प्राप्ते। कृष्णो रात्र्यै ॥

भावार्थ:—[चतुर्थ्यर्थे] चतुर्थी के अर्थ में [छन्दसि] वेदविषय में [बहुलम्] बहुल करके षष्ठी विभक्ति होती है ॥ बहुल कहने से 'रात्र्यै' यहाँ षष्ठी नहीं होती है ॥

यहाँ से 'बहुलम् छन्दसि' की अनुवृत्ति २।३।६३ तक जायेगी ॥

षष्ठी

यजेश्च करणे ॥२।३।६३॥

यजे: ६।१॥ च अ० ॥ करणे ७।१॥ अनु०—बहुलं छन्दसि, षष्ठी ॥ अर्थ:—यजधातो: करणे कारके वेदविषये बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—घृतस्य यजते (कौषी० १६।५॥ श०४।४।२।४), घृतेन यजते। सोमस्य यजते, सोमेन यजते ॥

भावार्थ:—[यजेः] यज धातु के [च] भी [करणे] करण कारक में वेदविषय में बहुल करके षष्ठी विभक्ति होती है ॥ करण में तृतीया प्राप्त थी, बहुल कहने से पक्ष में वह भी हो गई ॥

षष्ठी

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ॥२।३।६४॥

कृत्वोऽर्थप्रयोगे ७।१॥ काले ७।१॥ अधिकरणे ७।१॥ स०—कृत्वसोऽर्थ: कृत्वोर्थ:, षष्ठीतत्पुरुषः। कृत्वोर्थ एव अर्थो येषां ते (प्रत्ययाः) कृत्वोऽर्थाः, बहुव्रीहिः। कृत्वोऽर्थस्य प्रयोगः कृत्वोऽर्थप्रयोगः तस्मिन् ···· ,षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—षष्ठी शेषे ॥ अर्थ:—कृत्वोऽर्थानां प्रत्ययानां प्रयोगे काले अधिकरणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—पञ्चकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते। द्विरह्नोऽधीते। दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते ॥

भावार्थ:—[कृत्वोऽर्थप्रयोगे] कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ में वर्त्तमान जो प्रत्यय हैं, तदन्त प्रातिपदिकों के प्रयोग में [काले] कालवाची [अधिकरणे] अधिकरण शेष की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥

उदा०—पञ्चकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते (दिन में पांच बार खाता है)। द्विरह्नोऽधीते (दिन में दो बार पढ़ता है)। दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते ॥

अहन् तथा दिवस शब्द कालवाची अधिकरण हैं, उनमें षष्ठी हो गई है॥ संख्यायाः क्रियाभ्या० (५।४।१७) से पञ्चकृत्वः में कृत्वसुच्, तथा द्विर् में द्वित्रि-चतुर्भ्यः सुच् (५।४।१८) से कृत्वोऽर्थ में सुच् प्रत्यय हुआ है॥

कर्तृकर्मणोः कृति ॥२।३।६५॥

कर्तृकर्मणोः ७।२॥ कृति ७।१॥ स०—कर्त्ता च कर्म च कर्त्तृकर्मणी, तयोः ...... ,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी, अनभिहिते ॥ अर्थः—कृत्प्रयोगे अनभिहिते कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—कर्त्तरि—भवतः शायिका। भवत आसिका। कर्मणि—अपां स्रष्टा। पुरां भेत्ता। वज्रस्य भर्त्ता॥

भावार्थः—अनभिहित [कर्तृकर्मणोः] कर्त्ता और कर्म में [कृति] कृत् का प्रयोग होने पर षष्ठी विभक्ति होती है॥ कृदतिङ् (३।१।९३) से कृत्संज्ञक ण्वुच् प्रत्यय पर्यायार्हर्णो० (३।३।१११) से शायिका आदि में हुआ है। तथा तृच् प्रत्यय स्रष्टा आदि में हुआ है। सो इनके कर्त्ता और कर्म में षष्ठी हो गई है। पूरी सिद्धि परि० २।२।१६ में देखें॥

यहाँ से 'कृति' की अनुवृत्ति २।३।६६ तक जायेगी॥

उभयप्राप्तौ कर्मणि ॥२।३।६६॥

उभयप्राप्तौ ७।१॥ कर्मणि ७।१॥ स०—उभयोः (कर्तृकर्मणोः) प्राप्तिर्यस्मिन् (कृति) सोऽयमुभयप्राप्तिः, तस्मिन् ......,बहुव्रीहिः॥ अनु०—कृति, षष्ठी, अनभिहिते॥ अर्थः—उभयोः कर्तृकर्मणोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्रानभिहिते कर्मण्येव षष्ठी विभक्तिर्भवति, न कर्त्तरीति नियम्यते॥ उदा०—आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन। रोचते मे ओदनस्य पाको देवदत्तेन॥

भावार्थः—पूर्वसूत्र से कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त थी। सो यहाँ नियम कर दिया कि जिस कृदन्त के योग में [उभयप्राप्तौ] कर्त्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो, वहाँ अनभिहित [कर्मणि] कर्म में षष्ठी हो, कर्त्ता में नहीं॥ उदाहरण में दोहः पाकः घञ् प्रत्ययान्त कृदन्त हैं। अगोपालक तथा देवदत्त कर्त्ता हैं, और गो तथा ओदन कर्म हैं। सो कृत् के योग में दोनों में (कर्त्ता और कर्म में) षष्ठी प्राप्त हुई, तब इस सूत्र से कर्म 'गौ' तथा 'ओदन' में ही षष्ठी हुई। कर्त्ता में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया हो गई॥

षष्ठी

क्तस्य च वर्त्तमाने ॥२।३।६७॥

क्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ वर्त्तमाने ७।१॥ अनु०—षष्ठी ॥ **अर्थः**—वर्त्तमाने काले विहितस्य क्तप्रत्ययान्तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः ॥

भाषार्थः—[वर्त्तमाने] वर्त्तमान काल में विहित जो [क्तस्य] क्त प्रत्यय उसके प्रयोग में [च] भी षष्ठी विभक्ति होती है ॥ न लोकाव्ययनिष्ठा० (२।३।६९) से निष्ठासंज्ञक होने से क्तप्रत्ययान्त के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति प्राप्त नहीं थी । यहाँ वर्त्तमान काल में विहित क्त में प्राप्त करा दी । मतिबुद्धिपूजार्थे० (३।२।१८८) से वर्त्तमानकाल में क्त विहित है ॥

यहाँ से 'क्तस्य' की अनुवृत्ति २।३।६८ तक जायेगी॥

षष्ठी

अधिकरणवाचिनश्च ॥२।३।६८॥

अधिकरणवाचिनः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—क्तस्य, षष्ठी ॥ **अर्थः**—अधिकरणवाचिनः क्तप्रययान्तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ **क्तोऽधिकरणे०** (३।४।७६) इत्यनेनाधिकरणे क्तो विहितः ॥ उदा०—इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां सुप्तम् ॥

भाषार्थः—[अधिकरणवाचिनः] अधिकरणवाची क्तप्रत्ययान्त के प्रयोग में [च] भी षष्ठी विभक्ति होती है ॥ २।३।६९ से षष्ठी का निषेध प्राप्त होने पर इस सूत्र का विधान है ॥ क्तोऽधिकरणे० (३।४।७६) से अधिकरण में क्त होता है ॥ उदा०—इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां शयितम् (यह इनके सोने का स्थान) । इदमेषां सुप्तम् (यह इनके जाने का स्थान) ॥

षष्ठी निषेध

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ॥२।३।६९॥

न अ० ॥ लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ६।३॥ स०—खलोऽर्थः खलर्थः, खलर्थ एव अर्थो येषां ते खलर्थाः, बहुव्रीहिः । लश्च उश्च उकश्च अव्ययञ्च निष्ठा च खलर्थश्च तृन् चेति लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनः, तेषां……,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—षष्ठी ॥ **अर्थः**—ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन् इत्येतेषां योगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥ 'ल' ग्रहणेन ये लकारस्य स्थान आदेशाः शतृशानचौ, कानच्क्वसू किकिनौ च ते गृह्यन्ते ॥ उदा०—ओदनं पचन्, ओदनं पचमानः । कानच्—ओदनं पेचानः । क्वसु—ओदनं पेचिवान् । किकिनौ—पपिः सोमं, ददिर्गाः । उ—कटं चिकीर्षुः, ओदनं बुभुक्षुः । उक—आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः । अव्यय—कटं कृत्वा, ओदनं भुक्त्वा । निष्ठा—कटं कृतवान्, देवदत्तेन कृतम् । खलर्थ—ईषत्करः

कटो भवता, ईषत्पानः सोमो भवता । तृन्—सोमं पवमानः । नटमाघ्नानः । अधीयन् पारायणम् । कर्त्ता कटान् । वदिता जनापवादान् ।। तृन् इत्यनेन प्रत्याहारग्रहणम्, लटः शतृ० (३।२।१२४) इत्यारभ्य आ तृनो (३।२।१३५) नकारात् ।।

भाषार्थः—[लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्] ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन् इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति [न] नहीं होती ।। ल से लादेश शतृ शानच् कानच् क्वसु कि किन् इनका ग्रहण है ।। कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्त्ता कर्म में षष्ठी प्राप्त होने पर इस सूत्र ने निषेध कर दिया है ।।

उदा०—ओदनं पचन्, ओदनं पचमानः । कानच्—ओदनं पेचानः (उसने भात पकाया) । क्वसु—ओदनं पेचिवान् । किकिन्—पपिः सोमम्, ददिर्गाः । उ—कटं चिकीर्षुः (चटाई बनाने की इच्छावाला), ओदनं बुभुक्षुः (चावल खाने की इच्छावाला) । उक—आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः (राक्षस लोग भी मुक्ति की इच्छा से वाराणसी की ओर आने की इच्छा रखते हैं, ऐसा लोग कहते हैं) । अव्यय—कटं कृत्वा (चटाई बनाकर), ओदनं भुक्त्वा । निष्ठा—कटं कृतवान् (चटाई बनाई), देवदत्तेन कृतम् (देवदत्त के द्वारा किया गया) । खलर्थ—ईषत्करः कटो भवता (आपको चटाई बनाना आसान है), ईषत्पानः सोमो भवता (आपके द्वारा सोम पीना आसान है) । तृन्—सोमं पवमानः (सोम को पवित्र करते हुए) । नटमाघ्नानः (नट को मारता हुआ) । अधीयन् पारायणम् (पारायण को पढ़ता हुआ)। कर्त्ता कटान् (चटाई को बनानेवाला) । वदिता जनापवादान् (लोगों की बुराई को कहनेवाला) ।।

लटः शतृशान० (३।२।१२४) से लट् के स्थान शतृ शानच्, लिटः कानज् वा (३।२।१०६) से लिट् के स्थान में कानच्, क्वसुश्च (३।२।१०७) से क्वसु आदृगमहन० (३।२।१७१) से कि तथा किन् प्रत्यय लिट्स्थानी हैं । अतः ये सब लादेश होने से "ल" कहने से लिए गये हैं ।। पेचिवान् आदि की पूरी सिद्धियाँ तत्-तत् सूत्रों में ही देखें । यहाँ तो यही दिखाना है कि कर्म में (ओदनम् आदि में) जो षष्ठी प्राप्त थी, वह नहीं हुई ।। सनाशंसभिक्ष उः (३।२।१६८) से उ प्रत्यय चिकीर्षुः आदि में हुआ है ।। लषपतपद० (३।२।१५४) से उकञ्, जिसको सूत्र में 'उक' कहा है, 'आगामुकं' में हुआ है ।। कृत्वा को अव्ययसंज्ञा क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३९) से हुई है ।। खल् के अर्थ में जो विहित प्रत्यय वह खलर्थ कहाये । ईषत्करः में ईषद्दुःसुषु० (३।३।१२६) से खल्, तथा ईषत्पानः में खलर्थ में युच् प्रत्यय हुआ है ।। तृन् से प्रत्याहार का ग्रहण है—लटः शतृशानचाव०(३।२।१२४)के तृ से लेकर तृन् के नकारपर्यन्त । अतः 'तृन्' कहने से उसके अन्तर्गत जो शानन्, चानश्,

शतृ, तृन् उनका भी ग्रहण होता है। पवमानः में पूङ्यजोः शानन् (३।२।१२८) से शानन् प्रत्यय; 'आघ्नानः' में आङ् पूर्वक हन् धातु से ताच्छील्यवयो० (३।२।१२९) से चानश् प्रत्यय; एवं 'अधीयन्' में इङ्धार्य्योः शत्र० (३।२।१३०) से शतृ प्रत्यय; तथा कर्त्ता में तृन् (३।२।१३५) से तृन् प्रत्यय हुआ है। ये सब तृन् में प्रत्याहार ग्रहण करने से आ गये॥ सब सिद्धियां तत्-तत् सूत्रों में ही देखें॥ सूत्र में उ+उक में अकः सवर्णे०(६।१।९७) से दीर्घ एकादेश होकर ऊक बना, पुनः आद्गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर 'लोक' बन गया॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति २।३।७० तक जायेगी॥

षष्ठी निषेध[1] **अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः॥२।३।७०॥**

अकेनोः ६।२॥ भविष्यदाधमर्ण्ययोः ७।२॥ स०—अकश्च इन् च अकेनौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। भविष्यच्च आधमर्ण्यञ्च भविष्यदाधमर्ण्ये, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—न, षष्ठी॥ अर्थः—भविष्यति आधमर्ण्ये च विहितस्य अकान्तस्य इन्प्रत्ययान्तस्य च प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति॥ उदा०—कटं कारको व्रजति, ओदनं भोजको व्रजति॥ अकप्रत्ययस्तु भविष्यत्येव विहितो न त्वाधमर्ण्ये, तेनासम्भवमुदाहरणम् आधमर्ण्यस्य। ग्रामं गमी, ग्रामं गामी। आधमर्ण्ये—शतं दायी, सहस्रं दायी॥

भावार्थः—[अकेनोः] अक प्रत्यय तथा इन् प्रत्यय, जो [भविष्यदाधमर्ण्ययोः] भविष्यत् काल तथा आधमर्ण्य अर्थों में विहित हैं, तदन्त शब्दों के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है॥ यहां दो प्रत्यय तथा दो ही अर्थों के होने से यथासंख्य होना चाहिये, सो नहीं होता, ऐसा व्याख्यान से जानना चाहिये। अक (वु) केवल भविष्यत् काल में विहित है, तथा 'इन्' भविष्यत् और आधमर्ण्य दोनों अर्थों में है, सो उसी प्रकार उदाहरण दिये हैं॥ उदा०—कटं कारको व्रजति (चटाई बनानेवाला जाता है), ओदनं भोजको व्रजति। इनि—ग्रामं गमी (गाँव को जानेवाला)। ग्रामं गामी। आधमर्ण्ये—शतं दायी (सौ रुपया कर्जा चुकानेवाला), सहस्रं दायी॥

कारकः आदि में ण्वुल् तुमुन्ण्वुलौ० (३।३।१०) से हुआ है। गमी में गमेरिनिः (उणा० ४।६) से इनि प्रत्यय हुआ है, जो कि भविष्यति गम्यादयः (३।३।३) सूत्र से भविष्यत् काल में विहित है॥ दायी में आवश्यकाधमर्ण्ययो० (३।३।१७०) से णिनि आधमर्ण्य अर्थ में हुआ है। पूरी सिद्धि तत्-तत् सूत्रों में ही मिलेगी॥ षष्ठी का प्रतिषेध करने पर कर्म में द्वितीया हो गई है॥ यह सूत्र भी २।३।६५ का ही अपवाद है॥

कृत्यानां कर्त्तरि वा ॥२।३।७१॥ षष्ठी, तृतीया

कृत्यानाम् ६।३॥ कर्त्तरि ७।१॥ वा अ० ॥ अनु०—षष्ठी, अनभिहिते ॥ अर्थः—कृत्यप्रत्ययान्तानां प्रयोगे अनभिहिते कर्त्तरि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति, न कर्मणि ॥ उदा०—देवदत्तस्य कर्त्तव्यः, देवदत्तेन कर्त्तव्यः। भवतः कटः कर्त्तव्यः, भवता कटः कर्त्तव्यः ॥

भाषार्थः—[कृत्यानाम्] कृत्यप्रत्ययान्तों के प्रयोग में अनभिहित [कर्त्तरि] कर्त्ता में [वा] विकल्प से षष्ठी होती है, न कि कर्म में ॥ कर्तृकर्म० (२।३।६५) से कर्त्ता में नित्य षष्ठी प्राप्त थी, विकल्प कह दिया है ॥

उदा०—देवदत्तस्य कर्त्तव्यः (देवदत्त के करने योग्य), देवदत्तेन कर्त्तव्यः। भवतः कटः कर्त्तव्यः (आपके द्वारा चटाई बनाई जानी चाहिये), भवता कटः कर्त्तव्यः ॥ देवदत्त तथा भवत् शब्द कर्त्ता हैं, सो इनमें षष्ठी, तथा पक्ष में कर्तृकरणयो० (२।३।१८) से तृतीया भी हो गई है। कट अभिहित कर्म है, अतः इसमें कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कृत् का प्रयोग होने पर भी षष्ठी नहीं हुई, क्योंकि वहाँ अनभिहित कर्म कहा है। सो यहाँ प्रातिपदिकार्थमात्र होने से प्राति० (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति हो गई है। तव्य प्रत्यय कृत्याः (३।१।९५) से कृत्यसंज्ञक है ॥

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥२।३।७२॥ तृतीया षष्ठी

तुल्यार्थैः ३।३॥ अतुलोपमाभ्याम् ३।२॥ तृतीया १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—तुल्यः अर्थो येषां ते तुल्यार्थाः, तैः तुल्यार्थैः, बहुव्रीहिः। तुला च उपमा च तुलोपमे, न तुलोपमे अतुलोपमे,ताभ्यां, द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—तुल्यार्थैः शब्दैर्योगे शेषे विवक्षिते तृतीया विभक्तिर्भवति अन्यतरस्याम्, पक्षे षष्ठी च, तुलोपमाशब्दौ वर्जयित्वा ॥ उदा०—तुल्यो देवदत्तेन, तुल्यो देवदत्तस्य। सदृशो देवदत्तेन, सदृशो देवदत्तस्य ॥

भाषार्थः—[तुल्यार्थैः] तुल्य के पर्यायवाची शब्दों के योग में शेष विवक्षित होने पर [अतुलोपमाभ्याम्] तुला और उपमा शब्दों को छोड़कर [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है, पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है ॥ उदा०—तुल्यो देवदत्तेन (देवदत्त के तुल्य), तुल्यो देवदत्तस्य। सदृशो देवदत्तेन, सदृशो देवदत्तस्य ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति २।३।७३ तक जायेगी ॥

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥२।३।७३॥

चतुर्थी १।१॥ च अ० ॥ आशिषि ७।१॥ आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ३।३॥ स०—आयुष्यं च मद्रं च भद्रं च कुशलं च सुखं च अर्थश्च हितं च आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितानि, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी शेषे, अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः—आशिषि गम्यमानायाम् आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित इत्येतैर्योगे शेषे विवक्षिते विकल्पेन चतुर्थी विभक्तिर्भवति, पक्षे षष्ठी च ॥ उदा०—आयुष्यं देवदत्ताय भूयात्, आयुष्यं देवदत्तस्य भूयात् । अत्र 'आयुष्यादीनां पर्यायग्रहणम्' इत्यनेन वार्त्तिकेन पर्यायाणामपि ग्रहणं भवति । चिरं जीवितं देवदत्ताय, देवदत्तस्य वा भूयात् । मद्रं देवदत्ताय, मद्रं देवदत्तस्य । भद्रं देवदत्ताय, भद्रं देवदत्तस्य । कुशलं देवदत्ताय, कुशलं देवदत्तस्य । निरामयं देवदत्ताय, निरामयं देवदत्तस्य । सुखं देवदत्ताय, सुखं देवदत्तस्य । शं देवदत्ताय, शं देवदत्तस्य । अर्थो देवदत्ताय, अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजनं देवदत्ताय, प्रयोजनं देवदत्तस्य । हितं देवदत्ताय, हितं देवदत्तस्य । पथ्यं देवदत्ताय, पथ्यं देवदत्तस्य ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वचन गम्यमान हो, तो [आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः] आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित इन शब्दों के योग में शेष विवक्षित होने पर [चतुर्थी] चतुर्थी विभक्ति होती है, [च] चकार से पक्ष में षष्ठी भी होती है ॥ यहाँ आयुष्य इत्यादि शब्दों के पर्यायवाचियों का भी ग्रहण होता है ॥

उदा०—आयुष्यं देवदत्ताय भूयात् (देवदत्त की आयु बढ़े), आयुष्यं देवदत्तस्य भूयात् । चिरं जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात् । मद्रं देवदत्ताय (देवदत्त का भला हो), मद्रं देवदत्तस्य । भद्रं देवदत्ताय (देवदत्त का कल्याण हो), भद्रं देवदत्तस्य । कुशलं देवदत्ताय (देवदत्त का कुशल हो), कुशलं देवदत्तस्य । निरामयं देवदत्ताय (देवदत्त रोगरहित हो), निरामयं देवदत्तस्य । सुखं देवदत्ताय (देवदत्त को सुख हो), सुखं देवदत्तस्य । शं देवदत्ताय, शं देवदत्तस्य । अर्थो देवदत्ताय (देवदत्त का प्रयोजन सिद्ध हो), अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजनं देवदत्ताय, प्रयोजनं देवदत्तस्य । हितं देवदत्ताय (देवदत्त का हित हो), हितं देवदत्तस्य । पथ्यं देवदत्ताय, पथ्यं देवदत्तस्य ॥

॥ इति तृतीयः पादः ॥

—: :—

चतुर्थः पादः

[एकवद्भाव-प्रकरणम्]

द्विगुरेकवचनम् ॥२।४।१॥

द्विगुः १।१॥ एकवचनम् १।१॥ स०—एकस्य वचनम् एकवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—द्विगुसमास एकवचनम्=एकस्य अर्थस्य वाचको भवति ॥ उदा०—पञ्च पूलाः समाहृताः पञ्चपूली, दशपूली ॥

भाषार्थः—[द्विगुः] द्विगु समास [एकवचनम्] एकवचन अर्थात् एक अर्थ का वाचक होता है ॥ सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से सङ्ख्या पूर्ववाले तत्पुरुष की द्विगु संज्ञा कही है ॥ पञ्चपूली आदि की सिद्धि परि० २।१।५० में देखें ॥ एकवद्भाव हो जाने से सर्वत्र द्व्येकयोर्द्वि० (१।४।२२) से एकवचन होकर 'सु' आ जाता है ॥

यहाँ से 'एकवचनम्' की अनुवृत्ति २।४।१६ तक जायेगी ॥

एकवचन

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ॥२।४।२॥

द्वन्द्वः १।१। च अ० ॥ प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ६।३॥ स०—प्राणी च तूर्यश्च सेना च प्राणितूर्यसेनाः, तासाम् अङ्गानि प्राणितूर्यसेनाङ्गानि, तेषां, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—एकवचनम् ॥ अर्थः—प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति ॥ उदा०—पाणी च पादौ च पाणिपादम् । शिरश्च ग्रीवा च शिरोग्रीवम् । तूर्याङ्गानाम्—मार्दङ्गिकश्च पाणविकश्च मार्दङ्गिकपाणविकम् । वीणावादकपरिवादकम् । सेनाङ्गानाम्—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च रथिकाश्वारोहम् । रथिकपादातम् ॥

भाषार्थः—[प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्] प्राणी के अङ्ग, तूर्य=बाजा के अङ्ग, तथा सेना के अङ्ग (अवयव) वाची शब्दों के [द्वन्द्वः] द्वन्द्व समास को [च] भी एकवद्भाव हो जाता है ॥ अङ्ग शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित होता है । अङ्ग का अर्थ अवयव है ॥

उदा०—पाणिपादम् (हाथ और पैर) । शिरोग्रीवम् (सिर और कण्ठ) । तूर्याङ्गानाम्—मार्दङ्गिकपाणविकम् (मृदङ्ग तथा पणव=ढोल बजानेवाला) । वीणावादकपरिवादकम् (वीणावादक और परिवादक) । सेनाङ्गानाम्—रथिकाश्वा-

रोहम् (रथवाले तथा घुड़सवार)। रथिकपादातम् (रथवाले तथा पैदल चलनेवाले)। इस प्रकरण में द्वन्द्व समास को जहाँ-जहाँ एकवद्भाव किया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र स नपुंसकम् (२।४।१७) से नपुंसकलिङ्ग भी हो जाता है ॥ एकवद्भाव करने का सर्वत्र यही प्रयोजन है कि दो में द्विवचन तथा बहुतों में बहुवचन प्राप्त था, सो एकवद्भाव कहने से एकवचन ही हो ॥

यहाँ से 'द्वन्द्वः' की अनुवृत्ति २।४।१६ तक जायेगी ॥

अनुवादे चरणानाम् ॥२।४।३॥

अनुवादे ७।१॥ चरणानाम् ६।३॥ अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम् ॥ अर्थः—अनुवादे गम्यमाने चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति ॥ उदा०—उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् ॥

भाषार्थः—[चरणानाम्] [1]चरणवाचियों का जो द्वन्द्व उसको [अनुवादे] अनुवाद गम्यमान होने पर एकवद्भाव हो जाता है ॥

उदा०—उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् (प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण से जानकर कोई कहता है—कठों और कालापों की उन्नति हुई, कठों और कौथुमों की प्रतिष्ठा हुई) ॥

अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् ॥२।४।४॥

अध्वर्युक्रतुः १।१॥ अनपुंसकम् १।१॥ स०—अध्वर्योः (सम्बन्धी) क्रतुः, अध्वर्युक्रतुः, षष्ठीतत्पुरुषः । न नपुंसकम् अनपुंसकम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वन्द्वः एकवचनम् ॥ अर्थः—अध्वर्युवेदे विहितो यः क्रतुः स अध्वर्युक्रतुरित्युच्यते । अनपुंसकलिङ्गानाम् अध्वर्युक्रतुवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकवद् भवति ॥ उदा०—

---

१. चरण शाखा के प्रवर्त्तक ग्रन्थ का नाम है । चरण की बहुत सी शाखायें होती हैं, सो शाखा के आदि ग्रन्थ का नाम ही चरण है । हम यहां वैदिक विद्वान् रिसर्च स्कालर श्री० पं० भगवद्दत्त जी के ग्रंथ "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" से उद्धरण उपस्थित करते हैं—"शाखा चरण का अवान्तर विभाग है । जैसे शाकल, बाष्कल, वाजसनेय, चरक आदि चरण हैं । इनकी आगे क्रमशः ५, ४, १५ और १२ शाखायें हैं । इस विचार का पोषक एक पाठ है—जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने ···।" (देखो पृ० १७३, सं० द्वि०, प्रथमभाग) । उन शाखाओं के अध्येताओं के लिए भी गौणरूप से इन शब्दों का प्रयोग होता है । उदाहरणों में अध्येताओं के लिए कठ आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं ॥

अर्कश्च अश्वमेधश्च=अर्काश्वमेधम् । सायाह्नश्च अतिरात्रश्च=सायाह्नातिरात्रम् । सोमयागराजसूयम् ।।

भावार्थः—[अध्वर्युक्रतुः] अध्वर्यु (यजुर्वेद) में विहित जो क्रतु=यज्ञवाची शब्द, वे [अनपुंसकम्] नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान न हों, तो उनका द्वन्द्व एकवद्भाव को प्राप्त होता है ।।

उदा०—अर्काश्वमेधम् (अर्कयज्ञ और अश्वमेधयज्ञ)। सायाह्नातिरात्रम् सायाह्नयज्ञ और अतिरात्रयज्ञ) । सोमयागराजसूयम् (सोमयाग और राजसूय यज्ञ) ।।

अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् ।।२।४।५।।

अध्ययनतः अ० ।। अविप्रकृष्टाख्यानाम् ६।३।। स०—न विप्रकृष्टा अविप्रकृष्टा, नञ्तत्पुरुषः । अविप्रकृष्टा आख्या येषां ते अविप्रकृष्टाख्याः, तेषां ·····,बहुव्रीहिः ।। अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम् ।। अर्थः—अध्ययननिमित्तेन येषां शब्दानाम् अविप्रकृष्टाख्या =समीपाख्या अस्ति, तेषां द्वन्द्व एकवद् भवति ।। उदा०—वैयाकरणनैरुक्तम् । पदक-क्रमकम् । क्रमकवार्त्तिकम् ।।

भावार्थः—[अध्ययनतः] अध्ययन के निमित्त से [अविप्रकृष्टाख्यानाम्] समीप की आख्यावाले जो शब्द हैं, उनका द्वन्द्व एकवद्भाव को प्राप्त होता है ।।

उदा०—वैयाकरणनैरुक्तम् (व्याकरण और निरुक्त के अध्येता) । पदकक्रम-कम् (पदपाठ और क्रमपाठ के अध्येता । क्रमकवार्त्तिकम् (क्रमपाठ तथा वृत्ति के अध्येता) ।।

व्याकरण पूर्ण करने के पश्चात् निरुक्त पढ़ा जाता है । एवं वेद का पदपाठ पढ़ लेने के पश्चात् क्रमपाठ पढ़ते हैं । सो ये सब अध्ययन के निमित्त से समीप की आख्यावाले शब्द हैं, इन्हें एकवद्भाव हो गया है । स नपुंसकम् (२।४।१७) से नपुंसकलिंग हो ही जायेगा । क्रमादिभ्यो वुन् (४।२।६०) से पदक तथा क्रमक में वुन् प्रत्यय हुआ है । तथा क्रतूक्थादि० (४।२।५९) से वार्त्तिक में ठक् प्रत्यय हुआ है ।।

जातिरप्राणिनाम् ।।२।४।६।।

जातिः १।१।। अप्राणिनाम् ६।३।। स०— न प्राणिनः अप्राणिनः, तेषां, नञ्-तत्पुरुषः ।। अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम् ।। अर्थः—अप्राणिवाचिनां जातिशब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति ।। उदा०—आराशस्त्रि । धानाशष्कुलि । खट्वापीठम् । घटपटम् ।।

भावार्थः—[अप्राणिनाम्] प्राणिरहित [जातिः] जातिवाची शब्दों का जो द्वन्द्व है, उसे एकवद्भाव होता है॥

उदा०—आराशस्त्रि (करौत एवं आरी)। धानाशष्कुलि (सत्तू और पूरी)। खट्वापीठम् (खाट और चौकी)। घटपटम् (घड़े और कपड़े)॥ पूर्ववत् नपुंसकलिङ्ग होकर, शस्त्री और शष्कुली को ह्रस्वो नपुंसके प्राति० (१।२।४७) सूत्र से ह्रस्व हो गया है॥

विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः ॥२।४।७॥

विशिष्टलिङ्गः १।१॥ नदी १।१॥ देशः १।१॥ अग्रामाः १।३॥ स०—विशिष्टं भिन्नं लिङ्गं यस्य स विशिष्टलिङ्गः, बहुव्रीहिः। न ग्रामाः अग्रामाः, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम्॥ अर्थः—विशिष्टलिङ्गानां=भिन्नलिङ्गानां नदीवाचिनां देशवाचिनां च शब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति, ग्रामवाचिशब्दान् वर्जयित्वा॥ उदा०—उद्ध्यश्च इरावती च उद्ध्येरावति। गङ्गा च शोणं च गङ्गाशोणम्। देशः—कुरवश्च कुरुक्षेत्रञ्च कुरुकुरुक्षेत्रम्। कुरुकुरुजाङ्गलम्॥

भावार्थः—[विशिष्टलिङ्गः] भिन्नलिङ्गवाले [नदी] नदीवाची, तथा [देशः] देशवाची शब्दों का जो द्वन्द्व है, उसे एकवद्भाव होता है, [अग्रामाः] ग्रामवाची शब्दों को छोड़कर॥

उदा०—उद्ध्येरावति (उद्ध्य[1] और इरावती)। गङ्गाशोणम् (गङ्गा तथा सोन नदी)। देश—कुरुकुरुक्षेत्रम् (कुरु तथा कुरुक्षेत्र नामक देश)। कुरुकुरुजाङ्गलम् (कुरु तथा कुरुजाङ्गल देश)॥

उदाहरण में उद्ध्य पुंल्लिङ्ग तथा इरावती स्त्रीलिङ्ग है, अतः विशिष्ट=भिन्नलिङ्गवाले नदीवाची शब्द हैं। इसी प्रकार कुरु पुंल्लिङ्ग तथा कुरुक्षेत्र और कुरुजाङ्गल नपुंसकलिङ्ग हैं। सो भिन्न लिङ्गवाले देशवाची शब्द हैं। अतः एकवद्भाव होकर पूर्ववत् कार्य हुआ है। ग्राम भी देश में आ जाते हैं, अतः ग्रामवाची शब्दों को छोड़कर कह दिया है॥

---

१. उद्ध्य का वर्त्तमान नाम उझ है। यह जम्मू प्रान्त के जसरोटा जिले में होती हुई कुछ दूर पंजाब में बहकर गुरुदासपुर जिले में रावी के दाहिने किनारे पर मिल गई है। इरावती वर्त्तमान रावी का नाम है॥ देखो—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ५२, हिन्दी सं०॥

क्षुद्रजन्तवः ॥२।४।८॥

क्षुद्रजन्तवः १।३॥ स०—क्षुद्राश्च ते जन्तवश्च क्षुद्रजन्तवः, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम् ॥ अर्थः—क्षुद्रजन्तुवाचिनां शब्दानां द्वन्द्व एकवद्भवति ॥ उदा०—यूकाश्च लिक्षाश्च=यूकालिक्षम् । दंशमशकम् । कीटपिपीलिकम् ॥

भाषार्थः—[क्षुद्रजन्तवः] क्षुद्रजन्तुवाची शब्दों का द्वन्द्व एकवद्भाव को प्राप्त होता है ॥ क्षुद्र जन्तु से नेवले से लेकर सूक्ष्म जीव लिये जायेंगे । महाभाष्य में क्षुद्र की व्याख्या कई ढंग से की गई है ॥

उदा०—यूकालिक्षम् (जूं और लीख) । दंशमशकम् (डांस और मच्छर) । कीटपिपीलिकम् (कीड़ी और चिऊंटी) ॥

येषां च विरोधः शाश्वतिकः ॥२।४।९॥

येषां ६।३॥ च अ० ॥ विरोधः १।१॥ शाश्वतिकः १।१॥ अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम् ॥ अर्थः—येषां जीवानां शाश्वतिकः=सनातनः=सार्वकालिकः विरोधः=वैरं तद्वाचिशब्दानां द्वन्द्व एकवद् भवति ॥ उदा०—मार्जारमूषकम् । अहिनकुलम् ॥

भाषार्थः—[येषां] जिन जीवों का [शाश्वतिकः] शाश्वतिक=सनातन [विरोधः] विरोध है, तद्वाची शब्दों का द्वन्द्व [च] भी एकवद्भाव को प्राप्त होता है ॥

उदा०—मार्जारमूषकम् (बिल्ली और चूहा) । अहिनकुलम् (सांप और नेवला) ॥ बिल्ली जहां भी चूहे को देखेगी, उसे खा लेगी । नेवला सांप को देखते ही मार डालेगा। इस प्रकार इनका आपस में स्वाभाविक=सनातन विरोध है ॥

शूद्राणामनिरवसितानाम् ॥२।४।१०॥

शूद्राणाम् ६।३॥ अनिरवसितानाम् ६।३॥ स०—न निरवसिता अनिरवसिताः, तेषां......,नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम् ॥ अर्थः—अनिरवसितशूद्रवाचिशब्दानां द्वन्द्व एकवद्भवति ॥ यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण (मार्जनेन) शुध्यति तेऽनिरवसिताः । उदा०—तक्षायस्कारम् । रजकतन्तुवायम् । रजककुलालम् ॥

भाषार्थः—[अनिरवसितानाम्] अनिरवसित [शूद्राणाम्] शूद्रवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास है, वह एकवद्भाव को प्राप्त होता है ॥ जिन शूद्रों के भोजन के पात्र मार्जन करने के पश्चात् शुद्ध माने जायें, वे अनिरवसित शूद्र कहे जाते हैं । तथा जिनके शुद्ध नहीं माने जाते, वे निरवसित होते हैं ॥

उदा०—तक्षायस्कारम् (बढ़ई और लुहार)। रजकतन्तुवायम् (धोबी और जुलाहा)। रजककुलालम् (धोबी और कुम्हार)॥ तक्ष अयस्कारादि अनिरवसित शूद्र[1] हैं॥

गवाश्वप्रभृतीनि च॥२।४।११॥

गवाश्वप्रभृतीनि १।३॥ च अ०॥ स०—गवाश्वं प्रभृति येषां तानि गवाश्वप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः॥ अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम्॥ अर्थः—गवाश्वप्रभृतीनि द्वन्द्वरूपाणि कृतैकवद्भावानि साधूनि भवन्ति॥ उदा०—गवाश्वम्। गवाविकम्। गवैडकम्। अजाविकम्॥

भाषार्थः—इस एकवद्भाव के अधिकार में [गवाश्वप्रभृतीनि] गवाश्व इत्यादि शब्द एकवद्भाव किये हुये जैसे पढ़े हैं, वैसे [च] ही साधु समझे जाते हैं॥ उदा०—गवाश्वम् (गौ और घोड़ा)। गवाविकम् (गौ और भेड़)। गवैडकम् (गौ और भेड़)। अजाविकम् (बकरी और भेड़)॥

गो अश्व का समास चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९ से) होकर, एकवद्भाव, तथा अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।११९) से अवङ् आदेश होकर गवाश्वम् बना है॥

विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्॥२।४।१२॥

विभाषा १।१॥ वृक्षमृग······धरोत्तराणाम् ६।३॥ स०—वृक्षमृग० इत्यत्र इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—द्वन्द्वः, एकवचनम्॥ अर्थः—वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर इत्येतेषां द्वन्द्वो विभाषा एकवद् भवति॥ उदा०—प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः। मृग—रुरवश्च पृषताश्च रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः। तृण—कुशकाशम्, कुशकाशाः। धान्य—व्रीहियवम्, व्रीहियवाः। व्यञ्जन—दधिघृतम्, दधिघृते। पशु—गोमहिषम्, गोमहिषाः। शकुनि—तित्तिरिकपिञ्जलम्, तित्तिरिकपिञ्जलाः। अश्ववडम्, अश्ववडवौ। पूर्वापरम्, पूर्वापरे। अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे॥

भाषार्थः—[वृक्ष··· ······णाम्] वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर वाची शब्दों का जो द्वन्द्वसमास, वह

---

१. शूद्र वास्तव में वह होता है, जिसको पढ़ाने पर भी कुछ न आये। जन्म से तो सब शूद्र होते ही हैं, विद्या और संस्कार से द्विज बनते हैं। तक्ष और अयस्कार भी द्विज बन सकते हैं, और द्विज भी तक्ष अयस्कार बन सकते हैं, यह भी एक पक्ष है॥

[विभाषा] विकल्प से एकवद्भाव को प्राप्त होता है ॥ वृक्ष, तृण, धान्य, व्यञ्जनवाचियों के द्वन्द्व में प्राणिरहित जातिवाची शब्द होने से जातिरप्राणिनाम् (२।४।६) से नित्य एकवद्भाव प्राप्त था, यहाँ विकल्प कर दिया है। शेष में किसी से प्राप्त नहीं था, विकल्प विधान कर दिया है। यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है ॥

उदा०—प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः। मृग—रुरुपृषतम् (रुरु हरिणविशेष और श्वेतबिन्दुवाला हरिण), रुरुपृषताः। तृण—कुशकाशम् (कुश और काश), कुशकाशाः। धान्य—व्रीहियवम् (चावल और जौ), व्रीहियवाः। व्यञ्जन—दधिघृतम्, (दही और घी), दधिघृते। पशु—गोमहिषम् (गायें और भैंसें), गोमहिषाः। शकुनि—तित्तिरिकपिञ्जलम् (तीतर और चातक), तित्तिरिकपिञ्जलाः। अश्ववडवम् (घोड़ा और घोड़ी), अश्ववडवौ। पूर्वापरम् (पूर्व और पर), पूर्वापरे। अधरोत्तरम् अधरोत्तरे ॥ पूर्ववदश्ववडवौ (२।४।२७) से अश्ववडवौ में पूर्ववत् लिङ्ग हुआ है ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति २।४।१३ तक जायेगी ॥

विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि ॥२।४।१३॥

विप्रतिषिद्धम् १।१॥ च अ० ॥ अनधिकरणवाचि १।१॥ स०—अधिकरणं वक्ति इति अधिकरणवाचि, उपपदम० (२।२।१६) इत्यनेन तत्पुरुषः समासः। न अधिकरणवाचि अनधिकरणवाचि, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, द्वन्द्वः, एकवचनम् ॥ अर्थः—विप्रतिषिद्धानां=परस्परविरुद्धानाम् अनधिकरणवाचिनां=अद्रव्यवाचिनां द्वन्द्वसमास एकवद् भवति विकल्पेन ॥ उदा०—शीतोष्णम्, शीतोष्णे। सुखदुःखम्, सुखदुःखे। जीवितमरणम्, जीवितमरणे ॥

भाषार्थः—[विप्रतिषिद्धम्] विप्रतिषिद्ध=परस्पर विरुद्ध [अनधिकरणवाचि] अनधिकरणवाची=अद्रव्यवाची[1] शब्दों का जो द्वन्द्व, उसको [च] भी विकल्प से एकवद्भाव होता है ॥ ठण्डा और गर्म आदि शब्द परस्पर विरोधी=विप्रतिषिद्ध हैं ॥ उदा०—शीतोष्णम् (ठण्डा और गरम), शीतोष्णे। सुखदुःखम् (सुख और दुःख), सुखदुःखे। जीवितमरणम् (जीना और मरना), जीवितमरणे ॥

न दधिपयआदीनि ॥२।४।१४॥

न अ० ॥ दधिपयआदीनि १।३॥ स०—दधि च पयश्च दधिपयसी, दधिपयसी

---

१. अधिकरण किसी द्रव्य=मूर्त्त पदार्थ का ही हो सकता है, क्रिया या गुण का नहीं। अतः यहाँ अधिकरण शब्द से द्रव्य लिया गया है, अनधिकरणवाची का अर्थ हुआ अद्रव्यवाची ॥

आदिर्येषां, तानि दधिपयआदीनि, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु० -द्वन्द्वः, एकवचनम् । अर्थः—दधिपयआदीनि द्वन्द्वशब्दरूपाणि न एकवद्भवन्ति । उदा०—दधिपयसी। सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिषी ॥

भावार्थः—[दधिपयआदीनि] दधिपयसी आदि शब्दों को एकवद्भाव [न] नहीं होता है ॥

उदा०—दधिपयसी (दही और दूध) । सर्पिर्मधुनी (घी और शहद) । मधु-सर्पिषी ॥ व्यञ्जनवाची होने से उदाहरणों में विभाषा वृक्ष० (२।४।१२) से एक-वद्भाव प्राप्त था, निषेध कर दिया है । गण के और शब्दों में भी पूर्वसूत्रों से एक-वद्भाव प्राप्त होने पर यह निषेधसूत्र है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति २।४।१५ तक जायेगी ॥

अधिकरणैतावत्त्वे च ॥२।४।१५॥

अधिकरणैतावत्त्वे ७।१॥ च अ० ॥ स०—एतावतो भावः एतावत्त्वम्, अधिकरणस्य एतावत्त्वम् अधिकरणैतावत्त्वं, तस्मिन्……,षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, द्वन्द्वः, एकवचनम् ॥ अर्थः—अधिकरणैतात्त्वे गम्यमाने द्वन्द्वः एकवद् न भवति ॥ समासावयवभूतपदानाम् अर्थोऽधिकरणम् उच्यते, तस्य एतावत्त्वं परिमाणं=संख्या ॥ उदा०—चत्वारो हस्तपादाः । दश दन्तोष्ठाः ॥

भावार्थः—[अधिकरणैतावत्त्वे] अधिकरण का परिमाण कहने में, जो द्वन्द्व समास, वह [च] भी एकवद्भाव को प्राप्त नहीं होता है ॥

उदा०—चत्वारो हस्तपादाः (चार हाथ और पैर) । दश दन्तोष्ठाः (दस दाँत और ओठ) ॥

यहाँ समास के अवयवभूत पद हाथ पैर या दन्तोष्ठ के अर्थ समास के अधि-करण हैं । उन हाथ पैर तथा दन्तोष्ठों की इयत्ता=परिमाण चार तथा दस से प्रकट हो रही है। इस प्रकार अधिकरण का एतावत्त्व कहा जा रहा है ॥ प्राणियों का अङ्ग होने से द्वन्द्वश्च प्राणि० (२।४।२) से एकवद्भाव प्राप्त था, यहाँ इयत्ता गम्यमान होने पर निषेध कर दिया है ॥

यहाँ से 'अधिकरणैतावत्त्वे' की अनुवृत्ति २।४।१६ तक जायेगी ॥

विभाषा समीपे ॥२।४।१६॥

विभाषा १।१॥ समीपे ७।१॥ अनु०—अधिकरणैतावत्त्वे, द्वन्द्वः, एकवचनम् ॥ अर्थः—अधिकरणैतावत्त्वस्य समीपेऽर्थे गम्यमाने द्वन्द्वः विभाषा एकवद् भवति ॥

उदा०—उपदशं दन्तोष्ठम्, उपदशाः दन्तोष्ठाः । उपदशं जानुजङ्घम् । उपदशाः जानुजङ्घाः ॥

भाषार्थः—अधिकरण के एतावत्त्व का [समीपे] समीप अर्थ कहना हो, तो द्वन्द्व समास में [विभाषा] विकल्प से एकवद्भाव होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य-निषेध प्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥

उदा०—उपदशं दन्तोष्ठम् (दश के लगभग दांत और ओठ), उपदशाः दन्तोष्ठाः । उपदशं जानुजङ्घम् (दश के लगभग घुटने और जङ्घा), उपदशाः जानुजङ्घाः ॥ दन्तोष्ठ आदि अधिकरण(द्रव्य) हैं । उनका एतावत्त्व दश से प्रकट हो रहा है, तथा उप से समीप अर्थ भी प्रतीत हो रहा है ॥

[लिङ्ग-प्रकरणम्]

स नपुंसकम् ॥२।४।१७॥

सः १।१॥ नपुंसकम् १।१॥ अर्थः—अस्मिन् एकवद्भावप्रकरणे यस्य एक-वद्भावो विहितः, स नपुंसकलिङ्गो भवति ॥ उदा०—पञ्चगवम् । दशगवम् । द्वन्द्वः—पाणिपादम् । शिरोग्रीवम् ॥

भाषार्थः—इस एकवद्भाव-प्रकरण में जिस (द्विगु और द्वन्द्व) को एकवद्भाव विधान किया है, [सः] वह [नपुंसकम्] नपुंसकलिङ्ग होता है ॥ तत्-तत् सूत्र में इसके उदाहरण आ ही गये हैं ॥ पञ्चगवम् में तद्धितार्थोत्तर० (२।१।५०) से समास, तथा संख्यापूर्वो० (२।१।१०) से द्विगु संज्ञा, एवं गोरतद्धितलुकि (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय भी हुआ है । पश्चात् अवादेश होकर पञ्चगवम् बना है । द्विगुरेकवचनम् (२।४।१) से एकवद्भाव होकर नपुंसकलिङ्ग होता है ॥

यहाँ से 'नपुंसकम्' की अनुवृत्ति २।४।२५ तक जायेगी ॥

अव्ययीभावश्च ॥२।४।१८॥

अव्ययीभावः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—नपुंसकम् ॥ अर्थः—अव्ययीभावः समासो नपुंसकलिङ्गो भवति ॥ उदा०—अधिस्त्रि । उपकुमारि । उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् ॥

भाषार्थः—[अव्ययीभावः] अव्ययीभाव समास [च] भी नपुंसकलिङ्ग होता है ॥ नपुंसकलिङ्ग होने से १।२।४७ से ह्रस्व हो जाता है । अधिस्त्रि की सिद्धि

परि० १।१।४० में देखें । उन्मत्तगङ्गम् में अन्यपदार्थे० (२।१।२०) से समास हुआ है । नपुंसकलिङ्ग होने से पूर्ववत् ह्रस्व हो गया ॥

तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः ॥२।४।१९॥

तत्पुरुषः १।१॥ अनञ्कर्मधारयः १।१॥ स०—नञ् च कर्मधारयश्च नञ्कर्मधारयः, समाहारो द्वन्द्वः । न नञ्कर्मधारयः अनञ्कर्मधारयः, नञ्तत्पुरुषः ॥ **अनु०**—नपुंसकम् ॥ **अर्थः**—नञ्तत्पुरुषं कर्मधारयतत्पुरुषं च विहाय योऽन्यस्तत्पुरुषसमासः स नपुंसकलिङ्गो भवति, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ **उदा०**—ब्राह्मणानां सेना ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसेना । असुरसेनम्, असुरसेना ॥

भाषार्थः—[अनञ्कर्मधारयः] नञ्तत्पुरुष तथा कर्मधारय तत्पुरुष को छोड़कर, जो अन्य [तत्पुरुषः] तत्पुरुष, वह नपुंसकलिङ्ग में होता है । यह अधिकार २।४।२५ तक जानना चाहिये ॥

उदा०—ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसेना (ब्राह्मणों की सेना) । असुरसेनम्, असुरसेना (असुरों की सेना) ॥

संज्ञायां कन्थोशीनरेषु ॥२।४।२०॥

संज्ञायाम् ७।१॥ कन्था १।१॥ उशीनरेषु ७।३॥ **अनु०**—तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः, नपुंसकम् ॥ **अर्थः**—संज्ञायां विषये अनञ्कर्मधारयः कन्थान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, सा चेत्कन्था उशीनरेषु[1] भवति ॥ **उदा०**—सौशमीनां कन्था सौशमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् ॥

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में नञ् तथा कर्मधारय तत्पुरुष को छोड़कर [कन्था] कन्थान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है, [उशीनरेषु] यदि वह कन्था उशीनर जनपद सम्बन्धी हो । कन्था[2] नगर को कहते हैं ॥

उदा०—**सौशमिकन्थम्** (सौशमि लोगों का नगर) । **आह्वरकन्थम्** (आह्वर लोगों का नगर) । नपुंसकलिङ्ग होने से ह्रस्वो नपुंसके० (१।२।४७) से ह्रस्व हो गया है ॥

उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् ॥२।४।२१॥

उपज्ञोपक्रमम् १।१॥ तदाद्याचिख्यासायाम् ७।१॥ उपज्ञायतेऽसौ उपज्ञा ।

---

१. उशीनर एक जनपद (जिला) का नाम था । सम्भवतः यह रावी और चनाव के बीच का निचला भूभाग था । देखो—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ६८ ॥

२. देखो—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ८२ ॥

उपक्रम्यतेऽसौ उपक्रम: ॥ **स०**—उपज्ञा च उपक्रमश्च उपज्ञोपक्रमम्, समाहारो द्वन्द्व: । आख्यातुमिच्छा=आचिख्यासा । तयो: (उपज्ञोपक्रमयो:) आदि: तदादि:, षष्ठीतत्पुरुष: । तदादे: आचिख्यासा तदाद्याचिख्यासा, तस्याम्, षष्ठीतत्पुरुष: ॥ **अनु०**—तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय:, नपुंसकम् ॥ **अर्थ:**—अनञ्कर्मधारय: उपज्ञान्त उपक्रमान्तश्च तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, यदि तयो: उपज्ञोपक्रमयोरादे: = प्रथमस्य आचिख्यासा भवेत् ॥ **उदा०** पाणिने: उपज्ञा पाणिन्युपज्ञम् अकालकं व्याकरणम् । व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्[1] । नन्दोपक्रमाणि मानानि ॥

भावार्थ:—[उपज्ञोपक्रमम्] **उपज्ञान्त तथा उपक्रमान्त तत्पुरुष नपुंसकलिङ्ग में होता है, नञ्कर्मधारय तत्पुरुष को छोड़कर** [तदाद्याचिख्यासायाम्] **यदि उपज्ञेय तथा उपक्रम्य के आदि =प्रथमकर्त्ता को कहने की इच्छा हो ॥ उपज्ञा किसी नई सूझ को कहते हैं, तथा उपक्रम किसी चीज के प्रारम्भ करने को कहते हैं । उपज्ञा तथाक्रम में भेद इतना है कि उपज्ञा सर्वथा नई वस्तु नहीं होती, किन्तु उसमें कोई विशेष सूझ ही होती है । जैसे कि पाणिनि से पूर्व भी और व्याकरण थे, उसमें केवल 'अकालक व्याकरण' बनाने की उपज्ञा पाणिनि ने की है । किन्तु उपक्रम सर्वथा नये निर्माण को कहते हैं । जैसे बाटों का नया प्रारम्भ नन्द का ही है ॥**

उदा०—**पाणिन्युपज्ञम् अकालकं व्याकरणम् (काल की परिभाषा से रहित व्याकरणरचना पाणिनि की ही उपज्ञा है) । व्याड्युपज्ञं दुष्करणम् (दुष्करण नामक विधि व्याडि की उपज्ञा है) । नन्दोपक्रमाणि मानानि (नन्द ने पहले-पहल तौलने के बाटों का प्रारम्भ किया) ॥**

छाया बाहुल्ये ।२।४।२२।।

छाया १।१।। बाहुल्ये ७।१।। **अनु०**—तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय:, नपुंसकम् ॥ **अर्थ:**—बाहुल्ये=बहुत्वे गम्यमाने अनञ्कर्मधारयश्छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति ॥ **उदा०**—शलभच्छायम् । इक्षुच्छायम् ॥

भावार्थ:—[बाहुल्ये] **बाहुल्य अर्थात् बहुत्व गम्यमान हो, तो नञ्कर्मधारय तत्पुरुष को छोड़कर** [छाया] **छायान्त जो तत्पुरुष है, वह नपुंसकलिङ्ग में होता है ॥**

उदा०—**शलभच्छायम(पतंगों की छाया) । इक्षुच्छायम(ईख की छाया)॥ उदाहरणों में शलभ इत्यादि का बाहुल्य प्रकट हो रहा है ॥** विभाषा सेनासुराच्छाया०

---

१. न्यास में इसी सूत्र पर 'दशहुष्करणम्' पाठ है । इस से प्रतीत होता है कि व्याडि के ग्रन्थ में दस स्थलों पर हुष्करण था । दुष्करण अथवा हुष्करण वैसी ही विधि है, जैसी धातुपाठ में 'वृस्करणविधि' उपलब्ध होती है ॥

(२।४।२५) से विकल्प से छायान्त तत्पुरुष को नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था। यहाँ बाहुल्य गम्यमान होने पर नित्य विधान कर दिया है ॥

सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा ॥२।४।२३॥

सभा १।१॥ राजाऽमनुष्यपूर्वा १।१॥ स०—न मनुष्यः अमनुष्यः, नञ्-तत्पुरुषः। राजा च अमनुष्यश्च राजामनुष्यौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। राजामनुष्यौ पूर्वौ यस्याः सा राजाऽमनुष्यपूर्वा (सभा), बहुव्रीहिः॥ अनु०—तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः, नपुंसकम् ॥ अर्थः—अनञ्कर्मधारयः सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, सा चेत् सभा राजपूर्वा अमनुष्यपूर्वा च भवति ॥ उदा०—इनसभम्। ईश्वरसभम्। अमनुष्य-पूर्वा—रक्षःसभम्। पिशाचसभम् ॥

भाषार्थः—नञ्कर्मधारय तत्पुरुष को छोड़कर [राजाऽमनुष्यपूर्वा] राजा और अमनुष्य पूर्वपदवाला जो [सभा] सभान्त तत्पुरुष, वह नपुंसकलिङ्ग में होता है ॥

यहाँ स्वं रूपं शब्द० (१।१।६८) से राजा शब्द का ही ग्रहण होना चाहिये, उसके पर्यायों का नहीं। किन्तु जित्पर्यायवचनस्यैव, राजाद्यर्थम् (वा० १।१।६८) इस वार्तिक से राजा के पर्यायों का ही ग्रहण होता है, राजा शब्द का नहीं। रक्षः पिशाच मनुष्य नहीं हैं ॥

उदा०—इनसभम् (राजा की सभा)। ईश्वरसभम्। अमनुष्यपूर्वा—रक्षः-सभम् (राक्षसों की सभा)। पिशाचसभम् ॥

यहाँ से 'सभा' की अनुवृत्ति २।४।२४ तक जायेगी ॥

अशाला च ॥२।४।२४॥

अशाला १।१॥ च अ० ॥ स०—न शाला अशाला, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु० -सभा, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः, नपुंसकम् ॥ अर्थः—शालाभिन्ना या सभा तदन्तो नञ्-कर्मधारयभिन्नस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति ॥ उदा०—स्त्रीणां सभा स्त्रीसभम्। दासीसभम् ॥

भाषार्थः—[अशाला] शाला अर्थ से भिन्न जो सभा तदन्त नञ्कर्मधारयभिन्न तत्पुरुष [च] भी नपुंसकलिङ्ग में होता है ॥

उदा०—स्त्रीसभम् (स्त्रियों की सभा)। दासीसभम् (दासियों की सभा)। स्त्रीसभम् आदि में शाला नहीं कहा जा रहा है, स्त्रियों का समुदाय कहा जा रहा है ॥

विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् ॥२।४।२५॥

विभाषा १।१॥ सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् ६।३॥ स०—सेना च सुरा च छाया च शाला च निशा च सेनासुराच्छायाशालानिशा:, तासाम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषोऽनञ् कर्मधारय:, नपुंसकम् ॥ अर्थ:—सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा इत्येतदन्तोऽनञ् कर्मधारयस्तत्पुरुषो विकल्पेन नपुंसकलिङ्गो भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसेना। असुरसेनम्, असुरसेना। यवसुरम्, यवसुरा। कुडयच्छायम्, कुडयच्छाया। गोशालम्, गोशाला। श्वनिशम्, श्वनिशा॥

भाषार्थ:—[सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्] सेना, सुरा, छाया, शाला, निशा अन्तवाला जो नञ् और कर्मधारय को छोड़कर तत्पुरुष समास वह नपुंसकलिङ्ग में [विभाषा] विकल्प से होता है॥ पूर्व सूत्रों में से किसी से नपुंसकलिङ्ग नहीं प्राप्त था, सो यहाँ अप्राप्त-विभाषा है॥

उदा०—ब्राह्मणसेनम्, ब्राह्मणसेना। असुरसेनम्, असुरसेना (असुरों की सेना)। यवसुरम् (जौ की शराब), यवसुरा। कुडयच्छायम् (दीवार की (छाया), कुडयच्छाया। गोशालम् (गोशाला), गोशाला। श्वनिशम् (कुत्तों की रात), श्वनिशा॥

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयो: ॥२।४।२६॥

परवत् अ०॥ लिङ्गम् १।१॥ द्वन्द्वतत्पुरुषयो: ६।२॥ परस्य इव परवत्, षष्ठ्यर्थे तत्र तस्येव (५।१।११५) वति:॥ स०-द्वन्द्वश्च तत्पुरुषश्च द्वन्द्वतत्पुरुषौ, तयो: ... ,इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अर्थ:—द्वन्द्वसमासस्य तत्पुरुषसमासस्य च परस्येव लिङ्गं भवति॥ उदा०—कुक्कुटश्च मयूरी च कुक्कुटमयूर्यौ इमे, मयूरीकुक्कुटौ इमौ। गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ। तत्पुरुषे—अर्धं पिप्पल्या: अर्धपिप्पली, अर्धकोशातकी, अर्धनखरञ्जनी॥

भाषार्थ: [द्वन्द्वतत्पुरुषयो:] द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास का [परवत्] पर के समान अर्थात् उत्तरपद का [लिङ्गम्] लिङ्ग होता है॥ समास में जब प्रत्येक पद भिन्न लिङ्गोंवाले होते हैं तो कौन लिङ्ग हो? द्वन्द्व समास में तो सारे पद प्रधान होते हैं, सो किसी भी पद का लिङ्ग हो सकता था। अत: नियम किया कि परवत् लिङ्ग ही हो। तथा तत्पुरुषसमास तो उत्तरपद प्रधान ही होता है, सो परवत् लिङ्ग सिद्ध ही था, पुन: एकदेशी तत्पुरुष समास के लिए यहाँ परवत् लिङ्ग कहा है। क्योंकि वह उत्तरपद प्रधान नहीं होता॥

उदा०—कुक्कुटमयूर्यौ इमे (मुर्गा और मोरनी) मयूरीकुक्कुटौ इमौ। गुण-

वृद्धी, वृद्धिगुणौ । तत्पुरुष में—अर्धपिप्पली । अर्धकोशातकी । अर्धनखरञ्जनी (मेंहदी का आधा भाग) ॥

उदाहरण में मयूरी पद जब उत्तरपद है, तबपर वत् लिङ्ग होने से स्त्रीलिङ्ग तथा जब कुक्कुट उत्तरपद है, तब परवत लिङ्ग होकर पुंल्लिङ्ग हो गया है। इसी प्रकार गुणवृद्धी में भी जानें। गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ, राजदन्तादि (२।२।३१) में पढ़ा है॥ अर्धं नपुंसकम् (२।२।२) से अर्धपिप्पली आदि में समास हुआ है ॥

पूर्ववदश्ववडवौ ॥२।४।२७॥

पूर्ववत् अ० ॥ अश्ववडवौ १।२॥ स०—अश्वश्च वडवा च अश्ववडवौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—अश्ववडवशब्दयोः पूर्ववत लिङ्गं भवति ॥ विभाषा वृक्षमृग० (२।४।१२) इत्यनेन अश्ववडवशब्दयोः एकवद्भावो विकल्पेनोक्तः, तत्रैकवद्भावादन्यत्र परवल्लिङ्गतायां प्राप्तायामिदमारभ्यते ॥ उदा०—अश्ववडवौ ॥

भावार्थः—[अश्ववडवौ] अश्व वडवा शब्दों के द्वन्द्व समास में [पूर्ववत्] पूर्ववत् लिङ्ग हो ॥ पूर्वसूत्र से परवत् लिङ्ग प्राप्त था, उसका अपवाद विधान किया है॥ विभाषा वृक्षमृग०(२।४।१२)सूत्र से अश्व वडव शब्दों को विकल्प से एकवद्भाव कहा है। सो एकवद्भावपक्ष में तो स नपुंसकम्(२।४।१७)से नपुंसकलिङ्ग हो गया। जिस पक्ष में एकवदभाव नहीं हुआ, उस पक्ष में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। पूर्ववत् लिङ्ग कहने से समास को अश्व के समान लिङ्ग हो गया। यहाँ विभाषा वृक्ष० सूत्र में पठित होने से वडवा के टाप् की निवृत्ति हो जाती है॥

यहाँ से 'पूर्ववत्' की अनुवृत्ति २।४।२८ तक जायेगी॥

हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि ॥२।४।२८॥

हेमन्तशिशिरौ १।२॥ अहोरात्रे १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ स०—हेमन्तश्च शिशिरं च हेमन्तशिशिरौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्ववत् ॥ अर्थः—हेमन्तशिशिरशब्दयोः अहोरात्रशब्दयोश्च द्वन्द्वसमासे छन्दसि विषये पूर्ववत् लिङ्गं भवति ॥ उदा०—हेमन्तशिशिरावृतू। वर्चो द्रविणाम् (यजु० १०।१४)। अहोरात्रे ऊर्ध्वंष्ठीवे (यजु० १८।२३)। अहानि च रात्रयश्च अहोरात्राणि ॥

भावार्थः—[हेमन्तशिशिरौ] हेमन्त और शिशिर शब्द, [च] तथा [अहोरात्रे] अहन् और रात्रि शब्दों का द्वन्द्व समास में [छन्दसि] छन्दविषय में पूर्ववत् लिङ्ग होता है॥ यहाँ परवत् लिङ्ग प्राप्त था, पूर्ववत् लिङ्ग कर दिया है। हेमन्त पुंल्लिङ्ग है, शिशिर नपुंसकलिङ्ग है, पूर्ववत् लिङ्ग करने से हेमन्तशिशिरौ पुंल्लिङ्ग

हो गया। इसी प्रकार ग्रह: नपुंसक लिङ्ग है और रात्रि स्त्रीलिङ्ग है, सो पूर्ववत् लिङ्ग होकर ग्रहोरात्रे नपुंसकलिङ्ग हो गया है ॥

रात्राह्नाहाः पुंसि ॥२।४।२९॥

रात्राह्नाहाः १।३॥ पुंसि ७।१॥ स०—रात्रश्च ग्रह्नश्च ग्रहश्च रात्राह्नाहाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ ग्रर्थः—रात्र ग्रह्न ग्रह इत्येतेषां पुंस्त्वं भवति ॥ रात्राह्नाहानां कृतसमासान्तानां ग्रहणम् ॥ उदा०—द्वयो रात्र्योः समाहारः द्विरात्रः। त्रिरात्रः। चतूरात्रः। पूर्वाह्णः। ग्रपराह्णः। मध्याह्नः। द्वयहः। त्र्यहः ॥

भाषार्थः—[रात्राह्नाहाः] रात्र ग्रह्न ग्रह इन कृतसमासान्त शब्दों को [पुंसि] पुंलिङ्ग होता है ॥ परवल्लिङ्गं० (२।४।२६) का ग्रपवाद यह सूत्र है ॥

ग्रपथं नपुंसकम् ॥२।४।३०॥

ग्रपथम् १।१॥ नपुंसकम् १।१॥ग्रर्थः—ग्रपथशब्दो नपुंसकलिङ्गो भवति ॥ उदा०—ग्रपथम् इदम्। ग्रपथानि गाहते मूढः ॥

भाषार्थः—नञ्समास किया हुग्रा जो [ग्रपथम्] ग्रपथ शब्द है, वह [नपुंसकम्] नपुंसकलिङ्ग में हो ॥ उदा०—ग्रपथम् इदम् (यह कुमार्ग है)। ग्रपथानि गाहते मूढः ॥

यहां से 'नपुंसकम्' की ग्रनुवृत्ति २।४।३१ तक जायेगी ॥

ग्रर्धर्चाः पुंसि च ॥२।४।३१॥

ग्रर्धर्चाः १।३॥ पुंसि ७।१॥ च ग्र० ॥ ग्रनु०—नपुंसकम् ॥ ग्रर्थः—ग्रर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि, चकारात् नपुंसके च भवन्ति ॥ उदा०—ग्रर्धर्चः, ग्रर्धर्चम्। गोमयः, गोमयम् ॥

भाषार्थः—[ग्रर्धर्चाः] ग्रर्धर्चादि शब्द [पुंसि] पुंल्लिङ्ग में, [च] चकार से नपुंसकलिङ्ग में भी होते हैं॥ ग्रर्धर्चाः में बहुवचन निर्देश होने से ग्रर्धर्चादिगण लिया गया है ॥

उदा०—ग्रर्धर्चः (ग्राधी ऋचा), ग्रर्धर्चम्। गोमयः (गाय का गोबर), गोमयम् ॥

[ग्रन्वादेश-प्रकरणम्]

इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ ॥२।४।३२॥

इदमः ६।१॥ ग्रन्वादेशे ७।१॥ ग्रश् १।१॥ ग्रनुदात्तः १।१॥ तृतीयादौ ७।१॥

आदिश्यते इति आदेशः, पश्चात् आदेशः अन्वादेशः ॥ स०—तृतीया आदिर्यस्याः सा तृतीयादिः, तस्यां……,बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अन्वादेशे वर्त्तमानस्य इदंशब्दस्य तृतीयादौ विभक्तौ परतः अनुदात्तः 'अश्' आदेशो भवति ॥ उदा०—आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता (आदेशवाक्यम्), अथो आभ्यामहरप्यधीतम् । अस्मै छात्राय कम्बलं देहि, अथोऽस्मै शाटकमपि देहि । अस्य छात्रस्य शोभनं शीलम्, अथोऽस्य प्रभूतं स्वम् ॥

भाषार्थः—[अन्वादेशे] अन्वादेश में जो वर्त्तमान [इदमः] इदम् शब्द, उसको [अनुदात्तः] अनुदात्त [अश्] अश् आदेश होता है, [तृतीयादौ] तृतीयादि विभक्तियों के परे रहते ॥

उदा०—आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता (आदेशवाक्य), अथो आभ्यामहरप्यधीतम् (इन छात्रों के द्वारा रातभर पढ़ा गया, तथा इन छात्रों ने दिन में भी पढ़ा)। अस्मै छात्राय कम्बल देहि, अथोऽस्मै शाटकमपि देहि (इस छात्र को कम्बल दो, तथा इसे धोती भी दो)। अस्य छात्रस्य शोभन शीलम्, अथोऽस्य प्रभूतं स्वम् (इस छात्र की सुशीलता अच्छी है, और यह धनवान् भी है) ॥

कहे हुये वाक्य के पीछे उसी को कुछ और कहने को 'अन्वादेश' कहते हैं ॥ उदाहरण में 'आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता' यह आदेशवाक्य है, उसके पश्चात् उन्हीं छात्रों के विषय में कुछ और कहा है, सो यह अन्वादेश है। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी समझें ॥ भ्याम् इत्यादि तृतीयादि विभक्तियों के परे रहते अश् आदेश हो गया है। अश् आदेश होने पर रूप में भेद नहीं होता है। केवल स्वर का ही भेद है। जब अव्ययसर्व० (५।३।७१) से अकच् करेंगे, उस समय रूप में भी भेद होता है ॥ शित् होने से अश् सारे इदम् के स्थान में होता है। अन्वादेश से अन्यत्र ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (६।१।१६५) से विभक्ति को उदात्त होकर आभ्याम् ऐसा स्वर रहेगा। अन्वादेश स्थल में अनुदात्त अश् आदेश होकर विभक्ति को भी अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।३) से अनुदात्त हो गया। सो आभ्याम् ऐसा स्वर रहा। अन्वादेश स्थल में ऊडिदम्प० (६।१।१६५) नहीं लगता। क्योंकि वह अन्तोदात्त से उत्तर विभक्ति को उदात्त करता है, यहाँ अनुदात्त अश् से उत्तर है ॥

यहाँ से 'इदमोऽन्वादेशे, अनुदात्तः' की अनुवृत्ति २।४।३४ तक जायेगी। तथा 'अश्' की अनुवृत्ति २।४।३३ तक जायेगी ॥

एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ ॥२।४।३३॥

एतदः ६।१॥ त्रतसोः ७।२॥ त्रतसौ १।२॥ च अ० ॥ अनुदात्तौ १।२॥ स०—त्रश्च तश्चेति त्रतसौ, तयोः……,इतरेतरयोगद्वन्द्वः। एवं त्रतसावपि ॥ अनु०—

अन्वादेशेऽशनुदात्तः ।। अर्थः—अन्वादेशे वर्त्तमानस्य 'एतद्' शब्दस्य त्रतसोः प्रत्यययोः परतोऽनुदात्तः 'अश्' आदेशो भवति, तौ चापि त्रतसावनुदात्तौ भवतः ।। उदा०—एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे । एतस्मात् छात्रात् छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व ।।

भाषार्थः—अन्वादेशविषय में वर्त्तमान जो [एतदः] एतद् शब्द, उसे अनुदात्त अश् आदेश होता है, [त्रतसोः] त्र तस् प्रत्ययों के परे रहते, [च] और वे [त्रतसो] त्र तस् प्रत्यय [अनुदात्तौ] अनुदात्त भी होते हैं ।। इदम् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध इस सूत्र में नहीं लगता, अगले सूत्र में लगेगा ।।

उदा०—एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः, अथो अत्र युक्ता अधीमहे (इस ग्राम में हम सुख से रहते हैं, और यहाँ लगकर पढ़ते भी हैं) । एतस्मात् छात्रात् छन्दोऽधीष्व, अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व(इस छात्र से छन्द पढ़ो, और इससे व्याकरण भी पढ़ो)।।

'अथो अत्र' 'अथो अतः' ये अन्वादेश हैं । अतः त्र (५।३।१०), तस् (५।३।७) के परे रहते एतद् को अश् आदेश होकर अत्र और अतः बना ।। लिति(६।१।१८७)से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त प्राप्त था, अनुदात्त विधान कर दिया है ।।

यहाँ से 'एतदः' की अनुवृत्ति २।४।३४ तक जायेगी ।।

द्वितीयाटौस्स्वेनः ।।२।४।३४।।

द्वितीयाटौस्सु ७।३।। एनः १।१।। स०—द्वितीया च टा च ओस् च द्वितीयाटौसः, तेषु……,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—एतदः, इदमोऽन्वादेशे अनुदात्तः ।। अर्थः—द्वितीया टा ओस् इत्येतासु विभक्तिषु परतोऽन्वादेशे वर्त्तमानयोः इदमेतद्शब्दयोरनुदात्त 'एन' आदेशो भवति ।। उदा०—इमं छात्रं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यापय । टा—अनेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेन अहरप्यधीतम् । ओस्—अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः प्रभूतं स्वम् ।। एतदः—एतं छात्रं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यापय । एतेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेन अहरप्यधीतम् । एतयोश्छात्रयोः शोभना प्रकृतिः, अथो एनयोः मृदुवाणी ।।

भाषार्थः—[द्वितीयाटौस्सु] द्वितीया, टा, ओस् विभक्तियों के परे रहते अन्वादेश में वर्त्तमान जो इदम् तथा एतद् शब्द उनको अनुदात्त [एनः] एन आदेश होता है ।। उदा०—इमं छात्रं छन्दोऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यापय (इस छात्र को छन्द पढ़ाओ, और इसे व्याकरण भी पढ़ाओ) । टा—अनेन छात्रेण रात्रिरधीता,

अथो एनेन अहरप्यधीतम् (इस छात्र ने रात्रिभर पढ़ा, और इसने दिन में भी पढ़ा)। ओस् —अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः प्रभूतं स्वम् (इन दोनों छात्रों का स्वभाव अच्छा है, और ये खूब धनवाले भी हैं)॥ एतद् का—एतं छात्रं छन्दो ऽध्यापय, अथो एनं व्याकरणमध्यापय। एतेन छात्रेण रात्रिरधीता, अथो एनेन अहरप्यधीतम्। एतयोश्छात्रयोः शोभना प्रकृतिः, अथो एनयोः मृदुवाणी॥

एन + अम् = एनम्, एन (टा) इन = एनेन, एन + ओस् = एनयोः, अन्वादेश विषय में हो गया है॥

[आर्धधातुक-प्रकरणम्]

आर्धधातुके॥२।४।३५॥

आर्धधातुके ७।१॥ अर्थः—'आर्धधातुके' इत्यधिकारसूत्रम्॥ इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि आर्धधातुकविषये भवन्तीति वेदितव्यम्॥ अग्रे उदाहरिष्यामः॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है, २।४।५७ तक जायेगा॥ यहाँ से आगे जो कार्य कहेंगे, वे [आर्धधातुके] आर्धधातुक विषय में होंगे। आर्धधातुक में विषयसप्तमी है, अर्थात् आगे आर्धधातुक का विषय आयेगा, यह मानकर (परे न हो तो भी) आर्धधातुक आने से पहले ही कार्य होंगे।

विशेष—सप्तमी तीन प्रकार की होती है। पर-सप्तमी, विषय-सप्तमी, निमित्त-सप्तमी, सो यहाँ विषयसप्तमी है। निमित्त-सप्तमी क्ङिति च (१।१।५) में है। तथा परसप्तमी के अनेकों उदाहरण हैं, जहाँ पर 'परे रहते' ऐसा कहा जाये, वह पर-सप्तमी है। तथा विषयसप्तमी वह है, जहाँ वह प्रत्यय अभी आया न हो, केवल यह विवक्षा हो कि ऐसा विषय आगे आयेगा, सो ऐसा मानकर कार्य हो जाये। यथा—अस्तेर्भूः (२।४।५२) में आर्धधातुक का विषय आयेगा, ऐसी विवक्षा में आर्धधातुक प्रत्यय लाने से पूर्व ही भू आदेश कर देते हैं। विषय-सप्तमी का विशेष प्रयोजन अस्तेर्भूः (२।४।५२), ब्रुवो वचिः, चक्षिङः ख्याञ् (२।४।५३-५४) में ही है, न कि सब सूत्रों में। आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से धातोः (३।१।९१) के अधिकार में धातु से आनेवाले शेष प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा कही है॥

अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति॥२।४।३६॥

अदः ६।१॥ जग्धिः १।१॥ ल्यप् लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः॥ ति ७।१॥ किति ७।१॥ स०—कितीत्यत्र बहुव्रीहिः॥ अनु०—आर्धधातुके॥ अर्थः—अदो जग्धिरादेशो भवति ल्यपि आर्धधातुके परतः, तकारादौ किति चार्धधातुके परतः॥ उदा०—प्रजग्ध्य। विजग्ध्य। जग्धः। जग्धवान्॥

भाषार्थः—[अदः] अद् को [जग्धिः] जग्धि आदेश होता है, [ल्यप्ति किति] ल्यप् तथा तकारादि कित् आर्धधातुक के परे रहते ॥ जग्धि में इकार उच्चारण के लिए लगाया है, वस्तुतः 'जग्ध्' आदेश होता है ॥

यहाँ से 'अदः' की अनुवृत्ति २।४।४० तक जायेगी ॥

लुङ्सनोर्घस्लृ ॥२।४।३७॥

लुङ्सनोः ७।२॥ घस्लृ १।१॥ स०—लुङ् च सन् च लुङ्सनौ, तयोः......, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अदः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—लुङि सनि चार्धधातुके परतः अद्धातोः 'घस्लृ' आदेशो भवति ॥ उदा०—अघसत् । सनि—जिघत्सति, जिघत्सतः ॥

भाषार्थः—[लुङ्सनोः] लुङ् और सन् आर्धधातुक के परे रहते अद् धातु को [घस्लृ] घस्लृ आदेश होता है ॥

यहाँ से 'घस्लृ' की अनुवृत्ति २।४।४० तक जायेगी ॥

घञपोश्च ॥२।४।३८॥

घञपोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—घञ् च अप् च घञपौ, तयोः......,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अदः, घस्लृ, आर्धधातुके ॥ अर्थः—घञि अपि च आर्धधातुके परतः अदो 'घस्लृ' आदेशो भवति ॥ उदा०—घासः । प्रघसः ॥

भाषार्थः—[घञपोः] घञ् और अप् आर्धधातुक के परे रहते [च] भी अद् धातु को घस्लृ आदेश होता है ॥ उदा०—घासः (भोजन) । प्रघसः (भोजन) ॥

अद् धातु से भावे (३।३।१८) से घञ् होकर घस्लृ आदेश हुआ है । परि० १।१।१ भागः के समान सिद्धि समझें । प्रघसः में उपसर्गेऽदः (३।३।५९) से अप् प्रत्यय हुआ है । यहाँ वृद्धि ञित् णित् प्रत्यय परे न होने से नहीं हुई ॥

यहाँ से 'घञपोः' की अनुवृत्ति २।४।३९ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥२।४।३९॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—घञपोः, अदः, घस्लृ, आर्धधातुके ॥ अर्थः—छन्दसि विषये घञि अपि चार्धधातुके परतो बहुलम् अदो 'घस्लृ' आदेशो भवति ॥ उदा०—अश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने (अथ० १९।५५।६) । न च भवति—अष्टा महो दिव आदो हरी इव (ऋ० १।१२१।८) । अपि—प्रघसः । न च भवति—प्रादः । अन्यत्रापि बहुलग्रहणात्—घस्तां नूनम् (यजु० २१।४३) । सग्धिश्च मे (यजु० १८।९) ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] छन्दविषय में घञ् अप् परे रहते अद् को घस्लृ आदेश [बहुलम्] बहुल करके होता है ॥ बहुल कहने से घञ् तथा अप् परे रहते घस् आदेश हो भी गया, और नहीं भी हुआ है। एवं जहाँ घञ् अप् परे नहीं भी था, वहाँ भी घस्लृ भाव हो जाता है ॥ यथा–'घस्ताम्' लङ् लकार में, तथा सग्धि क्तिन् परे रहते भी हो गया। सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें ॥

लिट्यन्यतरस्याम् ॥२।४।४०॥

लिटि ७,१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—अदः, घस्लृ, आर्धधातुके ॥ अर्थः–लिटि परतोऽदो अन्यतरस्यां 'घस्लृ' आदेशो भवति ॥ उदा०—जघास, जक्षतुः, जक्षुः। पक्षे—आद, आदतुः, आदुः ॥

भाषार्थः—[लिटि] लिट् परे रहते अद् को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से घस्लृ आदेश होता है ॥ परि० १।१।५७ में जक्षतुः जक्षुः की सिद्धि देखें। जघास में णल् के परे अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि हो गई, यही विशेष है। यहाँ असंयोगा० (१।२।५) से कित्वत् न होने से उपधालोप नहीं हुआ। जब घस्लृ आदेश नहीं हुआ, तब आद आदतुः बन गया है ॥

यहाँ से सारे सूत्र की अनुवृत्ति २।४।४१ तक जायेगी ॥

वेञो वयिः ॥२।४।४१॥

वेञः ६।१॥ वयिः १।१॥ अनु०—लिट्यन्यतरस्याम्, आर्धधातुके॥ अर्थः—वेञः स्थाने 'वयिः' आदेशो विकल्पेन भवति लिट्यार्धधातुके परत ॥ उदा०—उवाय, ऊयतुः, ऊयुः, ऊवतुः, ऊवुः। ववौ, ववतुः, ववुः ॥

भाषार्थः—[वेञः] वेञ् को [वयिः] वयि आदेश विकल्प से लिट् आर्धधातुक के परे रहते हो जाता है ॥

हनो वध लिङि ॥२।४।४२॥

हनः ६।१॥ वध लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ लिङि ७।१॥ अनु०—आर्धधातुके ॥ अर्थः—हनो वध आदेशो भवति लिङ्यार्धधातुके परतः ॥ उदा०—वध्यात्। वध्यास्ताम्। वध्यासुः ॥

भाषार्थः—[हनः] हन को [वध] वध आदेश आर्धधातुक [लिङि] लिङ् के परे रहते हो जाता है ॥ लिङाशिषि (३।४।११६) से आशीर्लिङ् ही आर्धधातुक होता है, विधिलिङ् नहीं ॥

यहाँ से 'हनो वध' की अनुवृत्ति २।४।४४ तक जायेगी ॥

लुङि च ।।२।४।४३।।

लुङि ७।१।। च अ० ।। अनु०—हनो वध, आर्धधातुके ।। अर्थः—लुङ्यार्धधातुके परतो हन्धातोः 'वध' आदेशो भवति ।। उदा०—अवधीत । अवधिष्टाम् । अवधिषुः ।।

भाषार्थः—[लुङि] लुङ् आर्धधातुक के परे रहते [च] भी हन् को वध आदेश हो जाता है ।। अवधीत् की सिद्धि परि० १।१।५६ में देखें । अवधिष्टाम् में भी पूर्ववत् तस् को ताम्, तथा आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से स् को ष्, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से त् को ट् होकर अवधिष्टाम् बना । शेष पूर्ववत् ही है । अवधिषुः में झि को जुस् सिजभ्यस्त० (३।४।१०९) से होकर अवधिष् उस्=अवधिषुः पूर्ववत् सब कार्य होकर बन गया है ।।

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।।२।४।४४।।

आत्मनेपदेषु ७।३।। अन्यतरस्याम् अ० ।। अनु०—हनो वध, आर्धधातुके ।। अर्थः—लुङ्लकारे आत्मनेपदेषु प्रत्ययेषु परतो हनो वध आदेशो विकल्पेन भवति ।। उदा०—आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत । आहत आहसाताम्, आहसत ।।

भाषार्थः—लुङ् लकार में [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्ययों के परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हन को वध आदेश होता है ।। सूत्र १।२।१४ में आहत आदि की सिद्धि समझें । यहाँ आङो यमहनः (१।३।२८) से आत्मनेपद होता है ।। आ अट् वध इट् स् त=आ वध इ स् त, इस अवस्था में पूर्ववत् षत्व तथा ष्टुत्व होकर आवधिष्ट बन गया ।।

इणो गा लुङि ।।२।४।४५।।

इणः ६।१।। गा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। लुङि ७।१।। अनु०—आर्धधातुके ।। अर्थः—इण्धातोः 'गा' आदेशो भवति लुङ्यार्धधातुके परतः ।। उदा०—अगात् । अगाताम् । अगुः ।।

भाषार्थः—[इणः] इण् को [गा] गा आदेश [लुङि] लुङ् आर्धधातुक परे रहते हो जाता है ।। अट् गा स् त् इस अवस्था में सिच् का लुक् गातिस्थाघु० (२।४।७७) से होकर अगात् बना । शेष सब पूर्ववत् है । अगुः में झि को जुस् आतः (३।४।११०) से हुआ है ।।

यहाँ से 'इणः' की अनुवृत्ति २।४।४७ तक जायेगी ।।

णौ गमिरबोधने ॥२।४।४६॥

णौ ७।१॥ गमि: १।१॥ अबोधने ७।१॥ स०—न बोधनम् अबोधनम्, तस्मिन्…, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—इणः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—णौ आर्धधातुके परतः अबोधनार्थस्य =अज्ञानार्थस्य इणो गमिरादेशो भवति ॥ उदा०—गमयति । गमयतः । गमयन्ति ॥

भाषार्थः—[णौ] णिच् आर्धधातुक के परे रहते [अबोधने] अबोधनार्थक अर्थात् अज्ञानार्थक इण् धातु को [गमिः] गमि आदेश हो जाता है ॥ गमि में इकार उच्चारणार्थ है ॥

उदा०—गमयति (भेजता है) । गमयतः । गमयन्ति ॥ णिजन्त की सिद्धि हम बहुत बार कर आये हैं, सो उसी प्रकार समझें ॥

यहाँ से 'गमिः' की अनुवृत्ति २।४।४८ तक, तथा अबोधने की अनुवृत्ति २।४।४७ तक जायेगी ॥

सनि च ॥२।४।४७॥

सनि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—गमिरबोधने, इणः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—अबोधनार्थस्य 'इणः' सनि आर्धधातुके परतो गमिरादेशो भवति ॥ उदा०—जिगमिषति । जिगमिषतः । जिगमिषन्ति ॥

भाषार्थः—[सनि] सन् आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते [च] भी अबोधनार्थक इण् धातु को गमि आदेश हो जाता है ॥

उदा०—जिगमिषति (जाना चाहता है) । जिगमिषतः । जिगमिषन्ति ॥ सन्नन्त की सिद्धियाँ भी हम पूर्व दिखा चुके हैं, उसी प्रकार समझें । अभ्यास के ग् को ज् कुहोश्चुः (७।४।६२) से होकर, सन्यतः (७।४।७९) से इत्व हो गया है ॥

यहाँ से 'सनि' की अनुवृत्ति २।४।४८ तक जायेगी ॥

इङश्च ॥२।४।४८॥

इङः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—सनि, गमिः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—इङ्धातोः सन्यार्धधातुके परतो गमिरादेशो भवति ॥ उदा०—अधिजिगांसते । अधिजिगांसेते ॥

भाषार्थः—[इङः] इङ् धातु को [च] भी सन् प्रत्यय के परे गमि आदेश हो जाता है ॥ उदा०—अधिजिगांसते (पढ़ना चाहता है) । अधिजिगांसेते ॥

पूर्ववत् सनः (१।३।६२) से उदाहरण में आत्मनेपद होगा । अज्झनगमां० (६।४।१६) से ग के अ को दीर्घ, तथा म को अनुस्वार नश्चापदान्तस्य झलि

(८।३।२४) से हो गया है। शेष सिद्धि सन्नन्त के समान ही है।। इङ् धातु का अधि पूर्वक ही प्रयोग होता है, अतः वैसे ही उदाहरण दिये हैं।।

यहाँ से 'इङः' की अनुवृत्ति २।४।५१ तक जायेगी ।।

गाङ् लिटि ।।२।४।४९।।

गाङ् १।१।। लिटि ७।१।। अनु०—इङः, आर्धधातुके ।। अर्थः—इङः गाङ् आदेशो भवति लिटयार्धधातुके परतः ।। उदा०—अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे ।।

भाषार्थः—इङ् को [गाङ्] गाङ् आदेश [लिटि] लिट् लकार परे रहते होता है ।। उदा०—अधिजगे (उसने पढ़ा) । अधिजगाते । अधिजगिरे ।।

लिटस्तझयो० (३।४।८१) से त को एश्, तथा आतो लोप० (६।४।६४) से आकारलोप होकर—'अधि ग् ए' इस अवस्था में द्विर्वचनेऽचि (१।१।५९) से स्थानिवद्भाव होकर, लिटि धातोर० (६।१।८) से द्वित्व हुआ, और 'अधिगा ग् ए' ऐसा बनकर, पूर्ववत् अभ्यासकार्य होकर अधिजगे बन गया ।।

यहाँ से 'गाङ्' की अनुवृत्ति २।४।५१ तक जायेगी ।।

विभाषा लुङ्लृङोः ।।२।४।५०।।

विभाषा १।१।। लुङ्लृङोः ७।२।। स०—लुङ् च लृङ् च लुङ्लृङौ, तयोः······, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—इङः, गाङ्, आर्धधातुके ।। अर्थः—इङ्धातोर्विभाषा गाङ् आदेशो भवति लुङि लृङि चार्धधातुके परतः ।। उदा०—अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम् । पक्षे—अध्यैष्ट, अध्यैषाताम् । लृङ्—अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम् । पक्षे—अध्यैष्यत, अध्यैष्येताम् ।।

भाषार्थः—इङ् धातु को [विभाषा] विकल्प से गाङ् आदेश [लुङ्लृङोः] लुङ् लृङ् लकार परे रहते हो जाता है ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति २।४।५१ तक जायेगी ।।

णौ च संश्चङोः ।।२।४।५१।।

णौ ७।१।। च अ० ।। संश्चङोः ७।२।। स०—सन् च चङ् च संश्चङौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—विभाषा, गाङ्, इङः, आर्धधातुके ।। अर्थः—सन्परे चङ्परे च णिचि परत इङ्धातोर्विकल्पेन गाङ् आदेशो भवति ।। उदा०—अधिजिगापयिषति, अध्यापिपयिषति । चङि—अध्यजीगपत्, अध्यापिपत् ।।

भाषार्थः—[सन्चङोः] सन् परे है जिससे तथा चङ् परे है जिससे ऐसा जो [णौ] णिच्, उसके परे रहते [च] भी इङ् धातु को विकल्प से गाङ् आदेश होता है ।।

अस्तेर्भूः ।।२।४।५२।।

अस्तेः ६।१।। भूः १।१।। अनु०—आर्धधातुके ।। अर्थः—अस् धातोः स्थाने 'भू' इत्ययमादेशो भवति आर्धधातुके विषये ।। उदा०—भविता, भवितुम्, भवितव्यम् ।।

भाषार्थः—आर्धधातुक का विषय यदि उपस्थित हो, तो [अस्तेः] अस् धातु को [भूः] भू आदेश होता है ।। परि० १।१।४८ में सिद्धियाँ देखें ।।

ब्रुवो वचिः ।।२।४।५३।।

ब्रुवः ६।१।। वचिः १।१।। अनु०—आर्धधातुके ।। अर्थः—आर्धधातुके विषये ब्रूञ्धातोः वचिरादेशो भवति ।। उदा०—वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् ।।

भाषार्थः—आर्धधातुक विषय में [ब्रुवः] ब्रूञ् धातु को [वचिः] वचि आदेश होता है ।। परि० १।१।४८ में सिद्धि देखें । वचि में इकार उच्चारण के लिये है, वस्तुतः वच् आदेश होता है ।।

चक्षिङः ख्याञ् ।।२।४।५४।।

चक्षिङः ६।१।। ख्याञ् १।१।। अनु०—आर्धधातुके ।। अर्थः—चक्षिङ्धातोः ख्याञ् आदेशो भवति आर्धधातुके विषये ।। उदा०—आख्याता, आख्यातुम्, आख्यातव्यम् ।।

भाषार्थः—[चक्षिङः] चक्षिङ् धातु को [ख्याञ्] ख्याञ् आदेश आर्धधातुक विषय में होता है ।।

उदा०—आख्याता (कहनेवाला) । आख्यातुम् । आख्यातव्यम् ।। पूर्ववत् परि० १।१।४८ के समान ही सिद्धियां हैं । चक्षिङ् के ङित् होने से स्थानिवत् होकर नित्य आत्मनेपद प्राप्त होता था, उसे हटाने के लिए ख्याञ् में ञकार अनुबन्ध लगाया है ।।

यहाँ से 'चक्षिङः ख्याञ्' की अनुवृत्ति २।४।५५ तक जायेगी ।।

वा लिटि ।।२।४।५५।।

वा अ० ।। लिटि ७।१।। अनु०—चक्षिङः ख्याञ्, आर्धधातुके ।। अर्थः—लिट्यार्धधातुके परतः चक्षिङः ख्याञ् आदेशो वा भवति ।। उदा०—आचख्यौ, आचख्यतुः, आचख्युः । आचचक्षे, आचचक्षाते, आचचक्षिरे ।।

भावार्थः—[लिटि] लिट् आर्धधातुक के परे रहते चक्षिङ् धातु को [वा] विकल्प से ख्याञ् आदेश होता है ।। उदा०—आचख्यौ (उसने कहा), आचख्यतुः, आचख्युः । आचचक्षे, आचचक्षाते, आचचक्षिरे ।। आचख्यतुः आचख्युः की सिद्धि परि० १।१।५८ के पपतुः पपुः के समान जानें । केवल यहाँ ख्याञ् आदेश ही विशेष है । आचख्यौ में 'णल्' को आत औ णलः (७।१।३४) से औकारादेश होकर वृद्धि एकादेश हो गया है । आचचक्षे में चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश नहीं हुआ है । सो पूर्ववत् द्वित्व अभ्यासकार्य, और 'त' को एश् (३।४।८१) होकर आ च चक्ष् ए=आचचक्षे बना । आचचक्षिरे में झ को इरेच् (३।४।८१) हो गया है ।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति २।४।५६ तक जायेगी ।।

अजेर्व्यघञपोः ।।२।४।५६।।

अजेः ६।१।। वी लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। अघञपोः ७।२।। स०—घञ् च अप् च घञपौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न घञपौ अघञपौ, तयोः...... ,नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—वा, आर्धधातुके ।। अर्थः—अजधातोः 'वी' आदेशो विकल्पेन भवति आर्धधातुके परतः, घञपौ वर्जयित्वा ।। उदा०—प्रवेता, प्राजिता । प्रवेतुम्, प्राजितुम् । प्रवेतव्यम्, प्राजितव्यम् ।।

भावार्थः—[अजेः] अज धातु को [वी] वी आदेश विकल्प से आर्धधातुक परे रहते होता है [अघञपोः] घञ् अप् आर्धधातुकों को छोड़कर ।। उदा०—प्रवेता (ले जानेवाला), प्राजिता । प्रवेतुम्, प्राजितुम् । प्रवेतव्यम्, प्राजितव्यम् ।। परि० १।१।४८ के समान ही सिद्धियाँ हैं । जब 'अज' आदेश नहीं हुआ, तो सेट् होने से इडागम, तथा जब 'वी' आदेश हुआ, तो एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् निषेध होकर, सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण हो गया ।।

यहाँ से 'अजेः' की अनुवृत्ति २।४।५७ तक जायेगी ।।

वा यौ ।।२।४।५७।।

वा: १।१।। यौ ७।१।। अनु०—अजेः, आर्धधातुके ।। अर्थः—अजेः 'वा' आदेशो भवति ,यौ=औणादिके युचि प्रत्यये परतः।। उदा०—वायुः ।।

भावार्थः—अज को [वा]वा आदेश होता है, औणादिक[यौ] युच् आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते ।। यहाँ यु को युवोरनाकौ(७।१।१)से अन आदेश नहीं होता, क्योंकि

युवोरनाकौ से सानुनासिक यु वु को ही अन अक आदेश होते हैं, और यह निरनुनासिक यु है ॥ यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् (उणा० ३।२०) इस उणादिसूत्र से युच् प्रत्यय होता है। सो बाहुलक से अज धातु से भी युच् प्रत्यय हो जाता है ॥

[लुक्-प्रकरणम्]

ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः ॥२।४।५८॥

ण्यक्षत्रियार्षञितः ५।१॥ यूनि ७।१॥ लुक् १।१॥ अणिञोः ६।२॥ स०—ञ् इत् यस्य स ञित्, ण्यश्च क्षत्रियश्च आर्षश्च ञिच्च ण्यक्षत्रियार्षञित्, तस्मात्......, बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः। अण् च इञ् च अणिञौ, तयोः......,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अर्थः**—ण्यन्तात् गोत्रप्रत्ययान्तात् क्षत्रियवाचिगोत्रप्रत्ययान्तात्, ऋषिवाचिगोत्रप्रत्ययान्तात्, ञित्गोत्रप्रत्ययान्ताच्च युवापत्ये विहितयोः अणिञोर्लुग् भवति ॥ **उदा०**—कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः। क्षत्रिय—श्वाफल्कः पिता, श्वाफल्कः पुत्रः। आर्ष—वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः। ञित्—बैदः पिता, बैदः पुत्रः। अण्—तैकायनिः पिता, तैकायनिः पुत्रः ॥

भाषार्थः—[ण्यक्षत्रियार्षञितः] **ण्यन्त गोत्रप्रत्ययान्त, क्षत्रियवाचि गोत्रप्रत्ययान्त, ऋषिवाची गोत्रप्रत्ययान्त, तथा ञ् जिनका इत्संज्ञक हो ऐसे जो गोत्रप्रत्ययान्त शब्द, उनसे जो [यूनि] युवापत्य में आये [अणिञोः] अण् और इञ् प्रत्यय, उनका [लुक्] लुक् हो जाता है ॥**

ण्य, क्षत्रिय, आर्ष से युवापत्य में अण् का उदाहरण नहीं मिलता, अतः 'ञित् से उत्पन्न अण्' का ही उदाहरण दिया है ॥

यहाँ से 'यूनि' की अनुवृत्ति २।४।६१ **तक, तथा 'लुक्' की अनुवृत्ति** २।४।८३ **तक जायेगी ॥**

पैलादिभ्यश्च ॥२।४।५९॥

पैलादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ **स०**—पैल आदिर्येषां ते पैलादयः, तेभ्यः ......, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—यूनि लुक् ॥ **अर्थः**—पैलादिभ्यो गोत्रवाचिभ्यः शब्देभ्यः युवापत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ उदा०—पैलः पिता, पैलः पुत्रः ॥

भाषार्थः—**गोत्रवाची जो** [पैलादिभ्यः] **पैलादि शब्द उनसे** [च] **भी युवापत्य में विहित जो प्रत्यय उसका लुक् हो जाता है ॥**

पीला शब्द से गोत्रापत्य में पीलाया वा (४।१।११८) **से अण् प्रत्यय हुआ है। तदन्त से पुनः युवापत्य में जो** अणो द्व्यचः (४।१।१५६) **से फिञ् आया, उसका लुक्**

प्रकृत सूत्र से हो गया, सो पिता पुत्र दोनों पैल कहलाये ।। पैलादि गण में जो इञन्त शब्द हैं, उनसे यञिञोश्च (४।१।१०१) से युवापत्य में प्राप्त फक् का, तथा जो फिञ्-प्रत्ययान्त शब्द हैं, उनसे युवापत्य में तस्यापत्यम् (४।१।६२)से प्राप्त अण् का लुक् हो गया है ।।

इञः प्राचाम् ।।२।४।६०।।

इञः ५।१।। प्राचाम् ६।३।। अनु०—यूनि लुक् ।। अर्थः—प्राचां गोत्रे विहितो य इञ् तदन्तात् युवप्रत्ययस्य लुग् भवति ।। उदा०—पान्नागारिः पिता, पान्नागारिः पुत्रः । मान्थरैषणिः पिता, मान्थरैषणिः पुत्रः ।।

भाषार्थः—[प्राचाम्] प्राग्देशवाले गोत्रापत्य में विहित जो [इञः] इञ् प्रत्यय, तदन्त से युवापत्य में विहित प्रत्ययों का लुक् होता है ।। गोत्र में अत इञ् (४।१।६५) से इञ् हुआ था । सो युवापत्य में जो यञिञोश्च (४।१।१०१) से फक् आया, उसका लुक् हो गया है ।।

न तौल्वलिभ्यः ।।२।४।६१।।

न अ० ।। तौल्वलिभ्यः ५।३।। अनु०—यूनि लुक् ।। अर्थः—पूर्वेण प्राप्तो लुक् प्रतिषिध्यते । गोत्रवाचिभ्यः तौल्वल्यादिभ्यो युवापत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुङ् न भवति ।। उदा०—तौल्वलिः पिता, तौल्वलायनः पुत्रः ।।

भाषार्थः—गोत्रवाची [तौल्वलिभ्यः] तौल्वलि आदि शब्दों से विहित जो युवापत्य में प्रत्यय, उसका लुक् [न] नहीं होता है ।।

सब गणपठित शब्दों में गोत्रापत्य में इञ् आता है । सो उससे आगे जो युवापत्य में यञिञोश्च (४।१।१०१) से फक् आयेगा, उसका लुक् नहीं हुआ । तो तौल्वलायनः पुत्रः आदि प्रयोग बने । इस प्रकार पूर्व सूत्र से जो लुक् की प्राप्ति थी, उसका यह निषेधसूत्र है ।। तौल्वलिभ्यः में बहुवचन ग्रहण करने से तौल्वल्यादि गण लिया गया है ।।

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।।२।४।६२।।

तद्राजस्य ६।१।। बहुषु ७।३।। तेन ३।१।। एव अ० ।। अस्त्रियाम् ७।१।। स०—न स्त्री अस्त्री, तस्याम् ……,नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—लुक ।। अर्थः—अस्त्रीलिङ्गस्य बहुषु वर्त्तमानस्य तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य लुग्भवति, यदि तेनैव=तद्राजसंज्ञकेनैव कृतं बहुत्वं स्यात् ।। उदा०—अङ्गाः, वङ्गाः, मगधाः, कलिङ्गाः ।।

भाषार्थः—[बहुषु] बहुत्व अर्थ में वर्त्तमान [तद्राजस्य] तद्राजसञ्ज्ञक

प्रत्यय का लुक् हो जाता है [अस्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर, यदि वह बहुत्व [तेनैव] उसी तद्राजसञ्ज्ञक कृत हो ॥ ते तद्राजाः (४।१।१७२), तथा ञ्यादयस्तद्राजाः (५।३।११६) से तद्राज संज्ञा कही है ॥

यहाँ से 'बहुषु तेनैव' की अनुवृत्ति २।४।७० तक जायेगी, तथा 'अस्त्रियाम्' की अनुवृत्ति २।४।६५ तक जायेगी ॥

यस्कादिभ्यो गोत्रे ॥२।४।६३॥

यस्कादिभ्यः ५।३॥ गोत्रे ७।१॥ स०—यस्क आदिर्येषां ते यस्कादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लुक्, बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ॥ अर्थः—यस्कादिभ्यो विहितो यो गोत्रप्रत्ययः तस्य बहुषु वर्त्तमानस्य अस्त्रीलिङ्गस्य लुग् भवति, यदि तेनैव=गोत्रप्रत्ययेनैव कृतं बहुत्वं स्यात् ॥ उदा०—यस्काः । लभ्याः ॥

भाषार्थः—[यस्कादिभ्यः] यस्कादिगण-पठित शब्दों से विहित बहुत्व अर्थ में जो [गोत्रे] गोत्रप्रत्यय उसका लुक् हो जाये, स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर, यदि वह बहुत्व उस गोत्रप्रत्यय कृत हो ॥ यस्काः आदि में गोत्रापत्य में यस्कस्य गोत्रापत्यानि बहूनि इस अर्थ में शिवादिभ्योऽण् (४।१।११२) से जो अण् आया, उसका प्रकृत सूत्र से तत्कृत बहुत्व होने से लुक् हो गया है । सो यास्कः, यास्कौ, यस्काः ऐसे रूप चलेंगे ॥

यहाँ से 'गोत्रे' की अनुवृत्ति २।४।७० तक जायेगी ॥

यञञोश्च ॥२।४।६४॥

यञञोः ६।२॥ च अ० ॥ स०—यञ् च अञ् च यञञौ, तयोः········, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ॥ अर्थः—गोत्रे विहितस्य यञ्प्रत्ययस्य अञ्प्रत्ययस्य च लुग् भवति, तत्कृतं=गोत्रप्रत्ययकृतं यदि बहुत्वं स्यात्, स्त्रीलिङ्गं विहाय ॥ उदा०—गर्गाः, वत्साः । अञ्—बिदाः, उर्वाः ॥

भाषार्थः—गोत्र में विहित जो [यञञोः] यञ् और अञ् प्रत्यय उनका [च] भी तत्कृत बहुत्व में लुक् होता है, स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर ॥ गर्गाः की सिद्धि परि० १।१।६२ में देखें । बिदाः उर्वाः में अनृष्यानन्तर्ये० (४।१।१०४) से बहुत अपत्यों को कहने में जो अञ् प्रत्यय आया था, उसका लुक् प्रकृत सूत्र से होकर तन्निमित्तक वृद्धि आदि भी हटकर बैदः, बैदौ, बिदाः ऐसे रूप चलेंगे ॥

अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च ॥२।४।६५॥

अत्रिभृगु········रोभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—अत्रिश्च भृगुश्च कुत्सश्च वसिष्ठश्च गोतमश्च अङ्गिराश्चेति अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरसः, तेभ्यः·····,

इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।। अर्थः—अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस् इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, स्त्रीलिङ्गं विहाय ।। उदा०—अत्रयः, भृगवः, कुत्साः, वसिष्ठाः, गोतमाः, अङ्गिरसः ।।

भाषार्थः—[अत्रि......भ्यः] अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस् इन शब्दों से तत्कृतबहुत्व गोत्रापत्य में विहित जो प्रत्यय उसका, [च] भी लुक् हो जाता है ।। अत्रि शब्द से इतश्चानिञः (४।१।१२२) से बहुत्व में जो ढक् प्रत्यय हुआ उसका लुक् होकर अत्रयः (अत्रि के पौत्रादि) बना । एकवचन द्विवचन में ढक् का लुक् न होने से 'आत्रेयः, आत्रेयौ' बनेगा । शेष भृगु आदियों से ऋष्यन्धक० (४।१।११४) से अण् प्रत्यय बहुत्व अर्थ में हुआ है, सो उसका लुक् हो गया । भृगु को जसि च (७।३।१०६) से गुण होकर भृगवः बना है ।।

बह्वचः इञः प्राच्यभरतेषु ।।२।४।६६।।

बह्वचः ५।१।। इञः ६।१।। प्राच्यभरतेषु ७।३।। स०—बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच्, तस्मात्, बहुव्रीहि ।। प्राक्षु भवाः प्राच्याः, प्राच्याश्च भरताश्च प्राच्यभरताः, तेषु··· ,इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अनु०—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव ।। अर्थः—बह्वच्-शब्दात् प्राच्यगोत्रे भरतगोत्रे च य इञ् विहितः तस्य गोत्रप्रत्ययकृतबहुवचने लुग् भवति ।। उदा०—पन्नागाराः, मन्थरैषणाः । भरतगोत्रे—युधिष्ठिराः, अर्जुनाः ।।

भाषार्थः—[बह्वचः] बह्वच् शब्द से [प्राच्यभरतेषु] प्राच्यगोत्र तथा भरतगोत्र में विहित जो [इञः] इञ् प्रत्यय उसका, तत्कृतबहुवचन में लुक् हो जाता है ।।

उदा०—पन्नागाराः, मन्थरैषणाः (मन्थरैषण नामक व्यक्ति के बहुत से पौत्र प्रपौत्र आदि) । भरतगोत्र में—युधिष्ठिराः, अर्जुनाः ।।

पन्नागार युधिष्ठिर आदि बह्वच् शब्द हैं । सो उनके बहुत से पौत्र आदिकों को कहने में गोत्रप्रत्यय जो अत इञ् (४।१।९५) से इञ् आया था, उसका लुक् हो गया है ।। एकत्व द्वित्व अर्थ में लुक् न होने से 'पान्नागारिः, पान्नागारी' बनता है ।।

न गोपवनादिभ्यः ।।२।४।६७।।

न अ० ।। गोपवनादिभ्यः ५।३।। स०—गोपवन आदिर्येषां ते गोपवनादयः, तेभ्यः······,बहुव्रीहिः ।। अनु०—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव ।। अर्थः—गोपवनादिभ्यः परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुङ् न भवति ।। विदाद्यन्तर्गणोऽयं गोपवनादिः, तत्र अनृष्या० (४।१।१०४) इत्यनेन विहितस्य 'अञ्' प्रत्ययस्य यञञोश्च (२।४।६४) इति लुक् प्राप्तः प्रतिषिध्यते ।। उदा०—गोपवनाः, शैग्रवाः ।।

भाषार्थ:—[गोपवनादिभ्यः] गोपवनादि शब्दों से परे गोत्रप्रत्यय का तत्कृत बहुवचन में लुक् [न] नहीं होता है ।। गोपवनादिगण बिदादिगण के अन्तर्गत ही है । सो अनृष्यानन्तर्ये०(४।१।१०४)से हुये गोत्रप्रत्यय अञ् का बहुत्व में यञञोश्च(२।४।६४) से लुक् प्राप्त था । उसका इस सूत्र ने प्रतिषेध कर दिया, तो गोपवनाः ही बना ।।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे ।।२।४।६८।।

तिककितवादिभ्यः ५।३।। द्वन्द्वे ७।१।। स०—तिकश्च कितवश्च तिककितवौ, आदिश्च आदिश्च आदी, तौ आदी येषां ते तिककितवादयः, तेभ्यः······,द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।। अनु०—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव ।। अर्थः – द्वन्द्वसमासे तिकादिभ्यः कितवादिभ्यश्च परस्य गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति । उदा०-तैकायनयश्च कैतवायनयश्च तिककितवाः । वाङ्खरयश्च भाण्डीरथयश्च वङ्खर-भण्डीरथाः ।।

भाषार्थ:—[तिककितवादिभ्यः] तिकादि एवं कितवादिगण-पठित शब्दों से [द्वन्द्वे] द्वन्द्व समास में तत्कृतबहुत्व में आये हुए गोत्रप्रत्यय का लुक् होता है ।। उदाहरण "तिककितवाः" में तिक कितव इन दोनों शब्दों से तिकादिभ्यः फिञ् (४।१।१५४) से फिञ् प्रत्यय होकर उसका लुक् हुआ है । 'वङ्खरभण्डीरथाः' में दोनों शब्दों में अत इञ् (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय होकर लुक् हुआ है ।। चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९) से द्वन्द्व समास सर्वत्र हो ही जायेगा ।।

उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे ।।२।४।६९।।

उपकादिभ्यः ५।३।। अन्यतरस्याम् अ० ।। अद्वन्द्वे ७।१।।स०—उपक आदिर्येषां ते उपकादयः, तेभ्यः ··,बहुव्रीहिः । न द्वन्द्वः अद्वन्द्वः, तस्मिन् ,नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव ।। अर्थः—उपकादिभ्यः शब्देभ्यो गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने विकल्पेन लुग् भवति, द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च ।। उदा०—उपकलमकाः, भ्रष्टक-कपिष्ठलाः, कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः । एते त्रयः शब्दा कृतद्वन्द्वास्तिककितवादिषु पठिताः, एतेषु पूर्वेण नित्यं लुक् भवति, अद्वन्द्वे त्वनेन विकल्पो भवति । उपकाः औपकायनाः, लमकाः लामकायनाः इत्यादयः । परिशिष्टाना तु द्वन्द्वेऽद्वन्द्वे सर्वत्र विकल्पो भवति ।।

भाषार्थ:—[उपकादिभ्यः] उपकादि शब्दों से परे गोत्र में विहित जो तत्कृत-बहुवचन में प्रत्यय उसका लुक् [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है [अद्वन्द्वे] द्वन्द्व समास में भी और अद्वन्द्व समास में भी ।।

यहाँ 'अद्वन्द्वे' ग्रहण ऊपर से आनेवाले 'द्वन्द्वे' के अधिकार की समाप्ति के लिये है,

न कि "द्वन्द्व समास में न हो" इसलिए है। अतः यहाँ द्वन्द्व और अद्वन्द्व दोनों में ही विकल्प होता है ॥

उपकलमकाः, भ्रष्टककपिष्ठलाः, कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ये तीन शब्द द्वन्द्व समास किये हुए तिककितवादि गण में पढ़े हैं। इनमें पूर्व सूत्र से ही नित्य लुक् होता है, यहाँ अद्वन्द्व में विकल्प के लिए पाठ है। यथा उपकाः, औपकायनाः; लमकाः, लामकायनाः आदि। शेष गणपठित शब्दों में द्वन्द्व एवं अद्वन्द्व दोनों में विकल्प होता है ॥ उपक तथा लमक शब्दों से नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से गोत्रप्रत्यय फक् हुआ था, उसी का इस सूत्र से लुक् हुआ है ॥ अद्वन्द्व में विकल्प होने से पक्ष में श्रवण भी हो गया है। भ्रष्टक एवं कपिष्ठल शब्दों से अत इञ् (४।१।९५) से गोत्र प्रत्यय इञ् हुआ है, उसी का इस सूत्र ने लुक् कर दिया है। एवं कृष्णाजिन तथा कृष्णसुन्दर से पूर्ववत् इञ् प्रत्यय हुआ था, उसी का यहाँ लुक् हो गया है ॥

आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् ॥२।४।७०॥

आगस्त्यकौण्डिन्ययोः ६।२॥ अगस्तिकुण्डिनच् १।१॥ स०—आगस्त्यश्च कौण्डिन्यश्च आगस्त्यकौण्डिन्यौ, तयोः ……,इतरेतरयोगद्वन्द्वः। अगस्तिश्च कुण्डिनच्च अगस्तिकुण्डिनच्, समाहारो द्वन्द्वः। अनु०—गोत्रे, लुक्, बहुषु तेनैव ॥ अर्थः— आगस्त्य कौण्डिन्य इत्येतयोः शब्दयोः गोत्रे विहितस्य प्रत्ययस्य तत्कृतबहुवचने लुग् भवति, परिशिष्टस्य च प्रकृतिभागस्य अगस्ति कुण्डिनच् इत्येतौ आदेशौ भवतः ॥ उदा०—अगस्तयः, कुण्डिनाः ॥

भावार्थः—[आगस्त्यकौण्डिन्ययोः] आगस्त्य तथा कौण्डिन्य शब्दों से गोत्र में विहित जो तत्कृतबहुवचन में प्रत्यय, उसका लुक् हो जाता है, शेष बची अगस्त्य एवं कुण्डिनी प्रकृति को क्रमशः [अगस्तिकुण्डिनच्] अगस्ति और कुण्डिनच् आदेश भी हो जाते हैं ॥ आगस्त्य कौण्डिन्य शब्द गोत्रप्रत्यय उत्पन्न करके यहाँ निर्दिष्ट हैं ॥

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः ॥२।४।७१॥

सुपः ६।१॥ धातुप्रातिपदिकयोः ६।२॥ स०—धातुश्च प्रातिपदिकञ्च धातु-प्रातिपदिके, तयोः……,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लुक् ॥ अर्थः—धात्वव-यवस्य प्रातिपदिकावयवस्य च सुपो लुग् भवति ॥ उदा०—पुत्रीयति, घटीयति। प्रातिपदिकस्य—कष्टश्रितः, राजपुत्रः ॥

भावार्थः—[धातुप्रातिपदिकयोः] धातु और प्रातिपदिक के अवयव [सुपः] सुप् का लुक् हो जाता है ॥

अदिप्रभृतिभ्यः शपः ॥२।४।७२॥

अदिः प्रभृतिभ्य ५।३॥ शपः ६।१॥ स०—अदिप्रभृति येषां ते अदिप्रभृतयः, तेभ्यः ...., बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—लुक् ॥ **अर्थः**—अदादिगणपठितेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य शपो लुग् भवति ॥ **उदा०**—अत्ति । हन्ति । द्वेष्टि ॥

भाषार्थः—[अदिप्रभृतिभ्यः] अदादि धातुओं से परे जो [शपः] शप् आता है, उसका लुक् हो जाता है ॥ 'अद् शप्, ति, हन् शप् ति' यहाँ शप् का लुक् होकर अद् ति रहा, खरि च (८।४।५४) से द् को त् होकर—अत्ति (खाता है), हन्ति (मारता है) बना । 'द्विष् शप् ति' में शप् का लुक् होकर गुण, तथा ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर द्वेष्टि (द्वेष करता है) बना है ॥

यहाँ से 'अदिप्रभृतिभ्य' की अनुवृत्ति २।४।७३ तक, तथा 'शपः' की अनुवृत्ति २।४।७६ तक जाती है ॥

बहुलं छन्दसि ॥२।४।७३॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ **अनु०**—लुक्, अदिप्रभृतिभ्यः शपः ॥ **अर्थः**—छन्दसि=वैदिकप्रयोगविषये शपो बहुलं लुग् भवति ॥ **उदा०**—वृत्रं हनति (ऋ० ८।८९।३) । अशयदिन्द्रशत्रुः (ऋ० १।३२।१०) । बहुलग्रहणसामर्थ्याद् अन्यगणस्थेभ्योऽपि लुग् भवति—त्राध्वं नो देवाः (ऋ० २।२९।६) ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वैदिक प्रयोग विषय में शप् का लुक् [बहुलम्] बहुल करके होता है ॥ जहाँ प्राप्त है वहाँ नहीं होता, जहाँ नहीं प्राप्त है वहाँ हो जाता है ॥ हन् शीङ् अदादिगण की धातु हैं, सो लुक् प्राप्त था, नहीं हुआ । अशयत् शीङ् धातु का लङ् लकार का रूप है । शीङ् को गुण तथा शप् परे मानकर अयादेश हो गया है ॥ त्रैङ् पालने भ्वादिगण की धातु है, सो लुक् प्राप्त नहीं था, हो गया है । लोट् में ध्वम् आदेश होकर त्राध्वं रूप बना है ॥

यहाँ से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति २।४।७४ तक जाती है ॥

यङोऽचि च ॥२।४।७४॥

यङः ६।१॥ अचि ७।१॥ च अ० ॥ **अनु०**—बहुलम्, लुक् ॥ **अर्थः**—अचि प्रत्यये परतो यङो बहुलं लुग् भवति, बहुलग्रहणाद् अनच्यपि भवति ॥ **उदा०**—लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । मरीमृपः । अनच्यपि—पापठीति, लालपीति ॥

भाषार्थः—[अचि] अच् प्रत्यय के परे रहते [यङः] यङ् का लुक् हो जाता है, [च] चकार से बहुल करके अच् परे न हो तो भी लुक् हो जाता है ॥ ऊपर से छन्दसि की अनुवृत्ति नहीं आती, अतः भाषा और छन्द दोनों में प्रयोग बनेंगे ॥

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ॥२।४।७५॥

जुहोत्यादिभ्यः ५।३॥ श्लुः १।१॥ स०—जुहोति आदिर्येषां ते जुहोत्यादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शपः ॥ अर्थः—जुहोत्यादिभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य शपः श्लुर्भवति ॥ उदा०—जुहोति । बिभर्त्ति । नेनेक्ति ॥

भाषार्थः—[जुहोत्यादिभ्यः] जुहोत्यादिगण की धातुओं से उत्तर जो शप् उसका [श्लुः] श्लु हो जाता है, अर्थात् श्लु कहकर अदर्शन होता है ॥

यहाँ से 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' की अनुवृत्ति २।४।७६ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥२।४।७६॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—शपः, जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ॥ अर्थः—छन्दसि=वैदिकप्रयोगविषये जुहोत्यादिभ्यः परस्य बहुलं शपः श्लुरादेशो भवति ॥ उदा०—दाति प्रियाणि (ऋ० ४।८।३), धाति प्रियाणि । पूर्णां विवष्टि (ऋ० ७।१६।११), जनिमा विवक्ति ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] छन्दविषय में जुहोत्यादि धातुओं से परे शप् को श्लु आदेश [बहुलम्] बहुल करके होता है ॥

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ॥२।४।७७॥

गातिस्थाघुपाभूभ्यः ५।३॥ सिचः ६।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ ॥ स०—गातिश्च स्थाश्च घुश्च पाश्च भूश्च गातिस्थाघुपाभुवः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लुक् ॥ अर्थ—गा स्था घु पा भू इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्य सिचो लुग् भवति परस्मैपदेषु परतः ॥ उदा०—अगात् । अस्थात् । घु—अदात्, अधात् । अपात् । अभूत् ॥

भाषार्थः—[गातिस्थाघुपाभूभ्यः] गा, स्था, घुसंज्ञक धातु, पा और भू इन धातुओं से परे [सिचः] सिच् का लुक् हो जाता है [परस्मैपदेषु] परस्मैपद परे रहते ॥

उदा०—अगात् (वह गया)। अस्थात् (वह ठहरा) । घु—अदात् (उसने दिया), अधात् (उसने धारण किया)। अपात् (उसने पिया)। अभूत् (वह हुआ)॥ यहाँ 'गाति' से इणो गा लुङि (२।४।४५) से विहित 'गा' आदेश का, तथा 'पा' से पीने अर्थवाली 'पा' धातु का ग्रहण है ॥ दाधा घ्वदाप् (१।१।१९) से घु संज्ञा होती है ॥ लुक्

लकार में हम पहले सिद्धियाँ दिखा चुके हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझें। कुछ भी विशेष नहीं है ॥

यहाँ से 'सिचः' की अनुवृत्ति २।४।७९ तक, तथा 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति २।४।७८ तक जायेगी ॥

विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः ॥२।४।७८॥

विभाषा १।१॥ घ्राधेट्शाच्छासः ५।१॥ स०—घ्राश्च धेट् च शाश्च छाश्च साश्चेति घ्राधेट्शाच्छासाः, तस्मात्···,समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—सिचः, परस्मैपदेषु, लुक् ॥ अर्थः—घ्रा धेट् शा छा सा इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सिचः परस्मैपदेषु परतो विकल्पेन लुग् भवति ॥ उदा०—अघ्रात्, अघ्रासीत्। अधात्, अधासीत्। अशात्, अशासीत्। अच्छात्, अच्छासीत्। असात्, असासीत् ॥

भाषार्थः—[घ्राधेट्शाच्छासः] घ्रा, धेट, शा, छा, सा इन धातुओं से परे [विभाषा] विकल्प करके परस्मैपद परे रहते सिच् का लुक् हो जाता है ॥ धेट् धातु घुसंज्ञक है, सो पूर्व सूत्र से नित्य सिच् का लुक् प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है। शेष धातुओं से लुक् अप्राप्त था, सो विकल्प कह दिया है ॥

उदा०—अघ्रात्, अघ्रासीत्। अधात्, अधासीत्। अशात्, अशासीत् (उसने पतला किया)। अच्छात्, अच्छासीत्। असात्, असासीत् (उसने समाप्त कर लिया)। सिच् के अलुक् पक्ष में 'अ घ्रा सिच् ईट् त्' परि० १।१।१ अलावीत् के समान बनकर, यमरमनमातां सक् च (७।२।७३) से सक् और इट् आगम होकर 'अ घ्रा सक् इट् सिच् ईट् त्' बना। इट ईटि (८।२।२८) से सिच् के 'स' का लोप, तथा अनुबन्ध लोप होकर 'अ घ्रास् इ ई त्', सवर्ण दीर्घ होकर अघ्रासीत् बन गया है। इसी प्रकार अन्य सिद्धियों में भी समझें। अच्छात् में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, तथा इतना विशेष है ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति २।४।७९ तक जायेगी ॥

तनादिभ्यस्तथासोः ॥२।४।७९॥

तनादिभ्यः ५।३॥ तथासोः ७।२॥ स०—तन आदिर्येषां ते तनादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः। तश्च थाश्च तथासौ, तयोस्तथासोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, सिचः, लुक् ॥ अर्थः—तनादिभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सिचो विभाषा लुग् भवति तथासोः परतः ॥ उदा०—अतत, अतनिष्ट। असात, असनिष्ट। थास्—अतथाः, अतनिष्ठाः। असाथाः, असनिष्ठाः ॥

भाषार्थः—[तनादिभ्यः] तनादिगण की धातुओं से उत्तर जो सिच्, उसका [तथासोः] त और थास् परे रहते विकल्प से लुक् होता है ॥

उदा०—अतत (उसने विस्तार किया), अतनिष्ट । अतथाः (तुमने विस्तार किया), अतनिष्ठाः । असात (उसने दिया), असनिष्ट । असाथाः, असनिष्ठाः (तुमने दान दिया) ॥ सिच् के लुक् पक्ष में अनुदात्तो० (६।४।३७) से 'तन्' के न् का लोप हो गया, तथा जनसनखनां० (६।४।४२) से 'सन्' के न् को आकार हो गया । अलुक् पक्ष में इट् आगम होकर अतनिष् त, अतनिष् थास्, इस अवस्था में ष्टुत्व होकर अतनिष्ट, अतनिष्ठास् बना । पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर अतनिष्ठाः हो गया ॥

मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥२।४।८०॥

मन्त्रे ७।१॥ घस ······जनिभ्यः ५।३॥ लेः ६।१॥ स०—घसश्च ह्वरश्च णशश्च वृ च दहश्च आच्च वृज् च कृ च गमिश्च जनिश्च घसह्वर···जनयः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लुक् ॥ अर्थः—मन्त्रविषये घस, ह्वर, णश, वृ, दह, आत्, वृज्, कृ, गमि, जनि इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य लेः=च्लिप्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ उदा०—अक्षन्नमीमदन्त (ऋ० १।८२।१) । ह्वर्—माह्वर्मित्रस्य त्वम् । नश्—प्रणङ् मर्त्यस्य (ऋ० १।१८।३) । वृङ्वृञोः सामान्येन ग्रहणम्—सुरुचो वेन आवः (यजु० १३।३)। दह—मा न आ धक् (ऋ० ६।६१।१४)। आत् इत्यनेन आकारान्तस्य ग्रहणम्—आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् (ऋ० १।११५।१) । वृज्—मा नो अस्मिन् महाधने परा वर्क् (ऋ० ८।७५।१२) । कृ—अक्रन् कर्म कर्मकृतः (यजु० ३।४७) । गमि—अग्मन् (ऋ० १।१२१।७) । जनि—अज्ञत वा अस्य दन्ताः (ऐ० ब्रा० ७।१४।१५) ॥

भाषार्थः—[मन्त्रे] मन्त्रविषय में [घस······जनिभ्यः] घस, ह्वृ, णश, वृ, दह, आत =आकारान्त, वृज्, कृ, गमि, जनि इन धातुओं से उत्तर जो [लेः] लि अर्थात् च्लि प्रत्यय उसका लुक् हो जाता है ॥

यहाँ से 'लेः' की अनुवृत्ति २।४।८१ तक जायेगी ॥

आमः ॥२।४।८१॥

आमः ५।१॥ अनु०—लेः, लुक् ॥ अर्थः—आम उत्तरस्य लेर्लुग् भवति ॥ उदा०—ईहांचक्रे, ऊहांचक्रे, ईक्षांचक्रे ॥

भाषार्थः—[आमः] आम् प्रत्यय से उत्तर लि का लुक् हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।३।६३ में देखें ॥ यहाँ सामर्थ्य से लेः से लिट् का ग्रहण होता है, न कि च्लि का ॥

अव्ययादाप्सुपः ॥२।४।८२॥

अव्ययात् ५।१॥ आप्सुपः ६।१॥ स०—आप् च सुप् च आप्सुप्, तस्य, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—लुक् ॥ अर्थः—अव्ययाद् उत्तरस्य आपः सुपश्च लुग् भवति ॥ उदा०—तत्र शालायाम् । यत्र शालायाम् । सुप्—कृत्वा, हृत्वा ॥

भावार्थः—[अव्ययात्] अव्यय से उत्तर [आप्सुपः] आप्=टाप्, डाप्, चाप् स्त्रीप्रत्यय, तथा सुप् का लुक् हो जाता है ॥

उदा०—तत्र शालायाम् (उस शाला में) । यत्र शालायाम् । सुपः—कृत्वा, हृत्वा ॥

तत्र यत्र की सिद्धि परि० १।१।३७ में देखें । यहाँ विशेष यह है कि स्त्रीलिङ्ग में जब अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप् आया, तो अव्यय संज्ञा होने से उसका लुक् प्रकृत सूत्र से हो गया है ॥ परि० १।१।३९ में कृत्वा हृत्वा की सिद्धि देखें । अव्यय संज्ञा होकर कृत्वा हृत्वा के आगे जो सु आया था, उसका लुक् हो गया है ॥

यहाँ से 'सुपः' की अनुवृत्ति २।४।८३ तक जायेगी ॥

नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः ॥२।४।८३॥

न अ० ॥ अव्ययीभावात् ५।१॥ अतः ५।१॥ अम् १।१॥ तु अ० ॥ अपञ्चम्याः ६।१॥ स०—न पञ्चमी अपञ्चमी, तस्याः······, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सुपः, लुक् ॥ अर्थः—अतः=अदन्तात् अव्ययीभावसमासाद् उत्तरस्य सुपो लुङ् न भवति, तस्य सुपः 'अम्' आदेशस्तु भवति, अपञ्चम्याः=पञ्चमीं विभक्तिं विहाय ॥ उदा०—उपकुम्भं तिष्ठति । उपकुम्भं पश्य ॥

भावार्थः—[अतः] अदन्त [अव्ययीभावात्] अव्ययीभाव समास से उत्तर सुप् का लुक् [न] नहीं होता है, अपितु उस सुप् को [अम्] अम् आदेश [तु] तो हो जाता है, [अपञ्चम्याः] पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर ॥ अव्ययीभावश्च (१।१।४०) सूत्र से अव्ययीभाव समास अव्ययसंज्ञक होता है । सो पूर्वसूत्र से लुक् की प्राप्ति थी, यहाँ निषेध कर दिया है ॥ उपकुम्भं तिष्ठति (कुम्भ के समीप बैठता है) में 'अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) से समास हुआ है । उपकुम्भ शब्द अदन्त अव्ययीभावसंज्ञक है, सो इसके सुप् को अम् आदेश हो गया है ॥

यहाँ से 'अव्ययीभावादतोऽम्' की अनुवृत्ति २।४।८४ तक जायेगी

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥२।४।८४॥

तृतीयासप्तम्योः ६।२॥ बहुलम् १।१॥ स०—तृतीया च सप्तमी च तृतीयासप्तम्यौ, तयोः······, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अव्ययीभावादतोऽम् ॥ अर्थः—

अदन्तादव्ययीभावाद् उत्तरयोः तृतीयासप्तम्योर्विभक्त्योः स्थाने बहुलम् अम्भावो भवति ॥ उदा०—उपकुम्भेन कृतम्, उपकुम्भं कृतम् । सप्तमी—उपकुम्भे निधेहि, उपकुम्भं निधेहि ॥

भाषार्थ:—अदन्त अव्ययीभाव स उत्तर [तृतीयासप्तम्योः] तृतीया और सप्तमी विभक्ति के स्थान में [बहुलम्] बहुल से अम् आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य अम् आदेश पाता था, बहुल कर दिया ॥ जब अम् आदेश नहीं हुआ, तो विभक्ति का लुक् भी नहीं हुआ है ॥

लुटः प्रथमस्य डारौरसः ॥२।४।८५॥

लुटः ६।१॥ प्रथमस्य ६।१॥ डारौरसः १।३॥ स०—डाश्च रौश्च रश्च डारौरसः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—लुडादेशस्य प्रथमपुरुषस्य स्थाने यथासङ्ख्यं डा रौ रस् इति त्रय आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः ॥

भाषार्थ:—[लुटः] लुडादेश जो (तिप् आदि), [प्रथमस्य] प्रथम पुरुष में उनको यथासङ्ख्य करके [डारौरसः] डा रौ रस् आदेश हो जाते हैं ॥ सिद्धि परि० १।१।६ के समान ही है। केवल यहाँ एकाच उप० (७।२।१०) से इट् का निषेध, और सार्वधातु० (७।३।८४) से 'कृ' को गुण, एवं उरण्रपरः (१।१।५०) से रपरत्व होगा ॥ कर्त्ता में अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५) से 'त्' को द्वित्व भी हो जायेगा। तस् को रौ, झि को रस् आदेश होकर भी पूर्ववत् ही सिद्धि होगी ॥ आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों के स्थान में ये डा रौ रस् आदेश हो जाते हैं ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

प्रत्ययः ॥३।१।१॥

प्रत्ययः १।१॥ अर्थः—इतोऽग्रे आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः (५।४।१६० इति यावत्) 'प्रत्ययः' इति संज्ञात्वेनाधिक्रियते ॥ उदा०—कर्त्तव्यम्, करणीयम् ॥

भावार्थः—यहाँ से लेकर पञ्चमाध्याय की समाप्ति (५।४।१६०) पर्यन्त [प्रत्ययः] प्रत्यय संज्ञा का अधिकार जायेगा ॥ यह अधिकार तथा संज्ञा सूत्र दोनों ही है ॥

उदा०—कर्त्तव्यम्, करणीयम् (करना चाहिए) ॥

परश्च ॥३।१।२॥

परः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—प्रत्ययः ॥ अर्थः—यस्य प्रत्ययसंज्ञा विहिता स प्रत्ययः परश्च भवति, इत्यधिकारो वेदितव्य आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः ॥ उदा०—कर्त्तव्यम् । तैत्तिरीयम् ॥

भावार्थः—जिसकी प्रत्यय संज्ञा कही है, [च] वह जिससे (धातु या प्रातिपदिक से) विधान किया जावे, उससे [परः] परे होता है । यह अधिकार भी पञ्चमाध्याय की समाप्ति (५।४।१६०) पर्यन्त जानना चाहिए ॥ अगले सूत्र ३।१।३ के परि० में उदाहरणों की सिद्धि स्वरसहित देखें ॥

आद्युदात्तश्च ॥३।१।३॥

आद्युदात्तः १।१॥ च अ० ॥ स०—आदिरुदात्तो यस्य स आद्युदात्तः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रत्ययः ॥ अर्थः—यस्य प्रत्ययसंज्ञा विहिता सः प्रत्यय आद्युदात्तोऽपि भवति ॥ अधिकारसूत्रमिदं पञ्चमाध्यायपर्यन्तम्, परिभाषासूत्रं वा ॥ उदा—

कर्तव्यम्, तैत्तिरीयम् ।

भावार्थः—जिसकी प्रत्यय संज्ञा कही है, वह [आद्युदात्तः] आद्युदात्त [च] भी होता है । यह भी अधिकारसूत्र है, पञ्चमाध्याय की समाप्तिपर्यन्त जायेगा ।

जहाँ जो प्रत्यय विधान किया जायेगा, उसको यह आद्युदात्त भी करता जायेगा। अथवा इसको परिभाषासूत्र भी माना जा सकता है॥

अनुदात्तौ सुप्पितौ ॥३।१।४॥

अनुदात्तौ १।२॥ सुप्पितौ १।२॥ स०—सुप् च पिच्च सुप्पितौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—प्रत्ययः॥ अर्थः—सुप्पितौ प्रत्ययौ अनुदात्तौ भवतः॥ पूर्वेणाद्युदात्ते प्राप्ते, अनुदात्तो विधीयते॥ उदा०—दृषदौ, दृषदः पित्—पचति, पठति॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र का यह अपवाद है। [सुप्पितौ] सुप् तथा पित् प्रत्यय [अनुदात्तौ] अनुदात्त होते हैं॥ यह भी अधिकार पञ्चमाध्यायपर्यन्त जानना चाहिए। अथवा—यह भी परिभाषासूत्र माना जा सकता है॥

सन् **गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ॥३।१।५॥** गुप्, तिज्, कित् + सन्

गुप्तिज्किद्भ्यः ५।३॥ सन् १।१॥ स०—गुप् च तिज् च कित् च गुप्तिज्कितः, तेभ्यो गुप्तिज्किद्भ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—गुप गोपने, तिज निशाने, कित निवासे रोगापनयने च, एतेभ्यो धातुभ्यः सन प्रत्ययः परश्च भवति॥ उदा०—जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति।[1]

भाषार्थः—[गुप्तिज्किद्भ्यः] गुप् तिज् कित् इन धातुओं से स्वार्थ में [सन्] सन् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है॥

उदा०—जुगुप्सते (निन्दा करता है), तितिक्षते (क्षमा करता है)। चिकित्सति (रोग का इलाज करता है)॥ इस सूत्र में कहे हुए वार्त्तिकों के कारण इन निर्दिष्ट अर्थों में ही इन धातुओं से सन् प्रत्यय होता है॥ सन्नन्त की सिद्धि हम बहुत बार दिखा चुके हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जानें॥ (अभ्यास दीर्घ)

यहाँ से 'सन्' की अनुवृत्ति ३।१।७ तक जायेगी॥ मान्, बध, दान्, शान्

मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य ॥३।१।६॥ + सन्

मान्बधदान्शान्भ्यः ५।३॥ दीर्घः १।१॥ च अ०॥ अभ्यासस्य ६।१॥ स०—मान् च बधश्च दान् च शान् च मान्बधदान्शानः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अभ्यासस्य विकारः=आभ्यासस्तस्य आभ्यासस्य॥ अनु०—सन्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—मान पूजायाम्, बध बन्धने, दान खण्डने, शान तेजने इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सन् प्रत्ययो भवति, अभ्यासविकारस्य च दीर्घादेशो भवति॥ उदा०—मीमांसते। बीभत्सते। दीदांसते। शीशांसते॥

भाषार्थः—[मान्......भ्यः] मान् बध दान् और शान् धातुओं से सन् प्रत्यय होता है, [च] तथा [अभ्यासस्य] अभ्यास के विकार को अर्थात् अभ्यास को सन्यतः (७।४।७६) से इत्व करने के पश्चात् [दीर्घः] दीर्घ आदेश हो जाता है ॥

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ॥३।१।७॥

धातोः ५।१॥ कर्मणः ६।१॥ समानकर्तृकात् ५।१॥ इच्छायाम् ७।१॥ वा अ०॥ स०—समानः कर्त्ता यस्य स समानकर्तृकः, तस्मात् समानकर्तृकात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सन्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इषिकर्मणोऽवयवो यो धातुः इषिणा समानकर्तृकः तस्मादिच्छायामर्थे वा सन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कर्त्तुमिच्छति= चिकीर्षति । हर्त्तुमिच्छति=जिहीर्षति । पठितुमिच्छति=पिपठिषति ॥

भाषार्थः - इच्छा क्रिया के [कर्मणः] कर्म का अवयव जो [धातोः] धातु [समानकर्तृकात्] इच्छा क्रिया का समानकर्तृक अर्थात् इस धातु के साथ समान कर्त्तावाला हो, उससे [इच्छायाम्] इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय [वा] विकल्प करके होता है ॥

उदाहरण में 'कर्त्तुम्' इच्छति क्रिया का कर्म है। सो कृ धातु से सन् प्रत्यय हुआ है। यहाँ 'कर्म का अवयव' कहने का प्रयोजन यह है कि 'प्रकर्त्तुम् इच्छति' आदि में जहाँ 'प्र' आदि विशेषण से युक्त 'कृ' कर्म हो, वहाँ कर्म के अवयव केवल कृ धातु से सन् प्रत्यय हो, सोपसर्ग से न हो। कर्त्तुं तथा इच्छति क्रिया का कर्त्ता एक ही देवदत्त है, इसलिए कृ धातु समानकर्तृक भी है। 'वा' कहने से पक्ष में 'कर्त्तुमिच्छति' ऐसा वाक्य भी प्रयोग में आता है। ऐसे ही अन्य उदाहरणों में भी समझ लेना चाहिए ॥

चिकीर्षति की सिद्धि परिशिष्ट १।१।५७ के चिकीर्षकः के समान 'चिकीर्ष' बनाकर शप् तिप् लाकर जानें। अथवा—परि० १।२।८ में देखें ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ३।१।२२ तक, तथा 'कर्मणः' की अनुवृत्ति ३।१।१० तक, और 'इच्छायाम्' की ३।१।६ तक जायेगी॥

क्यच्

सुप आत्मनः क्यच् ॥३।१।८॥

सुपः ५।१॥ आत्मनः ६।१॥ क्यच् १।१॥ अनु—कर्मणः, इच्छायाम्, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—एषितुः आत्मसम्बन्धिनः इषिकर्मणः सुबन्ताद् इच्छायामर्थे वा क्यच् प्रत्ययो भवति परश्च ॥ उदा०—आत्मनः पुत्रमिच्छति=पुत्रीयति ॥

भाषार्थः—इच्छा करनेवाले के [आत्मनः] आत्मसम्बन्धी इच्छा के [सुपः]

सुबन्त कर्म से इच्छा अर्थ में विकल्प से [क्यच्] क्यच् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि परिशिष्ट ३।४।७१ में देखें ॥

यहाँ से 'सुपः' की अनुवृत्ति ३।१।११ तक, तथा 'आत्मनः' की ३।१।६ तक, एवं 'क्यच्' की अनुवृत्ति ३।१।१० तक जायेगी ॥

काम्यच्च ॥३।१।९॥ काम्यत्

काम्यच् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुपः, आत्मनः, कर्मणः, इच्छायाम्, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आत्मसम्बन्धिनः सुबन्तात्कर्मणः इच्छायामर्थे वा काम्यच् प्रत्ययो भवति परश्च ॥ उदा०—आत्मनः पुत्रमिच्छति=पुत्रकाम्यति । वस्त्रकाम्यति ॥

भाषार्थः—आत्मसम्बन्धी सुबन्त कर्म से इच्छा अर्थ में विकल्प से [काम्यच्] काम्यच् प्रत्यय [च] भी होता है ॥ जब काम्यच् प्रत्यय पक्ष में नहीं होगा, तो विग्रहवाक्य रह जावेगा ॥ उदा०—आत्मनः पुत्रमिच्छति=पुत्रकाम्यति (अपने पुत्र की इच्छा करता है)। वस्त्रकाम्यति (अपने वस्त्र को चाहता है) ॥ पुत्रकाम्य की सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् शप् तिप् आकर—पुत्रकाम्यति बना है ॥

उपमानादाचारे ॥३।१।१०॥

उपमानात् ५।१॥ आचारे ७।१॥ अनु०—सुपः, क्यच्, कर्मणः, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपमानवाचिनः सुबन्तात्कर्मण आचारेऽर्थे वा क्यच् प्रत्ययः परश्च भवति ॥ उदा०—पुत्रमिवाचरति अध्यापकः शिष्यम्=पुत्रीयति शिष्यम् । गर्दभमिवाचरति अश्वम्=गर्दभीयति ॥

भाषार्थः—[उपमानात्] उपमानवाची सुबन्त कर्म से [आचारे] आचार अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पुत्रमिवाचरति अध्यापकः शिष्यम्=पुत्रीयति शिष्यम् (अध्यापक पुत्र के समान शिष्य में आचरण करता है) । गर्दभमिवाचरति अश्वम्=गर्दभीयति (घोड़े के साथ गधे जैसा बरतता है) । सिद्धि ३।४।७१ की तरह ही समझें ॥

यहाँ से 'सम्पूर्ण सूत्र' की अनुवृत्ति ३।१।११ तक जायेगी ॥

कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च ॥३।१।११॥ क्यङ्

कर्त्तुः ५।१॥ क्यङ् १।१॥ सलोपः १।१॥ च अ० ॥ स०—सस्य लोपः

सलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उपमानादाचारे, सुपः, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपमानवाचिनः कर्त्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे वा क्यङ् प्रत्ययः परश्च भवति, तत्र च सकारान्तो यः शब्दस्तस्य सकारस्य वा लोपो भवति ॥ उदा०—श्येन इवाचरति काकः=श्येनायते। पण्डित इवाचरति मूर्खः=पण्डितायते। पुष्करमिवाचरति कुमुदं =कुमुदं पुष्करायते। पयायते तक्रम्, पयस्यते वा ॥

भाषार्थः—उपमानवाची सुबन्त [कर्त्तुः] कर्त्ता से आचार अर्थ में [क्यङ्] क्यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है, तथा जो सकारान्त शब्द हों, उनके [सलोपः] सकार का लोप [च] भी विकल्प से हो जाता है ॥

उदा०—श्येनायते (कौआ बाज के समान आचरण करता है)। पण्डितायते (मूर्ख पण्डित के समान आचरण करता है)। पुष्करायते (नीला कमल सफेद कमल के समान खिल रहा है)। पयायते (मट्ठा दूध के समान आचरण करता है), पयस्यते। पयस् के सकार का लोप विकल्प से हो गया है। सिद्धि पुत्रीयति के समान ही है। क्यङ् के ङित् होने से आत्मनेपद अनुदात्तङित० (१।३।१२) से हो जाता है ॥

यहाँ से 'क्यङ्' की अनुवृत्ति ३।१।१८ तक जायेगी ॥

भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः ॥३।१।१२॥

भृशादिभ्यः ५।३॥ भुवि ७।१॥ अच्वेः ५।१॥ लोपः १।१॥ च अ० ॥ हलः ६।१॥ स०—भृश आदिर्येषां ते भृशादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः। न च्विः अच्विः, तस्मात् अच्वेः, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—वा, क्यङ्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अच्व्यन्तेभ्यो भृशादिभ्यः शब्देभ्यः भुवि=भवत्यर्थे क्यङ् प्रत्ययः परश्च भवति, यश्च हलन्तः शब्दस्तस्य हलो लोपो भवति ॥ उदा०—अभृशो भृशो भवति=भृशायते। अशीघ्रः शीघ्रो भवति=शीघ्रायते, । अनुन्मनः उन्मनो भवति=उन्मनायते ॥

भाषार्थः—[अच्वेः] अच्व्यन्त [भृशादिभ्यः] भृशादि शब्दों से [भुवि] भू धातु के अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है, और उन भृशादि शब्दों के अन्तर्गत जो हलन्त शब्द हैं, उनके [हलः] हल् का [लोपः] लोप [च] भी होता है ॥ उदाहरणों में च्वि प्रत्यय का अर्थ अभूततद्भाव (५।४।५०) है, अर्थात् जो भृश नहीं वह भृश होता है। सो यहाँ च्वि का अर्थ तो विद्यमान है, परन्तु ये शब्द च्व्यन्त नहीं हैं, अतः क्यङ् प्रत्यय हो गया है ॥ उदा०—अभृशो भृशो भवति=भृशायते (जो अधिक नहीं वह अधिक होता है)। अशीघ्रः शीघ्रो भवति=शीघ्रायते (जो शीघ्रकारी नहीं वह शीघ्रकारी बनता है)। अनुन्मनः उन्मनो भवति=उन्मनायते (जिसका मन उखड़ा नहीं था, वह उखड़ सा गया है)॥

यहाँ से 'प्रच्वेः, भुवि' की अनुवृत्ति ३।१।१३ तक जायेगी ॥

लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् ॥३।१।१३॥

लोहितादिडाज्भ्यः ५।३॥ क्यष् १।१॥ स०—लोहित आदिर्येषां ते लोहितादयः, लोहितादयश्च डाच् च लोहितादिडाचः, तेभ्यः, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—भुवि, अच्वेः, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अच्व्यन्तेभ्यो लोहितादिभ्यः शब्देभ्यो डाजन्तेभ्यश्च भवत्यर्थे क्यष् प्रत्ययः परश्च भवति ॥ उदा०—अलोहितो लोहितो=भवति लोहितायते, लोहितायति । डाच्—पटपटायते, पटपटायति ॥

भावार्थः—अच्व्यन्त [लोहितादिडाज्भ्यः] लोहितादि शब्दों से तथा डाच्-प्रत्ययान्त शब्दों से भू धातु के अर्थ में [क्यष्] क्यष् प्रत्यय होता है ॥ परि० १।३।९० में सिद्धियाँ देखें ॥

कष्टाय क्रमणे ॥३।१।१४॥

कष्टाय ४।१॥ क्रमणे ७।१॥ अनु०—क्यङ्, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—चतुर्थीसमर्थात् कष्टशब्दात् क्रमणे=अनार्जवेऽर्थे वर्त्तमानात् क्यङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कष्टाय (कर्मणे) क्रामति=कष्टायते ॥

भावार्थः—चतुर्थी समर्थ [कष्टाय] कष्ट शब्द से [क्रमणे] क्रमण=कुटिलता अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है ॥

कष्ट शब्द के चतुर्थी विभक्ति से निर्दिष्ट होने से ही चतुर्थी-समर्थ ऐसा अर्थ यहाँ लिया गया है ॥ उदा०—कष्टाय (कर्मणे) क्रामति=कष्टायते (क्लिष्ट कार्य में कुटिलतापूर्वक प्रवृत्त होता है) ॥

कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः ॥३।१।१५॥

कर्मणः ५।१॥ रोमन्थतपोभ्यां ५।२॥ वर्त्तिचरोः ७।२॥ स०—रोमन्थश्च तपश्च रोमन्थतपसी, ताभ्यां………, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । वर्त्तिश्च चर् च वर्त्तिचरौ, तयोः वर्त्तिचरोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्यङ्, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—रोमन्थशब्दात्तपःशब्दाच्च कर्मणो यथाक्रमं वर्त्तिचरोरर्थयोः क्यङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—रोमन्थं वर्त्तयति=रोमन्थायते गौः । तपश्चरति=तपस्यति ॥

भावार्थः—[रोमन्थतपोभ्याम्] रोमन्थ तथा तप [कर्मणः] कर्म से यथासङ्ख्य करके [=वर्त्तिचरोः] वर्त्ति (वर्त्तनं वर्त्तिः) तथा चरि (=चरणं चरिः) अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है ॥ अकृत्सार्वधातु० (७।४।२५) से रोमन्थायते में दीर्घ होगा ॥ क्यङ् के ङित् होने से तपस्यति में अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद ही प्राप्त था,

सो तपसः परस्मैपदं च (वा० १।३।१५) इस वार्त्तिक से परस्मैपद हो गया है ॥ उदा०—रोमन्थायते गौः (गौ जुगाली करती है) । तपस्यति (तपस्या करता है) ॥

यहाँ से 'कर्मणः' की अनुवृत्ति ३।१।२१ तक जायेगी ॥

बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने ॥३।१।१६॥

बाष्पोष्मभ्याम् ५।२॥ उद्वमने ७।१॥ स०—बाष्पश्च ऊष्मा च बाष्पोष्माणौ, ताभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणः, क्यङ्, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्मभ्यां बाष्पोष्मशब्दाभ्यामुद्वमनेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—बाष्पमुद्वमति =बाष्पायते कूपः । ऊष्माणमुद्वमति=ऊष्मायते मनुष्यः ॥

भाषार्थः—[बाष्पोष्मभ्याम्] बाष्प और ऊष्म कर्म से [उद्वमने] उद्वमन अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है ॥

उदा०—बाष्पायते कूप (कूआ भाप को ऊपर फेंकता है) । ऊष्मायते मनुष्यः (मनुष्य मुख से गरम वायु निकालता है)॥

उदाहरणों में अकृत्सार्वधातुकयो० (७।४।२५) से दीर्घ होता है ॥ ऊष्मायते में ऊष्मन् की नः क्ये: (१।४।१५) से पद संज्ञा होकर न लोपः प्राति० (८।२।७) से नकार का लोप हो जाता है ॥

शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ॥३।१।१७॥

शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः ५।३॥ करणे ७।१॥ स०—शब्दश्च वैरं च कलहश्च अभ्रश्च कण्वश्च मेघश्च शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघाः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणः, क्यङ्, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शब्दः वैर कलह अभ्र कण्व मेघ इत्येतेभ्यः कर्मभ्यः करणे=करोत्यर्थे क्यङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शब्दं करोति=शब्दायते । वैरं करोति=वैरायते । कलहं करोति=कलहायते । अभ्रायते सूर्यः । कण्वायते । मेघायते सूर्यः ॥

भाषार्थः—[शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः] शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ, इन कर्म शब्दों से [करणे] करण अर्थात् करोति के अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—शब्दायते (शब्द करता है)। वैरायते (वैर करता है) । कलहायते कलह करता है) । अभ्रायते सूर्यः (सूर्य बादल बनाता है) । कण्वायते (पाप करता है) । मेघायते सूर्यः (सूर्य बादल बनाता है)॥ यहां सर्वत्र सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से धातु संज्ञा, तथा क्यङ् के ङित् होने से आत्मनेपद होता है । इसी प्रकार सर्वत्र दीर्घ भी जानें ॥

यहाँ से 'करणे' की अनुवृत्ति ३।१।२१ तक जायेगी ॥

सुखादिभ्यः कर्त्तृ वेदनायाम् ।।३।१।१८।।

सुखादिभ्यः ५।३।। कर्त्तृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। वेदनायाम् ७।१।। स०—सुखम् आदि येषां तानि सुखादीनि, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ।। अनु०—कर्मणः, क्यङ्, वा, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—सुखादिभ्यः कर्मभ्यः वेदनायाम्=अनुभवेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो भवति, वेदयितुश्चेत् कर्त्तुः सम्बन्धीनि सुखादीनि भवन्ति ।। उदा०—सुखं वेदयते=सुखायते । दुःखायते ।।

भाषार्थः—[सुखादिभ्यः] सुखादि कर्मों से [वेदनायाम्] वेदना अर्थात् अनुभव करने अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है, यदि सुखादि वेदयिता [कर्त्तृ] कर्त्ता-सम्बन्धी ही हों, अर्थात् जिसको सुख हो अनुभव करनेवाला भी वही हो, कोई अन्य नहीं ।। उदाहरण में उसी देवदत्त को सुख है, और अनुभव करनेवाला भी वही है । पूर्ववत् उदाहरणों में दीर्घ होता है ।।

उदा०—सुखायते (सुख का अनुभव करता है) । दुःखायते (दुःख का अनुभव करता है) ।।

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ।।३।१।१९।।

नमोवरिवश्चित्रङः ५।१।। क्यच् १।१।। स०—नमश्च वरिवश्च चित्रङ् च नमोवरिवश्चित्रङ्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—करणे, कर्मणः, वा, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—नमस् वरिवस् चित्रङ् इत्येतेभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यच् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—नमः करोति देवेभ्यः=नमस्यति देवान् । वरिवः करोति=वरिवस्यति गुरून् । चित्रं करोति=चित्रीयते ।।

भाषार्थः—[नमोवरिवश्चित्रङः] नमस्, वरिवस्, चित्रङ् इन कर्मों से करोति के अर्थ में [क्यच्] क्यच् प्रत्यय होता है ।। क्यच् तथा क्यङ् प्रत्यय में यही भेद है कि क्यच् करने से परस्मैपद, तथा क्यङ् में आत्मनेपद होगा । चित्रङ् शब्द में ङित् करने से आत्मनेपद ही होता है ।। उदा०—नमस्यति देवान् (देवों को नमस्कार करता है) । वरिवस्यति गुरून् (गुरुओं की सेवा करता है) । चित्रीयते (आश्चर्य करता है) ।।

पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् ।।३।१।२०।।

पुच्छभाण्डचीवरात् ५।१।। णिङ् १।१।। स०—पुच्छञ्च भाण्डञ्च चीवरञ्च पुच्छ-भाण्डचीवरम्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—करणे, कर्मणः, वा, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—पुच्छ भाण्ड चीवर इत्येतेभ्यः कर्मभ्यो णिङ् प्रत्ययो भवति करणविशेषे ।।

उदा०—पुच्छं उदस्यति=उत्पुच्छयते गौः । परिपुच्छयते । भाण्डं समाचिनोति=सम्भाण्डयते । चीवरं परिदधाति=सञ्चीवरयते भिक्षुः ॥

भाषार्थः—[पुच्छभाण्डचीवरात्] पुच्छ, भाण्ड, चीवर इन कर्मों से [णिङ्] णिङ् प्रत्यय होता है, क्रियाविशेष को कहने में ॥ उदा०—उत्पुच्छयते गौः (गौ पूँछ उठाती है) । परिपुच्छयते (गौ पूँछ चारों तरफ चलाती है) । सम्भाण्डयते (बर्त्तनों को ठीक से रखता है) । सञ्चीवरयते भिक्षुः (भिक्षु कपड़े पहनता है) ॥ उदाहरणों में ङित् होने से आत्मनेपद होता है । सिद्धि णिजन्त की सिद्धियों के समान है ॥

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् ॥३।१।२१॥

मुण्ड····तूस्तेभ्यः ५।३॥ णिच् १।१॥ स०—मुण्डश्च मिश्रश्च श्लक्ष्णश्च लवणञ्च व्रतञ्च वस्त्रञ्च हलश्च कलश्च कृतञ्च तूस्तञ्च मुण्ड······तूस्तानि, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणः, करणे, वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत, तूस्त इत्येतेभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे णिच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मुण्डं करोति=मुण्डयति । मिश्रयति । श्लक्ष्णयति । लवणयति । पयो व्रतयति । वस्त्रमाच्छादयति=संवस्त्रयति । हलिं गृह्णाति=हलयति । कलिं गृह्णाति=कलयति । निपातनादकारः, स च सन्वद्भावनिषेधार्थः । कृतं गृह्णाति=कृतयति । तूस्तानि विहन्ति=वितूस्तयति केशान् ॥

भाषार्थः—[मुण्ड······तूस्तेभ्यः] मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत, तूस्त इन कर्मों से करोत्यर्थ में [णिच्] णिच् प्रत्यय होता है ॥ लवण व्रत वस्त्रादि शब्द अकारान्त हैं । सो अतो लोपः (६।४।४८) से अकार लोप होकर यथाप्राप्त वृद्धि या गुण जब करने लगेंगे, तो अकार स्थानिवत् (१।१।५५) हो जायेगा ॥ उदा०—मुण्डयति (मुण्डन करता है) । मिश्रयति (मिश्रण करता है) । श्लक्ष्णयति (चिकना करता है) । लवणयति (नमकीन बनाता है) । पयो व्रतयति (दूध का व्रत करता है) । संवस्त्रयति (वस्त्र से ढाँपता है) । हलयति (बड़े हल को पकड़ता है) । कलयति (कलि नामक पाश को पकड़ता है) । कृतयति (फल को ग्रहण करता है) । वितूस्तयति केशान् (जटाओं को अलग-अलग करता है) ॥

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ॥३।१।२२॥

धातोः ५।१॥ एकाचः ५।१॥ हलादेः ५।१॥ क्रियासमभिहारे ७।१॥ यङ् १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्मात्, बहुव्रीहिः । हल् आदिर्यस्य स हलादिः, तस्मात् हलादेः, बहुव्रीहिः । क्रियायाः समभिहारः क्रियासमभिहारः, तस्मिन्,

षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—वा, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—एकाज् यो धातुर्हलादिः तस्मात् क्रियासमभिहारे=पौनःपुन्येऽर्थे भृशार्थे. वा वर्त्तमानाद् यङ् प्रत्ययो विकल्पेन भवति ॥ उदा०—पुनः पुनः पचति=पापच्यते, पापठ्यते। भृशं ज्वलति= जाज्वल्यते, देदीप्यते ॥

भाषार्थः—[क्रियासमभिहारे] क्रियासमभिहार अर्थात् बार-बार करने अर्थ में, वा भृशार्थ=अतिशय में वर्त्तमान [एकाचः] एक अच्वाली जो [हलादेः] हलादि [धातोः] धातु उससे विकल्प से [यङ्] यङ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'यङ्' की अनुवृत्ति ३।१।२४ तक जायेगी, तथा 'धातोः' का अधिकार ३।१।९० तक जायेगा ॥

नित्यं कौटिल्ये गतौ ॥३।१।२३॥

नित्यम् १।१॥ कौटिल्ये ७।१॥ गतौ ७।१॥ अनु०—धातोः, यङ्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यो नित्यं कौटिल्ये गम्यमाने यङ् प्रत्ययो भवति, न तु समभिहारे ॥ उदा०—कुटिलं क्रामति=चङ्क्रम्यते । दन्द्रम्यते ॥

भावार्थः—[गतौ] गत्यर्थक धातुओं से [नित्यम्] नित्य [कौटिल्ये] कुटिल गति गम्यमान होने पर ही यङ् प्रत्यय होता है, समभिहार में नहीं ॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति ३।१।२४ तक जायेगी ॥

लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम् ॥३।१।२४॥

लुपसद··गृभ्यः ५।३॥ भावगर्हायाम् ७।१॥ स०—लुपसद० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः । भावस्य गर्हा भावगर्हा, तस्यां भावगर्हायाम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—नित्यं, धातोः, यङ्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—लुप, सद, चर, जप, जभ, दह, दश, गॄ इत्येतेभ्यो धातुभ्यो नित्यं भावगर्हायां=धात्वर्थगर्हायां यङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—गर्हितं लुम्पति=लोलुप्यते । सासद्यते । चञ्चूर्यते । जञ्जप्यते । जञ्जभ्यते । दन्दह्यते । दन्दश्यते । निजेगिल्यते ॥

भावार्थः—[लुपसद······गृभ्यः] लुप, सद, चर, जप, जभ, दह, दश, गृ इन धातुओं से नित्य[भावगर्हायाम्] भाव की निन्दा अर्थात् धात्वर्थ की निन्दा में ही यङ् प्रत्यय होता है ॥ लोलुप्यते में लोप करनेवाला अर्थात् काटनेवाला निन्दित नहीं है, अपितु उसके काटने में ही निन्दा है । वह काटना क्रिया खराब ढंग से करता है, सो भावगर्हा है ॥

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् ॥३।१।२५॥

सत्याप········चूर्णचुरादिभ्यः ५।३॥ णिच् १।१॥ स०—चुर् आदिर्येषां ते चुरादयः । सत्यापश्च पाशश्च रूपं च वीणा च तूलश्च श्लोकश्च सेना च लोम च त्वचं च वर्म च वर्ण च चूर्णं च चुरादयश्च सत्यापपाश·········चुरादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, चूर्ण इत्येतेभ्यः शब्देभ्यः, चुरादिभ्यश्च धातुभ्यो[1] णिच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सत्यम् आचष्टे सत्यापयति । विपाशयति । रूपयति । वीणया उपगायति=उपवीणयति । तूलेन अनुकुष्णाति=अनुतूलयति । श्लोकैरुपस्तौति=उपश्लोकयति, सेनयाऽभियाति=अभिषेणयति। लोमान्यनुमार्ष्टि=अनुलोमयति । त्वचं गृह्णाति=त्वचयति । वर्मणा संनह्यति=संवर्मयति । वर्णं गृह्णाति=वर्णयति । चूर्णैरवध्वंसयति=अवचूर्णयति ॥ चुरादिभ्यः—चोरयति । चिन्तयति ॥

भावार्थः—[सत्याप·····चुरादिभ्यः] सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, चूर्ण इन शब्दों, तथा चुरादि (धातुपाठ में पढ़ी) धातुओं से [णिच्] णिच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—सत्यापयति (सत्य कहता है) । विपाशयति (बन्धन से छुड़ाता है) । रूपयति (दर्शाता है) । उपवीणयति (वीणा से गाता है)। अनुतूलयति (रूई के द्वारा कान के मैल आदि को खींचता है)। उपश्लोकयति (श्लोकों से स्तुति करता है) । अभिषेणयति (सेना से चढ़ाई करता है)। अनुलोमयति (बालों को साफ करता है) । त्वचयति (दालचीनी को पकड़ता है) । संवर्मयति (कवच सहित तैयार होता है) । वर्णयति (रंग पकड़ता है) । अवचूर्णयति (चूर्ण से किसी वस्तु का नाश करता है) ॥ चुरादियों से—चोरयति (चुराता है)। चिन्तयति (चिन्ता करता है) ॥ चुर् को प्रथम भूवादयो० (१।३।१) से धातु संज्ञा करके 'चोरि' बनाकर, पुनः सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा हुई । तत्पश्चात् पूर्ववत् शप् तिप् आकर शप् को निमित्त मानकर सार्वधातु०(७।३।८४)से 'रि' को 'रे' गुण, तथा अयादेश होकर 'चोरयति' बना ॥ चुरादिगण में सर्वत्र एक बार भूवादयो० से धातु संज्ञा होकर, णिच् प्रत्यय लाकर, पुनः सनाद्यन्ता धातवः से धातु संज्ञा हुआ करेगी । सत्यापयति आदि में तो पूर्ववत् ही प्रथम प्रातिपदिक संज्ञा होकर णिच् लाकर

---

१. धातोः का अधिकार आते हुए भी यहाँ चुरादियों के साथ ही धातु का सम्बन्ध बैठता है, सत्यापपाश० आदि के साथ नहीं । क्योंकि सत्याप आदि शब्द प्रातिपदिक हैं, तथा चुरादि धातुएं हैं ॥

सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा "सत्यापि" की हुई है। पूर्ववत् शप् तिप् आकर, गुण अयादेश करके 'सत्यापयति' आदि बनेगा ॥

यहां से 'णिच्' की अनुवृत्ति ३।१।२६ तक जायेगी ॥

हेतुमति च ॥३।१।२६॥

हेतुमति ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—णिच्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः प्रयोजको हेतुः। तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५) इत्यनेन हेतुसंज्ञा भवति। हेतुरस्यास्तीति हेतुमान्, हेतोः व्यापारः प्रेषणादिलक्षणः। तस्मिन् हेतुमति अभिधेये धातोर्णिच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—देवदत्तः कटं करोति यज्ञदत्तः तं प्रेरयति = कटं कारयति देवदत्तेन यज्ञदत्तः। ओदनं पाचयति ॥

भाषार्थः—स्वतन्त्र कर्त्ता के प्रयोजक को 'हेतु' कहते हैं। उसका जो प्रेषणादिलक्षण व्यापार वह हेतुमान् हुआ, उसके अर्थात् [हेतुमति] हेतुमान् के अभिधेय होने पर [च] भी धातु से णिच प्रत्यय होता है ॥ चटाई बनाते हुए देवदत्त को यज्ञदत्त के द्वारा प्रेषण(=प्रेरणा)दिया जा रहा है कि चटाई बनाओ। सो उदाहरण में हेतुमत् अभिधेय है, अतः णिच् प्रत्यय कृ तथा पच् धातुओं से हो गया ॥ उदा०—देवदत्तः कटं करोति यज्ञदत्तः तं प्रेरयति = कटं कारयति देवदत्तेन यज्ञदत्तः (यज्ञदत्त देवदत्त से चटाई बनवा रहा है)। ओदनं पाचयति (चावल पकवा रहा है) ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

कण्ड्वादिभ्यो यक् ॥३।१।२७॥

कण्ड्वादिभ्यः ५।३॥ यक् १।१॥ स०—कण्डूः आदिर्येषां ते कण्ड्वादयः, तेभ्यः कण्ड्वादिभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कण्ड्वादिभ्यो धातुभ्यो यक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कण्डूयति, कण्डूयते। मन्तूयति ॥

भाषार्थः—[कण्ड्वादिभ्यः] कण्ड्वादि धातुओं से [यक्] यक् प्रत्यय होता है ॥ कण्ड्वादि धातु तथा प्रातिपदिक दोनों हैं। सो धातोः का अधिकार होने से यहाँ कण्ड्वादि धातु ही ली गई हैं ॥ उदा०—कण्डूयति (खुजली करता है), कण्डूयते। मन्तूयति (अपराध करता है) ॥ स्वरितञितः० (१।३।७२) से कण्डूयति में उभयपद होता है ॥ मन्तु को दीर्घ अकृत्सार्व० (७।४।२५) से होता है ॥ कण्डूय, मन्तूय की सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर शप तिप् आ ही जायेंगे ॥

गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ॥३।१।२८॥

गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्यः ५।३॥ आयः १।१॥ स०—गुपूश्च धूपश्च विच्छिश्च पणिश्च पनिश्च गुपूधूपविच्छिपणिपनयः, तेभ्यः……, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—गुपू, धूप, विच्छ, पण व्यवहारे स्तुतौ च, पन च इत्येतेभ्यो धातुभ्य आयः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—गोपायति । धूपायति । विच्छायति । पणायति । पनायति ॥

भाषार्थः—[गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्यः] गुपू, धूप, विच्छि, पणि, पनि इन धातुओं से [आयः] आय प्रत्यय होता है ॥ उदा०—गोपायति (रक्षा करता है)। धूपायति (पीड़ा देता है) । विच्छायति (चलता है) । पणायति (स्तुति करता है) । पनायति (स्तुति करता है) ॥ गुपू में ऊकार अनुबन्ध है । लघूपध गुण होकर 'गोपाय' धातु बन गई । पुनः शप् तिप् आकर गोपायति बना है ॥

ऋतेरीयङ् ॥३।१।२९॥

ऋतेः ५।१॥ ईयङ् १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—ऋतिधातो. ईयङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—ऋतीयते, ऋतीयेते ॥

भाषार्थः—[ऋतेः] ऋति धातु से [ईयङ्]ईयङ् प्रत्यय होता है ॥उदा०—ऋतीयते (घृणा करता है) ॥ ऋत्+ईय=ऋतीय की (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर शप् त आ गये हैं । आत्मनेपद अनुदात्तङित० (१।३।१२) से हो गया है ॥

विशेषः—ऋति धातु धातुपाठ में नहीं पढ़ी है । यह सौत्र धातु घृणा अर्थ में है । जो धातु सूत्रपाठ (अष्टाध्यायी) में पढ़ी होती है, धातुपाठ में नहीं, उसे सौत्र धातु कहते हैं ॥

कमेर्णिङ् ॥३।१।३०॥

कमेः ५।१॥ णिङ् १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—कमुधातो-र्णिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कामयते, कामयेते, कामयन्ते ॥

भाषार्थः—[कमेः] कमु कान्तौ धातु से [णिङ्] णिङ् प्रत्यय होता है ॥ ङकार अनुबन्ध आत्मनेपदार्थ है, तथा णकार अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि करने के लिये है ॥ कमु में उकार अनुबन्ध है ॥

उदा०—कामयते (कामना करता है) ॥

आयादय आर्धधातुके वा ॥३।१।३१॥

आयादयः १।३॥ आर्धधातुके ७।१॥ वा अ० ॥ स०—आय आदिर्येषां ते

आयादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु० —प्रत्ययः ॥ अर्थः—आयादयः प्रत्ययाः आर्धधातुकविषये विकल्पेन भवन्ति ॥ नित्यप्रत्ययप्रसङ्गे तदुत्पत्तिरार्धधातुकविषये विकल्प्यते ॥ उदा०—गोप्ता, गोपिता, गोपायिता । अर्तिता, ऋतीयिता । कमिता, कामयिता ॥

भाषार्थः—[आयादयः] आयादि प्रत्यय अर्थात् आय ईयङ् णिङ् प्रत्यय जिन-जिन धातुओं से कहे हैं, उनसे [आर्धधातुके] आर्धधातुक विषय की विवक्षा हो, तो वे प्रत्यय [वा] विकल्प से होंगे । नित्य प्रत्यय की उत्पत्ति प्राप्त थी, सो विकल्प कर दिया ॥ यहाँ 'आर्धधातुके' में विषयसप्तमी है ॥

सनाद्यन्ता धातवः ॥३।१।३२॥

सनाद्यन्ताः १। ॥ धातवः १।३॥ स०—सन् आदिर्येषां ते सनादयः, बहुव्रीहिः । सनादयोऽन्ते येषां ते सनाद्यन्ताः, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—सनाद्यन्ता समुदायाः धातुसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—चिकीर्षति, पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति ॥

भाषार्थः—सन् जिनके आदि में है, वे सनादि प्रत्यय कहलाए । अर्थात् गुप्तिज्किद्भ्यः सन् (३।१।५) के सन् से लेकर प्रकृत सूत्र तक जितने क्यच् काम्यच् क्यङ् णिङ् आदि प्रत्यय हैं, वे सब सनादि हुए । वे सनादि प्रत्यय हैं अन्त में जिस शब्द के, वह सारा समुदाय (=सनादि अन्तवाला) सनाद्यन्त हुआ । उस [सनाद्यन्ताः] सनाद्यन्त समुदाय की [धातवः] धातु संज्ञा होती है ॥ पिछले सारे सूत्रों के उदाहरण इस सूत्र के उदाहरण बनेंगे । इस प्रकरण में प्रातिपदिकों एवं सुबन्तों से भी (यथा लोहित, भृश, पुत्र आदि से) प्रत्यय की उत्पत्ति करके, पुनः प्रत्ययान्त की प्रकृत सूत्र से धातु संज्ञा कर दी जाती है, जिससे प्रातिपदिक भी तिङन्त बन जाते हैं । अतः उन्हें नामधातु कहते हैं, क्योंकि वे नाम से ही तिङन्त बनते हैं ॥

स्यतासी लृलुटोः ॥३।१।३३॥

स्यतासी १।२॥ लृलुटोः ७।२॥ स०—स्यश्च तासिश्च स्यतासी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । लृ च लुट् च लृलुटौ, तयोः लृलुटोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—लृ इत्यनेन लृट्लृङोः द्वयोरपि ग्रहणम् ॥ लृलुटोः परतो धातोः स्यतासी प्रत्ययौ यथाक्रमं भवतः ॥ उदा०—करिष्यति ।अकरिष्यत् । लुट्—कर्ता, पठिता ॥

भाषार्थः—लृ से यहाँ लृट् लृङ् दोनों लकारों का ग्रहण है ॥ धातु से [लृलुटोः] लृ (=लृट्, लृङ्) तथा लुट् परे रहते यथासंख्य करके [स्यतासी] स्य तास् प्रत्यय हो जाते हैं ॥ सिद्धियाँ पहले कई बार आ चुकी हैं ॥

सिब्बहुलं लेटि ॥३।१।३४॥

सिप् १।१॥ बहुलम् १।१॥ लेटि ७।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—लेटि परतो धातोर्बहुलं सिप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भविषति, भविषाति। भविषत्, भविषात् । भविषद्, भविषाद् ॥ भाविषति, भाविषाति । भाविषत्, भाविषात् । भाविषद्, भाविषाद् ॥ न च भवति—भवति, भवाति । भवत्, भवात् । भवद्, भवाद् ॥ एवं तसि—भविषतः, भविषातः । भाविषतः, भाविषातः । भवतः, भवातः ॥ झि—भविषन्ति, भविषान्ति । भविषन्, भविषान् । भाविषन्ति, भाविषान्ति । भाविषन्, भाविषान् । भवन्ति, भवान्ति । भवन्, भवान् ॥ सिपि—भविषसि, भविषासि । भविषः, भविषाः । भाविषसि, भाविषासि । भाविषः, भाविषाः । भवसि, भवासि । भवः, भवाः ॥ थसि—भविषथः, भविषाथः । भाविषथः, भाविषाथः । भवथः, भवाथः ॥ थ—भविषथ, भविषाथ । भाविषथ, भाविषाथ । भवथ, भवाथ ॥ मिपि—भविषमि, भविषामि । भविषम्, भविषाम् । भाविषमि, भाविषामि । भाविषम् । भाविषाम् । भवमि, भवामि । भवम्, भवाम् ॥ वसि—भविषवः, भविषावः । भविषव, भविषाव । भाविषवः, भाविषावः । भाविषव, भाविषाव । भववः, भवावः । भवव, भवाव ॥ मसि—भविषमः, भविषामः । भविषम, भविषाम । भाविषमः, भाविषामः । भाविषम, भाविषाम । भवमः, भवामः । भवम, भवाम ॥

जोषिषत्, तारिषत्, मन्दिषत् । न च भवति—पताति विद्युत् (ऋ० ७।२५।१) । उदधिं च्यावयाति (तुलना—अथर्व० १०।१।१३; तै० ब्रा० १।६।४।५; तां० ब्रा० ६।१०।१६, ११।८।११, १२।५।१२ सर्वत्र तत्सदृश एव पाठो न तु पूर्णः) । जीवाति शरदः शतम् (ऋ० १०।८५।३६)। स देवां एह वक्षति (ऋ० १।१।२) ॥

भाषार्थः—[लेटि] लेट् लकार परे रहते धातु से [बहुलम्] बहुल करके [सिप्] सिप् प्रत्यय होता है ॥ उदाहरणों में भू धातु के सम्भावित रूप दिखाये गये हैं । जोषिषत् आदि उपलभ्यमान उदाहरण हैं ॥

कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ॥३।१।३५॥

कास्प्रत्ययात् ५।१॥ आम् १।१॥ अमन्त्रे ७।१॥ लिटि ७।१॥ स०—कास् च प्रत्ययश्च कास्प्रत्ययम्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः । न मन्त्रः अमन्त्रः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कासृ शब्दकुत्सायाम् तस्मात् प्रत्ययान्ताच्च धातोः 'आम्' प्रत्ययो भवति लिटि परतः अमन्त्रविषये=लौकिकप्रयोगविषये ॥ उदा०—कासाञ्चक्रे। लोलूयाञ्चक्रे, पोपूयाञ्चक्रे ॥

भाषार्थः—[कास्प्रत्ययात्] 'कासृ शब्दकुत्सायाम्' धातु से, तथा प्रत्ययान्त

धातुओं से [लिटि] लिट् लकार परे रहते [आम्] आम् प्रत्यय होता है, यदि [अमन्त्रे] मन्त्रविषयक अर्थात् वेदविषयक प्रयोग न हो ॥ उदा०—कासाञ्चक्रे (वह खाँसा)। लोलूयाञ्चक्रे (उसने बार-बार काटा), पोपूयाञ्चक्रे (बार-बार पवित्र किया) ॥

सिद्धि परिशिष्ट १।३।६३ के समान समझें। परले लोलूय की सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा करके, परि० १।१।४ के समान सिद्धि कर ली जावेगी। अब यह लोलूय धातु यङ् प्रत्ययान्त हो गई। सो आम् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से आकर लोलूयाञ्चक्रे परि० १।३।६३ के समान बनेगा ॥

यहाँ से 'आम्' की अनुवृत्ति ३।१।४० तक, तथा 'अमन्त्रे लिटि' की अनुवृत्ति ३।१।३९ तक जावेगी ॥

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ॥३।१।३६॥

इजादेः ५।१॥ च अ० ॥ गुरुमतः ५।१॥ अनृच्छः ५।१॥ स०—इच् आदिर्यस्य स इजादिः, तस्मात्, बहुव्रीहिः। गुरुः वर्णो विद्यतेऽस्मिन् इति गुरुमान्, तस्मात् गुरुमतः, तदस्यास्त्य० (५।२।९४) इत्यनेन मतुप् प्रत्ययः। न ऋच्छ् अनृच्छ्, तस्मात्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आममन्त्रे लिटि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् तस्मात् आम् प्रत्ययो भवति, अमन्त्रे लिटि परतः ऋच्छधातुं वर्जयित्वा ॥ उदा०—ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे ॥

भाषार्थः—[इजादेः] इजादि [च] तथा [गुरुमतः] गुरुमान् जो धातु उससे आम् प्रत्यय हो जाता है, लौकिक प्रयोग विषय में लिट् परे रहते, [अनृच्छः] ऋच्छ् धातु को छोड़कर ॥ ईह चेष्टायाम्, ऊह वितर्के धातुएं इजादि हैं, तथा दीर्घं च (१।४।१२) से गुरु संज्ञा होने से गुरुमान् भी हैं। सो आम् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से हो गया। ऋच्छ् धातु भी इजादि, तथा संयोगे गुरु (१।४।११) से गुरु संज्ञा होने से गुरुमान् भी थी, सो आम् प्रत्यय की प्राप्ति थी, पर अनृच्छः कहने से निषेध हो गया ॥ परि० १।३।६३ में सिद्धि देखें ॥

दयायासश्च ॥३।१।३७॥

दयायासः ५।१॥ च अ० ॥ स०—दयश्च अयश्च आस् च दयायास्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—आममन्त्रे लिटि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'दय दानगतिरक्षणेषु', 'अय गतौ', 'आस उपवेशने' इत्येतेभ्यो धातुभ्यो लिटि परतोऽमन्त्रे विषये आम् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दयाञ्चक्रे। पलायाञ्चक्रे। आसाञ्चक्रे ॥

भावार्थः—[दयायासः] दय अय तथा आस धातुओं से [च] भी अमन्त्रविषयक लिट् लकार परे रहते आम् प्रत्यय हो जाता है ॥ इन धातुओं के इजादि एवं गुरुमान् न होने से पूर्व सूत्र से आम् की प्राप्ति नहीं थी, सो विधान कर दिया ॥ उदा०—दयाञ्चक्रे (उसने रक्षा की)। पलायाञ्चक्रे (वह भाग गया)। आसाञ्चक्रे (वह बैठा)॥ पलायाञ्चक्रे में परा पूर्वक अय धातु से आम् प्रत्यय हुआ है। उपसर्गस्यायतौ (८।२।१९) से र् को ल् हो गया है। शेष सब सिद्धि परि० १।३।६३ के समान ही जानें॥

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ॥३।१।३८॥

उषविदजागृभ्यः ५।३॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—उषश्च विदश्च जागृ च उषविदजागृः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आममन्त्रे लिटि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥अर्थः—'उष दाहे', 'विद ज्ञाने', 'जागृ निद्राक्षये' इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽमन्त्रे विषये लिटि परत आम् प्रत्ययो विकल्पेन भवति ॥ उदा०—ओषाञ्चकार, उवोष। विदाञ्चकार, विवेद। जागराञ्चकार, जजागार॥

भावार्थः—[उषविदजागृभ्यः] उष विद तथा जागृ धातुओं से [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अमन्त्र विषय में लिट् परे रहते आम् प्रत्यय होता है॥

यहाँ से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति ३।१।३९ तक जाती है॥

भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ॥३।१।३९॥

भीह्रीभृहुवाम् ६।३॥ श्लुवत् अ०॥ च अ० ॥ स०—भीश्च ह्रीश्च भृ च हुश्च भीह्रीभृहुवः, तेषां, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ श्लौ इव श्लुवत् ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, आममन्त्रे लिटि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'ञिभी भये', 'ह्री लज्जायाम्', 'डुभृञ् धारणपोषणयोः, 'हु दानादनयोः' इत्येतेभ्यो धातुभ्योऽमन्त्रे लिटि परतो विकल्पेन आम् प्रत्ययो भवति, श्लुवच्च एषां कार्यं भवति ॥ उदा०—बिभयाञ्चकार, बिभाय। जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय। बिभराञ्चकार, बभार। जुहवाञ्चकार, जुहाव॥

भावार्थः—[भीह्रीभृहुवाम्] भी, ह्री, भृ, हु इन धातुओं से अमन्त्रविषयक लिट् परे रहते विकल्प से आम् प्रत्यय होता है, [च] तथा इनको [श्लुवत्] श्लुवत् कार्य, अर्थात् श्लु के परे रहते जो कार्य होने चाहियें, वे भी हो जाते हैं॥ श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व, तथा भृञामित् (७।४।७६) से इत्व करना ही श्लुवत् कार्य है॥ उदा०—बिभयाञ्चकार, बिभाय (वह डर गया था)। जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय (वह लज्जित हो गया था)। बिभराञ्चकार, बभार (उसने पालन किया था)।

जुहवाञ्चकार, जुहाव (उसने हवन किया था)॥ 'भी' इत्यादि धातुओं को श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि सब पूर्ववत् होगा। भृ के अभ्यास को भृञामित्(७।४।७६) से इत्व होगा। जब आम् प्रत्यय नहीं होगा, तो तिप् के स्थान में परस्मैपदानाम्० (३।४।८२)से णल् होगा, तथा लिटि धातोरनभ्यासस्य(६।१।८) से द्वित्व होगा। आम् पक्ष में लिट् के पूर्व आम् प्रत्यय का व्यवधान होने से लिटि धातोरनभ्यास्य से द्वित्व प्राप्त नहीं होता था, अतः श्लुवत् कर दिया॥

कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ॥३।१।४०॥

कृञ् १।१॥ च अ०॥ अनुप्रयुज्यते तिङ्॥ लिटि ७।१॥ अनुप्रयुज्यते इत्यत्र पश्चादर्थे 'अनु'॥ अनु०—आम्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—आम्प्रत्ययस्य पश्चात् कृञ् अनुप्रयुज्यते लिटि परतः॥ कृञ् इत्यनेन प्रत्याहारग्रहणम्—कृभ्वस्तियोगे० (५।४।५०) इत्यतः प्रभृत्याऽकृञो द्वितीयतृतीय० (५।४।५८) इत्यस्य ञकारात्॥ उदा०—पाठयाञ्चकार, पाठयाम्बभूव, पाठयामास॥

भाषार्थः—आम्प्रत्यय के पश्चात् [कृञ्] कृञ् प्रत्याहार (=कृ भू अस्) का [च] भी [अनुप्रयुज्यते] अनुप्रयोग होता है, [लिटि] लिट् परे रहते॥ 'कृञ्' से कृञ् प्रत्याहार लिया गया है—कृभ्वस्तियोगे० (५।४।५०) के 'कृ' से लेकर कृञो द्वितीयतृतीय० (५।४।५८) के ञकारपर्यन्त 'कृ, भू, अस्' तीन धातुओं का इससे ग्रहण होता है॥

ऊपर से ही यहाँ 'लिटि' की अनुवृत्ति आ सकती थी, पुनः यहाँ जो 'लिटि' ग्रहण किया है, उसका यह प्रयोजन है कि आमः (२।४।८१) से लिट् का लुक् करने के पश्चात् कृ भू अस् का अनुप्रयोग करने पर उस लिट् को पुनरुत्पत्ति हो जावे। जैसा कि परि० १।३।६३ की सिद्धियों में भी दिखा आये हैं॥

विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ॥३।१।४१॥

विदाङ्कुर्वन्तु तिङ्॥ इति अ०॥ अन्यतरस्याम् अ०॥ अर्थः—विदाङ्कुर्वन्तु इत्येतद् रूपं विकल्पेन निपात्यते, पक्षे विदन्तु॥ अत्र विदधातोर्लोटि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने 'आम्' प्रत्ययः, गुणाभावः, लोट्प्रत्ययस्य लुक्, लोट्परस्य कृञोऽनुप्रयोगो निपात्यते॥

भाषार्थः—[विदाङ्कुर्वन्तु] विदाङ्कुर्वन्तु [इति] यह रूप लोट् के प्रथम पुरुष के बहुवचन में निपातन किया जाता है,[अन्यतरस्याम्] विकल्प करके। पक्ष में विदन्तु भी बनेगा॥ विद धातु को लोट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन के परे रहते आम् प्रत्यय तथा उस आम् प्रत्यय को निमित्त मानकर विद् को जो पुगन्तलघूपधस्य

च (७।३।८६) से गुण पाता है उसका अभाव, उस लोट् का लुक्, तथा लोट्परक कृञ् धातु का अनुप्रयोग यह सब निपातन से यहाँ सिद्ध किया जाता है ।। शेष कुर्वन्तु में झि को अन्तादेश, एरुः (३।४।८६) से इ को उ, तनादिकृञ्भ्य: उ: (३।१।७९)से उ विकरण, सार्वधातुकार्धधातुकयो: (७।४।८४), उरण्रपरः (१।१।५०) से गुण होकर—'कर् उ अन्तु' बना । अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०) से उत्व, तथा यणादेश होकर कुर्वन्तु बन ही जायेगा ।। विदाङ्कुर्वन्तु = स्वीकुर्वन्तु ।।

विशेष—जो कार्य लक्षणों से अर्थात् सूत्रों से सिद्ध नहीं होते, उन्हें सिद्ध करना "निपातन" कहा जाता है ।।

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ३।१।४२ तक जायेगी ।।

अभ्युत्सादयाम्प्रजनयाञ्चिकयांरमयामकः पावयां-
क्रियाद्विदामक्रन्निति च्छन्दसि ।।३।१।४२।।

अभ्युत्सादयां प्रजनयां चिकयां रमयाम् इति चत्वारि प्रथमान्तानि ।। अक्र. निङ् ।। पावयांक्रियात तिङ् ।। विदामक्रन् तिङ् ।। इति अ० ।। छन्दसि ७।१।। अनु०—अन्यतरस्याम् ।। अत्र 'अकः' शब्द: अभ्युत्सादयां प्रजनयां चिकयां रमयाम् इत्येतैः सर्वैः सह सम्बध्यते ।। अर्थः—अभ्युत्सादयामकः, प्रजनयामकः, चिकयामकः, रमयामकः, पावयांक्रियात्, विदामक्रन् इत्येते शब्दा: छन्दसि विषये विकल्पेन निपात्यन्ते । सद जन रम इत्येतेषां ण्यन्तानां धातूनां लुङि आम् प्रत्ययो निपात्यते । चिकयामकः इत्यत्रापि चिञ धातोर्लुङि परत्र आम् निपात्यते, द्विर्वचन कुत्वञ्चात्र विशेषः । पावयांक्रियादिति पवतेः पुनातेर्वा ण्यन्तस्य लिङि 'आम्' निपात्यते । क्रियादिति चास्यानुप्रयोगः । विदामक्रन्निति विदेर्लुङि आम् निपात्यते गुणाभावश्च, अक्रन्नित्यस्य चानुप्रयोगः । उदा०—अभ्युत्सादयामक, भाषायां विषये—अभ्युदसीषदत् । प्रजनयामकः, अपरपक्षे—प्राजीजनत् । चिकयामकः, पक्षे—अचैषीत् । रमयामकः, पक्षे—अरीरमत् । पावयांक्रियात्, पक्षे—पाव्यात् । विदामक्रन्, पक्षे—अवेदिषुः ।।

भाषार्थ:—[अभ्यु ·····मकः पावयांक्रियात् विदामक्रन्] अभ्युत्सादयामकः, प्रजनयामकः, चिकयामकः, रमयामकः, पावयांक्रियात्, विदामक्रन् [इति] ये शब्द [छन्दसि] वेदविषय में विकल्प करके निपातन किये जाते हैं ।। रमयाम् के पश्चात् रखा हुआ 'अकः' शब्द अभ्युत्सादयाम्' आदि चारों शब्दों के साथ अभिसम्बद्ध होता है, अर्थात् अभ्युत्सादयाम् आदि चारों शब्दों में अकः' का अनुप्रयोग निपातन से होता है ।। इन शब्दों में क्या क्या कार्य निपातन से सिद्ध किये गये हैं, यह यहाँ बताते हैं—

सद जन रम णिजन्त धातुओं से लुङ् लकार में आम् निपातन किया गया है । तत्पश्चात् 'अकः' का अनुप्रयोग निपातन है । यथाप्राप्त वृद्धि आदि सर्वत्र होती

जायेगी। चिकयामकः, यहाँ चिञ् धातु से लुङ् परे रहते आम् प्रत्यय, चि धातु को द्विर्वचन एवं कुत्व निपातन है, तत्पश्चात् 'अकः' का अनुप्रयोग भी निपातित है। ण्यन्त में अयामन्ताल्वाय्येत्न्० (६।४।५५) से णि को अयादेश हो ही जायेगा। पावयांक्रियात्, यहाँ पूङ् या पूञ् ण्यन्त धातुओं से लिङ् परे रहते आम् प्रत्यय निपातन है, तथा क्रियात् का अनुप्रयोग भी निपातन है। विदामक्रन्, यहाँ विद धातु से लुङ् परे रहते आम् प्रत्यय, विद धातु को गुणाभाव, एवं अक्रन् का अनुप्रयोग निपातन है॥ पक्ष में अभ्युदसीषदत् आदि बनेंगे, जिनकी सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें॥

च्लि लुङि ॥३।१।४३॥

च्लि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ लुङि ७।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—लुङि परतो धातोः च्लिप्रत्ययो भवति॥ च्लेः स्थानेऽग्रे सिजादीनादेशान् वक्ष्यति, तत्रैवोदाहरिष्यामः॥

भाषार्थः—धातु से [लुङि] लुङ् लकार परे रहते [च्लि] च्लि प्रत्यय होता है॥

यहाँ से 'लुङि' की अनुवृत्ति ३।१।६६ तक जायेगी॥

च्लेः सिच् ॥३।१।४४॥

च्लेः ६।१॥ सिच् १।१॥ अनु०—लुङि॥ अर्थः—च्लेः स्थाने सिज् आदेशो भवति लुङि परतः॥ उदा०—अकार्षीत्, अहार्षीत्॥

भाषार्थः—[च्लेः] च्लि के स्थान में [सिच्] सिच् आदेश होता है॥ सिद्धियाँ परि० १।१।१ में देख लें॥

यहाँ से 'च्लेः' की अनुवृत्ति ३।१।६६ तक जायेगी॥

शल इगुपधादनिटः क्सः ॥३।१।४५॥

शलः ५।१॥ इगुपधात् ५।१॥ अनिटः ६।१॥ क्सः १।१॥ स०—इक् उपधा यस्य स इगुपधः, तस्माद् इगुपधाद्, बहुव्रीहिः। न विद्यते इट् यस्य सोऽनिट्, तस्य, बहुव्रीहिः॥ अनु०—च्लेः, लुङि, धातोः॥ अर्थः—शलन्तो यो धातुः इगुपधः तस्मादनिटः च्लेः स्थाने 'क्स' आदेशो भवति लुङि परतः॥ उदा०—अधुक्षत्, अलिक्षत्॥

भाषार्थः—[शलः] शलन्त [इगुपधात्] इक् उपधावाली जो धातु उससे [अनिटः] अनिट् च्लि के स्थान में [क्सः] क्स आदेश होता है, लुङ् परे रहते॥

यहाँ से 'क्सः' की अनुवृत्ति ३।१।४७ तक जायेगी॥

श्लिष आलिङ्गने ॥३।१।४६॥

श्लिषः ५।१॥ आलिङ्गने ७।१॥ अनु०—क्सः, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—श्लिषधातोः आलिङ्गनेऽर्थे च्लेः स्थाने 'क्स' आदेशो भवति लुङि परतः ॥ उदा०—आश्लिक्षत् माता पुत्रीम् ॥

भाषार्थः—[श्लिषः] श्लिष धातु से [आलिङ्गने] आलिङ्गन अर्थ में च्लि के स्थान में क्स आदेश होता है लुङ् परे रहते ॥ उदा०—आश्लिक्षत् माता पुत्रीम् (माता ने अपनी पुत्री का आलिङ्गन किया) ॥ आश्लिक्षत् में षढोः कः सि (८।२।४१) से श्लिष् के ष् को क् हुआ है, क्स के स को आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर पूर्ववत् आश्लिक्षत् बन ही जावेगा ॥

न दृशः ॥३।१।४७॥

न अ० ॥ दृशः ५।१॥ अनु०—क्सः, च्लेः, लुङि, धातोः। अर्थः—दृश् धातोः परस्य च्लेः 'क्स' आदेशो न भवति लुङि परतः ॥ शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५) इत्यनेन क्स आदेशे प्राप्ते प्रतिषिध्यते । तस्मिन् प्रतिषिद्धे अङ्सिचौ भवतः ॥ उदा०—अदर्शत्, अद्राक्षीत् ॥

भाषार्थः—[दृशः] दृश् धातु से उत्तर च्लि के स्थान में क्स आदेश [न] नहीं होता लुङ् परे रहते ॥ शल इगुपधा० (३।१।४५) सूत्र से क्स प्राप्त होने पर निषेध है। क्स के प्रतिषेध हो जाने पर इरितो वा (३।१।५७) से अङ्, तथा पक्ष में सिच् आदेश हो जाते हैं ॥

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् ॥३।१।४८॥

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः ५।३॥ कर्त्तरि ७।१॥ चङ् १।१॥स०—णिश्रिद्रु० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—ण्यन्तेभ्यः, श्रि द्रु स्रु इत्येतेभ्यश्च धातुभ्य उत्तरस्य च्लेः स्थाने चङ् आदेशो भवति कर्त्तरि लुङि परतः ॥ उदा०—ण्यन्तेभ्यः—अचीकरत्, अजीहरत् । अशिश्रियत् । अदुद्रुवत् । असुस्रुवत् ॥

भाषार्थः—[णिश्रिद्रुस्रुभ्यः] ण्यन्त, तथा श्रिञ् सेवायाम्, द्रु गतौ, स्रु गतौ धातुओं से च्लि के स्थान में [चङ्] चङ् आदेश होता है [कर्त्तरि] कर्तृवाची लुङ् परे रहते ॥

यहाँ से 'चङ्' की अनुवृत्ति ३।१।५१ तक, तथा 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति ३।१।६१ तक जायेगी ॥

विभाषा धेट्श्व्योः ।।३।१।४६।।

विभाषा १।१।। धेट्श्व्योः ६।२।। स०—धेट् च श्विश्च धेट्श्वी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—कर्त्तरि चङ्, च्लेः, लुङि, धातोः ।। अर्थः—'धेट् पाने', 'टुओश्वि गतिवृद्धयोः' इत्येताभ्यां धातुभ्याम् उत्तरस्य च्लेः स्थाने विभाषा चङ् आदेशो भवति कर्तृवाचिनि लुङि परतः ।। उदा०—अदधत्, अधात्, अधासीत् । श्वि—अशिश्वियत्, अश्वत्, अश्वयीत् ।।

भाषार्थः—[धेट्श्व्योः] धेट् तथा टुओश्वि धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में चङ् आदेश [विभाषा] विकल्प से होता है, कर्तृवाची लुङ् परे रहते ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ३।१।५० तक आयेगी ।।

गुपेश्छन्दसि ।।३।१।५०।।

गुपेः ५।१।। छन्दसि ७।१।। अनु०—विभाषा, कर्त्तरि चङ्, च्लेः, लुङि, धातोः ।। अर्थः—गुपू धातोरुत्तरस्य च्लेर्विभाषा चङ् आदेशो भवति छन्दसि विषये कर्तृवाचिनि लुङि परतः ।। उदा०—इमान्नो मित्रावरुणौ गृहानजूगुपतम्, अगोप्तम्, अगोपिष्टम्, अगोपायिष्टम् ।।

भाषार्थः—[गुपेः] गुप धातु से उत्तर च्लि के स्थान में विकल्प से चङ् आदेश होता है, [छन्दसि] वेदविषय में, कर्तृवाची लुङ् परे रहते ।।

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।१।५१ तक जायेगी ।।

नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः ।।३।१।५१।।

न अ० ।। ऊनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः ५।३।। स०—ऊनयतिश्च ध्वनयतिश्च एलयतिश्च अर्दयतिश्च ऊनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतयः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—छन्दसि, कर्त्तरि चङ्, च्लेः, लुङि, धातोः ।। अर्थः—'ऊन परिहाणे', 'ध्वन शब्दे', 'इल प्रेरणे', 'अर्द गतौ याचने च' इत्येतेभ्यो धातुभ्यो ण्यन्तेभ्य उत्तरस्य छन्दसि विषये च्लेः स्थाने चङ् आदेशो न भवति, कर्त्तरि लुङि परतः ।। उदा०—मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः (ऋ० १।५३।३), औनिनः इति भाषायाम् । मा त्वाग्निर्ध्वनयीत् (ऋ० १।१६२।१५), अदिध्वनत् इति भाषायाम् । काममैलयीः, ऐलिलः इति भाषायाम् । मैनमर्दयीत्, आर्दिदत् इति भाषायाम् ।।

भाषार्थः—[ऊनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः] ऊन, ध्वन, इल, अर्द इन ण्यन्त धातुओं से उत्तर वेदविषय में च्लि के स्थान में चङ् आदेश [न] नहीं होता है ।। चङ् का निषेध करने से सिच् हो जावेगा । ण्यन्त होने से णिश्रिद्रु०

(३।१।४८) से चङ् प्राप्त था, उसका अपवाद यह सूत्र है। भाषा-प्रयोग में चङ् हो हो जायेगा। ऊनयीः ऐलयीः, मध्यम पुरुष सिप् के रूप हैं। उदाहरणों की सिद्धियाँ परिशिष्ट १।१।१ के अलावीत् इत्यादि के समान ही जानें॥ ऊनयीः अर्दयीत ध्वनयीत् इन प्रयोगों में आडजादीनाम् तथा लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७२, ७१) से आट् एवं अट् का आगम नहीं होता। क्योंकि यहाँ माङ् का योग होने से 'न माङ्योगे' (६।४।७४) से निषेध हो जाता है। ऐलयीः में आट् तथा 'इल्' के इ को आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि होती है॥ भाषाविषय में चङ् होकर चङि (६।१।११) से द्वित्वादि हो जावेगा॥

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ॥३।१।५२॥

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यः ५।३॥ अङ् १।१॥ स०—अस्यति० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः॥ अर्थः—'असु क्षेपणे', 'वच परिभाषणे', 'ख्याञ् प्रकथने' इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य च्लेः स्थाने अङादेशो भवति कर्त्तरि लुङि परतः॥ उदा०—पर्यास्थत, पर्यास्थेताम्, पर्यास्थन्त। अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्। आख्यत्, आख्यताम्, आख्यन्॥

भाषार्थः—[अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यः] असु वच ख्याञ् इन धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में [अङ्] अङ् आदेश होता है, कर्त्तृवाची लुङ् परे रहते॥ 'वच' से ब्रूञ् के स्थान में जो वच आदेश (२।४।५३ से), तथा 'वच परिभाषणे' धातु, दोनों लिये गये हैं। इसी प्रकार ख्याञ् से चक्षिङ् को जो ख्याञ् आदेश (२।४।५४ से), तथा 'ख्याञ् प्रकथने' धातु, दोनों ही लिये गये हैं॥

यहाँ से 'अङ्' की अनुवृत्ति ३।१।५९ तक जायेगी॥

लिपिसिचिह्वश्च ॥३।१।५३॥

लिपिसिचिह्वः ५।१॥ च अ० ॥ स०—लिपिश्च सिचिश्च ह्वाश्च लिपिसिचिह्वाः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—अङ्, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः॥ अर्थः—'लिप उपदेहे', 'षिच क्षरणे', 'ह्वेञ् स्पर्धायाम्' इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य च्लेः स्थाने अङ् आदेशो भवति कर्त्तरि लुङि परतः॥ उदा०—अलिपत्। असिचत्। आह्वत्॥

भाषार्थः—[लिपिसिचिह्वः] लिप सिच ह्वेञ् इन धातुओं से [च] भी कर्त्तृवाची लुङ् परे रहते च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है॥

यहाँ से 'लिपिसिचिह्वः' की अनुवृत्ति ३।१।५४ तक जायेगी॥

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ॥३।१।५४॥

आत्मनेपदेषु ७।३॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—लिपिसिचिह्वः, अङ्, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—लिप्यादिभ्यो धातुभ्यः कर्तृवाचिनि लुङि आत्मनेपदेषु परतः च्लेः 'अङ्' आदेशो विकल्पेन भवति ॥ उदा०—अलिपत, अलिप्त । असिचत, असिक्त । अह्वत, अह्वास्त ॥

भाषार्थः—लिप इत्यादि धातुओं से कर्तृवाची लुङ् [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प से च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य अङ् प्राप्त था, यहाँ विकल्प कर दिया गया है । जब अङ् नहीं होगा, तो सिच् हो जायेगा ॥

पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु ॥३।१।५५॥

पुषादिद्युताद्य्लृदितः ५।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ स०—पुष आदिर्येषां ते पुषादयः, द्युतः आदिर्येषां ते द्युतादयः, लृत् इत् यस्य स लृदित्, पुषादयश्च द्युतादयश्च लृदित् च इति पुषादिद्युताद्य्लृदित्, तस्मात् पुषादिद्युताद्य्लृदितः, बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—पुषादिभ्यः द्युतादिभ्यः लृदिद्भ्यश्च धातुभ्यः कर्तृवाचिनि लुङि परस्मैपदेषु परतः च्लेः 'अङ्'आदेशो भवति ॥ दिवादिषु 'पुष पुष्टौ' इत्यारभ्य 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' इति यावत् पुषादिर्गणः । भ्वादिषु 'द्युत दीप्तौ' इत्यारभ्य 'कृपू सामर्थ्ये' इति यावत् द्युतादिर्गणः ॥ उदा०—पुषादिभ्यः—अपुषत्, अशुषत् । द्युतादिभ्यः—अद्युतत्, अश्वितत् । लृदिद्भ्यः—अगमत्, अशकत् ॥

भाषार्थः—[पुषादिद्युताद्य्लृदितः] पुषादि द्युतादि तथा लृदित् धातुओं से च्लि के स्थान में अङ् होता है, कर्तृवाची लुङ् [परस्मैपदेषु] परस्मैपद परे रहते । दिवादिगण के अन्तर्गत जो 'पुष पुष्टौ' धातु है, वहाँ से लेकर 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' तक पुषादिगण माना गया है । तथा 'द्युत दीप्तौ' (भ्वादिगण के अन्तर्गत) से लेकर 'कृपू सामर्थ्ये' तक द्युतादि धातुयें मानी गई हैं ॥ अङ् के ङित् होने से सर्वत्र क्ङिति च (१।१।५) से गुण-निषेध होता है ॥ उदा०—पुषादियों से—अपुषत् (वह पुष्ट हुआ), अशुषत् (वह सूख गया) । द्युतादियों से—अद्युतत् (वह चमका), अश्वितत् (वह सफेद हो गया) । लृदितों से—अगमत् (वह गया), अशकत् (वह समर्थ हो गया) ॥

यहाँ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति ३।१।५७ तक जायेगी ॥

सर्त्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च ॥३।१।५६॥

सर्त्तिशास्त्यर्तिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—सर्त्तिशा० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदेषु, अङ्, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—'सृ गतौ', 'शासु अनुशिष्टौ', 'ऋ गतौ' इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य च्लेः स्थाने अङ् आदेशो भवति, कर्तृवाचिनि लुङि परस्मैपदेषु परतः ॥ उदा०—असरत् । अशिषत् । आरत् ॥

भाषार्थः—[सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यः] सृ शासु तथा ऋ धातुओं से उत्तर [च] भी च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है, कर्तृवाची लुङ् परस्मैपद परे रहते ॥

इरितो वा ॥३।१।५७॥

इरितः ५।१॥ वा अ० ॥ स०—इर् इद् यस्य स इरित्, तस्माद् इरितः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—परस्मैपदेषु, अङ्, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—इरितो धातोरुत्तरस्य च्लेः स्थाने अङ् आदेशो वा भवति, कर्तृवाचिनि लुङि परस्मैपदेषु परतः ॥ उदा०—रुधिर्—अरुधत्, अरौत्सीत् । भिदिर्—अभिदत्, अभैत्सीत् । छिदिर्—अच्छिदत्, अच्छैत्सीत् ॥

भाषार्थः—[इरितः] इरित् धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में [वा] विकल्प करके अङ् आदेश होता है, कर्तृवाची परस्मैपद लुङ् परे रहते ॥ रुधिर् इत्यादि धातुओं का इर् इत्संज्ञक है, अतः ये सब धातुयें इरित हैं । 'इर्' समुदाय की इत् संज्ञा इस सूत्र में किये गये निर्देश से समझनी चाहिए ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ३।१।५८ तक जायेगी ॥

जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च ॥३।१।५८॥

जॄस्त······भ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—जॄस्तम्भु० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, अङ्, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—जॄष् वयोहानौ, स्तम्भुः सौत्रो धातुः, म्रुचु म्लुचु गत्यर्थौ, ग्रुचु ग्लुचु स्तेयकरणे, ग्लुञ्चु गत्यर्थः, टुओश्वि गतिवृद्ध्योः इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य च्लेः स्थाने वा अङ् आदेशो भवति कर्तृवाचिनि लुङि परतः ॥ उदा०—अजरत्, अजारीत् । अस्तभत्, अस्तम्भीत् । अम्रुचत्, अम्रोचीत् । अम्लुचत्, अम्लोचीत् । अग्रुचत्, अग्रोचीत् । अग्लुचत्, अग्लोचीत् । अग्लुचत्, अग्लुञ्चीत् । अश्वत्, अश्वयीत्, अशिश्वियत् ॥

भाषार्थः—[जॄस्तम्भु···भ्यः] जॄष्, स्तम्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु, श्वि इन धातुओं से उत्तर [च] भी च्लि के स्थान में अङ् आदेश विकल्प से होता है, कर्तृवाची लुङ् परे रहते ॥ जिस पक्ष में अङ् नहीं होता, उस पक्ष में सिच् होता है ॥

कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि ॥३।१।५९॥

कृमृदृरुहिभ्यः ५।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—कृ च दृ च मृ च रुहिश्च

कृमृदृरुहयः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—डुकृञ् करणे, मृङ् प्राणत्यागे, दृ विदारणे, रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य च्लेः स्थाने 'अङ्' आदेशो भवति छन्दसि विषये कर्तृवाचिनि लुङि परतः ॥ उदा०—शकलाऽङ्गुष्ठकोऽकरत् । अयोऽमरत् । अदरत् पर्वतान् । पर्वतमारुहत्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ॥

भाषार्थः—[कृमृदृरुहिभ्यः] कृ, मृ, दृ, रुह इन धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है, कर्तृवाची लुङ् परे रहते, [छन्दसि] वेदविषय में ॥ अमरत्, यहाँ व्यत्ययो बहुलम् (३।१।८५) से व्यत्यय से परस्मैपद हो गया है ॥

चिण् ते पदः ॥३।१।६०॥

चिण् १।१॥ ते ७।१॥ पदः ५।१॥ अनु०—कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—'पद गतौ' इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य च्लेः स्थाने चिण् आदेशो भवति, कर्तृवाचिनि लुङि तशब्दे परतः ॥ उदा०—उदपादि सस्यम्, समपादि भैक्षम् ॥

भाषार्थः—[पदः] पद धातु से उत्तर च्लि के स्थान में [चिण्] चिण् आदेश होता है, कर्तृवाची लुङ् [ते] त शब्द परे रहते ॥ उदा०—उदपादि सस्यम् (उसने फसल को उत्पन्न किया), समपादि भैक्षम् (उसने भिक्षा की) ॥ उत् पूर्वक पद धातु से 'उद् अट् पद् च्लि त, ऐसा पूर्ववत् होकर प्रकृत सूत्र से चिण् होकर, चिणो लुक् (६।४।१०४) से त का लुक् हो गया है । 'उद् अट् पद् चिण्=इ', अब इस अवस्था में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होकर उदपादि बन गया ॥

यहाँ से 'चिण्' की अनुवृत्ति ३।१।६५ तक, तथा 'ते' की ३।१।६६ तक जायेगी ॥

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ॥३।१।६१॥

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्यः ५।३॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—दीपजन० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—चिण्, ते, कर्त्तरि, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—'दीपी दीप्तौ', 'जनी प्रादुर्भावे', 'बुध अवगमने', 'पूरी आप्यायने, 'तायृ सन्तानपालनयोः', 'ओप्यायी वृद्धौ' इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य च्लेः स्थाने चिण् आदेशो विकल्पेन भवति, कर्तृवाचिनि लुङि तशब्दे परतः ॥ उदा०—अदीपि, अदीपिष्ट । अजनि, अजनिष्ट । अबोधि, अबुद्ध । अपूरि, अपूरिष्ट । अतायि, अतायिष्ट । अप्यायि, अप्यायिष्ट ॥

भाषार्थः—[दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्यः] दीप, जन, बुध, पूरि, तायृ, ओप्यायी इन धातुओं से उत्तर च्लि के स्थान में, चिण् आदेश [अन्यतरस्याम्]

विकल्प से हो जाता है, कर्त्तृवाची लुङ् त शब्द परे रहते ॥ उदा०—अदीपि, अदीपिष्ट (वह प्रदीप्त हुआ) । अजनि, अजनिष्ट (वह उत्पन्न हुआ) । अबोधि, अबुद्ध (उसने जाना) । अपूरि, अपूरिष्ट (उसने पूर्ण किया) । अतायि, अतायिष्ट (उसने पूजा की) । अप्यायि, अप्यायिष्ट (वह बढ़ा) ॥

अजनि में जनिवध्योश्च (७।३।३५) से वृद्धि-निषेध होता है । चिण्-पक्ष में सिद्धि पूर्व सूत्र के अनुसार जानें । जिस पक्ष में चिण् नहीं होगा, उस पक्ष में सिच् होकर पूर्ववत् आत्मनेपद में 'अट् दीप् इट् सिच् त' होकर सिच के स् को ष् तथा ष्टुत्व होकर अदीपिष्ट आदि बनेगा ॥ अबुद्ध की सिद्धि परिशिष्ट १।२।११ में देखें ॥ बुध् धातु अनिट् है, सो इडागम भी नहीं हुआ है ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ३।१।६३ तक जायेगी ॥

च्लि → चिण् (विकल्प)

अचः कर्मकर्त्तरि ॥३।१।६२॥

अचः ५।१॥ कर्मकर्त्तरि ७।१॥ स०—कर्म चासौ कर्त्ता च कर्मकर्त्ता, तस्मिन्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम, चिण्, ते, च्लेः, लुङि ॥ अर्थः—अजन्ताद्धातोरुत्तरस्य कर्मकर्त्तरि लुङि तशब्दे परतः च्लेः स्थाने चिण् आदेशो विकल्पेन भवति ॥ उदा०—अकारि कटः स्वयमेव, अकृत कटः स्वयमेव । अलावि केदारः स्वयमेव, अलविष्ट केदारः स्वयमेव ॥

भाषार्थः—[अचः] अजन्त धातुओं से [कर्मकर्त्तरि] कर्मकर्त्ता लुङ् में त शब्द परे रहते च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प से होता है ॥ उदा०—अकारि कटः स्वयमेव (चटाई स्वयमेव बन गई), अकृत कटः स्वयमेव । अलावि केदारः स्वयमेव (खेत स्वयं कट गया), अलविष्ट केदारः स्वयमेव । चिणपक्ष में अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि आदि कार्य होंगे । सिच् पक्ष में अकृत की सिद्धि परिशिष्ट १।२।१२ में देखें । अलविष्ट में कुछ भी विशेष नहीं है ॥ सौकर्य के अतिशय में कर्म की कर्त्ता के समान विवक्षा हो जाती है, अर्थात् कर्म कर्त्ता बन जाता है । सो कर्त्ता को कर्मवद्भाव कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः (३।१।८७) से होकर कर्माश्रित कार्य चिण्भावकर्मणोः (३।१।६६) से जो चिण् होना है, वह नित्य प्राप्त ही था । अजन्त धातुओं से विकल्प करके चिण् हो, इसलिये यह सूत्र है ॥ कर्मकर्त्ता किसे कहते हैं ? वह कब होता है ? इसको विशेष व्याख्या ३।१।८७ सूत्र पर ही देखें । कर्मवाच्य को कहे हुए कार्य ३।१।८७ सूत्र से कर्मवद्भाव होने से कर्मकर्त्ता में भी होते हैं । अतः यहाँ भावकर्मणोः (१।३।१३) से आत्मनेपद सर्वत्र होगा ॥

यहाँ से 'कर्मकर्त्तरि' की अनुवृत्ति ३।१।६५ तक जायेगी ॥

च्लि → चिण् (वा)

दुहश्च ॥३।१।६३॥

दुहः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—कर्मकर्त्तरि, अन्यतरस्याम्, चिण्, ते, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—'दुह प्रपूरणे' इत्यस्माद् धातोरुत्तरस्य च्लेः स्थाने चिण् आदेशो विकल्पेन भवति कर्मकर्त्तरि तशब्दे परतः ॥ उदा०—अदोहि गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव ॥

भावार्थः—[दुहः] दुह धातु से उत्तर [च] भी च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प से होता है कर्मकर्त्ता में त शब्द परे रहते ॥ न दुहस्नुनमां यक्चिणौ (३।१।८९) से कर्मकर्त्ता में दुह धातु से चिण् का नित्य ही प्रतिषेध प्राप्त था, यहां विकल्प कर दिया है ॥ कर्मकर्त्ता में कर्मवद्भाव होकर कर्मवाच्य में कहे हुए कार्य पूर्वोक्त प्रकार से प्राप्त होते हैं ॥

च्लि → चिण् [न]

न रुधः ॥३।१।६४॥

न अ० ॥ रुधः ५।१॥ अनु०—कर्मकर्त्तरि, चिण्, ते, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—'रुधिर् आवरणे' इत्यस्माद् धातोरुत्तरस्य च्लेः स्थाने चिण् आदेशो न भवति कर्मकर्त्तरि तशब्दे परतः ॥ उदा०—अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव ॥

भावार्थः—[रुधः] रुधिर् धातु से उत्तर च्लि के स्थान में चिण् आदेश [न] नहीं होता, कर्मकर्त्ता में त शब्द परे रहते ॥ कर्मकर्त्ता में ३।१।८७ से कर्मवद्भाव होकर चिण्भावकर्मणोः (३।१।६६) से चिण् की प्राप्ति थी, यहां निषेध कर दिया है ॥ उदा०—अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव (गौ अपने आप रुक गई) ॥ अनु अव पूर्वक रुधिर् धातु से सिच् होकर, पूर्ववत् झलो झलि (८।२।२६) से सिच् के स का लोप, झषस्तथोर्धो० (८।२।४०) से त को ध, तथा झलां जश् झशि (८।४।५२) से रुध के 'ध्' को 'द्' होकर अन्ववारुद्ध बना है ॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति ३।१।६५ तक जायेगी ॥

च्लि ⇏ चिण्

तपोऽनुतापे च ॥३।१।६५॥

तपः ५।१॥ अनुतापे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—न, कर्मकर्त्तरि, चिण्, ते, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—अनुतापः=पश्चात्तापः, 'तप संतापे' इत्यस्माद् धातोरुत्तरस्य च्लेः स्थाने चिण् आदेशो न भवति, कर्मकर्त्तरि अनुतापे च तशब्दे परतः ॥ उदा०—कर्मकर्त्तरि—अतप्त तपस्तापसः । अनुतापे—अन्ववातप्त पापेन कर्मणा ॥

भावार्थः—[तपः] तप धातु से उत्तर च्लि के स्थान में चिण् आदेश नहीं

होता है, कर्मकर्त्ता में [च] तथा [अनुतापे] अनुताप अर्थ में त शब्द परे रहते ॥ 'अनुताप' पश्चात्ताप को कहते हैं ॥

अतप्त तपस्तापसः (तपस्वी ने स्वयमेव स्वर्गादि कामना के लिये तप को प्राप्त किया) में तपस्तपःकर्मकस्यैव (३।१।८८) से तप को कर्मवद्भाव होने से चिण् प्राप्त था, सो यहाँ निषेध कर दिया है। अनुताप अर्थ में कर्तृस्थभावक तप धातु अकर्मक है, अतः इसको कर्मवद्भाव प्राप्त ही नहीं था। सो अन्ववातप्त पापेन कर्मणा (जो पहले पाप किया है, उससे अनुतप्त हुआ) में कर्म में (शुद्ध कर्मवाच्य में) लकार हुआ है, न कि कर्मकर्त्ता में। यहाँ दोनों ही स्थानों में प्रकृत सूत्र से चिण् का निषेध हो गया है। चिण् का निषेध होने से सिच् हो जाता है, जिसका झलो झलि (८।२।२६) से लोप हो जाता है। शेष सिद्धि पूर्ववत् है ॥

चिण्भावकर्मणोः ॥३।१।६६॥

चिण् १।१॥ भावकर्मणोः ७।२॥ स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ते, च्लेः, लुङि, धातोः ॥ अर्थः—धातोरुत्तरस्य च्लेः चिण् आदेशो भवति भावे कर्मणि च लुङि तशब्दे परतः ॥ उदा०—भावे—अशायि भवता। कर्मणि—अकारि कटो देवदत्तेन ॥

भाषार्थः—धातुमात्र से उत्तर च्लि के स्थान में [चिण्] चिण् आदेश होता है [भावकर्मणोः] भाव और कर्म में, लुङ् त शब्द परे रहते ॥ भाव और कर्म क्या है, यह सब हमने 'भावकर्मणोः' (१।३।१३) सूत्र पर लिखा है ॥

उदा०—भाव में—अशायि भवता (आप सो गये)। कर्म में—अकारि कटो देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा चटाई बनाई गई) ॥ अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि आदि होकर सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से 'भावकर्मणोः' की अनुवृत्ति ३।१।६७ तक जायेगी ॥

सार्वधातुके यक् ॥३।१।६७॥

सार्वधातुके ७।१॥ यक् १।१॥ अनु०—भावकर्मणोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये परतः धातोर्यक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भावे—आस्यते भवता, शय्यते भवता। कर्मणि—क्रियते कटः, गम्यते ग्रामः ॥

भाषार्थः—भाव और कर्म में विहित [सार्वधातुके] सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो, धातुमात्र से [यक्] यक् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—भाव में—आस्यते भवता

(आप के द्वारा बैठा जाता है), शय्यते भवता (आपके द्वारा सोया जाता है)। कर्म में—क्रियते कटः (चटाई बनाई जाती है), गम्यते ग्रामः (गाँव को जाया जाता है)॥ सिद्धियाँ परिशिष्ट १।२।१३ में देखें॥ शय्यते में केवल यह विशेष है कि अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२) से अयङ् आदेश भी होता है॥

यहाँ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति ३।१।८२ तक जायेगी॥

कर्त्तरि शप् ॥३।१।६८॥

कर्त्तरि ७।१। शप् १।१॥ अनु०—सार्वधातुके, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतो धातोः शप् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—भवति, पठति। भवतु, पठतु। अभवत्, अपठत्। भवेत्, पठेत्॥

भाषार्थः—[कर्त्तरि] कर्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते धातु से [शप्] शप् प्रत्यय होता है॥ लिट् तथा आशीर्लिङ् को छोड़कर सब लकार (=तिङ्) सार्वधातुकसंज्ञक (३।४।११३) से होते हैं॥ परन्तु लुट्, लृ (लृट्, लृङ्), लेट्, लुङ् में क्रमशः तास्, स्य, सिप्, च्लि विकरण हो जाते हैं, जो शप् के अपवाद हैं। अतः लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् इन्हीं चार लकारों में शप् प्रत्यय होता है॥

यहाँ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति ३।१।८८ तक जायेगी॥

दिवादिभ्यः श्यन् ॥३।१।६९॥

दिवादिभ्यः ५।३॥ श्यन् १।१॥ स०—दिव आदिर्येषां ते दिवादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः॥ अनु०—सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—दिवादिभ्यो धातुभ्यः श्यन् प्रत्ययो भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परतः॥ उदा०—दीव्यति, सीव्यति॥

भाषार्थः—[दिवादिभ्यः] दिवादिगण की धातुओं से [श्यन्] श्यन् प्रत्यय होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते॥ धातुमात्र से शप् प्रत्यय प्राप्त था, उसके अपवाद ये सब सूत्र विधान किये हैं॥

यहाँ से 'श्यन्' की अनुवृत्ति ३।१।७२ तक जायेगी॥

वा भ्राशम्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः ॥३।१।७०॥

वा अ०॥ भ्राशम्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः ५।१॥ स०—भ्राशश्च म्लाशश्च भ्रमुश्च क्रमुश्च क्लमुश्च त्रसिश्च त्रुटिश्च लष् च इति भ्राशम्लाश······लष्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—श्यन्, कर्त्तरि, सार्वधातुके, धातोः, प्रत्ययः,

परश्च ॥ अर्थः—टुभ्राशृ टुभ्लाशृ दीप्तौ, भ्रमु अनवस्थाने, भ्रमु चलने द्वयोरपि ग्रहणम्, क्रमु पादविक्षेपे, क्लमु ग्लानौ, त्रसी उद्वेगे, त्रुटी छेदने, लष कान्तौ इत्येतेभ्यो धातुभ्यो वा श्यन् प्रत्ययः परश्च भवति कर्त्तरि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—भ्राशते, भ्राश्यते । भ्लाशते, भ्लाश्यते । भ्रमति, भ्राम्यति । क्रामति, क्राम्यति । क्लामति, क्लाम्यति । त्रसति, त्रस्यति । त्रुटति, त्रुट्यति । अभिलषति अभिलष्यति ॥

भाषार्थः—[भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः] टुभ्राशृ, टुभ्लाशृ, भ्रमु, क्रमु, क्लमु, त्रसि, त्रुटि, लष इन धातुओं से [वा] विकल्प से श्यन् प्रत्यय होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते । पक्ष में शप् प्रत्यय होगा ॥ उदा०—भ्राशते, भ्राश्यते (चमकता है) । भ्लाशते, भ्लाश्यते (चमकता है) । भ्रमति, भ्राम्यति (घूमता है) । क्रामति, क्राम्यति (चलता है) । क्लामति, क्लाम्यति (ग्लानि करता है) । त्रसति, त्रस्यति (डरता है) । त्रुटति, त्रुट्यति (टूटता है) । अभिलषति, अभिलष्यति (चाहता है) ॥ शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४) से भ्राम्यति में श्यन् परे रहते दीर्घ होता है । ष्ठिवुक्लमुचमां० (७।३।३५) से क्लामति क्लाम्यति दोनों में (शप् तथा श्यन् दोनों पक्षों में शित् परे होने से) दीर्घ होता है । क्रमः परस्मैपदेषु (७।३।७६) से क्रामति, क्राम्यति में दीर्घ होता है । त्रुट धातु तुदादिगण में पढ़ी है, अतः पक्ष में श प्रत्यय होगा ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ३।१।७२ तक जायेगी ॥

अनुपसर्ग यस् + श्यन् [वा]

यसोऽनुपसर्गात् ॥३।१।७१॥

यसः ५।१॥ अनुपसर्गात् ५।१॥ स०—न विद्यते उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वा, श्यन्, सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अनुपसर्गाद् 'यसु प्रयत्ने' इत्यस्माद् धातोः विकल्पेन श्यन् प्रत्ययो भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परतः ॥ 'यसु प्रयत्ने' दैवादिकः तस्मिन्नित्ये श्यनि प्राप्ते विकल्पेन विधीयते ॥उदा०—यस्यति, यसति ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] अनुपसर्ग [यसः] यस् धातु से विकल्प से श्यन् प्रत्यय होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ 'यसु प्रयत्ने' दिवादिगण की धातु है। उससे नित्य श्यन् प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है । पक्ष में शप् होगा ॥ उदा० – यस्यति, यसति (प्रयत्न करता है) ॥

सं + यस् + श्यन् [वा]

संयसश्च ॥३।१।७२॥

संयसः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—वा, श्यन्, सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सम्पूर्वाद् यस्धातोः श्यन् प्रत्ययो वा भवति, कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—संयस्यति, संयसति ॥

भावार्थः—[संयसः] सम् पूर्वक यस् धातु से [च] भी श्यन् प्रत्यय विकल्प से होता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ पूर्व सूत्र में अनुपसर्ग यस् धातु से विकल्प कहा था, अतः सम्पूर्वक से प्राप्त नहीं था, सो विधान कर दिया है ॥ उदा०—संयस्यति, संयसति (अच्छी तरह प्रयत्न करता है) ॥

स्वादिभ्यः श्नुः ॥३।१।७३॥

स्वादिभ्यः ५।३॥ श्नुः १।१॥ स०—सु (षुञ्) आदिर्येषां ते स्वादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'षुञ् अभिषवे' इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः श्नुप्रत्ययो भवति कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—सुनोति । सिनोति ।

भावार्थः—[स्वादिभ्यः] 'षुञ् अभिषवे' इत्यादि धातुओं से [श्नुः] श्नु प्रत्यय होता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥

यहाँ से 'श्नुः' की अनुवृत्ति ३।१।७६ तक जायेगी ॥

श्रुवः शृ च ॥३।१।७४॥

श्रुवः ६।१॥ शृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—श्नुः, सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'श्रु श्रवणे' अस्माद् धातोः श्नुप्रत्ययो भवति कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः, शृ आदेशश्च श्रुधातोर्भवति ॥ उदा०—शृणोति, शृणुतः ॥

भावार्थः—[श्रुवः] श्रु धातु से श्नु प्रत्यय होता है कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते, साथ ही श्रु धातु को [शृ] शृ आदेश [च] भी हो जाता है ॥ उदा०—शृणोति (सुनता है), शृणुतः ॥

अक्षोऽन्यतरस्याम् ॥३।१।७५॥

अक्षः ५।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—श्नुः, सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'अक्षू व्याप्तौ' इत्येतस्माद् धातोः श्नुः प्रत्ययो विकल्पेन भवति, कर्त्तरि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—अक्ष्णोति, अक्षति ॥

भावार्थः—[अक्षः] अक्षू धातु से [अन्यतरस्याम्] विकल्प से श्नु प्रत्यय होता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ अक्षू धातु भ्वादिगण की है, सो नित्य शप् प्राप्त था, विकल्प कर दिया है ॥ उदा०—अक्ष्णोति, अक्षति (व्याप्त होता है) ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ३।१।७६ तक जायेगी ॥

तनूकरणे तक्षः ॥३।१।७६॥

तनूकरणे ७।१॥ तक्षः ५।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, श्नुः, सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तनूकरणे=सूक्ष्मीकरणेऽर्थे वर्त्तमानात् तक्षूधातोः विकल्पेन श्नुः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—तक्ष्णोति काष्ठम्, तक्षति ॥

भाषार्थः—[तक्षः] तक्षू धातु [तनूकरणे] तनूकरण अर्थात् छीलने अर्थ में वर्त्तमान हो, तो श्नु प्रत्यय विकल्प से हो जाता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ तक्षू धातु भी भ्वादिगण की है, सो नित्य शप् प्राप्त था, विकल्प कर दिया है ॥ उदा०—तक्ष्णोति काष्ठम् (लकड़ी छीलता है), तक्षति ॥

तुदादिभ्यः शः ॥३।१।७७॥

तुदादिभ्यः ५।३॥ शः १।१॥ स०—तुद आदिर्येषां ते तुदादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'तुद व्यथने' इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः शः प्रत्ययो भवति कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—तुदति । नुदति ॥

भाषार्थः—[तुदादिभ्यः] तुदादि धातुओं से [शः] श प्रत्यय होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ श प्रत्यय सार्वधातुकम० (१।२।४) से ङित्वत् है। सो क्ङिति च (१।१।५) से तुद को गुण का निषेध हो जाता है ॥ उदा०—तुदति (पीड़ा देता है)। नुदति (प्रेरणा करता है) ॥

रुधादिभ्यः श्नम् ॥३।१।७८॥

रुधादिभ्यः ५।३॥ श्नम् १।१॥ स०—रुध् आदिर्येषां ते रुधादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—रुधादिभ्यो धातुभ्यः श्नम् प्रत्ययो भवति कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—रुणद्धि। भिनत्ति ॥

भाषार्थः—[रुधादिभ्यः] रुधादिगण की धातुओं से [श्नम्] श्नम् प्रत्यय होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ सिद्धियां परिशिष्ट १।१।४६ में देखें ॥

तनादिकृञ्भ्य उः ॥३।१।७९॥

तनादिकृञ्भ्यः ५।३॥ उः १।१॥ स०—तन् आदिर्येषां ते तनादयः, तनादयश्च कृञ् च तनादिकृञः, तेभ्यः, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तनादिभ्यो धातुभ्यः कृञश्च उः प्रत्ययो भवति कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—तनोति, सनोति। करोति ॥

भाषार्थः—[तनादिकृञ्भ्यः] तनादिगण की धातुओं से, तथा कृञ् धातु से [उः] उ प्रत्यय होता है कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ उदा०—तनोति (विस्तार करता है), सनोति (देता है)। करोति (करता है)॥ 'तन् उ ति' पूर्ववत् होकर, सार्वधातुका० (७।३।८४) से 'उ' को 'ओ' गुण होकर तनोति बन जायेगा ॥

यहाँ से 'उः' की अनुवृत्ति ३।१।८० तक जायेगी ॥

धिन्विकृण्व्योर च ॥३।१।८०॥

धिन्विकृण्व्योः ६।२॥ अ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ स०—धिन्विश्च कृण्विश्च धिन्विकृण्वी, तयोः धिन्विकृण्व्योः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—उः, सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धिवि कृवि इत्येताभ्यां धातुभ्याम् उः प्रत्ययो भवति कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः, अकारश्चान्तादेशो भवति ॥ उदा०—धिनोति । कृणोति ॥

भाषार्थः—[धिन्विकृण्व्यो] धिवि कृवि धातुओं से उ प्रत्यय, [च] तथा उनको [अ] अकार अन्तादेश भी हो जाता है, कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ ये भ्वादिगण की धातुयें हैं, सो शप् प्राप्त था, 'उ' विधान कर दिया है ॥

क्र्यादिभ्यः श्ना ॥३।१।८१॥

क्र्यादिभ्यः ५।३॥ श्ना लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ स०—क्रीः आदिर्येषां ते क्र्यादयः,तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः,परश्च ॥ अर्थः—डुक्रीञ् इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः श्नाप्रत्ययो भवति कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—क्रीणाति, क्रीणीतः ॥

भाषार्थः—[क्र्यादिभ्यः] 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' इत्यादि धातुओं से [श्ना] श्ना प्रत्यय होता है कर्त्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ उदा०—क्रीणाति (खरीदता है), क्रीणीतः ॥ 'क्री ना ति', अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से न को ण होकर क्रीणाति बन गया । क्रीणीतः में ईहल्यघोः (६।४।११३) से ईत्व हो गया है ॥

यहाँ से 'श्ना' की अनुवृत्ति ३।१।८२ तक जायेगी ॥

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ॥३।१।८२॥

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः ५।३॥ श्नुः १।१॥ च अ० ॥ स०—स्तम्भु० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—श्ना, सार्वधातुके, कर्त्तरि, धातोः, प्रत्ययः,

परश्च ॥ अर्थः—स्तम्भु, स्तुम्भु, स्कम्भु, स्कुम्भु इति चत्वारः सौत्रा धातवः, 'स्कुञ् आप्रवणे' इत्येतेभ्यः श्नु प्रत्ययो भवति, चकारात् श्ना च कर्तृवाचिनि सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—स्तभ्नाति, स्तभ्नोति । स्तुभ्नाति, स्तुभ्नोति । स्कभ्नाति, स्कभ्नोति । स्कुभ्नाति, स्कुभ्नोति । स्कुनाति, स्कुनोति ॥

भाषार्थः—[स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः] स्तम्भादि धातुओं से [श्नुः] श्नु प्रत्यय होता है, [च] तथा श्ना प्रत्यय भी होता है, कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते ॥ स्तम्भादि ४ सौत्र धातुयें रोकने अर्थ में हैं। स्कुञ् क्र्यादिगण में पढ़ी है, सो इससे श्ना प्रत्यय सिद्ध ही था, पुनः श्नु विधान करने के लिये वचन है ॥ उदा०—स्तभ्नाति (रोकता है), स्तभ्नोति । स्तुभ्नाति (रोकता है), स्तुभ्नोति । स्कभ्नाति (रोकता है), स्कभ्नोति । स्कुभ्नाति (रोकता है), स्कुभ्नोति । स्कुनाति (कूदता है), स्कुनोति ॥

श्नः → शानच्

हलः श्नः शानज्झौ ॥३।१।८३॥

हलः ५।१॥ श्नः ६।१॥ शानच् १।१॥ हौ ७।१॥ अर्थः—हलन्ताद् धातोरुत्तरस्य श्नाप्रत्ययस्य स्थाने शानच् आदेशो भवति हौ परतः ॥ उदा०—मुषाण रत्नानि । पुषाण ॥

भाषार्थः—[हलः] हलन्त धातु से उत्तर [श्नः] श्ना प्रत्यय के स्थान में [शानच्] शानच् आदेश हो जाता है [हौ] हि परे रहते ॥ उदा०—मुषाण रत्नानि (रत्नों को चुरा लो)। पुषाण (पुष्ट करो) ॥ मुष् पुष् हलन्त धातुयें हैं, सो पूर्ववत् लोट् लकार में 'मुष् श्ना सिप्' बन कर सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) से सिप् को हि, तथा प्रकृत सूत्र से श्ना को शानच् आदेश होकर 'मुष् शानच् हि' बना । अतो हेः (६।४।१०५) से हि का लुक् होकर मुषाण बन गया है ॥

वेद यहाँ से 'श्नः' की अनुवृत्ति ३।१।८४ तक जायेगी ॥

श्ना → शानच्, शायच्

छन्दसि शायजपि ॥३।१।८४॥

छन्दसि ७।१॥ शायच् १।१॥ अपि अ० ॥ अनु०—श्नः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये श्नः स्थाने 'शायच्' आदेशो भवति, शानजपि ॥ उदा०—गृभाय जिह्वया मधु (ऋ० ८।१७।५) । शानच्—बधान पशुम् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में श्ना के स्थान में [शायच्] शायच् आदेश होता है, तथा शानच् [अपि] भी होता है ॥ श्ना को शायच् आदेश होकर गृभ शायच् = गृभाय बनेगा ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।१।८६ तक जायेगी ॥

व्यत्यय सुप्, तिङ्, वर्ण, लिङ्ग, काल, पुरुष, आत्मनेपद, परस्मैपद

व्यत्ययो बहुलम् ॥३।१।८५॥

व्यत्ययः १।१। बहुलम् १।१॥ **अनु०**—छन्दसि ॥ **अर्थः**—छन्दसि विषये सर्वेषां विधीनां बहुलप्रकारेण व्यत्ययो भवति ॥ अत्र महाभाष्यकारः प्रकरणान्तर-विहितानां स्यादिविकरणानामपि व्यत्ययसिद्धयर्थं योगविभागं करोति । यथा—'व्यत्ययः' इत्येको योगः । तस्यायमर्थः—व्यत्ययो भवति स्यादिविकरणानाम् । ततश्च 'बहुलम्'। व्यत्यय इत्यनुवर्त्तते । तस्यायमर्थः—बहुलं छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति ॥ किं पुनरिदं व्यत्ययो नाम ? उत्तरयति—व्यतिगमनं व्यत्ययः । यस्य प्राप्तिः स न स्यादन्य एव स्याद्, अथवा कोऽपि न स्यात् ॥ के च ते विधयो येषां व्यत्ययो भवति ? उच्यते—सुपां व्यत्ययः, तिङां व्यत्ययः, वर्णव्यत्ययः, लिङ्गव्यत्ययः, कालव्यत्ययः, पुरुषव्यत्ययः, आत्मनेपदव्यत्ययः, परस्मैपदव्यत्ययः । तत्र क्रमेणोदाह्रियते ॥ **उदा०**—सुपां व्यत्ययः—युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः (ऋक्० १।१६४।९) । दक्षिणाया-मिति प्राप्ते, सप्तम्या विषये व्यत्ययेन षष्ठी । तिङां व्यत्ययः—चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति (ऋ० १।१६२।६)। तक्षन्तीति प्राप्ते, झिविषये व्यत्ययेन तिप् । वर्णव्यत्ययः—त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम् । शुधितमिति प्राप्ते, धकारस्य विषये भकारो वर्ण-व्यत्ययः । लिङ्गव्यत्ययः—मधोर्गृह्णाति; मधोस्तृप्ता इवासते । मधुन इति प्राप्ते, नपुंसकलिङ्गविषये पुंलिङ्गव्यत्ययः । कालव्यत्ययः—श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन; श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन । आधाता यष्टेत्येवं प्राप्ते, अनद्यतनभविष्यत्कालविहितलुट्लकार-विषये व्यत्ययेन लृट्लकारः । पुरुषव्यत्ययः—अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः (ऋ० ७।१०४।१५)। वियूयादिति प्राप्ते, प्रथमपुरुषविषये व्यत्ययेन मध्यमपुरुषः । आत्मने-पदव्यत्ययः—ब्रह्मचारिणमिच्छते (अथर्व ११।५।१७)। इच्छतीति प्राप्ते, परस्मैपद-विषये आत्मनेपदव्यत्ययः । परस्मैपदव्यत्ययः—प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति । युध्यते' इति प्राप्ते, आत्मनेपदविषये परस्मैपदव्यत्ययः ॥

भाषार्थः—वेदविषय में [बहुलम्] बहुल करके सब विधियों का [व्यत्ययः] व्यत्यय होता है ॥

यहाँ महाभाष्यकार ने 'व्यत्ययः' ऐसा सूत्र का योगविभाग करके प्रकरणान्तर विहित जो स्यादिविकरण उनका भी व्यत्यय सिद्ध किया है । तथा द्वितीय योगविभाग 'बहुलम्' से वेदविषय में सभी विधियों का व्यत्यय सिद्ध किया है । वे कौन-कौनसी विधियाँ हैं, इसका भी सङ्कलन महाभाष्य में निम्न प्रकार से है—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्धयति बाहुलकेन ॥

'उपग्रह' परस्मैपद आत्मनेपद को कहते हैं। नर अर्थात् पुरुषव्यत्यय। इन सब के उदाहरण ऊपर संस्कृतभाग में दिखा ही दिये हैं। तथा यह भी बता दिया है कि कहाँ पर क्या व्यत्यय हुआ है, और क्या प्राप्त था। अतः यहाँ पुनः उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। व्यत्यय[1] व्यतिगमन को कहते हैं, अर्थात् किसी विषय में प्राप्त कुछ हो और हो कुछ जाना, अथवा कुछ न होना, यही व्यत्यय है ॥

अङ् लिङ्याशिष्यङ् ॥३।१।८६॥

लिङि ७।१॥ आशिषि ७।१॥ अङ् १।१॥ अनु०—छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः,

---

१. यहां व्यत्यय के विषय में लोगों में बड़ी भ्रान्ति है। अज्ञानवश कुछ लोग कहते हैं कि 'बाउला छन्दसि' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए। तथा कुछ लोग कहते हैं कि वेद में व्यत्यय हो ही क्यों ? जब परमात्मा ने वेद बनाया, तो उसे पहले ही पूरा-पूरा ठीक क्यों न बना दिया ? इसका समाधान यह है कि जो व्यक्ति शास्त्र की मर्यादा एवं प्रक्रिया को पढ़ा नहीं, या जिसकी बुद्धि कुण्ठित होने से उसके मस्तिष्क में यह बात ठीक बैठी नहीं, ऐसे ज्ञानलवदुर्विदग्ध लोगों के होते हुए, जब कि मूर्ख जनता उनको पण्डित या विद्वान् पुकारने लग जावे, ऐसी अवस्था में उनको समझाना भी बहुत कठिन है। तो भी हम जनता के अज्ञान की निवृत्ति के लिए कुछ थोड़ा कहते हैं—

निरुक्तकार ने चौथे पांचवे छठे अध्याय में अनवगत-संस्कार(=जिनका प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट ज्ञात नहीं होता) शब्दों का निर्वचन दिखाया है, जो पूर्वोत्तरपदाधिकार, प्रकरण, शब्दसारूप्य तथा अर्थोपपत्ति इन चार बातों के आधार पर होता है। अर्थात् उनमें प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना ही पूर्वोक्तानुसार अनिवार्य मानी गई है। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थात् अर्थ को प्रधान मानकर निर्वचन करना ही निरुक्तकार का सिद्धान्त हैं। सो इसी प्रकार वेद में जहाँ पूर्वापरप्रकरणादि के अनुसार कोई शब्द सामान्य व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं प्रतीत होता, वहीं के लिए पाणिनि मुनि एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी व्यत्यय के सिद्धान्त को मानकर वेदमन्त्रों के व्यापक अर्थ का प्रतिपादन किया है, नहीं तो मन्त्र संकुचित अर्थ में ही रह जाते। जैसा कि "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीम्" यहां 'दाधार' का अर्थ धारण करता है, धारण किया, धारण करेगा, तीनों कालों में होता है, केवल भूतकाल में ही नहीं। यह भी एक प्रकार का व्यत्यय ही है, जो कि छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३।४।६) से कहा है। इस व्यत्यय से मन्त्र के अर्थ की व्यापकता सिद्ध होती है। केवल भूतकालिक अर्थ करने से अर्थ सङ्कुचित हो जाता अतः व्यत्यय वेद का एक मूलभूत अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण विधान है। इस पर उपहास करनेवाले स्वयं उपहास के पात्र हैं ॥

परश्च ॥ अर्थः—छन्दसि विषये आशिषि यो लिङ् विधीयते, तस्मिन् परतोऽङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उपस्थेयं वृषभं तुग्रियाणाम् । सत्यमुपगेयम् । गमेम जानतो गृहान् । मन्त्रं वोचेमाग्नये (यजु० ३।११) । विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् (अथर्व १९।४।२) व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम् । शकेम त्वा समिधम् (ऋ० १।९४।३)। प्रसवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये (ऋ० १०।६३।१०) ॥

भावार्थः—वेदविषय में [लिङि आशिषि] आशिषि लिङ् के परे रहते [अङ्] अङ् प्रत्यय होता है ।। छन्द में आशीर्लिङ् सार्वधातुक भी होता है, अतः शप् आदि विकरणों के अपवाद अङ् का विधान यहाँ किया गया है । अङ् करने का प्रयोजन स्था, गा, गम, वच, विद, शक, रुह इन्हीं धातुओं में है, सो इसी प्रकार संस्कृतभाग में उदाहरण दिये हैं ।।

कर्मवत्

कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ॥३।१।८७॥

कर्मवत् अ० ॥ कर्मणा ३।१॥ तुल्यक्रियः १।१॥ स० - तुल्या क्रिया यस्य स तुल्यक्रियः (कर्त्ता), बहुव्रीहिः ॥ कर्मणा तुल्यं वर्त्तत इति कर्मवत्, तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११४) इति वतिः प्रत्ययः ।। अनु०—कर्त्तरि ॥ अर्थः--कर्मणा= कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवद्भवति, अर्थात् यस्मिन् कर्मणि कर्तृभूतेऽपि क्रिया तद्वल्लक्ष्यते यथा कर्मणि, स कर्त्ता कर्मवद्भवति=कर्माश्रयाणि कार्याणि प्रतिपद्यते ।। कर्त्तरि शप् (३।१।६८) इत्यतोऽत्र कर्तृग्रहणं मण्डूकप्लुतगत्याऽनुवर्त्तते, तच्च प्रथमया विपरिणम्यते ॥ यग्-आत्मनेपद-चिण्-चिण्वद्भावाः प्रयोजनम् ॥ उदा०— भिद्यते काष्ठं स्वयमेव । अभेदि काष्ठं स्वयमेव । कारिष्यते कटः स्वयमेव ।।

भावार्थः—जिस कर्म के कर्ता हो जाने पर भी क्रिया वैसी ही लक्षित हो, जैसी कि कर्मावस्था में थी, उस [कर्मणा] कर्म के साथ [तुल्यक्रियः] तुल्यक्रियावाले कर्त्ता को [कर्मवत्] कर्मवद्भाव होता है ॥ इस सूत्र में कर्त्तरि शप् (३।१।६८) से कर्त्तरि की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुतगति से आ रही है, जिसका प्रथमा में विपरिणाम हो जाता है ॥

'देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति' यहाँ देवदत्त कर्त्ता तथा काष्ठ कर्म है । जब वही काष्ठ अत्यन्त सूखा हुआ हो, फाड़ने में कोई कठिनाई न पड़े, तो सौकर्यातिशय विवक्षा में वह कर्म ही कर्त्ता बन जाता है, अर्थात् कर्म की ही कर्तृत्व-विवक्षा होती है । जैसे— 'काष्ठं भिद्यते स्वयमेव', यहाँ लकड़ी स्वयं फटी जा रही है । सो ऐसी अवस्था में उस कर्त्ता को कर्म के समान माना जाये, कर्मवद्भाव हो जाये, इसलिये यह सूत्र है । कर्मवद्भाव करने के चार प्रयोजन हैं—सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक्, भाव-

कर्मणोः (१।३।१३) से आत्मनेपद, चिण्भावकर्मणोः (३।१।६६) से चिण्, स्यसिच्सीयुट्० (६।४।६२) से चिण्वद्भाव। इन चारों प्रयोजनोंवाले उदाहरण ऊपर संस्कृतभाग में दिखा दिये हैं॥

सूत्र में 'कर्मणा' शब्द कर्मस्थक्रिया का वाचक है। इसी से जाना जाता है कि धातुयें चार प्रकार की होती हैं—(१) कर्मस्थक्रियक, (२) कर्मस्थभावक, (३) कर्तृस्थक्रियक, (४) कर्तृस्थभावक। जिन धातुओं की क्रिया (=व्यापार) कर्म में ही स्थित रहे, वह कर्मस्थक्रियक है। जैसे—'देवदत्त लकड़ी फाड़ता है,' यहाँ फटनारूपी व्यापार लकड़ी-कर्म में हो रहा है, न कि कर्त्ता देवदत्त में। सो फाड़ना (=भिनत्ति) क्रिया कर्मस्थक्रियक है। जिनका धात्वर्थ कर्म में हो, वह कर्मस्थभावक है। यथा—'अग्निः घटं पचति' (अग्नि घट को पकाता है)। यहाँ पकनारूपी धात्वर्थ कर्म घट में है, अतः पकना क्रिया कर्मस्थभावक है। इसी प्रकार जिन धातुओं का व्यापार कर्त्ता में स्थित हो,वह कर्तृस्थक्रियक है।यथा—'देवदत्त गाँव को जाता है,' यहाँ जानारूपी व्यापार कर्त्ता में है, न कि कर्म में। इसी प्रकार कर्त्ता में स्थित धात्वर्थ को कर्तृस्थभावक कहते हैं।यथा—'देवदत्तः आस्ते=देवदत्त बैठता है।यहाँ बैठना रूपी धात्वर्थ देवदत्त में है॥सामान्यरूप में क्रिया एवं भाव में इतना ही अन्तर माना गया है कि—"अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः" अर्थात् जिसमें हिलना-जुलना=चेष्टा न हो, ऐसे साधनों से सिद्ध करने योग्य धात्वर्थ भाव है। तथा "सपरिस्पन्दनसाधनसाध्यस्तु क्रिया" अर्थात् जिसमें चेष्टा=हिलना-जुलना पाया जावे, ऐसे साधनों से सिद्ध करने योग्य धात्वर्थ का नाम क्रिया है। इस प्रकार जहाँ कुछ क्रियाकृत विशेष हो, वह कर्मस्थक्रियक और कर्तृस्थक्रियक, जहाँ न हो वह कर्मस्थभावक और कर्तृस्थभावक है, जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है॥ इस तरह सूत्र में 'कर्मणा' शब्द 'कर्मस्थक्रिया' का वाचक होने से यह निष्कर्ष निकला कि कर्मवद्भाव कर्मस्थक्रियक एवं कर्मस्थभावक को ही होता है, कर्तृस्थक्रियक एवं कर्तृस्थभावक को नहीं होता॥

यहाँ 'तुल्यक्रियः' में तुल्य शब्द सादृश्य अर्थ का वाचक है, न कि साधारण अर्थ का। सो सूत्र का अर्थ हुआ—जिस कर्म के कर्त्ता बन जाने पर भी (अर्थात् उदाहरण में काष्ठ पहले कर्म था, उसके कर्त्ता बन जाने पर भी) क्रिया तद्वत् लक्षित हो, जैसी कि कर्मावस्था में थी, ऐसे तुल्यक्रियावाले कर्त्ता को कर्मवद्भाव=कर्म के सदृश कार्य होता है। उदाहरण में जो भेदनक्रिया काष्ठ की कर्मावस्था में थी, वही भेदनक्रिया काष्ठ के कर्त्ता बन जाने पर भी है, अतः तुल्यक्रियत्व है ही। लकारसम्बन्धी कार्यों में ही यह कर्मवद्भाव होता है। अतः कर्मवाच्य में कहे हुए लकारसम्बन्धी चार कार्य कर्मकर्त्ता में भी हो जाते हैं, यही कर्मवद्भाव का प्रयोजन है॥

यहाँ से 'कर्मवत्' की अनुवृत्ति ३।१।९० तक जायेगी ॥　कर्मवद्

तपस्तपःकर्मकस्यैव ॥३।१।८८॥

तपः ६।१॥ तपःकर्मकस्य ६।१॥ एव अ० ॥ स०—तपः कर्म यस्य स तपः-कर्मकः, तस्य, बहुव्रीहिः । अनु०—कर्मवत् ॥ अर्थः—'तप सन्तापे' अस्य धातोः कर्त्ता कर्मवद्भवति, स च तपःकर्मकस्यैव नान्यकर्मकस्य ॥ तुल्यक्रियाऽभावात्पूर्वेणाऽप्राप्तः कर्मवद्भावो विधीयते ॥ उदा०—तप्यते तपस्तापसः, अतप्त तपस्तापसः ॥

भाषार्थः—[तपः] 'तप सन्तापे' धातु के कर्त्ता को कर्मवद्भाव हो जाता है, यदि वह तप धातु [तपःकर्मकस्य] तप कर्मवाली [एव] ही हो, अन्य किसी कर्मवाली न हो ॥ यदि सकर्मक धातुओं को कर्मवद्भाव हो, तो तप को ही हो, ऐसा द्वितीय नियम भी महाभाष्य में इस सूत्र के योगविभाग से निकाला है ॥

सत्याचरणादि तप कर्म हैं। तपांसि तापसं तपन्ति (तपस्वी को सदाचारादि व्रत के पालनरूपी तपकर्म दुःख दे रहे हैं)। यहाँ तप धातु का तपांसि कर्त्ता, तथा तापसम् कर्म है। यही तापसम् कर्म जब पूर्वोक्त रीति से कर्त्ता बन जाता है, तो तप्यते तपस्तापसः (तपस्वी स्वयमेव स्वर्गादि कामना के लिये तप को प्राप्त करता है) यहाँ कर्मवद्भाव हो जाता है ॥ कर्मावस्था में "तपन्ति" का अर्थ "दुःख देना" है, तथा कर्मकर्त्ता बन जाने पर 'प्राप्त होना" है। अतः तुल्यक्रियत्व=सदृशक्रियत्व न होने से पूर्व सूत्र से कर्मवद्भाव प्राप्त नहीं था, यह अप्राप्त-विधान है ॥ 'तप्यते' में कर्म-वद्भाव होने से पूर्ववत् यक् और आत्मनेपद हो गये हैं। तथा 'अतप्त' में चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६) से प्राप्त चिण् का तपोऽनुतापे च (३।१।६५) से निषेध हो जाने से सिच् ही हो जाता है, जिसका झलो झलि (८।२।२६) से लोप हो जाता है। शेष सिद्धियाँ पूर्ववत् ही हैं ॥

कर्मवद् निषेध

न दुहस्नुनमां यक्चिणौ ॥३।१।८९॥

न अ० ॥ दुहस्नुनमाम् ६।३॥ यक्चिणौ १।२॥ स०—दुहश्च स्नुश्च नम् च दुहस्नुनमः, तेषां, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । यक् च चिण् च यक्चिणौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मवत् ॥ अर्थः—दुह स्नु नम इत्येतेषां धातूनां कर्मकर्त्तरि कर्मवद्भावाप-दिष्टौ यक्चिणौ न भवतः ॥ दुहेरनेन यक् प्रतिषिध्यते, चिण् तु दुहश्च (३।१।६३) इत्यनेन पूर्वमेव विभाषितः ॥ उदा०—दुग्धे गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव, अदोहि गौः स्वयमेव । प्रस्नुते शोणितं स्वयमेव, प्रास्नोष्ट शोणितं स्वयमेव । नमते दण्डः स्वयमेव, अनंस्त दण्डः स्वयमेव ॥

भाषार्थः—[दुहस्नुनमाम्] दुह, स्नु, नम इन धातुओं को कर्मवद्भाव में कहे

हुये कार्य [यक्चिणोः] यक् और चिण् [न] नहीं होते हैं ॥ कर्मवद्भाव=कर्मकर्त्ता में यक्, चिण्, आत्मनेपद, चिण्वद्भाव यह चार कार्य होते हैं। उनमें से यक् और चिण् का प्रकृत सूत्र से प्रतिषेध हो जाने से यहाँ आत्मनेपद और चिण्वद्भाव ही होता है। चिण्वद्भाव भी अजन्त (६।४।६२ से) अङ्ग को ही कहा है। अतः दुह और नम् के अजन्त अङ्ग न होने से इनको चिण्वद्भाव नहीं होता। केवल स्नु जो कि अजन्त है, उसे पक्ष में चिण्वद्भाव होकर लुङ् लकार में 'प्रास्नाविष्ट" रूप भी बनता है ॥

'गां दोग्धि पयः' यहाँ गां कर्म है। जब गौ स्वयमेव दोहन-क्रिया कराने की इच्छा से खड़ी हो जाती है, तब सौकर्यातिशय विवक्षा में गां कर्म, कर्त्ता बन जाता है। उस अवस्था में कर्मवत्कर्मणा० (३।१।८७) से कर्मवद्भाव होकर सब कार्य प्राप्त थे, उन्हें निषेध कर दिया है। इसी प्रकार औरों में भी समझें ॥ दुह धातु को कर्मकर्त्ता में केवल यक् का निषेध ही इस सूत्र से होता है, चिण् तो दुहश्च (३।१।६३) से विकल्प करके प्राप्त ही है। यक् का निषेध होने पर यथाप्राप्त शप् हो जाता है, तथा चिण् का निषेध होने पर सिच् हो जाता है ॥

कुषिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च ॥३।१।९०॥

कुषिरजोः ६।२॥ प्राचाम् ६।३॥ श्यन् १।१॥ परस्मैपदम् १।१॥ च अ० ॥ स०—कुषिश्च रज् च कुषिरजौ, तयोः कुषिरजोः इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मवत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'कुष निष्कर्षे', 'रञ्ज रागे' अनयोर्धात्वोः कर्मकर्त्तरि श्यन् प्रत्ययो भवति, परस्मैपदं च प्राचामाचार्याणां मतेन ॥ कर्मवद्भावेन यक्प्राप्तः, तस्यापवादः श्यन्, एवमात्मनेपदस्यापवादः परस्मैपदम् ।प्राचां ग्रहणं विकल्पार्थम्,अन्येषां मते यगात्मनेपदे भवत एव ।। उदा०—कुष्यति पादः स्वयमेव। रज्यति वस्त्रं स्वयमेव। अन्येषां मते—कुष्यते, रज्यते ॥

भाषार्थः—[कुषिरजोः] कुष और रञ्ज धातु को कर्मवद्भाव में [श्यन्] श्यन् प्रत्यय, [च] और [परस्मैपदम्] परस्मैपद होता है, [प्राचाम्] प्राचीन आचार्यों के मत में ॥ कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः (३।१।८७) से कर्मवद्भाव होकर कर्मकर्त्ता में यक् और आत्मनेपद प्राप्त था, उसका अपवाद यह श्यन् और परस्मैपद का विधान है ॥ 'प्राचाम्' ग्रहण यहां विकल्पार्थ है, अर्थात् प्राचीन आचार्यों के मत में श्यन् और परस्मैपद होगा, अन्यों के मत में यक् एवं आत्मनेपद ही होगा ॥

उदा०—कुष्यति पादः स्वयमेव (पैर स्वयं खिचता है)। रज्यति वस्त्रं स्वयमेव (कपड़ा स्वयं रँगा जा रहा) है। पक्ष में—कुष्यते, रज्यते ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं ॥

धातु

धातोः ॥३।१।९१॥

धातोः ५।१॥ अर्थः —आ तृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः (३।४।११७) धातोरित्ययमधिकारो वेदितव्यः ॥ तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६) इत्यादीनि वक्ष्यन्ति, तानि धातोरेव विधास्यन्ते ॥

भाषार्थः—यहाँ से [धातोः] धातोः का अधिकार तृतीयाध्याय की समाप्तिपर्यन्त जायेगा, ऐसा जानना चाहिये ॥ अतः तृतीयाध्याय की समाप्तिपर्यन्त तव्यत् तव्य अनीयर् आदि जो प्रत्यय कहेंगे, वे धातु से ही होंगे ॥

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ॥३।१।९२॥

उपपद

तत्र अ० ॥ उपपदम् १।१॥ सप्तमीस्थम् १।१॥ समीपोच्चारितं पदम् उपपदम् ॥ स०—सप्तम्यां विभक्तौ तिष्ठतीति सप्तमीस्थम्, तत्पुरुषः ॥ अनु०—धातोः ॥ अर्थः—तत्र=एतस्मिन् धात्वधिकारे सप्तमीस्थम्=सप्तमीनिर्दिष्टं यत्पदं तदुपपदसंज्ञं भवति ॥ उदा० कुम्भकारः, नगरकारः ॥

भाषार्थः—[तत्र] इस धातु के अधिकार में जो [सप्तमीस्थम्] सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पद हैं, उनकी [उपपदम्] उपपदसंज्ञा होती है ॥ कर्मण्यण् (३।२।१) में 'कर्मणि' सप्तमीनिर्दिष्ट पद है, सो इसकी उपपद संज्ञा होने से 'कर्म उपपद रहते' ऐसा सूत्र का अर्थ बनकर, उपपदमतिङ् (२।२।१९) से समास हो गया है ॥ सप्तमीनिर्दिष्ट पद कहीं उपपदसंज्ञक, तथा कहीं अर्थवाचक भी हैं, सो यह भेद तत्तत् सूत्र में ही विदित होगा ॥ सिद्धियाँ २।२।१९ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'तत्र' की अनुवृत्ति ३।१।९४ तक जायेगी ॥

कृदतिङ् ॥३।१।९३॥

कृत्

कृत् १।१॥ अतिङ् १।१॥ स०—न तिङ् अतिङ्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्र, धातोः, प्रत्ययः ॥ अर्थः—अस्मिन् धात्वधिकारे तिङ्भिन्नाः प्रत्ययाः कृत्संज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—कर्त्ता, कारकः । कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—इस धातु के अधिकार में [अतिङ्] तिङ्भिन्न जो प्रत्यय उनकी [कृत्] कृत्संज्ञा होती है ॥ कृत् संज्ञा होने से कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से कृत्प्रत्ययान्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है, जो कि अर्थवदधातु० (१।२।४५) में 'अप्रत्ययः' निषेध करने से प्राप्त नहीं थी । एवं कर्त्ता कारकः में ण्वुल् तथा तृच् प्रत्यय भी कृत्संज्ञक होने से कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से कर्त्ता में हो जाते

हैं ॥ कर्ता, कारकः की सिद्धि परि० १।१।१,२ में देखें, तथा कर्त्तव्यम् की सिद्धि परि० ३।१।३ में देखें ॥

अस्त्री - असरूप प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ॥३।१।९४॥

वा अ० ॥ असरूपः १।१॥ अस्त्रियाम् ७।१॥ स०—समानं रूपं यस्य स सरूपः, बहुव्रीहिः । न सरूपः असरूपः, नञ्तत्पुरुषः । न स्त्री अस्त्री, तस्यां, नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्र, धातोः, प्रत्ययः ॥ अर्थः—अस्मिन्धात्वधिकारे असरूपः=असमानरूपोऽपवाद-प्रत्ययो विकल्पेन बाधको भवति, स्त्र्यधिकारविहितप्रत्ययं वर्ज-यित्वा ॥ सर्वत्र अपवादैर्नित्यम् उत्सर्गा बाध्यन्ते इति नियमः । तत्र योऽसरूपोऽपवादः प्रत्ययः स विकल्पेन बाधकः स्यात् नतु नित्यम्, एतदर्थं सूत्रमिदमारभ्यते ॥ उदा०—ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) उत्सर्गसूत्रम्—"विक्षेपकः, विक्षेप्ता", तस्य इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३।१।१३५) इत्ययमपवादः, स विकल्पेन बाधको भवति—विक्षिपः ॥

भाषार्थः—इस धातु के अधिकार में [असरूपः] असमानरूपवाले अपवाद प्रत्यय [वा] विकल्प से बाधक होते हैं, [अस्त्रियाम्] 'स्त्री' अधिकार में विहित प्रत्ययों को छोड़कर ॥ अपवादसूत्र उत्सर्गसूत्रों को नित्य ही बाधकर हो जाते हैं। अतः विकल्प से बाधक हों, पक्ष में औत्सर्गिक प्रत्यय भी हो जायें, इसीलिये यह सूत्र बनाया है ॥ ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) यह उत्सर्गसूत्र है, तथा इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) यह उसका अपवाद है । सो इगुपध क्षिप धातु से क प्रत्यय भी हुआ, तथा ण्वुल् तृच् भी विकल्प से हो गये, क्योंकि ये परस्पर असरूप थे ॥

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुबन्धों को हटाकर परस्पर प्रत्ययों की असरूपता देखनी होगी । 'क' प्रत्यय अनुबन्धरहित 'अ' है, तथा ण्वुल् और तृच्, वु तथा तृ हैं । सो ये परस्पर असरूप=असमानरूपवाले नहीं हैं ॥ उदा०—विक्षे-पकः, विक्षेप्ता, विक्षिपः (विघ्न डालनेवाला) ॥

कृत्य

कृत्याः ॥३।१।९५॥

कृत्याः १।३॥ अनु०—प्रत्ययः ॥ अर्थः—अधिकारोऽयम् । ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) इति यावत् ये प्रत्यया विधास्यन्ते, ते कृत्यसंज्ञका भविष्यन्तीति वेदितव्यम् ॥ उदा०—गन्तव्यो ग्रामो देवदत्तस्य देवदत्तेन वा ॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) सूत्र तक जो भी प्रत्यय कहेंगे वे [कृत्याः] कृत्यसंज्ञक होंगे, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ गम्लृ धातु से तव्यत् प्रत्यय हुआ है, जिसकी कृत्य संज्ञा है । अतः कृत्यानां कर्तरि वा (२।३।७१) से देवदत्त में विकल्प

से षष्ठी विभक्ति हो गई है ॥ कृत्य संज्ञा करने से कृत् संज्ञा की निवृत्ति नहीं होती है, अपितु कृत् संज्ञा भी कृत्यों की होती है । अतः कृत्तद्धित० (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा सिद्ध हो जाती है ॥

तव्यत्, तव्य, अनीयर्

तव्यत्तव्यानीयरः ॥३।१।९६॥

तव्यत्तव्यानीयरः १।३॥ स०—तव्यच्च तव्यश्च अनीयर् च तव्यत्तव्यानीयरः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धातोः तव्यत् तव्य अनीयर् इत्येते प्रत्ययाः भवन्ति॥ उदा०—कर्त्तव्यम् । कर्त्तव्यम् । करणीयम् ॥

भावार्थः—धातु से [तव्यत्तव्यानीयरः] तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं ॥ तव्यत् में तित् स्वरार्थ है । अतः तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से तव्य का 'य' स्वरित होता है । तथा तव्य प्रत्यय आद्युदात्तश्च (३।१।३) से आद्युदात्त होता है, शेष अनुदात्त हो ही जायेगा । अनीयर् में रित् उपोत्तमं रिति (६।१।२११) से मध्योदात्त करने के लिये है ॥

अचो यत् ॥३।१।९७॥ यत्

अचः ५।१॥ 'यत्' १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अजन्ताद्धातोर्यत् प्रत्ययः परश्च भवति ॥ उदा०—गेयम्, पेयम्, चेयम्, जेयम् ॥

भावार्थः—[अचः] अजन्त धातु से [यत्] यत् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है ॥

यत्

यहाँ से 'यत्' की अनुवृत्ति ३।१।१०५ तक जायेगी ॥

पु-अन्त, अत्-उपधा

पोरदुपधात् ॥३।१।९८॥

पोः ५।१॥ अदुपधात् ५।१॥ स०—अत् उपधा यस्य स अदुपधः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अदुपधात् पवर्गान्ताद्धातोर्यत् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शप्—शप्यम् । जप्—जप्यम् । रभ्—रभ्यम् । डुलभष्—लभ्यम् । गम्लृ—गम्यम् ॥

भावार्थः—[अदुपधात्] अकार उपधावाली [पोः] पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय होता है । उदा०—शप्यम् (शाप के योग्य), जप्यम् (जपने योग्य), रभ्यम् (शीघ्रता से करने योग्य), लभ्यम् (प्राप्त करने योग्य), गम्यम् (जाने योग्य) ॥ उदाहरणों में अनुबन्ध हटा देने पर सब धातुएं अदुपध तथा पवर्गान्त हैं, तो यत् प्रत्यय

हो गया है ॥ ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्राप्त था, उसका यह अपवाद सूत्र है ॥

शकिसहोश्च ॥३।१।९९॥

शकिसहोः ६।२॥ च अ० ॥ स०—शकिश्च सह् च शकिसहौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'शक्लृ शक्तौ', 'षह मर्षणे' इत्येताभ्यां धातुभ्यां यत् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शक्यम् । सह्यम् ॥

भाषार्थः—[शकिसहोः] 'शक्लृ शक्तौ', 'षह मर्षणे' इन धातुओं से [च] भी यत् प्रत्यय होता है ॥ यह भी ण्यत् का अपवादसूत्र है ॥ यहां पञ्चम्यर्थ में षष्ठी का प्रयोग है ॥ उदा०—शक्यम् (हो सकने योग्य) । सह्यम् (सहन करने योग्य) ॥

गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ॥३।१।१००॥

गदमदचरयमः ५।१॥ च अ० ॥ अनुपसर्गे ७।१॥ स०—गदश्च मदश्च चरश्च यम् चेति गदमदचरयम्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः । न विद्यते उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गद व्यक्तायां वाचि, मदी हर्षे, चर गतिभक्षणयोः, यम उपरमे इत्येतेभ्य उपसर्गरहितेभ्यो धातुभ्यो यत् प्रत्ययो भवति । उदा०—गद्यम् । मद्यम् । चर्यम् । यम्यम् ॥

भाषार्थः—[गदमदचरयमः] गद, मद, चर, यम् इन [अनुपसर्गे] उपसर्गरहित धातुओं से [च] भी यत् प्रत्यय होता है ॥ यह भी पूर्ववत् ण्यत् का अपवाद है ॥ उदा०—गद्यम् (बोलने योग्य) । मद्यम् (हर्ष करने योग्य) । चर्यम् (खाने योग्य) । यम्यम् (शान्त करने योग्य) ॥

अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु ॥३।१।१०१॥

अवद्यपण्यवर्याः १।३॥ गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु ७।३॥ स०—अवद्यपण्यवर्याः, गर्ह्यपणितव्या० उभयत्रापि इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गर्ह्यम्=निन्द्यम्, पणितव्यम्=क्रेतव्यम्, अनिरोधः=अप्रतिबन्धः इत्येतेष्वर्थेषु यथासङ्ख्यम् अवद्यपण्यवर्या इत्येते शब्दा यत्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ॥ उदा०—अवद्यं पापम् । पण्यः कम्बलः, पण्या गौः । शतेन वर्या, सहस्रेण वर्या ॥

भाषार्थः—[अवद्यपण्यवर्याः] अवद्य पण्य वर्या (वृङ् सम्भक्तौ से) ये शब्द यथासङ्ख्य करके [गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु] गर्ह्य पणितव्य और अनिरोध अर्थों में यत्प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं ॥ उदा०—अवद्यं पापम् (निन्दनीय, न करने

योग्य) । पण्यः कम्बलः (खरीदने योग्य कम्बल), पण्या गौः (खरीदने योग्य गौ) । शतेन वर्या, सहस्रेण वर्या (सौ या सहस्र से सेवन करने योग्य) ।। अवद्यम् में वदः सुपि क्यप् च (३।१।१०६) से वद् धातु से क्यप् की प्राप्ति में यत् निपातन किया है। अनिरोध से भिन्न अर्थों में वृञ् धातु से एतिस्तुशास्वृ० (३।१।१०९) से क्यप् प्रत्यय होगा ।।

वह्यं करणम् ।।३।१।१०२।।

वह्यम् १।१। करणम् १।१।। अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—वह्यम् इत्यत्र वह धातोः करणे यत् प्रत्ययो निपात्यते ।। उदा०—वहत्यनेनेति वह्यं शकटम् ।।

भावार्थः—[वह्यम्] वह्य शब्द में वह धातु से [करणम्] करण कारक में यत् प्रत्यय निपातन किया जाता है ।। कृत्य प्रत्यय भाव तथा कर्म (३।४।७०) में ही होते हैं, सो यहाँ करण में भी निपातन कर दिया है ।।

अर्यः स्वामिवैश्ययोः ।।३।१।१०३।।

अर्यः १।१।। स्वामिवैश्ययोः ७।२।। स०—स्वामी च वैश्यश्च स्वामिवैश्यौ, तयोः स्वामिवैश्ययोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—अर्य इत्यत्र स्वामिवैश्ययोरभिधेययोः 'ऋ गतौ' अस्मात् धातोर्यत् प्रत्ययो निपात्यते ।। उदा०—अर्यः स्वामी । अर्यो वैश्यः ।।

भावार्थः—[स्वामिवैश्ययोः] स्वामी और वैश्य अभिधेय हों, तो [अर्यः] अर्य शब्द ऋ धातु से यत्प्रत्ययान्त निपातन है ।। ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ।।

उपसर्या काल्या प्रजने ।।३।१।१०४।।

उपसर्या १।१।। काल्या १।१।। प्रजने ७।१।। अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—उपपूर्वात् 'सृ गतौ' इत्यस्माद् धातोर्यत्प्रत्ययान्तः स्त्रीलिङ्गः 'उपसर्या' शब्दो निपात्यते, काल्या चेत् सा (=उपसर्या) प्रजने भवति ।। कालः प्राप्तोऽस्याः सा काल्या, कालाद्यत् (५।१।१०६) इति यत् प्रत्ययः ।। उपसर्या गौः । उपसर्या बडवा ।।

भावार्थः—[उपसर्या] उपसर्या शब्द उपपूर्वक सृ धातु से यत्प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है, [प्रजने] प्रजन अर्थात् प्रथम गर्भग्रहण का [काल्या] समय जिसका हो गया है, इस अर्थ में ।। पूर्ववत् ण्यत् प्राप्त था, उसका यह अपवाद

है ॥ उदा०—उपसर्या गौः (प्रथम बार गर्भग्रहण का समय जिसका आ गया हो, ऐसी गौ) । उपसर्या वडवा ॥

अजर्यं सङ्गतम् ॥३।१।१०५॥

अजर्यम् १।१॥ सङ्गतम् १।१॥ अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—अजर्यमित्यत्र नञ्पूर्वात् 'जृष् वयोहानौ' इत्यस्माद् धातोः सङ्गतेऽभिधेये यत्प्रत्ययो निपात्यते कर्तरि वाच्ये ॥ उदा०—अजर्यमार्यसङ्गतम् । अजर्यं नोऽस्तु सङ्गतम् ॥

भाषार्थः—नञ्पूर्वक जृष् धातु से [अजर्यम्] अजर्यं शब्द [सङ्गतम्] सङ्गत अभिधेय हो, तो कर्तृ वाच्य में यत्प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है ॥ उदा०—अजर्यमार्यसङ्गतम् (कभी पुरानी न होनेवाली आर्यसङ्गति) । अजर्यं नोऽस्तु सङ्गतम् (हमारी सङ्गति कभी पुरानी न हो) ॥ पूर्ववत् ण्यत् प्राप्त था, यत् निपातन कर दिया है । तथा कृत्यसंज्ञक होने से तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०) से भाव-कर्म में ही यत् प्राप्त था, कर्त्ता में निपातन कर दिया है ॥

वदः सुपि क्यप् च ॥३।१।१०६॥

वदः ५।१॥ सुपि ७।१॥ क्यप् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ गदमदचर० (३।१।१००) इत्यतः 'अनुपसर्गे' अप्यनुवर्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ **अर्थः**—वद धातोरुपसर्गरहिते सुबन्त उपपदे क्यप् प्रत्ययो भवति, चकाराद् यत् च ॥ उदा०—ब्रह्मणः वदनम्=ब्रह्मोद्यम्, ब्रह्मवद्यम् । सत्योद्यम्, सत्यवद्यम् ॥

भाषार्थः—अनुपसर्ग [वदः] वद धातु से [सुपि] सुबन्त उपपद होने पर [क्यप्] क्यप् प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से यत् भी होता है ॥ क्यप् होने पर वचिस्वपि० (६।१।१५) से संप्रसारण भी हो गया है । कुम्भकारः की सिद्धि के समान यहाँ भी उपपद संज्ञा होकर समासादि कार्य हो गये हैं ॥ उदा०—ब्रह्मोद्यम् (ब्रह्म का कथन), ब्रह्मवद्यम् । सत्योद्यम् (सत्य का कथन), सत्यवद्यम् ॥

यहाँ से 'सुपि' की अनुवृत्ति ३।१।१०८ तक जायेगी । तथा 'क्यप्' की अनुवृत्ति ३।१।१२१ तक जायेगी ॥

भुवो भावे ॥३।१।१०७॥

भुवः ५।१॥ भावे ७।१॥ अनु०—सुपि, क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च, अनुपसर्गे ॥ **अर्थः**—अनुपसर्गे सुप्युपपदे भूधातोर्भावे क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—ब्रह्मभूयं गतः, देवभूयं गतः ॥

भाषार्थः—अनुपसर्ग [भुवः] भू धातु से सुबन्त उपपद होने पर [भावे] भाव

में क्यप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—ब्रह्मभूयं गतः (ब्रह्मता को प्राप्त हुआ), देवभूयं गतः (देवत्व को प्राप्त हुआ) ॥

यहाँ से 'भावे' की अनुवृत्ति ३।१।१०८ तक जायेगी ॥

क्यप्

हनस्त च ॥३।१।१०८॥

हनः ६।१॥ त लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—भावे, सुपि, क्यप्, अनुपसर्गे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अनुपसर्गे सुबन्त उपपदे हन्धातोर्भावे क्यप् प्रत्ययो भवति, तकारश्चान्तादेशः ॥ उदा०—ब्रह्मणो हननं=ब्रह्महत्या, दस्युहत्या ॥

भाषार्थः—अनुपसर्ग [हनः] हन् धातु से सुबन्त उपपद रहते भाव में क्यप् प्रत्यय होता है, [च] तथा [त] तकार अन्तादेश भी अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से हो जाता है ॥ उदा०—ब्रह्महत्या (ईश्वर वा वेद की आज्ञा का उल्लङ्घन करना), दस्युहत्या (दस्यु का हनन) ॥

क्यप्

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ॥३।१।१०९॥

एतिस्तुशास्वृदृजुषः ५।१॥ क्यप् १।१॥ स०—एतिश्च स्तुश्च शास् च वृ च दृ च जुष् च एतिस्तुशास्वृदृजुष्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इण्, ष्टुञ्, शासु, वृञ्, दृङ्, जुषी इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—इत्यः । स्तुत्यः । शिष्यः । वृत्यः । आदृत्यः । जुष्यः ॥

भाषार्थः—[एतिस्तुशास्वृदृजुषः] इण्, ष्टुञ्, शासु, वृञ्, दृङ्, जुषी इन धातुओं से [क्यप्] क्यप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—इत्यः (प्राप्त होने योग्य) । स्तुत्यः (स्तुति के योग्य) । शिष्यः (शासन करने योग्य) । वृत्यः (स्वीकार करने योग्य) । आदृत्यः (आदर करने योग्य) । जुष्यः (सेवन करने योग्य) ॥ 'इत्यः' आदि में ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम हो जायेगा, शेष पूर्ववत् है । 'शिष्यः' में शास इदङ्हलोः (६।४।३४) से उपधा को इत्व, एवं शासिवसिघ० (८।३।६०) से षत्व होता है ॥

ऋदुपधा + क्यप्

ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः ॥३।१।११०॥

ऋदुपधात् ५।१॥ च अ० ॥ अक्लृपिचृतेः ५।१॥ स०—ऋकार उपधा यस्य स ऋदुपधः, तस्मात्, बहुव्रीहिः । क्लृपिश्च चृतिश्च क्लृपिचृती, न क्लृपिचृती अक्लृपिचृती, तस्मात्, द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ऋकारोपधाद्धातोः क्यप् प्रत्ययो भवति, क्लृपिचृती वर्जयित्वा ॥ उदा०—वृतु—वृत्यम्, वृधु—वृध्यम् ॥

भावार्थः—[ऋदुपधात्] ऋकार उपधावाली धातुओं से [च] भी क्यप् प्रत्यय होता है, [अक्लृपिचृतेः] क्लृपि और चृति धातुओं को छोड़कर। हलन्त धातु होने से पूर्ववत् ण्यत् प्राप्त था, उसका यह अपवाद है। क्लृप्, चृत् धातुयें भी ऋदुपध हैं सो इस सूत्र से अतिव्याप्ति होने पर उनका निषेध कर दिया है ।। उदा०—वृत्यम् (बरतने योग्य), वृध्यम् (बढ़ने योग्य) ।।

ई च खनः ।।३।१।१११।।

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।।च अ० ।। खनः ५।१।। अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—खन् धातोः क्यप् प्रत्ययो भवति, ईकारश्चान्तादेशः ।। उदा०—खेयम् ।।

भावार्थः—[खनः] 'खनु अवदारणे' धातु से क्यप् प्रत्यय होता है, [च] तथा [ई] ईकारादेश भी अन्त्य अल् 'न्' को हो जाता है ।। उदा०—खेयम् (खोदने योग्य)। ख ई क्यप्, आद्गुणः (६।१।८४) से पूर्व पर को गुण एकादेश होकर खेयम् बन गया है ।।

भृञोऽसंज्ञायाम् ।।३।१।११२।।

भृञः ५।१।। असंज्ञायाम् ७।१।। स०—असंज्ञायामित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—असंज्ञायां विषये भृञ् धातोः क्यप् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—भृत्याः कर्मकराः ।।

भावार्थः—[भृञः] भृञ् धातु से [असंज्ञायाम्] असंज्ञाविषय में क्यप् प्रत्यय होता है ।। उदा०—भृत्याः कर्मकराः (पालने योग्य सेवक) ।। पूर्ववत् उदाहरण में तुक् आगम हो जायेगा ।।

मृजेर्विभाषा ।।३।१।११३।।

मृजेः ५।१।। विभाषा १।१।। अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—'मृजूष् शुद्धौ' इत्यस्माद् धातोः विकल्पेन क्यप् प्रत्ययो भवति, पक्षे ण्यद् भवति ।। उदा०—परिमृज्यः, परिमार्ग्यः ।।

भावार्थः—[मृजेः] मृज् धातु से [विभाषा] विकल्प से क्यप् प्रत्यय होता है ।। ऋदुपध होने से नित्य ऋदुपधाच्चा० (३।१।११०) से क्यप् प्राप्त था, यहाँ विकल्प विधान कर दिया है ।। उदा०—परिमृज्यः (शुद्ध करने योग्य), परिमार्ग्यः ।। ऋदुपधाच्चा० सूत्र भी ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) का अपवाद है, अतः पक्ष में यहाँ ण्यत् होता है। जिस पक्ष में ण्यत् होगा, उस पक्ष में मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि, तथा चजोः कु० (७।३।५२) से कुत्व भी हो जाता है ।।

राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः ॥३।१।११४॥

राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याऽव्यथ्याः १।३॥ स०—राजसूय० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य, अव्यथ्य इत्येते शब्दाः क्यप्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ॥ 'राजसूयः'—राजन्शब्दपूर्वात् षुञ् धातोः कर्मणि अधिकरणे वा क्यप् प्रत्ययः तुगभावो दीर्घत्वञ्च निपात्यते । 'सूर्यः' इति षू प्रेरणे इत्यस्मात्, सृ गतौ इत्येतस्माद्वा कर्तरि क्यप् निपात्यते । 'सृ गतौ' इत्येतस्मात् क्यपि परत उत्वम्; एवं 'षू प्रेरणे' अस्मात् क्यपि परतो रुडागमो निपात्यते । मृषोद्यम् इति—मृषापूर्वस्य वदधातोः क्यप् निपात्यते । वदः सुपि०(३।१।१०६)इति यत्क्यपोः प्राप्तयोः नित्यं क्यप् निपात्यते । 'रुच्यः' इति—रुच् धातोः कर्त्तरि क्यप् निपात्यते, ण्यतोऽपवादः । 'कुप्यम्'—इत्यत्र गुप् धातोः क्यप् आदेः गकारस्य च कत्वं निपात्यते संज्ञायां विषये । ण्यतोऽपवादः । 'कृष्टपच्या' इति—कृष्टपूर्वात् पच्धातोः संज्ञायां विषये कर्मकर्तरि क्यप् निपात्यते । 'अव्यथ्यः'इतिः—नञ्-पूर्वाद् व्यथ धातोः कर्तरि क्यप् निपात्यते ॥ उदा०—राज्ञा सोतव्यो=राजसूयो यज्ञः । सरति निरन्तरं लोकैः सह गच्छतीति सूर्यः; अथवा—कर्मणि स्रियते विज्ञायते विज्ञाप्यते वा विद्वद्भिः (यजुः ७।४१) सूर्यः; यद्वा—षू धातोः सुवति प्रेरयतीति सूर्यः । मृषोद्यं वाक्यम् । रोचतेऽसौ रुच्यः । कुप्यम् । कृष्टे पच्यन्ते कृष्टपच्याः । न व्यथते अव्यथ्यः ॥

भाषार्थः—[राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः] राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य, अव्यथ्य ये शब्द क्यप्प्रत्ययान्त निपातन हैं ॥ 'राजसूयः' (राजसूय नामक यज्ञ), यहाँ राजन् शब्द पूर्वक षुञ् धातु से कर्म या अधिकरण में क्यप् प्रत्यय, तुक् का अभाव, एवं दीर्घत्व का निपातन है । 'सूर्यः' षू प्रेरणे तथा सृ गतौ दोनों धातुओं से बन सकता है । सृ धातु से क्यप् परे रहते उकार निपातन से कर दिया है, तत्पश्चात् हलि च(८।२।७७) से दीर्घ हो जायेगा, अथवा षू धातु से करें तो रुट् आगम निपातन से करना होगा । 'मृषोद्यम्' मृषा उपपद रहते वद् धातु से ण्यत् की प्राप्ति में क्यप् निपातन करके 'मृषोद्यम्' (झूठा वचन) बना है । 'रुच्यम्' (सुन्दर) में भी रुच् धातु से क्यप् का निपातन है । 'कुप्यम्' (सोने चाँदी से भिन्न जो धातु) में संज्ञाविषय में गुप् धातु से क्यप् प्रत्यय, तथा आदि 'ग्' को 'क्' निपातन किया है । 'कृष्टपच्या' (हल चली हुई भूमि में स्वयं जो पक जाते हैं) में कृष्टपूर्वक पच् धातु से संज्ञाविषय में कर्मकर्त्ता में क्यप् निपातन है । 'अव्यथ्यः' (जो व्यथित नहीं होता) में नञ्पूर्वक व्यथ धातु से क्यप् निपातन है ॥ सब शब्दों के विग्रह संस्कृत उदाहरण के साथ हैं ॥

भिद्योद्ध्यौ नदे ॥३।१।११५॥

भिद्योद्ध्यौ १।२॥ नदे ७।१॥ स०—भिद्यश्च उद्ध्यश्च भिद्योद्ध्यौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—भिद्य उद्ध्य इत्येतौ शब्दौ नदेऽभिधेये कर्त्तरि वाच्ये क्यप्प्रत्ययान्तौ निपात्येते ॥ **उदा०**—भिद्धातोः—कूलानि भिनत्तीति=भिद्योनदः । उज्झ उत्सर्गे, उन्दी क्लेदने इत्येतस्माद्वा—उज्झति, उत्सृजति जलानीत्युद्ध्यो नदः ॥

भावार्थः—[भिद्योद्ध्यौ] **भिद्य उद्ध्य शब्दों में [नदे] नद(=नदी) अभिधेय हो, तो कर्त्ता में क्यप् प्रत्यय भिद् तथा उन्दी धातु से निपातन किया जाता है ॥ उद्ध्यः में उन्दी धातु से नकार का लोप, तथा धकार निपातन से हो जाता है । अथवा 'उज्झ उत्सर्गे' धातु से क्यप् परे रहते, झकार को धत्व भी निपातन से होता है ॥** उदा०—**भिद्यः (किनारों को तोड़नेवाली नदी) । उद्ध्यो नदः (तटों को गीला करनेवाला नद) ।**

पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे ॥३।१।११६॥

पुष्यसिद्ध्यौ १।२॥ नक्षत्रे ७।१॥ स०—'पुष्यसिद्ध्यौ' इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—नक्षत्रेऽभिधेये पुषेः सिधेश्च धातोः क्यप् निपात्यतेऽधिकरणे कारके ॥ **उदा०**—पुष्यन्त्यस्मिन् कार्याणि स पुष्यः । सिद्ध्यन्त्यस्मिन् कार्याणि स सिद्ध्यः ॥

भावार्थः—[नक्षत्रे] **नक्षत्र अभिधेय हो, तो अधिकरण कारक में पुष सिध धातुओं से क्यप्प्रत्ययान्त [पुष्यसिद्ध्यौ] पुष्य सिद्ध्य शब्द निपातन किये गये हैं ॥** उदा०—**पुष्यः (नक्षत्रविशेष) । सिद्ध्यः (नक्षत्रविशेष) ॥**

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ॥३।१।११७॥

विपूयविनीयजित्याः १।३॥ मुञ्जकल्कहलिषु ७।३॥ स०—उभयत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—विपूय विनीय जित्य इत्येते शब्दा यथासङ्ख्यं मुञ्ज कल्क हलि इत्येतेष्वर्थेषु निपात्यन्ते ॥ विपूयेत्यत्र विपूर्वात् 'पूञ् पवने' इत्येतस्माद्धातोः, विनीयेत्यत्र विपूर्वान्नीधातोः, जित्येत्यत्र च 'जि जये' इत्यस्माद् धातोः कर्मणि क्यप् निपात्यते ॥ **उदा०**—विपूयो मुञ्जः । विनीयः कल्कः । जित्यो हलिः ॥

भावार्थः—[विपूयविनीयजित्याः मुञ्जकल्कहलिषु] **विपूर्वक पूञ् धातु से मुञ्ज अर्थ में 'विपूय'; विपूर्वक नी धातु से कल्क अर्थ में 'विनीय', तथा 'जि' धातु से हलि अर्थ में जित्य शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ जित्यः' में तुक् आगम ह्रस्वस्या**

ञ्नित्० (६।१।६६) से होता है ॥ उदा०—विपूयो मुञ्जः (मूंज) । विनीयः कल्कः (औषधि की पीठी) । जित्यो हलिः (बड़ा हल)॥ जब मुञ्ज कल्क हलि ये अर्थ नहीं होंगे, तब इन धातुओं के अजन्त होने से अचो यत् (३।१।६८) से यत् प्रत्यय होता है ॥

प्रति अपि + ग्रह + क्यप्

प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः ॥३।१।११८॥

प्रत्यपिभ्यां ५।२॥ ग्रहेः ५।१॥ स०—प्रतिश्च अपिश्च प्रत्यपी, ताभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रति अपि इत्येवं पूर्वाद् ग्रहेर्धातोः क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मत्तस्य न प्रतिगृह्यम् (तै० ब्रा० १।३।२।७)। तस्मान्नापिगृह्यम् (का० सं० १४।५) ॥

भाषार्थः—[प्रत्यपिभ्याम्] प्रति अपि पूर्वक [ग्रहेः] ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय होता है ॥ प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि (वा० ३।१।११८) इस भाष्यवार्तिक से छन्द में ही ये प्रयोग बनेंगे ॥

यहाँ से 'ग्रहेः' की अनुवृत्ति ३।१।११९ तक जायेगी ॥

क्यप्

पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च ॥३।१।११९॥

पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—पदञ्च अस्वैरी च बाह्या च पक्ष्यश्च पदास्वैरिबाह्यापक्ष्याः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ग्रहेः, क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पदम्, अस्वैरी=परतन्त्रः, बाह्या=बहिर्भूता, पक्षे भवः=पक्ष्यः इत्येतेष्वर्थेषु ग्रहधातोः क्यप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पद—प्रगृह्यं पदम्, अवगृह्यं पदम् । अस्वैरी—गृह्यका इमे । बाह्या—ग्रामगृह्या सेना, नगरगृह्या सेना । पक्ष्य—वासुदेवगृह्याः, अर्जुनगृह्याः ॥

भाषार्थः—[पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु] पद, अस्वैरी, बाह्या, पक्ष्य इन अर्थों में [च] भी ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पद—प्रगृह्यं पदम् (प्रगृह्यसंज्ञक पद), अवगृह्यं पदम् (अवग्रह के योग्य पद) । अस्वैरी—गृह्यका इमे (ये पराधीन हैं) । बाह्या—ग्रामगृह्या सेना (गाँव से बाहर की सेना), नगरगृह्या सेना । पक्ष्य—वासुदेवगृह्याः (वासुदेव के पक्षवाले), अर्जुनगृह्याः ॥

क्यप्, ण्यत्

विभाषा कृवृषोः ॥३।१।१२०॥

विभाषा १।१॥ कृवृषोः ६।२॥ स०—कृ च वृष् च कृवृषौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कृ वृष् इत्येताभ्यां

धातुभ्यां विकल्पेन क्यप् प्रत्ययो भवति, पक्षे ण्यदेव ॥ उदा०—कृत्यम्, कार्यम् । वृष्यम्, वर्ष्यम् ॥

भाषार्थः—[कृवृषोः] कृ तथा वृष् धातुओं से [विभाषा] विकल्प से क्यप् प्रत्यय होता है, पक्ष में ण्यत् होता है ॥ कृ धातु से ऋहलोर्ण्यत्(३।१।१२४) से ण्यत् प्राप्त था, क्यप् विकल्प से विधान कर दिया है । सो पक्ष में ण्यत् होगा । इसी प्रकार वृष् धातु से ऋदुपधाच्चा० (३।१।११०) से नित्य क्यप् प्राप्त था, यहाँ विकल्प कर दिया है ॥ उदा०—कृत्यम् (करने योग्य) में तुक् आगम, एवं कार्यम् में अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होती है । वृष्यम् (सन्तानोत्पत्ति के योग्य) यहाँ क्यप्, तथा वर्ष्यम् में ण्यत् हुआ है ॥

क्यप्

युग्यं च पत्रे ॥३।१।१२१॥

युग्यम् १।१॥ च अ० ॥ पत्रे ७।१॥ अनु०—क्यप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ पतति गच्छति अनेनेति पत्रं वाहनमुच्यते ॥ अर्थः—युग्यमित्यत्र पत्रे वाच्ये युजधातोः क्यप्, जकारस्य च कुत्वं निपात्यते ॥ उदा०—योक्तुमर्हः= युग्यो गौः, युग्योऽश्वः ॥

भाषार्थः—[पत्रे] पत्र अर्थात् वाहन को कहना हो, तो युज् धातु से [च] भी क्यप् प्रत्यय, तथा जकार को कुत्व [युग्यम्] युग्य शब्द में निपातन किया गया है ॥ उदा०—युग्यो गौः (जोतने योग्य बैल), युग्योऽश्वः (जोतने योग्य घोड़ा) ॥

अमावस्यदन्यतरस्याम् ॥३।१।१२२॥

अमावस्यत् १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अमावस्यदित्यत्र अमापूर्वाद् वस् धातोः कालेऽधिकरणे वर्तमानाद् ण्यति परतो विभाषा वृद्ध्यभावो निपात्यते ॥ उदा०—सह वसतोऽस्मिन् काले सूर्याचन्द्रमसौ—अमावस्या, अमावास्या ॥

भाषार्थः—[अमावस्यत्] अमावस्या में अमापूर्वक वस् धातु से काल अधिकरण में वर्तमान होने पर ण्यत् प्रत्यय परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प से वृद्धि निपातन किया है ॥ ण्यत् परे रहते नित्य वृद्धि प्राप्त थी, विकल्प कर दिया है ॥ 'अमा' शब्द सह अर्थ में वर्तमान है । जिस काल में सूर्य-चन्द्रमा साथ-साथ रहते हैं, वह काल अमावास्या है । वृद्धि का अभाव निपातन करने से अमावस्या भी बन जाता है ॥

छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्यस्तर्याध्वर्यखन्यखान्यदेवयज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्यभाव्यस्ताव्योपचाय्यपृडानि ॥३।१।१२३॥

छन्दसि ७।१॥ निष्टर्क्य ··· पृडानि १।३॥ स०—निष्टर्क्य० इत्यत्रेतरे-

तरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—छन्दसि विषये निष्टर्क्य, देवहूय, प्रणीय, उन्नीय, उच्छिष्य, मर्य, स्तर्या, ध्वर्य, खन्य, खान्य, देवयज्या, आपृच्छ्य, प्रतिषीव्य, ब्रह्मवाद्य, भाव्य, स्ताव्य, उपचाय्यपृड इत्येते शब्दा निपात्यन्ते ॥ तत्र 'निष्टर्क्य' इत्यत्र निस्पूर्वात् 'कृती छेदने' अस्माद्धातोः ऋदुपधत्वात् (३।१।११०) क्यपि प्राप्ते ण्यद् निपात्यते; कृतेः आद्यन्तविपर्ययो निसः षत्वञ्चापि निपात्यते। निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः। प्रदक्षिणं पर्यास्योर्ध्वग्रन्थि निष्टर्क्यं बध्नाति (ऐ० ब्रा० ५।१।३); गर्भाणां धृत्यै निष्टर्क्यं बध्नाति प्रजानाम् (तै० सं० ६।१।७।२); गर्भाणां धृत्या अप्रपादाय निष्टर्क्यं बध्नाति (का० २४।५)। 'देवहूय' इत्यत्र देवशब्द उपपदे हु दानादनयोरित्येतस्माद्धातोः क्यप् प्रत्ययो दीर्घत्वं तुगभावश्च निपात्यते। यद्वा—ह्वेञ् धातोः क्यप् निपात्यते। यजादित्वात् (६।१।१५) सम्प्रसारणं, हलः (६।४।२) इति दीर्घः। स्पर्धन्ते वा उ देवहूये (ऋ० ७।८५।२)। प्रपूर्वान्नयतेः क्यप् —प्रणीयः। उत्पूर्वाच्च नयतेः क्यप् =उन्नीयः। आभ्यां धातुभ्योऽजन्तत्वाद्यति प्राप्ते क्यप् निपात्यते। उत् पूर्वात् 'शिष्लृ विशेषणे' इत्येतस्माद् धातोर्ण्यति प्राप्ते क्यप् निपात्यते। उच्छिष्यः (आ० श्रौ० ११।७।३)। मर्य, स्तर्या, ध्वर्य, खन्य इति चत्वारो यदन्ताः शब्दाः। 'मृङ् प्राणत्यागे', 'स्तृञ् आच्छादने', 'ध्वृ हूर्च्छने', 'खनु अवदारणे' इत्येतेभ्यो धातुभ्यो यथाक्रमं ण्यति प्राप्ते यत् निपात्यते। स्तर्या स्त्रियामेव। खनु धातोर्ण्यदपि भवति—खान्यः। 'देवयज्या' इति देवपूर्वाद् यज्धातोर्ण्यति प्राप्ते यप्रत्ययो निपात्यते। स्त्रीलिङ्गे निपातनमेतत्। 'आपृच्छ्यः, प्रतिषीव्यः' एतौ क्यबन्तौ। आङ्पूर्वात् 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्', प्रतिपूर्वात् 'षिवु तन्तुसन्ताने' इत्येताभ्यां यथाक्रमं क्यप् भवति। ब्रह्मणि उपपदे वदतेर्ण्यत् = ब्रह्मवाद्यः। भवतेः स्तौतेश्च ण्यत् निपात्यते, आवादेशश्च भवति धातोस्तन्नि० (६।१।७७) इत्यनेन—भाव्यः, स्ताव्यः। उपपूर्वात् चिञ्धातोर्ण्यत् निपात्यते। पृड उत्तरपदे वृद्धौ कृतायाम् आयादेशश्च निपातनाद् भवति—उपचाय्यपृडम् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [निष्टर्क्य......पृडानि] निष्टर्क्यादि शब्दों का निपातन किया जाता है ॥ किस शब्द में क्या निपातन है, यह आगे दिखाते हैं। 'निष्टर्क्य' में निस् पूर्वक 'कृती छेदने' धातु से ण्यत् प्रत्यय निपातन से करके, लघूपधगुण होकर 'निस् कर्त य' बना। कर्त को आद्यन्तविपर्यय तथा, निस् के स् को ष् निपातन से होकर 'निष् तर्क्य' बना, पुनः ष्टुत्व होकर 'निष्टर्क्य' बना है। 'देवहूय' में देव शब्द उपपद रहते हु धातु से क्यप् निपातन करते हैं। तथा तुक् आगम का अभाव और धातु को दीर्घ भी निपातन से होता है। अथवा—ह्वेञ् धातु से क्यप् निपातन से करके यजादि (६।१।१५ से) संप्रसारण कर लेने के पश्चात् हलः (६।४।२) से दीर्घ होगा। 'प्रणीयः', 'उन्नीयः' में प्रपूर्वक तथा उत्पूर्वक नी धातु से क्यप् निपातन

है। यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४४) से 'द्' को 'न्' हो ही जायेगा। 'उच्छिष्यः' में उत्पूर्वक शिष् धातु से क्यप् निपातन है। यहाँ शश्छोऽटि (८।४।६२) से 'श' को 'छ', एवं स्तोः श्चुना० (८।४।३९) से श्चुत्व होकर 'उच्छिष्यः' बनता है। मृड्,स्तृञ्, ध्वृ, खनु इन चारों धातुओं से ण्यत् की प्राप्ति में यत्प्रत्यय निपातन से करके यथाक्रम चार शब्द मर्या, स्तर्या, ध्वर्या, खन्य बनते हैं। स्तर्या में यत्प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में ही निपातन है। खनु से ण्यत् प्रत्यय करके 'खान्य' भी बनेगा। 'देवयज्या' में देव उपपद रहते यज् धातु से 'य' प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में निपातन है। आङ्पूर्वक प्रच्छ धातु से क्यप् निपातन करके 'आपृच्छ्यः' बनता है। यहाँ 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) से सम्प्रसारण होता है। प्रति पूर्वक षिवु धातु से भी क्यप् तथा षत्व निपातन से करके 'प्रतिषीव्यः' बनता है। यहाँ धात्वादे षः सः (६।१।६२) से षिवु के 'ष' को 'स', तथा हलि च (८।२।७७) से प्रतिषीव्यः में दीर्घ भी होता है। ब्रह्म उपपद रहते वद धातु से ण्यत् करके 'ब्रह्मवाद्यः' बनता है। यहां वदः सुपि क्यप् च (३।१।१०६) से क्यप् प्राप्त था। भू तथा स्तु धातु से ण्यत् प्रत्यय निपातन से करके, अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होकर—'भौ य,स्तौ य' बना। पुनः धातोस्तन्नि० (६।१।७७) से आवादेश करके भाव्यः, स्ताव्यः बना है। उप पूर्वक चिञ् धातु से पृड उत्तरपद होने पर ण्यत् प्रत्यय निपातन से किया है। पूर्ववत् वृद्धि होकर आयादेश निपातन से करके 'उपचाय्यपृडं हिरण्यम्' बनता है॥

ऋहलोर्ण्यत् ॥३।१।१२५॥

ऋहलोः ६।२॥ ण्यत् १।१॥ स०—ऋ च हल् च ऋहलौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—कृ—कार्यम्, हृ—हार्यम्, धृ—धार्यम्, स्मृ—स्मार्यम्। हलन्तात्—पठ्–पाठ्यम्, पच्–पाक्यम्, वच्—वाक्यम्॥

भाषार्थः—[ऋहलोः] ऋवर्णान्त तथा हलन्त धातुओं से [ण्यत्] ण्यत् प्रत्यय होता है॥ उदा०—कार्यम् (करने योग्य), हार्यम् (हरण करने योग्य), धार्यम् (धारण करने योग्य), स्मार्यम् (स्मरण करने योग्य)। हलन्तों से—पाठ्यम् (पढ़ने योग्य), पाक्यम् (पकने योग्य), वाक्यम् (कहने योग्य)॥ ऋकारान्त धातुओं को अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होती है, तथा हलन्त धातुओं को अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होती है। पच् तथा वच् धातुओं को चजोः कु० (७।३।५२) से कुत्व हो जायेगा॥

विशेषः—ऋहलोः में पञ्चम्यर्थ में षष्ठी है॥

यहाँ से 'ण्यत्' की अनुवृत्ति ३।१।१३१ तक जायेगी॥

ओरावश्यके ॥३।१।१२५॥

ओः ५।१॥ आवश्यके ७।१॥ **अनु०**—ण्यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—उवर्णान्ताद्धातोरावश्यके द्योत्ये ण्यत् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—लाव्यम्, पाव्यम् ॥

भाषार्थः—[ओः] उवर्णान्त धातुओं से [आवश्यके] आवश्यक द्योतित होने पर **ण्यत् प्रत्यय होता है** ॥　　ण्यत्

आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च ॥३।१।१२६॥

आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमः ५।१॥ च अ० ॥ **स०**—आसुश्च युश्च वपिश्च रपिश्च लपिश्च त्रपिश्च चम् च आसुयुवपिरपिलपित्रपिचम्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ **अर्थः**—आङ्पूर्वात् सुनोतेः, यु, वपि, रपि, लपि, त्रपि, चम् इत्येतेभ्यो धातुभ्यश्च ण्यत् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—आसाव्यम् । याव्यम् । वाप्यम् । राप्यम् । लाप्यम् । त्राप्यम् । आचाम्यम् ॥

भाषार्थः—[आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमः] **आङ्पूर्वक षुञ्, यु, वप्, रप्, लप्, त्रप् और चम् इन धातुओं से** [च] भी ण्यत् प्रत्यय होता है॥ उदा०—**आसाव्यम् (उत्पन्न करने योग्य)। याव्यम् (मिलाने योग्य)। वाप्यम् (बीज बोने योग्य)। राप्यम् (बोलने योग्य) । लाप्यम् (बोलने योग्य) । त्राप्यम् (लज्जा करने योग्य) । आचाम्यम् (आचमन करने योग्य) ॥ आसाव्यम्, याव्यम् में** अचो ञ्णिति (७।२।११५) **से वृद्धि होकर,** धातोस्तन्नि० (६।१।७७) **से वान्तादेश होता है। अन्यत्र** अत उपधायाः (७।२।११६) **से वृद्धि होगी** ॥　　ण्यत्

आनाय्योऽनित्ये ॥३।१।१२७॥

आनाय्यः १।१॥ अनित्ये ७।१॥ **स०**—न नित्योऽनित्यः,तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ **अनु०**—ण्यत्, धातोः प्रत्ययः, परश्च । **अर्थः**—आनाय्य इति निपात्यतेऽनित्येऽभिधेये । आङ्पूर्वान्नयतेः 'ण्यत्' आयादेशश्च भवति निपातनात् ॥ **उदा०**—आनाय्यो दक्षिणाग्निः[1] ॥

---

१. यज्ञ की अग्नियाँ तीन होती है—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि । ये तीनों अग्नियाँ मनत प्रज्वलित रहती हैं । परन्तु प्रतिदिन यज्ञ के आरम्भ में आहवनीय अग्नि के संस्कारार्थ गार्हपत्य अग्नि से दो चार अङ्गार लाकर आहवनीय में रखे जाते हैं । दक्षिणाग्नि के संस्कारार्थ गार्हपत्य वैश्यकुल या भ्राष्ट्र (भाड़ या चूल्हा) से अग्नि लाकर दक्षिणाग्नि में रखी जाती है । दक्षिणाग्नि में संस्कारार्थ लाई हुई

भावार्थ:—[आनाय्य:] आनाय्य: शब्द आङ्पूर्वक णीञ् धातु से ण्यत् प्रत्ययान्त [अनित्ये] अनित्य अर्थ को कहना हो तो निपातन किया जाता है ॥ वृद्धि करने पर आयादेश भी निपातन से हो जाता है ॥

प्रणाय्योऽसंमतौ ॥३।१।१२८॥ ण्यत्

प्रणाय्य: १।१॥ असंमतौ ७।१॥ संमननं संमति: ॥ स०- -अविद्यमाना संमतिरस्मिन् सोऽसंमति:,तस्मिन्, बहुव्रीहि: ॥ अनु०—धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—संमति:=पूजा । असंमतावभिधेये प्रपूर्वान्नयते: ण्यत् प्रत्यय:, आयादेशश्च निपात्यते ॥ उदा०—प्रणाय्यश्चौर: ॥

भावार्थ:—प्र पूर्वक णीञ् धातु से [असंमतौ] अपूजित अभिधेय हो, तो ण्यत प्रत्यय तथा वृद्धि कर लेने पर आयादेश [प्रणाय्य:] प्रणाय्य शब्द में निपातन किया जाता है ॥ चोर निन्दित है, अत: उसको प्रणाय्य कहा गया है । उपसर्गादसमा० (८।४।१४) से प्रणाय्य में णत्व हो जाता है ॥

पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु ॥३।१।१२९॥ ण्यत्

पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या: १।३॥ मानहविर्निवाससामिधेनीषु ७।३॥ स०—पाय्यञ्च सान्नाय्यञ्च निकाय्यश्च धाय्या च इति पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या:, इतरेतरयोगद्वन्द्व: । मानञ्च हविश्च निवासश्च सामिधेनी च मानहविर्निवाससामिधेन्य:, तासु, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—ण्यत्, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—पाय्य, सान्नाय्य, निकाय्य, धाय्या इत्येते शब्दा: यथाक्रमं मान, हवि:, निवास, सामिधेनी इत्येतेष्वभिधेयेषु निपात्यन्ते ॥ 'पाय्यम्' इति माङ् धातो: ण्यत्' प्रत्यय:, आदेर्मकारस्य पत्वञ्च मानेऽभिधेये निपात्यते ! 'सान्नाय्यम्' इति सम्पूर्वान्नयते: ण्यत् प्रत्यय:, वृद्धौ कृतायाम् आयादेश:, उपसर्गस्य दीर्घत्वञ्च निपात्यते हविरभिधेये । 'निकाय्य:' इति निपूर्वाच्चिञ् धातो: ण्यत् प्रत्यय:, वृद्धौ कृतायामायादेश:, आदेश्च कारस्य कुत्वञ्च निपात्यते निवासेऽभिधेये । 'धाय्या' इति डुधाञ् धातोर्ण्यत् प्रत्ययो निपात्यते सामिधेन्यामभिधेये ॥

भावार्थ:—[पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या:] पाय्य, सान्नाय्य, निकाय्य, धाय्या

अग्नि का स्थान नियत न होने से वह अनियत - अनित्य कही जाती है । यह 'आनाय्य' निपातन वहीं होता है, जहाँ दक्षिणाग्नि में गार्हपत्य से अग्नि लाई जाती है । जहाँ अन्य स्थान (वैश्य कुल या भ्राष्ट्र) से अग्नि लाई जाती है वहाँ 'आनेय' का प्रयोग होता है ॥

शब्द यथासङ्ख्य करके [मानहर्विनिवाससामीधेनीषु] मान, हवि, निवास, तथा सामिधेनी अभिधेय में निपातन किये जाते हैं ॥ 'पाय्य' में माङ् माने धातु से ण्यत्, तथा आदि मकार को पकार निपातन से किया है, मान कहना हो तो । 'सान्नाय्य' में सम् पूर्वक णीञ् धातु से ण्यत्, उपसर्ग को दीर्घ, तथा वृद्धि करने के पश्चात् आयादेश निपातन से किया है, हवि को कहने में । 'निकाय्य' में चिञ् धातु से ण्यत्, तथा आदि 'च्' को 'क्', एवं आयादेश निवास अभिधेय होने पर निपातन से किया है । 'धाय्या' में डुधाञ् धातु से ण्यत् निपातन किया है, सामिधेनी को कहने में ॥ पाय्य एवं धाय्या में आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम हो ही जायेगा ॥ सब उदाहरणों में अजन्त धातुओं के होने से यत् प्रत्यय की प्राप्ति थी, ण्यत् निपातन कर दिया है, मान आदि अर्थों में । सो इन अर्थों से अतिरिक्त स्थल में यत् ही होगा ॥ उदा०—पाय्यं मानम् (तोलने के बाट), मेयम् अन्य अर्थों में बनेगा । सान्नाय्यं हविः (हवि का नाम), 'सन्नेयम्' अन्यत्र बनेगा । निकाय्यो निवासः (निकाय्य निवास को कहते हैं), निचेयम् अन्यत्र बनेगा । धाय्या सामिधेनी (ऋचा का नाम), धेयम् अन्यत्र बनेगा ॥

क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ ॥३।१।१३०॥ ण्यत्

क्रतौ ७।१॥ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ १।२॥ स०—कुण्डपाय्यश्च सञ्चाय्यश्च कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ण्यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कुण्डपाय्य संचाय्य इत्येतौ शब्दौ क्रतावभिधेये निपात्येते ॥ 'कुण्डपाय्य, इत्यत्र कुण्डशब्दे तृतीयान्त उपपदे पिबतेर्धातोरधिकरणे यत्प्रत्ययो निपात्यते, युक् चागमः । 'संचाय्य' इत्यत्र सम्पूर्वात् चिञ्धातोः 'ण्यत' प्रत्ययः, आयादेशश्च निपात्यते अधिकरणे कारके ॥ उदा०—कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोम इति कुण्डपाय्यः क्रतुः । संचीयतेऽस्मिन् सोम इति संचाय्यः क्रतुः ॥

भाषार्थः—क्रतु यज्ञविशेषों की संज्ञा है । [क्रतौ] क्रतु अभिधेय हो, तो [कुण्डपाय्यसंचाय्यौ] कुण्डपाय्य तथा संचाय्य शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ कुण्ड शब्द तृतीयान्त उपपद रहते 'पा पाने' धातु से अधिकरण में यत् प्रत्यय, तथा युक् का आगम निपातन करके 'कुण्डपाय्य' शब्द बनाते हैं । सम् पूर्वक चिञ् धातु से ण्यत् प्रत्यय तथा वृद्धि कर लेने पर आयादेश निपातन करके 'संचाय्य' बनता है ॥

उदा०—कुण्डपाय्यः क्रतुः (कुण्ड के द्वारा सोम पिया जाता है जिस यज्ञ में) । संचाय्यः क्रतुः (जिसमें सोम का सङ्ग्रह किया जाता है ऐसा यज्ञ) ॥

अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः ॥३।१।१३१॥ ण्यत्

अग्नौ ७।१॥ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः १।३॥ स०—परिचाय्या० इत्यत्रेतरे-तर०

योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ण्यत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अग्नावभिधेये ॥ परिचाय्य उपचाय्य इत्यत्र परिपूर्वाद् उपपूर्वाच्च चिञ् धातोः ण्यत् प्रत्यय आयादेशश्च निपात्यते—परिचाय्यः, उपचाय्यः । समूह्य इत्यत्र सम्पूर्वात् वहधातोर्ण्यति सम्प्रसारणं दीर्घत्वञ्च निपात्यते—समूह्यं चिन्वीत पशुकामः ॥

भाषार्थः—[परिचा⋯⋯ह्याः] परिचाय्य उपचाय्य समूह्य ये शब्द [अग्नौ] अग्नि अभिधेय हो, तो निपातन किये जाते हैं ॥ परिपूर्वक उपपूर्वक चिञ् धातु से ण्यत् प्रत्यय, तथा आयादेश निपातन से करके परिचाय्य उपचाय्य शब्द बनते हैं ॥ सम् पूर्वक वह धातु से ण्यत् प्रत्यय, एवं सम्प्रसारण निपातन के करके 'सम् ऊह् य=समूह्य बन गया है ॥ उदा०—परिचीयतेऽस्मिन् परिचाय्यः (यज्ञ की अग्नि जहाँ स्थापित की जाती है) । उपचीयते असौ उपचाय्यः (यज्ञ में संस्कार की गई आग) । समूह्यं चिन्वीत पशुकामः (पशु की कामनाकरने वाला समूह्य=यज्ञ की अग्नि का चयन करे) ॥

यहाँ से 'अग्नौ' की अनुवृत्ति ३।१।१३२ तक जायेगी ॥

चित्याग्निचित्ये च ॥३।१।१३२॥

चित्याग्निचित्ये १।२॥ च अ० ॥ स०—चित्यश्च अग्निचित्या च चित्याग्निचित्ये, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अग्नौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—चित्यशब्द अग्निचित्याशब्दश्च निपात्येते अग्नावभिधेये ॥ 'चित्यः' इति चिञ् धातोः कर्मणि क्यप् प्रत्ययो निपात्यते । 'अग्निचित्या' इति अग्निपूर्वात् चिञ् धातोः भावे यकारप्रत्ययः गुणाभावः तुगागमश्च निपात्यते ॥ उदा०—चीयतेऽसौ चित्यः । अग्निचयनमेव अग्निचित्या ॥

भाषार्थः—[चित्याग्निचित्ये] चित्य तथा अग्निचित्या शब्द [च] भी निपातन किये जाते हैं, अग्नि अभिधेय हो तो ॥ चित्य में चिञ् धातु से कर्म में क्यप प्रत्यय निपातन है । तुक् आगम ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से हो ही जायेगा । अग्निचित्या शब्द में अग्नि शब्द उपपद रहते चिञ् धातु से भाव में यकार प्रत्यय, तुक् आगम, एवं गुणाभाव निपातन है । य प्रत्यय निपातन करने से आद्युदात्तश्च (३।१।३) से यह शब्द अन्तोदात्त है ॥ यहाँ गतिकारको० (६।२।१३९) से उत्तरपद का प्रकृति-स्वर हुआ है ॥

ण्वुल्तृचौ ॥३।१।१३३॥

ण्वुल्तृचौ १।२॥ स०—ण्वुल् च तृच्च ण्वुल्तृचौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—

धातोः, प्रत्ययः परश्च ॥ अर्थः—धातोः ण्वुल्तृचौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा० - कारकः, हारकः, पाठकः । कर्ता, हर्ता, पठिता ॥

भाषार्थः—धातुमात्र से [ण्वुल्तृचौ] ण्वुल् तथा तृच् प्रत्यय होते हैं ॥ सिद्धियाँ परिशिष्ट १।१।१, २ में देखें ॥

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ॥३।१।१३४॥

नन्दिग्रहिपचादिभ्यः ५।३॥ ल्युणिन्यचः १।३॥ स०—नन्दिश्च ग्रहिश्च पच् च नन्दिग्रहिपचः, नन्दिग्रहिपचः आदयो येषां ते नन्दिग्रहिपचादयः, तेभ्यः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । आदिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । ल्युश्च णिनिश्च अच्च ल्युणिन्यचः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—नन्द्यादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च धातुभ्यो यथासङ्ख्यं ल्यु णिनि अच् इत्येते प्रत्यया भवन्ति ॥ उदा०—नन्द्यादि—नन्दयतीति नन्दनः । वाशयतीति वाशनः । ग्रहादि—गृह्णातीति ग्राही, उत्साही, उद्वासी । पचादि—पचतीति पचः, वपतीति वपः, वदः ॥

भाषार्थः—[नन्दिग्रहिपचादिभ्यः] नन्द्यादि ग्रहादि तथा पचादि धातुओं से यथासङ्ख्य करके [ल्युणिन्यचः] ल्यु णिनि तथा अच् प्रत्यय होते हैं ॥ इस प्रकार तीनों गणों से तीन प्रत्यय यथासङ्ख्य करके, अर्थात् नन्द्यादियों से ल्यु, ग्रहादियों से णिनि, तथा पचादियों से अच् प्रत्यय होते हैं ॥ उदा०—नन्द्यादियों से —नन्दनः (प्रसन्न करनेवाला), वाशनः (शब्द करनेवाला पक्षी) । ग्रहादियों से — ग्राही (ग्रहण करनेवाला), उत्साही (उत्साह करनेवाला), उद्वासी (निकलनेवाला) । पचादियों से— पचः (पकानेवाला), वपः (बोनेवाला), वदः (बोलनेवाला) ॥ नन्दनः वाशनः में नन्दिवाशिमदि० (वा० ३।१।१३४) इस वार्त्तिक के कारण हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् लाकर ही ल्यु प्रत्यय होता है, पुनः उस णिच् का णेरनिटि (६।४।५१) से लोप हो जाता है । ग्रह से णिनि प्रत्यय करके ग्राहिन् बना । स्वाद्युत्पत्ति होकर ग्राहिन् सु बना । अब सौ च (६।४।१३) से दीर्घ, तथा हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सुलोप, एवं नलोपः प्रा० (८।२।७) से न् का लोप होकर 'ग्राही' बन गया है । अजपि सर्वधातुभ्यः (भा० वा० ३।१।१३४) इस महाभाष्य के वार्त्तिक से पचादि आकृतिगण माना जाता है ॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ॥३।१।१३५॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः ५।१॥ कः १।१॥ स०—इक् उपधा यस्य स इगुपधः, बहुव्रीहिः ।

इगुपधश्च ज्ञा च प्रीञ् च कॄ च इगुपधज्ञाप्रीकिर्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः,प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इगुपधेभ्यो, ज्ञा, प्रीञ्, कॄ(तुदादि)इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विक्षिपतीति विक्षिपः, विलिखः, बुधः । जानातीति ज्ञः । प्रियः । किरः ॥

भावार्थः—[इगुपधज्ञाप्रीकिरः] इक् प्रत्याहार उपधावाली धातुओं से, तथा ज्ञा, प्रीञ्, कॄ इन धातुओं से [कः] क प्रत्यय होता है ॥ उदा०—विक्षिपः (विघ्न डालनेवाला), विलिखः(कुरेदनेवाला), बुधः (विद्वान्) । ज्ञः (जाननेवाला)। प्रियः (प्रेम करनेवाला) । किरः (सुअर) ॥ आतो लोप०(६।४।६४) से ज्ञा के आ का लोप होकर ज्ञः बना है । प्रियः में अचि श्नु० (६।४।७७) से इयङ् होता है । किरः में ऋत इद्० (७।१।१००) से इकार हुआ है ॥

यहाँ से 'कः' की अनुवृत्ति ३।१।१३६ तक जायेगी ॥

उपसर्ग + आत् + क

आतश्चोपसर्गे ॥३।१।१३६॥

आतः ५।१॥ च अ० ॥ उपसर्गे ७।१॥ अनु०—कः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आकारान्तेभ्यो धातुभ्य उपसर्ग उपपदे कः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रतिष्ठत इति प्रस्थः, सुष्ठु ग्लायतीति सुग्लः, सुम्लः ॥

भावार्थः—[आतः] आकारान्त धातुओं से [च] भी [उपसर्गे] उपसर्ग उपपद रहते क प्रत्यय होता है ॥ उदा०—प्रस्थः(प्रस्थान करनेवाला), सुग्लः (बहुत ग्लानि करनेवाला), सुम्लः (उदास होनेवाला) ॥ सिद्धि में ग्लै म्लै धातुओं को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व हो गया है । आतो लोप इटि च (६।४।६४) से स्था ग्ला म्ला धातुओं के आकार का लोप कित प्रत्यय परे रहते हो ही जायेगा ॥

श

पाघ्राध्माधेट्दृशः शः ॥३।१।१३७॥

पाघ्राध्माधेट्दृशः ५।१॥ शः १।१॥ स०—पाश्च घ्राश्च ध्माश्च धेट् च दृश् च पाघ्रा दृश्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पा, घ्रा, ध्मा, धेट्, दृश् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः शः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उत्पिबः, विपिबः । उज्जिघ्रः, विजिघ्रः । उद्धमः, विधमः । उद्धयः, विधयः । उत्पश्यः, विपश्यः । अनुपसर्गेभ्योऽपि—जिघ्रः । धयः । पश्यः ॥

भावार्थः—[पाघ्राध्माधेट्दृशः] पा पाने, घ्रा, ध्मा, धेट्, दृशिर् इन धातुओं से(उपसर्ग उपपद हो या न हो तो भी)[शः]श प्रत्यय होता है ॥ सोपसर्ग पा, घ्रा, ध्मा, धेट् से पूर्वसूत्र से क प्रत्यय प्राप्त था । तथा अनुपसर्ग पा, घ्रा, ध्मा, धेट् से

श्याद्व्यधास्रु० (३।१।१४१) से आकारान्त मानकर ण प्रत्यय प्राप्त था। एवं बुध् धातु से इगुपध होने से इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) से क प्रत्यय प्राप्त था, उनका यह अपवाद है॥

यहाँ से 'शः' की अनुवृत्ति ३।१।१३९ तक जायेगी ॥

अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेति सातिसाहिभ्यश्च ॥३।१।१३८॥

अनुपसर्गात् ५।१॥ लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—अनुपसर्गाद् इत्यत्र बहुव्रीहिः। लिम्पविन्द० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—शः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपसर्गरहितेभ्यो लिम्प, विन्द, धारि, पारि, वेदि, उदेजि, चेति, साति, साहि इत्येतेभ्यो धातुभ्यः शः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—लिम्पतीति लिम्पः। विन्दतीति विन्दः। धारयः। पारयः। वेदयः। उदेजयः। चेतयः। सातयः। साहयः॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित [लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यः] लिप उपदेहे, विद्लृ लाभे, तथा णिच्प्रत्ययान्त धृञ् धारणे, पॄ पालनपूरणयोः, विद चेतनाख्याननिवासेषु (चुरा०), उद्पूर्वक एजृ कम्पने, चिती संज्ञाने, साति (सौत्रधातु), षह मर्षणे इन धातुओं से [च] भी श प्रत्यय होता है॥

यहाँ से 'अनुपसर्गात्' की अनुवृत्ति ३।१।१४० तक जायेगी॥

ददातिदधात्योर्विभाषा ॥३।१।१३९॥

ददातिदधात्योः ५।२॥ विभाषा १।१॥ स०—ददातिश्च दधातिश्च ददातिदधाती, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—अनुपसर्गात्, शः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अनुपसर्गाभ्यां डुदाञ् डुधाञ् इत्येताभ्यां धातुभ्यां शः प्रत्ययो विकल्पेन भवति॥ णस्यापवादः। तेन पक्षे सोऽपि भवति॥ उदा०—ददः, दायः। दधः, धायः॥

भावार्थः—अनुपसर्ग [ददातिदधात्योः] डुदाञ् और डुधाञ् धातुओं से [विभाषा] विकल्प से श प्रत्यय होता है॥ आकारान्त होने से श्याद्व्यधास्रु०(३।१।१४१) से 'ण' नित्य प्राप्त था, सो पक्ष में वह भी हो जायेगा॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ३।१।१४० तक जायेगी॥

ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः ॥३।१।१४०॥

ज्वलितिकसन्तेभ्यः ५।३॥ णः १।१॥ स०—ज्वल् इति=आदिर्येषां ते ज्वलितयः, बहुव्रीहिः। कस अन्ते येषां ते कसन्ताः, बहुव्रीहिः। ज्वलितयश्च ते कसन्ताश्चेति

ज्वलितिकसन्ताः, तेभ्यः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, अनुपसर्गात्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इतिशब्दोऽत्राद्यर्थवाची ॥ ज्वल् इति='ज्वल दीप्तौ' इत्यारभ्य कस् अन्तः='कस गतौ' इत्यन्तेभ्योऽनुपसर्गेभ्यो धातुभ्यो विकल्पेन णः प्रत्ययो भवति, पक्षे सामान्यविहितोऽच् ॥ उदा०—ज्वलतीति ज्वालः, ज्वलः । चालः, चलः ॥

भाषार्थः—[ज्वलितिकसन्तेभ्यः] 'ज्वल दीप्तौ' धातु से लेकर 'कस गतौ' पर्यन्त जितनी धातुएं हैं, उनसे [णः] ण प्रत्यय होता है ॥ यहां 'ज्वल् इति' में इति शब्द आदि अर्थ का वाचक है । सो 'ज्वलिति' से अर्थ हुआ— ज्वल जिनके आदि में है'; तथा कसन्त का अर्थ हुआ—'कस गतौ पर्यन्त' । इस प्रकार ज्वल से लेकर कस पर्यन्त धातुओं से विकल्प से ण प्रत्यय होगा । पक्ष में अच् प्रत्यय अजपि सर्वधातुभ्यः (वा० ३।१।१३४) इस वार्त्तिक से हो गया है ॥ उदा०—ज्वालः (जलनेवाला), ज्वलः । चालः (चलनेवाला), चलः ॥

यहां से 'णः' की अनुवृत्ति ३।१।१४३ तक जायेगी ॥ ण

श्याद्व्यधास्रुसंस्र्वतीणवसावहृलिहश्लिषश्वसश्च ॥३।१।१४१॥

श्याद्व्यधास्रुसंस्र्वतीणवसावहृलिहश्लिषश्वसः ५।१॥ च अ० ॥ स०—श्याश्च आच्च व्यधश्च आस्रुश्च संस्रुश्च अतीण् च अवसाश्च अवहृ च लिहश्च श्लिषश्च श्वस् च श्याद्व्य···श्वस्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—णः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—श्यैङ गतौ इत्यस्माद्, आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः, व्यध ताडने, आङ् संपूर्वक स्रु गतौ, अतिपूर्वक इण्, अवपूर्वक षोऽन्तकर्मणि, अवपूर्वक हृञ्, लिह आस्वादने, श्लिष आलिङ्गने, श्वस प्राणने इत्येतेभ्यश्च धातुभ्यो णः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अवश्यायः । प्रतिश्यायः । आकारान्तेभ्यः—दायः, धायः । व्याधः । आस्रावः । संस्रावः । अत्यायः । अवसायः । अवहारः । लेहः । श्लेषः । श्वासः ॥

भाषार्थः—[श्याद्व्य·····श्वसः] श्यैङ्, आत्=आकारान्त, व्यध्, आङ् और संपूर्वक स्रु, अतिपूर्वक इण्, अवपूर्वक षो, अवपूर्वक हृ, लिह्, श्लिष्, श्वस् इन धातुओं से [च] भी ण प्रत्यय होता है ॥ टुदु, णी + ण

दुन्योरनुपसर्गे ॥३।१।१४२॥

दुन्योः ६।२॥ अनुपसर्गे ७।१॥ स०—दुश्च, नीश्च दुन्यौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ न उपसर्गो यस्य सः अनुपसर्गः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—टुदु उपतापे, णीञ् प्रापणे इत्येताभ्यामुपसर्गरहिताभ्यां धातुभ्यां णः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दुनोतीति दावः । नयतीति नायः ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [दुन्योः] 'टुदु उपतापे' तथा 'णीञ्

प्रापणे' धातुओं से ण प्रत्यय होता है ॥ अचो ञ्णिति से वृद्धि, आयादेशादि पूर्ववत् होकर दावः (वन) तथा नायः (नेता) की सिद्धि जानें ॥

विभाषा ग्रहः ॥३।१।१४३॥ ग्रह + ण [वा]

विभाषा १।१॥ ग्रहः ५।१॥ अनु०—णः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ग्रहधातोर्विकल्पेन णः प्रत्ययो भवति ॥ पक्षे सामान्यविहितोऽच् ॥ उदा०—ग्राहः, ग्रहः ॥

भाषार्थः—[ग्रहः] ग्रह धातु से [विभाषा] विकल्प से ण प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में सामान्यविहित पचाद्यच् (३।१।१३४) होगा ॥ उदा०—ग्राहः (मकर), ग्रहः (नक्षत्र) ॥

यहाँ से 'ग्रहः' की अनुवृत्ति ३।१।१४४ तक जायेगी ॥

गेहे कः ॥३।१।१४४॥ ग्रह + क

गेहे ७।१॥ कः १।१॥ अनु०—ग्रहः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ग्रहधातोर्गेहे कर्त्तरि वाच्ये कः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—गृह्णातीति गृहम्; गृहाः दाराः ॥

भाषार्थः—ग्रह धातु से [गेहे] गेह=गृह कर्त्ता वाच्य होने पर [कः] क प्रत्यय होता है ॥ उदा०—गृहम् (घर); गृहाः दाराः (घर में स्थित स्त्रियाँ) ॥

शिल्पिनि ष्वुन् ॥३।१।१४५॥ ष्वुन्

शिल्पिनि ७।१॥ ष्वुन् १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धातोः ष्वुन् प्रत्ययो भवति शिल्पिनि कर्तरि वाच्ये ॥ उदा०—नर्तकः, खनकः, रजकः । नर्तकी, रजकी, खनकी ॥

भाषार्थः—धातु से [शिल्पिनि] शिल्प कर्त्ता अभिधेय हो, तो [ष्वुन्] ष्वुन् प्रत्यय होता है ॥ परिशिष्ट १।३।६ में नर्तकी, रजकी, खनकी की सिद्धि की है, सो उसी प्रकार पुंलिङ्ग में ङीष् न होकर नर्तकः, रजकः, खनकः बनेगा ॥

यहाँ से 'शिल्पिनि' की अनुवृत्ति ३।१।१४७ तक जायेगी ॥

गस्थकन् ॥३।१।१४६॥ गै + थकन्

गः ५।१॥ थकन् १।१॥ अनु०—शिल्पिनि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गायतेर्धातोस्थकन् प्रत्ययो भवति, शिल्पिनि कर्त्तरि वाच्ये ॥ उदा०—गाथकः, गाथिका ॥

भाषार्थः—[गः] गै धातु से [थकन्] थकन प्रत्यय होता है, शिल्पी कर्त्ता वाच्य हो तो ॥ उदा०—गाथकः (गवैया), गाथिका ॥ स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर, प्रत्ययस्थात् कात्० (७।३।४४) से इत्व होकर गाथिका बन गया है ॥

यहाँ से 'गः' की अनुवृत्ति ३।१।१४७ तक जायेगी ॥

ण्युट् च ॥३।१।१४७॥ गा + ण्युट्

ण्युट् १।१॥ च अ० ॥ **अनु०**—गः, शिल्पिनि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—शिल्पिन्यभिधेये गाधातोर्ण्युट् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—गायनः, गायनी ॥

भावार्थः—शिल्पी कर्ता वाच्य हो, तो [च] गा धातु से [ण्युट्] ण्युट् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ चकार से गा धातु का अनुकर्षण है ॥ ण्युट् के टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होकर गायनी (गानेवाली) बना है ॥

यहाँ से 'ण्युट्' की अनुवृत्ति ३।१।१४८ तक जायेगी ॥

हा + ण्युट् **हश्च व्रीहिकालयोः ॥३।१।१४८॥**

हः ५।१॥ च अ० ॥ व्रीहिकालयोः ७।२॥ स०—व्रीहिश्च कालश्च व्रीहिकालौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—ण्युट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—व्रीहिकालयोरभिधेययोः 'हः' धातोर्ण्युट् प्रत्ययो भवति ॥ 'हा' इत्यनेन सामान्यग्रहणात् 'ओहाङ् गतौ, ओहाक् त्यागे' इति द्वयोरपि ग्रहणं भवति ॥ **उदा०**—हायना । हायनः ॥

भावार्थः—[व्रीहिकालयोः] व्रीहि और काल अभिधेय हों, तो [हः] 'हा' धातु से [च] ण्युट् प्रत्यय होता है ॥ हा से ओहाक् तथा ओहाङ् दोनों धातुओं का ग्रहण है, क्योंकि अनुबन्ध हटा देने पर दोनों का 'हा' रूप रह जाता है ॥ चकार से यहाँ ण्युट् का अनुकर्षण है ॥ उदा०—हायना (हायना नाम की व्रीहि=धान्यविशेष) । हायनः (संवत्सर=वर्ष) ॥

प्र, सृ, लू + वुन् **प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् ॥३।१।१४९॥**

प्रुसृल्वः १।३, अत्र पञ्चम्याः स्थाने जस् ॥ समभिहारे ७।१॥ वुन् १।१॥ स०—प्रुश्च सृ च लू च प्रुसृल्वः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ इह सम्यग्विचारेण क्रियाकरणं समभिहारशब्देन गृह्यते ॥ **अर्थः**—प्रु, सृ, लू इत्येतेभ्यो धातुभ्यो वुन् प्रत्ययो भवति समभिहारे गम्यमाने ॥ **उदा०**—प्रवतीति=प्रवकः । सरतीति=सरकः । लुनातीति=लवकः ॥

भावार्थः—[प्रुसृल्वः] प्रु, सृ, लू इन धातुओं से [समभिहारे] समभिहार गम्यमान होने पर [वुन्] वुन् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ समभिहार शब्द से ठीक-ठीक कार्य करना अर्थ लिया गया है, न कि क्रिया का बार-बार करना । सो जो अच्छी प्रकार क्रिया न करे, वहाँ प्रत्यय नहीं होगा ॥ उदा०—प्रवकः (अच्छे प्रकार चलनेवाला) । सरकः (अच्छी प्रकार सरकनेवाला) । लवकः (अच्छी प्रकार काटनेवाला) ॥

यहाँ से 'वुन्' की अनुवृत्ति ३।१।१५० तक जायेगी ॥

आशिषि च ॥३।१।१५०॥

आशिषि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—वुन्, धातोः,प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आशिषि गम्यमाने धातुमात्राद् वुन् प्रत्ययो भवति ॥ चकाराद् वुन्ननुकृष्यते ॥ उदा०—जीवतात् =जीवकः । नन्दतात् =नन्दकः ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वाद अर्थ गम्यमान हो, तो धातुमात्र से [च] वुन् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ चकार से वुन् का अनुकर्षण है ॥ उदा०—जीवकः (जो चिरकाल तक जीवे) । नन्दकः (जो प्रसन्न होवे) ॥ सिद्धियाँ ण्वुल् की सिद्धियों (देखो—परिशिष्ट १।१।१) के समान हैं ॥

॥ इति प्रथमः पादः ॥

—:०:—

द्वितीयः पादः

अण्

कर्मण्यण् ॥३।२।१॥

कर्मणि ७।१॥ अण् १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कुम्भं करोतीति=कुम्भकारः, नगरकारः । काण्डं लुनातीति=काण्डलावः, शरलावः । वेदमधीते=वेदाध्यायः । चर्चां पठतीति=चर्चापाठः ॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म उपपद रहते धातुमात्र से [अण्] अण् प्रत्यय होता है ॥ उदाहरण में कुम्भ आदि कर्म उपपद हैं, सो 'कृ' इत्यादि धातुओं से अण् प्रत्यय हो गया है ॥ उदा०—कुम्भकारः, नगरकारः । काण्डलावः (शाखा को काटनेवाला), शरलावः । वेदाध्यायः (वेद को पढ़नेवाला)। चर्चापाठः । (पदच्छेद विभक्ति पढ़नेवाला) ॥ परिशिष्ट १।१।३८ के स्वादुङ्कारम् के समान ही सब सिद्धियाँ हैं ॥ यहाँ उपपदमतिङ् (२।२।१९) से समास होता है, यही विशेष है । वेदान् कर्म उपपद रहते अधिपूर्वक इङ् धातु से अण् होकर, वृद्धि आयादेश यणादेश होकर वेदाध्यायः बन गया है ॥

यहाँ से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति ३।२।५८ तक, तथा 'अण्' की अनुवृत्ति ३।२।२ तक जायेगी ॥

अण्

ह्वावामश्च ॥३।२।२॥

ह्वावाम: ५।१॥ च अ० ॥ स०—ह्वाश्च वाश्च माश्च ह्वावामा:, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्व: ॥ अनु०—कर्मण्यण्, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दे च, वेञ् तन्तुसन्ताने, माङ् माने इत्येतेभ्यश्च धातुभ्य: कर्मण्युपपदे अण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पुत्रं ह्वयति=पुत्रह्वाय: । तन्तुवाय: । धान्यमाय: ॥

भाषार्थ:—[ह्वावाम:] ह्वेञ्, वेञ्, माङ् इन धातुओं से [च] भी कर्म उपपद रहते अण् प्रत्यय होता है ॥ ह्वेञ् वेञ् इन धातुओं को आत्व करके सूत्र में निर्देश किया है ॥ उदा०—पुत्रह्वाय: (पुत्र को बुलानेवाला) । तन्तुवाय:(जुलाहा) । धान्यमाय: (धान मापनेवाला) ॥ आतोऽनुपसर्गे क:(३।२।३)से क प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह अपवाद है । आतो युक्चिण्कृतो:(७।३।३३)से पुत्रह्वाय: आदि में युक् का आगम हुआ है ॥

क

आतोऽनुपसर्गे क: ॥३।२।३॥

आत: ५।१॥ अनुपसर्गे ७।१॥ क: १।१॥ स०—अनुपसर्गे इत्यत्र बहुव्रीहि: ॥ अनु०—कर्मणि, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—अनुपसर्गेभ्य आकारान्तेभ्यो धातुभ्य: कर्मण्युपपदे क: प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—गां ददातीति=गोद:, कम्बलद: ।पार्ष्णि त्रायते=पार्ष्णित्रम्, अङ्गुलित्रम् ॥

भाषार्थ:—[अनुपसर्गे] अनुपसर्ग [आत:] आकारान्त धातुओं से कर्म उपपद रहते [क:] क प्रत्यय होता है ॥ उदा०—गोद: (गौ देनेवाला), कम्बलद: (कम्बल देनेवाला) । पार्ष्णित्रम् (मोजा), अङ्गुलित्रम् (दस्ताना) ॥ दा के आकार का लोप आतो लोप इटि च (६।४।६४) से हो गया है । सर्वत्र कुम्भकार: के समान ही सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'क:' की अनुवृत्ति ३।२।७ तक जायेगी ॥

क

सुपि स्थ: ॥३।२।४॥

सुपि ७।१॥ स्थ: ५।१॥ अनु०—क:, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—सुबन्त उपपदे स्थाधातो: क: प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—समे तिष्ठतीति समस्थ:, विषमस्थ: ॥

भाषार्थ:—[सुपि]सुबन्त उपपद रहते[स्थ:]स्था धातु से क प्रत्यय होता है ॥ उदा०—समस्थ: (सम में ठहरनेवाला), विषमस्थ: (विषम में ठहरनेवाला) ॥ उदाहरण में आतो लोप इटि च (६।४।६४) से स्था के आकार का लोप हो जायेगा ॥

विशेष:—यहाँ से आगे 'सुपि' तथा 'कर्मणि' दोनों पदों की अनुवृत्ति चलती है।

सो जिन सूत्रों में सकर्मक धातुओं का सम्बन्ध होगा, वहां कर्मणि की अनुवृत्ति लगानी होगी। तथा जहां अकर्मक धातुओं का सम्बन्ध होगा, वहां 'सुपि' की अनुवृत्ति लगानी होगी। ऐसा सर्वत्र समझें, जैसा कि सूत्रों में सर्वत्र दिखाया भी है ॥

यहां से 'सुपि' की अनुवृत्ति ३।२।८३ तक जायेगी ॥

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ॥३।२।५॥

तुन्दशोकयोः ७।२॥ परिमृजापनुदोः ६।२॥ स०—उभयत्रापि इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तुन्द शोक इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः यथासङ्ख्यं परिपूर्वात् 'मृज' धातोः, अपपूर्वाच्च 'नुद' धातोः कः प्रत्ययो भवति ॥ उदा० तुन्दं परिमार्ष्टि=तुन्दपरिमृज आस्ते। शोकम् अपनुदति =शोकापनुदः पुत्रो जातः ॥

भावार्थः—[तुन्दशोकयोः] तुन्द तथा शोक कर्म उपपद रहते यथासङ्ख्य करके [परिमृजापनुदोः] परिपूर्वक मृज तथा अपपूर्वक नुद धातु से क प्रत्यय होता है॥ उदा०—तुन्दपरिमृज आस्ते (आलसी बैठता है)। शोकापनुदः पुत्रो जातः (शोक दूर करनेवाला पुत्र उत्पन्न हुआ) ॥

प्रे दाज्ञः ॥३।२।६॥

प्रे ७।१॥ दाज्ञः ५।१॥ स०—दाश्च ज्ञाश्च दाज्ञाः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—कः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रपूर्वाभ्यां ददाति जानाति इत्येताभ्यां धातुभ्यां कर्मण्युपपदे कः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विद्यां प्रददाति= विद्याप्रदः। शास्त्राणि प्रकर्षेण जानातीति=शास्त्रप्रज्ञः, पथिप्रज्ञः ॥

भावार्थः—[प्रे] प्रपूर्वक [दाज्ञः] दा तथा ज्ञा धातु से कर्म उपपद रहते क प्रत्यय होता है॥ उदा०—विद्याप्रदः (विद्या को देनेवाला)। शास्त्रप्रज्ञः (शास्त्रों को जाननेवाला), पथिप्रज्ञः (मार्ग को जाननेवाला)॥ पूर्ववत् उदाहरणों में दा तथा ज्ञा के आकार का लोप हो जायेगा ॥

समि ख्यः ॥३।२।७॥

समि ७।१॥ ख्यः ५।१॥ अनु०—कः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् ख्यात् धातोः कर्मण्युपपदे कः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—गां सञ्चष्टे= गोसंख्यः, अविसंख्यः ॥

भाषार्थः—कर्म उपपद रहते [समि] सम्पूर्वक [ख्यः] ख्याञ् धातु से क प्रत्यय होता है ॥ उदा०—गोसंख्यः (गौओं को गिननेवाला), अविसंख्यः (भेड़ों को गिननेवाला) ॥ सिद्धि में आकार का लोप पूर्ववत् ही होगा ॥

टक्

गापोष्टक् ॥३।२।८॥

गापोः ६।२॥ टक् १।१॥ स०—गाश्च पाश्च गापौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्मण्युपपदे गा पा इत्येताभ्यां धातुभ्यां टक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शक्रं गायति=शक्रगः; साम गायति=सामगः । शक्रगी, सामगी । सुरां पिबति=सुरापः, शीधुपः । सुरापी, शीधुपी ॥

भाषार्थः—कर्म उपपद रहते [गापोः] गा तथा पा धातुओं से [टक्] टक् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—शक्रगः (इन्द्र अर्थात् ईश्वर का गान करनेवाला); सामगः (साम को गानेवाला) । शक्रगी, सामगी । सुरापः (सुरा को पीनेवाला); शीधुपः (ईख का रस पीनेवाला) । सुरापी, शीधुपी ॥ टक् प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् हो जायेगा ॥

अच्

हरतेरनुद्यमनेऽच् ॥३।२।९॥

हरतेः ५।१॥ अनुद्यमने ७।१॥ अच् १।१॥ स०—अनुद्यमन इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अनुद्यमनं=पुरुषार्थेन कार्याऽसम्पादनम् ॥ अर्थः—हरतेर्धातोः अनुद्यमनेऽर्थे वर्त्तमानात् कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भागं हरति=भागहरः, रिक्थहरः, अंशहरः ॥

भाषार्थः—[अनुद्यमाने] अनुद्यमन अर्थ में वर्त्तमान [हरतेः] हृञ् धातु से कर्म उपपद रहते [अच्] अच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—भागहरः (अपने हिस्से को ले जानेवाला), रिक्थहरः (धन को ले जानेवाला), अंशहरः (अपना हिस्सा ले जानेवाला) ॥

यहां से 'हरतेः' की अनुवृत्ति ३।२।११ तक, तथा 'अच्' की अनुवृत्ति ३।२।१५ तक जायेगी ॥

अच्

वयसि च ॥३।२।१०॥

वयसि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—हरतेः, अच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—हरतेर्धातोः कर्मण्युपपदे वयसि गम्यमाने अच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अस्थिहरः[1] श्वा, कवचहरः[2] क्षत्रियकुमारः ॥

---

१. कुत्ते के हड्डी ले जाने से उसकी अवस्था की प्रतीति हो रही है, अर्थात् वह मांस खानेयोग्य हो गया है ॥

२. यहां भी क्षत्रिय के कवच धारण करने से उसकी अवस्था की प्रतीति हो रही है, अर्थात् वह कवच धारण करने योग्य हो गया है ॥

भाषार्थः—[वयसि] वयस्=अवस्था=आयु गम्यमान हो, तो [च] भी कर्म उपपद रहते हृञ् धातु से अच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अस्थिहरः श्वा (हड्डी ले जानेवाला कुत्ता), कवचहरः क्षत्रियकुमारः (कवच धारण करनेवाला क्षत्रियकुमार) ॥

आङि ताच्छील्ये ॥३।२।११॥

आङि ७।१॥ ताच्छील्ये ७।१॥ अनु०—हरतेः, अच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ तच्छीलस्य भावः ताच्छील्यम्=तत्स्वभावता ॥ अर्थः—ताच्छील्ये गम्यमान आङ्पूर्वाद् हृञ्धातोः कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—फलानि आहरति=फलाहरः, पुष्पाहरः ॥

भाषार्थः—[आङि] आङ् पूर्वक हृञ् धातु से कर्म उपपद रहते [ताच्छील्ये] ताच्छील्य=तत्स्वभावता (ऐसा उसका स्वभाव ही है) गम्यमान हो, तो अच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—फलाहरः (फलों को लानेवाला), पुष्पाहरः (पुष्पों को लानेवाला) ॥

अर्हः ॥३।२।१२॥

अर्हः ५।१॥ अनु०—अच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'अर्ह पूजायाम्' अस्माद् धातोः कर्मण्युपपदेऽच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पूजाम् अर्हति=पूजार्हा, गन्धार्हा, मालार्हा, आदरार्हा ॥

भाषार्थः—[अर्हः] 'अर्ह पूजायाम्' धातु से कर्म उपपद रहते 'अच्' प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पूजार्हा (पूजा के योग्य), गन्धार्हा (सुगन्धित द्रव्य प्रयोग करने योग्य), मालार्हा (माला डालने योग्य), आदरार्हा (आदर के योग्य) ॥ स्त्रीलिङ्ग में सर्वत्र 'टाप्' प्रत्यय हो गया है। अण् प्रत्यय होता, तो टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होता, अच् प्रत्यय का यही फल है ॥

स्तम्बकर्णयोः रमिजपोः ॥३।२।१३॥

स्तम्बकर्णयोः ७।२॥ रमिजपोः ६।२॥ स०—उभयत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अच्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्तम्ब कर्ण इत्येतयोः सुबन्तयोरुपपदयोः यथासङ्ख्यं रम जप इत्येताभ्यां धातुभ्यामच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्तम्बे रमते=स्तम्बेरमः।[1] कर्णे जपति=कर्णेजपः ॥

---

१. स्तम्ब घास को कहते हैं। जो घास में घूमने से सुख माने, वह 'स्तम्बेरमः' है। हाथी विशेषतया घूमने पर ही सुखी रहता है, सो हाथी को ही स्तम्बेरमः रूढ़ि रूप से कहते हैं ॥

भाषार्थः—[स्तम्बकर्णयोः] स्तम्ब और कर्ण सुबन्त उपपद रहते [रमिजपोः] रम तथा जप धातुओं से अच् प्रत्यय होता है ।। उदा०—स्तम्बेरमः (हाथी) । कर्णेजपः (जो कान में कुछ कहता रहे, अर्थात् 'चुगलखोर') ।। उदाहरणों में हलदन्तात्सप्तम्याः (६।३।७) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् हो गया है ।। इस सूत्र में रम धातु अकर्मक है, तथा जप धातु शब्दकर्मक है । अतः कर्ण जप धातु का कर्म नहीं बन सकता । सो 'सुपि' का सम्बन्ध लगाया है ।।

शमि धातोः संज्ञायाम् ।।३।२।१४।।

शमि ७।१।। धातोः ५।१।। संज्ञायाम् ७।१।। अत्र शम् इत्यव्ययम्, तस्मात् प्रातिपदिकानुकरणत्वाद् विभक्तेरुत्पत्तिः । एवम् सर्वत्राव्ययस्थले बोध्यम् ।। अनु०—अच्, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—शम्यव्यय उपपदे धातुमात्रात् संज्ञायाम् विषयेऽच् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—शम् करोति=शङ्करः, शंभवः, शंवदः ।।

भाषार्थः—[शमि] शम् अव्यय के उपपद रहते [धातोः] धातुमात्र से [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में अच् प्रत्यय होता है ।। उदा०—शङ्करः (कल्याण करनेवाला), शंभवः (कल्याणवाला), शंवदः (कल्याण की बातें करनेवाला) ।। इस सूत्र में शम् अव्यय है, सो यहां प्रातिपदिक-अनुकरण में सप्तमी विभक्ति हुई है ।।

अधिकरणे शेतेः ।।३।२।१५।।

अधिकरणे ७।१।। शेतेः ५।१।। अनु०—अच्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—अधिकरणे सुबन्त उपपदे शीङ्धातोः अच् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—खे शेते =खशयः, गर्त्ते शेते=गर्त्तशयः ।।

भाषार्थः—[अधिकरणे] अधिकरण सुबन्त उपपद रहते [शेतेः] शीङ् धातु से अच् प्रत्यय होता है ।। उदा०—खशयः (आकाश में सोनेवाला=पक्षी), गर्त्तशयः (गड्ढे में सोनेवाला) ।।

यहां से 'अधिकरणे' की अनुवृत्ति ३।२।१६ तक जायेगी ।।

चरेष्टः ।।३।२।१६।।

चरेः ५।१।। टः १।१।। अनु०—अधिकरणे, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—चरधातोरधिकरणे सुबन्त उपपदे टः प्रत्ययो भवति ।। उदा०—कुरुषु चरति =कुरुचरः, मद्रचरः । कुरुचरी, मद्रचरी ।।

भाषार्थः—अधिकरण सुबन्त उपपद रहते [चरेः] चर धातु से [टः] 'ट' प्रत्यय होता है ।। उदा०—कुरुचरः (कुरु देश में भ्रमण करनेवाला), मद्रचरः (मद्र देश

में घूमनेवाला) । कुरुचरी, मद्रचरी ॥ 'ट' के टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होकर कुरुचरी आदि भी बनेगा ॥

यहाँ से 'ट:' की अनुवृत्ति ३।२।२३, तथा 'चरे:' की ३।२।१७ तक जायेगी ॥

भिक्षासेनादायेषु च ॥३।२।१७॥

भिक्षासेनादायेषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—भिक्षा च सेना च आदाय च भिक्षासेनादाया:, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—चरेष्ट:, सुपि, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—भिक्षा सेना आदाय इत्येतेषु शब्देषूपपदेषु चरधातो: ट: प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भिक्षया चरति=भिक्षाचर: । सेनया चरति=सेनाचर: । आदाय चरति=आदायचर: ॥

भाषार्थ:—[भिक्षासेनादायेषु] भिक्षा, सेना, आदाय शब्द उपपद रहते [च] भी चर धातु से ट प्रत्यय होता है ॥ ऊपर सूत्र में अधिकरण सुबन्त उपपद रहते ट प्रत्यय किया था । यहाँ सामान्य कोई सुबन्त उपपद रहते कह दिया है ॥ उदा०—भिक्षाचर: (भिक्षा के हेतु से घूमता है) । सेनाचर: (सेना के हेतु से घूमता है) । आदायचर: (लेकर घूमता है) ॥ सिद्धियाँ तो सर्वत्र कुम्भकार: के समान ही समझते जायें । केवल अनुबन्ध-विशेष देखकर वृद्धि गुण की प्राप्ति पर ही ध्यान देना है ॥

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः ॥३।२।१८॥

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु ७।३॥ सर्त्तेः ५।१॥ स०—पुरश्च अग्रतश्च अग्रे च पुरोऽग्रतोऽग्रया:, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—ट:, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—पुरस्, अग्रतस्, अग्रे इत्येतेषूपपदेषु सृधातो: ट: प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पुर: सरति=पुरस्सर: । अग्रत: सरति=अग्रतस्सर: । अग्रेसर: ॥

भाषार्थ:—[पुरोऽग्रतोऽग्रेषु] पुरस्, अग्रतस्, अग्रे ये अव्यय उपपद रहते [सर्त्तेः] सृ धातु से ट प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पुरस्सर: (आगे चलनेवाला) । अग्रतस्सर: (आगे चलनेवाला) । अग्रेसर: (आगे जानेवाला) ॥

यहाँ से 'सर्त्तेः' की अनुवृत्ति ३।२।१९ तक जायेगी ॥

पूर्वे कर्त्तरि ॥३।२।१९॥

पूर्वे ७।१॥ कर्त्तरि ७।१॥ अनु०—सर्त्तेः, ट:, सुपि, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—कर्तृवाचिनि पूर्वसुबन्त उपपदे सृधातो: ट: प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पूर्व: सरति=पूर्वसर: ॥

भाषार्थः—[कर्त्तरि] कर्त्तावाची [पूर्वे] पूर्व सुबन्त उपपद हो, तो सृ धातु से ट प्रत्यय होता है ॥ पूर्व शब्द प्रथमान्त कर्त्तावाची है ॥ उदा०—पूर्वसरः (पहला सरकनेवाला) ॥

कृञ्+ट

कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ॥३।२।२०॥

कृञः ५।१॥ हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ७।३॥ स०—हेतुश्च ताच्छील्यञ्च आनुलोम्यञ्च हेतुताच्छील्यानुलोम्यानि, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—टः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—हेतुः=कारणम्, ताच्छील्यम्=तत्स्वभावता, आनुलोम्यम्=अनुकूलता इत्येतेषु गम्यमानेषु कर्मण्युपपदे कृञ्धातोः 'टः' प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—हेतौ—शोककरी अविद्या, यशस्करी विद्या । ताच्छील्ये—धर्मं करोति =धर्मकरः, अर्थकरः । आनुलोम्ये—वचनं करोति=वचनकरः पुत्रः, आज्ञाकरः शिष्यः, प्रैषकरः ॥

भाषार्थः—कर्म उपपद रहते [कृञः] कृञ् धातु से [हेतु……षु] हेतु ताच्छील्य आनुलोम्य गम्यमान हो, तो ट प्रत्यय होता है ॥ टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् हो जाता है ॥ उदा०—हेतु में शोककरी अविद्या (शोक करनेवाली अविद्या), यशस्करी विद्या (यश देनेवाली विद्या) । ताच्छील्य में—धर्मकरः (धर्म करने के स्वभाववाला), अर्थकरः (धन कमाने के स्वभाववाला) । आनुलोम्य में—वचनकरः पुत्रः (वचन के अनुकूल कार्य करनेवाला पुत्र), आज्ञाकरः शिष्यः (आज्ञाकारी शिष्य) । प्रैषकरः (प्रेरणा के अनुकूल करनेवाला सेवक) ॥

यहाँ से 'कृञ्' की अनुवृत्ति ३।२।२४ तक जायेगी ॥

कृञ्+ट

दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारान्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलिभक्तिकर्त्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु ॥३।२।२१॥

दिवाविभा……धनुररुष्षु ७।३॥ स०—दिवाविभा० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, सुपि इति च द्वयमभिसम्बध्यतेऽत्र यथायथम्, कृञः, टः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—दिवा, विभा, निशा, प्रभा, भास्, कार, अन्त, अनन्त, आदि, बहु, नान्दी, किम्, लिपि, लिबि, बलि, भक्ति, कर्त्तृ, चित्र, क्षेत्र, संख्या, जङ्घा, बाहु, अहन्, यत्, तत्, धनुस्, अरुस् इत्येतेषु सुबन्तेषु अथवा कर्मसूपपदेषु कृञ्धातोः टः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दिवा करोति=दिवाकरः । विभां करोति=विभाकरः । निशां करोति=निशाकरः । प्रभां करोति=प्रभाकरः । भामं करोति=भास्करः । कारकरः । अन्तकरः । अनन्तकरः । आदिकरः । बहुकरः । नान्दीकरः ।

किङ्करः। लिपिकरः। लिबिकरः। बलिकरः। भक्तिकरः। कर्त्तृकरः। चित्रकरः। क्षेत्रकरः। सङ्ख्या—एककरः, द्विकरः, त्रिकरः। जङ्घाकरः। बाहुकरः। अहस्करः। यत्करः। तत्करः। धनुष्करः। अरुष्करः॥

भाषार्थः—[दिवावि······रुष्षु] दिवा, विभा, निशा इत्यादि सुबन्त अथवा कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से ट प्रत्यय होता है॥ उदा०—दिवाकरः (सूर्य)। विभाकरः (सूर्य)। निशाकरः (चन्द्रमा)। प्रभाकरः (सूर्य)। भास्करः (सूर्य)। कारकरः (काम करनेवाला)। अन्तकरः (समाप्त करनेवाला)। अनन्तकरः (अनन्त कार्य करनेवाला)। आदिकरः (आरम्भ करनेवाला)। बहुकरः (बहुत करनेवाला)। नान्दीकरः (मङ्गलाचरण करनेवाला)। किङ्करः (नौकर)। लिपिकरः (प्रतिलिपि करनेवाला)। लिबिकरः (प्रतिलिपि करनेवाला)। बलिकरः (बलि देनेवाला)। भक्तिकरः (भक्ति करनेवाला)। कर्त्तृकरः (कर्त्ता को बनानेवाला)। चित्रकरः (चित्र बनानेवाला)। क्षेत्रकरः (किसान)। सङ्ख्याची—एककरः (एक बनानेवाला), द्विकरः, त्रिकरः। जङ्घाकरः (दौड़नेवाला)। बाहुकरः (पुरुषार्थी)। अहस्करः (सूर्य)। यत्करः (जिसको करनेवाला)। तत्करः (उसको करनेवाला)। धनुष्करः (धनुर्धारी, अथवा धनुष बनानेवाला)। अरुष्करः (घाव बनानेवाला)॥ अहस्करः में अहन् के नकार को रेफ रोऽसुपि (८।२।६९) से होकर, उस रेफ को खरवसानयोर्वि० (८।३।१५) से विसर्जनीय हो गया है। पुनः उस विसर्जनीय को अतः कृकमि० (८।३।४६) से सत्व होकर अहस्करः बना है। अरुष्करः में अरुस् के स् को षत्व नित्यं समासेऽनु० (८।३।४५) से होता है। शेष पूर्ववत् ही है॥

कर्म + कृ + ट

कर्मणि भृतौ ॥३।२।२२॥

कर्मणि ७।१॥ भृतौ ७।१॥ अनु०—कृञः, टः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—कर्मवाचिनि कर्मशब्द उपपदे कृञ्धातोः टप्रत्ययो भवति भृतौ गम्यमानायाम्॥ उदा०—कर्म करोतीति=कर्मकरः॥

भाषार्थः—कर्मवाची [कर्मणि] कर्म शब्द उपपद रहते कृञ् धातु से ट प्रत्यय होता है, [भृतौ] भृति (=वेतन) गम्यमान हो तो॥ सूत्र में 'कर्मणि' शब्द का स्वरूप से ग्रहण है॥ उदा०—कर्मकरः (नौकर)॥

ट प्रतिषेध, अण्

न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु ॥३।२।२३॥

न अ० ॥ शब्दश्लोक······पदेषु ७।३॥ स०—शब्दश्लोक० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—कृञः, टः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—शब्द, श्लोक, कलह, गाथा, वैर, चाटु, सूत्र, मन्त्र, पद इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु कृञ् धातोष्टः प्रत्ययो

न भवति ॥ कृञो हेतु० (३।२।२०) इति टप्रत्ययः प्राप्तः प्रतिषिध्यते । तत औत्सर्गिकोऽण् (३।२।१) भवति ॥ उदा०—शब्दं करोति=शब्दकारः । श्लोकं करोति=श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ॥

भाषार्थः—[शब्द .... पदेषु] शब्द श्लोक आदि कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से ट प्रत्यय [न] नहीं होता है ॥ हेत्वादि अर्थों में 'ट' प्रत्यय प्राप्त था प्रतिषेध कर दिया । उसके प्रतिषेध हो जाने पर कर्मण्यण् से औत्सर्गिक 'अण्' हो जाता है ॥ उदा०—शब्दकारः (शब्द बनानेवाला =वैयाकरण)। श्लोककारः (श्लोक बनानेवाला)। कलहकारः (झगड़ालू) । गाथाकारः (आख्यायिका बनानेवाला) । वैरकारः (शत्रु)। चाटुकरः (चापलूस) । सूत्रकारः (सूत्र बनानेवाला) । मन्त्रकारः (मन्त्रद्रष्टा) । पदकारः (पदविभाग करनेवाला) ॥

स्तम्बशकृतोरिन् ॥३।२।२४॥

स्तम्बशकृतोः ७।२॥ इन् १।१॥ स०—स्तम्बश्च शकृत् च स्तम्बशकृतौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कृञः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्तम्ब शकृत् इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः कृञ् धातोरिन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्तम्बकरिः। शकृत्करिः ॥

भाषार्थः—[स्तम्बशकृतोः] स्तम्ब तथा शकृत् कर्म उपपद हों, तो कृञ् धातु से [इन्] इन् प्रत्यय होता है ॥ व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम् (वा० ३।२।२४) इस वार्तिक से व्रीहि और वत्स कहना हो तभी यथाक्रम से इन् प्रत्यय होगा ॥ उदा०—स्तम्बकरिः (धानविशेष) । शकृत्करिः (बछड़ा) ॥

यहाँ से 'इन्' की अनुवृत्ति ३।२।२७ तक जायेगी ॥

हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ ॥३।२।२५॥

हरतेः ५।१॥ दृतिनाथयोः ७।२॥ पशौ ७।१॥ अनु० इन्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ स०—दृति० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—दृति नाथ इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोर्हृञ् धातोः पशौ कर्त्तरि इन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दृतिं हरति=दृतिहरिः पशुः । नाथहरिः पशुः ॥

भाषार्थः—[दृतिनाथयोः] दृति तथा नाथ कर्म उपपद रहते [हरतेः] हृञ् धातु से [पशौ] पशु कर्त्ता होने पर इन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—दृतिहरिः पशुः (मशक ले जानेवाला पशु) । नाथहरिः पशुः (स्वामी को ले जानेवाला पशु) ॥

फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ॥३।२।२६॥

फलेग्रहि: १।१॥ आत्मम्भरि: १।१॥ च अ० ॥ अनु०—इन्, कर्मणि, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—फलेग्रहि: आत्मम्भरि: इत्येतौ शब्दौ इन्प्रत्ययान्तौ निपात्येते ॥ फलशब्दस्योपपदस्यैकारान्तत्वं ग्रहधातोरिन् प्रत्ययो निपात्यते । फलानि गृह्णाति=फलेग्रहिर्वृक्ष: । आत्मन्शब्दस्योपपदस्य मुमागमो डुभृञ् धातोरिन् प्रत्ययश्च निपात्यते । आत्मानं बिभर्ति=आत्मम्भरि: ॥

भाषार्थ:—[फलेग्रहि:] फलेग्रहि [च] और [आत्मम्भरि:] आत्मम्भरि शब्द इन् प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं ॥ 'फलेग्रहि:' में फल शब्द उपपद रहते फल को एकारान्तत्व,तथा ग्रह धातु से इन् प्रत्यय निपातन है । 'आत्मम्भरि:'में आत्मन् शब्द उपपद रहते आत्मन् शब्द को मुम् आगम, तथा डुभृञ् धातु से इन् प्रत्यय निपातन किया गया है ॥ उदा०—फलेग्रहिर्वृक्ष: (फलों को ग्रहण करनेवाला=वृक्ष) । आत्मम्भरि: (जो अपना भरण-पोषण करता है) ॥

छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् ॥३।२।२७॥

छन्दसि ७।१॥ वनसनरक्षिमथाम् ६।३॥ स०—वनसन० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—इन्, कर्मणि, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—वन षण सम्भक्तौ, रक्ष पालने, मथे विलोडने इत्येतेभ्यो धातुभ्य: कर्मण्युपपदे छन्दसि विषये इन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनिम् (यजु० १।१७)। गोसनि:(यजु० ८।१२) । यौ पथिरक्षी श्वानौ (अथर्व० ८।१।९) । हविर्मथीनाम् (ऋक्० ७।१०४।२१) ॥

भाषार्थ:—[छन्दसि] वेदविषय में [वनसनरक्षिमथाम्] वन, षण, रक्ष, मथ इन धातुओं से कर्म उपपद रहते इन् प्रत्यय होता है ॥ धात्वादे: ष: स: (६।१। ६२) से 'षण' धातु के 'ष' को 'स' हो गया है । अब अट्कुप्वा० (८।४।२) से जो ष के योग से णत्व हुआ था, वह भी ष के स हो जाने से हट गया,तो सन् धातु बन गई । शेष सिद्धि में भी कुछ भी विशेष नहीं है ॥

एजे: खश् ॥३।२।२८॥

एजे: ५।१॥ खश् १।१॥ अनु०—कर्मणि, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—'एजृ कम्पने' इत्येतस्माद् ण्यन्ताद् धातो: कर्मण्युपपदे खश् प्रत्ययो भवति । उदा०—अङ्गमेजयति=अङ्गमेजय:, जनान् एजयति=जनमेजय:, वृक्षमेजय: ॥

भावार्थः—[एजेः] 'एजृ कम्पने' ण्यन्त धातु से कर्म उपपद रहते [खश्] खश् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'खश्' की अनुवृत्ति ३।२।३७ तक जायेगी ॥

ध्मा धेट् + खश्

नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः ॥३।२।२९॥

नासिकास्तनयोः ७।२॥ ध्माधेटोः ६।२॥ स०—उभयत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—नासिका स्तन इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः ध्मा धेट् इत्येतयोर् धात्वोः खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—नासिकन्धमः । नासिकन्धयः । स्तनन्धयः ॥

भावार्थः—[नासिकास्तनयोः] नासिका तथा स्तन कर्म उपपद रहते [ध्माधेटोः] ध्मा तथा धेट् धातुओं से खश् प्रत्यय होता है ॥ यथासङ्ख्य यहाँ इष्ट नहीं है । अतः नासिका उपपद रहते ध्मा तथा धेट् दोनों धातुओं से प्रत्यय होगा । पर स्तन उपपद रहते केवल धेट् से ही होता है ॥

यहाँ से 'ध्माधेटोः' की अनुवृत्ति ३।२।३० तक जायेगी ॥

खश्

नाडीमुष्टयोश्च ॥३।२।३०॥

नाडीमुष्टयोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—नाडी च मुष्टिश्च नाडीमुष्टयौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ध्माधेटोः, खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ध्मा धेट् इत्येताभ्यां धातुभ्यां नाडीमुष्टयोः कर्मणोरुपपदयोः खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—नाडिन्धमः । नाडिन्धयः । मुष्टिन्धमः । मुष्टिन्धयः ॥

भावार्थः—[नाडीमुष्टयोः] नाडी और मुष्टि कर्म उपपद रहते [च] भी ध्मा तथा धेट् धातुओं खश् से प्रत्यय होता है ॥ यथासङ्ख्य यहाँ भी इष्ट नहीं है ॥ उदा०—नाडिन्धमः (नाडी को बजानेवाला) । नाडिन्धयः (नाडी को पीनेवाला) । मुष्टिन्धमः (मुट्ठी को बजानेवाला) । मुष्टिन्धयः (मुट्ठी को पीनेवाला)॥ अरुर्द्वि० (६।३।६६) से मुम् का आगम, तथा ध्मा को धम आदेश सिद्धि में समझें ॥

खश्

उदि कूले रुजिवहोः ॥३।२।३१॥

उदि ७।१॥ कूले ७।१॥ रुजिवहोः ६।२॥ स०—रुजि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उत्पूर्वाभ्यां रुजि वह इत्येताभ्यां धातुभ्यां कूले कर्मण्युपपदे खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कूलमुद्रुजति= कूलमुद्रुजो रथः । कूलमुद्वहति=कूलमुद्वहः ॥

भावार्थः—[उदि] उत् पूर्वक [रुजिवहोः] रुज् तथा वह् धातुओं से [कूले]

कुल कर्म उपपद रहते खश् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—कूलमुद्रुजो रथः (किनारों को काटनेवाला रथ)। कूलमुद्वहः (किनारे को प्राप्त करानेवाला)॥ (६।३।६६ से) मुम् का आगम पूर्ववत् हो ही जायेगा। खश् के शित् होने से सर्वत्र शप् होकर अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप हो जायेगा। रुज् धातु तुदादिगण की है, सो उससे शप् के स्थान में 'श' प्रत्यय होगा ॥

लिह् + खश

वहाभ्रे लिहः ॥३।२।३२॥

वहाभ्रे ७।१॥ लिहः ५।१॥ स०—वहश्च अभ्रश्च वहाभ्रम्, तस्मिन्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—वह अभ्र इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः लिहधातोः खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—वहं लेढि=वहंलिहो गौः। अभ्रंलिहो वायुः ॥

भाषार्थः—[वहाभ्रे] वह तथा अभ्र कर्म उपपद रहते [लिहः] लिह धातु से खश् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—वहंलिहो गौः (कंधे को चाटनेवाला बैल)। अभ्रंलिहो वायुः (बादल तक पहुंचनेवाला वायु) ॥ पूर्ववत् मुम् आगम होकर ही सिद्धियाँ जानें ॥

पच् + खश

परिमाणे पचः ॥३।२।३३॥

परिमाणे ७।१॥ पचः ५।१॥ अनु०—खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—परिमाणं प्रस्थादि। परिमाणवाचिनि कर्मण्युपपदे पचधातोः खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रस्थं पचति=प्रस्थंपचा स्थाली। द्रोणम्पचः। खारिम्पचः कटाहः ॥

भाषार्थः—[परिमाणे] परिमाणवाची कर्म उपपद हो, तो [पचः] पच् धातु से खश् प्रत्यय होता है ॥ प्रस्थ द्रोणादि परिमाणवाची शब्द हैं। उदा०—प्रस्थंपचा स्थाली (सेरभर अन्न पका सकनेवाली बटलोई)। द्रोणम्पचः (द्रोणभर पका सकनेवाला बर्तन)। खारिम्पचः कटाहः (खारीभर पका सकनेवाली कड़ाही) ॥

यहाँ से 'पचः' की अनुवृत्ति ३।२।३४ तक जायेगी ॥

मित, नख + पच् + खश

मितनखे च ॥३।२।३४॥

मितनखे ७।१॥ च अ० ॥ स०—मितं च नखं च मितनखम्, तस्मिन्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—पचः, खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—मित नख इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः पचधातोः खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मितं पचति=मितम्पचा ब्राह्मणी। नखम्पचा यवागूः ॥

भाषार्थः—[मितनखे] मित और नख कर्म उपपद हों, तो [च] भी पच धातु से खश् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—मितम्पचा ब्राह्मणी (परिमित अन्न पकानेवाली ब्राह्मणी)। नखम्पचा यवागूः (गरम-गरम गीली लप्सी) ॥

विध्वरुषोस्तुदः ॥३।२।३५॥

विध्वरुषोः ७।२॥ तुदः ५।१॥ स०—विधुश्च अरुश्च विध्वरुषी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—विधु अरुस् इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः 'तुद' धातोः खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विधुन्तुदः। अरुन्तुदः ॥

भाषार्थः—[विध्वरुषोः] विधु और अरुस् कर्म उपपद हों, तो [तुदः] तुद धातु से खश् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—विधुन्तुदः (चाँद को व्यथित करनेवाला)। अरुन्तुदः (मर्मपीडक) ॥ अरुन्तुद में पूर्ववत् मुम् आगम होकर—'अरु मुम् स् तुद् श खश्=अरु म् स् तुद् अ अ' रहा। पुनः संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से स् का लोप होकर—अरुम् तुद् अ अ रहा। मोऽनुस्वारः (८।३।२३), तथा वा पदान्तस्य (८।४।५८) लगकर अरुन्तुदः बन गया ॥

असूर्यललाटयोर्दृशितपोः ॥३।२।३६॥

असूर्यललाटयोः ७।२॥ दृशितपोः ६।२॥ स०—असूर्यश्च ललाटं च असूर्यललाटे, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। दृशिश्च तप् च दृशितपौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खश्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—असूर्य ललाट इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः यथासंख्यं दृशि तप इत्येताभ्यां धातुभ्यां खश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—असूर्यम्पश्या राजदाराः। ललाटन्तप आदित्यः ॥

भाषार्थः—[असूर्यललाटयोः] असूर्य तथा ललाट कर्म उपपद हों, तो यथासङ्ख्य करके [दृशितपोः] दृशिर् तथा तप धातुओं से खश् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—असूर्यम्पश्या राजदाराः (जो सूर्य को भी नहीं देखतीं ऐसी पर्देनशीन राजाओं की स्त्रियाँ)। ललाटन्तपः आदित्यः (माथे को तपा देनेवाला सूर्य) ॥ सिद्धि में खश् के शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा होकर शप् प्रत्यय हुआ, जिस के परे रहते दृश् को पाघ्राध्मा० (७।३।७८) से पश्य आदेश हो जाता है, शेष पूर्ववत् ही है ॥

उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च ॥३।२।३७॥

उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाः १।३॥ च अ० ॥ स०—उग्रम्प० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खश्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उग्रम्पश्य इरम्मद पाणिन्धम इत्येते

शब्दाः खश्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ॥ उदा०—उग्रं पश्यतीति उग्रम्पश्यः । उग्रम्पश्येन सुग्रीवस्तेन भ्रात्रा निराकृतः । इरया माद्यति=इरम्मदः । पाणयो ध्मायन्ते एष्विति पाणिन्धमाः पन्थानः ॥

भाषार्थः—[उग्र……धमाः] उग्रम्पश्य इरम्मद तथा पाणिन्धम ये शब्द [च] भी खश्प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं ॥ उदा०—उग्रम्पश्यः (घूरकर देखने-वाला) । इरम्मदः (मेघ की ज्योति, बिजली) । पाणिन्धमाः पन्थानः (अन्धकारपूर्ण ऐसे रास्ते जहाँ जीव-जन्तुओं से बचने के लिये ताली बजाकर या आवाज करके चला जाता है)॥ इरम्मदः में श्यन् अभाव निपातन से हुआ है । पाणिन्धमः में अधिकरण कारक में करणाधिक० (३।३।११७) से ल्युट प्राप्त था, अतः खश् निपातन कर दिया है । शेष (६।३।६६से) मुम् आगमादि सिद्धि में पूर्ववत् हैं ॥ खच

प्रियवशे वदः खच् ॥३।२।३८॥

प्रियवशे ७।१॥ वदः ५।१॥ खच् १।१॥ स—प्रियश्च वशश्च प्रियवशम्, तस्मिन्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, धातोः प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रिय वश इत्येतयोः कर्मोपपदयोर्वदधातोः खच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रियं वदति= प्रियंवदः । वशंवदः ॥

भाषार्थः—[प्रियवशे] प्रिय तथा वश कर्म उपपद हों, तो [वदः] वद धातु से [खच्] खच् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि परि० १।३।८ में देखें ॥

यहाँ से 'खच्' की अनुवृत्ति ३।२।४७ तक जायेगी ॥ खच

द्विषत्परयोस्तापेः ॥३।२।३९॥

द्विषत्परयोः ७।२॥ तापेः ५।१॥ स०—द्विषंश्च परश्च द्विषत्परौ, तयोः इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—द्विषत् पर इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः तपो ण्यन्ताद् धातोः खच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—द्विषन्तं तापयति=द्विषन्तपः । परन्तपः ॥

भाषार्थः—[द्विषत्परयोः] द्विषत् तथा पर कर्म उपपद हों, तो ण्यन्त [तापेः] तप धातु से खच् प्रत्यय होता है ॥ 'तापेः' णिजन्त निर्देश है, अतः णिजन्त तप धातु से ही खच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—द्विषन्तपः (शत्रुओं को तपाने=जलाने वाला)। परन्तपः (दूसरों=शत्रुओं को तपानेवाला)॥ द्विष मुम् त् तप् णिच् खच्= 'द्विष म् त् ताप् इ अ' रहा । खचि ह्रस्वः (६।४।९४) से उपधा का ह्रस्वत्व, णेर-निटि (६।४।५१) से णि का लोप, तथा संयोगान्तस्य० (८।२।२३) से त् का लोप होकर द्विषन्तपः बन गया है ॥

वाचि यमो व्रते ॥३।२।४०॥

वाचि ७।१॥ यमः ५।१॥ व्रते ७।१॥ **अनु०**—खच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—वाक्शब्दे कर्मण्युपपदे यमधातोः व्रते गम्यमाने खच् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—वाचंयम आस्ते ॥

भाषार्थः—[वाचि] वाच् कर्म उपपद हो, तो [यमः] यम धातु से [व्रते] व्रत गम्यमान होने पर खच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—वाचंयम आस्ते (वाणी को संयम में करनेवाला व्रती बैठा है) ॥ वाचंयमपुरन्दरौ च (६।३।६८) से निपातन से पूर्व पद का अमन्तत्व यहाँ हुआ है, शेष पूर्ववत् है ॥

पूःसर्वयोर्दारिसहोः ॥३।२।४१॥

पूःसर्वयोः ६।२॥ दारिसहोः ६।२॥ स०—पूश्च सर्वश्च पूःसर्वौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । दारि० इत्यत्रापि इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—खच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—पुर् सर्व इत्येतयोः कर्मोपपदयोः यथासंख्यं दारि सह इत्येताभ्यां धातुभ्यां खच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पुर दारयति=पुरन्दरः । सर्वंसहः ॥

भाषार्थः—[पूःसर्वयोः]पुर् सर्व ये कर्म उपपद हों, तो [दारिसहोः] 'दृ विदारणे' ण्यन्त धातु से तथा सह धातु से यथासंख्य करके खच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पुरन्दरः (किले को तोड़नेवाला)। सर्वंसहः (सब सहन करनेवाला) ॥ वाचंयमपुरन्दरौ च (६।३।६८) से पुरन्दरः में पूर्वपद का अमन्तत्व निपातन किया है। सर्वंसहः में तो अरुर्द्विषद० (६।३।६६) से अजन्त मानकर मुम् आगम हो ही जायेगा ॥ खचि ह्रस्वः (६।४।९४) से उपधा का ह्रस्वत्व, तथा णेरनिटि (६।४।५१) से णिच् का लोप पुरन्दरः में पूर्ववत् हो ही जायेगा ॥

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ॥३।२।४२॥

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु ७।३॥ कषः ५।१॥ स०—सर्व० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—खच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—सर्व कूल अभ्र करीष इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु कषधातोः खच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सर्वं कषति=सर्वंकषः खलः । कूलंकषा नदी । अभ्रंकषो गिरिः । करीषंकषा वात्या ॥

भाषार्थः—[सर्वकूलाभ्रकरीषेषु] सर्व, कूल, अभ्र, करीष ये कर्म उपपद रहते [कषः] कष धातु से खच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—सर्वंकषः खलः (सब को पीड़ा देनेवाला दुष्ट)। कूलंकषा नदी (किनारे को तोड़नेवाली नदी)। अभ्रंकषो गिरिः (गगनचुम्बी पर्वत)। करीषंकषा वात्या (सूखे गोबर को भी उड़ा ले जानेवाली आंधी) ॥

कृञ् + खच्

मेघर्त्तिभयेषु कृञः ॥३।२।४३॥

मेघर्त्तिभयेषु ७।३॥ कृञः ५।१॥ स०—मेघश्च ऋतिश्च भयञ्च मेघर्त्ति-भयानि, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—मेघ ऋति भय इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु कृञ् धातोः खच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मेघं करोति=मेघंकरः । ऋतिकरः । भयंकरः ॥

भाषार्थः—[मेघर्त्तिभयेषु] मेघ ऋति भय ये कर्म उपपद हों, तो [कृञः] कृञ् धातु से खच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—मेघंकरः (बादल बनानेवाला) । ऋतिंकरः (स्पर्धा करनेवाला) । भयंकरः (भीषण) ॥

यहाँ से 'कृञः' की अनुवृत्ति ३।२।४४ तक जायेगी ॥

कृञ् + अण्, खच्

क्षेमप्रियमद्रेऽण् च ॥३।२।४४॥

क्षेमप्रियमद्रे ७।१॥ अण् १।१॥ च अ० ॥ स०—क्षेमश्च प्रियश्च मद्रश्च क्षेमप्रियमद्रम्, तस्मिन्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—कृञः,खच्, कर्मणि,धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्षेम प्रिय मद्र इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु कृञ् धातोः अण् प्रत्ययो भवति चकारात् खच् च ॥ उदा०—क्षेमं करोति=क्षेमकारः, क्षेमंकरः । प्रियकारः, प्रियं-करः । मद्रकारः, मद्रंकरः ॥

भाषार्थः—[क्षेमप्रियमद्रे] क्षेम प्रिय मद्र ये कर्म उपपद रहते कृञ् धातु से [अण्] अण् प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से खच् भी होता है ॥ उदा०—क्षेमकारः (कुशलता करनेवाला), क्षेमंकरः । प्रियकारः (प्रिय करनेवाला), प्रियं-करः । मद्रकारः (भला करनेवाला), मद्रंकरः ॥ अण् पक्ष में वृद्धि, तथा खच् पक्ष में मुम् आगम होकर पूर्ववत् ही सिद्धि जानें ॥

भू + खच्

आशिते भुवः करणभावयोः ॥३।२।४५॥

आशिते ७।१॥ भुवः ५।१॥ करणभावयोः ७।२॥ स०—करण० इत्यत्रेतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—खच्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आशिते सुबन्त उपपदे भूधातोः करणे भावे चार्थे खच् प्रत्ययो भवति ॥ कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) इत्यनेन कर्त्तरि प्राप्ते करणे भावे च विधीयते ॥ उदा०—आशितः=तृप्तो भवत्य-नेन=आशितंभवः ओदनः । भावे—आशितस्य भवनम्=आशितंभवं वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[आशिते] आशित सुबन्त उपपद हो, तो [भुवः] भू धातु से [करण-भावयोः] करण और भाव में खच् प्रत्यय होता है ॥ कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से कर्त्ता में ही खच् प्रत्यय प्राप्त था, अतः करण और भाव में विधान कर दिया है ॥

उदा०—आशितंभव: ओदन: (जिसके द्वारा तृप्त हुआ जाता है ऐसा चावल)। भाव में—आशितंभवं वर्त्तते (तृप्त होना हो रहा है)॥

खच्

संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः ॥३।२।४६॥

संज्ञायाम् ७।१॥ भृतॄवृजिधारिसहितपिदम: ५।१॥ स०—भृ च तॄ च वृश्च जिश्च धारिश्च सहिश्च तपिश्च दम् च भृतॄ,⋯दम्,तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—खच्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—कर्मणि सुबन्ते वोपपदे भृ, तॄ, वृ, जि, धारि, सहि, तपि, दम् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः खच् प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये॥ उदा०—विश्वं बिभर्त्ति=विश्वम्भरः परमेश्वरः। रथेन तरति=रथन्तरं साम। पतिं वृणुते=पतिंवरा कन्या। शत्रुं जयति=शत्रुञ्जयः। युगं धारयति=युगन्धरः। शत्रुं सहते=शत्रुंसहः। शत्रुं तपति=शत्रुंतपः। अरिं दाम्यति=अरिंदमः॥

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान हो, तो कर्म अथवा सुबन्त उपपद रहते [भृतॄ⋯दमः] भृ, तॄ, वृ, जि, धारि, सहि, तपि, दम् इन धातुओं से खच् प्रत्यय होता है॥ उदा०—विश्वम्भरः परमेश्वरः (विश्व का भरण करनेवाला परमेश्वर)। रथन्तरं साम (सामगान विशेष)। पतिंवरा कन्या (पति का वरण करनेवाली कन्या)। शत्रुञ्जयः (हाथी)। युगन्धरः (पर्वत)। शत्रुंसह (शत्रु को सहन करनेवाला)। शत्रुंतप (शत्रु को तपानेवाला)। अरिंदमः (शत्रु का दमन करनेवाला)॥ सिद्धियां पूर्ववत् हैं। कर्मणि तथा सुपि दोनों की अनुवृत्ति होने से यथासम्भव कर्म वा सुबन्त उपपद होने पर प्रत्यय उत्पन्न होता है। रथन्तर सामविशेष की संज्ञा है, यहाँ अवयवार्थ सम्भव नहीं है।' 'रथेन तरति' यह व्युत्पत्तिमात्र दिखाई गई है। धृ धातु का ण्यन्त से निर्देश किया है, अतः ण्यन्त से ही प्रत्यय होगा। खचि ह्रस्वः (६।४।९४) से इगुपधाह्रस्वत्व, तथा णेरनिटि (६।४।५१) से णिच् का लोप हो जायेगा। दम धातु अन्तर्भावितण्यर्थ होने से सकर्मक हो गई है॥

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ३।२।४७ तक जायेगी॥

गम् + खच्

गमश्च ॥३।२।४७॥

गमः ५।१॥ च अ०॥ अनु०—संज्ञायाम्, खच्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—संज्ञायां गम्यमानायां कर्मण्युपपदे गम धातोः खच् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—सुतं गच्छति=सुतङ्गमः॥

भाषार्थः—संज्ञा गम्यमान होने पर कर्म उपपद रहते [गमः] गम धातु से [च] भी खच् प्रत्यय होता है॥ उदा०—सुतङ्गमः (यह किसी व्यक्ति विशेष का नाम है)॥

यहाँ से 'गमः' की अनुवृत्ति ३।२।४८ तक जायेगी॥

अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः ॥३।२।४८॥

अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु ७।३॥ डः १।१॥ स०—अन्तश्च अत्यन्तं च अध्वा च दूरं च पारश्च सर्वश्च अनन्तश्च अन्ता···ताः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—गमः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अन्त, अत्यन्त, अध्व, दूर, पार, सर्व, अनन्त इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु गमधातोर्डः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अन्तं गच्छति=अन्तगः। अत्यन्तगः। अध्वगः। दूरगः। पारगः। सर्वगः। अनन्तगः॥

भाषार्थः—[अन्ता······षु] अन्त, अत्यन्त, अध्व, दूर, पार, सर्व, अनन्त कर्म उपपद रहते गम धातु से [डः] ड प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अन्तगः (अन्त को प्राप्त होनेवाला)। अत्यन्तगः (अत्यन्त जानेवाला)। अध्वगः (रास्ते में चलनेवाला)। दूरगः (दूर जानेवाला)। पारगः (पार जानेवाला)। सर्वगः (सब को प्राप्त होनेवाला)। अनन्तगः (अनन्त को प्राप्त होनेवाला) ॥ 'ड' प्रत्यय के डित् होने से डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात् (वा० ६।४।१४३) इस भाष्य-वार्त्तिक से गम धातु के टि भाग (गम् के अम्) का लोप हो जायेगा, शेष सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

यहाँ से 'डः' की अनुवृत्ति ३।२।५० तक जायेगी ॥

आशिषि हनः ॥३।२।४९॥

आशिषि ७।१॥ हनः ५।१॥ अनु०—डः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आशिषि गम्यमानायां कर्मण्युपपदे हनधातोर्डः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शत्रून् वध्यात्=शत्रुहस्ते पुत्रो भूयात्। दुःखहस्त्वं भूयाः ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वचन गम्यमान होने पर [हनः] हन धातु से कर्म उपपद रहते ड प्रत्यय होता है ॥ उदा०—शत्रून् वध्यात्=शत्रुहस्ते पुत्रो भूयात् (तेरा पुत्र शत्रु को मारनेवाला हो)। दुःखहस्त्वं भूयाः (तुम दुःख को नष्ट करनेवाले बनो)। यहाँ डित् होने से पूर्ववत् हन् धातु के टि भाग का लोप हो जायेगा ॥

यहाँ से 'हनः' की अनुवृत्ति ३।२।५५ तक जायेगी ॥

अपे क्लेशतमसोः ॥३।२।५०॥

अपे ७।१॥ क्लेशतमसोः ७।२॥ स०—क्लेशश्च तमश्च क्लेशतमसी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—हनः, डः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—

क्लेश तमस् इत्येतयोः कर्मोपपदयोः अपपूर्वाद् हनधातोर्डः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—क्लेशापहः पुत्रः । तमोपहः सूर्यः ॥

भाषार्थः—[क्लेशतमसोः] क्लेश तथा तमस् कर्म उपपद रहते [अपे] अप पूर्वक हन धातु से ड प्रत्यय होता है ॥ उदा०—क्लेशापहः पुत्रः (क्लेश को दूर करनेवाला पुत्र)। तमोपहः सूर्यः ॥ यहाँ भी पूर्ववत् टि का लोप समझें। तमस् के 'स्' को ससजुषो रुः (८।२।६६) से रु होकर तमर् बना। पुनः अतो रोर० (६।१।१०९) से र् को 'उ' होकर, आद्गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—'तमो अपहः' बना, एङः पदान्ता० (६।१।१०५) से अपहः के अकार का पूर्वरूप एकादेश होकर तमोपहः बन गया है। शेष सिद्धि पूर्ववत् ही है ॥

णिनि **कुमारशीर्षयोर्णिनिः** ॥३।२।५१॥

कुमारशीर्षयोः ७।२॥ णिनिः १।१॥ स०—कुमारश्च शीर्षं च कुमारशीर्षे, तयोः,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—हनः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कुमार शीर्ष इत्येतयोः कर्मोपपदयोः हन्धातोः णिनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कुमारघाती। शीर्षघाती ॥

भाषार्थः—[कुमारशीर्षयोः] कुमार तथा शीर्ष कर्म उपपद हों,तो हन् धातु से [णिनिः] णिनि प्रत्यय होता है ॥ यहाँ निपातन से शिरस् को शीर्षभाव हो गया है॥

टक् **लक्षणे जायापत्योष्टक्** ॥३।२।५२॥

लक्षणे ७।१॥ जायापत्योः ७।२॥ टक् १।१॥ स०—जाया च पतिश्च जाया-पती, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—हनः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ लक्षणमस्यास्तीति लक्षणः,तस्मिन् लक्षणे, अर्शआदिभ्योऽच् (५।२।१२७) इत्यनेन मतुबर्थेऽच् प्रत्ययः ॥ अर्थः—जाया पति इत्येतयोः कर्मोपपदयोः 'हन्' धातोः लक्षणवति कर्त्तरि वाच्ये टक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जायाघ्नो वृषलः । पतिघ्नी वृषली ॥

भाषार्थः—[जायापत्योः] जाया तथा पति कर्म उपपद हों, तो [लक्षणे] लक्षणवान् कर्त्ता अभिधेय होने पर हन् धातु से [टक्] टक् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—जायाघ्नो वृषलः (स्त्री को मारने के लक्षणवाला नीच पुरुष)। पतिघ्नी वृषली (पति को मारने के लक्षणवाली नीच स्त्री) ॥ उदाहरणों में गमहनजन० (६।४।९८) से हन् धातु की उपधा का लोप होकर, 'ह्' को हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४) से 'घ्' होने पर 'पति घ्न् अ' बना। टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होकर पतिघ्नी बना है ॥

यहाँ से 'टक्' की अनुवृत्ति ३।२।५४ तक जायेगी ॥

अमनुष्यकर्तृके च ॥३।२।५३॥ टक्

अमनुष्यकर्तृके ७।१॥ च अ० ॥ स०—न मनुष्योऽमनुष्यः,नञ्तत्पुरुषः । अमनुष्यः कर्ता यस्य सोऽमनुष्यकर्तृकः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—टक्, हनः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—मनुष्यभिन्नकर्तृके वर्त्तमानाद् हन् धातोः कर्मण्युपपदे टक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—श्लेष्मघ्नं मधु; पित्तघ्नं घृतम् ॥

भाषार्थः—[अमनुष्यकर्तृके] मनुष्य से भिन्न कर्ता है जिसका, उस हन् धातु से [च] भी कर्म उपपद रहते टक् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—श्लेष्मघ्नं मधु (कफ को नष्ट करनेवाला मधु); पित्तघ्नं घृतम् । (पित्त को मारनेवाला घी) ॥ पूर्ववत् ही सिद्धि समझें ॥

शक्तौ हस्तिकपाटयोः ॥३।२।५४॥ टक्

शक्तौ ७।१॥ हस्तिकपाटयोः ७।२॥ स०—हस्ती च कपाटं च हस्तिकपाटे, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु—टक्, हनः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—हस्ति कपाट इत्येतयोः कर्मोपपदयोर् हन्धातोः टक् प्रत्ययो भवति शक्तौ गम्यमानायाम् ॥ उदा०—हस्तिनं हन्तुं शक्नोति=हस्तिघ्नो मनुष्यः । कपाटं हन्तुं शक्नोति= कपाटघ्नश्चौरः ॥

भाषार्थः—[हस्तिकपाटयोः] हस्ति तथा कपाट कर्म उपपद रहते [शक्तौ] शक्ति गम्यमान हो,तो हन् धातु से टक् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र में अमनुष्य कर्त्ता अभिधेय होने पर प्रत्यय विधान था, यहाँ मनुष्य कर्त्ता अभिधेय होने पर भी प्रत्यय हो जाये इसलिये यह सूत्र है ॥ उदा०—हस्तिघ्नो मनुष्यः (हाथी को मार सकनेवाला मनुष्य) । कपाटघ्नश्चोरः (किवाड़ तोड़ने में समर्थ चोर) ॥

पाणिघताडघौ शिल्पिनि ॥३।२।५५॥ क

पाणिघताडघौ १।२॥ शिल्पिनि ७।१॥ स०—पाणि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—हनः, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पाणि ताड इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः हन्धातोः कः प्रत्ययः, तस्मिंश्च परतो हन्धातोष्टिलोपो घत्वं च निपात्यते, शिल्पिनि कर्त्तरि वाच्ये ॥ उदा०—पाणिघः । ताडघः ॥

भाषार्थः—[पाणिघताडघौ] पाणिघ ताडघ शब्दों में पाणि तथा ताड कर्म उपपद रहते हन् धातु से क प्रत्यय, तथा हन् धातु के टि अर्थात् अन् भाग का लोप, एवं 'ह्' को 'घ्' निपातन किया जाता है, [शिल्पिनि] शिल्पि कर्त्ता वाच्य हो तो ॥ उदा०—पाणिघः(मृदङ्ग बजानेवाला) । ताडघः (शिल्पी) ॥

स्युन

आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् ॥३।२।५६॥

आढ्यसुभग ······ प्रियेषु ७।३॥ च्व्यर्थेषु ७।३॥ अच्वौ ७।१॥ कृञः ५।१॥ करणे ७।१॥ ख्युन् १।१॥ स०—आढ्यश्च सुभगश्च स्थूलश्च पलितश्च नग्नश्च अन्धश्च प्रियश्च आढ्यसुभग····· प्रियाः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। च्वेः अर्थः च्व्यर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः। च्व्यर्थ इव अर्थो येषां ते च्व्यर्थाः, तेषु, बहुव्रीहिः। न च्विः अच्विः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध, प्रिय इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु करणे कारके कृञ्धातोः ख्युन् प्रत्ययो भवति ॥ अभूततद्भावश्च्व्यर्थः ॥ उदा०—अनाढ्यम् आढ्यं कुर्वन्त्यनेन=आढ्यंकरणम्। सुभगंकरणम्। स्थूलंकरणम्। पलितंकरणम्। नग्नंकरणम्। अन्धंकरणम्। प्रियंकरणम् ॥

भाषार्थः—[आढ्य····· प्रियेषु] आढ्य सुभगादि [च्व्यर्थेषु] च्व्यर्थ में वर्त्तमान, किन्तु [अच्वौ] च्विप्रत्ययान्त न हों, ऐसे कर्म उपपद रहते [कृञः] कृञ् धातु से [करणे] करण कारक में [ख्युन्] ख्युन् प्रत्यय होता है ॥ च्वि का अर्थ अभूततद्भाव (जो नहीं था वह होना) है। सो यहाँ सर्वत्र अभूततद्भाव होने से कृभ्वस्तियोगे० (५।४।५०) से च्वि प्रत्यय प्राप्त था। अतः यहाँ कह दिया कि च्व्यर्थ =अभूततद्भाव अर्थ तो हो, पर च्वि प्रत्यय न आया हो, तब ख्युन् प्रत्यय हो ॥ उदा०—आढ्यंकरणम् (जो धनवान् नहीं उसको धनवान् बनाया जाता है जिसके द्वारा)। सुभगंकरणम् (जो कल्याणयुक्त नहीं उसको कल्याणयुक्त बनाया जाता है जिसके द्वारा)। स्थूलंकरणम् (जो स्थूल नहीं उसको स्थूल बनाया जाता है जिसके द्वारा)। पलितंकरणम् (जो बूढ़ा नहीं उसको बूढ़ा बनाया जाता है जिसके द्वारा)। नग्नंकरणम् (जो नग्न नहीं उसको नग्न बनाया जाता है जिसके द्वारा)। अन्धंकरणम् (जो अन्धा नहीं उसको अन्धा बनाया जाता है जिसके द्वारा)। प्रियंकरणम् (जो प्रिय नहीं उसको प्रिय बनाया जाता है जिसके द्वारा) ॥ सिद्धि में मुम् का आगम (६।३।६६) ही विशेष है ॥

यहाँ से 'आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ" की अनुवृत्ति ३।२।५७ तक जायेगी ॥

खिष्णुच्

कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ ॥३।२।५७॥

खुकञ्

कर्त्तरि ७।१॥ भुवः ५।१॥ खिष्णुच्खुकञौ १।२॥ स०—खिष्णुच्० इत्येतेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ, सुपि, धातोः,

प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—च्व्यर्थेष्वच्व्यन्तेषु आढ्यादिषु सुबन्तेषूपपदेषु भूधातो: कर्त्तरि कारके खिष्णुच्खुकञौ प्रत्ययौ भवत: ॥ उदा०—अनाढ्य आढ्यो भवति=आढ्यंभविष्णु:, आढ्यंभावुक: । सुभगंभविष्णु:, सुभगंभावुक: । स्थूलंभविष्णु:,स्थूलंभावुक: । पलितंभविष्णु:, पलितंभावुक: । नग्नंभविष्णु:, नग्नंभावुक: । अन्धंभविष्णु:, अन्धंभावुक: । प्रियंभविष्णु:, प्रियंभावुक: ॥

भावार्थ:—च्व्यर्थ में वर्त्तमान अच्व्यन्त आढ्यादि सुबन्त उपपद हों, तो [कर्त्तरि] कर्त्ता कारक में [भुव:] भू धातु से [खिष्णुच्खुकञौ] खिष्णुच् तथा खुकञ् प्रत्यय होते हैं ॥ कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से सभी कृत् कर्त्ता में ही होते हैं । पुनः यहाँ 'कर्त्तरि' ग्रहण पूर्व सूत्र में जो 'करणे' कहा है, उसकी अनुवृत्ति आकर यहाँ भी करण में न होने लग जाये, इसलिए विस्पष्टार्थ है ॥ खित् होने से सर्वत्र मुम् आगम, तथा खुकञ् के ञित् होने से भू धातु को वृद्धि हो जाती है । खिष्णुच् परे रहते गुण ही होता है । 'आढ्यंभविष्णु:' का अर्थ "जो आढ्य नहीं वह आढ्य होता है" ऐसा है । इसी प्रकार औरों में भी जानें ॥

स्पृशोऽनुदके क्विन् ॥३।२।५८॥

क्विन्

स्पृश: ५।१॥ अनुदके ७।१॥ क्विन् १।१॥ स०—अनुदक इत्यत्र नञ्तत्पुरुष: ॥ अनु०—सुपि, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—अनुदके सुबन्त उपपदे स्पृश धातो: क्विन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मन्त्रेण स्पृशति=मन्त्रस्पृक् । जलेन स्पृशति=जलस्पृक् । घृतं स्पृशति=घृतस्पृक् ॥

भावार्थ:—[अनुदके] उदक-भिन्न सुबन्त उपपद हो, तो [स्पृश:] स्पृश् धातु से [क्विन्] क्विन् प्रत्यय होता है ॥ क्विन् में इकार उच्चारणार्थ है ॥ उदा०—मन्त्रस्पृक् (मन्त्र बोलकर स्पर्श करनेवाला)। जलस्पृक् (जल के द्वारा स्पर्श करनेवाला)। घृतस्पृक् (घी को छूनेवाला)॥ अनुबन्ध हटाकर क्विन् का 'व्' रहता है । उस वकार का भी वेरपृक्तस्य (६।१।६५) से लोप हो जाता है । हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु का लोप हो ही जायेगा । क्विन्प्रत्ययस्य कु: (८।२।६२) से स्पृश् के श् को कुत्व होकर आन्तरतम्य से खकार होता है । झलां जशो० (८।२।३९) से गकार, तथा वावसाने (८।४।५५) से ककार होता है ॥

यहाँ से 'क्विन्' की अनुवृत्ति ३।२।६० तक जायेगी ॥　क्विन्

ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ॥३।२।५९॥

ऋत्विग्...क्रुञ्चाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—ऋत्विग्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥

अनु०—क्विन्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक्, उष्णिक् इत्येते पञ्चशब्दाः क्विन्प्रत्ययान्ताः निपात्यन्ते। अञ्चु युजि क्रुञ्च धातुभ्यश्च क्विन् प्रत्ययो भवति ।। ऋतुशब्द उपपदे यजतेः क्विन् निपात्यते, ऋतौ यजति, ऋतुं वा यजति, ऋतुप्रयुक्तो वा यजति=ऋत्विक् । धृषेः क्विन् प्रत्ययः,द्विर्वचनमन्तोदात्तत्वं च निपात्यते=दधृक् । सृज धातोः कर्मणि कारके क्विन् प्रत्ययोऽमागमश्च निपात्यते । 'सृ अम् ज् क्विन्' यणादेशं कृत्वा, सृजन्ति यां सा=स्रक् । दिशेः कर्मणि क्विन् निपात्यते । दिशन्ति यां सा=दिक् । उत्पूर्वात् स्निहधातोः क्विन्, उपसर्गान्त्यलोपः षत्वञ्च निपात्यते । अत्र णत्वं तु रषाभ्यां० (८।४।१)इत्यनेन भवति=उष्णिक् । अञ्चु युजि क्रुञ्च इत्येतेभ्यः क्विन् भवति=प्राङ्, प्रत्यङ्, उदङ् । युनक्तीति=युङ्, युञ्जौ, युञ्जः । क्रुङ्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः ।।

भावार्थः—[ऋत्विग्द ... क्रुञ्चाम्] ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक्, उष्णिक् ये पाँच शब्द क्विन् प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं, [च] तथा अञ्चु युजि क्रुञ्च धातुओं से भी क्विन् प्रत्यय होता है ।। ऋत्विक् शब्द में—ऋतु शब्द उपपद रहते यज धातु से क्विन् प्रत्यय निपातन से हुआ है । पीछे वचिस्वपियजादीनां किति(६।१।१५) से 'य' को सम्प्रसारण होकर 'ऋतु इज्' बना, और यणादेश होकर ऋत्विज् बना । पुनः सु विभक्ति परे रहते 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२) से 'ज्' को 'ग्', और वाऽवसाने (८।४।५५) से ग् को क होकर ऋत्विक् बना है । दधृक् (शत्रु को परास्त करनेवाला)—यहाँ धृष् धातु से क्विन्, तथा धृष् को द्वित्व और अन्तोदात्तत्व निपातन से किया है । द्वित्व करके अभ्यासकार्य उरत् (७।४।६६) आदि हो जायेगा । स्रक् (माला)—यहाँ सृज् धातु से कर्म कारक में क्विन् प्रत्यय, तथा अम् आगम निपातन किया है । मिदचोऽन्त्या०(१।१।४६)से अम् आगम अन्त्य अच् से परे होकर 'सृ अम् ज् क्विन्' बना । यणादेश तथा क्विन् का सर्वापहारी लोप होकर 'स्रज्' बना । पूर्ववत् क्विन्प्रत्ययस्य कुः और वाऽवसाने लगकर स्रक् बना है । दिक् (दिशा)—यहाँ दिश् धातु से कर्म कारक में क्विन् प्रत्यय निपातन है । पूर्ववत् ही कुत्वादि यहाँ भी जानें । उष्णिक् (छन्दविशेष)—यहाँ उत् पूर्वक स्निह धातु से क्विन् प्रत्यय उपसर्ग के अन्तिम वर्ण का लोप,तथा षत्व निपातन किया जाता है । षत्व किये पीछे रषाभ्यां० (८।४।१) से णत्व भी हो जायेगा । यहाँ भी क्विन्प्र० (८।२।६२) से हकार के स्थान में अन्तरतम घकार हुआ, तथा पूर्ववत् जश्त्व एवं चर्त्व होकर ककार हुआ । अञ्चु युज् क्रुञ्च् धातुओं से भी क्विन् प्रत्यय इस सूत्र से कहा है, सो उनकी सिद्धियाँ परिशिष्ट में ही देखें ।।

स्पृशादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च ।।३।२।६०।।

त्यदादिषु ७।३।। दृशः ५।१।। अनालोचने ७।१।। कञ् १।१।। च अ० ।। स०—

कञ् , क्विन्

त्यद् आदिर्येषां ते त्यदादयः, तेषु, बहुव्रीहिः । न आलोचनम् अनालोचनं, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्विन्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—त्यदादिषु सुबन्तेषूपपदेष्वनालोचनेऽर्थे वर्त्तमानाद् दृश्धातोः कञ् प्रत्ययो भवति, चकारात् क्विन् च ॥ उदा०—त्यादृक्, त्यादृशः । तादृक्, तादृशः । यादृक्, यादृशः ॥

भाषार्थः—[त्यदादिषु] त्यदादि शब्द उपपद रहते [अनालोचने] अनालोचन =न देखना अर्थ में वर्त्तमान [दृशः] दृश् धातु से [कञ्] कञ् प्रत्यय होता है, [च] तथा चकार से क्विन् भी होता है ॥ उदा०—त्यादृक्(उस जैसा), त्यादृशः । तादृक् (वैसा), तादृशः । यादृक् (जैसा), यादृशः ॥ आ सर्वनाम्नः (६।३।८६) से दृश् परे रहते त्यद् इत्यादि सर्वनाम शब्दों के अन्त्य (१।१।५१) अल् को आत्व हो गया है । क्विन् पक्ष में क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२) से कुत्वादि होकर त्यादृक् बना । कञ् पक्ष में त्यादृश् कञ्=त्यादृश् अ=त्यादृशः बन गया है ॥

सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् ॥३।२।६१॥

क्विप्

सत्सूद्विष···राजाम् ६।३॥ उपसर्गे ७।१॥ अपि अ० ॥ क्विप् १।१॥ स०—सत्सू० इत्येत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सद्, सू, द्विष, द्रुह, दुह, युज, विद, भिद, छिद, जि, णीञ्, राजृ इत्येतेभ्यः सोपसर्गेभ्यो निरुपसर्गेभ्योऽपि धातुभ्यः सुबन्त उपपदे क्विप् प्रत्ययो भवति ॥ 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इति अादादिकस्यात्र ग्रहणं, न तु सुवतेस्तौदादिकस्य । 'युजिर् योगे, युज समाधौ' द्वयोरपि ग्रहणम्, एवं 'विद ज्ञाने,विद सत्तायाम्, विद विचारणे' त्रयाणां ग्रहणम्, न तु विद्लृ लाभे इत्यस्य । उदा०—सद् वेद्यां सीदति=वेदिषत्, शुचिषत्, अन्तरिक्षे सीदति=अन्तरिक्षसत् । प्रसत् । सू—वत्सं सूते=वत्ससूः गौः, अण्डसूः, शतसूः । प्रसूः । द्विष—मित्रं द्वेष्टि =मित्रद्विट्, प्रद्विट् । द्रुह—मित्रध्रुक् । प्रध्रुक् । दुह—गोधुक् । प्रधुक् । युज—अश्वयुक् । प्रयुक् । विद—वेदान् वेत्ति=वेदवित्, ब्रह्मवित् । प्रवित् । भिद्—काष्ठं भिनत्ति =काष्ठभित् । प्रभित् । छिद्—रज्जुच्छिद् । प्रच्छिद् । जि—शत्रून् जयति=शत्रुजित् । प्रजित् । णी—सेनां नयति=सेनानीः, अग्रणीः, ग्रामणीः । प्रणीः । राज्—विश्वं राजयति=विश्वराट् । विराट्, सम्राट् ॥

भाषार्थः—[सत्सू···राजाम्] सद्, सू, द्विष इत्यादि धातुओं से [उपसर्गे] सोपसर्ग हों तो [अपि] भी तथा निरुपसर्ग हों तो भी सुबन्त उपपद रहते [क्विप्] क्विप् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'उपसर्गेऽपि' की अनुवृत्ति ३।२।७७ तक जायेगी ॥

भजो ण्विः ॥३।२।६२॥

भजः ५।१॥ ण्विः १।१॥ अनु०—उपसर्गेऽपि, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भज् धातोः सुबन्त उपपदे उपसर्गेऽप्यनुपसर्गेऽप्युपपदे ण्विः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अर्धं भजते=अर्धभाक् । प्रभाक् ॥

भाषार्थः—[भजः] भज धातु से सुबन्त उपपद रहते सोपसर्ग हो या निरुपसर्ग, तो भी [ण्विः] ण्वि प्रत्यय होता है ॥ अर्धभाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें ॥

यहाँ से 'ण्विः' की अनुवृत्ति ३।२।६४ तक जायेगी ॥

छन्दसि सहः ॥३।२।६३॥

छन्दसि ७।१॥ सहः ५।१॥ अनु०—ण्विः, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—छन्दसि विषये सुबन्त उपपदे सह धातोर्ण्विः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—तुराषाट् (ऋक्० ३।४८।४) ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में सुबन्त उपपद रहते [सहः] सह धातु से ण्वि प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि में अन्येषामपि० (६।३।१३५) से तुर को दीर्घ होकर तुरा बना । सहेः साडः सः (८।३।५६) से सह के 'स' को षत्व होता है । हो ढः (८।२।३१) से 'ह्' को 'ढ्', झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से ढ् को ड्, तथा वावसाने (८।४।५५) से चर्त्व होकर, तुराषाट् बना है, शेष पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।२।६७ तक जायेगी ॥

वहश्च ॥३।२।६४॥

वहः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, ण्विः, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—वेदविषये सुबन्त उपपदे वह धातोर्ण्विः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रष्ठं वहति=प्रष्ठवाट् । दित्यवाट् (यजु० १४।१०) ॥

भाषार्थः—[वहः] वह धातु से [च] भी वेदविषय में सुबन्त उपपद रहते ण्वि प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'वहः' की अनुवृत्ति ३।२।६६ तक जायेगी ॥

कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् ॥३।२।६५॥

कव्यपुरीषपुरीष्येषु ७।३॥ ञ्युट् १।१॥ स०—कव्य० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—वहः, छन्दसि, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कव्य, पुरीष, पुरीष्य इत्येतेषु सुबन्तेषूपपदेषु छन्दसि विषये वहधातोर्ञ्युट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कव्यवाहनः (यजुः १९।६५) । पुरीषवाहनः । पुरीष्यवाहनः ॥

भाषार्थः—[कव्यपुरीषपुरीष्येषु] कव्य, पुरीष, पुरीष्य ये सुबन्त उपपद हों, तो वेदविषय में वह धातु से [ञ्युट्] ञ्युट् प्रत्यय होता है ।। ञकार अनुबन्ध वृद्धि के लिये है । युवोरनाकौ (७।१।१) से यु को 'अन' हो गया है ।।

यहाँ से 'ञ्युट्' की अनुवृत्ति ३।२।६६ तक जायेगी ।।

हव्येऽनन्तःपादम् ।।३।२।६६।।

हव्ये ७।१।। अनन्तःपादम् १।१।। स०—अन्तः मध्ये पादस्येति अन्तःपादम्, अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) इत्यनेन अव्ययीभावसमासः । न अन्तःपादम् अनन्तःपादम्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—वहः, छन्दसि, ञ्युट्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—हव्यसुबन्त उपपदे छन्दसि विषयेऽनन्तःपादं वर्त्तमानात् वहधातोर्ञ्युट् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—दूतश्च हव्यवाहनः (ऋक्० ६।१६।२३) ।।

भाषार्थः—[हव्ये] हव्य सुबन्त उपपद रहते वेदविषय में वह धातु से ञ्युट् प्रत्यय होता है, यदि 'वह' धातु [अनन्तःपादम्] पाद के अन्तर अर्थात् मध्य में वर्तमान न हो तो ।। यहाँ पाद शब्द से ऋचा का पाद अभिप्रेत है । उदाहरण में वह धातु ऋचा के पाद के अन्त में है, मध्य में नहीं । सो ञ्युट् प्रत्यय हो गया है । पाद के मध्य में 'वह' धातु होती है, तो वहश्च (६।२।६४) से ण्वि प्रत्यय ही होता है ।।

जनसनखनक्रमगमो विट् ।।३।२।६७।।

जनसनखनक्रमगमः ५।१।। विट् १।१।। स०—जनश्च सनश्च खनश्च क्रमश्च गम् च जन ···गम्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—छन्दसि, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—जन, सन, खन, क्रम, गम् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सुबन्त उपपदे छन्दसि विषये विट्प्रत्ययो भवति ।। जन जनने, जनी प्रादुर्भावे द्वयोरपि ग्रहणम्, एवं षणु दाने षण सम्भक्तौ द्वयोरपि ग्रहणम् ।। उदा०—अप्सु जायते=अब्जाः; उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश (यजु० ३२।११); गोषु जायते=गोजाः । सन—गा (इन्द्रियाणि) सनोति=गोषाः; इन्द्रो नृषा असि; नॄन् सनोतीति नृषाः । खन—बिसखाः, कूपखाः । क्रमः—दधिक्राः (ऋक्० ४।३८।१) । गम—अग्रेगाः (यजु० २७।३१) ।।

भाषार्थः—[जनसनखनक्रमगमः] जन, सन, खन, क्रम, गम इन धातुओं से सुबन्त उपपद रहते वेदविषय में [विट्] विट् प्रत्यय होता है ।। विड्वनोरनु० (६।४।४१) से अनुनासिक नकार मकार को आत्व सर्वत्र हो जाता है । विट् प्रत्यय के व्

का भी वेरपृक्तस्य (६।१।६५) लगकर सर्वापहारी लोप हो जाता है। 'अप् ज आ सु' यहाँ झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'प्' को 'ब्' होकर, तथा सवर्ण दीर्घ होकर पूर्ववत् अब्जाः बना है। प्रथमजाम् द्वितीयान्त पद है। सनोतेरनः (८।३।१०८) से गोषाः में सन धातु को षत्व हो गया है, शेष सब पूर्ववत् ही समझें॥

यहाँ से 'विट्' की अनुवृत्ति ३।२।६९ तक जायेगी॥

अदोऽनन्ने॥३।२।६८॥

अदः ५।१॥ अनन्ने ७।१॥ स०—न अन्नम् अनन्नम्, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—विट्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—अद धातोरनन्ने सुबन्ते उपपदे विट् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—आमम् अत्ति=आमात्। सस्यम् अत्ति=सस्यात्॥

भाषार्थः—[अनन्ने] अनन्न सुबन्त उपपद रहते [अदः] अद धातु से विट् प्रत्यय होता है॥ उदा०—आमात् (कच्चा खानेवाला)। सस्यात् (पौधे को खाने-वाला)॥

यहाँ से 'अदः' की अनुवृत्ति ३।२।६९ तक जायेगी॥

क्रव्ये च॥३।२।६९॥

क्रव्ये ७।१॥ च अ०॥ अनु०—अदः, विट्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—क्रव्ये सुबन्ते उपपदे अदधातोर्विट् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—क्रव्यम् अत्ति= क्रव्यात्॥

भाषार्थः—[क्रव्ये] क्रव्य सुबन्त उपपद रहते [च] भी अद धातु से विट् प्रत्यय होता है॥ उदा०—क्रव्यात् (मांस खानेवाला, राक्षस)॥

दुहः कब् घश्च॥३।२।७०॥

दुहः ५।१॥ कप् १।१॥ घः १।१॥ च अ०॥ अनु०—सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—दुहेर्धातोः सुबन्ते उपपदे कप् प्रत्ययो भवति घकारश्चान्तादेशो भवति॥ उदा०—कामदुघा धेनुः। धर्मदुघा॥

भाषार्थः—[दुहः] दुह धातु से सुबन्त उपपद रहते [कप्] कप् प्रत्यय होता है, [च] तथा अन्त्य हकार को (१।१।५१) [घः] घकारादेश होता है॥ उदा०—कामदुघा धेनुः (इच्छा पूर्ण करनेवाली गौ)। धर्मदुघा (धर्म को ग्रहण करने-वाली)॥ स्त्रीलिङ्ग में टाप् (४।१।४) हो गया है॥

मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्॥३।२।७१॥

मन्त्रे ७।१॥ श्वेतवहो डाशः ५।१॥ ण्विन् १।१॥ स०—श्वेतवाश्च उक्थ-

शश्च पुरोडाश्च श्वेत…डाश्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—श्वेतवह, उक्थशस्, पुरोडाश् इत्येते शब्दाः ण्विनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते मन्त्रे = वैदिके प्रयोगे ॥ श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे वहेर्धातोः कर्मणि कारके ण्विन् प्रत्ययो भवति । श्वेता एनं वहन्ति = श्वेतवा इन्द्रः । उक्थशस् —इत्यत्र उक्थशब्दे कर्मणि करणे वा कारके उपपदे शंसुधातोर्ण्विन् प्रत्ययो भवति नलोपश्च निपात्यते । उक्थानि शंसति, उक्थैर्वा शंसति = उक्थशाः । पुरोडाश्—इत्यत्र पुरः पूर्वस्य 'दाश् दाने' धातोः कर्मणि ण्विन् प्रत्ययो धातोरादेः दकारस्य च डत्वं निपात्यते । पुरो दाशन्त एनम् = पुरोडाः ॥

भाषार्थः—[मन्त्रे] वैदिक प्रयोग विषय में [श्वेत…शः] श्वेतवह उक्थशस् पुरोडाश् ये शब्द [ण्विन्] ण्विन्प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं ॥ कर्तृवाची श्वेत शब्द उपपद रहते वह धातु से कर्मकारक में ण्विन् प्रत्यय श्वेतवह शब्द में हुआ है । पीछे श्वेतवहादीनां डस् पदस्य च (भा० वा० ३।२।७१) इस महाभाष्य वार्तिक से ण्विन् के स्थान में डस् आदेश होकर श्वेतवह डस् रहा । डित्यभस्यापि टेर्लोपः इस वार्तिक से टि भाग का लोप होकर 'श्वेतव् अस् = श्वेतवस् सु' रहा । अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४) से दीर्घ होकर श्वेतवास् स् रहा । हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु का लोप, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर श्वेतवाः बना । उक्थशस् शब्द में कर्म या करण-वाची उक्थ शब्द उपपद हो, तो शंसु धातु से ण्विन् प्रत्यय होता है, तथा शंसु के नकार का लोप भी यहाँ निपातन से ही होता है । शेष सिद्धि डस् आदेश होकर पूर्ववत् हो जानें । पुरोडाश् शब्द में भी पुरस् उपपद रहते दाश् धातु से कर्मकारक में ण्विन प्रत्यय, तथा धातु के आदि दकार को डत्व निपातन है । शेष सिद्धि डस् आदेश होकर पूर्ववत् ही है ॥

यहाँ से 'मन्त्रे ण्विन्' की अनुवृत्ति ३।२।७२ तक जायेगी ॥

अवे यजः ॥३।२।७२॥

अवे ७।१॥ यजः ५।१॥ अनु०—मन्त्रे, ण्विन्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अव उपपदे यजधातोर्मन्त्रविषये ण्विन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि ॥

भाषार्थः—[अवे] अव उपपद रहते [यजः] यज धातु से ण्विन् प्रत्यय होता है मन्त्रविषय में ॥ ण्विन् को डस् आदेश होकर पूर्ववत् ही सूत्र लगकर सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'यजः' की अनुवृत्ति ३।२।७३ तक जायेगी ॥

विजुपे छन्दसि ॥३।२।७३॥

विच् १।१॥ उपे ७।१॥ छन्दसि ७।१॥ **अनु०**—यजः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—उप उपपदे यजधातोः छन्दसि विषये विच् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—उपयड्भीरूर्ध्वं वहन्ति । उपयड्भ्यः (श० ३।८।३।१८) ॥

भावार्थः—[उपे] उप उपपद रहते यज धातु से [छन्दसि] वेदविषय में [विच्] विच् प्रत्यय होता है ॥ विच् का सर्वापहारी लोप हो जाता है । व्रश्चभ्रस्ज०(८।२।३६) से यज् के ज् को ष्, तथा झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से ष् को ड् हो गया है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।२।७४ तक, तथा 'विच्' की अनुवृत्ति ३।२।७५ तक जायेगी ॥

आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च ॥३।२।७४॥

आतः ५।१॥ मनिन्क्वनिब्वनिपः १।३॥ च अ० ॥ स०—मनिन्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—छन्दसि, विच्, सुपि, धातोः, प्रत्ययः परश्च ॥ **अर्थः**—आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः सुबन्त उपपदे छन्दसि विषये मनिन् क्वनिप् वनिप् चकारात् विच् च प्रत्यया भवन्ति ॥ **उदा०**—शोभनं ददातीति=सुदामा, सुधामा । क्वनिप्—सुधीवा, सुपीवा । वनिप्—भूरिदावा, घृतपावा । विच्—कीलालं पिबति=कीलालपाः, शुभंयाः ॥

भावार्थः—[आतः] आकारान्त धातुओं से सुबन्त उपपद रहते वेदविषय में [मनि ···पः] मनिन् क्वनिप् वनिप्, [च] तथा विच् प्रत्यय होते हैं ॥ उदा०—सुदामा (अच्छा देनेवाला), सुधामा (अच्छा धारण करनेवाला) । क्वनिप्—सुधीवा, सुपीवा (अच्छा पान करनेवाला) । वनिप्—भूरिदावा (बहुत देनेवाला), घृतपावा (घृत पीनेवाला) । विच्—कीलालपाः (खून पीनेवाला=राक्षस) । शुभंयाः (कल्याण को प्राप्त होनेवाला) ॥ सुदामन् सु बनकर सर्वनामस्थाने०(६।४।८) से दीर्घ, तथा नलोपः० (८।२।७) से नकारलोप, हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु लोपादि सब होकर सुदामा बनेगा । इसी प्रकार सब में समझें । सुधीवा सुपीवा में क्वनिप् के कित् होने से घुमास्थागा० (६।४।६६) से ईत्व हो गया है । कीलालपाः आदि में विच् का पूर्ववत् सर्वापहारी लोप होकर 'सु' को रुत्व विसर्जनीय हो गया है ॥

यहाँ से 'मनिन्क्वनिब्वनिप' की अनुवृत्ति ३।२।७५ तक जायेगी ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥३।२।७५॥

अन्येभ्यः ५।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यन्ते क्रियापदम् ॥ **अनु०**—मनिन्क्वनिब्वनिपः, विच्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—अन्येभ्योऽपि धातुभ्यो मनिन् क्वनिप्

वनिप् विच् इत्येते प्रत्ययाः दृश्यन्ते ॥ उदा०—सुशर्मा । क्वनिप्—प्रातरित्वा । वनिप् —विजावा, प्रजावा, अग्रेगावा । विच्—रेडसि पर्णं नयेः ॥

भाषार्थः—[अन्येभ्यः] आकारान्त धातुओं से जो अन्य धातुएँ उनसे [अपि] भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप् तथा विच् ये प्रत्यय [दृश्यन्ते] देखे जाते हैं ॥ पूर्व सूत्र से आकारान्त धातुओं से ही ये प्रत्यय प्राप्त थे, यहाँ अन्यों से भी देखे जाते हैं, ऐसा कह दिया । 'दृश्यन्ते' इस क्रियापद से यहाँ यह जाना जाता है कि प्राचीन शिष्ट ऋषि मुनिकृत ग्रन्थों में यदि उक्त प्रत्ययान्त शब्द दीखें, तो उन्हें साधु अर्थात् शुद्ध समझना ॥

क्विप् च ॥३।२।७६॥

क्विप्

क्विप् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सर्वेभ्यो धातुभ्यः सोपपदेभ्यो निरुपपदेभ्यश्च क्विप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उखायाः स्रंसते=उखास्रत् । पर्णध्वत् । वाहाद् भ्रश्यति=वाहाभ्रट्, अन्येषामपि०(६।३।१३६) इति दीर्घः ॥

भाषार्थः—सब धातुओं से सोपपद हों चाहे निरुपपद [क्विप्] क्विप् प्रत्यय [च] भी होता है ॥

यहाँ से 'क्विप्' की अनुवृत्ति ३।२।७७ तक जायेगी ॥

स्थः क च ॥३।२।७७॥

स्था + क, क्विप्

स्थः ५।१॥ क लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—क्विप्, सुपि, उपसर्गेऽपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सुपि उपपदे स्थाधातोः सोपसर्गात् निरुपसर्गाच्च कः प्रत्ययो भवति, चकारात् क्विप् च ॥ उदा०—शस्थः, शंस्थाः ॥

भाषार्थः—सुबन्त उपपद रहते सोपसर्ग या निरुपसर्ग [स्थः] स्था धातु से [क] क [च] तथा क्विप् प्रत्यय होता है ॥ शम् अव्यय उपपद रहते स्था धातु से क प्रत्यय करने पर आतो लोप० (६।४।६४) से आकार का लोप होकर शंस्थः (कल्याणवाला) बना । क्विप् पक्ष में—शंस्थाः बनेगा ॥

णिनि

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ॥३।२।७८॥

सुपि ७।१॥ अजातौ ७।१॥ णिनिः १।१॥ ताच्छील्ये ७।१॥ स०—न जातिः अजातिः, तस्याम्, नञ्तत्पुरुषः । तत् शीलं यस्य तत् तच्छीलं, बहुव्रीहिः । तच्छीलस्य भावः ताच्छील्यं, तस्मिन् ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अजातिवाचिनि सुबन्त उपपदे ताच्छील्ये गम्यमाने धातुमात्रात् णिनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उष्णं भोक्तुं शीलमस्य=उष्णभोजी । शीतभोजी । प्रियवादी । धर्मोपदेशी ॥

भावार्थः—[अजातौ] अजातिवाची [सुपि] सुबन्त उपपद हो, तो [ताच्छील्ये] ताच्छील्य=ऐसा उसका स्वभाव है, गम्यमान होने पर सब धातुओं से णिनि प्रत्यय होता है ॥ उदा०—उष्णभोजी (गरम-गरम खाने के स्वभाववाला)। शीतभोजी। प्रियवादी (जिसका स्वभाव ही प्रिय बोलने का हो)। धर्मोपदेशी (धर्म का उपदेश करने का जिसका स्वभाव हो) ॥ णिनि में णित्करण वृद्धि के लिये है। उष्ण भुज् णिनि=उष्ण भुज् इन् सु, ऐसी अवस्था में गुण, तथा सौ च (६।४।१३) से दीर्घ होकर 'उष्णभोजीन् सु' बन गया। शेष नकारलोप, तथा हल्ङ्यादि लोप पूर्व के समान ही होकर उष्णभोजी बन गया। इसी प्रकार सब में समझें ॥

यहाँ से 'णिनिः' की अनुवृत्ति ३।२।८६ तक जायेगी ॥

णिनि

कर्त्तर्युपमाने ॥३।२।७९॥

कर्त्तरि ७।१॥ उपमाने ७।१॥ अनु०—णिनिः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपमानवाचिनि कर्त्तर्युपपदे धातुमात्रात् णिनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उष्ट्र इव क्रोशति=उष्ट्रक्रोशी, ध्वाङ्क्ष इव रौति=ध्वाङ्क्षरावी ॥

भावार्थः—[उपमाने] उपमानवाची [कर्त्तरि] कर्त्ता उपपद हो, तो धातुमात्र से णिनि प्रत्यय होता है ॥ उदा०—उष्ट्रक्रोशी (ऊंट के समान आवाज करनेवाला), ध्वाङ्क्षरावी (कौवे के समान आवाज करनेवाला) ॥ उदाहरणों में उष्ट्र इत्यादि उपमानवाची कर्त्ता उपपद हैं। सो क्रुश आदि धातुओं से णिनि प्रत्यय हो गया है ॥

णिनि

व्रते ॥३।२।८०॥

व्रते ७।१॥ अनु०—सुपि, णिनिः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—व्रते गम्यमाने सुबन्त उपपदे धातुमात्रात् णिनि प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्थण्डिले शयितुं व्रतमस्य=स्थण्डिलशायी, अश्राद्धभोजी ॥

भावार्थः—[व्रते] व्रत गम्यमान हो, तो सुबन्त उपपद रहते धातु से णिनि प्रत्यय होता है ॥ उदा०—स्थण्डिलशायी (चबूतरे पर सोने का व्रत जिसका है); अश्राद्धभोजी (श्राद्ध को न खाने का व्रत जिसका है) ॥ अचो ञ्णिति (७।२।११५) से शीङ् धातु को वृद्धि तथा आयादेश हुआ है, शेष सिद्धि पूर्ववत् है ॥

णिनि

बहुलमाभीक्ष्ण्ये ॥३।२।८१॥

बहुलम् १।१॥ आभीक्ष्ण्ये ७।१॥ अनु०—सुपि, णिनिः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आभीक्ष्ण्यं=पौनःपुन्यं, तस्मिन् गम्यमाने धातोर्बहुलं णिनि प्रत्ययो

भवति ॥ उदा०—कषायपायिणो गान्धाराः । क्षीरपायिण उशीनराः । सौवीरपायिणो बाह्लीकाः । बहुलग्रहणात् 'कुल्माषखादः' अत्र णिनिर्न भवति ॥

भाषार्थः—[आभीक्ष्ण्ये] आभीक्ष्ण्य अर्थात् पौनःपुन्य गम्यमान हो, तो धातु से [बहुलम्] बहुल करके णिनि प्रत्यय होता है ॥ उदा०—कषायपायिणो गान्धाराः (बार-बार एक विशेष रस को पीनेवाले गान्धार) । क्षीरपायिण उशीनराः (बार-बार दूध पीनेवाले उशीनर लोग) । सौवीरपायिणो बाह्लीकाः (कांजी विशेष के पीनेवाले बाह्लीक लोग) । बहुल ग्रहण करने से—कुल्माषखादः (उबले हुये अन्न को खानेवाला) यहाँ णिनि नहीं होता ॥

मनः ॥३।२।८२॥ णिनि

मनः ५।१॥ अनु०—सुपि, णिनिः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सुबन्त उपपदे मन्धातोः णिनि प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दर्शनीयं मन्यते=दर्शनीयमानी, शोभनमानी, सुरूपमानी ॥

भाषार्थः—सुबन्त उपपद रहते [मनः] मन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है ॥ मन धातु यहाँ दिवादिगण की ली गई है, तनादि की 'मनु' नहीं ॥ उदा०—दर्शनीयमानी (देखने योग्य माननेवाला), शोभनमानी (शोभन माननेवाला), सुरूपमानी (सुरूप माननेवाला) ॥

यहाँ से 'मनः' की अनुवृत्ति ३।२।८३ तक जायेगी ॥ खश्, णिनि

आत्ममाने खश्च ॥३।२।८३॥

आत्ममाने ७।१॥ खश् १।१॥ च अ० ॥ स०—आत्मनः=स्वस्य मानः आत्ममानः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—मनः, णिनिः, सुपि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आत्ममानेऽर्थे वर्त्तमानात् मन्यतेर्धातोः सुबन्ते उपपदे खश् प्रत्ययो भवति, चकारात् णिनिश्च ॥ उदा०—आत्मानं पण्डितं मन्यते=पण्डितंमन्यः पण्डितमानी । दर्शनीयंमन्यः, दर्शनीयमानी ॥

भाषार्थः—[आत्ममाने] 'अपने आप को मानना' इस अर्थ में वर्तमान मन धातु से [खश्] खश् प्रत्यय होता है, [च] चकार से णिनि भी होता है ॥ उदा०—पण्डितंमन्यः (अपने आप को पण्डित माननेवाला), पण्डितमानी । दर्शनीयंमन्यः (अपने आपको दर्शनीय माननेवाला), दर्शनीयमानी ॥ खश् पक्ष में शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा को मानकर दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से श्यन् विकरण भी होगा, तथा मुम् आगम भी खित् होने से अरुर्द्विष० (६।३।६६) से होगा । सो 'पण्डित

मुम् मन् श्यन् खश्' बना, अनुबन्ध लोप होकर 'पण्डितंमन्य अ सु, रहा । पूर्ववत् सब होकर पण्डितंमन्यः बना ॥

भूते ॥३।२।८४॥

भूते ७।१॥ अर्थः—वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३) इत्यतः पूर्वं पूर्वं ये प्रत्ययाः विधीयन्ते ते भूते काले भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अग्रे उदाहरिष्यामः ॥

भावार्थः—यहाँ से आगे ३।२।१२३ तक [भूते] भूते का अधिकार जाता है । अर्थात् वहाँ तक जितने प्रत्यय विधान करेंगे, वे सब भूतकाल में होंगे, ऐसा जानना चाहिये ॥

करणे यजः ॥३।२।८५॥

करणे ७।१॥ यजः ५।१॥ अनु०—भूते, णिनिः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—करणे कारके उपपदे यजधातोर्णिनि प्रत्ययो भवति भूते काले ॥ उदा०—अग्निष्टोमेन इष्टवान्=अग्निष्टोमयाजी ॥

भावार्थः—[करणे] करण कारक उपपद होने पर [यजः] यज धातु से णिनि प्रत्यय भूतकाल में होता है ॥ उदा०—अग्निष्टोमयाजी (अग्निष्टोम के द्वारा यज्ञ किया) ॥ सिद्धि पूर्ववत् ही है ॥

कर्मणि हनः ॥३।२।८६॥

कर्मणि ७।१॥ हनः ५।१॥ अनु०—भूते, णिनिः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्मणि कारक उपपदे हन्धातोर्णिनि प्रत्ययो भवति भूते काले ॥ उदा०—पितृव्यं हतवान्=पितृव्यघाती, मातुलघाती ॥

भावार्थः—[कर्मणि] कर्म उपपद रहते [हनः] हन् धातु से णिनि प्रत्यय भूतकाल में होता है ॥ उदा०—पितृव्यघाती (जिसने चाचा को मारा); मातुलघाती (जिसने मामा को मारा) ॥ सिद्धि के लिये परि० ३।२।५१ देखें ॥

यहाँ से 'हनः' की अनुवृत्ति ३।२।८८ तक, तथा 'कर्मणि' की अनुवृत्ति ३।२।९५ तक जायेगी ॥

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् ॥३।२।८७॥

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु ७।३॥ क्विप् १।१॥ स०—ब्रह्म० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, हनः, भूते, धातोः, प्रत्ययः परश्च ॥ अर्थः—ब्रह्म, भ्रूण, वृत्र इत्येतेष्वेव कर्मसूपपदेषु हन्धातोः भूतेकाले क्विबेव प्रत्ययो भवति । नियमार्थोऽयमारम्भः ॥ उदा०—ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा ॥

वृत्र
ब्रह्म + हन् + क्विप्
भ्रूण

भाषार्थः—[ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु] ब्रह्म, भ्रूण, वृत्र ये ही कर्म उपपद रहते हन् धातु से भूतकाल में [क्विप्] क्विप् प्रत्यय होता है। यह सूत्र नियमार्थ है। इससे दो प्रकार का नियम निकलता है—धातु नियम और काल नियम, जो कि अर्थ में प्रदर्शित कर ही दिया है॥ उदा०—ब्रह्महा (ब्राह्मण को मारनेवाला)। भ्रूणहा (गर्भ को गिरानेवाला)। वृत्रहा (वृत्र को मारनेवाला)॥ सिद्धि में 'ब्रह्मन् हन् क्विप्' =ब्रह्म हन् सु, पूर्ववत् ही होकर, सौ च (६।४।१३) से दीर्घ, तथा नलोपः० (८।२।७) से न लोप, एवं अन्य कार्य पूर्ववत् ही जानें॥

यहाँ से 'क्विप्' की अनुवृत्ति ३।२।९२ तक जायेगी॥

बहुलं छन्दसि ॥३।२।८८॥

क्विप्

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—क्विप्, कर्मणि, हनः, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—छन्दसि विषये कर्मण्युपपदे हन्धातोः भूते काले क्विप् प्रत्ययो बहुलं भवति॥ उदा०—मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्, पितृहा। न च भवति—मातृघातः, पितृघातः॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में कर्म उपपद रहते भूतकाल में हन् धातु से [बहुलम्] बहुल करके क्विप् प्रत्यय होता है॥ पितृघातः में कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय होता है। सिद्धि में परि० ३।२।५१ के समान ही हन् के 'ह्' को 'घ्', तथा 'न्' को 'त्' इत्यादि जानें। पितृघात् अण्=पितृघातः बना॥

सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः ॥३।२।८९॥

कृञ् + क्विप्

सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु ७।३॥ कृञः ५।१॥ स०—सुश्च कर्म च पापञ्च मन्त्रश्च पुण्यञ्च सु…पुण्यानि, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—क्विप्, कर्मणि, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—सु, कर्म, पाप, मन्त्र, पुण्य इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु कृञ् धातोः भूतेकाले क्विप् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—सुष्ठु कृतवान्=सुकृत्। कर्मकृत्। पापकृत्। मन्त्रकृत्। पुण्यकृत्॥

भाषार्थः—[सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु] सु, कर्म, पाप, मन्त्र, पुण्य ये कर्म उपपद हों, तो [कृञः] कृञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है॥ यहाँ काल-उपपद-प्रत्यय नियम समझने चाहियें॥ सर्वत्र ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम हुआ है॥ उदा०—सुकृत् (अच्छा करनेवाला)। कर्मकृत् (कर्म करनेवाला)। पाप-

कृत् (पाप करनेवाला)। मन्त्रकृत् (मन्त्रद्रष्टा)। पुण्यकृत् (पुण्य करनेवाला)॥ परि० १।१।६१ की तरह सिद्धि समझें॥

सोम + षुञ् + क्विप् सोमे सुञः ॥३।२।९०॥

सोमे ७।१॥ सुञः ५।१॥ अनु०—क्विप्, कर्मणि, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—सोमे कर्मण्युपपदे 'षुञ् अभिषवे' इत्यस्माद् धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति भूते काले॥ उदा०—सोमसुत्, सोमसुतौ॥

भाषार्थः—[सोमे] सोम कर्म उपपद रहते [सुञः] षुञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है॥ यहां धातु काल-उपपद-प्रत्यय नियम है॥ सिद्धि परि० १।१।६१ में देखें॥

अग्नि + चिञ् + क्विप् अग्नौ चेः ॥३।२।९१॥

अग्नौ ७।१॥ चेः ५।१॥ अनु०—क्विप्, कर्मणि, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—अग्नौ कर्मण्युपपदे चिञ्धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति भूते काले॥ उदा०—अग्निम् अचैषीत्=अग्निचित्, अग्निचितौ॥

भाषार्थः—[अग्नौ] अग्नि कर्म उपपद रहते [चेः] चिञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय होता है॥ यहाँ भी पूर्वसूत्र के समान चारों नियम हैं॥ सिद्धि परि० १।१।६१ में देखें॥

यहाँ से 'चेः' की अनुवृत्ति ३।२।९२ तक जायेगी॥

क्विप् कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ॥३।२।९२॥

कर्मणि ७।१॥ अग्न्याख्यायाम् ७।१॥ स०—अग्नेराख्या अग्न्याख्या, तस्याम्, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—चेः, क्विप्, कर्मणि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—कर्मण्युपपदे चिञ्धातोः कर्मणि कारके क्विप् प्रत्ययो भवति अग्न्याख्यायाम्॥ उदा०—श्येन इव चीयतेऽग्निः=श्येनचित्, कङ्कचित्॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म उपपद रहते चिञ् धातु से कर्म कारक में क्विप् प्रत्यय होता है [अग्न्याख्यायाम्] अग्नि की आख्या अभिधेय हो तो॥ उदा० श्येनचित् (श्येन के आकार की तरह जो अग्नि की वेदी ईंटों से चुनी गई), कङ्कचित् (कंक पक्षी के आकार की तरह जो अग्नि की वेदी चुनी गई)॥ इस सूत्र में 'भूते' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता है। इसमें "श्येनचितं चिन्वीत" आदि श्रौत ग्रन्थों के वचन प्रमाण हैं। अतः सामान्य करके तीनों कालों में प्रत्यय होगा॥

कर्मणीनि विक्रियः ॥३।२।९३॥

कर्मणि ७।१॥ इनि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ विक्रयः ५।१॥ स०—वेः क्री विक्री, तस्मात्, पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्मण्युपपदे विपूर्वात् क्रीञ्धातोः इनि प्रत्ययो भवति भूते काले॥ उदा०—सोमं विक्रीतवान्=सोमविक्रयी[1], रसविक्रयी, मद्यविक्रयी ॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म उपपद रहते [विक्रियः] वि पूर्वक क्रीञ् धातु से भूत काल में [इनि] इनि प्रत्यय होता है ॥ उदा०—सोमविक्रयी (सोम को बेचनेवाला), रसविक्रयी (रस को बेचनेवाला), मद्यविक्रयी (शराब बेचनेवाला)॥ सिद्धि में क्री धातु को इनि प्रत्यय परे रहते गुण(७।३।८४),तथा अयादेश जानें। शेष दीर्घत्व नलोपादि पूर्ववत् ही णिनिप्रत्ययान्त की सिद्धि के समान हैं॥

दृशेः क्वनिप् ॥३।२।९४॥

दृशेः ५।१॥ क्वनिप् १।१॥ अनु०—कर्मणि, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्मण्युपपदे दृशधातोः भूते काले क्वनिप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—परलोकं दृष्टवान्=परलोकदृश्वा, पाटलिपुत्रदृश्वा, वाराणसीं दृष्टवान्=वाराणसीदृश्वा ॥

भाषार्थः—कर्म उपपद रहते भूतकाल में [दृशेः] दृश धातु से [क्वनिप्] क्वनिप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—परलोकदृश्वा (जिसने परलोक देखा); पाटलिपुत्रदृश्वा (जिसने पाटलिपुत्र को देखा); वाराणसीदृश्वा (जिसने वाराणसी को देखा)॥ क्वनिप् का 'वन्' शेष रहेगा, पुनः दीर्घादि (६।४।८) पूर्ववत् होंगे ॥

यहाँ से 'क्वनिप्' की अनुवृत्ति ३।२।९६ तक जायेगी ॥

राजनि युधिकृञः ॥३।२।९५॥

राजनि ७।१॥ युधिकृञः ५।१॥ स०—युधिश्च कृञ् च युधिकृञ्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—क्वनिप्, कर्मणि, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—राजन्कर्मोपपदे युध् कृञ् इत्येताभ्यां धातुभ्यां भूते काले क्वनिप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—राजानं योधितवान्=राजयुध्वा । राजकृत्वा ॥

भाषार्थः—[राजनि] राजन् कर्म उपपद रहते [युधिकृञः] युध् तथा कृञ् धातुओं से भूतकाल में क्वनिप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—राजयुध्वा (राजा को

---

१. सोम, रस(=लवण)तथा मद्य बेचना बुरा समझा जाता है। अतः ये सब उदाहरण कुत्सा=निन्दा में हैं ॥

जिसने लड़वाया)। राजकृत्वा (राजा को जिसने बनाया)॥ युध् धातु यहाँ अन्तर्भावितण्यर्थ होने से सकर्मक है॥ सिद्धि ३।२।७४ सूत्र के समान ही दीर्घत्व नलोपादि होकर जानें॥

यहाँ से 'युधिकृञः' की अनुवृत्ति ३।२।९६ तक जायेगी॥

सहे च ॥३।२।९६॥

सहे ७।१॥ च अ०॥ अनु०—युधिकृञः, क्वनिप्, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—सहशब्द उपपदे युधि कृञ् इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्वनिप् प्रत्ययो भवति भूते काले॥ उदा०—सहयुध्वा। सहकृत्वा॥

भाषार्थः—[सहे] सह शब्द उपपद रहते [च] भी युध् तथा कृञ् धातुओं से भूत काल में क्वनिप् प्रत्यय होता है॥ उदा०—सहयुध्वा (साथ-साथ जिसने युद्ध किया)। सहकृत्वा (साथ-साथ जिसने कार्य किया)॥

सप्तम्यां जनेर्डः ॥३।२।९७॥

सप्तम्याम् ७।१॥ जनेः ५।१॥ डः १।१॥ अनु०—भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—सप्तम्यन्त उपपदे जनेर्धातोर्डः प्रत्ययो भवति भूते काले॥ उदा०—उपसरे जातः=उपसरजः। मन्दुरायां जातः=मन्दुरजः। कटजः। वारिणि जातः=वारिजः॥

भाषार्थः—[सप्तम्याम्] सप्तम्यन्त उपपद हो, तो [जनेः] जन धातु से [डः] ड प्रत्यय होता है॥ उदा०—उपसरजः (प्रथम बार में गर्भ धारण से उत्पन्न हुआ)। मन्दुरजः (घोड़ों की शाला में पैदा होनेवाला)। कटजः (चटाई में पैदा होनेवाला)। वारिजः (कमल)॥ प्रत्यय के डित् होने से डित्यभस्यापि टेर्लोपः इस वार्तिक से जन् धातु के टि भाग (=अन्) का लोप हो जायेगा। मन्दुरा को ह्रस्व ङ्यापोः संज्ञा० (६।३।६१) से होता है॥ सिद्धि में यही विशेष है॥

यहाँ से 'जनेर्डः' की अनुवृत्ति ३।२।१०१ तक जायेगी॥

पञ्चम्यामजातौ ॥३।२।९८॥

पञ्चम्याम् ७।१॥ अजातौ ७।१॥ स०—न जातिः अजातिः, तस्याम्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—जनेर्डः, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—अजातिवाचिनि पञ्चम्यन्त उपपदे जनेर्धातोर्डः प्रत्ययो भवति भूते काले॥ उदा०—शोकात् जातः=शोकजो रोगः। संस्कारजः। दुःखजः। बुद्धेः जातः=बुद्धिजः॥

भाषार्थः—[अजातौ] अजातिवाची [पञ्चम्याम्] पञ्चम्यन्त उपपद हो, तो

जन धातु से ड प्रत्यय होता है भूतकाल में ॥ उदा०—शोकजो रोगः (शोक से उत्पन्न होनेवाला रोग)। संस्कारजः (संस्कार से उत्पन्न होनेवाला)। दुःखजः (दुःख से उत्पन्न होनेवाला)। बुद्धिजः (बुद्धि से उत्पन्न होनेवाला)॥ पूर्ववत् सिद्धि में टि भाग का लोप होगा ॥

उपसर्गे च संज्ञायाम् ॥३।२।९९॥

उपसर्गे ७।१॥ च अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ **अनु०**—जनेर्डः, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—उपसर्गे चोपपदे जनेर्धातोः भूते काले डः प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये ॥ **उदा०**—अयेमा मानवीः प्रजाः। वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम। प्रजाता इति प्रजाः ॥

भाषार्थः—[उपसर्गे] उपसर्ग उपपद रहते [च] भी [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में जन धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अयेमा मानवीः प्रजाः (यह मानवी प्रजा है)। वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम (हम प्रजापति की प्रजा होवें)॥

अनौ कर्मणि ॥३।२।१००॥

अनौ ७।१॥ कर्मणि ७।१॥ **अनु०**—जनेर्डः, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—कर्मण्युपपदे अनुपूर्वात् जनेर्डः प्रत्ययो भवति भूते काले ॥ **उदा०**—पुमांसमनुजातः=पुमनुजः। स्त्र्यनुजः ॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म उपपद रहते [अनौ] अनुपूर्वक जन धातु से ड प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पुमनुजः (भाई के पश्चात् पैदा हुआ भाई)। स्त्र्यनुजः (बहन के पश्चात् पैदा हुआ भाई)॥

अन्येष्वपि दृश्यते ॥३।२।१०१॥

अन्येषु ७।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ **अनु०**—जनेर्डः, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—अन्येषु कारकेषूपपदेष्वपि जनेर्डः प्रत्ययो दृश्यते ॥ **उदा०**—सप्तम्यामुपपदे उक्तम्, असप्तम्यामपि भवति—न जायते इति अजः। द्विर्जाता द्विजाः। **पञ्चम्यामजातौ** इत्युक्तं, जातावपि दृश्यते—ब्राह्मणजो धर्मः। क्षत्रियजं युद्धम्। **उपसर्गे च संज्ञायाम्** इत्युक्तम्, असंज्ञायामपि दृश्यते—अभिजाः। परिजाः। **अनौ कर्मणि** इत्युक्तम्, अकर्मण्यपि दृश्यते=अनुजातः=अनुजः। अपि ग्रहणादन्येभ्यो धातुभ्योऽपि भवति—परितः खाता=परिखा ॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्रों में जिनके उपपद रहते जन धातु से ड विधान किया है, उनसे [अन्येषु] अन्य कोई उपपद हों तो [अपि] भी जन धातु से ड प्रत्यय

[दृश्यते] देखा जाता है ॥ यहाँ सूत्र में 'अपि' कहा है, अतः जन धातु से अन्य धातुओं से भी ड प्रत्यय होता है, यह बात निकलती है ॥ उदा०—सप्तमी उपपद रहते कहा है, पर सप्तमी से भिन्न में भी देखा जाता है – अजः (परमेश्वर)। द्विजाः (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)। पञ्चम्यामजातौ में अजाति कहा है, पर जाति में भी देखा जाता है—ब्राह्मणजो धर्मः (ब्राह्मण से पैदा हुआ धर्म)। क्षत्रियजं युद्धम् (क्षत्रिय से उत्पन्न होनेवाला युद्ध)। उपसर्गे च संज्ञायाम् से संज्ञा में कहा है पर असंज्ञा में भी देखा जाता है—अभिजाः (पैदा होनेवाला)। परिजाः (केश)। अनौ कर्मणि में कर्म उपपद रहते कहा है, पर अकर्म में भी देखा जाता है—अनुजः (छोटा भाई)। 'अपि' ग्रहण करने से अन्य धातुओं से भी देखा जाता है—परिखा (खाई) ॥

निष्ठा ॥३।२।१०२॥

निष्ठा १।१॥ अनु०—भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धातोः भूते काले निष्ठाप्रत्ययः परश्च भवति ॥ क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५) इत्यनेन निष्ठा संज्ञा कृता तौ निष्ठासंज्ञकौ प्रत्ययौ भूते काले भवतः ॥ उदा०—भिन्नः, भिन्नवान्। भुक्तः, भुक्तवान्। कृतः, कृतवान् ॥

भाषार्थः—धातुमात्र से भूतकाल में [निष्ठा] निष्ठासंज्ञक प्रत्यय (=क्त क्तवतु) होते हैं, और वे परे होते हैं ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।५ में देखें ॥ भुज् धातु के ज् को क् चोः कुः (८।२।३०), तथा खरि च (८।४।५४) से हो गया है ॥

सुयजोर्ङ्वनिप् ॥३।२।१०३॥

सुयजोः ६।२॥ ङ्वनिप् १।१॥ स०—सुयजोः इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षुञ् यज् इत्येताभ्यां धातुभ्यां ङ्वनिप् प्रत्ययो भवति भूते काले ॥ उदा०—सुतवान् इति=सुत्वा। इष्टवान् इति=यज्वा ॥

भाषार्थः—[सुयजोः] षुञ् तथा यज् धातु से भूतकाल में [ङ्वनिप्] ङ्वनिप् प्रत्यय होता है ॥ ङ्वनिप् का अनुबन्ध हटने पर 'वन्' रह जाता है। सु वन्, सु, पूर्ववत् ह्रस्वस्य० (६।१।६६) से तुक् आगम, तथा दीर्घत्व और नलोपादि होकर सुत्वा (जिसने सोमरस निचोड़ा)। यज्वा (जिसने यज्ञ किया) बना है ॥

जीर्यतेरतृन् ॥३।२।१०४॥

जीर्यतेः ५।१॥ अतृन् १।१॥ अनु०—भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'जॄष् वयोहानौ' इत्यस्माद् धातोः भूते काले अतृन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जरन्, जरन्तौ ॥

भाषार्थः—[जीर्यतेः] 'जॄष् वयोहानौ' धातु से भूतकाल में [अतृन्] अतृन्

प्रत्यय होता है ।। अतुन् का अनुबन्ध हटकर अत् रह जाता है । उगिदचां० (७।१।७) से नुम् आगम १।१।४६ से अन्त्य अच् से परे होकर जर् अ नुम् त् = जरन्त् बना, संयोगान्त लोप होकर जरन् (वृद्ध) बन गया ।।

छन्दसि लिट् ।।३।२।१०५।।

छन्दसि ७।१।। लिट् १।१।। अनु०—भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—छन्दसि विषये धातोः भूते काले लिट् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (यजु० ८।६)। यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान (ऋक्० १०।८८।३) ।।

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में भूतकाल सामान्य में धातुमात्र से [लिट्] लिट् प्रत्यय होता है ।। आङ्पूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु से आततान बना, तथा दृश् धातु से ददर्श बना है । लिट् लकार में सिद्धियाँ हम बहुत बार दिखा आये हैं । उसी प्रकार यहाँ भी समझें । पुनरपि परि० १।१।५७ देखें ।।

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।२।१०७ तक जायेगी ।।

लिटः कानज्वा ३।२।१०६।।

लिटः ६।१।। कानच् १।१।। वा अ० ।। अनु०—भूते, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—छन्दसि विषये लिटः स्थाने कानच् आदेशो वा भवति ।। उदा०—अग्निं चिक्यानः (तै० सं० ५।२।३।६)। सुषुवाणः (मै० सं० ३।४।३)। न च भवति—अहं सूर्यमुभयतो ददर्श (यजु० ८।६)।।

भाषार्थः—वेदविषय में भूतकाल में विहित जो [लिटः] लिट् उसके स्थान में [कानच] कानच् आदेश [वा] विकल्प से होता है ।।

यहाँ से 'लिटः, वा' की अनुवृत्ति ३।१।१०६ तक जायेगी ।।

क्वसुश्च ।।३।२।१०७।।

क्वसुः १।१।। च अ० ।। अनु०—भूते, लिटः, वा, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—छन्दसि विषये लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति ।। उदा०—जक्षिवान्, पपिवान् (ऋक्० १।६१।७)। पक्षे न च भवति—अहं सूर्यमुभयतो ददर्श ।।

भाषार्थः—वेदविषय में लिट् के स्थान में [क्वसुः] क्वसु आदेश [च] भी विकल्प से होता है ।। लिट् के स्थान में क्वसु आदि आदेश होते हैं । अतः यहाँ क्वसु को स्थानिवत् (१।१।५५ से) मानकर द्वित्वादि कार्य होते ही हैं। जक्षिवान् अद् धातु से बना है । अतः परि० १।१।५७ के जक्षतुः की सिद्धि के समान जक्ष् बना । इडागम वस्वेकाजाद्घसाम् (७।२।६७) से करके जक्षिवस् बना । शेष क्तवतु प्रत्ययान्त

की सिद्धि के समान जानें, जो कि परि० १।१।५ में दर्शाई है। पपिवान् पा धातु से बना है। यहाँ भी पूर्ववत् इडागम होकर आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आकारलोप होगा। पश्चात् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर 'पा प् इ वस्' बना, ह्रस्वः (७।४।५९) आदि होकर पपिवान् बना ॥

यहाँ से 'क्वसुः' की अनुवृत्ति ३।२।१०८ तक जायेगी ॥

भाषायां सदवसश्रुवः ॥३।२।१०८॥

भाषायाम् ७।१॥ सदवसश्रुवः ५।१॥ स०—सदश्च वसश्च श्रुश्च सदवसश्रु, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—लिटः, वा, क्वसुः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भाषायां=लौकिके प्रयोगे सद वस श्रु इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परो विकल्पेन लिट् प्रत्ययो भवति, लिटश्च स्थाने नित्यं क्वसुरादेशो भवति भूते काले ॥ लिट आदेशविधानादेव लिडपि भूतकालसामान्ये भाषायां विषये भवतीत्यनुमीयते। पक्षे यथा-यथं भूते विहिताः लुङ् लङ् लिट इत्यादयो लकारा भवन्ति ॥ उदा०—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्। उपासदत् (लुङ्), उपासीदत् (लङ्), उपससाद (लिट्)। अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्। अन्ववात्सीत् (लुङ्), अन्ववसत् (लङ्), अनूवास (लिट्)। उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम्। उपाश्रौषीत् (लुङ्), उपाशृणोत (लङ्), उपशुश्राव (लिट्) ॥

भाषार्थः—[भाषायाम्] लौकिकप्रयोग विषय में [सदवसश्रुवः] सद, वस, श्रु इन धातुओं से परे भूतकाल में विकल्प से लिट् प्रत्यय होता है, और लिट् के स्थान में नित्य क्वसु आदेश हो जाता है ॥ भूतकालमात्र (सामान्यभूत लुङ्, तथा विशेषभूत लङ् लिट्) में यहाँ लिट् विधान किया है। अतः पक्ष में अपने-अपने विषय में लुङ्, लङ्, लिट् तीनों होंगे।

उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ॥३।२।१०९॥

उपेयिवान् १।१॥ अनाश्वान् १।१॥ अनूचानः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—लिटः, वा, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपेयिवान्, अनाश्वान् अनूचान इत्येते शब्दा विकल्पेन सामान्यभूतकाले निपात्यन्ते ॥ उपेयिवानित्यत्र उपपूर्वाद् इण्-धातोः क्वसुप्रत्यये परतो द्विर्वचनमभ्यासदीर्घत्वमभ्यासस्य हलादौ परतो यणादेशो निपात्यते। ततश्चैकाच्त्वात् वस्वेकाजा० (७।२।६७) इत्यनेन 'इट्' भविष्यति। पक्षे पूर्ववल्लुङादयोऽपि भवन्ति—उपागात्, उपैत्, उपेयाय। अनाश्वान्—नञ्पूर्वाद् 'अश भोजने' इत्येतस्माद् धातोः क्वसुप्रत्ययः इडभावश्च निपात्यते। पक्षे—नाशीत्, नाश्नात्, नाश। अनूचानः—अनुपूर्वाद् वच् धातोः (ब्रूञस्थानिकस्य) कर्त्तरि कानच् निपात्यते, सम्प्रसारणं तु भवत्येव। पक्षे यथाप्राप्तम्—अन्ववोचत्, अन्वब्रवीत्, अनूवाच ॥

भाषार्थ:—[उपेयि……चान:] उपेयिवान्, अनाश्वान्, अनूचान ये शब्द [च] भी निपातन किये जाते हैं। भूतसामान्य में इन सब निपातनों में विकल्प से लिट् होकर, नित्य ही क्वसु आदि आदेश होते हैं। अतः पक्ष में यथाप्राप्त भूतकाल के प्रत्यय लुङ् (सामान्य भूत), लङ्, लिट् (विशेषभूत) हो जाते हैं॥ उपेयिवान् (वह वहाँ पहुंचा)—यहाँ 'इण् गतौ' धातु से क्वसु प्रत्यय के परे रहते द्विर्वचन, दीर्घ इण:० (७।४।६९) से अभ्यास को दीर्घ होकर 'उप ई इ वस्' रहा। अब यहाँ व्यञ्जन के परे रहते यणादेश प्राप्त नहीं था, सो वह निपातन से हुआ है। तत्पश्चात् 'उप ईय् वस्' होकर वस्वेकाजाद्घसाम् (७।२।६७) से इट् आगम, तथा आद्गुण: (६।१।८४) लगकर 'उपेय् इ वस् सु' रहा। उगिदचां० (७।१।७०) से नुम् आगम तथा पूर्ववत् दीर्घत्व एवं संयोगान्त लोप (८।२।२३) होकर उपेयिवान् बन गया। पक्ष में भूतकाल-विहित लुङ्, लङ्, लिट् लकार होकर उपागात् (लुङ्), उपैत् (लङ्), उपेयाय (लिट्) बन गया॥ अनाश्वान्—में नञ् पूर्वक अश धातु से क्वसु प्रत्यय, तथा इट् अभाव निपातन है। 'नञ् अश् अश् वस्'=अनुबन्धलोप, हलादि-शेष, तथा एकादेश होकर 'न आश् वस्' इस अवस्था में एकाच् होने से पूर्ववत् इट् आगम प्राप्त था, निपातन से निषेध हो गया। नलोपो० (६।३।७२) से न का लोप, तथा तस्मान्नुडचि (६।३।७३) से नुट् आगम होकर 'अ नुट आश् व नुम् स् सु'=अन् आश् व न् स् सु। शेष सब पूर्ववत् होकर अनाश्वान् बन गया। पक्ष में लुङ् लङ् लिट् लकार हो ही जायेंगे॥ अनूचान:—में अनु पूर्वक वच् धातु से कर्त्ता में कानच् प्रत्यय निपातन है। सम्प्रसारण तो वचिस्वपि० (६।१।१५) से हो ही जायेगा। अनु उ उच कानच्=अनूच् आन सु=अनूचान: बन गया। पक्ष में यथा-प्राप्त भूतकाल के प्रत्यय हुए हैं, सो अन्ववोचत्, अन्वब्रवीत्, अनूवाच रूप बनेंगे। इनकी सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें॥

लुङ्॥३।२।११०॥

लुङ् १।१॥ अनु०—भूते, धातो:, प्रत्यय:, परश्च॥ अर्थ:—भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातो: लुङ्प्रत्यय: परश्च भवति॥ उदा०—अकार्षीत्। अहार्षीत्॥

भाषार्थ:—सामान्य भूतकाल में वर्त्तमान धातु से [लुङ्] लुङ् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है॥ सिद्धि परि० १।१।१ में देखें॥

अनद्यतने लङ्॥३।२।१११॥

अनद्यतने ७।१॥ लङ् १।१॥ स०—न विद्यतेऽद्यतनो यस्मिन् सोऽनद्यतन:,

तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—धातोः, प्रत्ययः, परश्च, भूते ॥ **अर्थः**—अनद्यतने भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोः लङ्प्रत्ययः परश्च भवति ॥ उदा०—अकरोत् । अहरत् ॥

भाषार्थः—[अनद्यतने] अनद्यतन (=जो आज का नहीं) भूतकाल में वर्त्तमान धातु से [लङ्] लङ् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है ॥ 'अकुरुताम्' की सिद्धि परि० १।१।५५ में की है । यहाँ भी उसी प्रकार 'अट् कृ उ तिप्' आकर कृ को 'उ' परे मानकर गुण, तथा उरण्रपरः (१।१।५०) से रपर हुआ । एवं तिप् को मानकर 'उ' को 'ओ' गुण होकर अकरोत् (उसने किया) बना है ॥

यहाँ से 'अनद्यतने' की अनुवृत्ति ३।२।११९ तक जायेगी ॥

अभिज्ञावचने लृट् ॥३।२।११२॥

अभिज्ञावचने ७।१॥ लृट् १।१॥ स०—अभिज्ञायाः वचनम् अभिज्ञावचनम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अनु०**—अनद्यतने, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—अभिज्ञा=स्मृतिः, अभिज्ञावचन उपपदे सति धातोरनद्यतने भूते काले लृट् प्रत्ययो भवति ॥ लङि प्राप्ते लृट् विधीयते ॥ उदा०—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः । स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः ॥

भाषार्थः—[अभिज्ञावचने] अभिज्ञावचन अर्थात् स्मृति को कहनेवाला कोई शब्द उपपद हो, तो धातु से अनद्यतन भूतकाल में [लृट्] लृट् प्रत्यय होता है ॥ लङ् का अपवाद यह सूत्र है ॥ उदा०—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः (याद है देवदत्त कि पहले कश्मीर में रहे थे) । स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः ॥ परि० १।४।१३ के करिष्यामः के समान वस् धातु से 'स्य' इत्यादि सब आकर 'वस् स्य मस्' बना । सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) से धातु के सकार को त् होकर 'वत् स्य मस्' बना । अतो दीर्घो० (७।३।१०१) से दीर्घ, तथा रुत्व विसर्जनीय होकर वत्स्यामः बन गया ॥

यहाँ से 'अभिज्ञावचने लृट्' की अनुवृत्ति ३।२।११४ तक जायेगी ॥

न यदि ॥३।२।११३॥

न अ० ॥ यदि ७।१॥ **अनु०**—अभिज्ञावचने लृट्, अनद्यतने, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—यत्शब्दसहिते अभिज्ञावचने उपपदे अनद्यतने भूते का[ले] धातोर्लृट् प्रत्ययो न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु अवसाम । स्मरसि देवदत्त यत् कश्मीरेषु अगच्छाम ॥

भाषार्थः—[यदि] यत् शब्द सहित अभिज्ञावचन उपपद हो, तो अनद्यतन भूत-

काल में धातु से लृट् प्रत्यय [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से लृट् प्रत्यय प्राप्त था, इस सूत्र ने प्रतिषेध कर दिया, तो यथाप्राप्त अनद्यतने लङ् (३।२।१११) से लङ् हो गया ॥ अट् वस् शप् मस्, ऐसी स्थिति में पूर्ववत् दीर्घादि होकर, नित्यं ङित: (३।४।९९) से मस् के सकार का लोप होकर अवसाम बन गया । अगच्छाम में इषुगमियमां छ: (७।३।७७) से गम् के अन्त्य अल् को छ, तथा छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, और श्चुत्व हुआ है, शेष पूर्ववत् है ॥

विभाषा साकाङ्क्षे ॥३।२।११४॥

विभाषा १।१॥ साकाङ्क्षे ७।१॥ स०—आकाङ्क्षया सह वर्त्तत इति साकाङ्क्ष:, बहुव्रीहि: ॥ अनु०—अभिज्ञावचने लृट्, अनद्यतने, भूते, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—अभिज्ञावचन उपपदे यद्योगे अयद्योगे च भूतानद्यतने काले धातोर्विकल्पेन लृट् प्रत्ययो भवति, साकाङ्क्षश्चेत् प्रयोक्ता भवेत्, पक्षे लङ् भवति ॥ उदा०—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामस्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । स्मरसि देवदत्त मगधेषु वत्स्यामस्तत्र सक्तून् पास्याम: ॥ यत्प्रयोगेऽपि—अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामस्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । स्मरसि देवदत्त यत् मगधेषु वत्स्यामस्तत्र सक्तून् पास्याम: । पक्षे लङ्—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनमभुञ्ज्महि । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेष्ववसाम तत्र सक्तून् अपिबाम । यत् प्रयोगेऽपि—अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनमभुञ्ज्महि ॥

भाषार्थ:—अभिज्ञावचन शब्द उपपद हो, तो यत् का प्रयोग हो या न हो तो भी अनद्यतन भूत काल में धातु से लृट् प्रत्यय [विभाषा] विकल्प से होता है, यदि प्रयोक्ता [साकाङ्क्षे] साकाङ्क्ष हो ॥ कश्मीर में रहते थे, और क्या करते थे, यहाँ यह बतलाने की आकाङ्क्षा प्रयोक्ता को है, अत: ये सब उदाहरणवाक्य साकाङ्क्ष हैं । सो लृट् तथा पक्ष में लङ् भी हो गया है । यत् शब्द का प्रयोग हो या न हो, दोनों में ही विकल्प से लृट् होगा, सो यहाँ उभयत्र विभाषा है ॥ वहाँ रहते थे (वत्स्याम:), तथा ओदन खाते थे (भोक्ष्यामहे) वाक्य की इन दोनों क्रियाओं में लृट् और लङ् हुआ करेगा ॥

परोक्षे लिट् ॥३।२।११५॥

परोक्षे ७।१॥ लिट् १।१॥ अनु०—धातो:, प्रत्यय:, परश्च, भूते, अनद्यतने ॥ अर्थ:—अनद्यतने परोक्षे भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातो: लिट् प्रत्यय: परश्च भवति ॥ उदा०—चकार कटं देवदत्त: । जहार सीतां रावण: ॥

भाषार्थ:— अनद्यतन =जो आज का नहीं ऐसे [परोक्षे] परोक्ष (=जो अपनी

इन्द्रियों से न देखा गया हो, ऐसे भूतकाल में वर्त्तमान धातु से [लिट्] लिट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है ।। उदा०—चकार कटं देवदत्तः (देवदत्त ने चटाई बनाई) । जहार सीतां रावणः (रावण ने सीता का हरण किया) । चक्रतुः चक्रुः की सिद्धियाँ परि० १।१।५८ में दिखा चुके हैं । उसी प्रकार यहाँ णल् के परे रहते 'कृ' 'हृ' को वृद्धि होकर 'चकार जहार' समझें ।।

अक्षि=इन्द्रिय को कहते हैं, पर अर्थात् परे । सो परोक्ष का अभिप्राय है—जो इन्द्रियों द्वारा जाना न गया हो ।।

यहाँ से 'परोक्षे' की अनुवृत्ति ३।२।११८ तक, तथा 'लिट्' की अनुवृत्ति ३।२।११७ तक जायेगी ।।

हशश्वतोर्लङ् च ।।३।२।११६।।

हशश्वतोः ७।२।। लङ् १।१।। च अ० ।। स०—हश० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—परोक्षे, अनद्यतने, भूते, लिट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—ह शश्वत् इत्येतयोरुपपदयोर्धातोः परोक्षे अनद्यतने भूते काले लङ् प्रत्ययो भवति, चकारात् लिट् च ।। नित्यं लिटि प्राप्ते लङपि विधीयते ।। उदा०—इति हाकरोत् । इति ह चकार । शश्वदकरोत् । शश्वत् चकार ।।

भावार्थः—[हशश्वतोः] ह शश्वत् ये शब्द उपपद हों, तो धातु से अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में [लङ्] लङ् प्रत्यय होता है, [च] और चकार से लिट् भी होता है ।। उदा०—इति हाकरोत् (उसने ऐसा निश्चय से किया) । इति ह चकार । शश्वदकरोत् (उसने यह सदा किया) । शश्वत् चकार ।।

यहाँ से 'लङ्' की अनुवृत्ति ३।२।११७ तक जायेगी ।।

प्रश्ने चासन्नकाले ।।३।२।११७।।

प्रश्ने ७।१।। च अ० ।। आसन्नकाले ७।१।। स०—आसन्नः कालो यस्य स आसन्नकालः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—परोक्षे, अनद्यतने, भूते, लङ्, लिट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—आसन्नकाले प्रश्ने (=प्रष्टव्ये) अनद्यतने परोक्षे भूतेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोर्लङ्लिटौ प्रत्ययौ भवतः ।। उदा०—देवदत्तोऽगच्छत् किम्? देवदत्तो जगाम किम् ? ।।

भावार्थः—[आसन्नकाले] समीपकालिक [प्रश्ने] प्रष्टव्य अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में वर्त्तमान धातु से [च] भी लङ् तथा लिट् प्रत्यय होते हैं ।। उदा०—देवदत्तोऽगच्छत् किम् ? देवदत्तो जगाम किम्? (देवदत्त अभी गया क्या) ।। यहाँ प्रश्न शब्द

में कर्म में लङ् प्रत्यय हुआ है, अतः प्रश्न का अर्थ है प्रष्टव्य। पांच वर्ष के अभ्यन्तर काल को आसन्न काल माना जाता है ॥

लट् स्मे ॥३।२।११८॥

लट् १।१॥ स्मे ७।१॥ अनु०—परोक्षे, अनद्यतने, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—परोक्षेऽनद्यतने भूते काले वर्त्तमानाद् धातोः स्मशब्द उपपदे लट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा० —युधिष्ठिरो यजते स्म। धर्मेण कुरवो युध्यन्ते स्म ॥

भावार्थः—परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में वर्त्तमान धातु से [स्मे] स्म शब्द उपपद रहते [लट्] लट् प्रत्यय होता है ॥ लिट् लकार प्राप्त था, लट् विधान कर दिया है ॥ उदा० —युधिष्ठिरो यजते स्म (युधिष्ठिर यज्ञ करते थे)। धर्मेण कुरवो युध्यन्ते स्म (कौरव धर्म से युद्ध करते थे)। युध धातु दिवादिगण की है, सो श्यन् विकरण हो जायेगा ॥

यहां से 'लट्' की अनुवृत्ति ३।२।१२२ तक, तथा 'स्मे' की ३।२।११९ तक जायेगी ॥

अपरोक्षे च ॥३।२।११९॥

अपरोक्षे ७।१॥ च अ० ॥ स०—न परोक्षः अपरोक्षः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अनद्यतने, भूते, लट् स्मे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अपरोक्षेऽनद्यतने भूते च काले वर्त्तमानाद् धातोः स्मशब्द उपपदे सति लट् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वेण परोक्षेऽनद्यतने भूते लट् प्राप्तोऽत्रापरोक्षेऽनद्यतनेऽपि विधीयते ॥ उदा० —अध्यापयति स्म गुरुर्माम्। पिता मे ब्रवीति स्म। मया सह पुत्रो गच्छति स्म ॥

भावार्थः—[अपरोक्षे] अपरोक्ष अनद्यतन भूतकाल में [च] भी वर्त्तमान धातु से स्म उपपद रहते लट् प्रत्यय होता है। पूर्व सूत्र से परोक्ष भूतकाल में लट् प्राप्त था, यहां अपरोक्ष में भी विधान कर दिया है ॥ उदा०—अध्यापयति स्म गुरुर्माम् (मुझको गुरु जी पढ़ाया करते थे)। पिता मे ब्रवीति स्म (मेरे पिता कहा करते थे)। मया सह पुत्रो गच्छति स्म (मेरे साथ पुत्र जाता था) ॥ परि० २।४।५१ के अध्यापिपत् के समान 'अध्यापि' धातु बनाकर 'अध्यापयति' की सिद्धि जानें। 'ब्रवीति' में ब्रुव ईट् (७।३।९३) से 'ईट्' आगम होता है ॥

ननौ पृष्टप्रतिवचने ॥३।२।१२०॥

ननौ ७।१॥ पृष्टप्रतिवचने ७।१॥ स०—पृष्टस्य प्रतिवचनं पृष्टप्रतिवचनम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—लट्, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः— ननु-

शब्दोपपदे पृष्टप्रतिवचनेऽर्थे भूते काले लट् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—अकार्षीः कटं देवदत्त ? ननु करोमि भोः ।।

भाषार्थः—सामान्य भूतकाल में लुङ् प्राप्त था, लट् विधान कर दिया है। [पृष्टप्रतिवचने] पृष्टप्रतिवचन अर्थात् पूछे जाने पर जो उत्तर दिया जाये, इस अर्थ में धातु से [ननौ] ननु शब्द उपपद रहते सामान्य भूतकाल में लट् प्रत्यय होता है ।। देवदत्त तूने चटाई बना ली ? यह पूछे जाने पर 'ननु करोमि भोः' (हाँ जी, बनाई है), यह पृष्टप्रतिवचन हुआ । ननु उपपद में है ही, अतः करोमि में लट् लकार हो गया है ।।

यहाँ से 'पृष्टप्रतिवचने' की अनुवृत्ति ३।२।१२१ तक जायेगी ।।

नन्वोर्विभाषा ।।३।२।१२१।।

नन्वोः ७।२।। विभाषा १।१।। स०—नश्च नुश्च ननू, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—पृष्टप्रतिवचने, लट्, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—न नु इत्येतयो-रुपपदयोः पृष्टप्रतिवचनेऽर्थे धातोर्भूते काले विकल्पेन लट् प्रत्ययो भवति ।। लुङि प्राप्ते लट् विधीयते, तेन पक्षे लुङ् अपि भवति ।। उदा०—अकार्षीः कटं देवदत्त ? न करोमि भोः, नाकार्षम् । अकार्षीः कटं देवदत्त ? अहं नु करोमि, अहं न्वकार्षम् ।।

भाषार्थः—पृष्टप्रतिवचन अर्थ में धातु से [नन्वोः] न तथा नु उपपद रहते सामान्य भूतकाल में [विभाषा] विकल्प से लट् प्रत्यय होता है ।। सामान्य भूत में लुङ् लकार की प्राप्ति थी, लट् विकल्प से विधान कर दिया है । सो पक्ष में लुङ् भी होगा ।। उदा०—अकार्षीः कटं देवदत्त? न करोमि भोः, नाकार्षम् (देवदत्त तूने चटाई बनाई क्या ? नहीं बनाई) अकार्षीः कटं देवदत्त ? अहं नु करोमि, अहं न्वकार्षम् (हां मैंने बनाई)।। अकार्षीत् की सिद्धि परि० १।१।१ में की है, उसी प्रकार जानें । केवल यहाँ मिप् आकर उसको तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से अम् हो जायेगा ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ३।२।१२२ तक जायेगी ।।

पुरि लुङ् चास्मे ।।३।२।१२२।।

पुरि ७।१।। लुङ् १।१।। च अ० ।। अस्मे ७।१।। स०—न स्मः अस्मः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—विभाषा, लट्, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। मण्डूकप्लुतगत्या 'अनद्यतने' अप्यनुवर्त्तते ।। अर्थः—स्मशब्दरहिते पुराशब्द उपपदे अनद्यतने भूते काले धातोर्लुङ् प्रत्ययो विकल्पेन भवति, चकारात् लट् च, पक्षे लङ्लिटौ भवतः ।। उदा०—रथेनायं पुराऽयासीत् (लुङ्) । रथेनायं पुरा याति । पक्षे—रथेनायं पुराऽयात् (लङ्) । रथेनायं पुरा ययौ (लिट्) ।।

भाषार्थः—[अस्मे] स्म शब्द रहित [पुरि] पुरा शब्द उपपद हो, तो अनद्य-तन भूतकाल में धातु से [लुङ्] लङ् प्रत्यय विकल्प से होता है, [च] चकार से लट् भी होता है ॥ उदा०—रथेनायं पुराऽयासीत् । रथेनायं पुरा याति (यह पहले रथ से गया था) । पक्ष में—रथेनायं पुराऽयात् । रथेनायं पुरा ययौ ॥ लुङ् का विकल्प होने से पक्ष में भूतकाल के प्रत्यय लङ् और लिट् भी होंगे ॥ अयासीत् की सिद्धि २।४।७८ सूत्र में देखें । ययौ की सिद्धि परि० १।१।५८ के पपौ की तरह समझें । लङ् लकार में लुङ्लङ्लृङ्० (६।४।७१) से अट् आगम, एवं सब कार्य होकर 'अट् या शप् तिप्'=अयात् बना है ॥

वर्त्तमाने लट् ॥३।२।१२३॥

वर्त्तमाने ७।१॥ लट् १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—वर्त्तमानेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोः लट् प्रत्ययः परश्च भवति ॥ उदा०—पचति, भवति, पठति ॥

भाषार्थः—[वर्त्तमाने] वर्त्तमान काल में विद्यमान धातु से [लट्] लट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है ॥

विशेषः—क्रिया के आरम्भ से लेकर समाप्त न होने तक उस क्रिया का वर्त्त-काल माना जाता है ॥

यहाँ से 'वर्त्तमाने' की अनुवृत्ति ३।३।१ तक जायेगी ॥

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ॥३।२।१२४॥

लटः ६।१॥ शतृशानचौ १।२॥ अप्रथमासमानाधिकरणे ७।१॥ स०—शतृ च शानच् च शतृशानचौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न प्रथमा अप्रथमा, नञ्तत्पुरुषः । समानम् अधिकरणम् यस्य तत् समानाधिकरणम्, बहुव्रीहिः । अप्रथमया समानाधिकरणम्, अप्रथमासमानाधिकरणम्,तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—वर्त्तमाने, धातोः ॥ अर्थः—धातोर्लटः स्थाने शतृशानचावादेशौ भवतः, अप्रथमान्तेन चेत् तस्य सामानाधिकरण्यं स्यात् ॥ उदा०—पचन्तं देवदत्तं पश्य । पचमानं देवदत्तं पश्य । पठता कृतम् । आसीनाय देहि ॥

भाषार्थः—[लटः] धातु से लट् के स्थान में [शतृशानचौ] शतृ तथा शानच् आदेश होते हैं, यदि [अप्रथमासमानाधिकरणे] अप्रथमान्त के साथ उस लट् का सामानाधिकरण्य हो ॥ तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) से आन=शानच् की आत्मनेपद संज्ञा होती है । अतः शानच् आत्मनेपदी धातुओं से ही होगा । तथा शतृ परस्मैपदी धातुओं से ही होगा ॥ उदा०—पचन्तं देवदत्तं पश्य(पकाते हुए देवदत्त को

देखो) । पचमानं देवदत्तं पश्य । पठता कृतम् (पढ़ते हुए ने किया) । आसीनाय देहि (बैठे हुए के लिए दो) ॥

यहाँ से 'लटः शतृशानचौ' की अनुवृत्ति ३।२।१२६ तक जायेगी ॥

सम्बोधने च ॥३।२।१२५॥

सम्बोधने ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—लटः, शतृशानचौ, वर्त्तमाने, धातोः ॥ अर्थः—सम्बोधने च विषये धातोर्लटः स्थाने शतृशानचावादेशौ भवतः ॥ उदा०—हे पचन् । हे पचमान ॥

भाषार्थः—[सम्बोधने] सम्बोधन विषय में [च] भी धातु से लट् के स्थान में शतृ शानच् आदेश होते हैं ॥ सम्बोधने च (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है । अतः प्रथमासमानाधिकरण होने से शतृ शानच् प्राप्त नहीं थे, विधान कर दिया है ॥ उदा०—हे पचन् (हे पकाते हुए) । हे पचमान ॥

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥३।२।१२६॥

लक्षणहेत्वोः ७।२॥ क्रियायाः ६।१॥ स०—लक्षणञ्च हेतुश्च लक्षणहेतू, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लटः, शतृशानचौ, धातोः, वर्त्तमाने ॥ लक्ष्यते चिह्नयते येन तल्लक्षणम् । हेतुः कारणम् ॥ अर्थः—क्रियायाः लक्षणहेत्वोरर्थयोर्वर्त्तमानाद् धातोर्लटः स्थाने शतृशानचावादेशौ भवतः ॥ उदा०—लक्षणे—शयानो भुङ्क्ते बालः । तिष्ठन् मूत्रयति पाश्चात्यः । हेतौ—अधीयानो वसति । उपदिशन् भ्रमति ॥

भाषार्थः—[क्रियायाः] क्रिया के [लक्षणहेत्वोः] लक्षण तथा हेतु अर्थों में वर्तमान धातु से लट् के स्थान में शतृ शानच् आदेश होते हैं ॥ उदा०—लक्षण में—शयानो भुङ्क्ते बालः (लेटा हुआ बालक खा रहा है) । तिष्ठन् मूत्रयति पाश्चात्यः (खड़ा हुआ पाश्चात्य लघुशङ्का करता है) । हेतु में—अधीयानो वसति (पढ़ने के कारण से रहता है) । उपदिशन् भ्रमति (उपदेश करने के हेतु से घूमता है)॥ उदाहरण में शयानः क्रिया भुङ्क्ते क्रिया को लक्षित कर रही है । इसी प्रकार तिष्ठन् से मूत्रयति क्रिया लक्षित हो रही है । अतः यहाँ क्रिया के लक्षण में वर्तमान शीङ् इत्यादि धातुएं हैं । सो लट् के स्थान में शतृ शानच् आदेश हुए हैं । इसी प्रकार वास करने का हेतु पठन क्रिया है, घूमने का हेतु उपदेश करना है । अतः अधीयानः तथा उपदिशन् हेतु अर्थ में वर्तमान हैं, सो शतृ शानच् हो गये हैं ॥

तौ सत् ॥३।२।१२७॥

तौ १।२॥ सत् १।१॥ तौ इत्यनेन शतृशानचौ निर्दिश्येते ॥ अर्थः—तौ शतृ-

शानचौ सत्संज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—ब्राह्मणस्य कुर्वन् । ब्राह्मणस्य कुर्वाणः । ब्राह्मणस्य करिष्यन् । ब्राह्मणस्य करिष्यमाणः ॥

भाषार्थः—[तौ] वे शतृ तथा शानच् [सत्] सत्संज्ञक होते हैं ॥ सत् संज्ञा होने से पूरणगुणसुहितार्थसद० (२।२।११) से षष्ठी-समास 'ब्राह्मणस्य कुर्वाणः' आदि में नहीं हुआ है । सारी सिद्धि यहाँ परि० ३।२।१२४ के समान होगी, केवल करिष्यन् करिष्यमाणः यहाँ लृटः सद्वा (३।३।१४) से लृट् लकार के स्थान में शतृ शानच् हुए हैं, अतः लृट् लकार का प्रत्यय स्य (विकरण) भी आयेगा । शेष सार्व-धातुका० (७।३।८४) से गुण इत्यादि पूर्ववत् ही होगा । कुर्वन् कुर्वाणः, यहाँ 'उ' तथा विकरण अत उत्० (६।४।११०) से उत्व हो जायेगा । कुरु आन, णत्व यणादेश होकर कुर्वाणः बन गया ॥

पूङ्यजोः शानन् ॥३।२।१२८॥

पूङ्यजोः ६।२॥ शानन् १।१॥ स०—पूङ्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पूङ् यज इत्येताभ्यां धातुभ्यां वर्त्तमाने काले शानन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पवमानः । यजमानः ॥

भाषार्थः—[पूङ्यजोः] पूङ् तथा यज धातुओं से वर्त्तमान काल में [शानन्] शानन् प्रत्यय होता है ॥ शानन् आदि लट् के स्थान में नहीं होते, अतः लादेश नहीं हैं ॥ उदा०—पवमानः (पवित्र करता हुआ) । यजमानः (यज्ञ करता हुआ) ॥ सिद्धि परि० ३।२।१२४ की तरह जानें । केवल यहाँ पूङ् धातु को गुण होकर अवादेश भी होगा, यही विशेष है ॥

ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् ॥३।२।१२९॥

ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु ७।३॥ चानश् १।१॥ स०—ताच्छील्यञ्च वयोवचनञ्च शक्तिश्च ताच्छील्यवयोवचनशक्तयः, तासु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ताच्छील्यं=तत्स्वभावता, वयः=शरीरावस्था यौवनादिः, शक्तिः=सामर्थ्यम् । ताच्छील्यादिष्वर्थेषु द्योत्येषु धातोर्वर्त्तमाने काले चानश् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कतीह मुण्डयमानाः । कतीह भूषयमाणाः । वयोवचने—कतीह कवचं पर्यस्यमानाः । कतीह शिखण्डं वहमानाः । शक्तौ—कतीह निघ्नानाः । कतीह पचमानाः ॥

भाषार्थः—[ताच्छी···षु] ताच्छील्य, वयोवचन, शक्ति इन अर्थों के द्योतित

होने पर धातु से वर्त्तमान काल में [चानश्] चानश् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—ताच्छील्य में—कतीह मुण्डयमानाः (कितने यहाँ मुण्डन किये हुए हैं)। कतीह भूषयमाणाः (कितने यहाँ सजे हुए हैं)। वयोवचन में—कतीह कवचं पर्यस्यमानाः (कितने यहाँ कवच धारण कर सकते हैं ? कवच धारण करने से शरीर की अवस्था यौवन का पता चलता है, क्योंकि बच्चे या बुड्ढे कवच नहीं धारण कर सकते)। कतीह शिखण्डं वहमानाः (कितने यहाँ शिखा धारण करनेवाले हैं)। शक्ति में—कतीह निघ्नानाः (कितने यहाँ मारनेवाले हैं)। कतीह पचमानाः (कितने यहाँ पकानेवाले हैं) ॥

इङ्धार्य्योः शत्रकृच्छ्रिणि ॥३।२।१३०॥

इङ्धार्य्योः ६।२॥ शतृ, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अकृच्छ्रिणि ७।१॥ स०—इङ् च धारिश्च इङ्धारी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। न कृच्छ्रः अकृच्छ्रः, नञ्तत्पुरुषः। अकृच्छ्रः (धात्वर्थः) अस्यास्तीति अकृच्छ्री (कर्त्ता), तस्मिन्। अत इनि० (५।२।११५) इति इनिः प्रत्ययः ॥ अनु०—वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इङ् धारि इत्येताभ्यां धातुभ्यां वर्त्तमाने काले शतृ प्रत्ययो भवति अकृच्छ्रिणि कर्त्तरि वाच्ये ॥ उदा०—अधीयन् पारायणम्। धारयन् उपनिषदम् ॥

भाषार्थः—[इङ्धार्य्योः] इङ् तथा धारि धातु से वर्त्तमानकाल में [शतृ] शतृ प्रत्यय होता है, यदि [अकृच्छ्रिणि] जिसके लिए क्रिया कष्टसाध्य न हो, ऐसा कर्त्ता वाच्य हो तो ॥ उदा०—अधीयन् पारायणम् (पारायण ग्रंथ को सरलता से पढ़नेवाला)। धारयन् उपनिषदम् (उपनिषद् को सरलता से धारण करनेवाला)॥ अधि इङ् अ नुम् त्, यहाँ इयङ् (६।४।७७ से), तथा सवर्णदीर्घ होकर, अधीय् अन् त् रहा। संयोगान्तलोप होकर अधीयन् बन गया। इसी प्रकार 'धृङ् अवस्थाने' (तुदा० आ०) धातु से धारयन् भी बनेगा। हेतुमति च (३।१।२६) से यहां णिच् हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'शतृ' की अनुवृत्ति ३।२।१३३ तक जायेगी ॥

द्विषोऽमित्रे ॥३।२।१३१॥

द्विषः ५।१॥ अमित्रे ७।१॥ स०—न मित्रम् अमित्रं, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—शतृ, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अमित्रे कर्त्तरि वाच्ये द्विष-धातोः शतृप्रत्ययो भवति वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—द्विषन्, द्विषन्तौ ॥

भाषार्थः—[द्विषः] द्विष धातु से [अमित्रे] अमित्र=शत्रु कर्त्ता वाच्य हो, तो शतृ प्रत्यय वर्त्तमानकाल में होता है ॥ उदा०—द्विषन् (शत्रु), द्विषन्तौ ॥

सुञो यज्ञसंयोगे ॥३।२।१३२॥

सुञः ५।१॥ यज्ञसंयोगे ७।१॥ स०—यज्ञेन संयोगः यज्ञसंयोगः, तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—शतृ, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः,परश्च ॥ अर्थः–यज्ञसंयुक्तेऽभिषवे वर्त्तमानात् 'सुञः' धातोः शतृप्रत्ययो भवति वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—यजमानाः सुन्वन्तः ॥

भाषार्थः—[यज्ञसंयोगे] यज्ञ से संयुक्त अभिषव में वर्त्तमान [सुञः] षुञ् धातु से वर्त्तमानकाल में शतृ प्रत्यय होता है ॥ उदा०—यजमानाः सुन्वन्तः (सोमरस निचोड़ते हुए यजमान) ॥ सिद्धि परि० १।१।५ के चिनुतः चिन्वन्ति की तरह जानें । शतृ के सार्वधातुक होने से श्नु विकरण होगा, भेद केवल इतना ही है कि यहाँ शतृ प्रत्यय है, अतः पूर्व प्रदर्शित की हुई सिद्धियों के समान नुम् आगम होकर 'सुन्वन्त्' बन गया । अब 'जस्' विभक्ति आकर रुत्व विसर्जनीयादि होकर सुन्वन्तः बन गया ॥

अर्हः प्रशंसायाम् ॥३।२।१३३॥

अर्हः ५।१॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ अनु०—शतृ, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः–अर्ह धातोः प्रशंसायां गम्यमानायां वर्त्तमाने काले शतृप्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अर्हन् इह भवान् विद्याम् । अर्हन् इह भवान् पूजाम् ॥

भाषार्थः—[अर्हः] धातु से [प्रशंसायाम्] प्रशंसा गम्यमान हो, तो वर्त्तमानकाल में शतृ प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अर्हन् इह भवान् विद्याम् (आप विद्या पढ़ने के योग्य हैं) । अर्हन् इह भवान् पूजाम् (आप सत्कार के योग्य हैं) । सिद्धि पूर्ववत् है॥

आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ॥३।२।१३४॥

आ अ० ॥ क्वेः ५।१॥ तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ७।३॥ स०—स धात्वर्थः शीलं यस्य स तच्छीलः, बहुव्रीहिः । स धात्वर्थो धर्मो यस्य स तद्धर्मा, बहुव्रीहिः । साधु करोतीति साधुकारी, तस्य धात्वर्थस्य साधुकर्ता तत्साधुकारी, तत्पुरुषः । तच्छीलश्च तद्धर्मा च तत्साधुकारी च तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिणः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अर्थः–अधिकारसूत्रमिदम् । आ एतस्मात् क्विप्संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तच्छीलादिषु कर्त्तृषु ते वेदितव्याः ॥ तच्छीलः=यः स्वभावतः फलनिरपेक्षस्तत्र प्रवर्त्तते । तद्धर्मा=यो विनाऽपि स्वभावेन ममायं धर्म इति प्रवर्त्तते । तत्साधुकारी=तत्कार्यकरणे कुशलः । उत्तरत्रैवोदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है । भ्राजभास० (३।२।१७७) इस सूत्र से विहित [आ क्वेः] क्विप्पर्यन्त जितने प्रत्यय कहे हैं, वे सब [तच्छी……रिषु]

तच्छीलादि कर्त्ता अर्थों में जानने चाहिएं ।। यहां अभिविधि में आङ् है, सो अन्ये-भ्योऽपि० (३।२।१७८) तक यह अधिकार जायेगा ।। तच्छील=फल की आकांक्षा बिना किये स्वभाव से ही उस क्रिया में प्रवृत्त होनेवाला । तद्धर्मा=स्वभाव के बिना भी, अपना धर्म समझकर उस क्रिया में प्रवृत्त होनेवाला । तत्साधुकारी=उस क्रिया को कुशलता से करनेवाला ॥

तृन् ।।३।२।१३५।।

तृन् १।१।। **अनु०**—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। **अर्थः**—तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले धातुमात्रात् तृन् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—परुषं वदिता । मृदु वक्ता । तद्धर्मणि—वेदान् उपदेष्टा । धर्मम् उपदेष्टा । तत्साधुकारिणि—ओदनं पक्ता । कटं कर्त्ता ॥

भाषार्थः—तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में धातुमात्र से [तृन्] तृन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—परुषं वदिता (कठोर बोलने के स्वभाववाला), मृदु वक्ता (नरम बोलने के स्वभाववाला) । तद्धर्म—वेदान् उपदेष्टा (वेदों का उपदेश करनेवाला) । धर्मम् उपदेष्टा । तत्साधुकारी—ओदनं पक्ता (चावल अच्छी तरह पकानेवाला) । कटं कर्त्ता ॥ तृजन्त की सिद्धि हमने परि० १।१।२ में दिखाई है, उसी प्रकार वदिता आदि में जानें ।। वक्ता में च् को क् चोः कुः (८।२।३०) से होता है । एकाच् उपदेशे० (७।२।१०) से इट् आगम का निषेध होता है । उपपूर्वक दिश धातु से पूर्ववत् सब होकर, तथा व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष्,एवं ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से त् को ट् होकर उपदेष्टा भी इसी प्रकार बनेगा । कृदतिङ् (३।१।९३) से इन सब प्रत्ययों की कृत् संज्ञा है । अतः कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से सब कर्त्ता में होंगे । इसीलिए 'तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो ऐसा सर्वत्र अर्थ किया जायेगा ।।

अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतु-वृधुसहचर इष्णुच् ।।३।२।१३६।।

अलंकृञ्......चरः ५।१।। इष्णुच्१।१।। **स०**—अलंकृ० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ।। **अनु०**—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। **अर्थः**—अलंपूर्वक कृञ्, निर् आङ्पूर्वक कृञ्, प्रपूर्वक जन, उत्पूर्वक पच, उत्पूर्वक मद, रुचि, अपपूर्वक त्रप, वृतु, वृधु, सह, चर इत्येतेभ्यो धातुभ्य इष्णुच् प्रत्ययो भवति वर्त्तमाने काले तच्छीलादिषु कर्त्तृषु ।। **उदा०**—अलंकरिष्णुः । निराकरिष्णुः । प्रजनिष्णुः । उत्पचिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । वर्त्तिष्णुः । वर्धिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णुः ।।

भावार्थः—[अलंकृ···चरः] अलंपूर्वक कृञ्, निर् आङ् पूर्वक कृञ्, प्र पूर्वक जन, उत् पूर्वक पच, उत् पूर्वक पत, उत् पूर्वक मद, रुचि, अप पूर्वक त्रप, वृतु, वृधु, सह, चर इन धातुओं से वर्त्तमान काल में तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो [इष्णुच्] इष्णुच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अलंकरिष्णुः (सजाने के स्वभाववाला)। निराकरिष्णुः (हटानेवाला)। प्रजनिष्णुः (पैदा करने के स्वभाववाला)। उत्पचिष्णुः (अच्छा पकानेवाला)। उत्पतिष्णुः (ऊपर जाने के स्वभाववाला)। उन्मदिष्णुः (उन्माद-शील)। रोचिष्णुः (चमकने वाला)। अपत्रपिष्णुः (लज्जा-रहित)। वर्त्तिष्णुः (रहनेवाला)। वर्धिष्णुः (बढ़ने के स्वभाववाला)। सहिष्णुः (साहसी)। चरिष्णुः (घूमने के स्वभाववाला) ॥ इष्णुच् का अनुबन्ध हटा देने पर 'इष्णु' रहेगा। जहाँ गुण सम्भव है, वहाँ गुण होकर सारी सिद्धियाँ होंगी। अलंकृइष्णु=अलंकर्इष्णु=अलंकरिष्णुः बना ॥

यहाँ से 'इष्णुच्' की अनुवृत्ति ३।२।१३८ तक जायेगी ॥

णेश्छन्दसि ॥३।२।१३७॥

णेः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—इष्णुच्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ण्यन्ताद् धातोर्वेदविषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काल इष्णुच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दृषदं धारयिष्णवः। वीरुधः पारयिष्णवः (ऋक् १०।९७।३) ॥

भाषार्थः—[णेः] ण्यन्त धातुओं से [छन्दसि] वेदविषय में तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में इष्णुच् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।२।१३८ तक जायेगी ॥

भुवश्च ॥३।२।१३८॥

भुवः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, इष्णुच्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भूधातोः छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले इष्णुच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भविष्णुः ॥

भाषार्थः—[भुवः] भू धातु से [च] भी वेदविषय में तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में इष्णुच् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'भुवः' की अनुवृत्ति ३।२।१३९ तक जायेगी ॥

ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः ॥३।२।१३९॥

ग्लाजिस्थः ५।१॥ च अ० ॥ ग्स्नुः १।१॥ स०—ग्लाश्च जिश्च स्थाश्च

ग्लाजिस्थाः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—भुवः, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ग्ला जि स्था इत्येतेभ्यो धातुभ्यश्चकारात् भुवश्च ग्स्नुप्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—ग्लास्नुः । जिष्णुः । स्थास्नुः । भूष्णुः ॥

भाषार्थः—[ग्लाजिस्थः] ग्ला, जि, स्था, तथा [च] चकार से भू धातु से भी [ग्स्नुः] ग्स्नु प्रत्यय वर्त्तमानकाल में होता है, तच्छीलादि कर्त्ता हों तो ॥ उदा०—ग्लास्नुः (ग्लानि करनेवाला) । जिष्णुः । स्थास्नुः (ठहरनेवाला) । भूष्णुः ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।५ में देखें ॥

त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः ॥३।२।१४०॥

त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः ५।१॥ क्नुः १।१॥ स०—त्रसिश्च गृधिश्च धृषिश्च क्षिपिश्च त्रसि······क्षिपिः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः,प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—त्रसी उद्वेगे, गृधु अभिकाङ्क्षायाम्, ञिधृषा प्रागल्भ्ये, क्षिप प्रेरणे इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु क्नुः प्रत्ययो भवति वर्तमाने काले ॥ उदा०—त्रस्नुः । गृध्नुः । धृष्णुः । क्षिप्नुः ॥

भाषार्थः—[त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः] त्रसि, गृधि, धृषि, तथा क्षिप धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्तमानकाल में [क्नुः] क्नु प्रत्यय होता है ॥ उदा०—त्रस्नुः, (डरनेवाला) । गृध्नुः (लालची) । धृष्णुः (ढीठ) । क्षिप्नुः (प्रेरक) ॥ अनुबन्ध हटने पर क्नु का 'नु' रह जायेगा । सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है । कित् होने से गुण का क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जायेगा ॥

शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् ॥३।२।१४१॥

शमिति लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः ॥ अष्टाभ्यः ५।३॥ घिनुण् १।१॥ स०—शम् इति=आदिः येषाम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शमादिभ्योऽष्टाभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु घिनुण् प्रत्ययो भवति वर्त्तमाने काले ॥ 'शमु उपशमे' इत्यारभ्य'मदी हर्षे' इति यावत् शमादयो दिवादिषु वर्त्तन्ते ॥ उदा०—शमी । तमी । दमी । श्रमी । भ्रमी । क्षमी । क्लमी । प्रमादी, उन्मादी ॥

भाषार्थः—[शमिति] शमादि [अष्टाभ्यः] आठ धातुओं से [घिनुण्] घिनुण् प्रत्यय तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में होता है ॥

यहाँ से 'घिनुण्' की अनुवृत्ति ३।२।१४५ तक जायेगी ।

सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिप-परिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीड-विविचत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च ॥३।२।१४२॥

सम्पृचा……हनः ५।१॥ च अ० ॥ स०—सम्पृचा० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—घिनुण्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थ—सम्+पृच, अनु+रुध, आङ्+यम्, आङ्+यस, परि+सृ, सम्+सृज, परि+देवि, सम्+ज्वर, परि+क्षिप, परि+रट, परि+वद, परि+दह, परि+मुह, दुष, द्विष, द्रुह, दुह, युज, आङ्+क्रीड, वि+विच, त्यज, रज, भज, अति+चर, अप+चर, आङ्+मुष, अभि आङ्+हन इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीला-दिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले घिनुण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सम्पर्की। अनुरोधी। आयामी। आयासी। परिसारी। संसर्गी। परिदेवी। संज्वारी। परिक्षेपी। परि-राटी। परिवादी। परिदाही। परिमोही। दोषी। द्वेषी। द्रोही। दोही। योगी। आक्रीडी। विवेकी। त्यागी। रागी। भागी। अतिचारी। अपचारी। आमोषी। अभ्याघाती ॥

भाषार्थः—[सम्पृचा…हनः] सम् पूर्वक पृची सम्पर्के (रुधा० प०), अनु पूर्वक रुधिर् आवरणे (रुधा० उ०), आङ् पूर्वक यम उपरमे (भ्वा० प०), आङ् पूर्वक यसु प्रयत्ने (दिवा० प०), परि पूर्वक सृ गतौ (भ्वा० प०), सम् पूर्वक सृज विसर्गे (दिवा० आ०), परि पूर्वक देवृ देवने (भ्वा० आ०), सम् पूर्वक ज्वर रोगे (भ्वा० प०), परि पूर्वक क्षिप प्रेरणे (तुदा० उ०, दिवा० प०), परि पूर्वक रट परिभाषणे (भ्वा० प०), परि पूर्वक वद (भ्वा० प०), परि पूर्वक दह भस्मीकरणे (भ्वा० प०), परि पूर्वक मुह वैचित्ये (दिवा० प०), दुष वैकृत्ये (दिवा० प०), द्विष अप्रीतौ (अदा० उ०), द्रुह जिघांसायाम् (दिवा० प०), दुह प्रपूरणे (अदा० उ०), युजिर् योगे अथवा युज समाधौ (रुधा० उ०, दिवा० आ०), आङ् पूर्वक क्रीडृ विहारे (भ्वा० प०), वि पूर्वक विचिर् पृथग्भावे (रुधा० उ०), त्यज हानौ (भ्वा० प०), रञ्ज रागे (दिवा० उ०), भज सेवायाम् (भ्वा० उ०), अति पूर्वक चर गतौ (भ्वा० प०), तथा अप पूर्वक चर मुष स्तेये (क्र्या० प०), अभि आङ् पूर्वक हन (अदा० प०) इन धातुओं से [च] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में घिनुण् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—सम्पर्की (सम्पर्क करनेवाला)। अनुरोधी (अनुरोध करनेवाला)। आयामी (विस्तार करनेवाला)। आयासी (प्रयत्न करनेवाला)। परिसारी (सब जगह जानेवाला)। संसर्गी (संसर्ग करनेवाला)। परिदेवी (शोक करनेवाला)।

संज्वारी (रोगी)। परिक्षेपी (चारों ओर फेंकनेवाला)। परिराटी (खूब रटनेवाला)। परिवादी (खूब बोलनेवाला)। परिदाही (जलानेवाला)। परिमोही (खूब मोह करनेवाला)। दोषी (दोषयुक्त)। द्वेषी (द्वेष करनेवाला)। द्रोही (द्रोह करनेवाला)। दोही (दुहनेवाला)। योगी (योग करनेवाला)। आक्रीडी (खूब खेलनेवाला)। विवेकी (विवेकशील)। त्यागी (त्याग करनेवाला)। रागी (राग करनेवाला)। भागी (सेवन करनेवाला)। अतिचारी (खूब घूमनेवाला)। अपचारी (व्यभिचारी)। आमोषी (चोर)। अभ्याघाती (हिंसक)॥ रञ्ज धातु के अनुनासिक का लोप निपातन से होकर रागी बनता है। सम्पर्की, रागी, त्यागी आदि में पूर्ववत् चजोः कु० (७।३।५२) से कुत्व हो जायेगा। अत उपधायाः (७।२।११६) से आयासी आदि में घिनुण् के णित् होने से वृद्धि भी हो जायेगी। सब सिद्धियाँ पूर्वसूत्र के समान ही जानें॥

वौ कषलसकत्थस्रम्भः ॥३।२।१४३॥

वौ ७।१॥ कषलसकत्थस्रम्भः ५।१॥ स०—कष० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—घिनुण्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—कष हिंसार्थः (भ्वा० प०), लस श्लेषणक्रीडनयोः (भ्वा० प०), कत्थ श्लाघायाम् (भ्वा० आ०) स्रम्भु विश्वासे (भ्वा० आ०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यो विशब्द उपपदे तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले घिनुण् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—विकाषी। विलासी। विकत्थी। विस्रम्भी॥

भाषार्थः—[वौ] वि पूर्वक [कषलसकत्थस्रम्भः] कष, लस, कत्थ, स्रम्भ इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में घिनुण् प्रत्यय होता है॥ उदा०—विकाषी (मारनेवाला)। विलासी (विलास करनेवाला)। विकत्थी (आत्मश्लाघा करनेवाला)। विस्रम्भी (विश्वास करनेवाला)॥

यहाँ से 'वौ' की अनुवृत्ति ३।२।१४४ तक जायेगी॥

अपे च लषः ॥३।२।१४४॥

अपे ७।१॥ च अ०॥ लषः ५।१॥ अनु०—वौ, घिनुण्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—अपपूर्वात्, चकारात् विपूर्वाच्च लष कान्तौ इत्येतस्माद् धातोः वर्त्तमाने काले घिनुण् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्त्तृषु॥ उदा०—अपलाषी। विलाषी॥

भावार्थः—[अपे] अप पूर्वक [च] तथा चकार से वि पूर्वक [लषः] लष धातु से भी घिनुण् प्रत्यय होता है॥ उदा०—अपलाषी (लालची)। विलाषी (लालची)॥

प्रे लपसृद्रुमथवदवसः ।।३।२।१४५।।

प्रे ७।१।। लपसृद्रुमथवदवसः ५।१।। स०—लप० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—घिनुण्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—प्र उपपदे लप व्यक्तायां वाचि (भ्वा० प०), सृ, द्रु गतौ (भ्वा० प०), मथे विलोडने (भ्वा० प०), वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा० प०), वस आच्छादने (अदा० आ०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले घिनुण् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—प्रलापी । प्रसारी । प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । प्रवासी ।।

भाषार्थः—[प्रे] प्र पूर्वक [लपसृद्रुमथवदवसः] लप, सृ, द्रु, मथ, वद, वस इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में घिनुण् प्रत्यय होता है ।। उदा०—प्रलापी (प्रलाप करनेवाला)। प्रसारी (घूमनेवाला)। प्रद्रावी (दौड़नेवाला)। प्रमाथी (मथनेवाला)। प्रवादी (खूब बोलनेवाला)। प्रवासी (विदेश में रहनेवाला)।।

निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादि-व्याभाषासूयो वुञ् ।।३।२।१४६।।

निन्द॰॰॰ सूयः १।१, पञ्चम्यर्थे प्रथमा ।। वुञ् १।१।। स०—निन्द० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः परश्च ।। अर्थः—णिदि कुत्सायाम् (भ्वा० प०), हिसि हिंसायाम् (रुधा० प०), क्लिशू विबाधने (क्र्या० प०), खादृ भक्षणे (भ्वा० प०), वि+णश अदर्शने ण्यन्त (दिवा० प०), परि+क्षिप, परि+रट, परि+वादि, वि+आ+भाष व्यक्तायां वाचि, असूय (कण्ड्वा०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले वुञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—निन्दकः । हिंसकः । क्लेशकः । खादकः । विनाशकः । परिक्षेपकः । परिराटकः । परिवादकः । व्याभाषकः । असूयकः ।।

भाषार्थः—[निन्द॰॰॰सूयः] निन्द, हिंस इत्यादि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [वुञ्] वुञ् प्रत्यय होता है ।। वुञ् में ञित्करण वृद्धि के लिये है ।। उदा०—निन्दकः (निन्दा करनेवाला) । हिंसकः (हिंसा करनेवाला)। क्लेशकः (कष्ट देनेवाला) । खादकः (खानेवाला) । विनाशकः (नाश करनेवाला)। परिक्षेपकः (चारों ओर फेंकनेवाला) । परिराटकः (अच्छी तरह रटनेवाला) । परिवादकः (चारों ओर से बजानेवाला) । व्याभाषकः (विविध बोलनेवाला) । असूयकः (निन्दक) ।। णश तथा वद ण्यन्त धातुओं से वुञ् होता है, उस णि का

णेरनिटि (६।४।५१) से लोप हो जायेगा। निवि हिंसि धातुओं को इदितो नुम्० (७।१।५८) से नुम् आगम होकर निन्द हिंस बनता है। असूयकः में अतो लोपः (६।४।४८) से अकार का लोप होता है॥

यहाँ से 'वुञ्' की अनुवृत्ति ३।२।१४८ तक जायेगी॥

देविक्रुशोश्चोपसर्गे ॥३।२।१४७॥

देविक्रुशोः ६।२॥ च अ०॥ उपसर्गे ७।१॥ स०—देवि० इत्यत्रेतरेतरयोग-द्वन्द्वः॥ अनु०—वुञ्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः,प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—दिवु कूजने (चुरा० उ०), अथवा दिवु क्रीडाद्यर्थकः (दिवा० प०), क्रुश आह्वाने इत्येताभ्यां सोपसर्गाभ्यां धातुभ्यां तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले वुञ् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—आदेवकः, परिदेवकः। आक्रोशकः, परिक्रोशकः॥

भाषार्थः—[उपसर्गे] सोपसर्ग [देविक्रुशोः] दिव तथा क्रुश धातुओं से [च] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में वुञ् प्रत्यय होता है। दिव धातु चुरादि अथवा दिवादिगण की ली गई है। चुरादिवाली से तो चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५) से णिच् हो ही जायेगा, तथा दिवादिवाली से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् लाकर णिजन्त से प्रत्यय लावेंगे। पुनः णिच् का पूर्ववत् लोप हो जायेगा॥ उदा०—आदेवकः (जुआ खेलनेवाला), परिदेवकः (खेलनेवाला)। आक्रोशकः (क्रुद्ध होकर चिल्लानेवाला), परिक्रोशकः (सब ओर से चिल्लानेवाला)॥

चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् ॥३।२।१४८॥

चलनशब्दार्थात् ५।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ युच् १।१॥ स०—चलनं च शब्दश्च चलनशब्दौ, तौ अर्थौ यस्य (जातौ एकवचनम्) स चलनशब्दार्थः (धातुः), तस्मात् द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। न विद्यते कर्म यस्य सोऽकर्मकः, तस्मात्, बहुव्रीहिः॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—अकर्मकेभ्य-श्चलनार्थेभ्यश्च धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले युच् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—चलनः। चोपनः। शब्दार्थेभ्यः—शब्दनः। रवणः॥

भाषार्थः—[अकर्मकात्] अकर्मक जो [चलनशब्दार्थात्] चलनार्थक और शब्दार्थक धातुएं उनसे तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [युच्] युच् प्रत्यय होता है॥ उदा०—चलनः (चलनेवाला)। चोपनः (मन्द गति करनेवाला) शब्दार्थकों से—शब्दनः (शब्द करनेवाला)। रवणः (शब्द करनेवाला)॥ यु को अन युवोरनाकौ(७।१।१)से हो ही जायेगा। रु को गुण तथा अवादेश होकर रवणः बनेगा॥

यहां से 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति ३।२।१४९ तक, तथा 'युच्' की अनुवृत्ति ३।२।१५३ तक जायेगी ॥

अनुदात्तेतश्च हलादेः ॥३।२।१४९॥

अनुदात्तेतः ५।१॥ च अ० ॥ हलादेः ५।१॥ स०—अनुदात्त इत् यस्य स अनुदात्तेत्, तस्मात्, बहुव्रीहिः । हल् आदिः यस्य स हलादिः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अकर्मकात्, युच्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अनुदात्तेत् यो हलादिरकर्मको धातुस्तस्माद् युच् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—वर्त्तनः । वर्द्धनः । स्पर्द्धनः ॥

भाषार्थः—[अनुदात्तेतः] अनुदात्तेत् जो [हलादेः] हल् आदिवाली अकर्मक धातुएं उनसे [च] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में युच् प्रत्यय होता है ॥ वृतु वृधु तथा स्पर्ध धातुएं, अनुदात्तेत् हलादि तथा अकर्मक हैं, अतः इनसे युच् प्रत्यय हो गया है ॥ उदा०—वर्त्तनः (बरतनेवाला) । वर्द्धनः (बढ़नेवाला) । स्पर्द्धनः (स्पर्द्धा करनेवाला) ॥

जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः ॥३।२।१५०॥

जुच···पदः ५।१॥ स०—जुच० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—युच्, तच्छील-तद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'जु' इति सौत्रो धातुः । चङ्क्रम्य दन्द्रम्य इति द्वौ यङन्तौ । जु, चङ्क्रम्य, दन्द्रम्य, सृ, गृधु अभिकाङ्क्षायां, ज्वल दीप्तौ, शुच शोके, लष कान्तौ, पत्लृ गतौ, पद गतौ इत्येतेभ्यो धातुभ्यतच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले युच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जवनः । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः । सरणः । गर्द्धनः । ज्वलनः । शोचनः । लषणः । पतनः । पदनः ॥

भाषार्थः—'जु' यह सौत्र धातु है । चङ्क्रम्य, दन्द्रम्य, ये यङन्त धातुयें हैं । [जुच···पदः] जु, चङ्क्रम्य, दन्द्रम्य, सृ, गृधु, ज्वल, शुच, लष, पत, पद इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में युच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—जवनः (गति करनेवाला) । चङ्क्रमणः (टेढ़े-मेढ़े गति करनेवाला) । दन्द्रमणः (टेढ़ी गति करनेवाला) । सरणः (गति करनेवाला) । गर्द्धनः (लालची) । ज्वलनः (जलनेवाला) । शोचनः (शोक करनेवाला) । लषणः (लालची) । पतनः (गिरनेवाला) । पदनः (गति करनेवाला) ॥ क्रम तथा द्रम धातुओं से 'यङ्' होकर चङ्क्रम्य दन्द्रम्य नई धातुयें बनेंगी, जिनकी सिद्धि परि० ३।१।२२ पर देखें । आगे

अङ्कम्य और बन्द्रम्य से युच् होकर यु को 'अन' हो जाता है। यस्य हलः (६।४।४९) से 'य' का लोप भी यहाँ हो जायेगा ॥

क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च ॥३।२।१५१॥

क्रुधमण्डार्थेभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—क्रुधश्च मण्डश्च क्रुधमण्डौ, तौ अर्थौ येषां ते क्रुधमण्डार्थाः, तेभ्यः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—युच्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्रुधार्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धातुभ्यः तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले युच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—क्रोधनः। रोषणः। मण्डार्थेभ्यः—मण्डनः। भूषणः ॥

भावार्थः—[क्रुधमण्डार्थेभ्यः] क्रुधार्थक तथा मण्डार्थक धातुओं से [च] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में युच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—क्रोधनः (क्रोध करनेवाला)। रोषणः (रोष करनेवाला)। मण्डार्थकों से—मण्डनः (सजानेवाला)। भूषणः (सजानेवाला) ॥

न यः ॥३।२।१५२॥

न अ० ॥ यः ५।१॥ अनु०—युच्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यकारान्ताद् धातोर्युच् प्रत्ययो न भवति तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—क्नूयिता। क्ष्मायिता ॥

भावार्थः—[यः] यकारान्त धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में युच् प्रत्यय [न] नहीं होता है ॥ सामान्य करके अनुदात्ते० (३।२।१४९) इत्यादि से युच् की प्राप्ति में यह निषेध है ॥ उदा०—क्नूयिता (शब्द करनेवाला)। क्ष्मायिता (कम्पित होनेवाला)। उदाहरण में अनुदात्ते० (३।२।१४९) से क्नूयी क्ष्मायी से युच् प्राप्त था, वह नहीं हुआ, तो औत्सर्गिक तृन् (३।२।१३५) से तृन् प्रत्यय हो गया। सेट् होने से इट् आगम हो ही जायेगा। परि० १।१।२ की तरह सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ३।२।१५३ तक जायेगी ॥

सूददीपदीक्षश्च ॥३।२।१५३॥

सूददीपदीक्षः ५।१॥ च अ० ॥ स०—सूद० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—न, युच्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षूद क्षरणे (भ्वा० आ०), दीपी दीप्तौ (दिवा० आ०), दीक्ष मौण्ड्ये (भ्वा० आ०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले युच् प्रत्ययो न भवति ॥ उदा०—सूदिता। दीपिता। दीक्षिता ॥

भाषार्थः—[सूददीपदीक्षः] सूद, दीपी, दीक्ष इन धातुओं से [च] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में युच् प्रत्यय नहीं होता ।। यह भी अनुदात्तेतश्च हलादेः (३।२।१४९) का अपवादसूत्र है । युच् का प्रतिषेध हो जाने पर पूर्ववत् औत्सर्गिक तृन् हो जाता है ।। उदा०—सूदिता (क्षरित होनेवाला)। दीपिता (प्रदीप्त होनेवाला)। दीक्षिता (दीक्षित होनेवाला) ।।

लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ् ।।३।२।१५४।।

लषपत · शॄभ्यः ५।३।। उकञ् १।१।। स०—लष० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः।। अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—लष, पत, पद, स्था, भू, वृषु सेचने (भ्वा० प०), हन, कमु कान्तौ (भ्वा० आ०), गम, शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले उकञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—अपलाषुकं वृषलसङ्गतम् । प्रपातुका गर्भा भवन्ति । उपपादुकं सत्त्वम् । उपस्थायुका एनं पशवो भवन्ति । प्रभावुकमन्नं भवति । प्रवर्षुकाः पर्जन्याः । आघातुकः । कामुकः । आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः । किशारुकं तीक्ष्णमाहुः ।।

भाषार्थः—[लष ····शॄभ्यः] लष, पत इत्यादि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [उकञ्] उकञ् प्रत्यय होता है ।। उदा०—अपलाषुकं वृषलसङ्गतम् (वृषल की सङ्गति अनुचित होती है) । प्रपातुका गर्भा भवन्ति (गर्भ पतनशील होते हैं) । उपपादुकं सत्त्वम् (उपपादन करनेवाला पदार्थ) । उपस्थायुका एनं पशवो भवन्ति (इसके प्रति पशु उपस्थित होते हैं) । प्रभावुकमन्नं भवति (प्रभाव करनेवाला अन्न होता है)। प्रवर्षुकाः पर्जन्याः (बरसनेवाले बादल)। आघातुकः (हिंसक) । कामुकः (काम से पीडित)। आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः । किशारुकं तीक्ष्णमाहुः (तीर को तीक्ष्ण कहते हैं) ।। उकञ् के ञित् होने से वृद्धि हो जाती है । उपस्थायुकः में आतो युक्० (७।३।२३) से युक् का आगम भी हुआ है ।।

जल्पभिक्षकुट्टलुण्ठवृङः षाकन् ।।३।२।१५५।।

जल्प···वृङः ५।१।। षाकन् १।१।। स०—जल्प० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—जल्प व्यक्तायां वाचि (भ्वा० प०), भिक्ष भिक्षायाम् (भ्वा० आ०), कुट्ट छेदन-भर्त्सनयोः (चुरा० प०)। लुण्ठ स्तेये (चुरा० प०), वृङ् सम्भक्तौ (क्र्या० आ०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु षाकन् प्रत्ययो भवति वर्त्तमाने काले ।। उदा०—जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्ठाकः, लुण्टाक इत्येके । वराकः, वराकी ।।

भावार्थ:—[जल्प······वृङः] जल्पादि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [षाकन्] षाकन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—जल्पाकः (व्यर्थ बोलनेवाला)। भिक्षाकः (भिक्षा माँगनेवाला)। कुट्टाकः (छेद करनेवाला)। लुण्ठाकः (लूटनेवाला)। वराकः (बेचारा, दीन) ॥ षाकन् का अनुबन्ध हट जाने पर 'आक' रह जाता है। षाकन् में षित् होने से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में षिद्-गौरादिभ्यश्च (४।१।४१)से ङीष् होगा। वृ आक=वर् आक=वराक ङीष्=वराकी बना है ॥

प्रजोरिनिः ॥३।२।१५६॥

प्रजोः ५।१॥ इनिः १।१॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रपूर्वाद् 'जु' धातोः तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काल इनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रजवी, प्रजविनौ ॥

भावार्थ:—[प्रजोः] प्र पूर्वक जु धातु से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमान काल में [इनिः] इनि प्रत्यय होता है ॥ प्र जु इन्=प्र जो इन्=प्रजव् इन् सु, पूर्ववत होकर सौ च (६।४।१३)से दीर्घ, तथा नकारलोप आदि पूर्ववत् होकर प्रजवी (भागनेवाला) बना है ॥

यहाँ से 'इनिः' की अनुवृत्ति ३।२।१५७ तक जायेगी ॥

जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च ॥३।२।१५७॥

जिदृ···सूभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—जिदृ० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—इनिः, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—जि जये, दृङ् आदरे, क्षि क्षये, अथवा क्षि निवासगत्योः, वि+श्रिञ् सेवायाम्, इण् गतौ, टुवम उद्गिरणे, नञ्पूर्वक व्यथ भयसञ्चलनयोः, अभिपूर्वक अम रोगे, परिपूर्वक भू, प्रपूर्वक षू प्रेरणे इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमानेऽर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जयी। दरी। क्षयी। विश्रयी। अत्ययी। वमी। अव्यथी। अभ्यमी। परिभवी। प्रसवी ॥

भावार्थ:—[जिदृ······प्रसूभ्यः] जि, दृ, क्षि आदि धातुओं से [च] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में इनि प्रत्यय होता है ॥ उदा०—जयी (जीतनेवाला)। दरी (आदर करनेवाला)। क्षयी (राजयक्ष्मा का रोगी)। विश्रयी (सेवा करनेवाला)। अत्ययी (उल्लङ्घन करनेवाला)। वमी (वमन करनेवाला)। अव्यथी (अभय)। अभ्यमी (रोगी)। परिभवी (पैदा होनेवाला)। प्रसवी (प्रेरणा देनेवाला) ॥ जयी क्षयी आदि में गुण होकर अयादेश हो जायेगा,

शेष पूर्ववत् है। प्रति पूर्वक इण् धातु को गुण अयादेश करके 'प्रति अयी', यणादेश होकर प्रत्ययी बन गया है। अभि अम इनि,यहां यणादेशादि होकर अभ्यमी बना है॥

स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् ॥३।२।१५८॥

स्पृहि·····श्रद्धाभ्यः ५।३॥ आलुच् १।१॥ स०—स्पृहि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—स्पृह ईप्सायाम्, गृह ग्रहणे, पत गतौ, दय दानगतिरक्षणेषु, निपूर्वः तत्पूर्वश्च द्रा कुत्सायां गतौ, श्रत्पूर्वः डुधाञ् इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काल आलुच् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—स्पृहयालुः। गृहयालुः। पतयालुः। दयालुः। निद्रालुः। तन्द्रालुः। श्रद्धालुः॥

भावार्थः—[स्पृहि······श्रद्धाभ्यः] स्पृह गृह आदि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [आलुच्] आलुच् प्रत्यय होता है॥ उदा०—स्पृहयालुः (इच्छा करनेवाला)। गृहयालुः (ग्रहण करनेवाला)। पतयालुः (पतनशील)। दयालुः (दयाशील)। निद्रालुः(अधिक सोनेवाला)। तन्द्रालुः(आलसी)। श्रद्धालुः(श्रद्धावान्)॥ स्पृह गृह पत ये तीन धातुयें चुरादिगण में अदन्त पढ़ी हैं, सो णिच् होकर सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से नयी धातु बनकर आलुच् होगा। स्पृह आदि में णिच् परे रहते अतो लोपः (६।४।४८) से इन तीनों के अकार का लोप होगा। अतः स्पृह गृह में पुगन्तलघू० (७।३।८६) से जब उपधा को गुण, तथा पत में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होने लगेगी, तब यह अकार स्थानिवत् हो जायेगा। तो लघु एवं अकार उपधा न मिलने से गुण वृद्धि भी नहीं होंगी। आलुच् परे रहते 'स्पृह' आदि धातुओं को अयादेश होकर स्पृहयालुः आदि बनेगा। तन्द्रालु में तत् के अन्तिम तकार का नकार निपातन से हुआ है॥

दाधेट्सिशदसदो रुः ॥३।२।१५९॥

दाधेट्···सदः ५।१॥ रुः १।१॥ स०—दाश्च धेट् च सिश्च शदश्च सद् च दाधेट्सिशदसद्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—दा, धेट्, षिञ् बन्धने, शद्लृ शातने, षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले रुः प्रत्ययो भवति॥ उदा०—दारुः। धारुः। सेरुः। शद्रुः। सद्रुः॥

भावार्थः—[दाधेट्सिशदसदः] दा, धेट्, सि, शद्, सद् इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [रुः] रु प्रत्यय हो जाता है॥ षिञ् तथा षद्लृ के ष् को धात्वादेः० (६।१।६२) से स् हो जायेगा॥ उदा०—दारुः (दानी)। धारुः (पान करनेवाला)। सेरुः (बांधनेवाला)। शद्रुः (तेज करनेवाला)। सद्रुः (दुःख माननेवाला)॥

सृघस्यदः क्मरच् ॥३।२।१६०॥

सृघस्यदः ५।१॥ क्मरच् १।१॥ स०—सृ० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सृ, घसि, अद् इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले क्मरच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सृमरः। घस्मरः। अद्मरः ॥

भाषार्थः—[सृघस्यदः] सृ, घसि, अद धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [क्मरच्] क्मरच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—सृमरः (मृगविशेष)। घस्मरः (खाने के स्वभाववाला, खाऊ)। अद्मरः (खाने के स्वभाववाला) ॥ क्मरच् का अनुबन्ध हटने पर 'मर' रूप रह जाता है। कित् होने से गुण निषेध (१।१।५ से) होता है ॥

भञ्जभासमिदो घुरच् ॥३।२।१६१॥

भञ्जभासमिदः ५।१॥ घुरच् १।१॥ स०—भञ्जश्च भासश्च मिद् च भञ्जभासमिद्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भञ्ज, भास, मिद् इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले घुरच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भङ्गुरं काष्ठम्। भासुरं ज्योतिः। मेदुरः पशुः ॥

भाषार्थः—[भञ्जभासमिदः] भञ्ज, भास, मिद इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [घुरच्] प्रत्यय होता है ॥ उदा०—भङ्गुरं काष्ठम् (टूटनेवाली लकड़ी)। भासुरं ज्योतिः (दीप्तिशील ज्योति)। मेदुरः पशुः (चर्बीवाला=मोटा पशु) ॥ भङ्गुरम् की सिद्धि परि० १।३।८ में देखें। शेष सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

विदिभिदिच्छिदेः कुरच् ॥३।२।१६२॥

विदिभिदिच्छिदेः ५।१॥ कुरच् १।१॥ स०—विदि० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—विद्, भिद्, छिद इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले कुरच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विदुरः। भिदुरं काष्ठम्। छिदुरा रज्जुः ॥

भाषार्थः—[विदिभिदिच्छिदेः] विद्, भिदिर्, छिदिर् इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [कुरच्] कुरच् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ विद से ज्ञानार्थक विद का ग्रहण है, न कि विद्लृ लाभे का। उदा०—विदुरः (पण्डित)। भिदुरं काष्ठम् (फटनेवाली लकड़ी)। छिदुरा रज्जुः (टूटनेवाली रस्सी) ॥ कुरच् का अनुबन्ध लोप होकर 'उर' रह जाता है ॥

इण्नशजिसर्त्तिभ्यः क्वरप् ॥३।२।१६३॥

इण्…सर्त्तिभ्यः ५।३॥ क्वरप् १।१॥ स०—इण्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इण्, णश, जि, सृ इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले क्वरप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—इत्वरः, इत्वरी । नश्वरः, नश्वरी । जित्वरः, जित्वरी । सृत्वरः, सृत्वरी ॥

भाषार्थः- [इण्नशजिसर्त्तिभ्यः] इण्, णश, जि, सृ इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [क्वरप्] क्वरप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—इत्वरः (गमनशील), इत्वरी । नश्वरः (नाशवान्), नश्वरी । जित्वरः (जयशील), जित्वरी । सृत्वरः (गमनशील), सृत्वरी ॥ क्वरप् का अनुबन्ध हटकर 'वर' शेष रहता है । इत्वरः,जित्वरः,सृत्वरः में क्वरप् के पित् होने से ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६६) से तुक् आगम होता है । कित् होने से उदाहरणों में गुण निषेध हो जायेगा । स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होकर इत्वरी आदि रूप भी जानें ॥

यहाँ से 'क्वरप्' की अनुवृत्ति ३।२।१६४ तक जायेगी ॥

गत्वरश्च ॥३।२।१६४॥

गत्वरः १।१॥ च अ०॥ अनु०—क्वरप्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गत्वर इति निपात्यते । गमधातोः क्वरप् प्रत्ययः अनुनासिकलोपश्च निपात्यते तच्छीलादिष्वर्थेषु वर्त्तमाने काले ॥

भाषार्थः—[गत्वरः] गत्वर यह शब्द [च] भी क्वरप्प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है । गम्लृ धातु से क्वरप् प्रत्यय तथा अनुनासिक का लोप तच्छीलादि अर्थों में वर्त्तमानकाल में निपातन किया है ॥ झल् परे रहते अनुनासिक का लोप(६।४।३७ से) कहा है । सो क्वरप् परे रहते प्राप्त नहीं था, अतः निपातन कर दिया । अनुनासिक का लोप हो जाने पर पूर्ववत् तुक् आगम हो ही जायेगा । ग तुक् क्वरप् =गत्वरः (गमनशील) बना ॥

जागुरूकः ॥३।२।१६५॥

जागुः ५।१॥ ऊकः १।१॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले जागर्त्तेर्धातोः 'ऊकः' प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जागरूकः ॥

भाषार्थः—[जागुः] जागृ धातु से [ऊकः] ऊक प्रत्यय होता है, तच्छीलादि कर्त्ता हों तो वर्त्तमानकाल में ॥ ऊक परे रहते जागृ को जागर् गुण होकर जागरूकः (जागरणशील) बना है ॥ इस सूत्र का 'जागरूकः' पाठ प्रायः उपलब्ध होता है ॥

यहां से 'ऊकः' की अनुवृत्ति ३।२।१६६ तक जायेगी ॥

यजजपदशां यङः ॥३।२।१६६॥

यजजपदशां ६।३॥ यङः ५।१॥ स०—यज० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ऊकः, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यज, जप, दश इत्येतेभ्यो यङन्तेभ्यो धातुभ्य ऊकः प्रत्ययो भवति, तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—यायजूकः । जञ्जपूकः । दन्दशूकः ॥

भाषार्थः—[यजजपदशाम्] यज, जप, दश इन [यङः] यङन्त धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में ऊक प्रत्यय होता है ॥

यायज्य जञ्जप्य दन्दश्य यङन्त धातु बनकर आगे इनसे 'ऊक' प्रत्यय होगा। जञ्जप्य दन्दश्य की सिद्धि परि० ३।१।२४ में देखें । आगे ऊक प्रत्यय के परे रहते यस्य हलः (६।४।४९) से यङ् के य का लोप होकर यायजूकः (खूब यज्ञ करनेवाला) । जञ्जपूकः (खूब जप करनेवाला) । दन्दशूकः (खूब काटनेवाला) बना है । 'यायज्य' की सिद्धि परि० ३।१।२२ के पापठ्यते की तरह जानें ॥

नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः ॥३।२।१६७॥

नमि ···· दीपः ५।१॥ रः १।१॥ स०—नमिश्च कम्पिश्च स्मिश्च अजसश्च कमश्च हिंसश्च दीप् च इति नमि ··दीप, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—णम प्रह्वत्वे शब्दे च, कपि चलने, ष्मिङ् ईषद्धसने नञ्पूर्वं जसु, मोक्षणे कमु कान्तौ, हिसि हिंसायाम् (दिवा० प०), दीपी दीप्तौ इत्येतेभ्यो धातोभ्यो वर्त्तमाने काले तच्छीलादिषु कर्त्तृषु 'रः' प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—नम्रं काष्ठम् कम्प्रा शाखा स्मेरं मुखम् । अजस्रं जुहोति । कम्रा युवतिः । हिंस्रो दस्यु दीप्रं काष्ठम् ॥

भाषार्थः—[नमि······दीपः] नमि कम्पि इत्यादि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [रः] र प्रत्यय होता है ॥ कपि हिसि धातुयें इदित् हैं । सो इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) से नुम् आगम होकर कम्प् हिंस् बनता है ॥ उदा०—नम्रं काष्ठम् (नरम काष्ठ) । कम्प्रा शाखा (हिलनेवाली शाखा) । स्मेरं मुखम् (हंसनेवाला मुख) । अजस्रं जुहोति (निरन्तर याग करता है)। कम्रा युवतिः (सुन्दर युवती)। हिंस्रो दस्युः (हिंसक दस्यु)। दीप्रं काष्ठम् (जलती हुई लकड़ी) ॥

सनाशंसभिक्ष उः ॥३।२।१६८॥

सनाशंसभिक्षः ५।१॥ उः १।१॥ स०—सन् च आशंसश्च भिक्ष् च सनाशंस-भिक्ष्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सन् इति सन्नन्तस्य ग्रहणं, न तु सन् धातोः। सन्नन्तेभ्यो धातुभ्य आङ्ः शसि इच्छायाम् (भ्वा० आ०), भिक्ष भिक्षायां लाभे अलाभे च (भ्वा० आ०) इत्येताभ्यां च धातुभ्याम् उः प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—चिकीर्षुः कटम्। वेदं जिज्ञासुः। व्याकरणं पिपठिषुः। आशंसुः। भिक्षुः ॥

भाषार्थः—[सनाशंसभिक्षः] सन्नन्त धातुओं से, तथा आङ्पूर्वक शसि, एवं भिक्ष धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [उः] उ प्रत्यय होता है ॥ उदा०—चिकीर्षुः कटम् (चटाई बनाने की इच्छावाला)। वेदं जिज्ञासुः (वेद को जानने की इच्छावाला)। व्याकरणं पिपठिषुः (व्याकरण पढ़ने की इच्छावाला)। आशंसुः (इच्छा करने के स्वभाववाला)। भिक्षुः (भिक्षा करने के स्वभाववाला) ॥ परि० १।१।५७ की तरह 'चिकीर्ष' की सिद्धि होकर उ प्रत्यय होगा। इसी प्रकार ज्ञा धातु से सन्नन्त जिज्ञास धातु परि० १।३।५७ की तरह बनेगी। पठ धातु से सन्नत में पिपठिष धातु बनकर पिपठिषुः बन जायेगा। सर्वत्र सन् के स के 'अ' का लोप 'उ' प्रत्यय के परे रहते अतो लोपः (६।४।४८) से होगा ॥ आङ् पूर्वक शसि धातु के इदित् होने से इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) से नुम् होकर 'आशंस्' बना। आशंस् उ सु = आशंसुः। भिक्ष् उ सु = भिक्षुः बन गया ॥

यहाँ से 'उः' की अनुवृत्ति ३।२।१७० तक जायेगी ॥

विन्दुरिच्छुः ॥३।२।१६९॥

विन्दुः १।१॥ इच्छुः १।१॥ अनु०—उः, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—विन्दुरित्यत्र 'विद ज्ञाने' इत्यस्माद् धातोरुः प्रत्ययः तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले निपात्यते नुमागमश्च। एवम् इच्छुः, इत्यत्र 'इषु इच्छायाम्' (तुदा० प०) इत्येतस्माद् धातोः उकारप्रत्ययः छत्वं च निपात्यते, छत्वे कृते छे च (६।१।७१) इति तुगागमः श्चुत्वं च भवत्येव ॥

भाषार्थः—[विन्दुः] विन्दुः, यहाँ विद् धातु से तच्छीलादि अर्थों में वर्त्तमानकाल में उ प्रत्यय, तथा विद को नुम् का आगम निपातन से किया जाता है। इसी प्रकार [इच्छुः] इच्छु, यहाँ भी इषु धातु से 'उ' प्रत्यय, तथा इष् के 'ष्' को 'छ्' निपातन से हुआ है। छत्व करने के पश्चात् 'छे च' से तुक् आगम, तथा श्चुत्व ८।४।३९ से हो ही जायेगा ॥ उदा०—वेदनशीलो विन्दुः (ज्ञानशील)। एषणशीलो इच्छुः (इच्छुक) ॥

क्याच्छन्दसि ॥३।२।१७०॥

क्यात् ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—उ:,तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्यः इत्यनेन क्यच् (३।१।८), क्यङ् (३।१।११), क्यष् (३।१।१३)इत्येतेषां सामान्येन ग्रहणम् । क्यप्रत्ययान्ताद् धातोः तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले छन्दसि विषये उः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—देवयुः(ऋ० ४।११।७) । सुम्नयुः (ऋ० १।७६।१०; २।३०।११; ६।२।३) । अघायवः (य० ४।३४, ११।७६) ॥

भाषार्थः—[क्यात्] क्यप्रत्ययान्त धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [छन्दसि] वेदविषय में उ प्रत्यय होता है ॥ क्य से यहां क्यच् क्यङ् क्यष् इन तीनों का ग्रहण है । देव सुम्न तथा अघ शब्द से सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८) से क्यच् प्रत्यय होकर 'देवय' 'सुम्नय' 'अघाय' सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से धातुयें बन गईं । पुनः प्रकृत सूत्र से देवयुः सुम्नयुः, तथा बहुवचन में अघायवः बना । देवय सुम्नय, यहाँ क्यचि च (७।४।३३) से ईत्व प्राप्त था, पर न च्छन्दस्यपुत्रस्य (७।४।३५) से निषेध हो गया । 'अघाय', यहाँ क्यच् परे रहते अश्वाघस्यात् (७।४।३७) से 'अघ' के 'घ' को आत्व हो जाता है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।२।१७१ तक जायेगी ॥

आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च ॥३।२।१७१॥

आदृगमहनजनः ५।१॥ किकिनौ १।२॥ लिट् १।१॥ च अ० ॥ स०—आदृ० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः । किकिनौ इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—छन्दसि विषये आत्=आकारान्तेभ्यः, ऋ=ऋकारान्तेभ्यः, गम, हन, जन इत्येतेभ्यश्च धातुभ्यः तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले किकिनौ प्रत्ययौ भवतः, लिड्वत् च तौ प्रत्ययौ भवतः ॥ लिड्वदिति कार्यातिदेशः ॥ उदा०—पपिः सोमं ददिर्गाः (ऋ० ६।२३।४) । मित्रावरुणौ ततुरिः । दूरे ह्यध्वा जगुरिः (ऋ० १०।१०८।१) । जग्मिर्युवा (ऋ० ७।२०।१)। जघ्निर्वृत्रम् (ऋ० ९।६१।२०)। जज्ञिर्बीजम् ॥

भावार्थः—[आदृगमहनजनः] आत्=आकारान्त, ऋ=ऋकारान्त, तथा गम, हन जन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वेदविषय में वर्त्तमानकाल में [किकिनौ] कि तथा किन् प्रत्यय होते हैं, [च] और उन कि किन् प्रत्ययों को [लिट्] लिट्वत् कार्य होता है । कि तथा किन् प्रत्ययों में स्वर में ही विशेष है, रूप तो इनका एक जैसा ही बनेगा । अतः उदाहरण पृथक्-पृथक् नहीं दिखाये हैं ॥

स्वपितृषोर्नजिङ् ॥३।२।१७२॥

स्वपितृषोः ६।२॥ नजिङ् १।१॥ स०—स्वपि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ञिष्वप् शये, ञितृषा पिपासायाम् इत्येताभ्यां धातुभ्यां तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले नजिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्वप्नक् । तृष्णक् ॥

भाषार्थः—[स्वपितृषोः] स्वप् तथा तृष् धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [नजिङ्] नजिङ् प्रत्यय होता है ॥ 'स्वप्+नज्', 'तृष्+नज्', यहाँ चोः कुः (८।२।३०) से ज् को ग्, तथा वाऽवसाने (८।४।५५) से क्, एवं रषाभ्यां नो० (८।४।१) से णत्व होकर स्वप्नक् (सोने के स्वभाववाला), तृष्णक् (पिपासु) बना है ॥

शॄवन्द्योरारुः ॥३।२।१७३॥

शॄवन्द्योः ६।२॥ आरुः १।१॥ स०—शॄ च वन्दिश्च शॄवन्दी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शॄ हिंसायाम्, वदि अभिवादनस्तुत्योः इत्येताभ्यां धातुभ्यां तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले आरुः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शरारुः । वन्दारुः ॥

भाषार्थः—[शॄवन्द्योः] शॄ तथा वदि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [आरुः] आरु प्रत्यय होता है ॥ वदि से इदितो नुम्० (७।१।५८) से नुम् होकर वन्द् बनेगा । शॄ को अर् गुण होकर शर् आरु=शरारुः (हिंसा करनेवाला) । वन्द् आरु=वन्दारुः (वन्दना करनेवाला) बनेगा ॥

भियः क्रुक्लुकनौ ॥३।२।१७४॥

भियः ५।१॥ क्रुक्लुकनौ १।२॥ स०—क्रुश्च क्लुकन् च क्रुक्लुकनौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ञिभी भये इत्येतस्माद् धातोः तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्तमाने काले क्रु क्लुकन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०—भीरुः । भीलुकः ॥

भाषार्थः—[भियः] भी धातु से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [क्रुक्लुकनौ] क्रु तथा क्लुकन् प्रत्यय हो जाते हैं ॥ उदा०—भीरुः (डरपोक) । भीलुकः (डरपोक) ॥ अनुबन्ध हटने पर क्रु का 'रु', तथा क्लुकन् का 'लुक' रूप शेष रहता है ॥ उभयत्र कित् होने से गुण-निषेध हो जाता है ॥

स्थेशभासपिसकसो वरच् ॥३।२।१७५॥

स्थे···कसः ५।१॥ वरच् १।१॥ स०—स्थाश्च ईशश्च भासश्च पिसश्च कस् च स्थेशभासपिसकस्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ष्ठा गतिनिवृत्तौ, ईश ऐश्वर्ये, भासृ दीप्तौ, पिसृ गतौ, कस गतौ इत्येतेभ्यो धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले वरच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्थावरः। ईश्वरः। भास्वरः। पेस्वरः। कस्वरः ॥

भाषार्थः—[स्थेशभासपिसकसः] स्था, ईश आदि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [वरच्] वरच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—स्थावरः (जड़)। ईश्वरः (स्वामी)। भास्वरः (सूर्य)। पेस्वरः (गतिशील)। कस्वरः (गतिशील) ॥ वरच् का 'वर' रूप शेष रहेगा। स्थावरः, यहाँ एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् निषेध होता है। तथा ईश्वरः इत्यादि शेष शब्दों में नेड् वशि कृति (७।२।८) से निषेध होता है ॥

यहाँ से 'वरच्' की अनुवृत्ति ३।२।१७६ तक जायेगी ॥

यश्च यङः ॥३।२।१७६॥

यः ५।१॥ च अ० ॥ यङः ५।१॥ अनु०—वरच्, तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—या प्रापणे, अस्मात् यङन्ताद् धातोस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले वरच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यायावरः ॥

भाषार्थः—[यङः] यङन्त [यः] या प्रापणे धातु से [च] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में वरच् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें ॥

भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् ॥३।२।१७७॥

भ्राज—स्तुवः ५।१॥ क्विप् १।१॥ स०—भ्राज० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भ्राजृ दीप्तौ, भासृ दीप्तौ, धुर्वी हिंसार्थः, द्युत दीप्तौ, ऊर्ज बलप्राणनयोः, पॄ पालनपूरणयोः, जु सौत्रो धातुः, ग्रावपूर्वं ष्टुञ् स्तुतौ इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्विप् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—विभ्राट्, विभ्राजौ। भाः, भासौ। धूः, धुरौ। विद्युत्। ऊर्क्, ऊर्जौ। पूः, पुरौ। जूः, जुवौ। ग्रावस्तुत्, ग्रावस्तुतौ ॥

भाषार्थः—[भ्राजभा···स्तुवः] भ्राज भास आदि धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में [क्विप्] क्विप् प्रत्यय होता है ॥)

यहाँ से 'क्विप्' की अनुवृत्ति ३।२।१७९ तक जायेगी ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥३।२।१७८॥

अन्येभ्यः ५।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ अनु०—क्विप्, तच्छील-तद्धर्मतत्साधुकारिषु, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अन्येभ्योऽपि धातुभ्यस्तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्त्तमाने काले क्विप् प्रत्ययो दृश्यते ॥ यतो विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥ उदा०—पचतीति पक् । भिनत्तीति भित् । छित् । युक् ॥

भाषार्थः—[अन्येभ्यः] अन्य धातुओं से [अपि] भी तच्छीलादि कर्त्ता हों, तो वर्त्तमानकाल में क्विप् प्रत्यय [दृश्यते] देखा जाता है । अर्थात् पूर्वसूत्र में जिन धातुओं से क्विप् विधान किया है, उनसे अन्य धातुओं से भी देखा जाता है ॥ उदा०—पक् (पकानेवाला) । भित् (तोड़नेवाला) । छित् (छेदनेवाला) । युक् जोड़नेवाला) ॥ पच् युज् धातुओं को चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व हो जायेगा । भिदिर् छिदिर् के द् को त् वाऽवसाने (८।४।५५) से हो जायेगा ॥

भुवः संज्ञान्तरयोः ॥३।२।१७९॥

भुवः ५।१॥ संज्ञान्तरयोः ७।२॥ स०—संज्ञा० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्विप्, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः,परश्च ॥ अर्थः—भूधातोः संज्ञायाम्, अन्तरे च गम्यमाने क्विप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विभूः । स्वयम्भूः । अन्तरे—प्रतिभूः ॥

भाषार्थः—[भुवः] भू धातु से [संज्ञान्तरयोः] संज्ञा तथा अन्तर गम्यमान हो, तो क्विप् प्रत्यय होता है ॥ अन्तर का अर्थ है—मध्य । ऋण देनेवाले तथा लेनेवाले के मध्य स्थित,दोनों के विश्वासपात्र व्यक्ति को प्रतिभूः कहा जाता है॥ उदा०—विभूः (किसी का नाम है) । स्वयम्भूः (ईश्वर) । अन्तर में—प्रतिभूः (जामिन)॥

यहाँ से 'भुवः' की अनुवृत्ति ३।२।१८० तक जायेगी ।

विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् ॥३।२।१८०॥

विप्रसम्भ्यः ५।३॥ डु १।१॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ स०—विप्र० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः । न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—भुवः, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—वि प्र सम् इत्येवंपूर्वाद् भूधातोः डुः प्रत्ययो भवत्यसंज्ञायां गम्यमानायां वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—विभुः । प्रभुः । सम्भुः ॥

भाषार्थः—[असंज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान न हो, तो [विप्रसंभ्यः] वि प्र तथा सम् पूर्वक भू धातु से [डुः] डु प्रत्यय होता है वर्त्तमानकाल में ॥ डित् होने से डित्यभस्यापि टेर्लोपः इस वार्त्तिक से भू के टि भाग ऊ का लोप होकर विभ् उ=

विभुः (व्यापक)। प्रभुः (स्वामी)। सम्भुः (उत्पन्न होनेवाला) आदि बन गये ॥

धः कर्मणि ष्ट्रन् ॥३।२।१८१॥

धः ५।१॥ कर्मणि ७।१॥ ष्ट्रन् १।१॥ अनु०—वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'धः' इत्यनेन धेट् डुधाञ् इति द्वौ निर्दिश्येते। 'धा' धातोः कर्मणि कारके ष्ट्रन् प्रत्ययो भवति वर्त्तमाने काले ॥ उदा०—धीयते असौ धात्री ॥

भाषार्थः—[धः] धा धातु से [कर्मणि] कर्मकारक में [ष्ट्रन्] ष्ट्रन् प्रत्यय होता है वर्त्तमानकाल में ॥ धा से यहाँ धेट् तथा डुधाञ् दोनों का ग्रहण है॥ ष्ट्रन् में षित्करण षिद्गौ० (४।१।४१) से ङीष् करने के लिये है। ष्ट्रन् के षकार की इत् संज्ञा हो जाने पर ष्टुत्व होकर जो 'त्' को ट् हो गया था, वह भी हटकर त् रह जाता है। सो ष्ट्रन् का 'त्र' शेष रहता है। धेट् से धात्री बनाने में आदेच उपदे०(६।१।४४) से 'धे' को आत्व हो जायेगा। धात्र ई, यहाँ यस्येति च (६।४।१४८) से त्र के अ का लोप होकर धात्री (स्तनपान करानेवाली, तथा रोगी की परिचर्या करनेवाली) बना है ॥

यहाँ से 'ष्ट्रन्' की अनुवृत्ति ३।२।१८३ तक जायेगी ॥

दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ॥३।२।१८२॥

दाम्नी···नहः ५।१॥ करणे ७।१॥ स०—दाप् च नीश्च शसश्च युश्च युजश्च स्तुश्च तुदश्च सिश्च सिचश्च मिहश्च पतश्च दशश्च नह् च—दाम् नह्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—ष्ट्रन्, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—दाप् लवने, णीञ् प्रापणे, शसु हिंसायाम्, यु मिश्रणे, युजिर् योगे, ष्टुञ् स्तुतौ, तुद व्यथने, षिञ् बन्धने, षिच क्षरणे, मिह सेचने, पत्लृ गतौ, दंश दशने, णह बन्धने, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः करणे कारके ष्ट्रन् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—दान्त्यनेनेति दात्रम्। नयन्ति प्राप्नुवन्त्यनेनेति नेत्रम्। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पतन्त्यनेन=पत्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्रम् ॥

भाषार्थः—[दाम्नी—नहः] दाप्, णी, शसु आदि धातुओं से [करणे] करण कारक में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—दात्रम् (दराँती)। नेत्रम् (आँख)। शस्त्रम् (औजार)। योत्रम्। योक्त्रम् (जूए को हल से बाँधने की रस्सी)। स्तोत्रम् (स्तुतिमन्त्र)। तोत्रम् (जिससे पीड़ा दी जाय)। सेत्रम् (बन्धन)। सेक्त्रम् (जिससे सींचा जाय)। मेढ्रम् (बादल)। पत्रम् (वाहन)। दंष्ट्रा (दाढ़)। नद्ध्रम् (बन्धन) ॥

यहाँ से 'करणे' की अनुवृत्ति ३।२।१८६ तक जायेगी ॥

हलसूकरयोः पुवः ॥३।२।१८३॥

हलसूकरयोः ७।२।। पुवः ५।१।। स०—हल० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—करणे, ष्ट्रन्, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पू इति पूङ्पूञोः सामान्येन ग्रहणम् । पू धातोः करणे कारके ष्ट्रन् प्रत्ययो भवति, तच्चेत् करणं हलसूकरयोरवयवो भवति ।। उदा०—हलस्य पोत्रम् । सूकरस्य पोत्रम् ।।

भाषार्थः—[पुवः] पू धातु से करण कारक में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है, यदि वह करण कारक [हलसूकरयोः] हल तथा सूकर का अवयव हो तो ।। पू से पूङ् पूञ् दोनों का ग्रहण है ॥ उदा०—हलस्य पोत्रम् (हल का अगला भाग) । सूकरस्य पोत्रम् (सुअर के मुख का अगला भाग)।।

अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ।।३।२।१८४।।

अर्तिः···चरः ५।१।। इत्रः १।१।। स०—अर्त्तिश्च लूश्च धूश्च सूश्च खनश्च सहश्च चर् च अर्ति···चर्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—करणे, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—ऋ गतौ, लूञ् छेदने, धू विधूनने, षू प्रेरणे, खनु अवदारणे, षह मर्षणे, चर गतिभक्षणयोः इत्येतेभ्यो धातुभ्यः करणे कारके इत्रप्रत्ययो भवति वर्त्तमाने काले ।। उदा० —इयर्त्यनेन=अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।।

भाषार्थः—[अर्तिलू··चरः] ऋ, लू, धू आदि धातुओं से करण कारक में [इत्रः] इत्र प्रत्यय वर्त्तमानकाल में होता है ।। कृत्संज्ञक होने से ये सब प्रत्यय कर्त्ता (३।४।६७) में प्राप्त थे, करण में विधान कर दिये हैं ।। उदा०—अरित्रम् (चप्पू) । लवित्रम् (चाकू)। धवित्रम् (पङ्खा) । सवित्रम् (प्रेरणा देनेवाला) । खनित्रम् (रम्बा, फावड़ा) । सहित्रम् (सहन करनेवाला) । चरित्रम् (चरित्र) ।। यथाप्राप्त गुण अयादि आदेश होकर 'लवित्रम्' आदि की सिद्धि जानें ।।

यहाँ से 'इत्रः' की अनुवृत्ति ३।२।१८६ तक जायेगी ।।

पुवः संज्ञायाम् ।।३।२।१८५।।

पुवः ५।१।। संज्ञायाम् ७।१।। अनु०—इत्रः, करणे, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—संज्ञायां गम्यमानायां पूधातोः करणे कारके इत्रः प्रत्ययो भवति ।। उदा०—पवित्रं दर्भः । पवित्रं प्राणापानौ ।।

भाषार्थः—[पुवः] पू धातु से [संज्ञायाम्] संज्ञा गम्यमान हो, तो करण

कारक में इत्र प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पवित्रं दर्भः (यज्ञ का विशेष दर्भ जो अंगूठे में पहना जाता है) । पवित्रं प्राणापानौ ॥

यहां से 'पुवः' की अनुवृत्ति ३।२।१८६ तक जायेगी ॥

कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः ॥३।२।१८६॥

कर्त्तरि ७।१॥ च अ० ॥ ऋषिदेवतयोः ७।२॥ स०—ऋषि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पुवः, इत्रः, करणे, वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पूधातोः 'ऋषौ' करणे, देवतायाञ्च कर्त्तरि इत्रः प्रत्ययो भवति ॥ यथासङ्ख्यं ऋषिदेवतयोः सम्बन्धः ॥ उदा०—पूयतेऽनेनेति पवित्रोऽयम् ऋषिः । देवतायाम्—अग्निः पवित्रं स मां पुनातु ॥

भाषार्थः—पू धातु से [ऋषिदेवतयोः] ऋषि को कहना हो तो करण कारक में, [च] तथा देवता को कहना हो तो [कर्त्तरि] कर्त्ता में इत्र प्रत्यय होता है ॥ यहां करण तथा कर्त्ता के साथ ऋषि देवता का यथासङ्ख्य करके सम्बन्ध है ॥ उदा०—पवित्रोऽयम् ऋषिः (जिसके द्वारा पवित्र किया जाये, वह मन्त्र) । देवता में—अग्निः पवित्रं स मां पुनातु (अग्नि पवित्र है, वह मेरी रक्षा करे)॥

ञीतः क्तः ॥३।२।१८७॥

ञीतः ५।१॥ क्तः १।१॥ स०—ञि इत् यस्य स ञीत्, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ञीतो धातोर्वर्त्तमाने काले क्तः प्रत्ययो भवति ॥ सर्वधातुभ्यो भूते निष्ठा विहिता सा वर्त्तमाने न प्राप्नोति, अतोऽयमारभ्यते योगः ॥ उदा०—ञिमिदा—मिन्नः । ञिक्ष्विदा—क्ष्विण्णः । ञिधृषा—धृष्टः॥

भाषार्थः—[ञीतः] ञि जिसका इत् संज्ञक हो, ऐसी धातु से वर्त्तमानकाल में [क्तः] क्त प्रत्यय होता है ॥ भूतकाल में सब धातुओं से क्त (३।२।१०२ से) प्रत्यय कहा है। सो वर्त्तमानकाल में नहीं प्राप्त था, अतः यह सूत्र बनाया ॥ सिद्धियां परि० १।३।५ में देखें ॥

यहां से 'क्तः' की अनुवृत्ति ३।२।१८८ तक जायेगी ॥

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ॥३।२।१८८॥

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—मतिश्च बुद्धिश्च पूजा च मतिबुद्धिपूजाः, मतिबुद्धिपूजा अर्था येषां ते मतिबुद्धिपूजार्थाः, तेभ्यः द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—क्तः, वर्त्तमाने,धातोः प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—मतिः इच्छा, बुद्धिर्ज्ञानम्, पूजा सत्कारः । मत्यर्थेभ्यो बुद्ध्यर्थेभ्यः पूजार्थेभ्यश्च धातुभ्यो वर्त्तमाने काले क्तः प्रत्ययो

भवति ॥ उदा०—मत्यर्थेभ्यः—राज्ञां मतः। राज्ञाम् इष्टः। बुद्ध्यर्थेभ्यः—राज्ञां बुद्धः। राज्ञां ज्ञातः। पूजार्थेभ्यः—राज्ञां पूजितः॥

भाषार्थः—[मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः] मत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से [च] भी वर्त्तमानकाल में क्त प्रत्यय होता है॥ मति=इच्छा। बुद्धि=ज्ञान। पूजा=सत्कार॥ राज्ञाम् में क्तस्य च वर्त्तमाने (२।३।६७) से षष्ठी विभक्ति होती है, तथा क्तेन च पूजायाम् (२।२।१२) से षष्ठी-समास का निषेध होता है॥ मतः—मन् धातु से क्त प्रत्यय होकर एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् निषेध, तथा अनुदात्तो पदेश० (६।४।३७) से अनुनासिकलोप होकर मतः बनेगा। इष्टः—'इषु इच्छायाम्' से क्त प्रत्यय होता है। यहां उदितो वा (७।२।५६) से विकल्प होने से यस्य विभाषा (७।२।१५) से इट् निषेध होकर ष्टुत्व हुआ है। बुद्धः—बुध धातु से क्त को झषस्त० (८।२।४०) से धत्व, तथा झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर बुद्धः बना है। पूजितः—पूज् धातु से पूज् इट् क्त=पूजितः। तथा ज्ञातः—ज्ञा धातु से ज्ञा क्त=ज्ञातः बन ही जायेगा॥

॥ इति द्वितीयः पादः॥

—०—

तृतीयः पादः

उणादयो बहुलम्॥३।३।१॥

उणादयः १।३॥ बहुलम् १।१॥ स०—उण् आदिर्येषां ते उणादयः, बहुव्रीहिः॥ अनु०—वर्त्तमाने, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—उणादयः प्रत्यया वर्त्तमाने काले धातुभ्यो बहुलं भवन्ति॥ उदा०—करोतीति कारुः। वाति गच्छति जानाति वेति वायुः। पाति रक्षतीति पायुः। जायुः। मायुः। स्वादुः। साधुः। आशुः॥

भाषार्थः—धातुओं से [उणादयः] उणादि प्रत्यय वर्त्तमानकाल में [बहुलम्] बहुल करके होते हैं॥ उदा०—कारुः (शिल्पी)। वायुः (पवन अथवा परमेश्वर)। पायुः (गुदा)। जायुः (औषध)। मायुः (पित्त)। स्वादुः (खाने योग्य अन्न)। साधुः (सज्जन)। आशुः (शीघ्र चलनेवाला)॥ उदाहरणों में कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उणा० १।१) से उण् प्रत्यय हुआ है। वा, पा, मा (मि) धातुओं को आतो युक्चिण्कृतोः (७।३।३३) से युक् आगम होकर वायुः, पायुः, मायुः बना है। कृ, जि धातुओं को अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि, एवं आयादेश होकर कारुः जायुः बना है॥

उणादि प्रत्ययों का विधान थोड़ीसी धातुओं से किया है। पर इष्ट औरों से भी है, अतः यहाँ बहुल कहा है। सो बहुल कहने से प्रयोग देखकर जिन धातुओं से किसी प्रत्यय का विधान नहीं भी किया गया, तो भी वह हो जायेगा। यथा हृषेरुलच् (उणा० १।९६) से हृष् धातु से उलच् प्रत्यय कहा है। परन्तु बहुल कहने से शङ्कुला शब्द सिद्ध करने के लिये शकि धातु से भी उलच् प्रत्यय हो गया है। इसी प्रकार जो प्रत्यय नहीं भी कहे, उनका भी प्रयोग (शिष्टप्रयोग) देखकर बहुल कहने से विधान हो जायेगा। यथा—ऋ धातु से फिड और फिड्ड प्रत्यय नहीं कहे, तो भी ये प्रत्यय होकर ऋफिड और ऋफिड्ड प्रयोग बनते हैं। महाभाष्य में इसका विशदरूप से व्याख्यान किया है॥

यहाँ से 'उणादयः' की अनुवृत्ति ३।३।३ तक जायेगी॥

भूतेऽपि दृश्यन्ते ॥३।३।२॥

भूते ७।१॥ अपि अ० ॥ दृश्यन्ते क्रियापदम् ॥ अनु०—उणादयः, धातोः, प्रत्ययः परश्च ॥ अर्थः—भूते कालेऽप्युणादयः प्रत्यया दृश्यन्ते। पूर्वत्र वर्त्तमाने काले विहिताः, भूतेऽपि विधीयन्ते ॥ उदा०—वृत्तमिदं वर्त्म। चरितं तच्चर्म। भसितं तदिति भस्म ॥

भावार्थः—उणादि प्रत्यय धातु से [भूते] भूतकाल में [अपि] भी [दृश्यन्ते] देखे जाते हैं॥ पूर्वसूत्र से वर्त्तमानकाल में प्रत्यय प्राप्त थे। भूत में भी हों, इसीलिये यह सूत्र बनाया॥ उदा०—वर्त्म (मार्ग)। चर्म (चमड़ा)। भस्म (राख)॥ सर्व-धातुभ्यो मनिन् (उणा० ४।१४५) से वृतु चर आदि धातुओं से मनिन् प्रत्यय भूतकाल में हुआ है। वर्त्मन् सु, स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से सु का लुक्, तथा न लोपः० (८।२।७) से नकारलोप हो जायेगा॥

भविष्यति गम्यादयः ॥३।३।३॥

भविष्यति ७।१॥ गम्यादयः १।३॥ स०—गमी आदिर्येषां ते गम्यादयः, बहु-व्रीहिः ॥ अनु०—उणादयः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उणादिषु ये गम्यादयः शब्दास्ते भविष्यति काले साधवो भवन्ति। अर्थाद् गम्यादयः शब्दा भविष्यति काले भवन्ति ॥ उदा०—गमी ग्रामम्। आगामी। प्रस्थायी। प्रतिरोधी। प्रतिबोधी। प्रतियोधी। प्रतियोगी। प्रतियायी। आयायी। भावी ॥

भावार्थः—उणादिप्रत्ययान्त [गम्यादयः] गम्यादि शब्दों में जो प्रत्यय विधान किये हैं, वे [भविष्यति] भविष्यत्काल में होते हैं॥

यहाँ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति ३।३।१५ तक जायेगी॥

यावत्पुरानिपातयोर्लट् ॥३।३।४॥

यावत्पुरानिपातयोः ७।२॥ लट् १।१॥ स०—यावत् च पुरा च यावत्पुरौ, यावत्पुरौ च तौ निपातौ च=यावत्पुरानिपातौ, तयोः, द्वन्द्वगर्भकर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यावत्पुराशब्दयोर्निपातयोरुपपदयोर्भविष्यति काले धातोर्लट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यावद् भुङ्क्ते । पुरा भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[यावत्पुरानिपातयोः] यावत् तथा पुरा निपात उपपद हों, तो भविष्यत् काल में धातु से [लट्] लट् प्रत्यय होता है ॥ भुङ्क्ते की सिद्धि परिशिष्ट १।३।६४ के प्रयुङ्क्ते के समान ही जानें ॥

यहाँ से 'लट्' की अनुवृत्ति ३।३।६ तक जायेगी ॥

विभाषा कदाकर्ह्योः ॥३।३।५॥

विभाषा १।१॥ कदाकर्ह्योः ७।२॥ स०—कदा च कर्हि च कदाकर्ही, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लट्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कदा कर्हि इत्येतयोरुपपदयोर्धातोर्भविष्यति काले विभाषा लट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कदा भुङ्क्ते, कदा भोक्ष्यते, कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते, कर्हि भोक्ष्यते, कर्हि भोक्ता ॥

भाषार्थः—[कदाकर्ह्योः] कदा तथा कर्हि उपपद हों, तो धातु से भविष्यत्काल में [विभाषा] विकल्प से लट् प्रत्यय होता है ॥ विभाषा कहने से पक्ष में भविष्यत् काल के लकार लृट् तथा लुट् हो जायेंगे॥ उदा०—कदा भुङ्क्ते (कब खायेगा), कदा भोक्ष्यते, कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते (कब खायेगा), कर्हि भोक्ष्यते, कर्हि भोक्ता ॥ 'भोज् स्य ते' पूर्ववत् (३।१।३३ से) होकर, चोः कुः (८।२।३०) तथा खरि च (८।४।५४) से कुत्व, तथा आदेश प्र० (८।३।५६) से षत्व होकर 'भोक्ष्यते' बनेगा । भोक्ता के लिये परिशिष्ट १।१।६ देखें ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ३।३ ६ तक जायेगी ॥

किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥३।३।६॥

किंवृत्ते ७।१॥ लिप्सायाम् ७।१॥ स०—किमो वृत्तं किंवृत्तं, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, लट्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—लब्धुमिच्छा=लिप्सा । लिप्सायाम्=अभिलाषे गम्यमाने किंवृत्त उपपदे भविष्यति काले धातोर्विकल्पेन लट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कं कतरं कतमं वा भवान् भोजयति, भोजयिष्यति, भोजयिता वा । कस्मै भवानिदं पुस्तकं ददाति, दास्यति, दाता वा ॥

भाषार्थः—[लिप्सायाम्] लिप्सा गम्यमान होने पर [किंवृत्ते] किंवृत्त उपपद हो, तो भविष्यत्काल में धातु से विकल्प करके लट् प्रत्यय होता है ॥ किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा का नाम लिप्सा है ॥ किंवृत्त से किम् शब्द की सारी विभक्ति सहित, तथा डतर डतम प्रत्ययान्त जो कतर कतम (५।३।९२-९३) शब्द ये सब लिये जायेंगे ॥ उदा०—कं कतरं कतमं वा भवान् भोजयति (किसको आप खिलायेंगे), भोजयिष्यति भोजयिता वा । कस्मै भवानिदं पुस्तकं दास्यति ददाति दाता वा (किसको आप यह पुस्तक देंगे) ॥ लेने की इच्छावाला कोई पूछता है कि आप किसको देंगे या किसे खिलायेंगे,अर्थात् मुझे दे दो । सो यहां लिप्सा है । पक्ष में लृट् एवं लुट् होते हैं ॥ भुज् णिजन्त धातु से लट् आदि लकार आये हैं ॥

लिप्स्यमानसिद्धौ च ॥३।३।७॥

लिप्स्यमानसिद्धौ ७।१॥ च अ० ॥ लिप्स्यते प्राप्तुमिष्यते तल्लिप्स्यमानम् कर्मणि शानच् ॥ स०—लिप्स्यमानात् सिद्धिः लिप्स्यमानसिद्धिः, तस्मिन्, पञ्चमी-तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, लट्, भविष्यति, धातोः,प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—लिप्स्य-मानात् (अभीप्सितपदार्थात्) सिद्धौ गम्यमानायां धातोर्भविष्यति काले विकल्पेन लट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यो भक्तं ददाति स स्वर्गं गच्छति । यो भक्तं दास्यति दाता वा स स्वर्गं गमिष्यति गन्ता वा ॥

भाषार्थः—[लिप्स्यमानसिद्धौ] लिप्स्यमान=चाहे जाते हुए अभीष्ट पदार्थ से सिद्धि गम्यमान हो, तो [च] भी भविष्यत्काल में धातु से विकल्प से लट् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—यो भक्तं ददाति स स्वर्गं गच्छति (जो चावल देगा वह स्वर्ग को जायेगा) । यो भक्तं दास्यति दाता वा स स्वर्गं गमिष्यति गन्ता वा ॥ उदाहरण में अभीष्ट लिप्स्यमान पदार्थ भात है। उस से स्वर्ग की सिद्धि होगी ऐसा कोई भिक्षुक कह रहा है, ताकि मुझे लोग भात दे दें।सो लिप्स्यमान से सिद्धि है । भविष्यत्काल में लृट् तथा लुट् लकार ही प्राप्त थे, लट् भी विधान कर दिया है । लिप्स्यमान में कर्म में शानच् हुआ है । गमेरिट् परस्मैपदेषु (७।२।५८) से गमिष्यति में इट् हुआ है ॥

लोडर्थलक्षणे च ॥३।३।८॥

लोडर्थलक्षणे ७।१॥ च अ० ॥ स०—लोटोऽर्थः लोडर्थः=प्रैषादिः, षष्ठी-तत्पुरुषः । लक्ष्यते अनेनेति लक्षणम् । लोडर्थस्य लक्षणं लोडर्थलक्षणम्, तस्मिन्,षष्ठी-तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, लट्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—लोडर्थलक्षणे वर्त्तमानाद् धातोर्भविष्यति काले लट् प्रत्ययो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व ॥

भावार्थः—[लोडर्थलक्षणे] लोडर्थलक्षण में वर्त्तमान धातु से [च] भी भविष्यत्काल में विकल्प से लट् प्रत्यय होता है ॥ लोट् का अर्थ है—प्रैषादि (करो, करो ऐसा प्रेरित करना), वह लोडर्थ प्रैषादि लक्षित हो जिसके द्वारा वह लोडर्थलक्षण धातु हुई, सो ऐसी धातु से जो लोडर्थ को लक्षित करे, उससे लट् प्रत्यय विकल्प से होगा ॥ अतः उदाहरणों में लोडर्थ (प्रैष) अधीष्व है। वह आगमन क्रिया से लक्षित किया जा रहा है। सो गम धातु से पक्ष में लृट् तथा लुट् लकार हो गये हैं ॥ उदा०—उपाध्यायश्चेदा गच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व (उपाध्याय जी यदि आ जावेंगे, तो तुम छन्द तथा व्याकरण पढ़ना) ॥

यहाँ से 'लोडर्थलक्षणे' की अनुवृत्ति ३।३।९ तक जायेगी ॥

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके ॥३।३।९॥

लिङ् १।१॥ च अ० ॥ ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके ७।१॥ स०—मुहूर्त्ताद् ऊर्ध्वं ऊर्ध्वमुहूर्त्तम्, निपातनात् पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ ऊर्ध्वमुहूर्त्ते भवम् ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकम्, तस्मिन्। कालाट्ठञ् (४।३।११) इति ठञ् प्रत्ययः, उत्तरपदवृद्धिश्च निपातनात् ॥ अनु०—लोडर्थलक्षणे, विभाषा, लट्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके भविष्यति काले लोडर्थलक्षणे वर्त्तमानाद् धातोर्विकल्पेन लिङ्, चकारात् लट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मुहूर्त्तस्य पश्चाद् उपाध्यायश्चेद् आगच्छेत् आगच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व ॥

भावार्थः—[ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके] मुहूर्त्त=दो घड़ी से ऊपर के भविष्यत्काल को कहना हो, तो लोडर्थलक्षण में वर्त्तमान धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय विकल्प से होता है, [च] चकार से लट् भी होता है ॥ उदाहरण में मुहूर्त्तभर से ऊपर भविष्यत्काल को कहना है, अत लिङ्, तथा पक्ष में भविष्यत् काल के लृट् एवं लुट् प्रत्यय होंगे, चकार से लट् भी होगा। अतः चारों लकार इस विषय में बोले जा सकते हैं ॥ लोडर्थ अधीष्व है, सो वह आगमन क्रिया से लक्षित हो रहा है। अतः गम् धातु से लिङ् आदि लकार हो गये हैं ॥

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ॥३।३।१०॥

तुमुन्ण्वुलौ १।२॥ क्रियायाम् ७।१॥ क्रियार्थायाम् ७।१॥ स०—तुमुन् च ण्वुल् च तुमुन्ण्वुलौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। क्रियार्थं इयं क्रियार्था, तस्यां क्रियार्थायाम्, चतुर्थीतत्पुरुषः ॥ अनु०—भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे धातोर्भविष्यति काले तुमुन्ण्वुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०—भोक्तुं व्रजति। भोजको व्रजति ॥

भाषार्थः—[क्रियार्थायां क्रियायाम्] क्रियार्थ क्रिया उपपद हो, तो धातु से [तुमुन्ण्वुलौ] तुमुन् तथा ण्वुल् प्रत्यय भविष्यत्काल में होते हैं ॥ क्रिया के लिये जो क्रिया हो वह क्रियार्थ क्रिया होती है। उदाहरण में, खाने के लिए जा रहा है, सो जाना किया इसलिए हो रही है कि वह खाये। अतः 'व्रजति' क्रियार्थ क्रिया है। अब ऐसी क्रियार्थ क्रिया उपपद हो, तो किसी अन्य धातु से तुमुन् ण्वुल् प्रत्यय होंगे। सो व्रजति क्रियार्थ क्रिया के उपपद रहते भुज धातु से तुमुन् ण्वुल् प्रत्यय हो गये हैं॥ उदा०—भोक्तुं व्रजति। भोजको व्रजति (खाने के लिये जाता है) ॥ भोक्तुं में चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व हो जाता है ॥

यहाँ से 'क्रियायां क्रियार्थाम्' की अनुवृत्ति ३।३।१३ तक जायेगी ॥

भाववचनाश्च ॥३।३।११॥

भाववचनाः १।३॥ च अ० ॥ ब्रुवन्तीति वचनाः,निपातनात्कर्त्तरि ल्युट् ॥ स०—भावस्य वचनाः भाववचनाः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—क्रियायां क्रियार्थायाम्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यति काले धातोर्भाववचनाः=भाववाचकाः (घञादयः) प्रत्यया भवन्ति ॥ भावे (३।३।१८) इति प्रकृत्य ये घञादयः प्रत्यया विहितास्ते भाववचनाः ॥ उदा०—पाकाय व्रजति। भूतये व्रजति। पुष्टये व्रजति ॥

भाषार्थः—क्रियार्थक्रिया उपपद हो, तो भविष्यत्काल में धातु से [भाववचनाः] भाववचन, अर्थात् भाववाचक (भाव को कहनेवाले) प्रत्यय [च] भी होते हैं॥ भावे (३।३।१८) के अधिकार में जो घञादि प्रत्यय कहे हैं, वे भाववचन हैं। भाव को जो कहते हैं, वे भाववचन प्रत्यय होते हैं ॥ उदा०—पाकाय व्रजति (भोजन बनाने के लिये जाता है)। भूतये व्रजति (संपत्ति के लिए जाता है)। पुष्टये व्रजति (पुष्टि के लिये जाता है) ॥ व्रजति यहाँ क्रियार्थ क्रिया उपपद है। सो पच् धातु से भविष्यत् काल में घञ् होकर पाक बना। सिद्धि परिशिष्ट १।१।१ में देखें। पाकाय इत्यादि में चतुर्थी विभक्ति 'तुमर्थाच्च० (२।३।१५) से होगी। भू तथा पुष धातुओं से भाववचन क्तिन् प्रत्यय स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से होगा, सो भूतिः। तथा पुष क्तिन्=पुष् ति, ष्टुत्व होकर पुष्टिः बन गया ॥

अण्कर्मणि च ॥३।३।१२॥

अण् १।१॥ कर्मणि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—क्रियायां क्रियार्थायाम्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्रियार्थायां क्रियायां कर्मणि चोपपदे धातोर्भविष्यति कालेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—काण्डलावो व्रजति। गोदायो व्रजति। अश्वदायो व्रजति ॥

भाषार्थः—क्रियार्था क्रिया [च] एवं [कर्मणि] कर्म उपपद रहते धातु से भविष्यत्काल में [अण्] अण् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—काण्डलावो व्रजति (शाखा को काटेगा, इसलिए जाता है)। गोदायो व्रजति(गौ देगा, इसलिए जाता है)। अश्वदायो व्रजति (अश्व देगा, इसलिए जाता है) ॥ उदाहरणों में लवन एवं दान क्रिया के लिये व्रजि क्रियार्था क्रिया उपपद है। सो ३।३।१० सूत्र से ण्वुल् प्राप्त था, अण् कह दिया है। लू धातु के 'काण्ड' तथा दा धातु के 'गो' कर्म उपपद में है, इसी प्रकार दा के 'अश्व' उपपद में है। सो क्रियार्था क्रिया एवं कर्म दोनों उपपद हैं ॥ सिद्धि में लू को लौ वृद्धि एवं आवादेश, तथा दा को आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम हो जायेगा ॥

लृट् शेषे च ॥३।३।१३॥

लृट् १।१॥ शेषे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—क्रियायाम्, क्रियार्थायाम्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शेषे अर्थात् केवले भविष्यति काले, चकारात् क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यति काले च धातोर्लृट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शेषे—करिष्यति, हरिष्यति। करिष्यामीति व्रजति, हरिष्यामीति व्रजति ॥

भाषार्थः—धातु से [शेषे] शेष=केवल भविष्यत्काल में तथा [च] चकार से क्रियार्थ क्रिया उपपद रहते भी भविष्यत्काल में [लृट्] लृट् प्रत्यय होता है ॥ शेष कहने से बिना क्रियार्थ क्रिया उपपद रहते भी लृट् हो जाता है ॥ उदा०—शेष में—करिष्यति, हरिष्यति। क्रियार्थ क्रिया—करिष्यामीति व्रजति (करूंगा, इसलिए जाता हूँ), हरिष्यामीति व्रजति (हरण करूंगा, इसलिए जाता हूँ) ॥ सिद्धि परि० १।४।१३ में देखें ॥

लृटः सद्वा ॥३।३।१४॥

लृटः ६।१॥ सत् १।१॥ वा अ० ॥ अनु०—क्रियायाम्, क्रियार्थायाम्, भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भविष्यति काले विहितस्य लृटः स्थाने सत्संज्ञकौ शतृशानचावादेशौ वा भवतः ॥ उदा०—करिष्यन्तं देवदत्तं पश्य। करिष्यमाणं देवदत्तं पश्य। हे करिष्यन्, हे करिष्यमाण। अर्जयिष्यमाणो वसति ॥

भाषार्थः—भविष्यत्काल में विहित जो [लृटः] लृट् उसके स्थान में [सत्] सत् (३।२।१२७) संज्ञक शतृ शानच् प्रत्यय [वा] विकल्प से होते हैं ॥ उदा०—करिष्यन्तं देवदत्तं पश्य (जो करेगा, ऐसे देवदत्त को देखो)। करिष्यमाणं देवदत्तं पश्य। हे करिष्यन्, हे करिष्यमाण। अर्जयिष्यमाणो वसति ॥ उदाहरणों

में करिष्यतं करिष्यमाणं में अप्रथमासमानाधिकरण में; हे करिष्यन् हे करिष्यमाण में सम्बोधन में; और अर्जयिष्यमाणः में क्रिया के हेतु में सद्-आदेश हुए हैं। इन्हीं विषयों में तो सत् (३।२।१२७) से सत् संज्ञा का विधान है ॥

अनद्यतने लुट् ॥३।३।१५॥

अनद्यतने ७।१॥ लुट् १।१॥ स०—न विद्यतेऽद्यतनो यस्मिन् सोऽनद्यतनः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अनद्यतने भविष्यति काले धातोर्लुट् प्रत्ययः परश्च भवति ॥ उदा०—श्वः कर्त्ता, श्वो भोक्ता ॥

भाषार्थः—[अनद्यतने] अनद्यतन भविष्यत् काल में धातु से [लुट्] लुट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है ॥ उदा०— श्वः कर्त्ता (कल करेगा), श्वो भोक्ता (कल खायेगा) ॥ लुट् लकार में सिद्धि परिशिष्ट १।१।५ की तरह समझें। केवल यहाँ एकाच उपदे० (७।२।१०) से इट् निषेध होगा। भुज् को कुत्व चोः कुः (८।२।३०) से होता है ॥

पदरुजविशस्पृशो घञ् ॥३।३।१६॥

पदरुजविशस्पृशः ५।१॥ घञ् १।१॥ स०—पदश्च रुजश्च विशश्च स्पृश् च पद···स्पृश्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पद, रुज, विश, स्पृश इत्येतेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पद्यतेऽसौ पादः। रुजत्यसौ रोगः। विशत्यसौ वेशः। स्पृशतीति स्पर्शः ॥

भाषार्थः—[पदरुजविशस्पृशः] पद, रुज, विश, स्पृश इन धातुओं से [घञ्] घञ् प्रत्यय होता है ॥ इस सूत्र में कोई काल नहीं कहा, तो सामान्य करके तीनों कालों में घञ् होगा। तथा सामान्य विधान होने से कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से कर्त्ता में ही होगा ॥ उदा०—पादः (पैर)। रोगः (रोग)। वेशः (प्रवेश करनेवाला)। स्पर्शः (रोग)। स्पृश उपताप इति वक्तव्यम् (वा० ३।३।१६) इस वार्त्तिक से उपताप=रोग अर्थ में स्पर्शः बनता है ॥ घञन्त की सिद्धि सर्वत्र परिशिष्ट १।१।१ के भागः आदि के समान जानें। जहाँ कुछ विशेष होगा लिखा जायेगा ॥

यहाँ से 'घञ्' की अनुवृत्ति ३।३।५५ तक जायेगी ॥

सृ स्थिरे ॥३।३।१७॥

सृ लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः ॥ स्थिरे ७।१॥ अनु०—घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सृ धातोः स्थिरे कालान्तरस्थायिनि कर्त्तरि घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—चन्दनस्य सारः चन्दनसारः, खदिरसारः ॥

भाषार्थः—[सृ] सृ धातु से [स्थिरे] स्थिर अर्थात् चिरस्थायी कर्त्ता वाच्य हो, तो घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—चन्दनसारः (चन्दन का चूरा), खदिरसारः

(कत्था) ।। उदाहरण में चन्दन तथा खदिर के साथ 'सार' का षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है। वृद्धि आदि कार्य घञन्त के समान ही जानें ।।

भावे ।।३।३।१८।।

भावे ७।१।। अनु०—घञ्, धातोः प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—भावे = धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—पाकः, त्यागः, रागः ।।

भाषार्थः—[भावे] भाव अर्थात् धात्वर्थ वाच्य हो, तो धातुमात्र से घञ् प्रत्यय होता है ।। सिद्धि परिशिष्ट १।१।१ में देखें ।।

यहाँ से 'भावे' का अधिकार ३।३।११२ तक जायेगा ।।

अकर्त्तरि[1] च कारके संज्ञायाम् ।।३।३।१९।।

अकर्त्तरि ७।१।। च अ० ।। कारके ७।१।। संज्ञायाम् ७।१।। स०—न कर्त्ता अकर्त्ता, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—कर्त्तृवर्जिते कारके संज्ञायां विषये धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—आवाह, विवाहः । प्रास्यन्ति तं प्रासः । प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः । आहरन्ति तस्माद् रसमिति आहारः ।।

भाषार्थः—[अकर्त्तरि] कर्त्ताभिन्न [कारके] कारक में [च] भी धातु से [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में घञ् प्रत्यय होता है ।। उदा०—आवाहः (कन्या को विवाह करके लाना), विवाहः । प्रासः (भाला)। प्रसेवः (थैला)। आहारः (भोजन)।।

यह भी अधिकारसूत्र है, ३।३।११२ तक जायेगा ।।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ।।३।३।२०।।

परिमाणाख्यायाम् ७।१।। सर्वेभ्यः ५।३।। स०—परिमाणस्य आख्या परिमाणाख्या, तस्याम्, षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—परिमाणाख्यायां गम्यमानायां सर्वेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—एकस्तण्डुलनिचायः । द्वौ शूर्पनिष्पावौ । द्वौ कारौ, त्रयः काराः ।।

भाषार्थः—[सर्वेभ्यः] सब धातुओं से [परिमाणाख्यायाम्] परिमाण की आख्या = कथन गम्यमान हो तो घञ् प्रत्यय होता है ।। निचीयते यः स निचायः =

---

१. यहाँ से 'भावे' तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' दोनों की अनुवृत्ति चलती है। सो हमने अनुवृत्ति तथा अर्थ में दोनों को ही दिखाया है। पाठक उदाहरण देखकर यथासम्भव स्वयं ही लगा लें, क्योंकि यह उदाहरणाधीन विषय है ।।

राशिः, तण्डुलानां निचायः तण्डुलनिचायः । यहां एकराशिरूप से तण्डुलों के परिमाण का कथन है । निचायः में एरच् (३।३।५६) से कर्म में अच् प्राप्त था, घञ् विधान कर दिया । निष्पूयते यः स निष्पावः=तण्डुलादिः, शूर्पेण निष्पावः शूर्पनिष्पावः । द्वौ शूर्पनिष्पावौ में शूर्प=सूप की संख्या से निष्पाव (तण्डुलादि) के परिमाण की प्रतीति हो रही है । 'निर् पाव' यहाँ खरवसान० (८।३।१५) से रेफ का विसर्जनीय, तथा इदुदुपध० (८।३।४१) से षत्व होकर निष्पाव बना है । यहाँ ऋदोरप् (३।३।५७) से कर्म में अप् की प्राप्ति में घञ् का विधान है । 'कॄ विक्षेपे' से कीर्यते यः सः कारः= तण्डुलादिः । द्वौ कारौ आदि में भी संख्या के द्वारा विक्षिप्त द्रव्य के परिमाण का कथन है ।। यहाँ भी पूर्ववत् कर्म में अप् प्रत्यय की प्राप्ति में घञ् का विधान हुआ है ।।

इङश्च ।।३।३।२१।।

इङः ५।१। च अ० ।। अनु०—अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—इङ्धातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—अधीयते यः सः अध्यायः । उपेत्याधीते यस्मात् सः उपाध्यायः ।।

भावार्थः—[इङः] इङ् धातु से [च] भी कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में, तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ।। उदा०—अध्यायः (जिसका अध्ययन किया जाता है)। उपाध्यायः (जिसके समीप जाकर पढ़ा जाता है) ।। अधि इ घञ्, वृद्धि तथा आयादेश होकर 'अधि आय् अ' बना, यणादेश होकर अध्यायः बन गया है ।। एरच् (३।३।५६) सूत्र से अच् प्रत्यय की प्राप्ति में यह सूत्र है ।।

उपसर्गे रुवः ।।३।३।२२।।

उपसर्गे ७।१।। रुवः ५।१।। अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—उपसर्ग उपपदे रु धातोः घञ् प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ।। उदा०—संरावः । उपरावः । विरावः ।।

भावार्थः—[उपसर्गे] उपसर्ग उपपद रहते [रुवः] रु धातु से घञ् प्रत्यय होता है, कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में, तथा भाव में ।। उवर्णान्त होने से ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ।। ये सारे सूत्र आगे के औत्सर्गिक सूत्रों से विधान किये हुए अप् अच् आदि प्रत्ययों के ही अपवाद हैं । सो औत्सर्गिकों से पहले ही ये अपवाद विधान कर देने से ये सब पुरस्तादपवाद हैं । अन्यथा घञ् विधान करने की आवश्यकता ही नहीं थी । भावे, अकर्त्तरि च० इन औत्सर्गिकों से ही सब धातुओं से घञ् हो ही जाता ।। उदा०—संरावः (आवाज)। उपरावः (आवाज)। विरावः (आवाज)।।

समि युद्रुदुवः ॥३।३।२३॥

समि ७।१॥ युद्रुदुवः ५।१॥ स०—युश्च द्रुश्च दुश्च युद्रुदु, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सम्पूर्वेभ्यो यु मिश्रणे, दु द्रु गतौ इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—संयूयते मिश्रीक्रियते यः सः संयावः। सन्द्रावः। सन्दावः ॥

भाषार्थः—[समि] सम् पूर्वक [युद्रुदुवः] यु द्रु तथा दु धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में, तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ ॠदोरप् (३।३।५७) से अप प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥ उदा०—संयावः (हलुवा)। सन्द्रावः (भागना)। सन्दावः (भागना) ॥ सर्वत्र वृद्धि तथा आवादि आदेश होकर सिद्धि जानें ॥

श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे ॥३।३।२४॥

श्रिणीभुवः ५।१॥ अनुपसर्गे ७।१॥ स०—श्रिश्च णीश्च भूश्च श्रिणीभूः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः। न उपसर्गो यस्य सः अनुपसर्गः, तस्मिन्, (पञ्चम्यर्थे) बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—श्रि, णी, भू इत्येतेभ्योऽनुपसर्गेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ उदा०—श्रायः। नायः। भावः ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [श्रिणीभुवः] श्रि, णी, भू इन धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में, तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—श्रायः (आश्रय)। नायः (ले जाना)। भावः (होना) ॥ इवर्णान्तों से अच् प्रत्यय (३।३।५६), तथा उवर्णान्त से अप् (३।३।५७) प्राप्त था, सो उनका यह अपवाद है ॥

वौ क्षुश्रुवः ॥३।३।२५॥

वौ ७।१॥ क्षुश्रुवः ५।१॥ स०—क्षुश्च श्रुश्च क्षुश्रु, तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च विपूर्वाभ्यां टुक्षु शब्दे श्रु श्रवणे इत्येताभ्यां धातुभ्यां घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विक्षावः। विश्रावः ॥

भाषार्थः—[वौ] वि पूर्वक [क्षुश्रुवः] क्षु तथा श्रु धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् यह भी अप् का अपवाद है ॥ उदा०—विक्षावः (शब्द करना)। विश्रावः (अति प्रसिद्धि होना) ॥

अवोदोर्नियः ॥३।३।२६॥

अवोदोः ७।२॥ नियः ५।१॥ स०—अवश्च उद् च अवोदौ, तयोः, इतरेतर-

योगद्वन्द्वः ।। अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च अव उद् इत्येतयोरुपसर्गोपपदयोर्णीञ् धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—अवनायः । उन्नायः ।।

भावार्थः—[अवोदोः] अव तथा उद् पूर्वक [नियः] णी धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ।। एरच् (३।३।५६) से अच् प्राप्त था यह उसका अपवाद है ।। उदा०—अवनायः (अवनति) । उन्नायः (उन्नति) ।। उद् नाय, ऐसी अवस्था में यहाँ यरोऽनु० (८।४।४४) लगकर उन्नायः बन गया है ।।

प्रे द्रुस्तुस्रुवः ।।३।३।२७।।

प्रे ७।१।। द्रुस्तुस्रुवः ५।१।। स०—द्रुश्च स्तुश्च स्रुश्च द्रुस्तुस्रु, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—प्रोपसर्ग उपपदे द्रु गतौ, ष्टुञ् स्तुतौ, स्रु गतौ इत्येतेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति अकर्त्तरि च कारके संज्ञायां विषये भावे च ।। उदा०—प्रद्रावः । प्रस्तावः । प्रस्रावः ।।

भावार्थः—[प्रे] प्र पूर्वक [द्रुस्तुस्रुवः] द्रु, स्तु, स्रु इन धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ।। यह भी पूर्ववत् अप् प्रत्यय का अपवाद है ।। उदा०—प्रद्रावः (भागना) । प्रस्तावः (प्रस्ताव) । प्रस्रावः (बहना, मूत्र) ।।

निरभ्योः पूल्वोः ।।३।३।२८।।

निरभ्योः ७।२।। पूल्वोः ६।२।। स०—उभयत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—निर् अभि पूर्वाभ्यां यथासंख्यं पू लू इत्येताभ्यां धातुभ्यां कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ।। पू इत्यनेन पूङ्पूञोः सामान्येन ग्रहणम् ।। उदा०—निष्पावः । अभिलावः ।।

भावार्थः—[निरभ्योः] निर् अभि पूर्वक क्रमशः [पूल्वोः] पू लू धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ।। पू से सामान्य करके पूङ् तथा पूञ् दोनों धातुओं का ग्रहण है ।। उदा०—निष्पावः (पवित्र करना)। अभिलावः (काटना) ।। निष्पावः में इदुदुपधस्य० (८।३।४१) से निर् के विसर्जनीय को षत्व हो गया है । यह सूत्र भी पूर्ववत् अप् का अपवाद है ।।

उन्न्योर्ग्रः ।।३।३।२९।।

उन्न्योः ७।२।। ग्रः ५।१।। स०—उद् च नि चेति उन्न्यौ, तयोः, इतरेतर-

योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च उद् नि इत्येतयोरुपपदयोः 'गॄ' धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उद्गारः । निगारः ॥

भाषार्थः—[उन्योः] उद् नि उपपद रहते [ग्रः] गॄ धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ ॠवर्णान्त धातुओं से ३।३।५७ से अप् प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ॥ यहाँ गॄ से 'गॄ शब्दे' तथा 'गॄ निगरणे' दोनों धातुओं का ग्रहण है ॥ उदा०—उद्गारः (वमन, आवाज) । निगारः (भोजनः) ॥

यहाँ से 'उन्योः' की अनुवृत्ति ३।३।३० तक जायेगी ॥

कॄ धान्ये ॥३।३।३०॥

कॄ लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः ॥ धान्ये ७।१॥ अनु०—उन्योः, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उद् नि इत्येतयोरुपपदयोः 'कॄ' विक्षेपे इत्यस्माद् धातोर्धान्यविषये घञ् प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ उदा०—उत्कारो धान्यस्य । निकारो धान्यस्य ॥

भाषार्थः उद् नि पूर्वक [कॄ] कॄ धातु से [धान्ये] धान्यविषय में घञ् प्रत्यय होता है, कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में ॥ यह भी अप् का अपवाद है ॥ उदा०—उत्कारो धान्यस्य (धानों को इकट्ठा करना, और ऊपर उछालना) । निकारो धान्यस्य (धान का ऊपर फेंकना) ॥

यज्ञे समि स्तुवः ॥३।३।३१॥

यज्ञे ७।१॥ समि ७।१॥ स्तुवः ५।१॥ अनु०— अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यज्ञविषये सम्पूर्वात् ष्टुञ्धातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—समेत्य संस्तुवन्ति यस्मिन् देशे छन्दोगा सः संस्तावः ॥

भाषार्थः—[यज्ञे] यज्ञविषय में [समि) सम्पूर्वक [स्तुवः] स्तु धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में घञ् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र अधिकरण में ल्युट् (३।३।११७) का अपवाद है ॥ उदा०—संस्तावः (सामगान करनेवाले ऋत्विजों का स्तुति करने का स्थान) ॥

प्रे स्त्रोऽयज्ञे ॥३।३।३२॥

प्रे ७।१॥ स्त्रः ५।१॥ अयज्ञे ७।१॥ स०— न यज्ञः अयज्ञः, तस्मिन्, नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु० –अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ् धातोः,प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—प्रपूर्वात् 'स्तृञ् आच्छादने' अस्माद् धातोर्यज्ञविषयं विहाय कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—शङ्खप्रस्तारः, छन्दःप्रस्तारः

भाषार्थः—[प्रे] प्र पूर्वक [स्त्रः] 'स्तृञ् आच्छादने' धातु से [अयज्ञे] यज्ञ-विषय को छोड़कर कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ ऋवर्णान्त होने से अप् प्राप्त था, तदपवाद है ॥ उदा०—शङ्खप्रस्तारः (शङ्खों का फैलाव, विस्तार), छन्दःप्रस्तारः (छन्द का विस्तार) ॥ प्रस्तारः में वृद्धि आदि करके पुनः शङ्ख या छन्दः शब्द के साथ शङ्खानां प्रस्तारः, छन्दसां प्रस्तारः ऐसा विग्रह करके षष्ठीसमास होगा ॥

यहाँ से 'स्त्रः' की अनुवृत्ति ३।३।३४ तक जायेगी ॥

प्रथने वावशब्दे ॥३।३।३३॥

प्रथने ७।१॥ वौ ७।१॥ अशब्दे ७।१॥ **स०**—न शब्दोऽशब्दः, तस्मिन्, नञ्-तत्पुरुषः ॥ **अनु०**—स्त्रः, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—विशब्द उपपदे स्तृञ् धातोरशब्दे प्रथनेऽभिधेये घञ् प्रत्ययो भवति, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ **उदा०**—पटस्य विस्तारः ॥

भाषार्थः—[वौ] वि पूर्वक स्तृञ् धातु से [अशब्दे] अशब्दविषयक [प्रथने] प्रथन=विस्तार, अर्थात शब्दविषयक विस्तार को न कहना हो, तो कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पटस्य विस्तारः (कपड़े का फैलाव) ॥

यहाँ से 'वौ' की अनुवृत्ति ३।३।३४ तक जायेगी ॥

छन्दोनाम्नि च ॥३।३।३४॥

छन्दोनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ **स०**—छन्दसः नाम छन्दोनाम, तस्मिन् षष्ठी-तत्पुरुषः ॥ **अनु०**—वौ, स्त्रः, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—विपूर्वात् स्तृञ्धातोः छन्दोनाम्नि कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः, विष्टारबृहती छन्दः ॥

भाषार्थः—वि पूर्वक स्तृञ् धातु से [छन्दोनाम्नि] छन्द का नाम कहना हो, तो [च] भी कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में, तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ छन्दोनाम से यहाँ विष्टारपङ्क्ति आदि छन्द लिये हैं न कि वेद ॥ विस्तार बनकर छन्दोनाम्नि च (८।३।९४) से षत्व, तथा ष्टुना ष्टुः (८।४।४) से ष्टुत्व होकर विष्टारः बन गया है ॥

उदि ग्रहः ॥३।३।३५॥

उदि ७।१॥ ग्रहः ५।१॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उत्पूर्वाद् ग्रहधातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उद्ग्राहः ॥

भाषार्थः—[उदि] उत् पूर्वक [ग्रहः] ग्रह धातु से, कर्तृभिन्न कारक संज्ञा विषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ ग्रहवृदृनिश्चि० (३।३।५८) से अप् प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥ उदा०—उद्ग्राह. (विद्या का विचार) ॥

यहाँ से 'ग्रहः' की अनुवृत्ति ३।३।३६ तक जायेगी ॥

समि मुष्टौ ॥३।३।३६॥

समि ७।१॥ मुष्टौ ७।१॥ अनु०—ग्रहः, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—समपूर्वाद् ग्रहधातोर्मुष्टिविषये घञ् प्रत्ययो भवति, कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ उदा०—अहो! मल्लस्य संग्राहः ॥

भाषार्थः—[समि] सम्पूर्वक ग्रह धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा तथा भाव में [मुष्टौ] मुष्टि=मुट्ठीविषय में घञ् प्रत्यय होता है ॥ यह भी अप् का अपवाद है ॥ उदा०—अहो! मल्लस्य संग्राह. (ओहो! पहलवान की मुट्ठी की पकड़) ॥

परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः ॥३।३।३७॥

परिन्योः ७।२॥ नीणोः ६।२॥ द्यूताभ्रेषयोः ७।२॥ स०—परिश्च निश्च परिनी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ नी च इण्च नीणौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । द्यूतं च अभ्रेषश्च द्यूताभ्रेषौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—परि शब्दे नि शब्दे चोपपदे यथासंख्यं नी इण् इत्येताभ्यां धातुभ्याम् अकर्त्तरि च कारके संज्ञाया भावे च घञ् प्रत्ययो भवति, द्यूताभ्रेषयोर्विषययोः ॥ अत्रापि यथासङ्ख्यमेव सम्बन्धः ॥ उदा०—द्यूते—परिणायेन शारान् हन्ति । अभ्रेषे—एषोऽत्र न्यायः ॥

भाषार्थः—[परिन्योः] परि तथा नि उपपद रहते यथासंख्य करके [नीणोः] नी तथा इण् धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा तथा भाव में [द्यूताभ्रेषयोः] द्यूत तथा अभ्रेष विषय में घञ् प्रत्यय होता है ॥ यहां भी यथासंख्य का सम्बन्ध लगता है । सो परि पूर्वक नी धातु से द्यूतविषय में, तथा नि पूर्वक इण् धातु से अभ्रेष (उचित आचरण करना) विषय में घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—द्यूत में—परिणायेन

शारान् हन्ति (चारों ओर से आकर द्यूतक्रीडा के पासों को मारता है)। अभ्रेष में—एषोऽत्र न्यायः (यही यहाँ उचित है)॥ परिणायः में उपसर्गाद० (८।४।१४) से णत्व होता है। 'नि इ अ' यहाँ वृद्धि होकर 'नि ऐ अ', आयादेश होकर नि आय् अ, पश्चात् यणादेश होकर न्यायः बन गया है॥

परावनुपात्यय इणः ॥३।३।३८॥

परौ ७।१॥ अनुपात्यये ७।१॥ इणः ५।१॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः परश्च ॥ अर्थः—परिपूर्वाद् इण्धातोः अनुपात्यये=क्रमप्राप्तस्यानतिपातेऽर्थे गम्यमाने कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—तव पर्यायः, मम पर्यायः॥

भाषार्थः—[परौ] परि पूर्वक [इणः] इण् धातु से [अनुपात्यये] अनुपात्यय =क्रम, परिपाटी गम्यमान होने पर कर्तृभिन्न कारक संज्ञा विषय में, तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है॥ उदा०—तव पर्यायः (तेरी बारी), मम पर्यायः (मेरी बारी)॥ इवर्णान्त धातु होने से पूर्ववत् एरच् (३।३।५६) सूत्र का अपवाद यह सूत्र है॥ पूर्ववत् वृद्धि आयादेश होकर 'परि आय् घञ्', यणादेश होकर पर्यायः बना है॥

व्युपयोः शेतेः पर्याये ॥३।३।३९॥

व्युपयोः ७।२॥ शेतेः ५।१॥ पर्य्याये ७।१॥ स०—विश्च उपश्च व्युपौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—पर्याये गम्यमाने वि उप इत्येतयोरुपपदयोः शीङ्धातोः, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—तव विशायः। ममोपशायः॥

भाषार्थः—[व्युपयोः] वि उप पूर्वक [शेतेः] शीङ् धातु से [पर्याये] पर्याय गम्यमान होने पर कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में, तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है॥ पूर्ववत् अच् प्राप्त था, तदपवाद है। सिद्धि में पूर्ववत् ही वृद्धि आदि जानें। मम उपशायः, यहाँ आद्‌ गुणः (६।१।८४) से पूर्व पर को गुण होकर ममोपशायः (मेरे सोने की बारी)। तव विशायः (तेरे सोने की बारी) बना है॥

हस्तादाने चेरस्तेये ॥३।३।४०॥

हस्तादाने ७।१॥ चेः ५।१॥ अस्तेये ७।१॥ स०—हस्तेन आदानं ग्रहणं हस्तादानं, तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुषः। न स्तेयम् अस्तेयम्, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—अस्तेये

—चौर्यरहिते हस्तादाने गम्यमाने चिञ् धातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पुष्पप्रचाय:, फलप्रचायः ॥

भाषार्थ:—[अस्तेये] चोरीरहित [हस्तादाने] हाथ से ग्रहण करना गम्यमान हो, तो [चे:] चिञ् धातु से कर्तृभिन्न कारक और भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ हस्तादान कहने से पुष्प या फल की समीपता प्रतीत होती है, तभी हस्तादान सम्भव है ॥ पूर्ववत् अच् का अपवाद यह सूत्र है ॥ उदा०—पुष्पप्रचायः(हाथ से फूल तोड़ना), फलप्रचाय: (हाथ से फल तोड़ना) ॥ सिद्धि में पूर्ववत् वृद्धि आयादेश होकर 'प्रचाय:' बनकर, पश्चात् पुष्प एवं फल के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है ॥

यहाँ से 'चे:' की अनुवृत्ति ३।३।४२ तक जायेगी ॥

निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ॥३।३।४१॥

निवास···धानेषु ७।३॥ आदे: ६।१॥ च अ० ॥ कः १।१॥ स०—निवासश्च चितिश्च शरीरं च उपसमाधानं च निवास···समाधानानि, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—चे:, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ निवसन्त्यस्मिन्निति निवास: । चीयतेऽसौ चिति: । राशीकरणमुपसमाधानम् ॥ अर्थः—निवास, चिति, शरीर, उपसमाधान इत्येतेष्वर्थेषु चिञ्धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति, धातोरादेश्च ककारादेशो भवति, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ॥ उदा०—निवासः—एषोऽस्य निकायः । चितिः—आकायमग्निं चिन्वीत । शरीरम्—अनित्यकायः, अकायं ब्रह्म । उपसमाधानम्—महान् फलनिकायः ॥

भाषार्थ:—[निवास···नेषु] निवास, चिति(=जो चुना जाय), शरीर, उपसमाधान (=राशि)इन अर्थों में चिञ् धातु से घञ् प्रत्यय होता है, [च]तथा चिञ् के [आदे:] आदि चकार को [कः] ककारादेश हो जाता है, कर्तृभिन्न कारक संज्ञा विषय में तथा भाव में ॥ उदा०—निवास—एषोऽस्य निकायः (यह इसका निवास स्थान है)। चिति—आकायमग्निं चिन्वीत (श्मशान की आग का चयन किया जाय)। शरीर—अनित्यकायः (शरीर अनित्य है)। अकायं ब्रह्म (ब्रह्म शरीररहित है) । उपसमाधान—महान् फलनिकायः (बड़ा भारी फलों का ढेर) ॥ आकायम् में आङ्-पूर्वक चिञ् धातु है ॥

यहाँ से 'आदेश्च कः' की अनुवृत्ति ३।३।४२ तक जायेगी ॥

सङ्घे चानौत्तराधर्ये ॥३।३।४२॥

सङ्घे ७।१॥ च अ० ॥ अनौत्तराधर्ये ७।१॥ उत्तरे च अधरे च उत्तराधराः, तेषां भावः औत्तराधर्यम् ॥ स०—न औत्तराधर्यम् अनौत्तराधर्यं, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः॥

अनु०—आदेश्च कः, चेः, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ् धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—अनौत्तराधर्ये सङ्घे वाच्ये चिञ् धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति, आदेश्चकारस्य स्थाने ककारादेशोऽपि भवति, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ **उदा०**—भिक्षुकनिकायः । ब्राह्मणनिकायः । वैयाकरणनिकायः ॥

भाषार्थः—[अनौत्तराधर्ये] **अनौत्तराधर्य** [सङ्घे] **सङ्घ वाच्य हो, तो** [च] **भी चिञ् धातु से घञ् प्रत्यय होता है, तथा आदि चकार को ककारादेश हो जाता है, कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में एवं भाव में ॥ प्राणियों के समुदाय को संघ कहा जाता है। वह दो प्रकार से बनता है—एक धर्म के अन्वय से, तथा दूसरा ऊपर-नीचे बैठने से। सूत्र में औत्तराधर्य (=ऊपर-नीचे स्थित होने) का प्रतिषेध होने से एकधर्मान्वय से बननेवाले संघ का ग्रहण यहाँ किया गया है ॥** उदा०—**भिक्षुकनिकायः (भिक्षुकों का समुदाय)। ब्राह्मणनिकायः (ब्राह्मणों का समुदाय)। वैयाकरणनिकायः ॥ निकायः बनाकर पीछे षष्ठीसमास भिक्षुक आदि के साथ होता है। सिद्धि पूर्ववत् है ॥**

कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् ॥३।३।४३॥

कर्मव्यतिहारे ७।१॥ णच् १।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ **स०**—कर्मणो व्यतिहारः कर्मव्यतिहारः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अनु०**—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—कर्मव्यतिहारे गम्यमाने स्त्रियामभिधेयायां धातोर्णच् प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ॥ **उदा०**—व्यावक्रोशी, व्यावलेखी, व्यावहासी ॥

भाषार्थः—[कर्मव्यतिहारे] **कर्मव्यतिहार=क्रिया का अदल-बदल गम्यमान हो, तो** [स्त्रियाम्] **स्त्रीलिङ्ग में धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा विषय में तथा भाव में** [णच्] **णच् प्रत्यय होता है ॥**

अभिविधौ भाव इनुण् ॥३।३।४४॥

अभिविधौ ७।१॥ भावे ७।१॥ इनुण् १।१॥ **अनु०**—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—अभिविधि=अभिव्याप्तिः, तस्यां गम्यमानायां भावे धातोरिनुण् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—सांकूटिनम्, सांराविणम् ॥

भाषार्थः—[अभिविधौ] **अभिविधि अर्थात् अभिव्याप्ति गम्यमान हो, तो धातु से** [भावे] **भाव में** [इनुण्] **इनुण् प्रत्यय होता है ॥**

आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः ॥३।३।४५॥

आक्रोशे ७।१॥ अवन्योः ७।२॥ ग्रहः ५।१॥ **स०**—अव० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम, भावे, घञ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—अव नि इत्येतयोरुपपदयोराक्रोशे गम्यमाने ग्रहधातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अवग्राहो दुष्ट ! ते भूयात् । निग्राहो दुष्ट ! ते भूयात् ॥

भाषार्थः—'आक्रोश' क्रोध से कुछ कहने को कहते हैं । [आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान हो, तो [अवन्योः] अव तथा नि पूर्वक [ग्रहः] ग्रह धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अवग्राहो दुष्ट ! ते भूयात् (हे दुष्ट ! तेरा अभिभव हो जाये) । निग्राहो दुष्ट ! ते भूयात् (हे दुष्ट ! तेरा बाध हो) ॥

यहाँ से 'ग्रहः' की अनुवृत्ति ३।३।४७ तक जायेगी ॥

प्रे लिप्सायाम् ॥३।३।४६॥

प्रे ७।१॥ लिप्सायाम् ७।१॥ अनु०—ग्रहः, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—लिप्सायाम्=लब्धुमिच्छायां गम्यमानायां प्रपूर्वात् ग्रहधातोर्घञ् प्रत्ययो भवति, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ उदा०—पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुकोऽन्नार्थी । स्रुवप्रग्राहेण चरति द्विजो दक्षिणार्थी ॥

भाषार्थः—[लिप्सायाम्] लिप्सा=प्राप्त करने की इच्छा गम्यमान हो, तो [प्रे] प्र पूर्वक ग्रह धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुकोऽन्नार्थी (अन्न चाहनेवाला भिक्षु अन्न का पात्र लिये विचरता है) । स्रुवप्रग्राहेण चरति द्विजो दक्षिणार्थी (दक्षिणा चाहनेवाला द्विज स्रुव लेकर घूमता है) ॥ उदाहरण में वृद्धि आदि होकर प्रग्राहः बनकर पात्र तथा स्रुव शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास हो गया है ॥

परौ यज्ञे ॥३।३।४७॥

परौ ७।१॥ यज्ञे ७।१॥ अनु०—ग्रहः, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यज्ञविषये परिपूर्वाद् ग्रहधातोर्घञ् प्रत्ययो भवति, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ उदा०—उत्तरः परिग्राहः । अधरः परिग्राहः ॥

भाषार्थः—[यज्ञे] यज्ञविषय में [परौ] परि पूर्वक ग्रह धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—उत्तरः परिग्राहः (दर्शपौर्णमास यज्ञ में उत्तर वेदि के निर्माण को उत्तरः परिग्राहः कहते हैं) । अधरः परिग्राहः (नीचे का निर्माण) ॥ परिग्राहः पूर्ववत् बनकर उत्तर तथा अधर के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास हो गया है ॥

नौ वृ धान्ये ॥३।३।४८॥

नौ ७।१॥ वृ लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः ॥ धान्ये ७।१॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ् धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—वृ इति वृङ्वृञोः सामान्येन ग्रहणम् । निपूर्वाद् वृ इत्येतस्माद् धातोः धान्येऽर्थे कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—नीवाराः व्रीहयः ।।

भाषार्थः—[नौ] नि पूर्वक [वृ] वृ धातु से [धान्ये] धान्यविशेष को कहना हो, तो कर्तृभिन्न कारक संज्ञा तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ।।

वृ से यहाँ वृङ् वृञ् दोनों का ग्रहण है ॥ ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३।३।५८) से अप् प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥ उदा०—नीवाराः व्रीहयः (नीवार नाम का धान्यविशेष) ॥ नीवार में उपसर्गस्य० (६।३।१२२) से उपसर्ग के इकार को दीर्घ हुआ है ॥

उदि श्रयतियौतिपूद्रुवः ॥३।३।४९॥

उदि ७।१॥ श्रयतियौतिपूद्रुवः ५।१॥ स०—श्रयतिश्च यौतिश्च पूश्च द्रुश्च श्रयति···द्रु, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—उत्पूर्वेभ्यः श्रि, यु, पू, द्रु इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उच्छ्रायः । उद्यावः । उत्पावः । उद्द्रावः ।।

भाषार्थः—[उदि] उत् पूर्वक [श्रयतियौतिपूद्रुवः] श्रि यु पू द्रु इन धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है ।। उदा०—उच्छ्रायः (ऊंचाई) । उद्यावः (इकट्ठा करना) । उत्पावः (यज्ञीय पात्रों का संस्कारविशेष) । उद्द्रावः (भागना) ॥ उत् श्राय, यहाँ स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व, तथा शश्छोऽटि (८।४।६२) से छत्व होता है । शेष सब पूर्ववत् ही है । श्रि धातु से एरच् (३।३।५६) से अच् प्राप्त था, तथा अन्य धातुओं से ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् प्राप्त था, उनका यह अपवाद है ॥

विभाषाङि रुप्लुवोः ॥३।३।५०॥

विभाषा १।१॥ आङि ७।१॥ रुप्लुवोः ६।२॥ स०—रुप्लु० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आङ्युपपदे रु प्लु इत्येताभ्यां धातुभ्यां कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—आरावः, आरवः । आप्लावः, आप्लवः ॥

भाषार्थः—[आङि] आङ् पूर्वक [रुप्लुवोः] रु तथा प्लु धातुओं से कर्तृभिन्न

कारक संज्ञा में तथा भाव में [विभाषा] विकल्प से घञ् प्रत्यय होता है ।। रु धातु से उपसर्गे रुवः (३।३।२२) से नित्य घञ् प्राप्त था, सो विकल्प से कह दिया । अतः पक्ष में ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् ही होगा । इसी प्रकार प्लु धातु से भी पक्ष में उवर्णान्त होने से अप् होगा । अप् पक्ष में रु तथा प्लु को गुण तथा अवादेश हो जायेगा । एवं घञ् पक्ष में वृद्धि तथा आवादेश होकर आरावः आप्लावः बनेगा, ऐसा जानें ।। उदा०—आरावः (एक प्रकार की आवाज), आरवः । आप्लावः (स्नान, डुबकी मारना), आप्लवः ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ३।३।५५ तक जायेगी ।।

अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे ।।३।३।५१।।

अवे ७।१।। ग्रहः ५।१।। वर्षप्रतिबन्धे ७।१।। स०—वर्षस्य प्रतिबन्धो वर्षप्रतिबन्धः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—विभाषा, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—वर्षप्रतिबन्धेऽभिधेये अवपूर्वाद् ग्रहधातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च विकल्पेन घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—अवग्राहो देवस्य, अवग्रहो देवस्य ।।

भाषार्थः—[वर्षप्रतिबन्धे] वर्षप्रतिबन्ध अभिधेय होने पर [अवे] अव पूर्वक [ग्रहः] ग्रह धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में विकल्प से घञ् प्रत्यय होता है ।। वर्षा का समय हो जाने पर भी वर्षा का न होना 'वर्षप्रतिबन्ध' कहाता है ।। ग्रहवृदृ० (३।३।५८) से अप् प्राप्त था, घञ् प्रत्यय विकल्प से कह दिया है । अतः पक्ष में अप् ही होगा ।। उदा०—अवग्राहो देवस्य (देव का न बरसना), अवग्रहो देवस्य ।।

यहाँ से 'ग्रहः' की अनुवृत्ति ३।३।५३ तक जायेगी ।।

प्रे वणिजाम् ।।३।३।५२।।

प्रे ७।१।। वणिजाम् ६।३।। अनु०—ग्रहः, विभाषा, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—प्रशब्द उपपदे ग्रहधातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति, वणिजां सम्बन्धिनि वाच्ये।। उदा०—तुलाप्रग्राहेण चरति, तुलाप्रग्रहेण वा ।।

भाषार्थः—[वणिजाम्] वणिक्सम्बन्धी प्रत्ययान्त वाच्य हो, तो [प्रे] प्र पूर्वक ग्रह धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में, तथा भाव में विकल्प से घञ् प्रत्यय होता है ।। उदा०—तुलाप्रग्राहेण चरति (तराजू का मध्यसूत्र पकड़े घूमता है), तुलाप्रग्रहेण । तराजू के मध्यस्थित सूत्र को 'प्रग्राह' अथवा 'प्रग्रह' कहा जाता है ।

तुला का सम्बन्ध वणिक् से होने के कारण सूत्र में 'वणिजाम्' पद प्रयुक्त हुआ है ।।

यहाँ से 'प्रे' की अनुवृत्ति ३।३।५४ तक जायेगी ।।

रश्मौ च ।।३।३।५३।।

रश्मौ ७।१।। च अ० ।। अनु०—प्रे, ग्रहः, विभाषा, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—रश्मौ प्रत्ययार्थे प्रपूर्वाद् ग्रहधातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च विकल्पेन घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—प्रग्राहः, प्रग्रहः ।।

भावार्थः—[रश्मौ] रश्मि अर्थात् घोड़े की लगाम वाच्य हो, तो [च] भी प्र पूर्वक ग्रह धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में घञ् प्रत्यय होता है, पक्ष में अप् होता है ।। उदा०—प्रग्राहः (लगाम, रस्सी), प्रग्रहः ।।

वृणोतेराच्छादने ।।३।३।५४।।

वृणोतेः ५।१।। आच्छादने ७।१।। अनु०—प्रे, विभाषा, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—आच्छादनेऽर्थे प्रपूर्वाद् वृञ् धातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च विभाषा घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—प्रावारः, प्रवरः ।।

भावार्थः—[आच्छादने] आच्छादन अर्थ में प्र पूर्वक [वृणोतेः] वृञ् धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में, तथा भाव में विकल्प से घञ् प्रत्यय होता है ।। ग्रहवृदृ० (३।३।५८) से अप् प्राप्त था, सो पक्ष में वह भी होता है ।। उदा०—प्रावारः (चादर), प्रवरः ।। यहाँ उपसर्गस्य० (६।३।१२२) से उपसर्ग को दीर्घ हुआ है ।।

परौ भुवोऽवज्ञाने ।।३।३।५५।।

परौ ७।१।। भुवः ५।१।। अवज्ञाने ७।१।। अनु०—विभाषा, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, घञ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—अवज्ञानम्=तिरस्कारः, तस्मिन् वर्त्तमानात् परिपूर्वाद् भूधातोः कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च विकल्पेन घञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—परिभावः, परिभवः ।।

भावार्थः—[अवज्ञाने] अवज्ञान=तिरस्कार अर्थ में वर्तमान [परौ] परि-पूर्वक [भुवः] भू धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में विकल्प से घञ् प्रत्यय होता है ।। ३।३।५७ से अप् प्रत्यय प्राप्त था, सो पक्ष में वही होगा ।। उदा०—परिभावः (निरादर), परिभवः ।।

एरच् ॥३।३।५६॥

ए: ५।१॥ अच् १।१॥ **अनु०**—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—इवर्णान्ताद्धातोर्भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् अच् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—जयः, चयः, नयः, क्षयः, अयः ॥

भावार्थः—[एः] **इवर्णान्त धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में** [अच्] **अच् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ** येन विधिस्त० (१।१।७१)से **तदन्तविधि करके 'इवर्णान्त' ऐसा अर्थ हुआ है** ॥ उदा०—**जयः (जीतना), चयः (चुनना), नयः (ले जाना), क्षयः (नाश), अयः (ज्ञान)** ॥

चि जि धातु को सार्वधातुका० (७।३।८४) **से गुण, तथा अयादेश होकर चयः जयः आदि रूप बनेंगे । इण् धातु से अयः बना है ॥ यह सूत्र घञ् का अपवाद है ॥**

ऋदोरप् ॥३।३।५७॥

ऋदोः ५।१॥ अप् १।१॥ **स०**—ऋत् च उश्च ऋदुः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः॥ **अनु०**—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—ऋकारान्तेभ्यः उवर्णान्तेभ्यश्च धातुभ्यः कर्त्तृवर्जिते कारके संज्ञायां विषये भावे चाप् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—ऋकारान्तेभ्यः—करः, गरः, शरः । उवर्णान्तेभ्यः—यवः, लवः, पवः ॥

भावार्थः—[ऋदोः] **ऋकारान्त तथा उवर्णान्त धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में** [अप्] **अप् प्रत्यय होता है ॥ यह भी घञ् का अपवादसूत्र है ॥ गुण इत्यादि पूर्ववत् होकर सिद्धि जानें ।** उदा०—**करः(विक्षेप), गरः (विष), शरः (तीर) । उवर्णान्तों से—यवः (मिलाना), लवः (काटना), पवः (पवित्र करना)** ॥

यहाँ से 'अप्' की अनुवृत्ति ३।३।८७ तक जायेगी ॥

ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च ॥३।३।५८॥

ग्रह गमः ५।१॥ च अ० ॥ **स०**—ग्रहश्च वृश्च दृश्च निश्चिश्च गम् च ग्रह...गम्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ **अनु०**—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—ग्रह, वृ, दृ, निर् पूर्वक चि, गम् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कर्त्तृवर्जिते कारके संज्ञायां विषये भावे चाप् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—ग्रहः। वरः । दरः । निश्चयः । गमः ॥

भाषार्थः—[ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च] ग्रह, वृ, दृ तथा निर् पूर्वक चि, एवं गम इन धातुओं से [च] भी कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में अप् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र घञ् का अपवाद है। निश्चि में अच् प्राप्त होता था ॥ उदा०—ग्रह (ग्रहण)। वरः (श्रेष्ठ)। दरः (डर, गड्ढा)। निश्चयः (निश्चय)। गमः (यात्रा)॥ सिद्धि में यथासम्भव गुण इत्यादि जानें ॥

उपसर्गेऽदः ॥३।३।५९॥

उपसर्गे ७।१॥ अदः ५।१॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपसर्ग उपपदे अदधातोरप् प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च ॥ उदा०—विघसः। प्रघसः॥

भाषार्थः—[उपसर्गे] उपसर्ग उपपद रहते [अदः] अद् धातु से अप् प्रत्यय होता है, कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में ॥ अद् को अप् परे रहते घञ-पोश्च (२।४।३८) से घस्लृ आदेश होता है ॥

यहाँ से 'अदः' की अनुवृत्ति ३।३।६० तक जायेगी ॥

नौ ण च ॥३।३।६०॥

नौ ७।१॥ ण लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ च अ०॥ अनु०—अदः, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—निशब्द उपपदे अदधातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च णः प्रत्ययो भवति, चकाराद् अप् च ॥ उदा०—न्यादः; निघसः॥

भाषार्थः—[नौ] नि पूर्वक अद् धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [ण] ण प्रत्यय होता है. [च] चकार से अप् प्रत्यय भी होता है। नि पूर्वक अद् धातु से ण प्रत्यय करने पर अतः उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि; तथा अप् पक्ष में पूर्ववत् २।४।३८ से घस्लृ आदेश होता है ॥ नि+आद्+ण=न्यादः (भोजन); नि+घस्+अप्=निघसः (भोजन)॥

व्यधजपोरनुपसर्गे ॥३।३।६१॥

व्यधजपोः ६।२॥ अनुपसर्गे ७।१॥ स०—व्यध० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः। अनुपसर्ग इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—व्यधजप इत्येताभ्यां धातुभ्यां कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे चाप् प्रत्ययो भवति, उपसर्ग उपपदे तु न भवति ॥ उदा०—व्यधः। जपः॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [व्यधजपोः] व्यध तथा जप धातुओं

से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अप् प्रत्यय होता है ।। उदा०—क्वथः (क्वाथ)। जपः (जपना) ।।

यहाँ से 'अनुपसर्गे' की अनुवृत्ति ३।३।६५ तक जायेगी ।।

स्वनहसोर्वा ।।३।३।६२।।

स्वनहसोः ६।२।। वा अ० ।। स०—स्वन० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—अनुपसर्गे, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—उपसर्गरहिताभ्यां स्वन हस इत्येताभ्यां धातुभ्यां वाऽप् प्रत्ययो भवति, कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ।। उदा०—स्वनः, स्वानः । हसः, हासः ।।

भावार्थः—उपसर्गरहित [स्वनहसोः] स्वन और हस धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [वा] विकल्प से अप् प्रत्यय होता है। पक्ष में भावे (३।३।१८) से घञ् हो गया है, क्योंकि 'भावे' से घञ् की प्राप्ति में ये सब सूत्र हैं। घञ् पक्ष में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि हो ही जायेगी ।। उदा०—स्वनः (शब्द करना), स्वानः । हसः (हँसना), हासः ।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ३।३।६५ तक जायेगी ।।

यमः समुपनिविषु च ।।३।३।६३।।

यमः ५।१।। समुपनिविषु ७।३।। च० अ० ।। स०—सम् च उपश्च निश्च विश्च समु···वयः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—वा, अनुपसर्गे, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—सम् उप नि वि इत्येतेषूपपदेषु अनुपसर्गेऽपि यम् धातोर्वाऽप् प्रत्ययो भवति, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ।। उदा०—संयमः, संयामः । उपयमः, उपयामः । नियमः, नियामः । वियमः, वियामः । यमः, यामः ।।

भावार्थः—[समुपनिविषु] सम् उप नि वि उपसर्गपूर्वक तथा निरुपसर्ग [च] भी [यमः] यम धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में विकल्प से अप् प्रत्यय होता है ।। पक्ष में यथाप्राप्त घञ् होगा ।। उदा०—संयमः (संयम), संयामः । उपयमः (विवाह), उपयामः । नियमः (नियम), नियामः । वियमः (दुःख), वियामः । यमः (संयम), यामः ।।

नौ गदनदपठस्वनः ।।३।३।६४।।

नौ ७।१।। गदनदपठस्वनः ५।१।। स०—गदश्च नदश्च पठश्च स्वन् च गद···स्वन्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—वा, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—निपूर्वेभ्यो गदादिभ्यो धातुभ्यः कर्तृभिन्ने कारके

संज्ञायां भावे च विकल्पेनाप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—निगदः, निगादः । निनदः, निनादः । निपठः, निपाठः । निस्वनः, निस्वानः ॥

भाषार्थः—[नौ] नि पूर्वक [गदनदपठस्वनः] गद, नद, पठ, स्वन इन धातुओं से विकल्प से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अप् प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में घञ् प्रत्यय होगा ॥ उदा०—निगदः (भाषण), निगादः । निनदः (आवाज), निनादः । निपठः (पढ़ना), निपाठः । निस्वनः (आवाज करना), निस्वानः ॥

यहाँ से 'नौ' की अनुवृत्ति ३।३।६५ तक जायेगी ॥

क्वणो वीणायां च ॥३।३।६५॥

क्वणः ५।१॥ वीणायाम् ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—नौ, वा, अनुपसर्गे, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः क्वणधातोर्नि-पूर्वादनुपसर्गाच्च वीणायां च विषये कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च विकल्पेनाऽप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—निक्वणः, निक्वाणः । अनुपसर्गात्—क्वणः, क्वाणः । वीणायाम्—कल्याणप्रक्वणा वीणा, कल्याणप्रक्वाणा ॥

भाषार्थः—नि पूर्वक, अनुपसर्ग, तथा [वीणायाम्] वीणा विषय होने पर [च] भी [क्वणः] क्वण धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में विकल्प से अप् प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में घञ् भी होगा ॥ उदा०—निक्वणः (शब्द), निक्वाणः । क्वणः (आवाज), क्वाणः । कल्याणप्रक्वणा वीणा (उत्तम शब्दवाली वीणा), कल्याणप्रक्वाणा ॥

यहाँ सोपसर्ग क्वण धातु से ही वीणा विषय होने पर प्रत्यय होता है, अनुपसर्ग से नहीं । सो 'क्वण' का केवल आवाज ही अर्थ होगा ॥

नित्यं पणः परिमाणे ॥३।३।६६॥

नित्यम् १।१॥ पणः ५।१॥ परिमाणे ७।१॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—'पण व्यवहारे स्तुतौ च' अस्माद् धातोः परिमाणे गम्यमाने कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च नित्यम् अप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मूलकपणः, शाकपणः ॥

भाषार्थः—[परिमाणे] परिमाण गम्यमान होने पर [पणः] पण धातु से [नित्यम्] नित्य ही कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अप् प्रत्यय होता है ॥ पण धातु से अप् प्रत्यय करके पणः बनाकर मूलक एवं शाक के साथ षष्ठी-तत्पुरुष समास हो गया है ॥ उदा० - मूलकपणः (मूली के गट्ठे, जो बेचने के लिये गिनकर रखे जाते हैं), शाकपणः (शाक का गट्ठा) ॥

मदोऽनुपसर्गे ॥३।३।६७॥

मदः ५।१॥ अनुपसर्गे ७।१॥ स०—अनुप० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अनुपसर्गाद् मदधातोः कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे चाप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विद्यया मदः=विद्यामदः । धनेन मदः=धनमदः ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गे] उपसर्गरहित [मदः] मद धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—विद्यामदः (विद्या के कारण अभिमान), धनमदः (धन के कारण अभिमान) ॥ विद्यामदः आदि में कर्तृकरणे० (२।१।३१) से समास होता है ॥

प्रमदसम्मदौ हर्षे ॥३।३।६८॥

प्रमदसम्मदौ १।२॥ हर्षे ७।१॥ स०—प्रमद० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—हर्षेऽभिधेये प्रमद सम्मद इत्येतौ शब्दौ अप्प्रत्ययान्तौ निपात्येते कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ॥ उदा०—कन्यानां प्रमदः । कोकिलानां सम्मदः ॥

भाषार्थः—[हर्षे] हर्ष अभिधेय होने पर [प्रमदसम्मदौ] प्रमद और सम्मद ये शब्द अपप्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं, कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में ॥ पूर्व सूत्र से अनुपसर्ग मद धातु से अप् प्राप्त था । यहाँ प्र तथा सम् पूर्वक मद धातु से भी अप् हो जावे, अतः निपातन कर दिया है ॥ उदा०—कन्यानां प्रमदः (कन्याओं का हर्ष) । कोकिलानां सम्मदः (कोयलों का हर्ष) ॥

समुदोरजः पशुषु ॥३।३।६९॥

समुदोः ७।२॥ अजः ५।१॥ पशुषु ७।३॥ स०—सम् च उद् च समुदौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सम् उद् इत्येतयोरुपपदयोः अज धातो कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे चाप् प्रत्ययो भवति पशुविषये ॥ उदा०—समजः पशूनाम् । उदजः पशूनाम् ॥

भाषार्थः—[समुदोः] सम् उत् पूर्वक [अजः] अज धातु से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में, समुदाय से [पशुषु] पशुविषय प्रतीत हो, तो अप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—समजः पशूनाम् (पशुओं का समूह) । उदजः पशूनाम् (पशुओं की प्रेरणा) ॥

अक्षेषु ग्लहः ॥३।३।७०॥

अक्षेषु ७।३॥ ग्लहः १।१॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे,

धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—ग्लह इति अप्प्रत्ययान्तो निपात्यते अक्षविषये कर्तृभिन्ने कारके भावे च, लत्वं च भवति ग्रहधातोरत्र निपातनात् ॥ **उदा०**—अक्षस्य ग्लहः ॥

भावार्थः—[ग्लहः] **ग्लह शब्द में** [अक्षेषु] **अक्ष विषय हो, तो ग्रह धातु से अप् प्रत्यय तथा लत्व निपातन से होता है कर्तृभिन्न कारक तथा भाव में ॥ ग्रह धातु से ग्रहवृदृ०** (३।३।५८) **से अप् सिद्ध ही था,** लत्वार्थ निपातन है। उदा०—**अक्षस्य ग्लहः** (द्यूतक्रीडा में लगाई गई शर्त=धन जिसे जीतनेवाला ग्रहण करता है)॥

प्रजने सर्त्तेः ॥३।३।७१॥

प्रजने ७।१॥ सर्त्तेः ५।१॥ अनु०—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—प्रजनम्=प्रथमं गर्भग्रहणम्। प्रजनेऽर्थे वर्त्तमानात् सृधातोः कर्तृभिन्ने कारके भावे चाप् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—गवामुपसरः, पशूनामुपसरः ॥

भावार्थः [प्रजने] **प्रजन अर्थ में वर्त्तमान** [सर्त्तेः] **सृ धातु से अप् प्रत्यय होता है कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में ॥** उदा० **गवामुपसरः** (गौओं का गर्भग्रहणार्थ प्रथम बार गमन), पशूनामुपसरः (पशुओं का गर्भग्रहणार्थ प्रथम बार गमन) ॥

ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु ॥३।३।७२॥

ह्वः ५।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ च अ० ॥ न्यभ्युपविषु ७।३॥ **स०**—न्यभ्यु० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—नि अभि उप वि इत्येतेषूपपदेषु ह्वेञ् धातोः सम्प्रसारणम् अप् प्रत्ययश्च भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ॥ **उदा०**—निहवः। अभिहवः। उपहवः। विहवः ॥

भावार्थः—[न्यभ्युपविषु] **नि अभि उप तथा वि पूर्वक** [ह्वः] ह्वेञ् धातु **से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अप्** प्रत्यय होता है [च] तथा ह्वेञ् **को** [सम्प्रसारणम्] **सम्प्रसारण भी हो जाता है ॥** उदा०—निहवः (बुलाना)। **अभिहवः (सब ओर से बुलाना)। उपहवः (समीप बुलाना)। विहवः (प्रबलता से बुलाना)॥ ह्वेञ् को** आदेच उपदे० **(६।१।४४) से ह्वा बन कर प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण तथा अप् प्रत्यय होकर 'नि ह् उ आ अप्' रहा। सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर 'नि हु अ' बना, पूर्ववत्** गुण तथा **अवादेश होकर निहवः आदि रूप बन गये ॥**

यहाँ से 'ह्वः सम्प्रसारणम्' **की अनुवृत्ति** ३।३।७५ **तक जायेगी ॥**

आङि युद्धे ॥३।३।७३॥

आङि ७।१॥ युद्धे ७।१॥ अनु०— ह्वः सम्प्रसारणम्, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—युद्धेऽभिधेये आङि उपपदे ह्वेञ्धातोः सम्प्रसारणमप् प्रत्ययश्च भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायाम् ॥ उदा०—आहूयन्तेऽस्मिन् = आहवः ॥

भाषार्थः—[युद्धे] युद्ध अभिधेय हो, तो [आङि] आङ् पूर्वक ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण तथा अप् प्रत्यय होता है कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में ॥ उदा०—आहवः (युद्धक्षेत्र) ॥

निपानमाहावः ॥३।३।७४॥

निपानम् १।१॥ आहावः १।१॥ अनु०— ह्वः सम्प्रसारणम्, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, धातोः,प्रत्ययः,परश्च ॥ अर्थः—आङ्पूर्वाद् ह्वेञ्धातोः सम्प्रसारणम्, अप् प्रत्ययो वृद्धिश्च निपात्यते,निपानेऽभिधेये कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायाम् ॥ निपिबन्ति अस्मिन्निति निपानम् ॥ उदा०— आहूयन्ते पशवो जलपानाय यत्र स आहावः ॥

भाषार्थः—[निपानम्] निपान अभिधेय हो, तो आङ् पूर्वक ह्वेञ् धातु से अप् प्रत्यय सम्प्रसारण तथा वृद्धि भी निपातन से करके [आहावः] आहाव शब्द सिद्ध करते हैं कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में। निपान जलाधार को कहते हैं, जो कि कुओं के समीप पशुओं के जल पीने के लिये बनाया जाता है ॥ उदा०—आहावः (पशुओं के जल पीने का चबच्चा) ॥

भावेऽनुपसर्गस्य ॥३।३।७५॥

भावे ७।१॥ अनुपसर्गस्य ६।१॥ स०— न विद्यत उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्य, बहुव्रीहिः ॥ अनु०— ह्वः सम्प्रसारणम्, अप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपसर्गरहितस्य ह्वेञ्धातोः सम्प्रसारणम् अप् प्रत्ययश्च भवति भावे वाच्ये ॥ उदा०—हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् । हवः ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गस्य] उपसर्गरहित ह्वेञ् धातु से [भावे] भाव में अप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण हो जाता है ॥

यहाँ से 'भावेऽनुपसर्गस्य' की अनुवृत्ति ३।३।७६ तक जायेगी ॥

हनश्च वधः ॥३।३।७६॥

हनः ६।१॥ च अ० ॥ वधः १।१॥ अनु०—भावेऽनुपसर्गस्य, अप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपसर्गरहिताद् हन्धातोर्भावेऽप् प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगेन च हनो वध आदेशो भवति ॥ उदा०—वधश्चौराणाम्, कंसस्य वधः ॥

भावार्थः—अनुपसर्ग [हनः] हन् धातु से अप् प्रत्यय भाव में होता है, [च] तथा प्रत्यय के साथ ही साथ हन को [वधः] वध आदेश भी हो जाता है ।। यह वध आदेश अन्तोदात्त होता है, सो अनुदात्त (३।१।४) अप् परे रहते वध के अ का अतो लोपः (६।४।४८) से लोप करने पर अनुदात्तस्य च० (६।१।१५५) से अप् को उदात्त हो जाता है ।। उदा०—वधश्चोराणाम् (चोरों को मारना), कंसस्य वधः (कंस का मारा जाना) ।।

यहाँ से 'हनः' की अनुवृत्ति ३।३।८७ तक जाती है ।।

मूर्त्तौ घनः ।।३।३।७७।।

मूर्त्तौ ७।१।। घनः १।१।। अनु०—हनः, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—मूर्तिः =काठिन्यम् । मूर्त्तावभिधेयायां हन्-धातोरप् प्रत्ययो भवति हनश्च 'घन' आदेशो भवति ।। उदा०—अभ्रघनः, दधिघनः, घनो मेघः, घनं वस्त्रम् ।।

भावार्थः—[मूर्त्तौ] मूर्त्ति=काठिन्य अभिधेय हो, तो हन धातु से अप् प्रत्यय होता है, तथा हन को [घनः] घन आदेश भी हो जाता है ।। उदा०—अभ्रघनः (बादल का घनापन), दधिघनः (दही का कड़ापन), घनो मेघः (घने बादल), घनं वस्त्रम् ।।

यहाँ से 'घनः' की अनुवृत्ति ३।३।८३ तक जायेगी ।।

अन्तर्घनो देशे ।।३।३।७८।।

अन्तर्घनः १।१।। देशे ७।१।। अनु०—घनः, हनः, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—देशेऽभिधेये अन्तःपूर्वाद् हन् धातोरप् प्रत्ययो भवति कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायाम्, तस्य च हनः घनादेशो निपात्यते ।। उदा०—अन्तर्घनो देशः ।।

भावार्थः—[देशे] देश अभिधेय हो, तो कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [अन्तर्घनः] अन्तर्घन शब्द में अन्तर् पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय तथा हन को घन आदेश निपातन किया जाता है ।। उदा०—अन्तर्घनः (देशविशेष) ।।

अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च ।।३।३।७९।।

अगारैकदेशे ७।१।। प्रघणः १।१।। प्रघाणः ।।१।१।। च अ० ।। स०—एकश्चासौ देशश्च एकदेशः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । अगारस्य=गृहस्य एकदेशः अगारैकदेशः, षष्ठी-तत्पुरुषः ।। अनु०—घनः, हनः, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—अगारैकदेशे वाच्ये प्रघणः प्रघाण' इत्येतौ शब्दौ निपात्येते कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायाम् ।। प्रपूर्वाद् हन्धातोरप् प्रत्ययः,हन्तेश्च घनादेशो निपात्यते कर्मणि, पक्षे वृद्धिश्च ।। प्रविशद्भिर्जनैः पादैः प्रकर्षेण हन्यते इति प्रघणः, प्रघाणः ।।

भाषार्थ:—[अगारैकदेशे] गृह का एकदेश वाच्य हो, तो [प्रघण: प्रघाण:] प्रघण और प्रघाण शब्द में प्र पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय और हन को घन आदेश कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में (कर्म में) निपातन किये जाते हैं ।। यहाँ पूर्वपदात्० (८।४।३) से णत्व हो जाता है ।। उदा०—प्रघण: (डयोढ़ी) । प्रघाण: ।।

उद्घनोऽत्याधानम् ।।३।३।८०।।

उद्घन: १।१।। अत्याधानम् १।१।। अनु०—घन:, हन:, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ।। अति=उपरि आधीयन्तेऽस्मिन्निति अत्याधानम् ।। अर्थ:—अत्याधाने वाच्ये उत्पूर्वाद् हन् धातोरप् प्रत्ययो हनश्च घन आदेशश्च निपात्यते कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायाम् ।। उद् हन्यन्ते यस्मिन् काष्ठानीति उद्घन: ।।

भाषार्थ:—[उद्घन:] उद्घन शब्द में [अत्याधानम्] अत्याधान वाच्य हो, तो उत् पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय तथा हन् को घनादेश किया जाता है, कर्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में ।। जिस काष्ठ को फाड़ना होता है, उसके नीचे एक काष्ठ और रखते हैं, उसे अत्याधान कहते हैं ।। उदा०—उद्घन: (जिस काष्ठ पर काष्ठ को रखकर बढ़ई लोग छीलते हैं वह) ।।

अपघनोऽङ्गम् ।।३।३।८१।।

अपघन: १।१।। अङ्गम् १।१।। अनु०—घन:, हन:, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ।। अर्थ:—अपपूर्वाद् हन धातोरप् प्रत्ययो हनो घनादेशश्च निपात्यते, अङ्ग चेत् तद् भवति, कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायाम् ।। अपहन्यतेऽनेनेति अपघन: ।।

भाषार्थ:—अप पूर्वक हन् धातु से [अङ्गम्] अङ्ग=शरीर का अवयव अभिधेय हो, तो अप् प्रत्यय तथा हन् को घन आदेश [अपघन:] अपघन शब्द में निपातन किया जाता है, कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में ।। 'अपघन:' (हाथ या पैर को ही कहते हैं, शरीर के सब अङ्गों को नहीं) ।।

करणेऽयोविद्रुषु ।।३।३।८२।।

करणे ७।१।। अयोविद्रुषु ७।३।। स०—अयश्च विश्च द्रुश्च अयोविद्रव:, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ।। अनु०—घन:, हन:, अप्, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ।। अर्थ:—

अयस् वि द्रु इत्येतेषूपपदेषु करणे कारके हन्धातोरप् प्रत्ययो भवति, हनः स्थाने घनादेशश्च भवति ।। उदा०—अयो हन्यतेऽनेनेति अयोघनः । विघनः । द्रुघनः ।।

भाषार्थः—[अयोविद्रुषु] अयस् वि तथा द्रु उपपद रहते हन् धातु से [करणे] करण कारक में अप् प्रत्यय होता है, तथा हन् के स्थान में घनादेश भी होता है ।। उदा०—अयोघनः (हथौड़ा) । विघनः (हथौड़ा) । द्रुघनः (कुल्हाड़ा) ।।

यहाँ से 'करणे' की अनुवृत्ति ३।३।८४ तक जायेगी ।।

स्तम्बे क च ।।३।३।८३।।

स्तम्बे ७।१।। क लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। च अ० ।। अनु०—करणे, घनः, हनः, अप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—स्तम्ब शब्द उपपदे करणे कारके हनधातोः कः प्रत्ययो भवति अप्, च, अप्सन्नियोगेन च हन्तेर्घनादेशो भवति ।। उदा०—स्तम्बो हन्यतेऽनेन स्तम्बघ्नः । स्तम्बघनः ।।

भाषार्थः—[स्तम्बे] स्तम्ब शब्द उपपद रहते करण कारक में हन् धातु से [क] क प्रत्यय [च] तथा अप् प्रत्यय भी होता है, और अप् प्रत्यय परे रहते हन को घन आदेश भी हो जाता है ।। करण कारक का सम्बन्ध क तथा अप् दोनों के साथ लगेगा । क प्रत्यय परे रहते गमहनजन० (६।४।९८) से उपधालोप तथा, हो हन्तेर्ञ्णि० (७।३।५४) से ह को कुत्व हो जायेगा ।। उदा०—स्तम्बघ्नः (घास जिससे काटी जाय, खुरपा) । स्तम्बघनः ।।

परौ घः ।।३।३।८४।।

परौ ७।१।। घः १।१।। अनु०—करणे, हनः, अप्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—परिपूर्वाद् हन् धातोः करणे कारके अप् प्रत्ययो भवति, हन्तेश्च 'घ' आदेशो भवति ।। उदा०—परिहन्यन्तेऽनेनेति=परिघः, पलिघः ।।

भाषार्थः—[परौ] परि पूर्वक हन् धातु से करण कारक में अप् प्रत्यय होता है, तथा हन् के स्थान में [घः] घ आदेश भी होता है ।। परेश्च घाङ्कयोः (८।२।२२) से र को विकल्प से लत्व होकर—पलिघः भी बनेगा ।। उदा०—परिघः (लोहे का मुद्गर), पलिघः ।।

उपघ्न आश्रये ।।३।३।८५।।

उपघ्नः १।१।। आश्रये ७।१।। अनु०—हनः, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—उपघ्न इत्यत्र उपपूर्वाद् हन्धातोरप् प्रत्ययः उपधालोपश्च निपात्यते आश्रये गम्यमाने, कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायाम् ।। उदा०—पर्वतेन उपहन्यते=पर्वतोपघ्नः; ग्रामेण उपहन्यते=ग्रामोपघ्नः ।।

भाषार्थः—[उपघ्नः] उपघ्न शब्द में उप पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय, तथा हन् की उपधा का लोप निपातन किया जाता है [आश्रये] आश्रय=सामीप्य प्रतीत होने पर, कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञा में ॥ 'उप ह्‌न् अप्' यहाँ पूर्ववत् हन् के ह् को कुत्व होकर उपघ्नः बना। एवं पर्वत तथा ग्राम के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास हो गया है ॥ उदा०—पर्वतोपघ्नः (पर्वत के समीपस्थ), ग्रामोपघ्नः (ग्राम के समीपस्थ)॥

संघोद्घौ गणप्रशंसयोः ॥३।३।८६॥

संघोद्घौ १।२॥ गणप्रशंसयोः ७।२॥ स०—उभयत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—हनः, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—संघ उद्घ इत्येतौ शब्दौ निपात्येते यथासंख्यं गणेऽभिधेये प्रशंसायां च गम्यमानायां कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च। सम् उद् उपपदयोः हन्धातोरप् प्रत्ययः, टिलोपो घत्वञ्च निपात्यते ॥ उदा०—सङ्घः (संहननं) पशूनाम्। उद्हन्यते=उत्कृष्टो ज्ञायत इति उद्घो मनुष्याणाम् ॥

भाषार्थः—[संघोद्घौ] संघ और उद्घ शब्द यथासंख्य करके [गणप्रशंसयोः] गण अभिधेय तथा प्रशंसा गम्यमान होने पर निपातन किये जाते हैं, कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञाविषय में तथा भाव में। सम्पूर्वक हन धातु से अप् प्रत्यय, हन् के टि भाग का (अर्थात् अन् का) लोप, तथा हकार को घत्व निपातन करके भाव में संघः शब्द बनाते हैं, गण अभिधेय होने पर। इसी प्रकार उत् पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय, टि लोप तथा घत्व, प्रशंसा गम्यमान होने पर कर्म में निपातन करके उद्घः शब्द बनाते हैं ॥ उदा०—संघः पशूनाम् (पशुओं को इकट्ठा करना)। उद्घो मनुष्याणाम् (मनुष्यों में प्रशस्त ॥

निघो निमितम् ॥३।३।८७॥

निघः १।१॥ निमितम् १।१॥ अनु०—हनः, अप्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ समन्तात् मितं निमितम् ॥ अर्थः—निमितेऽभिधेये निपूर्वाद् हन्धातोरप् प्रत्ययः, टिलोपो घत्वं च निपात्यते ॥ निर्विशेषं हन्यन्ते=ज्ञायन्ते इति निघा वृक्षाः ॥

भाषार्थः—सब प्रकार से जो मित बराबर वह 'निमित' कहाता है। [निमितम्] निमित अभिधेय हो, तो [निघः] नि पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय, टि भाग का लोप, तथा घ आदेश निपातन करके निघ शब्द सिद्ध करते हैं ॥ उदा०—निघा वृक्षाः (एक बराबर ऊँचाई के वृक्ष)। निघाः शालयः (एक बराबर के ऊँचाई के धान) ॥

ड्वितः क्त्रिः ॥३।३।८८॥

ड्वितः ५।१॥ क्त्रिः १।१॥ स०—डु इत् यस्य स ड्वित्, तस्माद्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ड्वितो धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च क्त्रिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—डुपचष्—पाकेन निर्वृत्तम् =पक्त्रिमम्। उप्त्रिमम् । कृत्रिमम् ॥

भाषार्थः—[ड्वितः] डु इत्संज्ञक है जिन धातुओं का उनसे कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [क्त्रिः] क्त्रि प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि परि० १।३।५ में देखें ॥

ट्वितोऽथुच् ॥३।३।८९॥

ट्वितः ५।१॥ अथुच् १।१॥ स०—टु इत् यस्य स ट्वित्, तस्मात्, बहुव्रीहिः॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ट्वितो धातोः कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च अथुच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—वेपथुः । श्वयथुः । टुक्षु—क्षवथुः ॥

भाषार्थः—[ट्वितः] टु इत्संज्ञक है जिन धातुओं का उनसे कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [अथुच्] अथुच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—वेपथुः । श्वयथुः । क्षवथुः (खांसी) ॥ सिद्धि परि० १।३।५ में देखें ॥

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ॥३।३।९०॥

यज···रक्षः५।१॥ नङ् १।१॥ स०—यजश्च याचश्च यतश्च विच्छश्च प्रच्छश्च रक्ष् च इति यज···रक्ष्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यज देवपूजादौ, टुयाचृ याच्ञायाम्, यती प्रयत्ने, विच्छ गतौ, प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्, रक्ष रक्षणे इत्येतेभ्यो धातुभ्यः कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च नङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ॥

भाषार्थः—[यज··· रक्षः] यज् याच आदि धातुओं से कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [नङ्] नङ् प्रत्यय होता है ॥

यज्+नङ्,इस अवस्था में स्तोः श्चुना० (८।४।३९) से श्चुत्व होकर यज्+ञ=यज्ञः बना है । याच्+न, यहाँ पर भी श्चुत्व तथा टाप् होकर याच्ञा (मांगना) बना है । 'यती प्रयत्ने' से यत्नः बन ही जायेगा । विच्छ्+न, प्रच्छ्+न, यहाँ च्छ्वोः शू० (६।४।१९) से च्छ् के स्थान में श् होकर--विश्+न=विश्नः (नक्षत्र); प्रच्छ्+न= प्रश्नः बन गया । रक्ष्+न, यहाँ ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर रक्ष्णः (रक्षा करना) बना है ॥

स्वपो नन् ॥३।३।९१॥

स्वपः ५।१॥ नन् १।१॥ अनु०—भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्वप् धातोर्भावे नन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्वप्नः ॥

भाषार्थः—[स्वपः] 'ञिष्वप् शये' धातु से भाव में [नन्] नन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—स्वप्नः (सोना) ॥

उपसर्गे घोः किः ॥३।३।९२॥

उपसर्गे ७।१॥ घोः ५।१॥ किः १।१॥ अनु०—अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपसर्गे उपपदे घुसंज्ञकेभ्यो धातुभ्यः किः प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ॥ उदा०—विधिः, निधिः, प्रतिनिधिः, प्रदिः, अन्तर्द्धिः ॥

भाषार्थः—[उपसर्गे] उपसर्ग उपपद रहते [घोः] घुसंज्ञक धातुओं से [किः] कि प्रत्यय कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में होता है ॥ सिद्धि में दाधा घ्वदाप् (१।१।१९) से डुदाञ् डुधाञ् की घु संज्ञा होकर कि प्रत्यय हुआ है । आतो लोप इटि च (६।४।६४) से 'आ' का लोप होकर वि ध् इ=विधिः आदि बन गये हैं ॥ उदा०—विधिः (विधान), निधिः (खजाना), प्रतिनिधिः (प्रतिनिधि), प्रदिः (प्रदान), अन्तर्द्धिः (छिपना) ॥ अन्तःशब्दस्य अङ्किविधिसमासणत्वेषूपसंख्यानम् (वा० १।४।६५) इस वार्त्तिक से अन्तर् शब्द की उपसर्ग संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'घोः किः' की अनुवृत्ति ३।३।९३ तक जायेगी ॥

कर्मण्यधिकरणे च ॥३।३।९३॥

कर्मणि ७।१॥ अधिकरणे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—घोः, किः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कर्मण्युपपदेऽधिकरणे कारके घुसंज्ञकेभ्यो धातुभ्यः किः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जलं धीयतेऽस्मिन्निति जलधिः । शरो धीयतेऽस्मिन्निति शरधिः । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिः ॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म उपपद रहते [अधिकरणे] अधिकरण कारक में [च] भी घुसंज्ञक धातुओं से 'कि' प्रत्यय होता है ॥ उदा०—जलधिः (समुद्र) । शरधिः (तूणीर=तरकश) । उदधिः (सागर) । उदधिः में उदक को 'उद' आदेश पेषंवासवाहनधिषु च (६।३।५६) से होता है ॥

स्त्रियां क्तिन् ॥३।३।९४॥

स्त्रियाम् ७।१॥ क्तिन् १।१॥ अनु०—अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे,

धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धातोः स्त्रीलिङ्गे कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च क्तिन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कृतिः, चितिः, मतिः ॥

भाषार्थः—धातुमात्र से [स्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग में [क्तिन्] क्तिन् प्रत्यय होता है कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में ॥ मन् धातु से 'मतिः' अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से नकार लोप होकर बनेगा। कित् होने से कृतिः चितिः में गुण नहीं हुआ है ॥

यहाँ से 'स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति ३।३।११२ तथा तक 'क्तिन्' की अनुवृत्ति ३।३।९७ तक जाती है ॥

स्थागापापचो भावे ॥३।३।९५॥

स्था पचः ५।१॥ भावे ७।१॥ स०—स्थाश्च गाश्च पाश्च पच् च स्थागापापच्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—स्त्रियाम्, क्तिन्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्था, गा, पा, पच् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वेणैव सिद्धे पुनर्वचनं स्थादिभ्यः आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६) इत्यनेनाङ् मा भूत् इत्येवमर्थम् । पक्तिः इत्यत्र षिद्भिदादिभ्यो० (३।३।१०४) इत्यनेनाङि प्राप्ते क्तिन् विधीयते ॥ उदा०—प्रस्थितिः । उद्गीतिः, संगीतिः । प्रपीतिः, सम्पीतिः । पक्तिः ॥

भाषार्थः—[स्थागापापचः] स्था गा पा पच् इन धातुओं से स्त्रीलिङ्ग [भावे] भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही क्तिन् सिद्ध था, पुनर्वचन स्था गा पा के आकारान्त होने से आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६) से जो अङ् प्रत्यय प्राप्त था, उसके बाधनार्थ है। तथा पच् से भी षिद्भिदादिभ्यो० (३।३।१०४) से अङ् प्राप्त था, उसके बाधनार्थ है ॥ उदा०—प्रस्थितिः (अवस्था)। उद्गीतिः (सामगान), संगीतिः (संगीत)। प्रपीतिः (पीना), सम्पीतिः (इकट्ठा मिलकर पीना)। पक्तिः (पकाना) ॥

द्यतिस्यतिमा० (७।४।४०) से स्था के अन्त्य अल् (१।१।५१) आ के स्थान में इत्व होकर प्रस्थितिः बना है। उद्गीतिः आदि में घुमास्थागापा० (६।४।६६) से पूर्ववत् अन्त्य अल् को ईत्व हुआ है ॥ पच् को चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व होकर पक्तिः बना है ॥

यहाँ से 'भावे' की अनुवृत्ति ३।३।९६ तक जायेगी ॥

मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः ॥३।३।९६॥

मन्त्रे ७।१॥ वृषे…राः ५।३, पञ्चम्यर्थे प्रथमा ॥ उदात्तः १।१॥ स०-वृषश्च इषश्च पचश्च मनश्च विदश्च भूश्च वीश्च राश्च वृष…राः, इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—भावे, स्त्रियाम् क्तिन्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—मन्त्रे विषये वृष्

सेचने, इषु इच्छायाम्, डुपचष पाके, मन ज्ञाने, विद ज्ञाने, भू सत्तायाम्, वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु, रा दाने इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्तिन् प्रत्ययो भवति, स च उदात्तः स्त्रीलिङ्गे भावे ॥ उदा०- वृष्टिः (ऋक् १।३८।८)। इष्टिः (ऋक् ४।४।७) पुक्तिः (ऋक्० ४।२४।५)। मतिः (ऋक् १।१४१।१) वित्तिः। भूतिः। यन्ति वीतये (अथ० २०।६६।३) । रातिः (ऋक् १।३४।१)॥

भाषार्थः—[मन्त्रे] मन्त्रविषय में [वृषे...राः] वृष इष् आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है, [उदात्तः] और वह उदात्त होता है॥ ञ्नित्यादिर्नि० (६।१।१६१) से क्तिन्प्रत्ययान्त शब्द को आद्युदात्त प्राप्त था, यहाँ प्रत्यय को उदात्त कर दिया है॥ मति की सिद्धि ३।३।९४ सूत्र पर देखें॥

यहाँ से 'उदात्तः' की अनुवृत्ति ३।३।१०० तक जायेगी॥

ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च ॥३।३।९७॥

ऊति···कीर्त्तयः १।३॥ च अ० ॥ स०—ऊति० इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—उदात्तः, स्त्रियां, क्तिन्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः प्रत्ययः परश्च॥ अर्थः—ऊत्यादयः शब्दा अन्तोदात्ता निपात्यन्ते॥ ऊतिः, इत्यत्र अव धातोः क्तिन्, ज्वरत्वर० (६।४।२०) इत्यनेन वकारस्य उपधायाश्च स्थाने ऊठ् भवति। स्वरार्थं निपात्यते, प्रत्यय ऊठ् च सिद्ध एव॥ यूतिः, इत्यत्र यु धातोर्दीर्घत्वं निपात्यते, क्तिन् तु सिद्ध एव। एवं जूतिः इत्यत्र जु धातोः दीर्घत्वं निपात्यते। षोऽन्तकर्मणि इत्यस्माद् धातोः क्तिनि परतः द्यतिस्यति० (७।४।४०) इत्यनेन इत्वे प्राप्ते तदभावार्थं निपातनम्। अथवा—सन धातोः जनसनखनां सञ्झलोः (६।४।४२) इति 'आत्वे' कृते सातिः इति रूपम्। तत्र स्वरार्थमेव निपातनं स्यात्। हनधातोर्हिधातोर्वा हेतिः रूपम्। यदा हन्तेस्तदा हकारस्य एत्वं निपात्यते, अनुनासिकलोपस्तु अनुदात्तोप० (६।४।३७) इत्यनेन सिद्ध एव। यदा 'हि' धातोस्तदा गुणो निपात्यते। कीर्त्तिः, इत्यत्र 'कृत संशब्दने' धातोश्चुरादित्वाण्णिचि कृते ण्यासश्रन्थो युच् (३।३।१०७) इति युचि प्राप्ते क्तिन् प्रत्ययो निपात्यते॥

भाषार्थः—[ऊति···कीर्त्तयः] ऊत्यादि शब्द [च] भी अन्तोदात्त निपातन किये जाते हैं। 'क्तिन्' प्रत्यय तो सामान्य (३।३।९४) सब धातुओं से सिद्ध ही था, विशेष कार्य निपातन से करते हैं॥ ऊतिः में अव धातु से क्तिन् प्रत्यय, ज्वरत्वर० (६।४।२०) से उपधा तथा वकार के स्थान में ऊठ् होकर ऊठ् ति=ऊतिः (रक्षा) रूप सिद्ध ही था, पुनः अन्तोदात्त स्वर के लिए वचन है, अन्यथा क्तिन् के नित् होने से ञ्नित्यादि० (६।१।१६१) से आद्युदात्त होता॥ यूतिः (मिलाना), जूतिः (भागना) में क्रम से

यु जु धातुओं से दीर्घत्व तथा अन्तोदात्त स्वर निपातन है, प्रत्यय सिद्ध ही था। सातिः (अन्त होना), 'षोऽन्तकर्मणि' धातु से बनाएं, तो क्तिन् परे रहते जो द्यतिस्यति० (७।४।४०) से इत्व प्राप्त था, उसका अभाव निपातन है। अथवा 'षणु दाने' धातु से बनावें, तो जनसन० (६।४।४२) से आत्व हो ही जायेगा, केवल स्वरार्थ वचन है। हेतिः (गति) हन् या हि धातु से बनेगा। हन् से बनाए, तो हकार को एत्व निपातन करेंगे। अनुनासिक लोप अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से सिद्ध ही है। हि से सिद्ध करें, तो गुण निपातन से होगा, क्योंकि क्तिन् के कित् होने से क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध प्राप्त था। कीर्तिः में कृत धातु के चुरादिगण की होने से ण्यन्त होकर ण्यासश्रन्थो० (३।३।१०७) से युच् प्रत्यय प्राप्त था, क्तिन् निपातन से कर दिया है। 'कृत णि ति', यहाँ उपधायाश्च (७।१।१०१) से इत्व रपरत्व होकर किर् ति रहा। णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप, तथा उपधायां च (८।२।७८) से दीर्घ होकर कीर्तिः बन गया है॥

व्रजयजोर्भावे क्यप् ॥३।३।९८॥

व्रजयजोः ६।२॥ भावे ७।१॥ क्यप् १।१॥ स०—व्रजश्च यज् च व्रजयजो, तयोः व्रजयजोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—उदात्तः, स्त्रियाम्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—व्रज यज इत्येताभ्यां धातुभ्यां स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप् प्रत्ययो भवति, स च उदात्तः॥ उदा०—व्रज्या। इज्या॥

भाषार्थः—[व्रजयजोः] व्रज तथा यज धातुओं से स्त्रीलिङ्ग [भावे] भाव में [क्यप्] क्यप् प्रत्यय होता है, और वह उदात्त होता है॥ उदा०—व्रज्या (गमन)। इज्या (यज्ञ करना)॥ यज् को वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से सम्प्रसारण हो जायेगा। क्यप् के पित् होने से अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से क्यप् को अनुदात्त प्राप्त था, उदात्त विधान कर दिया है॥

यहाँ से 'क्यप्' की अनुवृत्ति ३।३।१०० तक जायेगी॥

संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः ॥३।३।९९॥

संज्ञायाम् ७।१॥ सम···ञिणः ५।१॥ स०—समजश्च निषदश्च निपतश्च मनश्च विदश्च षुञ् च शीङ् च भृञ् च इण् च समज···भृञिण्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—क्यप्, उदात्तः, स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—संज्ञायां विषये सम्पूर्वक अज, निपूर्वक षद् पत, मन, विद, षुञ्, शीङ्, भृञ्, इण् इत्येतेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां विषये भावे च क्यप् प्रत्ययो भवति, स च क्यप् उदात्तो भवति॥ उदा०—समजन्त्यस्याम्=समज्या। निषीदन्त्यस्याम्=निषद्या। निपत्या। मन्यते तया मन्या। विदन्ति तया=विद्या। सुन्वन्ति तस्यां सुत्या। शेरते तस्यां शय्या। भरणं=भृत्या। ईयते गम्यते यया इत्या॥

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में [सम······त्रिणः] सम् पूर्वक अज, नि पूर्वक षद तथा पत आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में क्यप प्रत्यय होता है, और वह उदात्त होता है ।। उदा०—समज्या (सभा)। निषद्या (बाजार)। निपत्या (युद्धभूमि)। मन्या (गले के पास की नाड़ी, जिससे व्यक्ति क्रुद्ध है ऐसा जाना जाता है)। विद्या। सुत्या (जिस वेला=काल में रस निकालते हैं, वह काल)। शय्या (खाट)। भृत्या। (जीविका)। इत्या (जिसके द्वारा जाते हैं, ऐसी लालटेन)।। सुत्या, इत्या में ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६६) से तुक् आगम हुआ है।। शय्या में शीङ् धातु के ई को (१।१।५२) अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२) से अयङ् होकर शयङ्+क्यप्, शय्+य=शय्या बन गया है ।।

कृञः श च ।।३।३।१००।।

कृञः ५।१।। श लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। च अ० ।। अनु०—क्यप्, उदात्तः, स्त्रियां, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—कृञ् धातोः स्त्रियां कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च शः प्रत्ययो भवति चकारात् क्यप् च ।। भाष्येऽत्र "वा वचनं कर्त्तव्यं क्तिन्नर्थम्" इति वार्तिकमस्ति। तेन पक्षे क्तिन् प्रत्ययोऽपि भवति ।। उदा०—क्रिया, कृत्या, कृतिः ।।

भाषार्थः—[कृञः] कृञ् धातु से स्त्रीलिङ्ग में कर्तृभिन्न कारक संज्ञा तथा भाव में [श] श प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से क्यप् भी होता है ।। महाभाष्य में यहाँ 'वा वचनं कर्त्तव्यं क्तिन्नर्थम्' ऐसा कह कर पक्ष में क्तिन् प्रत्यय भी किया है। सो श क्यप् तथा क्तिन् तीन प्रत्यय होते हैं ।।

यहाँ से 'श' की अनुवृत्ति ३।३।१०१ तक जायेगी ।।

इच्छा ।।३।३।१०१।।

इच्छा १।१।। अनु०—श, स्त्रियाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—इच्छा इत्यत्र इषेर्धातोः श प्रत्ययो भावे स्त्रियां निपात्यते। भावे सार्वधातु० (३।१।६७) इत्यनेन यकि प्राप्ते तदभावो निपातनाद् भवति ।।

भाषार्थः—[इच्छा] इच्छा शब्द भाव स्त्रीलिङ्ग में शप्रत्ययान्त निपातन किया जाता है।। भाव में श प्रत्यय निपातन करने से सार्वधातुके यक (३।१।६७) से यक् प्राप्त था, उसका अभाव भी यहाँ निपातन है। इषुगमियमां० (७।३।७७) से इष् के षकार को छत्व, तथा छे च (६।१।७१) से तुक् होकर 'इत् छ् अ' बना। स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व, तथा टाप् होकर इच्छा (=अभिलाषा) शब्द बन गया है ।।

अ प्रत्ययात् ॥३।३।१०२॥

अ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ प्रत्ययात् ५।१॥ अनु०—स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रीलिङ्गे कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च 'अ' प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—चिकीर्षा, जिहीर्षा, पुत्रीया, पुत्रकाम्या, लोलूया, कण्डूया ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययात्] प्रत्ययान्त धातुओं से स्त्रीलिङ्ग कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [अ] अ प्रत्यय होता है ॥ उदा०—चिकीर्षा (करने की इच्छा)। जिहीर्षा (हरण करने की इच्छा)। पुत्रीया (अपने पुत्र की इच्छा), पुत्रकाम्या। लोलूया (बार-बार काटने की क्रिया)। कण्डूया (खुजली) ॥ परिशिष्ट १।१।५७ के समान चिकीर्ष जिहीर्ष धातु बनाकर इस सूत्र से अ प्रत्यय हो गया है। अ प्रत्यय करने का यही लाभ है कि कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६) से इन सब की प्रातिपदिक संज्ञा होकर रूप चलेंगे ॥ इसी प्रकार पुत्रीय धातु परि० २।४।७१ के समान बनकर अ प्रत्यय होगा। पुत्रकाम्या में पुत्रकाम्य धातु काम्यच्च (३।१।६) से काम्यच् प्रत्यय होकर बना है। लोलूय धातु परि० १।१।४ के समान जानें। कण्डू शब्द से कण्ड्वादिभ्यो यक् (३।१।२७) से यक् प्रत्यय होकर 'कण्डूय' धातु बना है, पुनः अ प्रत्यय हो ही जायेगा। यह सब प्रत्ययान्त धातुएं हैं—सन्, क्यच्, यङ् आदि प्रत्यय आकर पुनः सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा सब की होती है। सर्वत्र अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप् होगा ॥ क्तिन् का अपवाद यह सूत्र है। अ प्रत्यय के परे रहते अतो लोपः (६।४।४८) से धातुओं के अकार का लोप हो जाता है ॥

यहाँ से 'अ' की अनुवृत्ति ३।३।१०३ तक जायेगी ॥

गुरोश्च हलः ॥३।३।१०३॥

गुरोः ५।१॥ च अ० ॥ हलः ५।१॥ अनु०—अ, स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—हलन्तो यो गुरुमान् धातुस्तस्मात् स्त्रीलिङ्गे कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च 'अ' प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कुण्डा, हुण्डा, ईहा, ऊहा ॥

भाषार्थः—[हलः] हलन्त जो [गुरोः] गुरुमान् धातु उनसे [च] भी स्त्रीलिङ्ग कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अ प्रत्यय हो जाता है ॥ सिद्धि परि० १।४।११ में देखें। ईह ऊह धातुओं में दीर्घं च (१।४।१२) से ई ऊ की गुरु संज्ञा है। हलन्त हैं ही, सो प्रकृत सूत्र से 'अ' प्रत्यय तथा टाप् होकर ईहा ऊहा बन गया है। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घा० (६।१।६६) से सु का लोप हो ही जायेगा ॥

षिद्भिदादिभ्योऽङ् ॥३।३।१०४॥

षिद्भिदादिभ्यः ५।३॥ अङ् १।१॥ स०—ष् इत यस्य स षिद्, बहुव्रीहिः। भिद् आदिर्येषां ते भिदादयः, बहुव्रीहिः। षित् च भिदादयश्च षिद्भिदादयः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षिद्भ्यो भिदादिभ्यश्च धातुभ्यः स्त्रीलिङ्गे कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे चाङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जृष्—जरा। त्रपूष्—त्रपा। भिदादिभ्यः—भिदा, छिदा, विदा ॥

भाषार्थः—[षिद्भिदादिभ्यः] षकार इत्संज्ञक है जिनका, ऐसी धातुओं से तथा भिदादिगण-पठित धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में [अङ्] अङ् प्रत्यय होता है कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में ॥ उदा०—जरा (वृद्धावस्था)। त्रपा (लज्जा)। भिदादियों से—भिदा (फाड़ना)। छिदा (काटना)। विदा (जानना)॥ जृष् त्रपूष् षित् धातुएँ हैं, सो जृ अङ् बनकर जृ को ऋदृशो० (७।४।१६) से गुण रपरत्व होकर 'अर् अ' रहा, टाप् होकर जरा बना, त्रप् अङ् टाप्=त्रपा बना। सु का लोप हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से हो गया है। इसी प्रकार सब में जानें ॥

यहाँ से 'अङ्' की अनुवृत्ति ३।३।१०६ तक जायेगी ॥

चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च ॥३।३।१०५॥

चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चः ५।१॥ च अ० ॥ स०—चिन्तिश्च पूजिश्च कथिश्च कुम्बिश्च चर्च् च चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्च्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु० अङ्, स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—चिति स्मृत्याम्, पूज पूजायाम्, कथ वाक्यप्रबन्धे, कुबि आच्छादने, चर्च अध्ययने इत्येतेभ्यो धातुभ्यः स्त्रीलिङ्गे कर्त्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे चाङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—चिन्ता। पूजा। कथा। कुम्बा। चर्चा ॥

भाषार्थः—[चिन्ति......चर्चः] चिन्त पूज आदि धातुओं से [च] भी स्त्रीलिङ्ग कर्त्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अङ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—चिन्ता। पूजा। कथा। कुम्बा (मोटा घाघरा)। चर्चा (पढ़ना)॥ चिन्ति आदि सब धातुएं चुरादिगण की हैं, सो ण्यन्त होने से ण्यासश्रन्थो० (३।३।१०७) से युच् प्राप्त था, अङ् विधान कर दिया है। पश्चात् णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो ही जायेगा। चिति धातु के इदित् होने से इदितो नुम्० (७।१।५८) से नुमागम हो जाता है। सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

आतश्चोपसर्गे ॥३।३।१०६॥

आतः ५।१॥ च अ० ॥ उपसर्गे ७।१॥ अनु०—अङ्, स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च

कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उपसर्ग उपपद आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां अङ् प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च॥ उदा० - संज्ञायतेऽनेनेति=संज्ञा । उपधा । प्रदा । प्रधा । अन्तर्द्धा ॥

भाषार्थः—[उपसर्गे] उपसर्ग उपपद रहते [आतः] आकारान्त धातुओं से [च] भी स्त्रीलिङ्ग कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अङ् प्रत्यय होता है ॥ औत्सर्गिक क्तिन् प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥ उदा०—संज्ञा (नाम)। उपधा (स्थापन करना)। प्रदा (भेंट)। प्रधा (धारण करना)। अन्तर्द्धा (छिपना) ॥

ण्यासश्रन्थो युच् ॥३।३।१०७॥

ण्यासश्रन्थः ५।१॥ युच् १।१॥ स०—णिश्च आसश्च श्रन्थ् च ण्यासश्रन्थ्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ण्यन्तेभ्यो धातुभ्य आस श्रन्थ इत्येताभ्यां च धातुभ्यां स्त्रियां युच् प्रत्ययो भवति कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च ॥ उदा०—णि—कारणा, हारणा । आस्—आसना । श्रन्थ्—श्रन्थना ॥

भाषार्थः—[ण्यासश्रन्थः]ण्यन्त धातुओं से, तथा आस उपवेशने (अदा० आ०), श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः (क्र्या० प०) इन धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में [युच्] युच् प्रत्यय होता है कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में ॥ उदा०—कारणा (कराना), हारणा (हराना)। आसना (बैठना)। श्रन्थना (ढीलापन) ॥ सिद्धि में हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर कृ+णि रहा, वृद्धि होकर कारि को सनाद्यन्ता० (३।१।३२)से धातु संज्ञा हुई। कारि से पुनः प्रकृत सूत्र से युच् प्रत्यय आकर युवोरनाकौ (७।१।१) से अन, तथा णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप होकर 'कार् अन' रहा। अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व, तथा टाप् होकर कारणा बना है। इसी प्रकार हृ धातु से हारणा में भी समझें। आस श्रन्थ से बिना णिच् आये ही युच् प्रत्यय होगा ॥

रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् ॥३।३।१०८॥

रोगाख्यायाम् ७।१॥ ण्वुल् १।१॥ बहुलम् १।१॥ स०—रोगस्य आख्या रोगाख्या, तस्याम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—रोगाख्यायाम्=रोगविशेषस्य संज्ञायां धातोः ण्वुल् प्रत्ययो बहुलं भवति ॥ क्तिनादीनां सर्वेषामपवादः ॥ उदा०—प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचर्चिका ॥ बहुलग्रहणात् क्वचिन्न भवति—शिरोर्त्तिः, क्तिन्नेव भवत्यत्र ॥

भाषार्थः—[रोगाख्यायाम्] रोगविशेष की संज्ञा में धातु से स्त्रीलिङ्ग में

[ण्वुल] ण्वुल् प्रत्यय [बहुलम्] बहुल करके होता है ॥ क्तिन् आदि सब का अपवाद यह सूत्र है ॥ उदा०--प्रच्छर्दिका (वमन)। प्रवाहिका (पेचिश)। विचर्चिका (खाज)॥ बहुल ग्रहण से कहीं नहीं भी होता--शिरोर्त्तिः (सिरदर्द)॥

यहाँ से 'ण्वुल्' की अनुवृत्ति ३।३।११० तक जायेगी ॥

संज्ञायाम् ॥३।३।१०९॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०— ण्वुल्, स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—संज्ञायां विषये धातोः स्त्रीलिङ्गे कर्तृभिन्ने कारके भावे च ण्वुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वारणपुष्पप्रचायिका, अभ्यूषखादिका, आचोषखादिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका ॥

भाषार्थः--[संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में धातु से स्त्रीलिङ्ग में ण्वुल् प्रत्यय होता है कर्तृभिन्न कारक संज्ञा तथा भाव में ॥ नित्यं क्रीडाजीविकयोः (२।२।१७) से उद्दालकपुष्पभञ्जिका आदि में षष्ठीसमास हुआ है ॥ सिद्धि भी वहीं २।२।१७ सूत्र पर देख लें ॥ उदा०— उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वारणपुष्पप्रचायिका, अभ्यूषखादिका (लिट्टि[1] खाने की विशेष क्रीड़ा), आचोषखादिका (चूस कर खाने की क्रीडा), शाल-भञ्जिका (शाल[1] वृक्ष के पुष्पों को तोड़ने की क्रीड़ाविशेष), तालभञ्जिका (ताल वृक्ष के पुष्पों के तोड़ने की क्रीडाविशेष)॥

विभाषाऽऽख्यानपरिप्रश्नयोरिञ्च ॥३।३।११०॥

विभाषा १।१॥ आख्यानपरिप्रश्नयोः ७।२॥ इञ् १।१॥ च अ० ॥ स०—आख्यानञ्च परिप्रश्नश्च आख्यानपरिप्रश्नौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०--ण्वुल्, स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पूर्वं परिप्रश्नो भवति पश्चादाख्यानम् । आख्याने परिप्रश्ने च गम्यमाने धातोः कर्तृ-भिन्ने कारके संज्ञायां भावे च स्त्रीलिङ्गे विभाषा 'इञ्' प्रत्ययो भवति, चकाराद् ण्वुल् च । पक्षे यथाप्राप्तं सर्वे प्रत्यया भवन्ति ॥ उदा०—कां कारिम् अकार्षीः, कां कारिकामकार्षीः, कां क्रियामकार्षीः, कां कृत्यामकार्षीः,कां कृतिमकार्षीः । आख्याने--सर्वां कारिं कारिकां क्रियां कृत्यां कृतिं वा अकार्षम् । कां गणिं गणिकां गणनां वा अजीगणः । आख्याने--सर्वां गणिं गणिकां गणनां वा अजीगणम् । एवम्—कां पाठिम्, कां पाठिकाम्, कां पठितिम्, कां याजिम्, कां याजिकाम्, काम् इष्टिम् इत्यादि उदाहार्यम् ॥

---

१. इस विषय में अधिक 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृष्ठ १६३ हिन्दी सम्करण देखिये ॥

भावार्थः—[आख्यानपरिप्रश्नयोः] उत्तर तथा परिप्रश्न गम्यमान होने पर धातु से स्त्रीलिङ्ग कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [विभाषा] विकल्प से [इञ्] इञ् प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से ण्वुल् भी होता है ॥ प्रथम परिप्रश्न अर्थात् पूछना, पश्चात् उसका आख्यान = उत्तर होता है ॥ पक्ष में यथाप्राप्त भाव के सब प्रत्यय होंगे ॥ उदा०—परिप्रश्न में—कां कारिमकार्षीः (तुमने क्या काम किया), कां कारिकामकार्षीः, कां क्रियामकार्षीः, कां कृत्यामकार्षीः, कां कृतिमकार्षीः । आख्याने—सर्वां कारिं कारिकां क्रियां कृत्यां कृतिं वा अकार्षम् (मैंने सब काम कर लिया) । कां गणिं गणिकां गणनां वा अजीगणः (तुमने क्या गिनती की) । आख्याने—सर्वां गणिं गणिकां गणनां वाऽजीगणम् (मैंने सब गिनती कर ली) । इसी प्रकार कां पाठिं कां पाठिकां कां पठितिम्, कां याजिं कां याजिकां काम् इष्टिम् आदि उदाहरण भी समझने चाहिएं ॥ कारिम् में इञ् प्रत्यय परे रहते अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि हुई है । कारिकाम् में ण्वुल् प्रत्यय परे रहते वृद्धि हुई है । पक्ष में श प्रत्यय होकर 'क्रियाम्', क्यप् होकर 'कृत्यां', तथा क्तिन् होकर 'कृतिम्' बना है । सिद्धि परि० ३।३।१०० में देखें ॥ इसी प्रकार गण धातु से प्रकृत सूत्र से इञ् तथा ण्वुल्, एवं पक्ष में ण्यासश्र०(३।३।१०७)से युच् प्रत्यय हुआ है । गण धातु अकारान्त चुरादिगण में पढ़ी है । अतः गण+णिच् इस अवस्था में अतो लोपः (६।४।४८) से अकार लोप हुआ है । सो अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि करते समय वह अकार स्थानिवत् (१।१।५५)हो गया, तो वृद्धि नहीं हुई । अब इञ् प्रत्यय होकर णेरनिटि (६।४।५१) से णि लोप होकर गणिं गणिकाम् आदि बन गया है ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ३।३।११२ तक जायेगी ॥

पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच् ॥३।३।१११॥

पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ७।३॥ ण्वुच् १।१॥ स०—पर्यायश्च अर्हश्च ऋणं च उत्पत्तिश्च पर्याया०...त्तयः, तासु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, स्त्रियाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पर्याय अर्ह ऋण उत्पत्ति इत्येतेष्वर्थेषु द्योत्येषु धातोः स्त्रियां भावे विकल्पेन ण्वुच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पर्याये तावत्—भवतः शायिका,भवतोऽग्रग्रासिका । अर्हे—इक्षुभक्षिकामर्हति भवान्,पयःपायिकामर्हति भवान् । ऋणे—इक्षुभक्षिकां मे धारयसि, ओदनभोजिकाम् । उत्पत्तौ—इक्षुभक्षिका मे उदपादि भवान्, ओदनभोजिकाम्, पयःपायिकाम् । पक्षे—तव चिकीर्षा, मम चिकीर्षा ॥

भावार्थः—[पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु] पर्याय, अर्ह, ऋण उत्पत्ति इन अर्थों में धातु से स्त्रीलिङ्ग भाव में विकल्प से [ण्वुच्] ण्वुच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पर्याय में—भवतः शायिका, भवतोऽग्रग्रासिका (आपके प्रथम भोजन की बारी)। अर्ह में—

इक्षुभक्षिकामर्हति भवान् (आप गन्ना खाने के योग्य हैं), पयःपायिकामर्हति भवान् (आप दूध पीने के योग्य हैं)। ऋण में इक्षुभक्षिकां मे धारयसि (मुझको गन्ना खिलाने का ऋण आपके ऊपर है) ओदनभोजिकाम (चावल खिलाने का ऋण है)। उत्पत्ति में—इक्षुभक्षिकां मे उदपादि भवान् (आपने गन्ने का खाना मेरे लिए उत्पन्न किया), ओदनभोजिकां, पयःपायिकाम्। पक्ष में—तव चिकीर्षा (तुम्हारे करना चाहने की बारी), मम चिकीर्षा॥ परि० ३।३।१६ में शायिका की सिद्धि देखें। इसी प्रकार अग्रग्रासिका आदि में भी समझें। ग्रासिका आदि बनकर अग्र आदि के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास होगा। विकल्प कहने से पक्ष में अ प्रत्ययात् (३।३।१०२) से अ प्रत्यय हुआ है॥

आक्रोशे नञ्यनिः ॥३।३।११२॥

आक्रोशे ७।१॥ नञि ७।१॥ अनिः १।१॥ अनु०—स्त्रियाम्, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—आक्रोशे गम्यमाने नञ्युपपदे धातोरनिः प्रत्ययो भवति स्त्रीलिङ्गे कर्तृभिन्ने कारके संज्ञायां भावे च॥ उदा०—अकरणिस्ते वृषल! भूयात्॥

भावार्थः—[आक्रोशे] आक्रोश=क्रोधपूर्वक चिल्लाना गम्यमान हो तो [नञि] नञ् उपपद रहते धातु से स्त्रीलिङ्ग कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में [अनिः] अनि प्रत्यय होता है॥ उदा०—अकरणिस्ते वृषल! भूयात् (नीच! तेरी करणी का नाश हो जाये)॥ नञ्पूर्वक कृञ् धातु से 'अनि' प्रत्यय होकर, तथा कृ को अनि परे रहते गुण, एवं नलोपो नञः (६।३।७१) से नञ् के नकार का लोप होकर अकरणिः बन गया है। अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से अनि के न को णत्व हो ही जायेगा॥

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥३।३।११३॥

कृत्यल्युटः १।३॥ बहुलम् १।१॥ स०—कृत्याश्च ल्युट् च कृत्यल्युटः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया ल्युट् च बहुलमर्थेषु भवन्ति। यत्र विहितास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति॥ तयोरेव कृत्यक्त० (३।४।७०) इत्यनेन भावकर्मणोः कृत्या विधीयन्ते, कारकान्तरेष्वपि भवन्ति। भावे करणे अधिकरणे च ल्युट् विहितस्ततोऽन्यत्रापि भवति॥ उदा०—स्नाति अनेनेति स्नानीयं चूर्णम्, अत्र करणे कृत्यसंज्ञकोऽनीयर्। दीयते तस्मै दानीयो ब्राह्मणः, अत्र सम्प्रदानेऽनीयर्। ल्युट्—अपसिच्यते तद् इति अपसेचनम्। अवस्राव्यते तदिति अवस्रावणम्। भुज्यन्ते इति भोजनाः, राज्ञां भोजनाः राजभोजनाः शालयः। आच्छाद्यन्ते इति आच्छादनानि। सर्वत्र कर्मणि ल्युट्। प्रस्कन्दत्यस्मात्=प्रस्कन्दनम्, अत्रापादाने ल्युट्। प्रपतत्यस्मात्=प्रपतनम्, अत्रापि अपादाने ल्युट्॥

भावार्थः—[कृत्यल्युटः] कृत्यसंज्ञक प्रत्यय तथा ल्युट् प्रत्यय [बहुलम्] बहुल अर्थों में होते हैं ।। तयोरेव कृत्यक्त०(३।४।७०) से भाव कर्म में ही कृत्यसंज्ञक प्रत्ययों का विधान है । यहाँ कहने से उससे अन्यत्र कारकों में भी होते हैं । जैसे—स्नानीयम् में करण में कृत्यसंज्ञक अनीयर्, तथा दानीयः में सम्प्रदान में अनीयर् हुआ है । इसी प्रकार करण अधिकरण (३।३।११७), तथा भाव (३।३।११५) में ल्युट प्रत्यय कहा है, उससे अन्यत्र कर्म अपादानादि में भी ल्युट् हो जाता है जैसे—अपसेचनम्, प्रपतनम् आदि में देखें ।। स्रु ण्यन्त धातु से वृद्धि आवादेश होकर 'स्रावि' धातु बनकर ल्युट् प्रत्यय हुआ है । णेरनिटि (६।४।५१) से णि लोप होकर अवस्रावणम् बन गया है । प्रस्कन्दनम् में प्र पूर्वक स्कन्दिर धातु है, तथा प्रपतनम् में प्र पूर्वक पत्लृ धातु है ।। उदा०—स्नानीयं चूर्णम् (उबटन) । दानीयो ब्राह्मणः (देने योग्य ब्राह्मण)। अपसेचनम् (जो अच्छी तरह न सींचा जाय) । अवस्रावणम् (जो बुरी तरह बहाया जाता है)। राजभोजनाः शालयः (राजा के भोजन करने योग्य चावल) । आच्छादनानि (वस्त्र)। प्रस्कन्दनम् (सींचा जाता है जिससे) । प्रपतनम् (जहाँ से वृक्षादि गिरते हैं) ।।

नपुंसके भावे क्तः ।।३।३।११४।।

नपुंसके ७।१।। भावे ७।१।। क्तः ५।१।। अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—नपुंसकलिङ्गे भावे धातोः क्तः प्रत्ययो भवति ।। उदा०—हसितम्, सुप्तम्, जल्पितम् ।।

भावार्थः—[नपुंसके] नपुंसक लिङ्ग [भावे] भाव में धातुमात्र से [क्तः] क्त प्रत्यय होता है ।। उदा०—हसितम्(हँसना), सुप्तम् (सोना), जल्पितम्(बकना)।।

यहाँ से 'नपुंसके भावे' की अनुवृत्ति ३।३।११६ तक जायेगी ।।

ल्युट च ।।३।३।११५।।

ल्युट् १।१।। च अ० ।। अनु०—नपुंसके भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—नपुंसकलिङ्गे भावे ल्युट् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—हसनं छात्रस्य शोभनम् । शयनम्, आसनम् ।।

भावार्थः—नपुंसकलिङ्ग भाव में धातु से [ल्युट्] ल्युट् प्रत्यय [च] भी होता है ।। सिद्धि में 'यु' को अन युवोरनाकौ (७।१।१) से हो ही जायेगा । तथा अतोऽम् (७।१।२४) से सु को अम् हो जायेगा ।।

यहाँ से 'ल्युट्' की अनुवृत्ति ३।३।११७ तक जायेगी ।।

कर्मणि च येन संस्पर्शात्कर्त्तुः शरीरसुखम् ।।३।३।११६।।

कर्मणि ७।१।। च अ० ।। येन ३।१।। संस्पर्शात् ५।१।। कर्त्तुः ६।१।। शरीरसुखम्

१।१।। स०—शरीरस्य सुखम् शरीरसुखम्, षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—ल्युट्, नपुंसके, भावे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—येन (कर्मणा) संस्पर्शात् कर्त्तुः शरीरसुखमुत्पद्यते तस्मिन् कर्मण्युपपदे धातोर्ल्युट् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—ओदनभोजनं सुखम् । पयःपानं सुखम् ।।

भाषार्थः—[येन] जिस कर्म के [संस्पर्शात्] संस्पर्श से [कर्त्तुः] कर्ता को [शरीरसुखम्] शरीर का सुख उत्पन्न हो, ऐसे [कर्मणि] कर्म के उपपद रहते [च] भी धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है ।। उदा०—ओदनभोजनंसुखम् (चावल खाने का सुख)। पयःपानं सुखम् (दूध पीने का सुख) ।। ओदन या दूध के संस्पर्श से कर्ता=खानेवाले के शरीर=जिह्वा को सुख होता है, अतः ओदन एवं पयः कर्म उपपद रहते भुज तथा पा धातु से ल्युट् प्रत्यय हो गया है ।।

करणाधिकरणयोश्च ।।३।३।११७।।

करणाधिकरणयोः ७।२।। च अ० ।। स०—करणञ्च अधिकरणञ्च करणाधिकरणे, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—ल्युट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—करणेऽधिकरणे च कारके धातोः ल्युट् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—प्रवृश्चत्यनेन=प्रव्रश्चनः, इध्मानां प्रव्रश्चनः इध्मप्रव्रश्चनः । शात्यतेऽनेन=शातनः, पलाशस्य शातनः पलाशशातनः । अधिकरणे—दुह्यन्ते अस्याम्=दोहनी, गवां दोहनी गोदोहनी । धीयन्ते अस्याम्=धानी, सक्तूनां धानी सक्तुधानी ।।

भाषार्थः— धातु से [करणाधिकरणयोः] करण और अधिकरण कारक में [च] भी ल्युट् प्रत्यय होता है ।। प्र पूर्वक 'ओव्रश्चू छेदने' धातु से प्रव्रश्चनः बना है । पश्चात् इध्म के साथ षष्ठीसमास होकर इध्मप्रव्रश्चनः (कुल्हाड़ी) बना है । शातनः में शदेरगतौ तः (७।३।४२) से शद्लृ के द् को त् हुआ है । यहाँ शद्लृ णिजन्त से ल्युट् हुआ है । पीछे षष्ठीसमास होकर पलाशशातनः (जिस डण्डे से वृक्ष के पत्ते गिराये जाते हैं) बनेगा । पूर्ववत् दोहन शब्द दुह् से बनकर, टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होकर, तथा पूर्ववत् षष्ठीसमास होकर गोदोहनी (गौ दुहने का पात्र) बना है । इसी प्रकार सक्तुधानी (सत्तु रखने का पात्र) में भी जानें ।।

यहाँ से 'करणाधिकरणयोः' की अनुवृत्ति ३।३।१२५ तक जायेगी ।।

पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ।।३।३।११८।।

पुंसि ७।१।। संज्ञायां ७।१।। घः १।१।। प्रायेण ३।१।। अनु०—करणा-

धिकरणयोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पुंल्लिङ्गयोः करणाधिकरणयोरभिधेययोः धातोः घः प्रत्ययः प्रायेण भवति, समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते ॥ उदा०—दन्ताः छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः । उरः छाद्यतेऽनेनेति उरश्छदः । अधिकरणे—एत्य तस्मिन् कुर्वन्तीति आकरः । आलीयतेऽस्मिन्निति आलयः ॥

भाषार्थः—धातु से करण और अधिकरण कारक में [पुंसि] पुंल्लिङ्ग में [प्रायेण] प्रायः करके [घः] घ प्रत्यय होता है, [संज्ञायाम्] यदि समुदाय से संज्ञा प्रतीत होती है ॥

यहाँ से 'घः' की अनुवृत्ति ३।३।११९ तक, तथा 'पुंसि संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ३।३।१२५ तक, एवं 'प्रायेण' की अनुवृत्ति ३।३।१२१ तक जाती है ॥ ३।३।११९ में प्रायेण नहीं सम्बन्धित होता है ॥

गोचरसञ्चरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च ॥३।३।११९॥

गोचर…निगमाः १।३॥ च अ० ॥ स०—गोचर० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पुंसि, संज्ञायाम्, घः, करणाधिकरणयोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गोचर, सञ्चर, वह, व्रज, व्यज, आपण, निगम इत्येते शब्दाः पुंल्लिङ्गे संज्ञायां विषये घप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते करणेऽधिकरणे च कारके ॥ गावश्चरन्ति अस्मिन्निति गोचरः । सञ्चरन्तेऽनेनेति सञ्चरः । वहन्ति तेन वहः। व्रजन्ति तेन व्रजः । व्यजन्ति तेन व्यजः। अत्र निपातनाद् अज धातोः अजेर्व्य० (२।४।५६) इत्यनेन वीभावो न भवति । एत्य तस्मिन् आपणन्ते इति आपणः । निगच्छन्ति अस्मिन्निति निगमः ॥

भाषार्थः—[गोचर · निगमाः] गोचर आदि शब्द [च] भी घप्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग करण या अधिकरण कारक में संज्ञाविषय में निपातन किये जाते हैं । वि+अजः=व्यजः, यहाँ अज धातु को अजेर्व्य० (२।४।५६) से वी भाव भी निपातन से नहीं होता ॥ उदा०—गोचरः (गायें जहाँ चरती हैं) । सञ्चरः (जिसके द्वारा घूमते हैं) । वहः (गाड़ी) । व्रजः (जिसके द्वारा जाते हैं) । व्यजः (पङ्खा) । आपणः (बाजार) । निगमः (वेद) ॥

अवे तृस्त्रोर्घञ् ॥३।३।१२०॥

अवे ७।१॥ तृस्त्रोः ६।२॥ घञ् १।१॥ स०—तृ च स्तृ च तृस्त्रौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पुंसि संज्ञायां प्रायेण, करणाधिकरणयोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अव उपपदे तृ स्तृञ् इत्येताभ्यां धातुभ्यां करणेऽधिकरणे च कारके संज्ञायां प्रायेण घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अवतारः । अवस्तारः ॥

भाषार्थः—[अवे] अव पूर्वक [तृस्त्रोः] तृ स्तृञ् धातुओं से करण और अधि-

करण कारक में संज्ञाविषय में प्रायः करके [घञ्] घञ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अवतारः (उतरना)। अवस्तारः (कनात)॥

यहाँ से 'घञ्' की अनुवृत्ति ३।३।१२५ तक जायेगी ॥

हलश्च ॥३।३।१२१॥

हलः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—घञ्, पुंसि संज्ञायां प्रायेण, करणाधिकरणयोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—हलन्ताद् धातोः पुंसि करणाधिकरणयोः कारकयोः संज्ञायां विषये प्रायेण घञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—लेखः। वेदः। वेष्टः। बन्धः। मार्गः। अपामार्गः। वीमार्गः॥

भावार्थः—[हलः] हलन्त धातुओं से [च] भी संज्ञाविषय होने पर करण तथा अधिकरण कारक में पुंल्लिङ्ग में प्रायः करके घञ प्रत्यय होता है ॥ 'वेष्ट वेष्टने' धातु से घञ् होकर वेष्टः (कनात)। तथा 'मृजूष शुद्धौ' से मार्गः, अपामार्गः (चिरचिटा) बनेगा। वि उपपद रहते 'मृजूष्' धातु से वीमार्गः (वृक्ष विशेष) भी बनेगा। अपामार्गः वीमार्गः में उपसर्गस्य घञ्य० (६।३।१२०) से 'अप' और 'वि' को दीर्घ हो जाता है। चजोः कु० (७।३।५२) से कुत्व, तथा मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से यहाँ वृद्धि भी होती है ॥

अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च ॥३।३।१२२॥

अ···हाराः १।३॥ च अ० ॥ स०—अध्या० इत्यत्रेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—घञ, पुंसि संज्ञायां, करणाधिकरणयोः, धातोः, प्रत्ययः परश्च ॥ अर्थः—अध्याय, न्याय, उद्याव, संहार इत्येते घञन्ताः शब्दाः पुंल्लिङ्गयोः करणाधिकरणयोः कारकयोः संज्ञायां निपात्यन्ते ॥ अधीयतेऽस्मिन् अध्यायः। नीयन्तेऽनेन कार्याणीति न्यायः। उद्युवन्ति अस्मिन् = उद्यावः। संह्रियन्तेऽनेन संहारः॥

भावार्थः—[अध्या···हाराः] अधि पूर्वक इङ् धातु से अध्यायः, नि पूर्वक इण् धातु से न्यायः, उत् पूर्वक यु धातु से उद्यावः, तथा सम्पूर्वक हृ धातु से संहारः ये घञन्त शब्द [च] भी पुंल्लिङ्ग में करण तथा अधिकरण कारक संज्ञा में निपातन किये जाते हैं ॥ यहाँ भी वृद्धि आयादेशादि यथाप्राप्त जानें ॥ अधि इ अ, अधि ऐ अ, आयादेश तथा यणादेश होकर अध्यायः बना है ॥ उदा०—अध्यायः। न्यायः। उद्यावः (जहाँ सब इकट्ठे होते हैं)। संहारः (नाश, प्रलय)॥

उदङ्कोऽनुदके ॥३।३।१२३॥

उदङ्कः १।१॥ अनुदके ७।१॥ स०—न उदकम् अनुदकम्, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—घञ्, पुंसि संज्ञायाम्, करणाधिकरणयोः धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—

उदङ्क इति पुंसि निपात्यते अनुदके विषये, अधिकरणे कारके उत्पूर्वाद् अञ्चु धातोः घञ् निपातनाद् भवति ॥ उदा०—तैलस्य उदङ्कः तैलोदङ्कः । घृतोदङ्कः ॥

भाषार्थः—[अनुदके] उदक विषय न हो, तो पुंल्लिङ्ग में उत् पूर्वक अञ्चु धातु से घञ् प्रत्ययान्त [उदङ्कः] उदङ्क शब्द निपातन किया जाता है, अधिकरण कारक में संज्ञाविषय होने पर ॥ उदा०—तैलोदङ्कः (तेल का कुप्पा) । घृतोदङ्कः (घी का कुप्पा)॥ अञ्चु के च् को चजोः कु घि० (७।३।५२) से कुत्व हो गया है । च को कुत्व कर लेने पर ञ को न स्वतः हो जायेगा । तत्पश्चात् न को नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से अनुस्वार हो गया । तथा अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) से अनुस्वार को ङ् बनकर उदङ्कः बन गया । तैल तथा घृत के साथ उदङ्कः का षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है ॥

जालमानायः ॥३।३।१२४॥

जालम् १।१॥ आनायः १।१॥ अनु०—घञ्, पुंसि, संज्ञायां, करणे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—जालेऽभिधेये पुंल्लिङ्गे करणे कारके संज्ञायाम् आङ्पूर्वात् णीञ् धातोः घञ् निपात्यते—'आनायः' इति ॥ उदा०—आनयन्त्यनेनेति आनायो मत्स्यानाम् । आनायो मृगाणाम् ॥

भाषार्थः—[जालम्] जाल अभिधेय हो, तो आङ् पूर्वक नी धातु से करण कारक तथा संज्ञा में [आनायः] आनाय शब्द घञ् प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है ॥ उदा०—आनायो मत्स्यानाम् (मछलियों का जाल) । आनायो मृगाणाम् (मृगों का जाल) ॥

खनो घ च ॥३।३।१२५॥

खनः ५।१॥ घ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—घञ्, पुंसि संज्ञायाम्, करणाधिकरणयोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—खन धातोः पुंल्लिङ्गे करणाधिकरणयोः कारकयोः घः प्रत्ययो भवति संज्ञायाम्, चकारात् घञ् च ॥ उदा०—आखनन्त्यनेन अस्मिन् वा आखनः, आखानः ॥

भाषार्थः—[खनः] खन धातु से पुंल्लिङ्ग करणाधिकरण कारक संज्ञा में [घ] घ प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से घञ् भी होता है ॥ उदा०—आखनः । (फावड़ा), आखानः ॥ घञ् पक्ष में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होगी ॥

ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ॥३।३।१२६॥

ईषद्दुःसुषु ७।३॥ कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु ७।३॥ खल् १।१॥ स०—ईषच्च दुश्च सुश्च ईषद्दुःसवः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न कृच्छ्रम् अकृच्छ्रम्, नञ्तत्पुरुषः । कृच्छ्रञ्च

अकृच्छ्रञ्च कृच्छ्राकृच्छ्रे, कृच्छ्राकृच्छ्रेऽर्थौ येषां ते कृच्छ्राकृच्छ्रार्थाः, तेषु, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—ईषद्, दुर्, सु इत्येतेषूपपदेषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु धातोः खल् प्रत्ययो भवति ॥ कृच्छ्रम्=कष्टम् । अकृच्छ्रम्=सुखम्॥ **उदा०**—ईषत्करो भवता कटः । दुष्करः । सुकरः । ईषद्भोजः । दुर्भोजः । सुभोजः ॥

भाषार्थः—[कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु] कृच्छ्र अर्थवाले तथा अकृच्छ्र अर्थवाले [ईषद्दुःसुषु] ईषत् दुर् तथा सु ये उपपद हों, तो धातु से [खल्] खल् प्रत्यय होता है ॥ तयोरेव कृत्य० (३।४।७०) से भाव कर्म में ही ये खलर्थ प्रत्यय होते हैं ॥ दुर् शब्द कृच्छ्र, तथा ईषत् और सु अकृच्छ्र अर्थ में होते हैं ॥ उदा०—ईषत्करो भवता कटः (आपके द्वारा चटाई सुगमता से बनती है) । दुष्करः (कठिन) । सुकरः । ईषद्भोजः (सुगमता से खाना) । दुर्भोजः । सुभोजः ॥

यहाँ से 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु' की अनुवृत्ति ३।३।१३० तक, तथा 'खल्' की अनुवृत्ति ३।३।१२७ तक जायेगी ॥

कर्त्तृकर्मणोश्च भूकृञोः ॥३।३।१२७॥

कर्त्तृकर्मणोः ७।२॥ च अ० ॥ भूकृञोः ६।२॥ स०—कर्त्ता च कर्म च कर्त्तृकर्मणी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । भूश्च कृञ् च भूकृञौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—भू कृञ् इत्येताभ्यां धातुभ्यां यथासङ्ख्यं कर्त्तरि कर्मणि चोपपदे, चकाराद् कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु ईषद् दुर् सु इत्येतेषु चोपपदेषु खल् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—अनाढ्येन भवता ईषदाढ्येन शक्यं भवितुम्=ईषदाढ्यंभवं भवता । अनाढ्येन भवता दुराढ्येन शक्यं भवितुम्=दुराढ्यंभवं भवता । स्वाढ्यंभवं भवता । कर्मणि—अनाढ्यः ईषदाढ्यः क्रियते इति ईषदाढ्यंकरो देवदत्तः । दुराढ्यंकरः । स्वाढ्यंकरो देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[भूकृञोः] भू तथा कृञ् धातु से यथासङ्ख्य करके [कर्त्तृकर्मणोः] कर्त्ता एवं कर्म उपपद रहते, [च] चकार से कृच्छ्र अकृच्छ्र अर्थ में वर्त्तमान ईषद् दुः सु उपपद हों, तो भी खल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०–ईषदाढ्यंभवं भवता (धनाढ्य सुगमता से होने योग्य आप हो) दुराढ्यंभवं भवता (कठिनाई से धनाढ्य होने योग्य आप हो) । स्वाढ्यंभवं भवता । कर्मणि–ईषदाढ्यंकरो देवदत्तः (सुगमता से धनवान् बनाया जानेवाला देवदत्त) । दुराढ्यंकरः (कठिनाई से धनवान् बनाया जानेवाला) । स्वाढ्यंकरो देवदत्तः ॥ ईषद् आढ्य भू खल्=ईषदाढ्य भो अ, अरुर्द्विषद० (६।३।६५) से पूर्वपद को मुम् आगम तथा अवादेश होकर ईषदाढ्य मुम् भव सु=ईषदाढ्यंभवम् बना है । इसी प्रकार 'ईषदाढ्यंकरः' में कृ को गुण होकर सिद्धि जानें ॥

आतो युच् ॥३।३।१२८॥

आतः ५।१॥ युच् १।१॥ अनु०—ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेष्वीषदादिषूपपदेषु युच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः । ईषद्दानो गौर्भवता । दुर्दानः । सुदानः ॥

भाषार्थः—[आतः] आकारान्त धातुओं से कृच्छ्र अकृच्छ्र अर्थ में ईषदादि उपपद रहते [युच्] युच् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—ईषत्पानः सोमो भवता (आपके द्वारा सोमपान करना आसान है) । दुष्पानः (पीना कठिन है) । सुपानः । ईषद्दानो गौर्भवता (आपके द्वारा गोदान करना आसान है) । दुर्दानः (गोदान कठिन है) ।सुदानः ॥ पा तथा दा धातुएं आकारान्त हैं, सो सिद्धि में युच् प्रत्यय होकर 'यु' को अन हो गया है । ये सब खलर्थ प्रत्यय हैं, सो तयोरेव० (३।४।७०) से भाव कर्म में ही होंगे । अतः भवता में कर्त्तृकरण० (२।३।१८) से अनभिहित कर्त्ता में तृतीया हो गई है ॥

यहाँ से 'युच्' की अनुवृत्ति ३।३।१३० तक जायेगी ॥

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥३।३।१२९॥

छन्दसि ७।१॥ गत्यर्थेभ्यः ५।३॥ स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—युच्, ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेष्वीषदादिषूपपदेषु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सूपसदनोऽग्निः । सूपसदनमन्तरिक्षम् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [गत्यर्थेभ्यः] गत्यर्थक धातुओं से कृच्छ्र अकृच्छ्र अर्थों में ईषदादि उपपद हों, तो युच् प्रत्यय होता है ॥ 'सु उप षद्लृ यु', यु को अन, सु+उप को सवर्ण दीर्घ होकर सूपसदनः बन गया ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।३।१३० तक जायेगी ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥३।३।१३०॥

अन्येभ्यः ५।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ अनु०—छन्दसि, युच्, ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गत्यर्थेभ्योऽन्ये ये धातवस्तेभ्यः छन्दसि विषये कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेष्वीषदादिषूपपदेषु युच् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सुदोहनाम् अकृणोद् ब्रह्मणे गाम् । सुवेदनाम् अकृणोद् ब्रह्मणे गाम् ॥

भाषार्थः—वेदविषय में [अन्येभ्यः] गत्यर्थक धातुओं से अन्य जो धातुयें उनसे [अपि] भी कृच्छ्र अकृच्छ्र अर्थ में ईषदादि उपपद रहते युच् प्रत्यय [दृश्यते]

देखा जाता है ।। सु दुह घन टाप्=सुदोहना; सुविद घन टाप्=सुवेदना बनकर द्वितीया में सुदोहनाम् और सुवेदनाम् बन गया है । ये गत्यर्थक धातुयें नहीं हैं ।।

वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा ।।३।३।१३१।।

वर्त्तमानसामीप्ये ७।१ वर्त्तमानवत् अ० ।। वा अ० ।। समीपमेव सामीप्यम् । चातुर्वर्ण्यादीनाम्०(वा० ५।१।१२४) इत्यनेन वार्त्तिकेन स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः ।। स०—वर्त्तमानस्य सामीप्यं वर्त्तमानसामीप्यं, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । वर्त्तमाने इव वर्त्तमानवत्, तत्र तस्येव (५।१।११५)इति वतिः ।। अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—वर्त्तमानस्य समीपे यो भूतकालः भविष्यत्कालश्च तस्मिन् वर्त्तमानाद् धातोर्वर्त्तमानवत् प्रत्यया वा भवन्ति ।। वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३) इत्यारभ्य उणादयो बहुलम् (३।३।१)इति यावद् ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्त्तमानसमीपे भूते भविष्यति च भवन्ति ।। उदा०—देवदत्त कदाऽगतोऽसि ? अयमागच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । पक्षे—अयमागमम् । एषोऽस्मि आगतः, एष आगतवान् । भविष्यति—कदा देवदत्त गमिष्यसि? एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मां विद्धि । पक्षे—एष गमिष्यामि, एष गन्ताऽस्मि ।।

भाषार्थः—[वर्त्तमानसामीप्ये]वर्त्तमान के समीप, अर्थात् निकट के भूत निकट के भविष्यत्काल में वर्त्तमान धातु से [वर्त्तमानवत्] वर्त्तमानकाल के समान [वा] विकल्प से प्रत्यय होते हैं ।। वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३) से लेकर उणादयो० (३।३।१) तक 'वर्त्तमाने'के अधिकार में जो प्रत्यय कहे हैं, वे यहाँ निकट के भूत या भविष्यत् को कहने में विकल्प से विधान किये जाते हैं। पक्ष में भूत भविष्यत् के प्रत्यय भी हो जाते हैं ।। भूत अर्थ में आगच्छामि में लट् लकार, तथा आगच्छन्तम् में शतृ प्रत्यय हुआ है । इसी प्रकार भविष्यत् अर्थ में गच्छामि गच्छन्तम् वर्त्तमानकाल के प्रत्यय हुये हैं । पक्ष में लुङ् लकार, निष्ठा प्रत्यय भूतकाल के, तथा लृट् लुट् लकार भविष्यत् काल में हो जाते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि निकट के भूत या निकट के भविष्यत् में वक्ता वर्त्तमानकालिक प्रत्ययों का भी प्रयोग कर सकता है ।। उदा०—देवदत्त ! कदाऽगतोऽसि ? अयमागच्छामि (अभी आया था) । आगच्छन्तमेव मां विद्धि (मुझको आया ही समझें) । पक्ष में—अयमागमम् (अभी आया हूं) । एषोऽस्मि आगतः, एष आगतवान् । भविष्यत् में—कदा देवदत्त ! गमिष्यसि ? एष गच्छामि (अभी जाऊंगा) । गच्छन्तमेव मां विद्धि (मुझे गया हुआ ही समझें) । पक्ष में—एष गमिष्यामि (अभी जाऊंगा) । एष गन्ताऽस्मि ।।

यहाँ से 'वर्त्तमानवद्वा' की अनुवृत्ति ३।३।१३२ तक जायेगी ।।

आशंसायां भूतवच्च ।।३।३।१३२।।

आशंसायाम् ७।१।। भूतवत् अ० ।। च अ० । अनु०—वर्त्तमानवद्वा, धातोः,

प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थः—अप्राप्तस्येष्टपदार्थस्य प्राप्तुमिच्छा आशंसा, सा च भविष्यत्कालविषया भवति । तत्र भविष्यति काले आशंसायां गम्यमानायां धातोर्विकल्पेन भूतवत् प्रत्यया भवन्ति, चकाराद् वर्त्तमानवच्च ॥ उदा०—उपाध्यायश्चेद् आगमत् आगतः आगच्छति वा, वयं व्याकरणमध्यगीष्महि अधीतवन्तोऽधीमहे वा। पक्षे—उपाध्यायश्चेदागमिष्यति, वयं व्याकरणमध्येष्यामहे ॥

भाषार्थः—[आशंसायाम्] आशंसा गम्यमान होने पर धातु से [भूतवत्] भूतकाल के समान, [च] तथा वर्त्तमानकाल के समान भी विकल्प से प्रत्यय हो जाते हैं ॥ अप्राप्त प्रिय पदार्थ के प्राप्त करने की इच्छा को 'आशंसा' कहते हैं । वह भविष्यत्काल विषयवाली होती है। आशंसा गम्यमान होने पर भविष्यत्काल के ही प्रत्यय होने चाहियें,यहाँ विकल्प से भूतवत् प्रत्यय विधान कर दिये हैं ॥ सो पक्ष में भविष्यत्काल के समान प्रत्यय भी होंगे, चकार से वर्त्तमानवत् भी कर दिये हैं ॥ भूतवत् कहने से आगमत् अध्यगीष्महि में लुङ् लकार, तथा आगतः अधीतवन्तः में निष्ठा प्रत्यय हो गया हैं । वर्त्तमानवत् कहने से लट् लकार में आगच्छति अधीमहे बनेंगे । तथा विकल्प कहने से भविष्यत्काल में आगमिष्यति अध्येष्यामहे प्रयोग भी बन गये हैं ॥

परि० १।२।१ में अध्यगीष्ट की सिद्धि की है। उसी प्रकार अध्यगीष्महि बन गया ॥ 'आङ् अट गम् च्लि त' ऐसा पूर्ववत् होकर पुषादिद्युता० (३।१।५५) से च्लि को अङ् होकर आगमत् बन गया है । आगमिष्यति आदि की सिद्धि पूर्व कई बार दिखा चुके हैं, उसी प्रकार यहाँ समझें । आगतः में क्त प्रत्यय हुआ है । गम के अनुनासिक का लोप अनुदात्तोप० (६।४।३७) से हो जाता है । (१) उपाध्याय जी यदि आयेंगे (२) तो हम व्याकरण पढ़ लेंगे, ये दो वाक्य आशंसा दिखाने के लिये दिये हैं । दोनों वाक्यों की क्रियाओं में पूर्वोक्त प्रत्यय हो गये हैं ॥

यहाँ से 'आशंसायाम' की अनुवृत्ति ३।३।१३२ तक जायेगी ॥

क्षिप्रवचने लृट् ॥३।३।१३३॥

क्षिप्रवचने ७।१॥ लृट् १।१॥ स०—क्षिप्रस्य वचनम् क्षिप्रवचनम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आशंसायाम्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आशंसायां गम्यमानायां क्षिप्रवचन उपपदे धातोर्लृट् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वेण भूतवत् प्राप्ते लृट् विधीयते ॥ उदा०—उपाध्यायश्चेत् क्षिप्रं त्वरितम् आशु शीघ्रं वागमिष्यति, क्षिप्रं त्वरितं शीघ्रं वा व्याकरणमध्येष्यामहे ॥

भाषार्थः—[क्षिप्रवचने] क्षिप्रवचन=शीघ्रवाची शब्द उपपद हो, तो आशंसा गम्यमान होने पर धातु से [लृट्]लृट् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से आशंसा गम्यमान

होने पर भूतवत् प्रत्यय प्राप्त थे, यहाँ भविष्यत्काल का लृट् प्रत्यय हो गया है ॥ उदा०—उपाध्यायश्चेत् क्षिप्रं त्वरितम् आशु शीघ्रं वाऽऽगमिष्यति, क्षिप्रं त्वरितं शीघ्रं वा व्याकरणमध्येष्यामहे (उपाध्याय जी यदि शीघ्र आ जायेंगे, तो हम व्याकरण शीघ्र पढ़ लेंगे) ॥

आशंसावचने लिङ् ॥३।३।१३४॥

आशंसावचने ७।१॥ लिङ् १।१॥ आशंसा उच्यतेऽनेन आशंसावचनम् ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आशंसावचन उपपदे धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०— उपाध्यायश्चेदागच्छेत्, आशंसे अवकल्पये वा युक्तोऽधीयीय ॥

भावार्थः—[आशंसावचने] आशंसावाची शब्द उपपद हो, तो धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है ॥ आशंसा भविष्यत्काल विषयवाली होती है ॥ यह सूत्र आशंसायां० (३।३।१३२) का अपवाद है ॥ उदा०—उपाध्यायश्चेदाऽऽगच्छेत्, आशंसे अवकल्पये वा युक्तोऽधीयीय (उपाध्याय जी यदि आ जायेंगे तो आशा है लगकर पढ़ेंगे)। अधिपूर्वक इङ् धातु से उत्तम पुरुष का 'इट्' आकर लिङः सीयुट् (३।४।१०२) से सीयुट् आगम, तथा इटोऽत् (३।४।१०६) से इट् को 'अत्' आदेश होकर 'अधि इ सीय् अ' रहा। लिङः सलोपो० (७।२।७९) से सकार लोप, तथा अचि श्नु-धातु० (६।४।७७) से धातु को इयङ् आदेश होकर 'अधि इयङ् ईय् अ' सवर्ण दीर्घ होकर अधीय् ईय् अ=अधीयीय बन गया ॥

नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः ॥३।३।१३५॥

न अ० ॥ अनद्यतनवत् अ० ॥ क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः ७।२॥ स०—क्रियाणां प्रबन्धः क्रियाप्रबन्धः, षष्ठीतत्पुरुषः। क्रियाप्रबन्धश्च सामीप्यञ्च क्रियाप्रबन्धसामीप्ये, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्रियाप्रबन्धे सामीप्ये च गम्यमानेऽनद्यतनवत् प्रत्ययविधिर्न भवति ॥ भूतानद्यतने अनद्यतने लङ् (३।२।१११) इत्यनेन लङ् विहितः, भविष्यत्यनद्यतने च अनद्यतने लुट् (३।३।१५) इत्यनेन लुट् विहितस्तयोरयं प्रतिषेधः ॥ क्रियाप्रबन्धो नैरन्तर्येण क्रियाया अनुष्ठानम् ॥ उदा०—क्रियाप्रबन्धे—यावज्जीवं भृशमन्नम् अदात्। भृशमन्नं दास्यति। सामीप्ये—येयं प्रतिपद् अतिक्रान्ता तस्यां विद्युद् अपप्तत्। वृक्षमभैत्सीत्। मार्गमरौत्सीत्। योऽयं रविवासर आगामी तस्मिन् नगरान्तरं यास्यामः। धनं दास्यामः। पुस्तकं ग्रहीष्यामः॥

भावार्थ:—भूत अनद्यतनकाल में लङ्, तथा भविष्यत् अनद्यतन में लुट् का विधान किया है, उनका यह निषेध सूत्र है ॥ [क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः] क्रियाप्रबन्ध तथा

सामीप्य गम्यमान हो, तो धातु से [अनद्यतनवत्] अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि [न] नहीं होती है ।। क्रियाप्रबन्ध = निरन्तर किसी क्रिया का अनुष्ठान। सामीप्य = तुल्यजातीय काल का व्यवधान न होना ।। अनद्यतनवत् निषेध होने से सामान्य भूतकाल में कहा हुआ लुङ्, तथा सामान्य भविष्यत् काल में कहा हुआ लृट् प्रत्यय हो गया है ।। उदा०—क्रियाप्रबन्ध में—यावज्जीवं भृशमन्नम् अदात् (जब तक जिया निरन्तर अन्न का दान किया)। भृशमन्नं दास्यति । सामीप्य में—येयं प्रतिपद् अतिक्रान्ता तस्यां विद्युद् अपप्तत् (जो यह प्रतिपद् बीत गई, उसमें बिजली गिरी थी)। वृक्षमभैत्सीत् (वृक्ष को फाड़ दिया था)। मार्गमरौत्सीत् (मार्ग को रोक दिया था)। योऽयं रविवासर आगामी तस्मिन् नगरान्तरं यास्यामः (जो यह आगामी रविवार है, उसमें दूसरे शहर को जायेंगे)। धनं दास्यामः (धन देंगे)। पुस्तकं ग्रहीष्यामः पुस्तक लेंगे) ।। अपप्तत् में परि० ३।१।५२ के समान 'अ पत् अङ् त्' होकर पतः पुम् (७।४।१९) मिदचोऽन्त्यात्० (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे पुम् होकर 'अ प पुम् त् अङ् त्'=अपप्तत् बन गया। यहाँ च्लि के स्थान में अङ् पुषादिद्यु० (३।१।५५) से होगा। अभैत्सीत् अच्छैत्सीत् की सिद्धि परि० ३।१।५७ में देखें। अदात् में सिच् का लुक् गातिस्थाघु० (२।४।७७) से हुआ है ।।

यहाँ से 'नानद्यतनवत्' की अनुवृत्ति ३।३।१३८ तक जायेगी ।।

भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन् ।।३।३।१३६।।

भविष्यति ७।१।। मर्यादावचने ७।१।। अवरस्मिन ७।१।। मर्यादा उच्यतेऽनेन मर्यादावचनम् ।। अनु०—नानद्यतनवत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—मर्यादावचनेऽवरस्मिन् प्रविभागे भविष्यति काले धातोरनद्यतनवत् प्रत्ययविधिर्न भवति ।। उदा०—योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे । तत्र सक्तून् पास्यामः ।।

भाषार्थः—[अवरस्मिन्] अवर प्रविभाग अर्थात् इधर के भाग को लेकर [मर्यादावचने] मर्यादा कहनी हो, तो [भविष्यति] भविष्यत्काल में धातु से अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि नहीं होती है ।। अनद्यतन भविष्यत्काल में लुट् प्रत्यय प्राप्त था, उसका ही यहाँ निषेध है, अतः सामान्य भविष्यत् काल विहित लृट् हो गया है ।। उदा०—योऽयमध्वा गन्तव्यः आपाटलिपुत्रात्, तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे (जो यह मार्ग पाटलिपुत्र तक गन्तव्य है, उसका जो कौशाम्बी से इधर का भाग है, उसमें दो बार चावल खायेंगे)। तत्र सक्तून पास्यामः (वहाँ सत्तू पीयेंगे) ।। सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है ।। भुज् के ज् को चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व हुआ है। 'भुक् स्य महिङ्' यहाँ अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से दीर्घत्व, तथा षत्वादि होकर भोक्ष्यामहे बना है ।।

यहाँ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति ३।३।१३६ तक, 'मर्यादावचने' को ३।३।१३८ तक, एवं 'अवरस्मिन्' की ३।३।१३७ तक जायेगी ॥

कालविभागे चानहोरात्राणाम् ॥३।३।१३७॥

कालविभागे ७।१॥ च अ० ॥ अनहोरात्राणाम् ६।३॥ स०—कालस्य विभागः कालविभागः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । अहानि च रात्रयश्च अहोरात्राणि, न अहोरात्राणि अनहोरात्राणि, तेषाम्, द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—भविष्यति, मर्यादावचनेऽवरस्मिन्, नानद्यतनवत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कालमर्यादायामवरस्मिन् प्रविभागे सति भविष्यति काले धातोरनद्यतनवत् प्रत्ययविधिर्न भवति, न चेद् अहोरात्रसम्बन्धी विभागः, तत्र त्वनद्यतनवत् प्रत्ययविधिर्भवत्येव ॥ उदा०—योऽयं संवत्सर आगामी, तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे ॥

भावार्थः—[कालविभागे] कालकृत मर्यादा में अवर भाग को कहना हो, तो [च] भी भविष्यत् काल में धातु से अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि नहीं होती, यदि वह काल का मर्यादाविभाग [अनहोरात्राणाम्] अहोरात्र=दिन-रात सम्बन्धी न हो ॥ पूर्व सूत्र से ही निषेध सिद्ध था, यहाँ 'अनहोरात्राणाम्' में निषेध करने के लिये यह वचन है ॥ उदा०—योऽयं संवत्सर आगामी, तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे (जो यह आगामी वर्ष है, उसका जो अगहन पूर्णमासी से इधर का भाग है, उसमें लग कर पढ़ेंगे) । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे ॥

उदाहरण में आग्रहायणी कालवाची शब्द से अवर भाग की मर्यादा बाँधी है, सो अध्येष्यामहे में अनद्यतन भविष्यत्काल के लुट् का निषेध होकर पूर्ववत् लृट् प्रत्यय हो गया है ॥

यहाँ से 'कालविभागे चानहोरात्राणाम्' की अनुवृत्ति ३।३।१३८ तक जायेगी ॥

परस्मिन् विभाषा ॥३।३।१३८॥

परस्मिन् ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—कालविभागे चानहोरात्राणाम्, भविष्यति मर्यादावचने, नानद्यतनवत्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भविष्यति काले मर्यादावचने कालस्य परस्मिन् प्रविभागे सति धातोर्विकल्पेनानद्यतनवत् प्रत्ययविधिर्न भवति, न चेद् अहोरात्र-सम्बन्धी प्रविभागः ॥ उदा०—योऽयं संवत्सर आगामी, तत्र यत् परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे । पक्षे—अध्येतास्महे । तत्र सक्तून् पास्यामः, पातास्मो वा ॥

भावार्थः—भविष्यत्काल में काल के [परस्मिन्] परले भाग की मर्यादा को

कहना हो, तो अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि [विभाषा] विकल्प से नहीं होती, यदि वह कालविभाग अहोरात्र-सम्बन्धी न हो तो ॥ पूर्वसूत्र में कालकृत अवरप्रविभाग की मर्यादा में अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि का निषेध था, यहां परप्रविभाग को कहने में विकल्प से निषेध कर दिया है ॥ उदा०—योऽयं संवत्सर आगामी तत्र यन् परमाग्रहायण्यास्तत्रयुक्ता अध्येष्यामहे(जो यह आनेवाला साल है उसका जो अगहन पूर्णमासी से परला भाग है, उसमें लगकर पढ़ेंगे)। पक्ष में —अध्येतास्महे । तत्र सक्तून् पास्यामः, पातास्मो वा उसमें सत्तू पीवेंगे) ॥ विकल्प कहने से पक्ष में भविष्यत् काल का लुट् प्रत्यय होकर, 'अधि इ तास् महिङ्'=अधि ए तास् महे=अध्येतास्महे, तथा पातास्मः बन गया है ॥

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ॥३।३।१३९॥

लिङ्निमित्ते ७।१॥ लृङ् १।१॥ क्रियातिपत्तौ ७।१॥ स०—लिङो निमित्तं लिङ्निमित्तम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । क्रियाया अतिपत्तिः क्रियातिपत्तिः, तस्याम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—भविष्यति, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भविष्यति काले लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां धातोर्लृङ् प्रत्ययो भवति ॥ हेतुहेतुमतोर्लिङ् (३।३।१५६) इत्येवमादिकं लिङो निमित्तम् ॥ उदा०—दक्षिणेन चेदागमिष्यत्, न शकटं पर्याभविष्यत् । अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमासिष्यत ॥

भाषार्थः—भविष्यत्काल में [लिङ्निमित्ते] लिङ् का निमित्त होने पर [क्रियातिपत्तौ] क्रिया की अतिपत्ति=उल्लङ्घन अथवा क्रिया का सिद्धि न होना गम्यमान हो, तो धातु से [लृङ्] लृङ् प्रत्यय होता है ॥ हेतु (कारण) और हेतुमत् (फल=कार्य) लिङ् के निमित्त होते हैं । सो लिङ् निमित्त का अर्थ हुआ—हेतुहेतुमद्भाव ॥ उदा०—दक्षिणेन चेदागमिष्यत्, न शकटं पर्याभविष्यत् (यदि दक्षिण के रास्ते से आओगे, तो गाड़ी नहीं उलटेगी) । अभोक्ष्यत भवान् घृतेन, यदि मत्समीपमासिष्यत (यदि आप मेरे पास बैठोगे, तो घी से भोजन करोगे) ॥ उदाहरण में दक्षिण से आना तथा मेरे पास बैठना, यह हेतु है, छकड़े का न उलटना तथा घी से खाना, यह हेतुमत् है । वह दक्षिण से आयेगा ही नहीं, अतः छकड़ा टूट जायेगा, एवं मेरे पास रहेगा ही नहीं, अतः घी से न खा सकेगा (यह बात वक्ता ने किसी प्रकार जान ली) यह क्रियातिपत्ति=क्रिया का उल्लङ्घन है । सो उदाहरण आगमिष्यत् पर्याभविष्यत् आदि में लृङ् लकार हो गया है ॥ आगमिष्यत् में गमेरिट् पर० (७।२।५८)से इट् आगम होता है । 'परि आङ् अट् भू इट् स्य त्'=पर्या भो इष्य त्=पर्याभविष्यत् पूर्ववत् बन गया है ॥ आत्मनेपद में 'त' होकर अभोक्ष्यत आसिष्यत भी इसी प्रकार समझें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ३।३।१४१ तक जायेगी ॥

भूते च ॥३।३।१४०॥

भूते ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ पूर्वेण भविष्यति विहितोऽत्र भूतेऽपि विधीयते ॥ अर्थः—भूते लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां लृङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दृष्टो मया भवत्पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः, अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत्, तदा अभोक्ष्यत, न तु भुक्तवान् अन्येन पथा स गतः ॥

भाषार्थः—लिङ् का निमित्त हेतुहेतुमत् आदि हो, तो क्रियातिपत्ति होने पर [भूते] भूतकाल में [च] भी धातु से लृङ् प्रत्यय होता है ॥ पूर्वसूत्र से भविष्यत् काल में ही लृङ् प्राप्त था, यहां भूतकाल में भी विधान कर दिया है ॥ उदा०—दृष्टो मया भवत्पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः, अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत्, तदा अभोक्ष्यत, न तु भुक्तवान्, अन्येन पथा स गतः (मैंने अन्न के लिये इधर-उधर घूमते हुये आपके पुत्र को देखा था, तथा मैंने एक द्विज को देखा था, जो ब्राह्मण को भोजन कराने के लिये ढूंढ रहा था। यदि वह आपके पुत्र को देख लेता, तो खिला देता, पर नहीं खा सका, क्योंकि वह अन्य रास्ते से चला गया = दिखाई नहीं दिया) ॥ उदाहरण में 'यदि वह उसके द्वारा देखा जाता', यह हेतु है; 'तो खिला देता' यह हेतुमत् है, उसने देखा नहीं, अतः खिलाया नहीं, यह क्रियातिपत्ति है ॥ भूतकालता प्रदर्शित करने के लिये ही दृष्टो मया…आदि इतना बड़ा वाक्य दिखाया है ॥

यहां से 'भूते' की अनुवृत्ति ३।३।१४१ तक जायेगी ॥

वोताप्योः ॥३।३।१४१॥

वा अ० ॥ आ अ० ॥ उताप्योः ७।२॥ अनु०—लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ, भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उताप्योः समर्थयोर्लिङ् (३।३।१५२) इति सूत्रात् प्राक् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते विभाषा लृङ् भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—विभाषा कथमि लिङ् च (३।३।१४३) इत्यत्र कथं नाम तत्र भवान् ब्राह्मणम् अक्रोक्ष्यत् । यथाप्राप्तं 'क्रोशेत्' इति च ॥

भाषार्थः—[उताप्योः] उताप्योः समर्थयोर्लिङ् (३।३।१५२) से [आ] पहले-पहले जितने सूत्र हैं, उनमें लिङ् का निमित्त होने पर क्रिया की अतिपत्ति में भूतकाल में [वा] विकल्प से लृङ् प्रत्यय होता है। विभाषा कथमि लिङ् च (३।३।१४३) सूत्र में लिङ् का विधान है। अतः यहां प्रकृत सूत्र का अधिकार होने से पक्ष में भूतकाल क्रियातिपत्ति विवक्षा होने पर लृङ् भी हो गया। जहां लिङ् का सम्बन्ध नहीं होगा, वहां इस सूत्र का अधिकार नहीं बैठेगा ॥

'वा+आ' को सवर्णदीर्घ होकर 'वा' बना । पुनः वा+उताप्योः यहाँ आद् गुणः, (६।१।८४) लगकर वोताप्योः बना है ।। यहाँ पर आङ् मर्यादा में है, अभिविधि में नहीं ।।

गर्हायां लडपिजात्वोः ॥३।३।१४२॥

गर्हायाम् ७।१॥ लट् १।१॥ अपिजात्वोः ७।२॥ स०—अपिश्च जातुश्च अपि-जातू, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गर्हायां गम्यमानायाम् अपि, जातु इत्येतयोरुपपदयोः धातोर्लट् प्रत्ययो भवति ॥ कालत्रये लट् विधीयते ॥ उदा०—अपि तत्र भवान् मांसं खादति । जातु तत्र भवान् मांसं खादति, गर्हितमेतत् ॥

भावार्थः—वर्त्तमानकाल में लट् प्रत्यय कहा है, कालसामान्य (तीन कालों) प्राप्त नहीं था, अतः विधान कर दिया है ।। [गर्हायाम्] निन्दा गम्यमान हो, तो [अपिजात्वोः] अपि तथा जातु उपपद रहते धातु से [लट्] लट् प्रत्यय होता है ।। उदा०—अपि तत्र भवान् मांसं खादति, जातु तत्र भवान् मांसं खादति, गर्हित-मेतत् (क्या आप मांस खाते हैं, खाया था, वा खायेंगे, यह बड़ा निन्दित कर्म है)।।

किसी कालविशेष में ये लकार नहीं कहे गये हैं । अतः इस सारे प्रकरण में कहे गये प्रत्यय भूत भविष्यत् वर्त्तमान तीनों ही कालों में होते हैं । सो विवक्षाधीन उदा-हरणों के अर्थ लगा लेने चाहियें ।।

यहां से 'गर्हायाम्' की अनुवृत्ति ३।३।१४४, तथा 'लट्' की अनुवृत्ति ३।३।१४३ तक जायेगी ।।

विभाषा कथमि लिङ् च ॥३।३।१४३॥

विभाषा १।१॥ कथमि ७।१॥ लिङ् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—गर्हायाम्, लट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गर्हायां गम्यमानायां कथंशब्द उपपदे धातोः लिङ् प्रत्ययो विकल्पेन भवति, चकारात् लट् च । पक्षे स्वस्वकाले विहिताः सर्वे लकारा भवन्ति ॥ उदा०—कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशेत् । चकारात् लट्—कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशति । पक्षे स्वस्वकाले सर्वे लकाराः—कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोक्ष्यति (लृट्)। कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोष्टा (लुट्)। कथं नाम भवान् ब्राह्म-णमक्रोशत् (लङ्)। कथं नाम भवान् ब्राह्मणं चुक्रोश (लिट्)। कथं नाम भवान् ब्राह्मणमक्रुक्षत् (लुङ्) । अस्मिन् सूत्रे लिङ्निमित्तमस्त्यतो भूतविवक्षायां क्रियाति-पत्तौ सत्यां वोताप्योः (३।३।१४१) इत्यनेन लुङपि भविष्यति ॥

भावार्थः—गर्हा गम्यमान हो, तो [कथमि] कथम् शब्द उपपद रहते [विभाषा] विकल्प करके [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से लट् प्रत्यय

भी होता है। पक्ष में अपने-अपने काल में विहित सारे ही लकार होते हैं॥ उदा०— कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशेत् (कैसे आप ब्राह्मण को डांटते हैं, डांटा, वा डांटेंगे)॥ शेष उदाहरण संस्कृत भाग के अनुसार जान लें। इस सूत्र में लिङ् का निमित्त है, अतः क्रियातिपत्ति में भूत काल की विवक्षा में लृङ् भी पक्ष में होगा— अक्रोक्ष्यत् बनेगा॥

किंवृत्ते लिङ्लृटौ ॥३।३।१४४॥

किंवृत्ते ७।१॥ लिङ्लृटौ १।२॥ स०—किमो वृत्तं किंवृत्तम्, तस्मिन्, षष्ठी० तत्पुरुषः। लिङ् च लृट् च लिङ्लृटौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—गर्हायाम्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—किंवृत्त उपपदे धातोः गर्हायां गम्यमानायां लिङ्लृटौ प्रत्ययौ भवतः॥ उदा०—को नाम यो विद्यां निन्देत्। को नाम यो विद्यां निन्दिष्यति। कतरो विद्यां निन्देत्। कतरो विद्यां निन्दिष्यति॥ क्रियातिपत्तौ सत्यां लृङपि भवति वोताप्यो. (३।३।४१) इत्यनेन॥

भावार्थः—[किंवृत्ते] किंवृत्त उपपद हो, तो गर्हा गम्यमान होने पर धातु से [लिङ्लृटौ] लिङ् तथा लृट् प्रत्यय होते हैं॥ किंवृत्त से यहां सर्वविभक्त्यन्त किम् शब्द, तथा इतर डतम प्रत्ययान्त किम् शब्द लिया जाता है॥ उदा० - को नाम यो विद्यां निन्देत् (कौन है जो विद्या की निन्दा करता है, करेगा, वा की थी)॥ शेष उदाहरण संस्कृतानुसार जान लें। लिङ् प्रत्यय होने से भूतकाल विवक्षा में क्रियातिपत्ति में वोताप्योः (३।३।१४१) से लृङ् भी होगा, सो 'अनिन्दिष्यत्' भी बनेगा॥ यह सब लकारों का अपवाद है॥

यहां से 'लिङ्लृटौ' की अनुवृत्ति ३।३।१४५ तक जायेगी॥

अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि ॥३।३।१४५॥

अनव···योः ७।२॥ अकिंवृत्ते ७।१॥ अपि अ०॥ स०—अनवक्लृप्तिः, अमर्षः इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः। अनवक्लृप्तिश्च अमर्षश्च अनवक्लृप्त्यमर्षौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—लिङ्लृटौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—अनवक्लृप्ति अमर्ष इत्येतयोर्गम्यमानयोः किंवृत्तेऽकिंवृत्ते चोपपदे धातोः लिङ्लृटौ प्रत्ययौ भवतः॥ अनवक्लृप्तिः=असंभावना। अमर्षः=अक्षमा॥ उदा०—नावकल्पयामि न संभावयामि न श्रद्दधे तत्र भवान् मांसं भुञ्जीत, मांसं भोक्ष्यते। किंवृत्तेऽपि—को नाम तत्र भवान् मांसं भुञ्जीत नावकल्पयामि। को नाम तत्र भवान् मांसं भोक्ष्यते। अमर्षे—न मर्षयामि तत्र भवान् विद्यां निन्देत्, तत्र भवान विद्यां निन्दिष्यति। किंवृत्तेऽपि—कदाचित् भवान् विद्यां निन्देत् न मर्षयामि, कदाचित् निन्दिष्यति वा। भूतविवक्षायां वोताप्योः (३।३।१४१) इत्यनेन लृङपि भवति॥

भावार्थः—[अन···र्षयोः] अनवक्लृप्ति=असम्भावना, अमर्ष=सहन न

करना गम्यमान हो, तो [अकिंवृत्ते] किंवृत्त उपपद न हो [अपि] या किंवृत्त उपपद हो, तो भी धातु से कालसामान्य में सब लकारों के अपवाद लिङ् तथा लृट् प्रत्यय होते हैं ।। भूत क्रियातिपत्ति विवक्षा में लृङ् भी पक्ष में होगा ।। उदा०—नावकल्पयामि न सम्भावयामि न श्रद्दधे तत्र भवान् मांसं भुञ्जीत, मांसं भोक्ष्यते (मैं सोच भी नहीं सकता कि मांस खाते हैं) । अमर्ष में – न मर्षयामि तत्र भवान् विद्यां निन्देत् (मैं सहन नहीं कर सकता कि आप विद्या की निन्दा करते हैं) ।। शेष उदाहरण संस्कृत भाग के अनुसार जान लें । यहां यथासंख्य नहीं होता है ।।

भुज धातु रुधादि गण की है, सो श्नम् होकर 'भु श्नम् ज् सीयुट् सुट् त' बनकर श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से श्नम् के अ का लोप, तथा लिङः सलोपोऽन० (७।२।७६) से दोनों सकारों का लोप होकर 'भुन् ज् ईय् त' रहा । लोपो व्यो० (६।१।६४) से ईय् के य् का लोप होकर भुन्जीत बना । नश्चापदा० (८।३।२४) एव अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) से न् को ञ् होकर भुञ्जीत बना है ।।

यहां से 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोः' की अनुवृत्ति ३।३।१४८ तक जायेगी ।।

किंकिलास्त्यर्थेषु लृट् ।।३।३।१४६।।

किंकिलास्त्यर्थेषु ७।३।। लृट् १।१।। स०—अस्ति अर्थो येषां तेऽस्त्यर्थाः, बहुव्रीहिः । किंकिलश्च अस्त्यर्थाश्च किंकिलास्त्यर्थाः, तेषु इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—अनवक्लृप्त्यमर्षयोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्गम्यमानयोः किंकिल-अस्त्यर्थेषु चोपपदेषु धातोः लृट् प्रत्ययो भवति ।। 'किंकिल' इति क्रोधद्योतकः समुदायो गृह्यते ।। उदा०—न संभावयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति । न मर्षयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति । अस्त्यर्थेषु—न सम्भावयामि न मर्षयामि अस्ति नाम भवान् मां त्यक्ष्यति । विद्यते भवति वा नाम तत्र भवान् मां त्यक्ष्यति ।।

भावार्थः—अनवक्लृप्ति तथा अमर्ष गम्यमान हों, तो [किंकिलास्त्यर्थेषु] किंकिल तथा अस्ति अर्थ वाले पदों के उपपद रहते धातु से [लृट्] लृट् प्रत्यय होता है ।। अस्ति, भवति, विद्यते यह सब अस्त्यर्थक पद हैं । किंकिल यह क्रोध का द्योतन करने अर्थ में वर्त्तमान समुदायरूप शब्द है ।। उदा०—न सम्भावयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति (मैं सोच भी नहीं सकता कि आप धान्य नहीं देंगे, दिया या देते हैं) । न सम्भावयामि न मर्षयामि वा अस्ति नाम भवान् मां त्यक्ष्यति (मैं सोच नहीं सकता वा सहन नहीं कर सकता कि आप मुझे छोड़ देंगे)।। शेष उदाहरण संस्कृतानुसार जान लें । उदाहरण में दा तथा त्यज् धातु से लृट् प्रत्यय हुआ है । त्यज् के ज् को कुत्व होकर त्यक् स्य ति, षत्व होकर त्यक्ष्यति बना है ।।

जातुयदोर्लिङ् ॥३।३।१४७॥

जातुयदो: ७।२॥ लिङ् १।१॥ स०—जातुश्च यत् च, जातुयदौ, तयो:, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—अनवक्लृप्त्यमर्षयो:, धातो: प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्गम्यमानयो: जातुयदोरुपपदयो: धातो: लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—न संभावयामि जातु भवान् धर्मं त्यजेत्, यद् भवान् धर्मं त्यजेत् । अमर्षे—न मर्षयामि न सहे, जातु भवान् ब्राह्मणं सदाचारिणं हन्यात्, यद् भवान् ब्राह्मणं सदाचारिणं हन्यात् । भूते क्रियातिपत्तौ पक्षे लृङपि भविष्यति ॥

भावार्थ: अनवक्लृप्ति अमर्ष अभिधेय हो, तो [जातुयदो:] जातु तथा यद् उपपद रहते धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—न संभावयामि जातु भवान् धर्मं त्यजेत् यद् भवान् धर्मं त्यजेत् (मैं सोच नहीं सकता कि आप कभी धर्म छोड़ देंगे) । अमर्ष में—न मर्षयामि न सहे, जातु भवान् ब्राह्मणं सदाचारिणं हन्यात्, यद् भवान् ब्राह्मणं सदाचारिणं हन्यात् (मैं सहन नहीं कर सकता कि आप सदाचारी ब्राह्मण को मारेंगे) ॥ भूत क्रियातिपत्ति विवक्षा में पक्ष में बोताध्यो: से लृङ् भी होगा, सो अत्यक्ष्यत् बनेगा ॥

यहाँ से 'लिङ्' की अनुवृत्ति ३।३।१५० तक जायेगी ॥

यच्चयत्रयो: ॥३।३।१४८॥

यच्चयत्रयो: ७।२॥ स०—यच्च च, यत्र च यच्चयत्रौ, तयो:, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—लिङ्, अनवक्लृप्त्यमर्षयो:, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्गम्यमानयो:, यच्च यत्र इत्येतयोरुपपदयो: धातो: लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—न संभावयामि यच्च भवद्विधोऽनृतं वदेत् यत्र भवद्विधोऽनृतं वदेत् । न मर्षयामि न सहे, यच्च भवद्विधोऽनृतं वदेत्, यत्र भवद्विधोऽनृतं वदेत् । भूते क्रियातिपत्तौ वा लृङपि भविष्यति ॥

भावार्थ:—अनवक्लृप्ति अमर्ष गम्यमान हो, तो [यच्चयत्रयो:] यच्च, यत्र ये अव्यय उपपद रहते, धातु से लिङ् प्रत्यय होता है ॥ भूत क्रियातिपत्ति में पक्ष में लृङ् भी होगा ॥ उदा०—न संभावयामि यच्च भवद्विधोऽनृतं वदेत् (मैं सोच भी नहीं सकता कि आप जैसे झूठ बोल देंगे) ॥ वदेत् की सिद्धि परि० ३।१।६८ के पठेत् के समान जानें ॥

यहाँ से 'यच्चयत्रयो:' की अनुवृत्ति ३।३।१५० तक जायेगी ॥

गर्हायाञ्च ॥३।३।१४६॥

गर्हायाम् ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—यच्चयत्रयोः, लिङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—गर्हायां=निन्दायां गम्यमानायां यच्च, यत्र इत्येतयोरुपपदयोः धातोः लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यच्च भवान् मांसं खादेत्, यत्र भवान् मांसं खादेत्, अहो गर्हितमेतत् । भूते क्रियातिपत्तौ वा लृङपि भविष्यति ॥

भाषार्थः—[गर्हायाम्] गर्हा गम्यमान हो, तो [च] भी यच्च यत्र उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् भूत क्रियातिपत्ति में विकल्प से लृङ् भी होगा ॥ उदा०—यच्च भवान् मांसं खादेत्, यत्र भवान् मांसं खादेत्, अहो गर्हितमेतत् (जो आप मांस खाते हैं, यह बड़ी निन्दित बात है) । खादेत् की सिद्धि परि० ३।१।६८ पठेत् के समान जानें ॥

चित्रीकरणे च ॥३।३।१५०॥

चित्रीकरणे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—यच्चयत्रयोः, लिङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—चित्रीकरणम् आश्चर्यं, तस्मिन् गम्यमाने यच्च यत्र इत्येतयोरुपपदयोः धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यच्च भवान् वेदविद्यां निन्देत्, यत्र भवान् वेदविद्यां निन्देत्, आश्चर्यमेतत्, बुद्धिमान् सज्जनोऽपि सन् । भूते क्रियातिपत्तौ वा लृङपि भविष्यति ॥

भाषार्थः—[चित्रीकरणे] चित्रीकरण=आश्चर्य गम्यमान हो तो [च] भी यच्च, यत्र उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय होता है ॥ भूत क्रियातिपत्ति विवक्षा में पक्ष में लृङ् भी होगा ॥ उदा०—यच्च भवान् वेदविद्यां निन्देत्, यत्र भवान् वेदविद्यां निन्देत्, आश्चर्यमेतत् बुद्धिमान् सज्जनोऽपि सन् (बुद्धिमान् और सज्जन होते हुये भी जो आप वेद विद्या की निन्दा करते हैं, यह आश्चर्य है) ॥

यहाँ से 'चित्रीकरणे' की अनुवृत्ति ३।३।१५१ तक जायेगी ॥

शेषे लृडयदौ ॥३।३।१५१॥

शेषे ७।१॥ लृट् १।१॥ अयदौ ७।१॥ स०—न यदिः अयदिः तस्मिन्...नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—चित्रीकरणे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यच्चयत्राभ्यामन्यो यः स शेषः, तस्मिन्नुपपदे चित्रीकरणे गम्यमाने धातोः लृट् प्रत्ययो भवति, यदि शब्दश्चेत् न प्रयुज्यते ॥ उदा०—अन्धो नाम मार्गे क्षिप्रं यास्यति, बधिरो नाम व्याकरणं पठिष्यति, आश्चर्यमेतत् ॥

भाषार्थः—यच्च यत्र की अपेक्षा से यहाँ शेष लिया गया है ॥ [अयदौ] यदि

का प्रयोग न हो और [शेषे] यच्च यत्र से भिन्न शब्द उपपद हो, तो चित्रीकरण गम्यमान होने पर धातु से [लृट्] लृट् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अन्धो नाम मार्गं क्षिप्रं यास्यति, बधिरो नाम व्याकरणं पठिष्यति, आश्चर्यमेतत् (अन्धा जल्दी-जल्दी मार्ग में चलेगा, तथा बहरा व्याकरण पढ़ेगा, पढ़ता है, अथवा पढ़ा, यह आश्चर्य की बात है) ॥

उताप्योः समर्थयोर्लिङ् ॥३।३।१५२॥

उताप्योः ७।२॥ समर्थयोः ७।२॥ लिङ् १।१॥ स०—उतश्च अपिश्च, उतापी, तयोः⋯इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ समानः अर्थो ययोः तौ समर्थौ, तयोः⋯बहुव्रीहिः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उत, अपि इत्येतयोः समर्थयोः=समानार्थयोरुपपदयोः धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उत कुर्यात्, अपि कुर्यात् । उत पठेत्, अपि पठेत् ॥

भाषार्थः—[उताप्योः] उत, अपि [समर्थयोः] समानार्थक उपपद हों, तो धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है ॥ बाढम्=हाँ अर्थ में उत अपि समानार्थक होते हैं. यो ताप्योः का अधिकार यहाँ समाप्त हो जाने से अब वह सम्बन्धित नहीं होगा । अत उत् सार्वधातुके (६।४।११०) लगकर कुर्यात् बन गया, शेष पूर्ववत् समझें ॥ उदा० — उत कुर्यात् (हाँ करे) । अपि कुर्यात् (हाँ करे) । उत पठेत् (हाँ पढ़े) । अपि पठेत् (हाँ पढ़े) ॥

यहाँ से 'लिङ्' की अनुवृत्ति ३।३।१५५ तक जायेगी ॥

कामप्रवेदनेऽकच्चिति ॥३।३।१५३॥

कामप्रवेदने ७।१॥ अकच्चिति ७।१॥ स०—कामस्य=इच्छायाः प्रवेदनं=प्रकाशनं, कामप्रवेदनं, तस्मिन् ⋯ षष्ठीतत्पुरुषः । न कच्चित् अकच्चित्, तस्मिन्⋯ नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लिङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कामप्रवेदने=स्वाभिप्रायप्रकाशने गम्यमाने धातोरकच्चित्शब्द उपपदे लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कामो मे भुञ्जीत भवान्, अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान् ॥

भावार्थः—[कामप्रवेदने] अपने अभिप्राय का प्रकाशन करना गम्यमान हो और [अकच्चिति] कच्चित् शब्द उपपद में न हो तो धातु से लिङ् प्रत्यय होता है ॥ काम=इच्छा, प्रवेदन=प्रकाशन ॥ उदा०—कामो मे भुञ्जीत भवान् (मेरी इच्छा है, कि आप भोजन करें) । अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान् ॥ ३।३।१४५ सूत्र में भुञ्जीत की सिद्धि देखें ॥

सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे ॥३।३।१५४॥

सम्भावने ७।१॥ अलम् अ० ॥ इति अ० ॥ चेत् अ० ॥ सिद्धाप्रयोगे ७।१॥ स०—न प्रयोगः, अप्रयोगः नञ्तत्पुरुषः। सिद्धोऽप्रयोगो यस्य स सिद्धाप्रयोगः (अलम् शब्दः), तस्मिन्…बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लिङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सम्भावनम्=क्रियासु शक्तेः निश्चयः। अलंशब्दोऽत्र समर्थवाची। सम्भावनम् अलमर्थेन विशेष्यते। अलं पर्याप्तम् इति सम्भावनेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति, सिद्धश्चेद् अलमोऽप्रयोगः॥ यत्र गम्यते चार्थो न चानो प्रयुज्यते स सिद्धाप्रयोगः ॥ उदा०—अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात्। अपि वृक्षं हस्तेन त्रोटयेत् ॥

भाषार्थः—[अलम्इति] पर्याप्त विशिष्ट [सम्भावने] सम्भावन अर्थ में वर्त्तमान धातु से लिङ् प्रत्यय होता है, [चेत्] यदि अलम् शब्द का [सिद्धाप्रयोगे] अप्रयोग सिद्ध हो रहा हो, अर्थात् अलम् समर्थवाची शब्द के प्रयोग के बिना ही समर्थता की प्रतीति हो रही हो। सम्भावना=क्रियाओं में शक्ति के निश्चय को कहते हैं ॥ अलं शब्द यहां समर्थवाची है ॥ जहाँ किसी अर्थ की प्रतीति तो हो रही हो पर उस शब्द का प्रयोग न हो रहा हो, उसे सिद्ध+अप्रयोग=सिद्धाप्रयोग कहते हैं ॥ उदा०—अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात् (यह तो सिर से पर्वत तोड़ सकता है) अपि वृक्षं हस्तेन त्रोटयेत् (यह तो हाथ से वृक्ष तोड़ सकता है)। उदाहरण में अलं शब्द का प्रयोग नहीं है, पर अर्थ की प्रतीति हो रही है, सम्भावना की जा रही है सो भिद् धातु से लिङ् प्रत्यय हो गया है। रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८) से भिन्द्यात् में श्नम् विकरण होता है ॥

यहाँ से सारे सूत्र की अनुवृत्ति ३।३।१५५ तक जायेगी ॥

विभाषा धातौ सम्भावनवचनेऽयदि ॥३।३।१५५॥

विभाषा १।१॥ धातौ ७।१॥ सम्भावनवचने ७।१॥ अयदि ७।१॥ स०—न यद् अयद्, तस्मिन्—नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे, लिङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ सम्भावनमुच्यतेऽनेन स सम्भावनवचनः, तस्मिन्…॥ अर्थः—सम्भावनवचने धातावुपपदे यच्छब्दवर्जिते सिद्धाप्रयोगेऽलमर्थे सम्भावने धातोर्विभाषा लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सम्भावयामि भुञ्जीत भवान्, अवकल्पयामि भुञ्जीत भवान्। पक्षे लृट्—सम्भावयामि भोक्ष्यते भवान्, अवकल्पयामि भोक्ष्यते भवान् ॥

भाषार्थः—[सम्भावनवचने] सम्भावन अर्थ को कहनेवाला [धातौ] धातु उपपद हो तो [अयदि] यत् शब्द उपपद न होने पर, सम्भावन अर्थ में वर्त्तमान धातु से [विभाषा] विकल्प से लिङ् प्रत्यय होता है, यदि अलम् शब्द का अप्रयोग सिद्ध

हो ।। सम्भावना भविष्यत् काल विषय वाली होती है, अतः पक्ष में सामान्य भविष्यत् काल का प्रत्यय लृट् हो गया है ।। उदा०—सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् (मैं सम्भावना करता हूं कि आप खावेंगे) । शेष उदाहरण संस्कृतानुसार जान लें ।। उदाहरण में सम्भावयामि अवकल्पयामि सम्भावनवचन धातु उपपद हैं, अलम् शब्द का अप्रयोग सिद्ध है ही तो भुज् धातु से लिङ् तथा पक्ष में लृट् प्रत्यय हुआ है ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ३।३।१५६ तक आयेगी ।।

हेतुहेतुमतोर्लिङ् ।।३।३।१५६।।

हेतुहेतुमतोः ७।२। लिङ् १।१।। स०—हेतुश्च हेतुमत् च, हेतुहेतुमती तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—विभाषा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—हेतुः= कारणम्, हेतुमत् = फलम् । हेतुभूते हेतुमति चार्थे वर्त्तमानाद् धातोर्विभषा लिङ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—दक्षिणेन चेद् यायात्, न शकटं पर्याभवेत् । यदि कमलकमाह्वयेत् न शकटं पर्याभवेत् । पक्षे लृडपि—दक्षिणेन चेद् यास्यति, न शकटं पर्याभविष्यति ।।

भाषार्थः—[हेतुहेतुमतोः] हेतु और हेतुमत् अर्थ में वर्त्तमान धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय विकल्प से होता है ।। 'भविष्यदधिकारे' इस महाभाष्य के वार्तिक से लिङ् प्रत्यय (इस सूत्र से हेतु हेतुमत् में विहित) भविष्यत् काल में ही होता है, अतः पक्ष में लृट् सामान्य भविष्यत् का ही उदाहरण दिया है ।। उदा०—दक्षिणेन चेद् यायात्, न शकटं पर्याभवेत् (यदि दक्षिण के रास्ते से जाये, तो छकड़ा न टूटे) । यदि कमलकमाह्वयेत् न शकटं पर्याभवेत् (यदि कमलक को बुला ले,) तो छकड़ा न टूटे) । पक्ष में लृट् का उदाहरण संस्कृतानुसार जानें ।। उदाहरण में दक्षिण से जाना एवं कमलक को बुलाना हेतु है, तथा छकड़े का टूटना हेतुमत् है ।। सिद्धियाँ पूर्ववत् हैं ।।

इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ ।।३।३।१५७।।

इच्छार्थेषु ७।३।। लिङ्लोटौ १।२।। स०—इच्छा अर्थो येषां ते, इच्छार्थास्तेषु, बहुव्रीहिः । लिङ् च लोट् च लिङ्लोटौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—इच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोर्लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः ।। उदा०—इच्छामि भुञ्जीत भवान् । इच्छामि भुङ्क्तां भवान् । कामये भुञ्जीत भवान् । कामये भुङ्क्तां भवान् ।।

भाषार्थः—[इच्छार्थेषु] इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते [लिङ्लोटौ] लिङ् तथा लोट प्रत्यय होते हैं ।। उदा०—इच्छामि भुञ्जीत भवान् (मैं चाहता हूं

कि आप भोजन करें) । इच्छामि भुङ्क्तां भवान्, कामये भुञ्जीत भवान्, कामये भुङ्क्तां भवान् ।। भुञ्जीत की सिद्धि ३।३।१४५ सूत्र पर देखें ।। लोट् लकार में पूर्ववत् सब कार्य होकर 'भुन् ज् त' रहा। टित आत्मने० (३।४।७९) से टि का एत्व होकर 'भुन्ज् ते' बना पुन: आमेत: (३।४।९०) से ए को आम्, चो: कु: से कुत्वादि पूर्ववत् होकर भुङ्क्ताम् बन गया ।।

यहाँ से 'इच्छार्थेषु' की अनुवृत्ति ३।३।१५९ तक जायेगी ।।

समानकर्त्तृकेषु तुमुन् ।।३।३।१५८।।

समानकर्त्तृकेषु ७।३।। तुमुन् १।१।। स०—समान: कर्त्ता येषां, ते समानकर्त्तृकास्तेषु, बहुव्रीहि: ।। अनु० – इच्छार्थेषु, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ।। अर्थ:—समानकर्त्तृकेष्विच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—देवदत्त इच्छति भोक्तुम् । कामयते भोक्तुम् । वाञ्छति भोक्तुम् । वष्टि भोक्तुम् ।।

भाषार्थ:—[समानकर्त्तृकेषु] समान हैं कर्त्ता जिनका ऐसी इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते धातु से [तुमुन्] तुमुन् प्रत्यय होता है ।। उदा०—देवदत्त इच्छति भोक्तुम् (देवदत्त खाना चाहता है) । कामयते भोक्तुम् (खाना चाहता है) । वाञ्छति भोक्तुम्, वष्टि भोक्तुम् ।। उदाहरण में इच्छति, कामयते आदि इच्छार्थक धातुएं उपपद हैं, इच्छा करने का कर्त्ता तथा खाने का कर्त्ता भी यही एक देवदत्त है, सो समानकर्त्तृक धातु उपपद है, अत: भुज् धातु से तुमुन् प्रत्यय हो गया है । चो: कु: (८।२।३०) से ज् को ग् होकर तथा खरि च (८।४।५४) से क् होकर भोक्तुम् बना है । कृन्मेजन्त: (१।१।३८)से अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुप: (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो गया है ।।

यहाँ से 'समानकर्त्तृकेषु' की अनुवृत्ति ३।३।१५९ तक जायेगी ।।

लिङ् च ।।३।३।१५९।।

लिङ् १।१।। च अ० ।। अनु०—समानकर्त्तृकेषु, इच्छार्थेषु, धातो:, प्रत्यय:, परश्च ।। अर्थ:—समानकर्त्तृकेष्विच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—भुञ्जीय इति इच्छति । अधीयीय इति अभिलषति ।।

भाषार्थ:—समानकर्त्तृक इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय [च] भी होता है ।। उदा०—भुञ्जीय इति इच्छति (खाऊं ऐसा चाहता है) ।। भुञ्जीय में ३।३।१४५ सूत्र के समान सब कार्य होकर उत्तम पुरुष का इट् आकर इटोऽत् (३।४।१०६) लगकर भुञ्ज् ईय् अ=भुञ्जीय बन गया ।। अधीयीय की सिद्धि ३।३।१३४ सूत्र पर देखें ।।

यहाँ से 'लिङ्' की अनुवृत्ति ३।३।१६० तक जायेगी ।।

इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्त्तमाने ॥३।३।१६०॥

इच्छार्थेभ्यः ५।३॥ विभाषा १।१॥ वर्त्तमाने ७।१॥ स०—इच्छा अर्थो येषां ते इच्छार्थास्तेभ्यः बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लिङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इच्छार्थेभ्यो धातुभ्यो वर्त्तमाने काले विभाषा लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ वर्त्तमाने काले नित्यं लटि प्राप्ते. विकल्पेन लिङ् विधीयते, अतः पक्षे लट् भवति ॥ उदा०—इच्छेत्, कामयेत, वाञ्छेत् । पक्षे—इच्छति, कामयते, वाञ्छति ॥

भाषार्थः—[इच्छार्थेभ्यः] इच्छार्थक धातुओं से [वर्त्तमाने] वर्त्तमान काल में [विभाषा] विकल्प से लिङ् प्रत्यय होता है, पक्ष में वर्त्तमान काल का लट् प्रत्यय भी होता है ॥ उदा०—इच्छेत् (चाहता है) ॥ सिद्धि परि० ३।१।६८ के पठेत् के समान जानें । कामयते मे इतना विशेष है कि, कमेर्णिङ् (३।१।३०) से कम् धातु से णिङ् प्रत्यय तथा वृद्धि आदि होकर 'कामि' धातु बनी । पुनः सब कार्य पूर्ववत् ही होकर तथा गुण, अयादेशादि होकर 'कामय इ त=कामयेत बना । कामयते में भी ऐसा समझें ॥

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ॥३।३।१६१॥

विधि······प्रार्थनेषु ७।३॥ लिङ् १।१॥ स०—विधिश्च निमन्त्रणञ्च आमन्त्रणञ्च अधीष्टश्च सम्प्रश्नश्च प्रार्थनञ्च, विधिनि···प्रार्थनानि, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—विधिः=आज्ञाप्रदानं, प्रेरणम् । निमन्त्रणम्=नियतरूपेण आह्वानं, नियोगकरणम् । आमन्त्रणं=कामचारेण आह्वानम् आगच्छेत् वा न वा । अधीष्टः=सत्कारपूर्वकमाह्वानम् । सम्यक् प्रश्नः, सम्प्रश्नः । प्रार्थनं=याच्ञा । विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—विधौ—ओदनं पचेत, ग्रामं गच्छेत् । निमन्त्रणे—इहाद्य भवान् भुञ्जीत । इह भवान् आसीत । आमन्त्रणे—इह भवान् भुञ्जीत, इह भवान् आसीत । अधीष्टे—माणवकं मे भवान् उपनयेत । सम्प्रश्ने—किन्नु खलु भो न्यायमधीयीय । प्रार्थने—भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय ॥

भाषार्थः—[विधि······नेषु] विधि=आज्ञा देना । निमन्त्रण=नियत रूप से बुलाना । आमन्त्रण=कामचार से बुलाना, आवे या न आवे । अधीष्ट=सत्कार पूर्वक व्यवहार करना । सम्प्रश्न=अच्छी प्रकार पूछ कर बात कहना, जैसे कि "आप ऐसा करेंगे न" ? प्रार्थना=प्रार्थना करके कुछ कहना, इन अर्थों में धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—विधि में—ओदनं पचेत् (वह चावल पकाये) । ग्राम गच्छेत् (गाँव को जाये) । निमन्त्रण में—इहाद्य भवान् भुञ्जीत (आज आप यहां भोजन करें) । इह भवान् आसीत (आप यहां बैठें) । आमन्त्रण

में—इह भवान् भुञ्जीत, इह भवान् आसीत । अधीष्ट में—माणवकं मे भवान् उपनयेत (मेरे बालक का उपनयन आप करायें) । सम्प्रश्न में किन्नु खलु भो न्यायमधीयीय (क्या मैं न्याय शास्त्र पढ़ूँ) । प्रार्थना में—भवति मे प्रार्थना व्याकरण-मधीयीय (मेरी यह प्रार्थना है, कि मैं व्याकरण पढ़ूँ) ॥ सिद्धियां कई बार पूर्व कर आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जानें ॥

यहां से 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु' की अनुवृत्ति ३।३।१६२ तक जायेगी ॥

लोट् च ॥३।३।१६२॥

लोट् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—विधि प्रार्थनेषु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् प्रत्ययः परश्च भवति ॥ उदा०—विधौ—वाराणसीं गच्छतु भवान्, भोजनं करोतु । निमन्त्रणे—अद्येह भुङ्क्तां भवान् । आमन्त्रणे—इह भवान् भुङ्क्ताम् । अधीष्टे—अधीच्छामि इह भवान् मासं निवसतु । सम्प्रश्ने—किं भवान् व्याकरणं पठतु ? प्रार्थने—न्यायं पाठयतु भवान्, वेदं पाठयतु भवान् ॥

भाषार्थ:—विधि आदि अर्थों में धातु से [लोट्] लोट् प्रत्यय [च] भी होता है ॥ उदा०—विधि में—वाराणसीं गच्छतु भवान् (आप वाराणसी जायें) भोजनं करोतु (आप भोजन करें) । निमन्त्रण में—अद्येह भुङ्क्तां भवान् (आज आप यहां खायें) । आमन्त्रण में—इह भवान् भुङ्क्ताम् (यहां आप खायें) । अधीष्ट में—अधीच्छामि इह भवान् मासं निवसतु (मेरी इच्छा है कि आप यहां महीने भर रहें)। सम्प्रश्न में—किं भवान् व्याकरणं पठतु (क्या आप व्याकरण पढ़ेंगे ?) । प्रार्थना में—न्यायं पाठयतु भवान् (आप न्याय पढ़ायें यह प्रार्थना है) । वेदं पाठयतु भवान् ॥ भुङ्क्ताम् की सिद्धि ३।३।१५७ सूत्र पर देखें । गच्छतु में गम् शप् ति, पूर्ववत् होकर इषुगमि० (७।३।७७) से छत्व, तथा छे च (६।१।७१) से तुक् आगम होकर 'ग तुक् छ अ ति' रहा । श्चुत्व होकर गच्छ् अ ति, एरु: (३।४।८६) से इ को उ होकर गच्छतु बन गया । इसी प्रकार एरु: लगकर करोतु आदि समझें । पाठयतु में पठ् णिजन्त से लोट् आयेगा यही विशेष है ॥

यहां से 'लोट्' की अनुवृत्ति ३।३।१६३ तक जायेगी ॥

प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च ॥३।३।१६३॥

प्रैषा…लेषु ७।३॥ कृत्याः १।३॥ च अ० ॥ स०—प्राप्तः कालः प्राप्तकालः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । प्रैषश्च, अतिसर्गश्च, प्राप्तकालश्च, प्रैषा कालाः तेषु इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लोट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रैष, अतिसर्ग, प्राप्तकाल इत्येतेष्वर्थेषु धातोः कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया भवन्ति, चकारात् लोट् च

भवति ।। उदा०—भवता कटः करणीयः । कटः कर्त्तव्यः, कृत्यः, कार्यो वा । लोट्—प्रेषितो भवान् गच्छतु ग्रामम् । भवानतिसृष्टः गच्छतु ग्रामम् । भवतः प्राप्तकालः ग्रामं गच्छतु ।।

भाषार्थः—[प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु] प्रैष=प्रेरणा करना, अतिसर्ग=कामचारपूर्वक आज्ञा देना, प्राप्तकाल=समय आ जाना, इन अर्थों में धातु से [कृत्याः] कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं, तथा [च] चकार से लोट् भी होता है ।। कृत्याः (३।१।९५) से तव्य अनीयर् आदि प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा होती है ।। उदा०—भवता कटः करणीयः (आपको चटाई बनानी चाहिये; या आप चटाई बनावें; अथवा आपका चटाई बनाने का समय आ गया है, आप करें) । कटः कर्त्तव्यः, कृत्यः, कार्यो वा ।। लोट्—प्रेषितो भवान् गच्छतु ग्रामम् (हमारी प्रेरणा है कि आप ग्राम को जायें)। भवानतिसृष्टः गच्छतु ग्रामम् (आप गांव को जावें) । भवतः प्राप्तकालः ग्रामं गच्छतु (आपका समय आ गया है, आप गांव को जावें)।। कार्यः में ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत्, तथा कृत्यः में विभाषा कृवृषोः (३।१।१२०) से क्यप् हुआ है । तुक् आगम ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६६) से हो ही जायेगा ।।

यहाँ से 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु' की अनुवृत्ति ३।३।१६५ तक जायेगी ।।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके ।।३।३।१६४।।

लिङ् १।१।। च अ० ।। ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके ७।१।। स०—मुहूर्त्ताद् ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वमुहूर्त्तम्, पञ्चमीतत्पुरुषः ।। ऊर्ध्वमुहूर्त्ते भवम् ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकं, तस्मिन्, ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके।। अनु०—प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—प्रैषादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके काले वर्त्तमानाद् धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति, चकाराद्यथाप्राप्तं कृत्यप्रत्ययाः लोट् च भवन्ति ।। उदा०—मुहूर्त्तस्य पश्चाद् भवान् ग्रामं गच्छेत् । मुहूर्त्तस्य पश्चाद् भवता खलु कटः करणीयः, कर्त्तव्यः, कार्यः, कृत्यो वा । मुहूर्त्तस्य पश्चाद् भवान् खलु करोतु कटम् ।।

भाषार्थः—प्रैष अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल अर्थ गम्यमान हों, तो (ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके) मुहूर्त्तभर से ऊपर के काल को कहने में धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से यथाप्राप्त कृत्यसंज्ञक एवं लोट् प्रत्यय होते हैं ।। उदा०—मुहूर्त्तस्य पश्चाद् भवान् ग्रामं गच्छेत् (मुहूर्त्तभर के पश्चात् आप ग्राम को जावें) । मुहूर्त्तस्य पश्चाद् भवता खलु कटः करणीयः (मुहूर्त्तभर के पश्चात् आप चटाई बनावें) ।

शेष उदाहरण संस्कृतानुसार जानें ॥ एक ही उदाहरण में प्रैष अतिसर्ग प्राप्तकाल कोई भी अर्थ विवक्षा से लगाया जा सकता है। हमने एक ही अर्थ दिखा दिया है ॥

यहां से 'ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके' की अनुवृत्ति ३।३।१६५ तक जायेगी ॥

स्मे लोट् ॥३।३।१६५॥

स्मे ७।१॥ लोट् १।१॥ अनु०—ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके, प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्मशब्द उपपदे प्रैषादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके काले वर्त्तमानाद् धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् भवान् कटं करोतु स्म, ग्रामं गच्छतु स्म ॥

भाषार्थः—प्रैषादि अर्थ गम्यमान हों, तो मुहूर्त्तभर से ऊपर के काल के कहने में [स्मे] स्म शब्द उपपद रहते धातु से [लोट्] लोट् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् भवान् कटं करोतु स्म (मुहूर्त्तभर के पश्चात् आप चटाई बनावें), ग्रामं गच्छतु स्म (गांव जावें)॥

यहां से 'स्मे लोट्' की अनुवृत्ति ३।३।१६६ तक जायेगी ॥

अधीष्टे च ॥३।३।१६६॥

अधीष्टे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—स्मे लोट्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अधीष्टे गम्यमाने स्मशब्द उपपदे धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अधीच्छामि भवान् माणवकम् अध्यापयतु। अङ्ग स्म राजन् अग्निहोत्रं जुहुधि ॥

भाषार्थः—[अधीष्टे] अधीष्ट=सत्कार गम्यमान हो तो [च] भी स्म शब्द उपपद रहते धातु से लोट प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अधीच्छामि भवान् माणवकम् अध्यापयतु (मैं सत्कारपूर्वक इच्छा करता हूं कि आप बालक को पढ़ावें)। अङ्ग स्म राजन् अग्निहोत्रं जुहुधि (हे राजन्! आप अग्निहोत्र का अनुष्ठान करें)॥

कालसमयवेलासु तुमुन् ॥३।३।१६७॥

कालसमयवेलासु ७।३॥ तुमुन् १।१॥ स०—कालश्च समयश्च वेला च काल⋯वेलाः, तासु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—काल समय वेला इत्येतेषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कालो भोक्तुम्। समयो भोक्तुम्। वेला भोक्तुम् ॥

भाषार्थः—[कालसमयवेलासु] काल, समय, वेला ये शब्द उपपद रहते धातु से [तुमुन्] तुमुन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—कालो भोक्तुम् (खाने का समय हो गया है)। समयो भोक्तुम्। वेला भोक्तुम् ॥

यहां से 'कालसमयवेलासु' की अनुवृत्ति ३।३।१६८ तक जायेगी ॥

लिङ् यदि ॥३।३।१६८॥

लिङ् १।१॥ यदि ७।१॥ अनु०—कालसमयवेलासु, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कालादिषूपपदेषु यच्छब्दे चोपपदे धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कालो यद् भुञ्जीत भवान्। समयो यद् भुञ्जीत भवान्। वेला यद् भुञ्जीत भवान् ॥

भाषार्थः—काल, समय, वेला शब्द, और [यदि] यत् शब्द भी उपपद हो, तो धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—कालो यद् भुञ्जीत भवान् (समय है कि आप भोजन करें)। समयो यद् भुञ्जीत भवान्। वेला यद् भुञ्जीत भवान् ॥

यहाँ से 'लिङ्' की अनुवृत्ति ३।३।१६९ तक जायेगी ॥

अर्हे कृत्यतृचश्च ॥३।३।१६९॥

अर्हे ७।१॥ कृत्यतृचः १।३॥ च अ० ॥ स०—कृत्याश्च तृच् च कृत्यतृचः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अर्हे=योग्ये कर्त्तरि वाच्ये गम्यमाने वा धातोः कृत्यतृचः प्रत्यया भवन्ति, चकाराद् लिङ् च ॥ उदा०—भवता खलु पठितव्या विद्या, पाठ्या, पठनीया वा। तृच्—पठिता विद्याया भवान्। भवान् विद्यां पठेत् ॥

भावार्थः—[अर्हे] अर्ह=योग्य कर्त्ता वाच्य हो या गम्यमान हो, तो धातु से [कृत्यतृचः] कृत्यसंज्ञक तथा तृच् प्रत्यय हो जाते हैं, तथा [च] चकार से लिङ् भी होता है ॥ उदा०—कृत्य—भवता खलु पठितव्या विद्या (आप विद्या पढ़ने के योग्य हैं)। तृच्—पठिता विद्याया भवान् (आप विद्या पढ़ने के योग्य हैं)। भवान् विद्यां पठेत् ॥ पठिता की सिद्धि परि० १।१।२ के 'चेता' के समान जानें। शेष सिद्धियाँ पूर्वसूत्रों के अनुसार हैं ॥

आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः ॥३।३।१७०॥

आवश्यकाधमर्ण्ययोः ७।२॥ णिनिः १।१॥ स०—आवश्यकञ्च आधमर्ण्यञ्च आवश्यकाधमर्ण्ये, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अवश्यं भाव आवश्यकम्, द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च (५।१।१३२) इति वुञ् ॥ अर्थः—अवश्यं-भावविशिष्टे आधमर्ण्यविशिष्टे च कर्त्तरि वाच्ये धातोर्णिनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—धर्मोपदेशी, प्रातःस्नायी, अवश्यङ्कारी। आधमर्ण्ये—शतं दायी, सहस्रं दायी, निष्कं दायी ॥

भावार्थः—[आवश्यकाधमर्ण्ययोः] आवश्यक और आधमर्ण्य=ऋण विशिष्ट कर्त्ता वाच्य हो, तो धातु से [णिनिः] णिनि प्रत्यय होता है ॥ उदा०—धर्मोपदेशी (अवश्य ही धर्म का उपदेश करनेवाला), प्रातःस्नायी (नित्य प्रातः स्नान करनेवाला),

अवश्यङ्कारी (अवश्य करनेवाला)। आधमर्ण्य में—शतं दायी (सौ रुपये का ऋणी), सहस्रं दायी, निष्कं दायी (एक प्रकार के सिक्के का ऋणी)॥

उदाहरण में णिनि प्रत्यय होकर सौ च (६।४।१३) से दीर्घ, हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु का लोप, तथा नलोपः प्रा०(८।२।७)से नकार लोप हो जायेगा। दायी में आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३) से युक् आगम भी होता है। सहस्रं शतं आदि में कर्त्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्म में षष्ठी प्राप्त थी। उसका अकेनोर्भ० (२।३।७०) से निषेध हो गया, तो कर्म में द्वितीया यथाप्राप्त हो गई है। षष्ठी विभक्ति न होने से षष्ठीसमास भी नहीं हुआ॥

यहाँ से 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' की अनुवृत्ति ३।३।१७१ तक जायेगी॥

कृत्याश्च ॥३।३।१७१॥

कृत्याः १।३॥ च अ०॥ अनु०—आवश्यकाधमर्ण्ययोः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—आवश्यकाधमर्ण्यविशिष्टेऽर्थे धातोः कृत्यसंज्ञकाः प्रत्यया अपि भवन्ति॥ उदा०—भवता खलु अवश्यं कटः कर्त्तव्यः, करणीयः, कार्यः, कृत्यः। आधमर्ण्ये—भवता शतं दातव्यम्, सहस्रं देयम्॥

भाषार्थः—आवश्यक और आधमर्ण्यविशिष्ट अर्थ हों, तो धातु से [कृत्याः] कृत्यसंज्ञक प्रत्यय [च] भी हो जाते हैं॥ उदा०—भवता खलु अवश्यं कटः कर्त्तव्यः (आपको अवश्य चटाई बनानी चाहिये)। आधमर्ण्य में—भवता शतं दातव्यम् (आप को सौ रुपये देने हैं)॥

यहाँ से 'कृत्याः' की अनुवृत्ति ३।३।१७२ तक जायेगी॥

शकि लिङ् च ॥३।३।१७२॥

शकि ७।१॥ लिङ् १।१॥ च अ०॥ अनु०—कृत्याः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—शक्यार्थविशिष्टे धात्वर्थे धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति, चकारात् कृत्याश्च॥ उदा०—भवान् शत्रुं जयेत्। भवता शत्रुर्जेतव्यः॥

भाषार्थः—[शकि] शक्यार्थ गम्यमान हो, तो धातु से [लिङ्] लिङ् प्रत्यय होता है, तथा [च] चकार से कृत्यसंज्ञक प्रत्यय भी होते हैं॥ उदा०—भवान् शत्रुं जयेत् (आप शत्रु को जीत सकते हैं)। भवता शत्रुर्जेतव्यः (आपके द्वारा शत्रु जीता जा सकता है)॥

आशिषि लिङ्लोटौ ॥३।३।१७३॥

आशिषि ७।१॥ लिङ्लोटौ १।२॥ स०—लिङ्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—आशीर्विशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानाद् धातोर्लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः॥ उदा०—चिरं जीव्याद् भवान्। चिरं जीवतु भवान्॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वादविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान धातु से [लिङ्‌लोटौ] लिङ् तथा लोट् प्रत्यय होते हैं ॥ उदा०—चिरं जीव्याद् भवान् (आप दीर्घ काल तक जीवें)। चिरं जीवतु भवान् ॥ जीव् यासुट् सुट् तिप्=जीव् यास् स् त् रहा। स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से यास् के स् का लोप हुआ। पुनः इसी सूत्र से सुट् के स् का लोप होकर जीव्यात् बन गया ॥ जीवतु की सिद्धि सूत्र (३।३।१६२) के समान ही जानें ॥

यहाँ से 'आशिषि' की अनुवृत्ति ३।३।१७४ तक जायेगी ॥

क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् ॥३।३।१७४॥

क्तिच्क्तौ १।२॥ च अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—क्तिच्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आशिषि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः— आशिषि विषये धातोः क्तिच्क्तौ प्रत्ययौ भवतः, समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते ॥ उदा०—तनुतात् (लोट्)=तन्तिः, सनुतात्=सातिः, भवतात्=भूतिः। क्त—देवा एनं देयासुः (लिङ्)=देवदत्तः ॥

भाषार्थः—आशीर्वाद विषय में धातु से [क्तिच्क्तौ] क्तिच् और क्त प्रत्यय [च] भी होते हैं, यदि समुदाय से [संज्ञायाम्] संज्ञा प्रतीत हो ॥

माङि लुङ् ॥३।३।१७५॥

माङि ७।१॥ लुङ् १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ मण्डूकप्लुतगत्या 'लिङ्लोटौ' इत्यप्यनुवर्त्तते ॥ अर्थः—माङ्युपपदे धातोर्लुङ् लिङ् लोट् च प्रत्यया भवन्ति ॥ उदा०—मा कार्षीत्। मा हार्षीत्। लिङ्—मा वदेः (विदुर० ३।२५)। लोट्—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (गी० अ० २। श्लोक ४७) ॥

भाषार्थः—[माङि] माङ् शब्द उपपद हो, तो धातु से [लुङ्] लुङ् लिङ् लोट् प्रत्यय भी होते हैं ॥ उदा०—मा कार्षीत् (मत करे)। मा हार्षीत्। लिङ्—मा वदेः (मत बोले)। लोट्—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (तेरा अकर्म में सङ्ग न हो)॥ न माङ्योगे (६।४।७४) से कार्षीत् हार्षीत् में अट् का आगम नहीं हुआ है। शेष सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। वदेः की सिद्धि यासुट् आदि होकर पूर्ववत् ही जानें। अस्तु की सिद्धि अस् शप् तिप् होकर एरुः (३।४।८६), तथा अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) लगकर जानें ॥

यहाँ से 'माङि लुङ्' की अनुवृत्ति ३।३।१७६ तक जायेगी ॥

स्मोत्तरे लङ् च ॥३।३।१७६॥

स्मोत्तरे ७।१॥ लङ् १।१॥ च अ० ॥ स०—स्मशब्द उत्तरम् (=अधिकं)

यस्य स स्मोत्तरः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—माङि लुङ्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्मशब्दोत्तरे माङ्युपपदे धातोर्लङ् प्रत्ययो भवति, चकाराल्लुङ् च ॥ उदा०—मा स्म करोत्। मा स्म कार्षीत् । मा स्म हरत्। मा स्म हार्षीत् ॥

भाषार्थः—[स्मोत्तरे] स्म शब्द उत्तर=अधिक है जिस से, उस माङ् शब्द के उपपद रहते धातु से [लङ्] लङ्, तथा [च] चकार से लुङ् प्रत्यय होते हैं ॥ उदा०—मा स्म करोत् (वह न करे) । मा स्म कार्षीत् । मा स्म हरत् (वह मत ले जावे) । मा स्म हार्षीत् ॥ सिद्धियों में अट् आगम का अभाव भी पूर्ववत् ही जानें ॥ उत्तर शब्द यहां 'अधिक' अर्थ का वाचक है । अतः माङ् से पूर्व स्म का प्रयोग होने पर भी यह विधि होती है ॥

॥ इति तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ॥३।४।१॥

धातुसम्बन्धे ७।१॥ प्रत्ययाः १।३॥ धातुशब्देनात्र धात्वर्थो लक्ष्यते ॥ स०—धात्वोः (=धात्वर्थयोः) सम्बन्धो धातुसम्बन्धः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—धात्वर्थसम्बन्धे सति अयथाकालोक्ताः अपि प्रत्ययाः साधवो भवन्ति ॥ उदा०—अग्निष्टोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता । कृतः कटः श्वो भविता ॥

भाषार्थः—[धातुसम्बन्धे] दो धातुओं के अर्थ का सम्बन्ध होने पर भिन्न काल में विहित [प्रत्ययाः] प्रत्यय भी कालान्तर में साधु होते हैं ॥ धातु शब्द से यहाँ धात्वर्थ का ग्रहण किया गया है ॥ वाक्य में साध्य होने के कारण क्रिया की प्रधानता होती है, और कारकों की गौणता होती है । अतः क्रिया को कहनेवाले तिङन्त की प्रधानता, और सुबन्तों की गौणता होती है । इस प्रकार तिङन्त विशेष्य तथा सुबन्त विशेषण बन जाते हैं । और सुबन्त में आये हुए प्रत्यय अयथाकाल होने पर भी तिङन्त के काल में साधु माने जाते हैं ॥ उदाहरण 'अग्निष्टोमयाजी' में यज धातु से भूतकाल में करणे यजः (३।२।८५) से 'णिनि' प्रत्यय हुआ है (वहां 'भूते' ३।२।८४ की अनुवृत्ति है) । जनिता में जन धातु से अनद्यतन भविष्यत्काल में लुट्

(३।३।१५) प्रत्यय हुआ है। सो णिनि तथा लुट् भिन्नकालोक्त प्रत्यय हैं, जो कि इस सूत्र से साधु माने गये हैं। अग्निष्टोमयाजी तथा जनिता का विशेषण विशेष्यभाव से यहाँ धात्वर्थ सम्बन्ध है। सो भूतकालोक्त णिनिप्रत्ययान्त अग्निष्टोमयाजी(विशेषण होने से) अपने भूतकाल को छोड़कर 'जनिता' के भविष्यत्काल को ही कहने लगा। अतः अर्थ हुआ—"अग्निष्टोम यज्ञ करेगा, ऐसा पुत्र उसका होगा।" इसी प्रकार कृतः में क्त भूतकाल (३।२।८४) में, तथा भविता में लुट् भविष्यत्काल में है। विशेषण-विशेष्यभाव से दोनों का धात्वर्थ सम्बन्ध है। अतः भिन्नकालोक्त क्त और लुट् भी साधु माने गये। कृतः अपना भूतकाल छोड़कर भविता के भविष्यत्काल को ही कहने लगा। सो अर्थ हुआ—"चटाई बनी यह बात कल होगी"॥

यहाँ से 'धातुसम्बन्धे' की अनुवृत्ति ३।४।६ तक जायेगी॥

क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः ॥३।४।२॥

क्रियासमभिहारे ७।१॥ लोट् १।१॥ लोटः ६।१॥ हिस्वौ १।२॥ वा अ० ॥ च अ० ॥ तध्वमोः ६।२॥ समभिहरणं समभिहारः, भावे (३।३।१८) इत्यनेन घञ्॥ स०—क्रियायाः समभिहारः क्रियासमभिहारः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः। हि च स्व च हिस्वौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। त च ध्वम् च तध्वमौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—धातुसम्बन्धे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—क्रियासमभिहारे गम्यमाने धात्वर्थसम्बन्धे सर्वस्मिन् काले धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति, तस्य च लोटः स्थाने हिस्वौ आदेशौ भवतः। तध्वम्भाविनस्तु लोटः स्थाने वा हिस्वावादेशौ भवतः, पक्षे तध्वमावेव तिष्ठतः॥ उदा०—स भवान् लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति। तौ भवन्तौ लुनीहि लुनीहि इतीमौ लुनीतः। ते भवन्तो लुनीहि लुनीहि इतीमे लुनन्ति। त्वं लुनीहि लुनीहि इति लुनासि। युवां लुनीहि लुनीहि इति युवां लुनीथः। यूयं लुनीहि लनीहि इति यूयं लुनीथ॥ तध्वम्विषये—लोट् मध्यमबहुवचनविषये हिस्वौ वा भवतः। अतः पक्षे—'यूयं लुनीत लुनीत इति यूयं लुनीथ' इत्यवतिष्ठते। अहं लुनीहि लुनीहि इत्येवाहं लुनामि। आवां लुनीहि लुनीहि इति लुनीवः। वयं लुनीहि लुनीहि इति लुनीमः॥ भूतविषये—स भवान् लुनीहि लुनीहि इति अलावीत्। तौ भवन्तौ लुनीहि लुनीहि इति अलाविष्टाम्। ते भवन्तो लुनीहि लुनीहि इति अलाविषुः। त्वं लुनीहि लुनीहि इति अलावीः। युवां लुनीहि लुनीहि इति अलाविष्टम्। यूयं लुनीहि लुनीहि इति अलाविष्ट॥ तध्वम् विषये हिस्वौ वा भवतः। अतः पक्षे 'त' अवतिष्ठते—यूयं लुनीत लुनीत इति यूयम् अलाविष्ट। अहं लुनीहि लुनीहि इति अलाविषम्। आवां लुनीहि लुनीहि इति अलाविष्व। वयं लुनीहि लुनीहि इति अलाविष्म॥ भविष्यद्विषये— स भवान् लुनीहि लुनीहि इति लविष्यति। तौ भवन्तौ लुनीहि लुनीहि इति लविष्यतः। ते भवन्तो

लुनीहि लुनीहि इति लविष्यन्ति । त्वं लुनीहि लुनीहि इति लविष्यसि । युवाम् लुनीहि लुनीहि इति लविष्यथः । यूयं लुनीहि लुनीहि इति लविष्यथ ॥ तध्वम् विषये पक्षे 'त' अवतिष्ठते—यूयं लुनीत लुनीत इति लविष्यथ । अहं लुनीहि लुनीहि इति लविष्यामि । आवां लुनीहि लुनीहि इति लविष्यावः । वयं लुनीहि लुनीहि इति लविष्यामः ॥ **स्वादेशविषये**—स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्येवायमधीते । तौ भवन्तौ अधीष्व अधीष्व इतीमावधीयाते । ते भवन्तोऽधीष्व अधीष्व इतीमे अधीयते। त्वमधीष्व अधीष्व इत्यधीषे । युवामधीष्व अधीष्व इत्यधीयाथे । यूयम् अधीष्व अधीष्व इति अधीध्वे । तध्वम्विषये हिस्वौ विकल्प्येते, अतोऽत्र पक्षे ध्वम्—यूयमधीध्वमधीध्वमिति अधीध्वे । अहमधीष्व अधीष्व इत्यधीये । आवामधीष्व अधीष्व इत्यधीवहे । वयमधीष्वाऽधीष्व इत्यधीमहे । **भूतविषये**—स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्यध्यगीष्ट । एवं सर्वत्र सर्वेषु पुरुषेषु वचनेषु चोदाहार्यम् । **ध्वम्विषये पक्षे**—यूयमधीध्वमधीध्वमिति अध्यगीढ्वम् । **भविष्यद्विषये**—स भवान् अधीष्व अधीष्व इति अध्येष्यते । एवं सर्वत्र सर्वेषु पुरुषेषु वचनेषु चोदाहार्यम् । ध्वम्विषये पक्षे—यूयमधीध्वमधीध्वमिति अध्येष्यध्वे ॥

भावार्थः—[क्रियासमभिहारे] **क्रियासमभिहार=क्रिया का पौनःपुन्य गम्यमान हो, तो धातु से धात्वर्थ सम्बन्ध होने पर सब कालों में** [लोट्] **प्रत्यय हो जाता है, और उस** [लोटः] **लोट् के स्थान में (सब पुरुषों तथा वचनों में)** [हिस्वौ] **हि और स्व आदेश नित्य होते हैं,** [च] **तथा** [तध्वमोः] **त ध्वम् भावी लोट् के स्थान में** [वा] **विकल्प से हि स्व आदेश होते हैं, पक्ष में त ध्वम् ही रहते हैं ॥**

यहां परस्मैपदी धातुओं के लोट् को 'हि' आदेश, तथा आत्मनेपदी धातुओं के लोट् को स्व आदेश होता है । सो कैसे ? यह व्याख्यान से द्वितीयावृत्ति आदि में पता लगेगा ॥

तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) **से थस् को त परस्मैपद में होता है । उस 'त' का प्रकृत सूत्र में ग्रहण है । सो इस सूत्र से 'त' को परस्मैपद में विकल्प से हि आदेश होगा । पक्ष में 'त' का रूप भी रहेगा । ध्वम् आत्मनेपद का प्रत्यय है, सो आत्मनेपद में विकल्प से 'स्व' आदेश होकर पक्ष में ध्वम् का रूप भी रहेगा ॥ क्रियासमभिहारता दिखाने के लिए यहाँ सर्वत्र द्वित्व करके 'लुनीहि, लुनीहि' ऐसा दिखाया है । लुनीहि लुनीहि या अधीष्व अधीष्व के पश्चात् 'इत्येवायं लुनाति' या इत्येवायमधीते' इत्यादि का अनुप्रयोग यह दर्शाने के लिये किया गया है कि लुनीहि लुनीहि आदि किस काल किस पुरुष या किस वचन के प्रयोग हैं, तथा धात्वर्थ का कैसे सम्बन्ध है ॥** उदा०—**स भवान् लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति (वह आप बार बार काटते हैं) । इसी प्रकार सब पुरुषों एवं वचनों में संस्कृतभाग के अनुसार**

उदाहरण जानें ॥ भूतविषय में—स भवान् लुनीहि लुनीहि इत्यलावीत् (उस आपने बार बार काटा)। इसी प्रकार सब पुरुषों एवं वचनों में पूर्ववत् जानें ॥ भविष्यद्विषय में—स भवान् लुनीहि लुनीहि इति लविष्यति (वह आप बार बार काटेंगे)। इसी प्रकार औरों में जानें ॥

स्व आदेश विषय में—स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्येवायमधीते (वह आप बार-बार पढ़ते हैं)। इसी प्रकार औरों में जान लें ॥ भूतविषय में—स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्यध्यगीष्ट (उस आपने बार बार पढ़ा)। इसी प्रकार पूर्ववत् औरों में जानें ॥ भविष्यद्विषय में—स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्यध्येष्यते (वह आप बार बार पढ़ेंगे) ॥

यह लोट् प्रत्यय सब लकारों का अपवाद है। अतः सब लकारों के सब पुरुषों के सब वचनों में इनके उदाहरण समझने चाहियें। सम्पूर्ण उदाहरण दिखाना कठिन है। हि स्व आदेश होकर रूप तो एक ही जैसे बनेंगे, सो समझ लें ॥ सिद्धि में भी कुछ विशेष नहीं है। 'लू लोट्' लोट् को हि आदेश होकर 'लू हि' रहा। शेष सिद्धि परि० १।३।१४ में देख लें। अधि इङ् स्व, आदेशप्रत्यययोः (८।३।५६) से षत्व, एवं सवर्ण दीर्घ होकर अधीष्व बन गया ॥

यहाँ से 'लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' की अनुवृत्ति ३।४।३ तक जायेगी ॥

समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ॥३।४।३॥

समुच्चये ७।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः, धातुसम्बन्धे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—समुच्चीयमानक्रियावचनाद् धातोः धातुसम्बन्धे लोट् प्रत्ययो विकल्पेन भवति, तस्य च लोटः स्थाने हिस्वावादेशौ भवतः, तध्वंभाविनस्तु वा हिस्वौ भवतः ॥ उदा०—भ्राष्ट्रमट, मठमट, खदूरमट, स्थाल्यपिधानमट इत्येवायमटति। एवं सर्वेषु पुरुषेषु वचनेषु चोदाहार्यम्। तभाविनस्तु मध्यमपुरुषबहुवचनपक्षे—भ्राष्ट्रमटत, मठमटत, खदूरमटत, स्थाल्यपिधानमटत इत्येवं यूयमटथ। अन्यतरस्यां ग्रहणेन पक्षे सर्वे लकाराः स्वस्वविषये भवन्ति। तद्यथा—भ्राष्ट्रमटति, मठमटति, खदूरमटति, स्थाल्यपिधानमटति इत्येवायमटति। भविष्यद्विषये—भ्राष्ट्रमट,मठमट,खदूरमट, स्थाल्यपिधानमट इत्येवायमटिष्यति। पक्षे—भ्राष्ट्रमटिष्यति, मठमटिष्यति इत्यादयः प्रयोगा ज्ञेयाः। एवं भूतविषयेऽपि बोद्धव्यम् ॥

स्वादेशविषये—छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्व इत्येवायमधीते।

एवं सर्वेषु लकारेषु सर्वेषु पुरुषेषु सर्वेषु च वचनेषूदाहार्यम् । अन्यतरस्यां ग्रहणेन पक्षे सर्वे लकारा भवन्ति । तेन छन्दोऽधीते, व्याकरणमधीते, निरुक्तमधीते इत्येवायमधीते इत्यादयोऽपि बोद्धव्याः ॥ ध्वम्विषयेऽपि पक्षे—छन्दोऽधीध्वम्, व्याकरणमधीध्वम्, निरुक्तमधीध्वम् इत्येवं यूयमधीध्वे इत्यादयः सर्वेषु लकारेषु ज्ञेयाः । एवं वेदानधीष्व, गुरुं सेवस्व, मृदु वद, प्रातः स्नाहि इत्येवायं करोति, करिष्यति, अकार्षीद् वा इत्यादिकमपि ज्ञेयम् ॥

भाषार्थः—[समुच्चये] समुच्चीयमान क्रियाओं को कहनेवाली धातु से लोट् प्रत्यय [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है, और उस लोट् के स्थान में हि और स्व आदेश होते हैं, पर त ध्वम् भावी लोट् को विकल्प से हि स्व आदेश होते हैं। पक्ष में त ध्वम् की ही श्रुति होती है ॥

जहाँ अनेक क्रियाओं को कहा जाये कि यह भी कर, वह भी कर, वह क्रियाओं का समुच्चय होता है ॥ हि आदेश परस्मैपद में, तथा स्व आदेश आत्मनेपद में होगा। यह सब पूर्ववत् ही जानें ॥ उदा०—भ्राष्ट्रमट, मठमट, खदूरमट, स्थाल्यपिधानमट इत्येवायमटति (भाड़ पर जाता है, मठ को जाता है, कमरे में जाता है, बटलोई के ढक्कन तक जाता है)। इसी प्रकार सारे उदाहरण संस्कृतभाग के अनुसार जान लें ॥ स्व आदेश विषय में—छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्व इत्येवायमधीते (वेद पढ़ता है, व्याकरण पढ़ता है, निरुक्त पढ़ता है, यह सब पढ़ता है)। इसी प्रकार अन्य उदाहरण जान लें ॥ विकल्प से लोट् विधान करने से यहाँ पक्ष में सब लकार होंगे। लोट् भी कालत्रय में होता है। ये सब उदाहरण स्वयं जान लेने चाहियें, विस्तारभय से सारे नहीं दिखाये ॥

सिद्धि में अट धातु से आये लोट् प्रत्यय को 'हि' आदेश होकर, पुनः अतो हेः (६।४।१०५) से लुक् हो गया है ॥

यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ॥३।४।४॥

यथाविधि अ० ॥ अनुप्रयोगः १।१॥ पूर्वस्मिन् ७।१॥ अनु०—धातोः ॥ अर्थः—पूर्वस्मिन् लोड्विधाने यथाविधि=यस्माद् धातोर्लोड् विधीयते, तस्यैव धातोरनुप्रयोगः कर्त्तव्यः ॥ उदा०—स भवान् लुनीहि लुनीहि इति लुनाति, इत्यत्र 'लुनातीति' अनुप्रयुज्यते। पर्यायवाची छिनत्तीति नानुप्रयुज्यते। एवं सर्वत्र ॥

भाषार्थः—[पूर्वस्मिन्] पूर्व के लोट्विधायक क्रियासम० (३।४।२) सूत्र में [यथाविधि] यथाविधि अर्थात् जिस धातु से लोट् विधान किया हो, पश्चात् उसी धातु का [अनुप्रयोगः] अनुप्रयोग होता है ॥ यथा लुनीहि में लू धातु से लोट् विहित

है, तो पश्चात् लुनाति का ही अनुप्रयोग होगा, पर्यायवाची 'छिनत्ति' का नहीं। ऐसा सर्वत्र जानें ॥

यहाँ से 'अनुप्रयोग:' की अनुवृत्ति ३।४।५ तक जायेगी ॥

समुच्चये सामान्यवचनस्य ॥३।४।५॥

समुच्चये ७।१॥ सामान्यवचनस्य ६।१॥ स०—उच्यतेऽनेनेति वचनः, सामान्यस्य वचनः सामान्यवचनः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अनुप्रयोगः, धातोः ॥ अर्थः—समुच्चये सामान्यवचनस्य धातोरनुप्रयोगः कर्त्तव्यः ॥ उदा० – ओदनं भुङ्क्ष्व, सक्तून् पिब, धानाः खाद इत्यभ्यवहरति । वेदानधीष्व, सत्यं वद, अग्निहोत्रं जुहुधि, सत्पुरुषान् सेवस्व, एवं धर्मं करोति करिष्यति अकार्षीद् वा ॥

भाषार्थ:—[समुच्चये] समुच्चय में अर्थात् समुच्चयेऽन्य० (३।४।३) से जहाँ लोट् विधान किया है, वहाँ [सामान्यवचनस्य] सामान्यवचन धातु का अनुप्रयोग होता है ॥ समुच्चय होने से उदाहरण में भुङ्क्ष्व पिब इत्यादि सभी धातुओं का अनुप्रयोग होना चाहिये था, सामान्यवचन (अर्थात् किसी एक ऐसी धातु का अनुप्रयोग जिसमें समुच्चीयमान सारी धातुओं का अर्थ हो) धातु का अनुप्रयोग विधान कर दिया है ॥ उदा०—ओदनं भुङ्क्ष्व, सक्तून् पिब, धानाः खाद इत्यभ्यवहरति (चावल खाता है, सत्तू पीता है, धान खाता है, यह सब खाता है) । वेदानधीष्व, सत्यं वद, अग्निहोत्रं जुहुधि सत्पुरुषान् सेवस्व, एवं धर्मं करोति, करिष्यति, अकार्षीद् वा (वेद पढ़ता है, सत्य बोलता है, हवन करता है, सत्पुरुषों का सेवन करता है, इस प्रकार धर्म करता है, करेगा, या किया) ॥ उदाहरण में अभ्यवहरति का अर्थ–खाना, पीना, चूसना, चाटना आदि सभी सामान्यरूप से है, सो उसका अनुप्रयोग कर दिया, तो भुङ्क्ते पिबति इत्यादि के अलग-अलग अनुप्रयोग की आवश्यकता नहीं रही । इसी प्रकार करोति क्रिया सामान्य है । वह सभी क्रियाओं में रहती है, सो अधीते वदति का अलग-अलग अनुप्रयोग न करके करोति सामान्य का अनुप्रयोग कर दिया ॥

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥३।४।६॥

छन्दसि ७।१॥ लुङ्लङ्लिटः १।३॥ स०—लुङ्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातुसम्बन्धे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अन्यतरस्यामिति चानुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—वेदविषये धात्वर्थसम्बन्धे धातोरन्यतरस्यां कालसामान्ये लुङ् लङ् लिट् इत्येते प्रत्यया भवन्ति ॥ उदा०—देवो देवेभिरागमत् (ऋ० १।१।५), अत्र वर्त्तमाने लुङ् । लङ्—शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत् । अहं तेभ्योऽकरं नमः (यजु० १६।८)। लिट्—अहमहिमन्व-

पस्ततर्द (ऋ० १।३२।१)। ततर्द इत्यत्र वर्त्तमानकाले लिट्। त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष (ऋ० १।३२।२)। अत्रापि वर्त्तमानकाले लिट्। पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथ० १०।८।३२)। ममार इत्यत्रापि वर्त्तमानकाले लिट्। अद्या ममार स ह्यः समान (ऋ० १०।५५।५)। पक्षे—अद्य म्रियते। स दाधार पृथिवीम् (यजु० १३।४)॥

भावार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में धात्वर्थ सम्बन्ध होने पर विकल्प से [लुङ्लङ्लिटः] लुङ् लङ् तथा लिट् प्रत्यय होते हैं॥ लुङ् सामान्य भूत, लङ् अनद्यतनभूत, तथा लिट् परोक्षभूतकाल में होते हैं, परन्तु वेद में ये लकार सामान्य काल में विकल्प से हो जाते हैं॥

विशेषः—वेद के अर्थ समझने में यह सूत्र विशेष महत्त्व का है। लुङ् लङ् लिट् लकार देखकर भूतकाल का ही अर्थ वेद में नहीं लिया जा सकता। परन्तु ऊपर दिये उदाहरणों के समान वर्त्तमान भविष्यत् भूत सभी अर्थ निकलते हैं॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ३।४।१७ तक जायेगी॥

लिङर्थे लेट्॥३।४।७॥

लिङर्थे ७।१॥ लेट् १।१॥ स०—लिङोऽर्थः लिङर्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—छन्दसि, धातोः प्रत्ययः, परश्च। अत्राप्यन्यतरस्यामभिसम्बध्यते॥ अर्थः—छन्दसि विषये धातोर्लिङर्थेऽन्यतरस्यां लेट् प्रत्ययो भवति॥ हेतुहेतुमद्भावो विध्यादयश्च (३।३।१५६, १६१) लिङोऽर्थाः॥ उदा०—जोषिषत्, तारिषत्, मन्दिषत्। धियो यो नः प्रचोदयात् (ऋ० ३।६२।१०)। सविता धर्मं साविषत् (यजु० ९।५; १८।३०)॥

भावार्थः—वेदविषय में [लिङर्थे] लिङ् के अर्थ में धातु से विकल्प से [लेट्] लेट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है॥

लेट् लकार में सिद्धि विस्तार से परि० ३।१।३४ में देखें। प्र पूर्वक 'चुद प्रेरणे' ण्यन्त धातु से लेट् में प्रार्थना अर्थ में पूर्ववत् प्रचोदयात् की सिद्धि जानें। 'षू प्रेरणे' से साविषत् बनेगा॥

यहाँ से 'लेट्' की अनुवृत्ति ३।४।८ तक जायेगी॥

उपसंवादाशङ्कयोश्च॥३।४।८॥

उपसंवादाशङ्कयोः ७।२॥ च अ०॥ स०—उपसंवादश्च आशङ्का च उपसंवादाशङ्के, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—लेट्, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—उपसंवादः=पणबन्धः, व्यवहारे परस्परं भाषणम्। कारणं दृष्ट्वा कार्यस्य

अनुमानम् आशङ्का । उपसंवादे आशङ्कायाञ्च गम्यमानायां छन्दसि विषये धातोर्लेट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा (यजु० ३।५०)। आशङ्कायाम्—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम (ऋ० खिल० १०।१०६।१)॥

भाषार्थः—[उपसंवादाशङ्कयोः] उपसंवाद तथा आशङ्का गम्यमान हों, तो [च] भी धातु से वेदविषय में लेट् प्रत्यय होता है ॥ उपसंवाद=पणबन्ध को कहते हैं, अर्थात् 'तू ऐसा करे तो मैं भी ऐसा करूं' ऐसा व्यवहार में परस्पर कहना ॥ उदा०—निहारञ्च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा (तू मुझको क्रेतव्य वस्तु दे, तो मैं तुझको भी दूं) ॥ हरासि=हर प्रयच्छ [मे] मह्यम् [निहारम्] पदार्थ-मूल्यम् [नि] नितराम् [हराणि] प्रयच्छानि ॥ (देखो—द० भा० यजु० ३।५०)॥ आशङ्का में—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम (कुटिल आचरण करते हुए कहीं हम नरक में न जा गिरें)॥ निहारञ्च हरासि मे उदाहरण में उपसंवाद गम्यमान है। अतः हृ धातु से लेट् लकार हो गया है ॥ सिद्धि परि० ३।१।३४ में पठासि के समान जानें ॥ इसी प्रकार नेज्जिह्मायन्तो (नि० १।११)=कुटिल आचरण से नरकपात की आशङ्का हो रही है। सो पत धातु से लेट् लकार होकर 'पताम' बन गया है। सिद्धि उत्तम पुरुष में पूर्ववत् समझें ॥

तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्-शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥३।४।९॥

तुमर्थे ७।१॥ से···वेनः १।३॥ स०—तुमुनः अर्थः तुमर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः। सेसेन० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—छन्दसि विषये तुमर्थे धातोः से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति ॥ तुमर्थो भावः ॥ उदा०—से—वक्षे रायः। सेन्—ता वामेषे रथानाम् (ऋ० ११६६।३)। असे, असेन्—क्रत्वे दक्षाय जीवसे (अथ० ६।१९।२)। जीवसे, स्वरे विशेषः। क्से—प्रेषे भगाय (यजु० ५।७)। कसेन्—गवामिव श्रियसे (ऋ० ५।५९।३)। अध्यै, अध्यैन्—कर्म-ण्युपाचरध्यै। उपाचरध्यै। स्वरे विशेषः। कध्यै—इन्द्राग्नी आहुवध्यै (यजु० ३।१३)। कध्यैन्—श्रियध्यै। शध्यै—पिबध्यै (ऋ० ७।९२।२)। शध्यैन्—सह मादयध्यै (यजु० ३।१३) तवै—सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्—दशमे मासि सूतवे (ऋ० १०।१८४।३)। तवेन्—स्वर्देवेषु गन्तवे (यजु० १५।५५), कर्त्तवे, हर्त्तवे ॥

भाषार्थः—वेदविषय में [तुमर्थे] तुमर्थ में धातु से [सेसे···तवेनः] से, सेन् आदि प्रत्यय होते हैं ॥ तुमुन् प्रत्यय भाव में होता है, सो तुमर्थ का अर्थ हुआ भाव। अतः भाव में ये सब प्रत्यय होंगे। सिद्धियां सब परि० १।३।३८ के जीवसे के समान

जान लें ॥ से, सेन्, अध्यै, अध्यैन् आदि प्रत्ययों में केवल स्वर का भेद है। नित् करने से ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) से आद्युदात्त होगा। अन्यत्र प्रत्ययस्वर (३।१।३) होगा। षूङ् धातु से सूतवे प्रयोग में तवेङ् प्रत्यय के ङित् होने से गुणाभाव भी होगा ॥

यहाँ से 'तुमर्थे' की अनुवृत्ति ३।४।१७ तक जायेगी ॥

प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै ॥३।४।१०॥

प्रयै अ० ॥ रोहिष्यै अ० ॥ अव्यथिष्यै अ० ॥ अनु०—तुमर्थे, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै इत्येते शब्दास्तुमर्थे छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ प्रयै इति प्र पूर्वाद् या धातोः कै प्रत्ययो निपात्यते, प्रयातुं=प्रयै (ऋ० १।१४२।६)। रोहिष्यै इति रुह धातोः इष्यै प्रत्ययः, रोढुं=रोहिष्यै। अव्यथिष्यै इति नञ्पूर्वाद् व्यथ धातोः इष्यै प्रत्ययः, अव्यथितुम्=अव्यथिष्यै ॥

भाषार्थः—[प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै] प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै ये शब्द वेदविषय में तुमर्थ में निपातन किये जाते हैं॥ प्र पूर्वक या धातु से कै प्रत्यय निपातन करके प्रयै बनाया है। 'कै' के कित् होने से या धातु के 'आ' का लोप भी आतो लोप इटि च (६।४।६४) से हो जायेगा। रुह धातु से 'इष्यै' प्रत्यय करके रोहिष्यै बना है। नञ् पूर्वक व्यथ धातु से इष्यै प्रत्यय करके अव्यथिष्यै रूप बना है। सर्वत्र कृन्मे० (१।१।३८) से अव्यय संज्ञा होकर पूर्ववत् सु का लुक् होगा ॥

दृशे विख्ये च ॥३।४।११॥

दृशे अ० ॥ विख्ये अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—तुमर्थे, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—दृशे विख्ये इत्येतौ शब्दौ तुमर्थे निपात्येते वैदिके प्रयोगे ॥ 'दृशे' इत्यत्र दृश् धातोः के प्रत्ययः। दृशे विश्वाय सूर्यम् (यजु० ७।४१)। 'विख्ये' इत्यत्र विपूर्वात 'ख्या' धातोः के प्रत्ययः। विख्ये त्वा हरामि ॥

भाषार्थः—[दृशे विख्ये] दृशे विख्ये ये दो शब्द [च] भी वेदविषय में तुमुन् के अर्थ में निपातन किये जाते हैं। दृशिर् एवं वि पूर्वक ख्या धातु से 'के' प्रत्यय निपातन करके दृशे विख्ये ये शब्द सिद्ध होंगे ॥ ख्या का आकार लोप पूर्ववत् ही होगा। पूर्ववत् अव्यय संज्ञा होकर सु का लुक् भी सिद्धि में जानें ॥ द्रष्टुम् के अर्थ में दृशे, तथा विख्यातुम् के अर्थ में विख्ये बना है ॥

शकि णमुल्कमुलौ ॥३।४।१२॥

शकि ७।१॥ णमुल्कमुलौ १।२॥ स०—णमु० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तुमर्थे, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शक्नोति धातावुपपदे तुमर्थे छन्दसि

विषये धातोर्णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०—अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः । कमुल्—अपलुपं नाशक्नुवन्, अपलाप्तुमित्यर्थः ॥

भाषार्थः—[शकि] शक्नोति धातु उपपद हो, तो वेदविषय में तुमर्थ में धातु से [णमुल्कमुलौ] णमुल् तथा कमुल प्रत्यय होते हैं ॥ णमुल में णित् वृद्धि के लिये, तथा कमुल् में कित् गुण-वृद्धि के प्रतिषेधार्थ है ॥ वि पूर्वक भज धातु से णमुल् होकर विभज् णमुल्=विभाज् अम्=विभाजम्, तथा अप पूर्वक लुप धातु से अपलुपं बना है ॥ सिद्धि में पूर्ववत् मकारान्त मानकर अव्यय संज्ञा होकर 'सु' का लुक् होगा ॥

ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥३।४।१३॥

ईश्वरे ७।१॥ तोसुन्कसुनौ १।२॥ स०—तोसु० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तुमर्थे, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ईश्वरशब्द उपपदे छन्दसि विषये तुमर्थे धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०— ईश्वरोऽभिचरितोः, अभिचरितु-मित्यर्थः । ईश्वरो विलिखः, विलेखितुमित्यर्थः । ईश्वरो वितृदः ॥

भावार्थः—[ईश्वरे] ईश्वर शब्द के उपपद रहते तुमर्थ में वेदविषय में धातु से [तोसुन्कसुनौ] तोसुन् कसुन् प्रत्यय होते हैं ॥ कसुन् में कित् गुण वृद्धि प्रति-षेधार्थ है ॥ सिद्धि में क्त्वातोसुन्० (१।१।३९) से अव्यय संज्ञा होकर सु का लुक् पूर्ववत् होगा ॥ अभि चर् तोस्=अभि चर् इट् तोस्=अभिचरितोः बना है । वि लिख् कसुन्=वि लिख् अस्=विलिखः बन गया ॥

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥३।४।१४॥

कृत्यार्थे ७।१॥ तवैकेन्केन्यत्वनः १।३॥ स०—कृत्यस्य अर्थः कृत्यार्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । तवै च केन् च केन्यश्च त्वन् च तवै···त्वनः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ कृत्यानामर्थौ भावकर्मणी, तयोरेव कृत्य० (३।४।७०) इत्यनेन ॥ अर्थः—छन्दसि विषये कृत्यार्थेऽभिधेये धातोः तवै केन् केन्य त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति ॥ उदा०—तवै—अन्वेतवै, अन्वेतव्यमित्यर्थः । परिस्तरि-तवै, परिस्तरितव्यमित्यर्थः । परिधातवै,परिधातव्यमित्यर्थः । केन्—नावगाहे, नावगाहि-तव्यमित्यर्थः । केन्य—दिदृक्षेण्यः (तै० ब्रा० २।७।१।४), शुश्रूषेण्यः । दिदृक्षितव्यं शुश्रूषितव्यमित्यर्थः । त्वन्—कर्त्वं हविः (अथ० १।४।३), कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥

भाषार्थः—[कृत्यार्थे] कृत्यार्थ में=तयोरेव कृत्य० (३।४।७०) से भाव कर्म में वेदविषय में धातु से [तवैकेन्केन्यत्वनः] तवै, केन्, केन्य, त्वन् ये चार प्रत्यय होते हैं ॥

विवृक्षेण्यः शुश्रूषेण्यः में विवृक्ष शुश्रूष सन्नन्त धातुओं से केन्य प्रत्यय होकर, सु आकर रुत्व विसर्जनीय हुआ है। तब केन् प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा पूर्ववत् कृन्मेजन्तः (१।१।३८) से होगी ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

यहाँ से 'कृत्यार्थे' की अनुवृत्ति ३।४।१५ तक जायेगी ॥

अवचक्षे च ॥३।४।१५॥

अवचक्षे अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—कृत्यार्थे, छन्दसि, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—छन्दसि विषये कृत्यार्थे अवपूर्वात् चक्षिङ् धातोः शेन प्रत्ययो निपात्यते । अवचक्षे इति (यजु० १७।६३), अवख्यातव्यमित्यर्थः ॥

भाषार्थः—कृत्यार्थ अभिधेय हो, तो वेदविषय में अव पूर्वक चक्षिङ् धातु से शेन् प्रत्ययान्त [अवचक्षे] अवचक्षे शब्द [च] भी निपातन किया जाता है ॥ शेन् के शित् होने से उसकी सार्वधातुकसंज्ञा होकर चक्षिङः ख्याञ् (२।४।५४) से चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश नहीं होता ॥ पूर्ववत् अव्ययसंज्ञादि होकर सिद्धि जानें ॥

भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन् ॥३।४।१६॥

भावलक्षणे ७।१॥ स्थेण्…भ्यः ५।३॥ तोसुन् १।१॥ स०—लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्, भावस्य लक्षणं भावलक्षणम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । स्थेण्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, तुमर्थे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भावलक्षणे वर्त्तमानेभ्यः स्था, इण्, कृञ्, वदि, चरि, हु, तमि, जनि इत्येतेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये तुमर्थे तोसुन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—आ संस्थातोर्वेद्यां सीदन्ति । इण्—पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (का० सं० ८।३)। कृञ्—पुरा वत्सानामपाकर्त्तोः । वदि—पुरा प्रवदितोरग्नौ प्रहोतव्यम् । चरि—पुरा प्रचरितोराग्नीध्रे होतव्यम् । हु—आ होतोरप्रमत्तस्तिष्ठति । तमि—आ तमितोरासीत । जनि—आ विजनितोः सम्भवामेति ॥

भाषार्थः—[भावलक्षणे] भाव=क्रिया के लक्षण में वर्तमान [स्थेण्… भ्यः] स्था, इण् आदि धातुओं से वेदविषय में तुमर्थ में [तोसुन्] तोसुन् प्रत्यय होता है ॥ उदेतोः की सिद्धि परि० १।१।३९ में दिखा आये हैं। सो सब में वही प्रकार जानना चाहिये॥ सम्पूर्वक स्था धातु से 'संस्थातोः' बना है। 'आ संस्थातोर्वेद्यां सीदन्ति' का अर्थ है यज्ञ की समाप्तिपर्यन्त बैठते हैं। सो समाप्तिपर्यन्त से बैठना क्रिया लक्षित हो रही है। अतः स्था धातु भावलक्षण=क्रिया के लक्षण में वर्तमान है। इस प्रकार अन्य उदाहरणों में भी भावलक्षण है॥

यहाँ से 'भावलक्षणे' की अनुवृत्ति ३।४।१७ तक जायेगी ॥

सृपितृदोः कसुन् ॥३।४।१७॥

सृपितृदोः ६।२॥ कसुन् १।१॥ स०—सृपि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—भावलक्षणे, छन्दसि, तुमर्थे, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—भावलक्षणे वर्त्तमानाभ्यां सृपि तृद इत्येताभ्यां धातुभ्यां छन्दसि विषये तुमर्थे कसुन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् (यजु० १।२८)। पुरा जत्रुभ्य आतृदः (ऋ० ८।१।१२) ॥

भाषार्थः—भावलक्षण में वर्त्तमान [सृपितृदोः] सृपि तथा तृद धातुओं से वेदविषय में तुमर्थ में [कसुन्] कसुन् प्रत्यय होता है ॥ परि० १।१।३९ में विसृपः की सिद्धि दिखाई है, सो आतृदः में भी उसी प्रकार जानें। कसुन् में कित्करण गुणप्रतिषेधार्थ है ॥

अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ॥३।४।१८॥

अलङ्खल्वोः ७।२॥ प्रतिषेधयोः ७।२॥ प्राचाम् ६।३॥ क्त्वा १।१॥ स०—अलं० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रतिषेधवाचिनोः अलं खलु इत्येतयोरुपपदयोः धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति, प्राचामाचार्याणां मतेन ॥ उदा०—अलं कृत्वा, अलं बाले रुदित्वा। खलु कृत्वा। अन्येषां मते क्त्वा न भवति—अलं करणेन, अलं रोदनेन। खलु करणेन इत्येव भवति ॥

भाषार्थः—[प्रतिषेधयोः] प्रतिषेधवाची [अलङ्खल्वोः] अलं तथा खलु शब्द उपपद रहते [प्राचाम्] प्राचीन आचार्यों के मत में धातु से [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय होता है। अन्यों के मत में नहीं होता ॥ उदा०—अलं कृत्वा (मत कर)। अलं बाले रुदित्वा (हे बालिके, मत रो)। खलु कृत्वा (मत कर)। अन्यों के मत में क्त्वा न होकर अलं करणेन (भाव में ३।३।११५ से ल्युट्) आदि प्रयोग बनेंगे ॥ सिद्धि परि० १।१।३९ के चित्वा जित्वा की तरह जानें ॥

यहाँ से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति ३।४।२४ तक जायेगी ॥

उदीचां माङो व्यतीहारे ॥३।४।१९॥

उदीचाम् ६।३॥ माङः ५।१॥ व्यतीहारे ७।१॥ अनु०—क्त्वा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—व्यतीहारेऽर्थे वर्त्तमानाद् मेङ् धातोः उदीचामाचार्याणां मतेन क्त्वा प्रत्ययो भवति ॥ अपूर्वकालत्वादप्राप्तोऽयं (३।४।२०) क्त्वा विधीयते ॥ उदा०—अपमित्य याचते। अन्येषां मते यथाप्राप्तं—याचित्वा अपमयते इति भवति ॥

भाषार्थः—[व्यतीहारे] व्यतीहार अर्थवाली [माङः] मेङ् धातु से [उदीचाम्] उदीच्य आचार्यों के मत में क्त्वा प्रत्यय होता है ॥ मेङ् को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व करके, सूत्र में 'माङ्' निर्देश किया है ॥

समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१) से पूर्वकालिक क्त्वा प्रत्यय प्राप्त था। अपूर्वकालिक क्रिया से भी क्त्वा हो जाये, अतः यह सूत्र बनाया है ॥ उदाहरण में 'भिक्षुक पहले मांगता है, पश्चात् परस्पर विनिमय करता है', सो विनिमय क्रिया अपूर्वकालिक है ॥ उदीचाम् कहा है, अतः अन्य आचार्यों के मत में यथाप्राप्त पूर्वकालिक धातु से भी क्त्वा होकर याचित्वा अपमयते बनेगा। अर्थ इसका पूर्ववत् ही होगा ॥ अपमित्य में मयतेरिदन्यतरस्याम् (६।४।७०) से 'मा' के आ को इत्व हुआ है। शेष सिद्धि परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

परावरयोगे च ॥३।४।२०॥

परावरयोगे ७।१॥ च अ० ॥ स०—परश्च अवरश्च परावरौ, ताभ्यां योगः परावरयोगः, तस्मिन्, द्वन्द्वगर्भस्तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—क्त्वा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—परेणावरस्य (=पूर्वस्य) योगे गम्यमाने, अवरेण च (=पूर्वेण च) परस्य योगे गम्यमाने धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—परेण—अप्राप्य नदीं पर्वतः स्थितः। अवरेण—अतिक्रम्य तु पर्वतं नदी स्थिता ॥

भाषार्थः—[परावरयोगे] जब पर का अवर (=पूर्व) के साथ, या पूर्व का पर के साथ योग गम्यमान हो, तो [च] भी धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है ॥ उदा०—अप्राप्य नदीं पर्वतः स्थितः (पर भाग में स्थित नदी से पूर्व पर्वत स्थित है)। अवर के द्वारा—अतिक्रम्य तु पर्वतं नदी स्थिता (पर्वत के पश्चात् पर भाग में नदी स्थित है) ॥ प्र पूर्वक आप्लृ तथा अति पूर्वक क्रम धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर प्राप्य एवं अतिक्रम्य की सिद्धि पूर्ववत् जानें। प्राप्य बनाकर पुनः नञ् समास होकर अप्राप्य बनेगा ॥

समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले ॥३।४।२१॥

समानकर्त्तृकयोः ७।२॥ पूर्वकाले ७।१॥ स०—समानः कर्त्ता ययोः तौ समानकर्त्तृकौ, तयोः, बहुव्रीहिः। पूर्वश्चासौ कालश्च पूर्वकालः, तस्मिन्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्त्वा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—समानकर्त्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानाद् धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—देवदत्तो भुक्त्वा व्रजति, पीत्वा व्रजति, स्नात्वा भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[समानकर्त्तृकयोः] समान अर्थात् एक कर्त्ता है जिन दो क्रियाओं

का, उनमें जो [पूर्वकाले] पूर्वकाल में वर्तमान धातु है उससे क्त्वा प्रत्यय होता है ॥ उदा०—देवदत्तो भुक्त्वा व्रजति (देवदत्त खाकर जाता है)। पीत्वा व्रजति (पीकर जाता है)। स्नात्वा भुङ्क्ते (स्नान करके खाता है)॥ उदाहरण में जाने क्रिया का तथा खाने क्रिया का कर्त्ता देवदत्त ही है। सो भुज् एवं व्रज समानाकर्त्तृक धातुएं हैं। एवं पहले खाता है पीछे जाता है, अतः भुज् धातु पूर्वकालिक है। सो इससे क्त्वा प्रत्यय हो गया है। इसी प्रकार सब में समझें। सिद्धियां परि० १।१।३६ में देखें। भुक्त्वा में चोः कुः (८।२।३०) से ज् को कुत्व हुआ है, तथा पीत्वा में घुमास्थागापा० (६।४।६६) से 'पा' के आ को ईत्व हुआ है॥

यहां से "समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले" की अनुवृत्ति ३।४।२६ तक जायेगी॥

आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ॥३।४।२२॥

आभीक्ष्ण्ये ७।१॥ णमुल् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले, क्त्वा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आभीक्ष्ण्ये गम्यमाने समानकर्त्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले धात्वर्थे वर्त्तमानाद् धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति, चकारात् क्त्वा च ॥ उदा०—भोजम् भोजं व्रजति। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति॥

भावार्थः—[आभीक्ष्ण्ये] आभीक्ष्ण्ये=पौनःपुन्य अर्थ में समानाकर्त्तृक दो धातुओं में जो पूर्वकालिक धातु उससे [णमुल्] णमुल् प्रत्यय होता है, [च] चकार से क्त्वा भी होता है॥ उदा०—भोजम् भोजं व्रजति (खा-खा कर जाता है)। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। सिद्धि पूर्ववत् जानें॥

यहां से 'आभीक्ष्ण्ये' की अनुवृत्ति ३।४।२३ तक, तथा 'णमुल्' की अनुवृत्ति ३।४।२४ तक जायेगी॥

न यद्यनाकाङ्क्षे ॥३।४।२३॥

न अ० ॥ यदि ७।१॥ अनाकाङ्क्षे ७।१॥ स०—आकाङ्क्षतीति आकाङ्क्षम्, पचाद्यच् प्रत्ययः। न आकाङ्क्षम् अनाकाङ्क्षम्, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—आभीक्ष्ण्ये, णमुल्, समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले, क्त्वा, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—समानकर्त्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले वर्त्तमानाद् धातोः यच्छब्द उपपदे क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ न भवतोऽनाकाङ्क्षे वाच्ये॥ उदा०—यदयं भुङ्क्ते ततः पठति। यदयमधीते ततः शेते॥

भावार्थः—समानकर्त्तावाले धातुओं में से पूर्वकालिक धात्वर्थ में वर्त्तमान धातु से [यदि] यद् शब्द के उपपद होने पर क्त्वा णमुल् प्रत्यय [न] नहीं होते हैं, यदि [अनाकाङ्क्षे] अन्य वाक्य की आकाङ्क्षा न रखनेवाला वाक्य अभिधेय हो॥ उदा०—यदयं भुङ्क्ते ततः पठति (यह बार बार पहले खाता है, पीछे पढ़ता है)।

यदयमधीते ततः शेते (यह पहले बार बार पढ़ता है, तब सोता है) ।। यहाँ भोजन पठन क्रियावाला वाक्य अन्य किसी वाक्य को आकाङ्क्षा नहीं रखता है। इसी प्रकार अध्ययन-शयनवाला वाक्य भी अनाकाङ्क्ष है ।।

विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु ।।३।४।२४।।

विभाषा १।१।। अग्रेप्रथमपूर्वेषु ७।३।। स०—अग्रे च प्रथमश्च पूर्वश्च अग्रेप्रथमपूर्वाः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले, क्त्वा, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—अग्रे प्रथम पूर्व इत्येतेषूपपदेषु समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले धातोर्विभाषा क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः ।। उदा०—अग्रे भोजं व्रजति । अग्रे भुक्त्वा व्रजति । प्रथमं भोजं व्रजति । प्रथमं भुक्त्वा व्रजति । पूर्वं भोजं व्रजति । पूर्वं भुक्त्वा व्रजति ।। विभाषाग्रहणात् पक्षे लडादयोऽपि भवन्ति—अग्रे भुङ्क्ते ततो व्रजति । प्रथमं भुङ्क्ते ततो व्रजति । पूर्वं भुङ्क्ते ततो व्रजति ।।

भाषार्थः—[अग्रेप्रथमपूर्वेषु] अग्रे प्रथम पूर्व उपपद हों, तो समानकर्त्तृक पूर्वकालिक धातु से [विभाषा] विकल्प से क्त्वा णमुल् प्रत्यय होते हैं। पक्ष में लडादि लकार होते हैं ।। उदा०—अग्रे भोजं व्रजति (आगे खाकर जाता है)। अग्रे भुक्त्वा व्रजति इत्यादि संस्कृतभाग के अनुसार सारे उदाहरण जानें ।।

कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् ।।३।४।२५।।

कर्मणि ७।१।। आक्रोशे ७।१।। कृञः ५।१।। खमुञ् १।१।। अनु०—समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—कर्मण्युपपदे आक्रोशे गम्यमाने समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले कृञ् धातोः खमुञ् प्रत्ययो भवति ।। उदा०—चोरङ्कारमाक्रोशति । दस्युङ्कारमाक्रोशति ।।

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म उपपद रहते [आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान हो, तो समानकर्त्तृक पूर्वकालिक [कृञः] कृञ् धातु से [खमुञ्] खमुञ् प्रत्यय होता है ।। प्रत्यय के खित् होने से अरुर्द्विषद० (६।३।६५) से मुम् आगम होकर चोर मुम् कार् अम्=चोरङ्कारमाक्रोशति (चोर है, ऐसा कहकर चिल्लाता है)। दस्युङ्कारमाक्रोशति बन गया है ।।

यहाँ से 'कृञः' की अनुवृत्ति ३।४।२८ तक जायेगी ।।

[1]स्वादुमि णमुल् ।।३।४।२६।।

स्वादुमि ७।१।। णमुल् १।१।। अनु०—कृञः, समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले, धातोः,

---

१. यहाँ 'स्वादु' शब्द को वोतो गुणवचनात् (४।१।४४) से ङीष् प्रत्यय प्राप्त था। वह न हो जाये, इसलिये मकारान्त निपातन करके 'स्वादुम्' शब्द माना है ।।

प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्वाद्वर्थेषु शब्देषूपपदेषु समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले कृञ्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[स्वादुमि] स्वादुवाची शब्दों के उपपद रहते समानकर्त्तृक पूर्वकालिक कृञ् धातु से [णमुल्] णमुल् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि परि० १।१।३८ में देखें ॥

यहाँ से 'णमुल्' की अनुवृत्ति ३।४।५८ तक जायेगी ॥

अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ॥३।४।२७॥

अन्य···त्थंसु ७।३॥ सिद्धाप्रयोगः १।१॥ चेत् अ० ॥ स०—अन्यथा च एवं च कथं च इत्थं च अन्य···त्थमः, तेषु, इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ न प्रयोगः अप्रयोगः, नञ्तत्पुरुषः । सिद्धः अप्रयोगो यस्य स सिद्धाप्रयोगः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णमुल्, कृञः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अन्यथा एवं कथम् इत्थम् इत्येतेषूपपदेषु कृञ्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति सिद्धाप्रयोगश्चेत् करोतिर्भवेत् ॥ उदा०—अन्यथाकारं भुङ्क्ते । एवंकारं भुङ्क्ते । कथङ्कारं भुङ्क्ते । इत्थंकारं भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[अन्य त्थंसु] अन्यथा एवं कथं इत्थम् शब्दों के उपपद रहते कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, [चेत्] यदि कृञ् का [सिद्धाप्रयोगः] अप्रयोग सिद्ध हो ॥ उदा०—अन्यथाकारं भुङ्क्ते (बिगाड़ कर खाता है) । एवंकारं भुङ्क्ते (इस प्रकार खाता है) । कथंकारं भुङ्क्ते (किस प्रकार खाता है) । इत्थंकारं भुङ्क्ते (इस प्रकार खाता है) ॥ यहाँ उदाहरणों में अन्यथा भुङ्क्ते का जो अर्थ है, वही अन्यथाकार भुङ्क्ते का है । अर्थात् अभीष्ट अर्थ बिना कृञ् धातु (कारं) के प्रयोग के ही कहा जा रहा है । अतः यहाँ कृञ् का प्रयोग भी अप्रयोग के समान है । इस प्रकार सिद्ध कृञ् के प्रयोग को यहाँ सिद्धाप्रयोग कहा है । उदाहरणों में सर्वत्र कृन्मेजन्तः (१।१।३८) से अव्ययसंज्ञा होगी ॥

यहाँ से 'सिद्धाप्रयोगः' की अनुवृत्ति ३।४।२८ तक जायेगी ॥

यथातथयोरसूयाप्रतिवचने ॥३।४।२८॥

यथातथयोः ७।२॥ असूयाप्रतिवचने ७।१॥ स०—यथा च तथा च यथातथौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । असूयया=निन्दया प्रतिवचनं=प्रत्युत्तरम् असूयाप्रतिवचनम्, तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—सिद्धाप्रयोगः, णमुल्, कृञः, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—असूयाप्रतिवचने गम्यमाने यथातथयोरुपपदयोः कृञो णमुल् प्रत्ययो भवति, सिद्धाप्रयोगश्चेत् करोतिर्भवति ॥ उदा०—यथाकारमहं भोक्ष्ये, तथाकारं किं तवानेन ॥

भाषार्थ:—[यथातथयोः] यथा तथा शब्द उपपद रहते [असूयाप्रतिवचने] असूयाप्रतिवचन=निन्दा से प्रत्युत्तर गम्यमान हो, तो कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, यदि कृञ् का अप्रयोग सिद्ध हो ॥

उदाहरण में जो यथा भोक्ष्ये का अर्थ है, वही यथाकारं भोक्ष्ये का है। अतः कृञ् का अप्रयोग सिद्ध है। किसी ने किसी से पूछा कि तुम कैसे खाते हो? तो उसने निन्दा से उत्तर दिया कि यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारं किं तवानेन? (मैं जैसे खाता हूं, वैसे खाता हूं, इससे तुमको क्या?)। सो यहां असूयाप्रतिवचन है ॥

कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये ॥३।४।२९॥

कर्मणि ७।१॥ दृशिविदोः ६।२॥ साकल्ये ७।१॥ स०—दृशि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—साकल्ये=सम्पूर्णताविशिष्टे कर्मण्युपपदे दृशि विद् इत्येताभ्यां धातुभ्यां णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यवनदर्शं हन्ति। ब्राह्मणवेदं भोजयति ॥

भाषार्थ:—[साकल्ये] साकल्य=सम्पूर्णताविशिष्ट [कर्मणि] कर्म उपपद हो, तो [दृशिविदोः] दृशिर् तथा विद धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ यवनदर्शं, ब्राह्मणवेदं में "जिन-जिन (सब) यवनों को देखता है मारता है। एवं जिन-जिन ब्राह्मणों को जानता है खिलाता है" यह अर्थ होने से यवन तथा ब्राह्मण साकल्यविशिष्ट कर्म हैं, सो णमुल् हुआ है ॥ सिद्धि सारी परि० १।१।३८ की तरह जानें ॥

यहां से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति ३।४।३६ तक जायेगी ॥

यावति विन्दजीवोः ॥३।४।३०॥

यावति ७।१॥ विन्दजीवोः ६।२॥ स०—विन्द० इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यावच्छब्द उपपदे विन्द जीव इत्येताभ्यां धातुभ्यां णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यावद्वेदं भोजयति। यावज्जीवमधीते ॥

भाषार्थ:—[यावति] यावत् शब्द उपपद रहते [विन्दजीवोः] 'विद्लृ लाभे' एवं 'जीव प्राणधारणे' धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—यावद्वेदं भोजयति (जितना पाता है, उतना खिलाता है)। यावज्जीवमधीते (मरणपर्यन्त पढ़ता है) ॥

चर्मोदरयोः पूरेः ॥३।४।३१॥

चर्मोदरयोः ७।२॥ पूरेः ५।१॥ स०—चर्म० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—चर्म उदर इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोर्ण्यन्तात् 'पूरी आप्यायने' इत्यस्माद् धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—चर्मपूरं स्तृणाति। उदरपूरं भुङ्क्ते ॥

भावार्थः—[चर्मोदरयोः] चर्म तथा उदर कर्म उपपद रहते [पूरेः] पूरी ण्यन्त धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ पूरी का पूर् रूप शेष रह जाता है। तत्पश्चात् णिच् लाकर 'पूरि' ऐसे ण्यन्त का इस सूत्र में ग्रहण है ॥ उदा०—चर्मपूरं स्तृणाति (सब चमड़े को ढांपता है)। उदरपूरं भुङ्क्ते (पेट भरकर खाता है) ॥

यहाँ से 'पूरेः' की अनुवृत्ति ३।४।३२ तक जायेगी ॥

वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम् ॥३।४।३२॥

वर्षप्रमाणे ७।१॥ ऊलोपः १।१॥ च अ० ॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—वर्षस्य प्रमाणं वर्षप्रमाणं, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः। ऊकारस्य लोप ऊलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—पूरेः, कर्मणि, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—वर्षप्रमाणे गम्यमाने कर्मण्युपपदे ण्यन्तात् पूरीधातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति, तस्य च पूरेर्विकल्पेन ऊकारलोपो भवति ॥ उदा०—गोष्पदप्रं वृष्टो देवः, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। सीताप्रं वृष्टो देवः, सीतापूरं वृष्टो देवः ॥

भावार्थः—[वर्षप्रमाणे] वर्षा का प्रमाण गम्यमान हो (कि कितनी वर्षा हुई है), तो कर्म उपपद रहते ण्यन्त पूरी धातु से णमुल् प्रत्यय होता है, [च] तथा [अस्य] इस पूरी धातु के [ऊलोपः] ऊकार का लोप [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है ॥ उदा०—गोष्पदप्रं वृष्टो देवः (भूमि में गाय के खुर के द्वारा हुए गड्ढे के भरने जितनी वर्षा हुई), गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। सीताप्रं वृष्टो देवः (हल की फाली से हुये गड्ढे के भरने जितनी वर्षा हुई), सीतापूरं वृष्टो देवः ॥ 'गोष्पद' तथा 'सीता' कर्म पूरी धातु के उपपद हैं, वर्षा का प्रमाण कहा ही जा रहा है। सो उदाहरण में णमुल् प्रत्यय, तथा पक्ष में पूरी के ऊकार का लोप होकर गोष्पद पूर् अम्=गोष्पदप्रं बना है, पक्ष में ऊकारलोप न होकर गोष्पदपूरं बनेगा ॥

यहाँ से 'वर्षप्रमाणे' की अनुवृत्ति ३।४।३३ तक जायेगी ॥

चेले क्नोपेः ॥३।४।३३॥

चेले ७।१॥ क्नोपेः ५।१॥ अनु०—वर्षप्रमाणे, कर्मणि, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—चेलार्थेषु कर्मसूपपदेषु वर्षप्रमाणे गम्यमाने 'क्नूयी शब्दे उन्दे च' इत्यस्माद् ण्यन्ताद् धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—चेलक्नोपं वृष्टो देवः, वस्त्रक्नोपं, वसनक्नोपम् ॥

भावार्थः—[चेले] चेलवाची कर्म उपपद हों, तो वर्षा का प्रमाण गम्यमान होने पर [क्नोपेः] क्नूयी ण्यन्त धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ क्नोपि ण्यन्त निर्देश सूत्र में है, अतः ण्यन्त क्नोपि धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। अर्तिह्री॰ (७।३।३६) से पुक् आगम, पुगन्त॰ (७।३।८६) से गुण, तथा लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से

यकार लोप होकर क्नोपि धातु बना है ॥ उदा०—चेलक्नोपं वृष्टो देवः (कपड़ा गीला हो गया, इतनी वर्षा हुई), वस्त्रक्नोपं, वसनक्नोपम् ॥

निमूलसमूलयोः कषः ॥३।४।३४॥

निमूलसमूलयोः ७।२॥ कषः ५।१॥ स०—निमू० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—निमूल समूल इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोः कषधातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—निमूलकाषं कषति । समूलकाषं कषति ॥

भाषार्थः—[निमूलसमूलयोः] निमूल तथा समूल कर्म उपपद रहते [कषः] कष धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—निमूलकाषं कषति (जड़ को छोड़कर काटता है) । समूलकाषं कषति (जड़समेत काटता है) ॥

शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः ॥३।४।३५॥

शुष्कचूर्णरूक्षेषु ७।३॥ पिषः ५।१॥ स०—शुष्कश्च चूर्णश्च रूक्षश्च शुष्कचूर्णरूक्षाः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शुष्क चूर्ण रूक्ष इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु पिष्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शुष्कपेषं पिनष्टि । चूर्णपेषं पिनष्टि । रूक्षपेषं पिनष्टि ॥

भावार्थः—[शुष्कचूर्णरूक्षेषु] शुष्क चूर्ण तथा रूक्ष कर्म उपपद रहते [पिषः] 'पिष्लृ सञ्चूर्णने' धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—शुष्कपेषं पिनष्टि (सूखे को पीसता है) । चूर्णपेषं पिनष्टि (चूर्ण को पीसता है) । रूक्षपेषं पिनष्टि (रूखे को पीसता है) ॥

समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः ॥३।४।३६॥

समूलाकृतजीवेषु ७।३॥ हन्कृञ्ग्रहः ५।१॥ स०—समू० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः । हन् च कृञ् च ग्रह् च हन्कृञ्ग्रह्, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः— समूल अकृत जीव इत्येतेषु कर्मसूपपदेषु यथासङ्ख्यं हन् कृञ् ग्रह् इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—समूलघातं हन्ति । अकृतकारं करोति । जीवग्राहं गृह्णाति ॥

भाषार्थः—[समूलाकृतजीवेषु] समूल अकृत तथा जीव कर्म उपपद हों, तो यथासङ्ख्य करके [हन्कृञ्ग्रहः] हन् कृञ् तथा ग्रह धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—समूलघातं हन्ति (मूल समेत मारता है)। अकृतकारं करोति (न किये को करता है) । जीवग्राहं गृह्णाति (जीव को ग्रहण करता है) । परि० ३।२।५१ के शीर्षघाती के समान समूलघातं की सिद्धि जानें, । अन्तर केवल इतना है कि यहाँ णमुल् प्रत्यय हुआ है, तथा शीर्षघाती में णिनि हुआ है ॥

करणे हनः ॥३।४।३७॥

करणे ७।१॥ हनः ५।१॥ अनु०—णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—करणे कारक उपपदे हन्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पाणिभ्याम् उपहन्ति=पाण्युपघातं वेदिं हन्ति । पादोपघातं वेदिं हन्ति॥

भाषार्थः—[करणे] करण कारक उपपद हो, तो [हनः] हन् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—पाण्युपघातं वेदिं हन्ति (हाथ से वेदि को कूटता है)। पादोपघातं वेदिं हन्ति (पैर से वेदि को कूटता है) ॥ सिद्धि परि० ३।२।५१ के समान जानें ॥

यहाँ से 'करणे' की अनुवृत्ति ३।४।४० तक जायेगी ॥

स्नेहने[1] पिषः ॥३।४।३८॥

स्नेहने ७।१॥ पिषः ५।१॥ अनु०—करणे, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्नेहनवाचिनि करण उपपदे पिष्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति । उदा०—उदकेन पिनष्टि=उदपेषं पिनष्टि । तैलपेषं पिनष्टि ॥

भाषार्थः—[स्नेहने] स्नेहनवाची करण उपपद हो, तो [पिषः] पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—उदपेषं पिनष्टि (जल से पीसता है)। तैलपेषं पिनष्टि (तेल से पीसता है) ॥

उदपेषं में पेषवासवाहनधिषु च (६।३।५६) से उदक को उद भाव हो गया है ॥

हस्ते वर्त्तिग्रहोः ॥३।४।३९॥

हस्ते ७।१॥ वर्त्तिग्रहोः ६।२॥ स०—वर्त्ति० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—करणे, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—हस्तवाचिनि करण उपपदे वर्त्ति ग्रह इत्येताभ्यां धातुभ्यां णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—हस्तेन वर्त्तयति=हस्तवर्त्तं वर्त्तयति, करवर्त्तम् । हस्तग्राहं गृह्णाति, करग्राहं गृह्णाति ॥

भाषार्थः—[हस्ते] हस्तवाची करण उपपद हो, तो [वर्त्तिग्रहोः] वर्त्ति तथा ग्रह धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—हस्तवर्त्तं वर्त्तयति (हाथ से करता

---

१. स्नेहन द्रव पदार्थ=बहनेवाली वस्तु को कहते हैं । यथा—पानी तेल एवं गलाया हुआ लोहा सोना चाँदी आदि ॥

है), करवर्तम् । हस्तग्राहं गृह्णाति (हाथ से ग्रहण करता है), करग्राहम् ॥ वृतु का वर्त्ति यहाँ णिजन्त निर्देश है, अतः ण्यन्त से ही प्रत्यय होगा। पुनः णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो जायेगा ॥

स्वे पुषः ॥३।४।४०॥

स्वे ७।१॥ पुषः ५।१॥ अनु०—करणे, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्ववाचिनि करण उपपदे पुषधातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—स्वपोषं पुष्णाति, आत्मपोषं, गोपोषं, धनपोषं, रैपोषम् ॥

भाषार्थः—[स्वे] स्ववाची करण उपपद रहते [पुषः] पुष धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ स्व शब्द यहाँ अपना आत्मीय ज्ञाति तथा धन का पर्यायवाची है ॥ पित्पर्यायवच० (वा० १।१।६७) इस वार्त्तिक से स्व के स्वरूप पर्यायों तथा स्वविशेष का यहां ग्रहण है ॥ उदा०—स्वपोषं पुष्णाति (अपने द्वारा पुष्ट करता है), आत्मपोषं, गोपोषं, धनपोषम्, रैपोषम् ॥

अधिकरणे बन्धः ॥३।४।४१॥

अधिकरणे ७।१॥ बन्धः ५।१॥ अनु०—णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अधिकरणवाचिनि शब्द उपपदे बन्धधातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—चक्रे बध्नाति=चक्रबन्धं बध्नाति, कूटबन्धं बध्नाति, मुष्टिबन्धं बध्नाति, चोरकबन्धं बध्नाति ॥

भाषार्थः—[अधिकरणे] अधिकरणवाची शब्द उपपद हों, तो [बन्धः] बन्ध धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—चक्रबन्धं बध्नाति (चक्र=पहिये में बांधता है)। कूटबन्धं बध्नाति (लोहे के मुद्गर में बांधता है)। मुष्टिबन्धं बध्नाति (मुट्ठी में बांधता है)। चोरकबन्धं बध्नाति (चोरक बन्धविशेष में बांधता है)॥

यहाँ से 'बन्धः' की अनुवृत्ति ३।४।४२ तक जायेगी ॥

संज्ञायाम् ॥३।४।४२॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—बन्धः, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—संज्ञायां विषये बन्धधातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—क्रौञ्चबन्धं बध्नाति, मयूरिकाबन्धं, अट्टालिकाबन्धम् ॥

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में बन्ध धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से अधिकरण उपपद रहते प्राप्त था, यहाँ कारकसामान्य उपपद रहते भी कह दिया ॥ 'क्रौञ्चबन्ध' आदि बन्धविशेषों के नाम हैं ॥ सिद्धियां सब परि० १।१।३८ के समान जानें ॥

कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः ॥३।४।४३॥

कर्त्रो. ७।२॥ जीवपुरुषयो: ७।२॥ नशिवहो: ६।२॥ **स०**—उभयत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—कर्तृवाचिनो: जीवपुरुषयो-रुपपदयो: यथासङ्ख्यं नशि वह इत्येताभ्यां धातुभ्यां णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—जीवो नश्यति = जीवनाशं नश्यति । पुरुषवाहं वहति ॥

भावार्थ:—[कर्त्रोः] **कर्त्तावाची** [जीवपुरुषयोः] **जीव तथा पुरुष शब्द उपपद हों, तो यथासङ्ख्य करके** [नशिवहोः] **नश तथा वह धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है ॥** उदा०—**जीवनाशं नश्यति (जीव नष्ट होता है)। पुरुषवाहं वहति (पुरुष वहन करता है) ॥**

यहाँ से 'कर्त्रोः' की अनुवृत्ति ३।४।४५ तक जायेगी ॥

ऊर्ध्वे शुषिपूरोः ॥३।४।४४॥

ऊर्ध्वे ७।१॥ शुषिपूरोः ६।२॥ **स०**—शुषि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—कर्त्रोः, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—कर्त्तृवाचिनि ऊर्ध्वशब्द उपपदे शुषि पूरी इत्येताभ्यां धातुभ्यां णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—ऊर्ध्वशोषं शुष्यति । ऊर्ध्व-पूरं पूर्य्यते ॥

भावार्थ:—**कर्त्तावाची** [ऊर्ध्वे] **ऊर्ध्व शब्द उपपद हो, तो** [शुषिपूरोः] **'शुषि शोषणे' तथा 'पूरी आप्यायने' धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है ॥** उदा०—**ऊर्ध्वशोषं शुष्यति (ऊपर सूखता है)। ऊर्ध्वपूरं पूर्यते (ऊपर वर्षा के जल आदि से पूरा होता है) ॥**

उपमाने कर्मणि च ॥३।४।४५॥

उपमाने ७।१ कर्मणि ७।१॥ च अ० ॥ **अनु०**—कर्त्रोः, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—उपमानवाचिनि कर्मणि कर्त्तरि चोपपदे धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—मातरमिव धयति = मातृधायं धयति । गुरुसेवं सेवते । कर्त्तरि—बाल इव रोदिति = बालरोदं रोदिति । सिंहगर्जं गर्जति ॥

भावार्थ:—[उपमाने] **उपमानवाची** [कर्मणि] **कर्म उपपद रहते,** [च] **चकार से कर्त्ता उपपद रहते भी धातुमात्र से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ जिससे उपमा दी जाय वह उपमान होता है ॥** उदा०—**मातृधायं धयति (जैसे माता का दूध पीता है वैसे दूध पीता है)। गुरुसेवं सेवते (जैसे गुरु की सेवा करता है वैसे सेवा करता है)। कर्त्ता में—बालरोदं रोदिति (जैसे बालक रोता है वैसे रोता है)। सिंहगर्जं गर्जति (जैसे सिंह गरजता है वैसे गरजता है) ॥ मातृधायं, यहाँ** आतो युक्० (६।३।३३) **से युक् आगम होता है ॥**

कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ॥३।४।४६॥

कषादिषु ७।३॥ यथाविधि अ० ॥ अनुप्रयोगः १।१॥ स०—कष आदिर्येषां ते कषादयः, तेषु, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—निमूलसमूलयोः कषः (३।४।३४) इत्यारभ्य ये धातवस्ते कषादयः, एतेषु यथाविध्यनुप्रयोगो भवति ॥ यस्माद् धातोर्णमुल् विहितः तस्यैव धातोरनुप्रयोगः कर्त्तव्यः । तथा चैवोदाहृतम् ॥

भाषार्थः—[कषादिषु] कषादि धातुओं में [यथाविधि] यथाविधि [अनुप्रयोगः] अनुप्रयोग होता है, अर्थात् जिस धातु से णमुल् का विधान करेंगे, उसका ही पश्चात् प्रयोग होगा ॥ निमूलसमूलयोः कषः (३।४।३४) से लेकर इस सूत्र पर्यन्त जितनी धातुएँ हैं, वे कषादि हैं ॥

उपदंशस्तृतीयायाम् ॥३।४।४७॥

उपदंशः ५।१॥ तृतीयायाम् ७।१॥ अनु०—णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तृतीयान्त उपपदे उपपूर्वाद् 'दंश दशने' इत्यस्माद् धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मूलकोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकेनोपदंशम् । आर्द्रकोपदंशं भुङ्क्ते, आर्द्रकेणोपदंशम् ॥

भाषार्थः—[तृतीयायाम्] तृतीयान्त शब्द उपपद रहते [उपदंशः] उपपूर्वक दंश धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—मूलकोपदंशं भुङ्क्ते (मूली से काट-काट कर खाता है), मूलकेनोपदंशम् । आर्द्रकोपदंशं भुङ्क्ते (अदरक से काट-काट कर खाता है), आर्द्रकेणोपदंशं भुङ्क्ते ॥ मूलकोपदंशं आदि में 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्य० (२।२।२१) से विकल्प से समास हुआ है । शेष पूर्ववत् ही जानें ॥ यहाँ से आगे जिन उपपदों के रहते प्रत्यय कहेंगे, वहाँ सर्वत्र पूर्वोक्त सूत्र से विकल्प से समास हुआ करेगा ॥

यहाँ से 'तृतीयायाम्' की अनुवृत्ति ३।४।५१ तक जायेगी ॥

हिंसार्थानाञ्च समानकर्मकाणाम् ॥३।४।४८॥

हिंसार्थानाम् ६।३॥च अ०॥ समानकर्मकाणाम् ६।३॥ स०—हिंसा अर्थो येषां ते हिंसार्थाः, तेषां, बहुव्रीहिः । समानं कर्म येषां ते समानकर्मकाः, तेषां, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तृतीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तृतीयान्त उपपदे अनुप्रयुक्तधातुना सह समानकर्मकेभ्यो हिंसार्थकधातुभ्यो णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दण्डोपघातं गाः कालयति, दण्डेनोपघातम् । नखोपघातं यूकान् गृह्णाति, नखेनोपघातम् ॥

भाषार्थः—अनुप्रयुक्त धातु के साथ [समानकर्मकाणाम्] समान कर्मवाली [हिंसार्थानाम्] हिंसार्थक धातुओं से [च] भी तृतीयान्त उपपद रहते णमुल् प्रत्यय होता है ।

अनुप्रयोग की हुई धातु का तथा जिससे णमुल् हो रहा हो उन धातुओं का समान कर्म होना चाहिये। सो उदाहरण में 'कालयति' 'गृह्णाति' अनुप्रयुक्त धातु हैं। इन दोनों धातुओं और हन् का गाः अथवा यूकान् समान कर्म हैं। सो इस प्रकार ये समानकर्मक धातुयें हुईं। अतः उप पूर्वक हन् धातु से णमुल् प्रत्यय हुआ है॥ हिंसार्थानां तथा समानकर्मकाणाम् पदों में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी हुई है॥ उदा०— दण्डोपघातं गाः कालयति (डण्डे से मारकर गौ को हटाता है), दण्डेनोपघातम्। नखोपघातं यूकान् गृह्णाति (नाखून से दबाकर जूँ को पकड़ता है), नखेनोपघातम्। पूर्ववत् विकल्प से समास होकर सिद्धियाँ जानें॥

सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः ॥३।४।४९॥

सप्तम्याम् ७।१॥ च अ० ॥ उपपीडरुधकर्षः १।१, पञ्चम्यर्थे प्रथमा। स०— पीडश्च रुधश्च कर्षश्च पीडरुधकर्षः, समाहारद्वन्द्वः। उपपूर्वं पीडरुधकर्षः उपपीडरुधकर्षः, उत्तरपदलोपो तत्पुरुषः॥ अनु०—तृतीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—तृतीयान्ते सप्तम्यन्ते चोपपदे उपपूर्वेभ्यः पीड रुध कर्ष इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णमुल् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—पार्श्वोपपीडं शेते, पार्श्वयोरुपपीडम्, पार्श्वाभ्यामुपपीडम्। पाण्युपरोधं चूर्णं पिनष्टि, पाणावुपरोधम्, पाणिनोपरोधम्। पाण्युपकर्षं धानाः संगृह्णाति, पाणावुपकर्षं, पाणिनोपकर्षम्॥

भावार्थः—तृतीयान्त तथा [सप्तम्याम्] सप्तम्यन्त उपपद हो, तो [उपपीडरुधकर्षः] उपपूर्वक पीड रुध तथा कर्ष धातुओं से [च] भी णमुल् प्रत्यय होता है॥ उदा०—पार्श्वोपपीडं शेते (बगल से या बगल में दबाकर सोता है), पार्श्वयोरुपपीडं, पार्श्वाभ्यामुपपीडम्। पाण्युपरोधं चूर्णं पिनष्टि (हाथ से दबाकर आटा पीसता है), पाणावुपरोधं, पाणिनोपरोधम्। पाण्युपकर्षं धानाः संगृह्णाति (हाथ से पकड़कर धानों को इकट्ठा करता है), पाणावुपकर्षं, पाणिनोपकर्षम्॥ सर्वत्र तृतीयाप्रभृती० (२।२।२१) से विकल्प से समास होकर पार्श्वयोरुपपीडम् आदि भी बनेंगे॥ यहाँ 'कृष' धातु से शप् तथा गुण करके निर्देश किया गया है। अतः भ्वादिगण की कृष धातु का ग्रहण होता है, तुदादि का नहीं॥

यहाँ से 'सप्तम्याम्' की अनुवृत्ति ३।४।५१ तक जायेगी॥

समासत्तौ ॥३।४।५०॥

समासत्तौ ७।१॥ अनु०—सप्तम्याम्, तृतीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—समासत्तिः=सन्निकटता, तस्यां गम्यमानायां तृतीयासप्तम्योरुपपदयोर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—केशग्राहं युध्यन्ते, केशैर्ग्राहं, केशेषु ग्राहम्। हस्तग्राहम्, हस्तैर्ग्राहम्, हस्तेषु ग्राहम्॥

भाषार्थः—[समासत्तौ] समासत्ति अर्थात् सन्निकटता गम्यमान हो, तो तृतीयान्त तथा सप्तम्यन्त उपपद रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—केशग्राहं युध्यन्ते (केशों से पकड़कर लड़ते हैं) ॥ शेष उदाहरण पूर्ववत् जान लें। उदाहरणों में केश वा हाथ पकड़-पकड़कर युद्ध हो रहा है। अतः यहाँ अति सन्निकटता है॥ पूर्ववत् ही उदाहरणों में विकल्प से समास हुआ है॥

प्रमाणे च ॥३।४।५१॥

प्रमाणे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—सप्तम्यां, तृतीयायां, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रमाणे गम्यमाने तृतीयासप्तम्योरुपपदयोर्धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—द्व्यङ्गुलोत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति, द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षम् । सप्तम्याम्—द्व्यङ्गुल उत्कर्षम्, द्व्यङ्गुलोत्कर्षम् ॥

भाषार्थः—[प्रमाणे] प्रमाण=आयाम=लम्बाई गम्यमान हो, तो [च] भी सप्तम्यन्त तथा तृतीयान्त उपपद रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है॥ उदा०—द्व्यङ्गुलोत्कर्षं खण्डिकां छिनत्ति(दो-दो अङ्गुल छोड़कर लकड़ी काटता है),द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षम् । द्व्यङ्गुल उत्कर्षम्, द्व्यङ्गुलोकर्षम् ॥ पूर्ववत् समास का विकल्प यहाँ भी जानें॥

अपादाने परीप्सायाम् ॥३।४।५२॥

अपादाने ७।१॥ परीप्सायाम् ७।१॥ अनु०—णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—परीप्सा=त्वरा, तस्यां गम्यमानायामपादान उपपदे धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शय्योत्थायं धावति, शय्याया उत्थायं धावति ॥

भाषार्थः—[परीप्सायाम्] परीप्सा=शीघ्रता गम्यमान हो, तो [अपादाने] अपादान उपपद रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है॥ उदा०—शय्योत्थायं धावति (खाट से उठते ही भागता है), शय्याया उत्थायं धावति ॥ 'उत् स्था अम्' यहाँ उदः स्थास्तम्भोः० (८।४।६०) से स्था धातु को पूर्वसवर्ण आदेश होकर 'उत्था अम्' बना। आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम होकर उत्थायं बन गया॥

यहाँ से 'परीप्सायाम्' की अनुवृत्ति ३।४।५३ तक जायेगी॥

द्वितीयायाञ्च ॥३।४।५३॥

द्वितीयायाम् ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—परीप्सायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—द्वितीयान्त उपपदे परीप्सायां गम्यमानायां धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—यष्टिग्राहं युध्यन्ते, यष्टिं ग्राहम् । असिग्राहं, असिं ग्राहम् । लोष्टग्राहं, लोष्टं ग्राहम् ॥

भाषार्थः—[द्वितीयायाम्] द्वितीयान्त उपपद रहते [च] भी शीघ्रता गम्यमान हो, तो धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—यष्टिग्राहं युध्यन्ते (लाठी लेकर लड़ते हैं), यष्टिं ग्राहम् । असिग्राहं युध्यन्ते (तलवार लेकर लड़ते हैं), असिंग्राहम् । लोष्टग्राहम् (ढेला लेकर लड़ते हैं), लोष्टं ग्राहम् ॥ उदाहरणों में शीघ्रता यही है कि जो कुछ लाठी आदि सामने मिल जाती है, उसी को लेकर लड़ने लगता है, कुछ नहीं सोचता कि शस्त्रादि तो ले लें ॥ पूर्ववत् यहाँ भी समास का विकल्प जानें ॥

यहाँ से 'द्वितीयायाम्' की अनुवृत्ति ३।४।५८ तक जायेगी ॥

स्वाङ्गेऽध्रुवे ॥३।४।५४॥

स्वाङ्गे ७।१॥ अध्रुवे ७।१॥ स०—अध्रुव० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः । स्वम् अङ्गं स्वाङ्गम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वितीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अध्रुवे स्वाङ्गवाचिनि द्वितीयान्त उपपदे धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ यस्मिन्नङ्गे छिन्नेऽपि प्राणी न म्रियते तदध्रुवम् ॥ उदा०—अक्षिनिकाणं जल्पति, अक्षि निकाणं जल्पति । भ्रूविक्षेपं कथयति, भ्रुवं विक्षेपं कथयति ॥

भाषार्थः—[अध्रुवे] अध्रुव [स्वाङ्गे] स्वाङ्गवाची द्वितीयान्त शब्द उपपद रहते धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ अपने अङ्ग को स्वाङ्ग कहते हैं । जिस अङ्ग के नष्ट हो जाने पर भी प्राणी मरता नहीं, वह अध्रुव होता है । उदाहरणों में अक्षि एवं भ्रू के नष्ट हो जाने पर भी प्राणी मरता नहीं, अतः ये अध्रुव स्वाङ्गवाची शब्द हैं ॥ उदा०—अक्षिनिकाणं जल्पति (आँख बन्द कर बड़बड़ाता है), अक्षि निकाणम् । भ्रूविक्षेपं कथयति (भौंहें टेढ़ी करके कहता है) । भ्रुवं विक्षेपं कथयति ॥ पूर्ववत् यहाँ भी समास का विकल्प जानें ॥

यहाँ से 'स्वाङ्गे' की अनुवृत्ति ३।४।५५ तक जायेगी ॥

परिक्लिश्यमाने च ॥३।४।५५॥

परिक्लिश्यमाने ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—स्वाङ्गे, द्वितीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ परितः=सर्वतः क्लिश्यमानः परिक्लिश्यमानः ॥ अर्थः—परिक्लिश्यमाने स्वाङ्गवाचिनि द्वितीयान्त उपपदे धातोर्णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—उरःपेषं युध्यन्ते, उरः पेषं युध्यन्ते । शिरःपेषं युध्यन्ते, शिरः पेषम् ॥

भाषार्थः—[परिक्लिश्यमाने] चारों ओर से क्लेश को प्राप्त हो रहा हो, ऐसा स्वाङ्गवाची द्वितीयान्त शब्द उपपद हो, तो [च] भी धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—उरःपेषं युध्यन्ते (सम्पूर्ण छाती को कष्ट देते हुये लड़ते हैं), उरः पेषम् । शिरःपेषम् (सम्पूर्ण शिर को कष्ट देते हुये लड़ते हैं), शिरः पेषम् ॥ यहाँ

विकल्प से समास करने का एकपद एवं एकस्वर करना ही प्रयोजन है। रूप तो दोनों पक्षों में एक जैसा ही है ॥ उदाहरण में 'उरः' एवं 'शिरः' परिक्लिश्यमान स्वाङ्गवाची द्वितीयान्त शब्द उपपद हैं ॥

विशिपतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः ॥३।४।५६॥

विशिपतिपदिस्कन्दाम् ६।३॥ व्याप्यमानासेव्यमानयोः ७।२॥ स०—उभयत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—द्वितीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—द्वितीयान्त उपपदे विशि पति पदि स्कन्दिर् इत्येतेभ्यो धातुभ्यो व्याप्यमाने आसेव्यमाने च गम्यमाने णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ क्रियया पदार्थानां साकल्येन सम्बन्धो व्याप्तिः। क्रियायाः पौनःपुन्यमासेवा ॥ **उदा०**—व्याप्तौ—गेहानुप्रवेशमास्ते। असमासपक्षे—गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते। आसेवायाम्—गेहानुप्रवेशमास्ते। असमासपक्षे—गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते। पति—गेहानुप्रपातमास्ते, गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते। आसेवायाम्—गेहानुप्रपातमास्ते, गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते। पदि—गेहानुप्रपादमास्ते, गेहं गेहमनुप्रपादमास्ते। आसेवायाम्—गेहानुप्रपादमास्ते, गेहमनुप्रपादमनुप्रपादमास्ते। स्कन्दि—गेहावस्कन्दमास्ते, गेहं गेहमवस्कन्दमास्ते। आसेवायाम्—गेहावस्कन्दमास्ते, गेहमवस्कन्दमवस्कन्दमास्ते ॥

भावार्थः—[व्याप्यमानासेव्यमानयोः] व्याप्यमान तथा आसेव्यमान गम्यमान हों, तो द्वितीयान्त उपपद रहते [विशिपतिपदिस्कन्दाम्] विशि, पति, पदि तथा स्कन्द धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—व्याप्ति में—गेहानुप्रवेशमास्ते (घर-घर में प्रवेश करके रहता है)। असमासपक्ष के सब उदाहरण संस्कृतभाग के अनुसार जानते जावें। आसेवा में—गेहानुप्रवेशमास्ते (घर में प्रवेश कर-करके रहता है)। पति—गेहानुप्रपातमास्ते (घर-घर में जाकर रहता है)। आसेवा में—गेहानुप्रपातमास्ते (घर में जा-जा करके रहता है)। शेष पदि स्कन्द धातुओं से णमुल् होकर भी 'गेहानुप्रपातमास्ते' के समान अर्थ जानें।

व्याप्ति द्रव्यों (=सुबन्त) का धर्म है, अतः व्याप्ति गम्यमान होने पर नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से सुबन्त को (=गेहम् को) द्वित्व हुआ है। तथा आसेवा क्रिया का धर्म है, सो आसेवा गम्यमान होने पर क्रियावाची को (अनुप्रवेशम् को) द्वित्व हुआ है। इसी प्रकार उदाहरणों के अर्थों में भी व्याप्ति में द्रव्यों की वीप्सा (घर-घर में), तथा आसेवा में क्रिया की वीप्सा (जा-जाकर) समझनी चाहिये। पूर्ववत् यहाँ भी विकल्प से समास होकर दो रूप बना करेंगे। समासपक्ष में व्याप्ति एवं आसेवा समास के द्वारा ही कहे जाते हैं, अतः समासपक्ष में नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से द्वित्व नहीं होता ॥

अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु ॥३।४।५७॥

अस्यतितृषोः ६।२॥ क्रियान्तरे ७।१॥ कालेषु ७।३॥ स०—अस्यति० इत्यत्रे-तरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ क्रियान्तरः क्रियामन्तरयति, तस्मिन्, तत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वितीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कालवाचिषु द्वितीयान्तेषूपपदेषु क्रियान्तरे वर्त्तमानाभ्यां 'असु क्षेपणे' 'ञितृषा पिपासायाम्' इत्येताभ्यां धातुभ्यां णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—द्व्यहात्यासं गाः पाययति । असमासे—द्व्यहमत्यासम् । त्र्यहात्यासं गाः पाययति, त्र्यहमत्यासम् । द्व्यहतर्षं गाः पाययति, द्व्यहं तर्षम् ॥

भाषार्थः—[क्रियान्तरे] क्रिया के अन्तर=व्यवधान में वर्त्तमान [अस्यतितृषोः] असु तथा तृष धातुओं से [कालेषु] कालवाची द्वितीयान्त शब्द उपपद रहते णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदाहरण में द्व्यहात्यासं द्व्यहतर्षं का अर्थ है—"दो दिन के अन्तर में, एवं दो दिन प्यासे रखकर पानी पिलाता है" । सो दो दिन के अनन्तर पानी पिलाने की क्रिया करने से क्रियान्तर है ही । कालवाची द्वितीयान्त द्व्यह (दो दिन) त्र्यह (तीन दिन) भी उपपद हैं । सो अति पूर्वक असु तथा तृष धातु से णमुल् प्रत्यय हो गया है । पूर्ववत् समास विकल्प से होकर द्व्यहम् अत्यासम् आदि प्रयोग भी बनेंगे ॥

नाम्न्यादिशिग्रहोः ॥३।४।५८॥

नाम्नि ७।१॥ आदिशिग्रहोः ६।२॥ स०—आदिशिश्च ग्रहश्च आदिशिग्रही, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—द्वितीयायाम्, णमुल्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—द्वितीयान्ते नामशब्द उपपदे आङ्पूर्वकदिशि, ग्रह इत्येताभ्यां धातुभ्यां णमुल् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—नामादेशमाचष्टे । नामग्राहमाचष्टे ॥

भाषार्थः—द्वितीयान्त [नाम्नि] नाम शब्द उपपद रहते [आदिशिग्रहोः] आङ् पूर्वक दिश तथा ग्रह धातु से णमुल् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—नामादेशमाचष्टे (नाम लेकर कहता है) । नामग्राहमाचष्टे (नाम लेकर कहता है) ॥

अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ ॥३।४।५९॥

अव्यये ७।१॥ अयथाभिप्रेताख्याने ७।१॥ कृञः ५।१॥ क्त्वाणमुलौ १।२॥ स०—यद् यद् अभिप्रेतं यथाभिप्रेतम्, अव्ययीभावः । न यथाभिप्रेतम् अयथाभिप्रेतम्, नञ्तत्पुरुषः । अयथाभिप्रेतस्य आख्यानम् अयथाभिप्रेताख्यानम्, षष्ठीतत्पुरुषः । क्त्वा च णमुल् च क्त्वाणमुलौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—अयथाभिप्रेताख्याने गम्यमाने अव्यय उपपदे कृञ्धातोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥ **उदा०**—हे ब्राह्मण ! तव पुत्रः शास्त्रार्थे विजयी अभूदिति, किं तर्हि मूर्ख ! नीचैःकृत्याचक्षे, नीचैः कृत्वा । नीचैःकारम् । हे ब्राह्मण ! तव पुत्रेण वधः कृतः, किं तर्हि मूर्ख ! उच्चैःकृत्याचक्षे, उच्चैःकृत्वा । उच्चैःकारम् ॥

भाषार्थः—[अयथाभिप्रेताख्याने] अयथाभिप्रेताख्यान अर्थात् इष्ट का कथन जैसा होना चाहिये वैसा न होना गम्यमान हो, तो [अव्यये] अव्यय शब्द उपपद रहते [कृञः] कृञ् धातु से [क्त्वाणमुलौ] क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं ॥ उदाहरण में कोई किसी से धीरे से कहता है कि तुम्हारा पुत्र शास्त्रार्थ में विजयी हो गया। सो दूसरा कहता है कि मूर्ख ! तुम प्रसन्नता की बात को धीरे से क्यों कहते हो ? इसी प्रकार किसी ने जोर से कहा कि तुम्हारे पुत्र ने हत्या कर दी । तो दूसरे ने कहा कि तुम निन्दित बात को इतने जोर से क्यों बोल रहे हो ? अर्थात् अच्छी बात जोर से कहनी चाहिये, एवं निन्दनीय बात धीरे से कही जाती है । सो यदि हर्ष में जोर से उल्लसित होकर न कहे, तथा निन्दित बात को जोर से हर्ष से बोले, तो यह अयथाभिप्रेताख्यान है । यही उदाहरणों से प्रकट हो रहा है । अतः उच्चैः नीचैः अव्यय उपपद रहते कृ धातु से क्त्वा णमुल् प्रत्यय हो गये हैं ॥ क्त्वा च (२।२।२२) से विकल्प से समास होकर नीचैःकृत्य, नीचैः कृत्वा दो रूप बनेंगे । समासपक्ष में क्त्वा को ल्यप् हो ही जायेगा ॥ णमुल्प्रत्ययान्त नीचैःकारम् में भी तृतीयाप्रभृ० (२।२।२१)से विकल्प में समास होगा । सो पक्ष में नीचैः कारम् भी बनेगा । ऐसा ही आगे के सूत्रों में समझते जावें ॥

यहाँ से 'कृञः' की अनुवृत्ति ३।४।६० तक, तथा 'क्त्वाणमुलौ' की अनुवृत्ति ३।४।६४ तक जायेगी ॥

तिर्यच्यपवर्गे ॥३।४।६०॥

तिर्यचि ७।१॥ अपवर्गे ७।१॥ **अनु०**—कृञः, क्त्वाणमुलौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—तिर्यक्शब्द उपपदे कृञ्धातोरपवर्गे गम्यमाने क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः ॥ अपवर्गः=समाप्तिः ॥ **उदा०**—तिर्यक्कृत्य गतः, तिर्यक् कृत्वा । तिर्यक्कारम् ॥

भाषार्थः—[तिर्यचि] तिर्यक् शब्द उपपद रहते [अपवर्गे] अपवर्ग गम्यमान होने पर कृञ् धातु से क्त्वा णमुल् प्रत्यय होते हैं ॥ उदा०—तिर्यक्कृत्य गतः (सारा कार्य समाप्त करके चला गया), तिर्यक् कृत्वा । तिर्यक्कारम् ॥ अपवर्ग समाप्ति को कहते हैं । पूर्ववत् क्त्वा च (२।२।२२)से विकल्प से समास यहाँ भी जानें। णमुल् में तृतीयाप्रभृती० (२।२।२१) से समास विकल्प से होगा ॥

स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः ॥३।४।६१॥

स्वाङ्गे ७।१॥ तस्प्रत्यये ७।१॥ कृभ्वोः ६।२॥ स०—तस् प्रत्ययो यस्मात् स तस्प्रत्ययः शब्दः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः। कृ च भू च कृभ्वौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—क्त्वाणमुलौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—तस्प्रत्ययान्ते स्वाङ्गवाचिनि शब्द उपपदे कृ भू इत्येताभ्यां धातुभ्यां क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः॥ उदा०—मुखतः-कृत्य गतः, मुखतः कृत्वा। मुखतःकारम्। पाणितःकृत्य, पाणितः कृत्वा। पाणितःकारम्। मुखतोभूय गतः, मुखतो भूत्वा। मुखतोभावम्। पाणितोभूय गतः, पाणितो भूत्वा। पाणितोभावम्॥

भाषार्थः—[तस्प्रत्यये] तस्प्रत्ययान्त [स्वाङ्गे] स्वाङ्गवाची शब्द उपपद हो, तो [कृभ्वोः] कृ भू धातुओं से क्त्वा णमुल् प्रत्यय होते हैं॥ उदा०—मुखतः-कृत्य गतः (सामने करके चला गया), पाणितःकृत्य (हाथ से करके)। मुखतोभूय गतः (सामने होकर चला गया), पाणितोभूय गतः (हाथ से करके चला गया)॥ शेष उदाहरण संस्कृतभाग के अनुसार जानें॥ अपादाने चा० (५।४।४५) से मुखतः आदि में तसि प्रत्यय हुआ है। सो ये तस्प्रत्ययान्त स्वाङ्गवाची शब्द हैं। यहाँ भी समास का विकल्प पूर्ववत् जानें॥

यहाँ से 'कृभ्वोः' की अनुवृत्ति ३।४।६२ तक जायेगी॥

नाधार्थप्रत्यये च्व्यर्थे ॥३।४।६२॥

नाधार्थप्रत्यये ७।१॥ च्व्यर्थे ७।१॥ स०—ना च धा च नाधौ, तयोरर्थ इवार्थो येषां ते नाधार्थाः (प्रत्ययाः), द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। नाधार्थाः प्रत्यया यस्य (समुदायस्य) स नाधार्थप्रत्ययः (समुदायः), तस्मिन्, बहुव्रीहिः। च्वेः अर्थः च्व्यर्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—कृभ्वोः, क्त्वाणमुलौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—च्व्यर्थे नाधार्थप्रत्ययान्ते उपपदे कृभ्वोर्धात्वोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः॥ उदा०—अनाना नाना कृत्वा गतः=नानाकृत्य गतः, नाना कृत्वा; नानाकारम्। विनाकृत्य, विना कृत्वा; विनाकारम्। अनाना नाना भूत्वा गतः=नानाभूय, नाना भूत्वा; नानाभावम्। विनाभूय, विना भूत्वा; विनाभावम्। धार्थप्रत्ययान्ते—अद्विधा द्विधा कृत्वा गतः=द्विधाकृत्य, द्विधा कृत्वा। द्विधाकारम्। द्वैधंकृत्य, द्वैधं कृत्वा; द्वैधंकारम्। अद्विधा द्विधा भूत्वा गतः=द्विधाभूय, द्विधा भूत्वा; द्विधाभावम्। द्वैधंभूय, द्वैधं भूत्वा; द्वैधंभावम्॥

भाषार्थः—[च्व्यर्थे] च्व्यर्थ में वर्त्तमान [नाधार्थप्रत्यये] नाधार्थप्रत्ययान्त शब्द उपपद हों, तो कृ भू धातुओं से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं॥ उदा०—नानाकृत्य गतः (जो अनेक प्रकार का नहीं उसे अनेक प्रकार का बनाकर चला

गया)। विनाकृत्य (जो छोड़ने योग्य नहीं उसको छोड़ कर)। नानाभूय (जो भिन्न प्रकार का नहीं वह भिन्न प्रकार का होकर)। धार्थप्रत्ययान्त उपपदवाले— द्विधाकृत्य (जो दो प्रकार का नहीं उसे दो प्रकार का बनाकर)। द्वैधंकृत्य (जो दो प्रकार का नहीं उसे दो प्रकार का बनाकर)। शेष छोड़ दिये गये उदाहरण संस्कृत-भाग के अनुसार जानें। यहाँ केवल अर्थप्रदर्शनार्थ ही उदाहरण दिये हैं॥ च्वि का अर्थ अभूततद्भाव है, अर्थात् जो नहीं था वह हो गया॥ विनञ्भ्यां नानाञौ न सह (५।२।२७) से नाना विना में ना नाञ् प्रत्यय हुये हैं। सो ये नाप्रत्ययान्त शब्द हैं। संख्याया विधार्थे धा (५।३।४२) से द्विधा में धा प्रत्यय हुआ है। द्वित्र्योश्च धमुञ् (५।३।४५) से द्वैधं में धमुञ् प्रत्यय हुआ है। सो ये द्वैधं आदि धाप्रत्ययान्त शब्द हैं। इनके उपपद रहते कृ भू धातु से क्त्वा णमुल परे रहते भू को 'औ' वृद्धि, तथा आवादेश होकर भाव् अम्=भावम् बना है॥

तूष्णीमि भुवः ॥३।४।६३॥

तूष्णीमि ७।१॥ भुवः ५।१॥ अनु०—क्त्वाणमुलौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ **अर्थः**—तूष्णींशब्द उपपदे भूधातोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः॥ **उदा०**—तूष्णींभूय गतः, तूष्णीं भूत्वा। तूष्णींभावम्॥

भाषार्थः—[तूष्णीमि] तूष्णीम् शब्द उपपद हो, तो [भुवः] भू धातु से क्त्वा णमुल् प्रत्यय होते हैं॥ उदा०—तूष्णींभूय गतः (चुप होकर चला गया), तूष्णीं भूत्वा; तूष्णींभावम्॥ पूर्ववत् यहाँ भी क्त्वा च (२।२।२२) एवं तृतीयाप्रभृ० (२।२।२१) से समास का विकल्प जानें॥

यहाँ से 'भुवः' की अनुवृत्ति ३।४।६४ तक जायेगी॥

अन्वच्यानुलोम्ये ॥३।४।६४॥

अन्वचि ७।१॥ आनुलोम्ये ७।१॥ अनु०—भुवः, क्त्वाणमुलौ, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अनुलोमस्य भावः आनुलोम्यम्, गुणवचनब्राह्मणा० (५।१।१२३) इति ष्यञ्प्रत्ययः॥ **अर्थः**—अन्वक्शब्द उपपदे आनुलोम्ये=आनुकूल्ये गम्यमाने भूधातोः क्त्वाणमुलौ प्रत्ययौ भवतः॥ **उदा०**—अन्वग्भूयास्ते, अन्वग्भूत्वा। अन्वग्भावम्॥

भाषार्थः—[आनुलोम्ये] आनुलोम्य=अनुकूलता गम्यमान हो, तो [अन्वचि] अन्वक् शब्द उपपद रहते भू धातु से क्त्वा णमुल् प्रत्यय होते हैं॥ उदा०—अन्वग्भूयास्ते (अनुकूल बनकर रहता है), अन्वग् भूत्वा। अन्वग्भावम्॥

शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन् ॥३।४।६५॥

शक...र्थेषु ७।३॥ तुमुन् १।१॥ स०—अस्ति अर्थो येषां तेऽस्त्यर्थाः, बहुव्रीहिः॥

शकश्च धृषश्च ज्ञाश्च ग्लाश्च घटश्च रभश्च लभश्च क्रमश्च सहश्च अर्हश्च अस्त्यर्थाश्च शक···स्त्यर्थाः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—शकादिषूपपदेषु धातुमात्रात् तुमुन् प्रत्ययो भवति ॥ अक्रियार्थोपपदार्थोऽयमारम्भः ॥ **उदा०**—शक्नोति भोक्तुम् । धृष्णोति भोक्तुम् । जानाति पठितुम् । ग्लायति गन्तुम् । घटते शयितुम् । आरभते लेखितुम् । लभते खादितुम् । प्रक्रमते रचयितुम् । उत्सहते भोक्तुम् । अर्हति पाठयितुम् । अस्त्यर्थेषु—अस्ति भोक्तुम् । भवति कर्त्तुम् । विद्यते भोक्तुम् ॥

भाषार्थः—[शकधृ···र्थेषु] शक, धृष, ज्ञा, ग्ला, घट, रभ, लभ, क्रम, सह, अर्ह तथा अस्ति अर्थवाली धातुओं (=भवति विद्यते आदि) के उपपद रहते धातुमात्र से [तुमुन्] तुमुन् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां० (३।३।१०) से तुमुन् प्राप्त ही था । पुनर्विधान क्रियार्थक्रिया उपपद न हो, तो भी तुमुन् हो जाये, इसलिये है ॥ उदा०—शक्नोति भोक्तुम् (खाने में कुशल - प्रवीण है) । धृष्णोति भोक्तुम् (खाने में कुशल है) । जानाति पठितुम् (पढ़ने में प्रवीण है) । ग्लायति गन्तुम् (जाने में अशक्त है) । घटते शयितुम् (सोने में होशियार है) । आरभते लेखितुम् (लिखना आरम्भ करता है) । लभते खादितुम् (भोजन प्राप्त करता है) । प्रक्रमते रचयितुम् (रचना आरम्भ करता है) । उत्सहते भोक्तुम् (भोजन करने में प्रवृत्त होता है)। अर्हति पाठयितुम् (पढ़ाने में कुशल है)। अस्त्यर्थकों के उपपद रहते—अस्ति भोक्तुम् (भोजन है) । भवति कर्त्तुम् (करना है) । विद्यते भोक्तुम् (भोजन है) ॥

यहाँ से 'तुमुन्' की अनुवृत्ति ३।४।६६ तक जायेगी ॥

पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु ॥३।४।६६॥

पर्याप्तिवचनेषु ७।३॥ अलमर्थेषु ७।३॥ **स०**—पर्याप्तिरुच्यते यैस्ते पर्याप्तिवचनाः (शब्दाः) अलमादयः ॥ अलमर्थो येषां ते अलमर्थाः, तेषु, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तुमुन्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ **अर्थः**—अलमर्थेषु पर्याप्तिवचनेषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति ॥ **उदा०**—पर्याप्तो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । अलं भोक्तुम् ॥

भाषार्थः—[अलमर्थेषु] अलम् अर्थ=सामर्थ्य अर्थवाले [पर्याप्तिवचनेषु] परिपूर्णतावाची शब्दों के उपपद रहते धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०-पर्याप्तो भोक्तुम् (खाने में समर्थ है) । समर्थो भोक्तुम् । अलं भोक्तुम् ॥ पर्याप्ति अन्यूनता अर्थात् परिपूर्णता को कहते हैं । यहाँ परिपूर्णता दो प्रकार से सम्भव है, भोजन के आधिक्य से, अथवा भोजन करनेवाले की समर्थता से । यहाँ भोक्ता के सामर्थ्य का ग्रहण हो, अतः 'अलमर्थेषु' को पर्याप्तिवचनेषु का विशेषण बनाया है ।

कर्त्तरि कृत् ॥३।४।६७॥

कर्त्तरि ७।१॥ कृत् १।१॥ अर्थः- धातोः, प्रत्ययः ॥ अर्थः—अस्मिन् धात्वधिकारे कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कर्त्तरि कारके भवन्ति ॥ उदा०—कर्त्ता, कारकः, नन्दनः, ग्राही, पचः ॥

भाषार्थः—इस धातु के अधिकार में सामान्यविहित [कृत्] कृत्‌संज्ञक प्रत्यय [कर्त्तरि] कर्त्ता कारक में होते हैं ॥

यह सूत्र सामान्य करके जहाँ कृत् प्रत्यय कहे हैं, उनको कर्त्ता में विधान करता है। जहाँ किसी विशेष कारक में कोई कृत् प्रत्यय कहा है, वहाँ यह सूत्र नहीं लगेगा। जैसे कि आढ्यसुभग० (३।२।५६) से करण में ख्युन् कहा है। सो वह करण में ही होगा, इस सूत्र से कर्त्ता में नहीं ॥ कृदतिङ् (३।१।९३) से धात्वधिकार में विहित प्रत्ययों को कृत् संज्ञा होती है ॥ उदाहरण में तृच् ण्वुल् आदि कर्त्ता में हुये हैं ॥

यहाँ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति ३।४।६६ तक जायेगी ॥

भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ॥३।४।६८॥

भव्य पात्याः १।३॥ वा अ० ॥ स०—भव्य० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्त्तरि, प्रत्ययः ॥ अर्थः—भव्यादयः शब्दाः कृत्यप्रत्ययान्ताः कर्त्तरि वा निपात्यन्ते ॥ कृत्यप्रत्ययान्तत्वात् तयोरेव कृत्य० (३।४।७०) इत्यनेन भावकर्मणोः प्राप्ते: कर्त्तरि वा निपात्यन्ते। पक्षे यथाप्राप्तं भावे कर्मणि च भवन्ति ॥ उदा०—भवत्यसौ भव्यः, भव्यमनेन। गेयो माणवकः साम्नाम् गेयानि माणवकेन सामानि। प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य, प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः। उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः, उपस्थानीयः शिष्येण गुरुः। जायतेऽसौ जन्यः, जन्यमनेन। आप्लवतेऽसौ आप्लाव्यः, आप्लाव्यमनेन। आपतत्यसौ आपात्यः, आपात्यमनेन ॥

भावार्थः—[भव्य ··पात्याः] भव्य गेयादि कृत्यप्रत्ययान्त शब्द कर्त्ता में [वा] विकल्प से निपातन किये जाते हैं। कृत्यसंज्ञक होने से ये शब्द तयोरेव कृत्य० (३।४।७०) से भाव कर्म में ही प्राप्त थे, कर्त्ता में भी निपातन कर दिया है। सो पक्ष में भाव कर्म में ये शब्द होंगे। गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय में धातु सकर्मक हैं, सो इनसे कर्म में कृत्यप्रत्यय प्राप्त थे, कर्त्ता में निपातन कर दिया है। अतः पक्ष में उनसे भाव में कृत्य प्रत्यय होंगे ॥ उदा०—भव्य (होनेवाला, अथवा इसके द्वारा होने योग्य)। गेयो माणवकः साम्नाम्, गेयानि माणवकेन सामानि (सामवेद के मन्त्रों का गान करनेवाला लड़का, अथवा लड़के के द्वारा गाये जानेवाले सामवेद के मन्त्र)। प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य, प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः (वेद का प्रवचन

करनेवाला गुरु, अथवा गुरु के द्वारा प्रवचन किया जानेवाला वेद)। उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः, उपस्थानीयः शिष्येण गुरुः (गुरु के समीप उपस्थित होनेवाला शिष्य, अथवा शिष्य के द्वारा उपस्थित होने योग्य गुरु)। जन्यः, जन्यमनेन (पैदा होनेवाला, अथवा इसके द्वारा पैदा होने योग्य)। आप्लाव्यः, आप्लाव्यमनेन (कूदकर जानेवाला, अथवा इसके द्वारा कूदने योग्य)। आपात्यः, आपात्यमनेन (गिरनेवाला, अथवा इसके द्वारा गिरने योग्य)॥ उदाहरणों में कर्त्ता में प्रत्यय होने पर कर्त्ता अभिहित हो गया है। अतः प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा हुई है, और अनभिहित कर्म में कर्तृकर्मणोः (२।३।६५) से षष्ठी हो गई है। भाव तथा कर्म में प्रत्यय होने पर कर्त्ता अनभिहित होता है। अतः कर्त्ता में कर्तृकरण० (२।३।१८) से तृतीया हो गई है। कर्म अभिहित है, अतः प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा हुई है। सिद्धियां परिशिष्ट में देखें॥

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ॥३।४।६९॥

लः १।३॥ कर्मणि ७।१॥ च अ० ॥ भावे ७।१॥ च अ० ॥ अकर्मकेभ्यः ५।३॥ **अनु०**—कर्त्तरि, धातोः ॥ **अर्थः**—लः=लकाराः सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कारके भवन्ति चकारात् कर्त्तरि च, अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे भवन्ति चकारात् कर्त्तरि च ॥ द्विश्चकारग्रहणादुभयत्र 'कर्त्तरि' इति सम्बध्यते॥ अकर्मकग्रहणात् सकर्मका अपि धातव आक्षिप्ता भवन्ति ॥ उदा०—सकर्मकेभ्यः कर्मणि—पठ्यते विद्या ब्राह्मणेन। कर्त्तरि—पठति विद्यां ब्राह्मणः। अकर्मकेभ्यो भावे—आस्यते देवदत्तेन, हस्यते देवदत्तेन। कर्त्तरि—आस्ते देवदत्तः, हसति देवदत्तः॥

भावार्थः—सकर्मक धातुओं से [लः] लकार [कर्मणि] कर्मकारक में होते हैं [च] चकार से कर्त्ता में भी होते हैं, और [अकर्मकेभ्यः] अकर्मक धातुओं से [भावे] भाव में होते हैं तथा [च] चकार से कर्त्ता में भी होते हैं॥ दो चकार लगाने से दो बार 'कर्त्तरि' का अनुकर्षण है। सो सकर्मक एवं अकर्मक दोनों धातुओं के साथ कर्त्तरि का सम्बन्ध लगता है॥ सूत्र में 'अकर्मकेभ्यः' कहा है, अतः स्वयमेव 'सकर्मकेभ्यः' का सम्बन्ध कर्मणि के साथ लगता है॥

भाववाच्य कर्मवाच्य कर्तृवाच्य क्या होता है, यह भावकर्मणोः (१।३।१३) सूत्र पर देखें। भाववाच्य कर्मवाच्य में विभक्ति वचन व्यवस्था अनभिहिते (२।३।१) सूत्र पर देखें॥ पठ् धातु सकर्मक है, इसलिये उससे लकार कर्मवाच्य तथा कर्तृवाच्य में हुये हैं। एवं आस् तथा हस् धातु अकर्मक हैं, अतः भाव और कर्त्ता में लकार हुए हैं॥

जिस धातु का कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है वह अकर्मक, तथा जिसका कर्म के साथ सम्बन्ध है वह सकर्मक धातु होती है॥ पठ् धातु का विद्या कर्म के साथ

सम्बन्ध है अतः वह सकर्मक है। आस्, और हस् का कर्म के साथ न सम्बन्ध है न हो सकता है, अतः वे अकर्मक धातु हैं॥ उदा०—सकर्मकों से कर्म में—पठ्यते विद्या ब्राह्मणेन (ब्राह्मण के द्वारा विद्या पढ़ी जाती है)। कर्ता में—पठति विद्यां ब्राह्मणः (ब्राह्मण विद्या पढ़ता है)। अकर्मकों से भाव में—आस्यते देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा बैठा जाता है)। हस्यते देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा हँसा जाता है)। कर्ता में—आस्ते देवदत्तः (देवदत्त बैठता है)। हसति देवदत्तः(देवदत्त हँसता है)॥

यहाँ से 'कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः' की अनुवृत्ति ३।४।७२ तक जायेगी॥

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः॥३।४।७०॥

तयोः ७।२॥ एव अ०॥ कृत्यक्तखलर्थाः १।३॥ स०—खल् अर्थो येषां ते खलर्थाः, बहुव्रीहिः। कृत्याश्च क्तश्च खलर्थाश्च कृत्यक्तखलर्थाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ **अनु०**—कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः, प्रत्ययः॥ **अर्थः**—तयोरेव=भावकर्मणोरेव कृत्यसंज्ञकाः क्तः खलर्थाश्च प्रत्यया भवन्ति। अर्थात् सकर्मकेभ्यो धातुभ्यो विहिता ये कृत्यसंज्ञकाः क्तः खलर्थाश्च प्रत्ययास्ते कर्मणि; अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो विहिताश्च ये कृत्यक्तखलर्थास्ते भावे भवन्ति॥ **उदा०**—कृत्याः कर्मणि—कर्त्तव्यो घटः कुलालेन, भवता ग्रामो गन्तव्यः। कृत्याः भावे—आसितव्यं भवता शयितव्यं भवता। क्तः कर्मणि—कृतो घटः कुलालेन। क्तो भावे—आसितं भवता, शयितं भवता। खलर्थाः कर्मणि—ईषत्पच ओदनो देवदत्तेन, सुपचः, दुष्पचः। ईषत्पठा विद्या ब्राह्मणेन, सुपठा, दुष्पठा। खलर्थाः भावे—ईषत्स्वपं भवता, सुस्वपम्, दुःस्वपम्। ईषदाढ्यंभवं भवता, स्वाढ्यंभवम्, दुराढ्यंभवम्॥

भाषार्थः—[कृत्यक्तखलर्थाः] कृत्यसंज्क प्रत्यय क्त तथा खल् अर्थवाले प्रत्यय [तयोः] भाव और कर्म में [एव] ही होते हैं। अर्थात् सकर्मक धातुओं से विहित जो कृत्य क्त और खलर्थ प्रत्यय वे कर्म में होते है, तथा अकर्मक धातुओं से विहित जो कृत्य क्त और खलर्थ प्रत्यय वे भाव में होते हैं॥ उदा०—कृत्यों का कर्म में—कर्त्तव्यो घटः कुलालेन (कुम्हार के द्वारा घड़ा बनाया जाना चाहिये), भवता ग्रामो गन्तव्यः (आपके द्वारा ग्राम को जाया जाना चाहिये)। कृत्यों का भाव में—आसितव्यं भवता (आपके द्वारा बैठा जाना चाहिये), शयितव्यं भवता (आपके द्वारा सोया जाना चाहिये)। क्त का कर्म में—कृतो घटः कुलालेन (कुम्हार के द्वारा घड़ा बनाया गया)। क्त का भाव में—आसितं भवता (आपके द्वारा बैठा गया), शयितं भवता (आपके द्वारा सोया गया)। खलर्थों का कर्म में—ईषत्पच ओदनो देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा चावल पकाया जाना आसान है), सुपचः, दुष्पचः। ईषत्पठा विद्या ब्राह्मणेन (ब्राह्मण के द्वारा विद्या पढ़ा जाना आसान है), सुपठा, दुष्पठा। खलर्थों का भाव में—ईषत्स्वपं भवता(आपके द्वारा सोना आसान है), सुस्वपम्, दुःस्वपम्। ईषदाढ्यं-

भवं भवता, स्वाढ्यंभवम्, दुराढ्यंभवम् ।। ईषत्स्व: आदि में ईषद्दुःसुषु० (३।३।१२६)से, तथा ईषदाढ्यंभवं में कर्तृकर्मणोश्च०(३।३।१२७) से 'खल्' प्रत्यय हुआ है। आस् शीङ् भू तथा स्वप् अकर्मक धातुयें हैं,सो उनसे भाव में प्रत्यय हुये हैं। तथा पच् पठ् आदि सकर्मक हैं, सो उनसे कर्म में प्रत्यय हुये हैं। कर्त्तव्यम् में तव्यत्तव्यानीयरः(३।१।९६)से तव्य प्रत्यय हुआ है, जिसकी 'कृत्य' संज्ञा कृत्याः (३।१।९५) से हुई है।। भाव कर्म में विभक्ति वचन की व्यवस्था अनभिहिते(२।३।१)सूत्र पर देखें ।।

आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च ।।३।४।७१।।

आदिकर्मणि ७।१।। क्तः १।१।। कर्त्तरि ७।१।। च अ० ।। स०—आदि चादः कर्म च आदिकर्म, तस्मिन्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ।। अनु०—कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः, प्रत्ययः ।। अर्थः —आदिकर्मणि=क्रियारम्भस्यादिक्षणेऽर्थे विहितः क्तः प्रत्ययः कर्त्तरि भवति, चकाराद्भावकर्मणोरपि भवति ।। उदा०—प्रकृतः कटं देवदत्तः। प्रभुक्त ओदनं देवदत्तः। कर्मणि—प्रकृतः कटो देवदत्तेन। प्रभुक्त ओदनो देवदत्तेन। भावे—प्रकृतं देवदत्तेन। प्रभुक्तं देवदत्तेन ।।

भाषार्थः—[आदिकर्मणि] क्रिया के आरम्भ के आदि क्षण में विहित जो [क्तः] क्त प्रत्यय वह [कर्त्तरि] कर्त्ता में होता है, [च] तथा चकार से यथाप्राप्त भावकर्म में भी होता है। तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः(३।४।७०)से 'क्त' भाव और कर्म में ही प्राप्त था,कर्त्ता में भी विधान कर दिया है ।। आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या(वा० ३।२।१०२) इस वार्त्तिक से आदिकर्म में क्त प्रत्यय का विधान है, उसी को यहाँ कर्त्ता में कह दिया है ।। उदा०—प्रकृतः कटं देवदत्तः (देवदत्त ने चटाई बनानी प्रारम्भ की) । प्रभुक्त ओदनं देवदत्तः (देवदत्त ने चावल खाना प्रारम्भ किया) । कर्म में—प्रकृतः कटो देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा चटाई बनाना प्रारम्भ किया गया) । प्रभुक्त ओदनो देवदत्तेन। भाव में—प्रकृतं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा प्रारम्भ किया गया)। प्रभुक्तं देवदत्तेन ।।

यहाँ से 'क्तः कर्त्तरि' की अनुवृत्ति ३।४।७२ तक जायेगी ।।

गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च ।।३।४।७२।।

गत्यर्था ··भ्यः ५।३।। च अ० ।। स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, बहुव्रीहिः। गत्यर्थाश्च अकर्मकाश्च श्लिषश्च शीङ् च स्थाश्च आसश्च वसश्च जनश्च रुहश्च जीर्यतिश्च गत्यर्था···जीर्यतयः,तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—क्तः, कर्त्तरि, कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः, धातोः, प्रत्ययः ।। अर्थः—गत्यर्थेभ्यो धातुभ्योऽक र्मकेभ्यः श्लिषादि-

भ्यश्च यः क्तो विहितः स कर्त्तरि भवति, चकाराद् यथाप्राप्तं भावकर्मणोर्भवति ॥ उदा०—गत्यर्थेभ्यः—गतो देवदत्तो ग्रामम्, गतो देवदत्तेन ग्रामः, गतं देवदत्तेन। व्रजितो देवदत्तो ग्रामम्, व्रजितो देवदत्तेन ग्रामः, व्रजितं देवदत्तेन। अकर्मकेभ्यः—ग्लानो देवदत्तः, ग्लानं देवदत्तेन। आसितो देवदत्तः, आसितं देवदत्तेन। श्लिष—उपश्लिष्टा कन्यां माता, उपश्लिष्टा कन्या मात्रा, उपश्लिष्टं भवता। शीङ्—उपशयितो गुरुं देवदत्तः, उपशयितो गुरुर्देवदत्तेन, उपशयितं भवता। स्था—उपस्थितो गुरुं देवदत्तः, उपस्थितो गुरुर्देवदत्तेन, उपस्थितं भवता। आस—उपासितो गुरुं देवदत्तः, उपासितो गुरुर्देवदत्तेन,उपासितं भवता। वस—अनूषितो गुरुं देवदत्तः,अनूषितो गुरुर्देवदत्तेन, अनूषितं भवता। जन—अनुजातः पुत्रः कन्याम्, अनुजाता पुत्रेण कन्या, अनुजातं पुत्रेण। रुह—आरूढो वृक्षं देवदत्तः, आरूढो वृक्षो देवदत्तेन, आरूढं देवदत्तेन। जृ—अनुजीर्णो देवदत्तो वृषलम्, अनुजीर्णो देवदत्तेन वृषलः, अनुजीर्णं देवत्तेन ॥

भाषार्थः—[गत्यर्था जीर्यतिभ्यः] गत्यर्थक, अकर्मक, एवं श्लिष, शीङ्, स्था, आस, वस, जन, रुह तथा जॄ धातुओं से विहित जो क्त प्रत्यय वह कर्त्ता में होता है, [च] चकार से यथाप्राप्त भाव कर्म में भी होता है ॥ श्लिष आदि धातुयें उपसर्ग-सहित होने पर सकर्मक हो जाती हैं। अतः सूत्र में उन का पाठ किया गया है। उदाहरणों में इन धातुओं के सोपसर्ग उदाहरण दिखाये गये हैं ॥ उदा०—गत्यर्थकों से—गतो देवदत्तो ग्रामम् (देवदत्त गांव को गया)। कर्म में—गतो देवदत्तेन ग्रामः (देवदत्त के द्वारा ग्राम को जाया गया)। भाव में—गतं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा जाया गया)। अकर्मकों से—ग्लानो देवदत्तः (देवदत्त ने ग्लानि की), ग्लानं देवदत्तेन देवदत्त के द्वारा ग्लानि की गई)। आसितो देवदत्तः (देवदत्त बैठा), आसितं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा बैठा गया)। श्लिष—उपश्लिष्टा कन्यां माता (माता ने कन्या का आलिङ्गन किया)। उपश्लिष्टा कन्या मात्रा (माता के द्वारा कन्या का आलिङ्गन किया गया)। उपश्लिष्टं भवता (आपके द्वारा आलिङ्गन किया गया)। शीङ्—उपशयितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त गुरु जी के पास रहा)। उपशयितो गुरुर्देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा गुरुजी के पास रहा गया)। उपशयितं भवता (आपके द्वारा रहा गया)। स्था—उपस्थितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त गुरु के पास उपस्थित हुआ)। कर्म एवं भाव में उदाहरण संस्कृतभाग में देख लें। आगे से यहाँ अर्थप्रदर्शनार्थ कर्तृ-वाच्य ही दिखायेंगे। आस—उपासितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त ने गुरु की उपासना की)। वस—अनूषितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त गुरु के पास रहा)। जन—अनुजातः पुत्रः कन्याम् (कन्या के पश्चात् पुत्र पैदा हुआ)। रुह—आरूढो वृक्षं देवदत्तः (देवदत्त पेड़ पर चढ़ा)। जॄ—अनुजीर्णो देवदत्तो वृषलम् (देवदत्त ने वृषल=नीच को मार-मार कर क्षीण कर दिया) ॥

दाशगोघ्नौ संप्रदाने ॥३।४।७३॥

दाशगोघ्नौ १।२॥ सम्प्रदाने ७।१॥ स०—दाशश्च गोघ्नश्च दाशगोघ्नौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—दाश गोघ्न इत्येतौ कृदन्तौ शब्दौ सम्प्रदाने कारके निपात्येते ॥ कृत्संज्ञकत्वात् कर्त्तरि प्राप्तौ, सम्प्रदाने निपात्येते ॥ 'दाशृ दाने' अस्माद् धातोः पचाद्यच् (३।१।१३४)। दाशन्ति तस्मै इति दाशः। गोघ्न इति टक्प्रत्ययान्तो निपात्यते। गां=दुग्धादिकं हनन्ति=प्राप्नुवन्ति[1] यस्मै स गोघ्नोऽतिथिः ॥

भावार्थः—[दाशगोघ्नौ] दाश तथा गोघ्न कृदन्त शब्द [सम्प्रदाने] सम्प्रदान कारक में निपातन किये जाते हैं ॥ कृदन्त होने से कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से कर्त्ता में प्राप्त थे, सम्प्रदान में निपातन कर दिया है ॥ दाशः में दाशृ धातु से पचादि अच् सम्प्रदान कारक में हुआ है। तथा गोघ्नः में गो पूर्वक हन् धातु से टक् प्रत्यय निपातन से हुआ है, जो कि प्रकृत सूत्र से सम्प्रदान में हुआ। हन् के 'ह्' को कुत्व हो हन्तेर्जि० (७।३।५४) से, तथा उपधा का लोप गमहनजनखनघसां० (६।४।९८) से हुआ है ॥ उदा०—दाशः (जिसके लिये दिया जाता है)। गोघ्नः (गौ का विकार दूध आदि जिसके लिये प्राप्त किया जाता है, ऐसा अतिथि) ॥

भीमादयोऽपादाने ॥३।४।७४॥

भीमादयः १।३॥ अपादाने ७।१॥ स०—भीम आदिर्येषां ते भीमादयः, बहुव्रीहिः अर्थः—भीमादयः शब्दा औणादिकाः, तेऽपादाने कारके निपात्यन्ते ॥ उदा०—बिभ्यति जना अस्मात् स भीमः, भीष्मो वा। बिभेत्यस्मादिति भयानकः ॥

भावार्थः—[भीमादयः] भीमादि उणादिप्रत्ययान्त शब्द [अपादाने] अपादान कारक में निपातन किये जाते हैं ॥ पूर्ववत् कर्त्ता में प्राप्त होने पर अपादान में निपातन हैं ॥ भियः षुग् वा (उणा० १।१४८) इस उणादिसूत्र से 'ञिभी भये' धातु से मक् प्रत्यय, तथा विकल्प से षुक् आगम होकर भीमः (जिससे लोग डरते हैं), भीष्मः बना है। भयानकः में पूर्ववत् 'भी' धातु से आनकः शीङ्भियः (उणा० ३।८२) इस उणादिसूत्र से आनक प्रत्यय हुआ है। गुण अयादेश होकर भयानकः बना ॥

ताभ्यामन्यत्रोणादयः ॥३।४।७५॥

ताभ्याम् ५।२॥ अन्यत्र अ० ॥ उणादयः १।३॥ स०—उण् आदिर्येषां ते उणादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रत्ययः ॥ अर्थः—उणादयः प्रत्ययास्ताभ्याम् = सम्प्रदाना-

---

१. यहाँ 'हन हिंसागत्योः' धातुपाठ में पढ़े होने से हनन्ति का अर्थ प्राप्त करना है। क्योंकि गति के ज्ञान गमन और प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। गौ का अर्थ भी यहाँ निरुक्त के प्रमाण से (नि० २।५) गौ का विकार दूध या चमड़ा आदि है ॥

पादानाभ्यामन्यत्र कारके भवन्ति ।। कृत्संज्ञकत्वात् कर्त्तर्येव प्राप्ते कर्मादिष्वपि विधीयन्ते ।। उदा०—कृष्यतेऽसौ=कृषिः । तन्यते इति तन्तुः । वृत्तमिति वर्त्म । चरितमिति चर्म ।।

भाषार्थः—'ताभ्याम्' पद से यहाँ उपर्युक्त सम्प्रदान और अपादान लिये गये हैं ।। [उणादयः] उणादि प्रत्यय [ताभ्याम्] संप्रदान तथा अपादान कारकों से [अन्यत्र] अन्यत्र कर्मादि कारकों में भी होते हैं ।। उणादि प्रत्यय कृदतिङ् (३।१।९३) से कृत्संज्ञक होते हैं । सो कर्त्ता में ही प्राप्त थे, अन्य कारकों में भी विधान कर दिया ।। उदा०—कृषिः (खेती) में इगुपधात् कित् (उणा० ४।१२०) इस उणादिसूत्र से कृष धातु से इन् प्रत्यय तथा इन् को कित्वत् कार्य हुआ है, जो कि प्रकृत सूत्र से कर्त्ता में हुआ । तन्तुः(धागा)में तन् धातु से सितनिगमि०(उणा० १।६९)से तुन् प्रत्यय हुआ है, जो कि प्रकृत सूत्र से कर्म में हुआ है । चर्म वर्त्म की सिद्धि ३।३।२ सूत्र पर देखें ।।

क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ।।३।४।७६।।

क्तः १।१।। अधिकरणे ७।१।। च अ० ।। ध्रौव्य···र्थेभ्यः ५।३।। स०—ध्रौव्यञ्च गतिश्च प्रत्यवसानञ्च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानानि, तान्यर्था येषां ते ध्रौव्य···र्थाः, तेभ्यः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।। अनु०—धातोः, प्रत्ययः ।। अर्थः—ध्रौव्यार्थाः=स्थित्यर्थकाः (अकर्मकाः), प्रत्यवसानार्थाः=अभ्यवहारार्थाः । स्थित्यर्थेभ्यः (अकर्मकेभ्यः) गत्यर्थेभ्यः प्रत्यवसानार्थेभ्यश्च धातुभ्यो यः क्तो विहितः सोऽधिकरणे कारके भवति, चकाराद् यथाप्राप्तं भावकर्मकर्त्तृषु ।। उदा०—अकर्मकेभ्योऽधिकरणे—इदमेषामासितम्, इदमेषां स्थितम् । भावे—आसितं तेन, स्थितं तेन । कर्त्तरि—आसितो देवदत्तः, स्थितो देवदत्तः । गत्यर्थेभ्योऽधिकरणे—इदमेषां यातम्,इदमेषां गतम् । कर्मणि—यातो देवदत्तेन ग्रामः, गतो देवदत्तेन ग्रामः । भावे—यातं देवदत्तेन, गतं देवदत्तेन । कर्त्तरि—यातो देवदत्तो ग्रामं,गतो देवदत्तो ग्रामम् । प्रत्यवसानार्थेभ्योऽधिकरणे—इदमेषां भुक्तम् । कर्मणि भुक्त ओदनो देवदत्तेन । भावे—देवदत्तेन भुक्तम् ।।

भाषार्थः—[ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः] ध्रौव्यार्थक=स्थित्यर्थक (अकर्मक) गत्यर्थक तथा प्रत्यवसानार्थक धातुओं से विहित जो [क्तः] क्त प्रत्यय वह [अधिकरणे] अधिकरण कारक में होता है,[च] तथा चकार से यथाप्राप्त भाव कर्म कर्त्ता में भी होता है।। पूर्ववत् ही यहाँ भी अकर्मक धातुओं से क्त कर्त्ता एवं भाव में होगा, तथा सकर्मक धातुओं से कर्त्ता एवं कर्म में होगा, ऐसा जानें ।। गत्यर्थाकर्मकश्लिष० (३।४।७२) से गत्यर्थक तथा अकर्मक धातुओं से विहित क्त कर्त्ता में भी होता है, सो आसितो देवदत्तः, यातो देवदत्तो ग्रामम् आदि कर्त्ता के उदाहरण भी दिये हैं।

सकर्मक धातुओं से जब कर्म का सम्बन्ध नहीं होगा,तब वे अकर्मक ही मानी जायेंगी, तो भाव में क्त होगा। जैसे कि 'यातं देवदत्तेन' में है ॥ ध्रौव्य अकर्मक धातुओं के उपलक्षण के लिये है, प्रत्यवसानार्थ अभ्यवहारार्थ (खाने-पीने योग्य) को कहते हैं ॥ इदमेषाम् आसितम् (यह इनके बैठने का स्थान), इदमेषां स्थितम् (यह इनके ठहरने का स्थान)यहाँ 'एषां' में अधिकरणवाचिनश्च (२।३।६८)से षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

लस्य ॥३।४।७७॥

लस्य ६।१॥ अर्थः—इतोऽग्रे आतृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः (३।४।११७) वक्ष्यमाणानि कार्याणि लकारस्यैव स्थाने भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ लस्येति उत्सृष्टानुबन्धस्य लकारसामान्यस्य निर्देशः। तेन धातोर्विहितस्य लकारमात्रस्य ग्रहणं भवति —लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् इत्येते दश लकारा ॥ अग्र उदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[लस्य] 'लस्य' यह अधिकारसूत्र है, पादपर्यन्त जायेगा। यहाँ से आगे जो कार्य कहेंगे, वे लकार के स्थान में हुआ करेंगे, ऐसा जानना चाहिये ॥ 'लस्य' यहाँ 'ल' का सामान्यनिर्देश है। अतः लस्य से लकारमात्र (दसों लकारों)का ग्रहण होता है ॥

तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्-
वहिमहिङ् ॥३।४।७८॥

तिप्त..... महिङ् १।१॥ स०—तिप्तस्झि० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—लस्य, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धातोः तिप्-तस्-झि,सिप्-थस्-थ,मिप्-वस्-मस् (परस्मैपदम्), त-आताम्-झ, थास्-आथाम्-ध्वम्, इट्-वहि-महिङ् (आत्मनेपदम्) इत्येते अष्टादश आदेशाः लस्य=लकारस्य स्थाने भवन्ति ॥ तत्र नव आदेशाः परस्मैपदिनां धातूनां, नव च आत्मनेपदिनाम् ॥ उदा०—परस्मैपदिभ्यः—पठति पठतः पठन्ति, पठसि पठथः पठथ, पठामि पठावः पठामः। आत्मनेपदिभ्यः—एधते एधेते एधन्ते, एधसे एधेथे एधध्वे, एधे एधावहे, एधामहे। एवमन्येषु लकारेषूदाहार्यम् ॥

भाषार्थः—लकार=लट्, लिट् आदि के स्थान में [तिप्···महिङ्] तिप् तस् झि आदि १८ प्रत्यय होते हैं। इनमें ९ तिप् तस् आदि परस्मैपदी धातुओं से, तथा शेष ९ आत्मनेपदी धातुओं से होते हैं ॥ पठ् शप् तिप्=पठति बना। पठन्ति की सिद्धि परि० १।१।२ के पचन्ति के समान जानें। पठामि आदि में अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से दीर्घ होगा। एध् शप् त=एधते बना। यहाँ सर्वत्र टित आत्म० (३।४।७९) से टिभाग को एत्व होता है। एधेते, एधेथे की सिद्धि परि० १।१।११

के पचेते के समान जानें। एधन्ते में पठन्ति के समान शप् को पररूप होगा। 'एध् अ थास्'=यहाँ थासः से(३।४।८०)से थास् को 'से' होकर एधसे बना है। एधावहे में भी अतो दीर्घो यञि(७।३।१०१)से दीर्घ होगा॥ ये सब आदेश यहाँ लट् के स्थान में हुए हैं। इसी प्रकार अन्य दसों लकारों के स्थान में भी ये आदेश होंगे, सो जानें॥

टित आत्मनेपदानां टेरे ॥३।४।७९॥

टितः ६।१॥ आत्मनेपदानाम् ६।३॥ टेः ६।१॥ ए लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ अनु०—लस्य, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—टितो लकारस्य य आत्मनेपदादेशास्तेषां टेः एकारादेशो भवति॥ उदा०—एधते, एधेते॥

भाषार्थः—[टितः] टित् अर्थात् लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् इन छः लकारों के जो [आत्मनेपदानाम्] आत्मनेपद आदेश 'त आताम् झ' आदि, उनके [टेः] टि भाग को [ए] एकार आदेश हो जाता है॥ टि संज्ञा अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) से होती है॥

यहाँ से 'टितः' की अनुवृत्ति ३।४।८० तक जायेगी॥

थासस्से ॥३।४।८०॥

थासः ६।१॥ से लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ अनु०—टितः, लस्य॥ अर्थः—टितो लकारस्य यः 'थास्' आदेशः तस्य स्थाने 'से' आदेशो भवति॥ उदा०—एधसे, पचसे॥

भाषार्थः—टित् ६ लकारों के स्थान में जो[थासः]थास् आदेश, उसके स्थान में [से]'से' आदेश होता है॥ यहाँ लट् लकार का ही उदाहरण दिया है। ऐसे ही टित् छहों लकारों में 'से' आदेश होगा, ऐसा जानें॥ एधसे की सिद्धि ३।४।७८ सूत्र में देख लें॥

लिटस्तझयोरेशिरेच् ॥३।४।८१॥

लिटः ६।१॥ तझयोः ६।२॥ एशिरेच् १।१॥ स०—तझ० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः। एश् च इरेच् च एशिरेच्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अर्थः—लिडादेशयोस्तझयोः स्थाने यथासङ्ख्यम् एश् इरेच् इत्येतावादेशौ भवतः॥ उदा०—त—पेचे, लेभे। झ—पेचिरे, लेभिरे॥

भाषार्थः—[लिटः] लिट् के स्थान में जो [तझयोः]त और झ आदेश, उनको यथासङ्ख्य करके [एशिरेच्] एश् तथा इरेच् आदेश होते हैं॥ लिट् लकार में सिद्धि परि० १।२।६ के समान जानें। केवल यहाँ यही विशेष है कि अत एकहल्मध्ये० (६।४।१२०) से अभ्यास का लोप एवं धातु के 'अ' को एत्व हो जाता है॥

यहाँ से 'लिटः' की अनुवृत्ति ३।४।८२ तक जायेगी॥

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ॥३।४।८२॥

परस्मैपदानाम् ६।३। णलतु मा: १।३॥ स०—णल० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिटः ॥ अर्थः—लिडादेशानां परस्मैपदसंज्ञकानां तिबादीनां स्थाने यथासंख्यं णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म इत्येते नव आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—पपाठ पेठतुः पेठुः, पेठिथ पेठथुः पेठ, पपाठ-पपठ, पेठिव, पेठिम ॥

भावार्थः—लिट् लकार के [परस्मैपदानाम्] परस्मैपदसंज्ञक जो ६ तिबादि आदेश, उनके स्थान में यथासंख्य करके [णल ··माः] णल् अतुस् आदि ६ आदेश हो जाते हैं ॥ पेठतुः पेठुः आदि में पूर्ववत् अत एकहल्मध्ये अना० (६।४।१२०) से अभ्यासलोप तथा एत्व होगा ॥ शेष पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धियों के अनुसार ही जानें। णलुत्तमो वा (७।१।९१) से उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित्वत् माना जाता है। अतः णित् पक्ष में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होकर पपाठ, और अणित् पक्ष में वृद्धि न होकर पपठ बन गया है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ३।४।८४ तक जायेगी ॥

विदो लटो वा ॥३।४।८३॥

विदः ५।१॥ लटः ६।१॥ वा अ० ॥ अनु०—परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः, धातोः ॥ अर्थः—'विद ज्ञाने' इत्यस्माद्धातोः परो यो लट् तस्य परस्मैपदसंज्ञकानां तिबादीनां स्थाने यथासंख्यं णलादयो नव आदेशा विकल्पेन भवन्ति ॥ उदा०—वेद विदतुः विदुः, वेत्थ विदथुः विद, वेद विद्व विद्म। पक्षे लडेव—वेत्ति वित्तः विदन्ति, वेत्सि वित्थः वित्थ, वेद्मि विद्वः विद्मः ॥

भावार्थः—[विदः] 'विद ज्ञाने' धातु से [लटः] लडादेश (तिप् आदि) जो परस्मैपदसंज्ञक उनके स्थान में क्रम से णल् अतुस् आदि ६ आदेश [वा] विकल्प से होते हैं, अर्थात् वर्त्तमानकाल में वेद वेत्ति दोनों प्रयोग होंगे ॥ वेत्ति में खरि च (८।४।५४) से द् तो त् हुआ है ॥ शेष पूर्ववत् ही जानें ॥ उदा०—वेद (जानता है), विदतुः (दोनों जानते हैं), विदुः (जानते हैं)। पक्ष में—वेत्ति (जानता है), वित्तः, विदन्ति ॥

यहाँ से 'लटो वा' की अनुवृत्ति ३।४।८४ तक जायेगी ॥

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ॥३।४।८४॥

ब्रुवः ५।१॥ पञ्चानाम् ६।३॥ आदितः अ० ॥ आहः १।१॥ ब्रुवः ६।१॥ अनु०—लटो वा, परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः, धातोः ॥ अर्थः—ब्रूञ्धातो-

त्तरो यो लट् तस्यादिभूतानां परस्मैपदसंज्ञकानां पञ्चानां तिबादीनां स्थाने यथाक्रमं पञ्चैव णलादय आदेशा विकल्पेन भवन्ति, तत् सन्नियोगेन च ब्रुवः स्थाने आह इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—आह आहतुः आहुः, आत्थ आहथुः । पक्षे तिबादय एव—ब्रवीति ब्रूतः ब्रुवन्ति, ब्रवीषि ब्रूथः ॥

भाषार्थः—[ब्रुवः] ब्रू धातु से परे जो लट् लकार, उसके स्थान में जो परस्मैपदसंज्ञक [आदितः] आदि के [पञ्चानाम्] पाँच आदेश (तिप् तस् झि सिप् थस्), उनके स्थान में क्रम से पाँच ही णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस् ये आदेश विकल्प से हो जाते हैं, तथा उन आदेशों के साथ-साथ [ब्रुवः]ब्रूञ् धातु को [आहः] आह आदेश भी हो जाता है ॥ उदाहरण संस्कृतभाग में देखें ॥

लोटो लङ्वत् ॥३।४।८५॥

लोटः ६।१॥ लङ्वत् अ० ॥ लङ इव लङ्वत्, षष्ठ्यन्तात् तत्र तस्येव (५।१।११५)इति वतिः ॥ अर्थः—लोट्लकारस्य लङ्वत् कार्यं भवति ॥ अतिदेशसूत्रमिदम्॥ उदा०—पचताम्, पचतम्, पचत, पचाव, पचाम ॥

भाषार्थः—यह अतिदेशसूत्र है । [लोटः] लोट् लकार को [लङ्वत्] लङ् के समान कार्य हो जाते हैं ॥ लङ्वत् अतिदेश होने से ङित् लकारों को कहे हुए तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से ताम् तम् त अम् आदेश लोट् को भी हो जाते हैं । सो लोट् के तस् को ताम् होकर पचताम्, लोट के थस् को तम् होकर पचतम्, तथा थ को त होकर पचत बना है । इसी प्रकार लङ्वत् अतिदेश होने से पचाव पचाम में नित्यं ङितः (३।४।९९) से ङित् लकारों को कहा हुआ सकारलोप यहाँ भी हो जाता है । पच् शप् व, यहाँ आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) से आट् आगम होकर पच् अ आट् व=पचाव, पचाम बन गया ॥

यहाँ से 'लोटः' की अनुवृत्ति ३।४।९३ तक जायेगी ॥

एरुः ॥३।४।८६॥

एः ६।१॥ उः १।१॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोडादेशानाम् इकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति ॥ उदा०—पचतु, पचन्तु ॥

भाषार्थः—लोट् लकार के जो तिप् आदि आदेश, उनके [एः] इकार को [उः] उकार आदेश होता है ॥ ति तथा अन्ति (झि) लोडादेश हैं, सो इनके इ को उ हो गया है ॥ लोडादेश सिप् तथा मिप् के इकार को उकार नहीं होता, क्योंकि इन्हें 'हि' और 'नि' आदेश विधान किये हैं ॥

सेर्ह्यपिच्च ॥३।४।८७॥

सेः ६।१॥ हि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अपित् १।१॥ च अ० ॥ स०—न पित् अपित्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोडादेशस्य सिपः स्थाने 'हि' इत्ययमादेशो भवति, अपिच्च भवति स आदेशः ॥ उदा०—लुनीहि, पुनीहि, राध्नुहि, तक्ष्णुहि ॥

भाषार्थः—लोडादेश जो [सेः] सिप् उसके स्थान में [हि] हि आदेश होता है, [च] और वह [अपित्] अपित् भी होता है ॥ सिप् पित् है, सो उसके स्थान में हुआ आदेश 'हि' भी स्थानिवद्भाव से पित् माना जाता, अतः अपित् कर दिया है ॥

यहाँ से 'सेर्ह्यपित्' की अनुवृत्ति ३।४।८८ तक जायेगी ॥

वा छन्दसि ॥३।४।८८॥

वा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—सेर्ह्यपित्, लोटः ॥ अर्थः—पूर्वसूत्रेण सिपः स्थाने यो हिर्विधीयते, स वेदविषये विकल्पेनाऽपिद् भवति ॥ पूर्वेण नित्यमपित्ति प्राप्ते विकल्प्यते ॥ उदा०—युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः (यजु०४।१६)। जुहोधि, जुहुधि । प्रीणाहि, प्रीणीहि ॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र से जो लोट् को हि विधान किया है, उसको [छन्दसि] वेदविषय में [वा] विकल्प से अपित् होता है ॥ पूर्वसूत्र से नित्य अपित् प्राप्त था, विकल्प कर दिया है ॥ युयोधि में व्यत्ययो बहुलम् (३।१।८५) से व्यत्यय होने से शप् को श्लु हो गया है । अतः श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व भी हो जायेगा । जुहुधि की सिद्धि परि० ३।३।१६६ में देखें । पित् पक्ष में जुहोधि युयोधि गुण होकर बनेगा, तथा अपित् पक्ष मे जुहुधि बनेगा । प्रीणीहि में अपित् पक्ष में ङित्वत् (१।२।४) होने से ई हल्यघोः (६।४।११३) से ईत्व हुआ है । पित् पक्ष में ईत्व न होकर प्रीणाहि बनेगा ॥

मेर्निः ॥३।४।८९॥

मेः ६।१॥ निः १।१॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोडादेशस्य मिपः स्थाने 'निः' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पठानि, पचानि ॥

भाषार्थः—लोडादेश जो [मेः] मिप् उसके स्थान में [नि] नि आदेश हो जाता है ॥ आडुत्तमस्य० (३।४।९२) से आट् आगम होकर सिद्धि जानें ॥

आमेतः ॥३।४।९०॥

आम् १।१॥ एतः ६।१॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोट्सम्बन्धिन एकारस्य स्थाने 'आम्' आदेशो भवति ॥ लोटष्टित्वात् टित आत्मनेपदा० (३।४।७९) इति सूत्रेण यदेत्वं भवति, तस्येह 'आम्' विधीयते ॥ उदा०—पचताम्, पचेताम्, पचन्ताम् ॥

भाषार्थः—लोट् सम्बन्धी जो [एतः] एकार उसे [आम्] आदेश होता है ॥ लोट् के टित् होने से टित आत्मनेपदा० (३।४।७९) से जो टि भाग को एत्व प्राप्त था, उसी को यह सूत्र आम् करता है ॥

यहाँ से 'एतः' की अनुवृत्ति ३।४।९१ तक जायेगी ॥

सवाभ्यां वामौ ॥३।४।९१॥

सवाभ्यां ५।२॥ वामौ १।२॥ स०—सश्च वश्च सवौ, ताभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ वश्च अम् च वामौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—एतः, लोटः ॥ अर्थः—सकारवकाराभ्यामुत्तरस्य लोट्सम्बन्धिन एकारस्य स्थाने यथासंख्यम् व अम् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—पचस्व । पचध्वम् ॥

भाषार्थः—[सवाभ्याम्] सकार वकार से उत्तर लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान में यथासङ्ख्य करके [वामौ] व और अम् आदेश हो जाते हैं ॥ पच् शप् थास्, यहाँ थासः से (३।४।८०) से थास् को 'से' होकर 'पचसे' बना । उस स् से उत्तर ए को व होकर पचस्व (तू पका) बन गया । 'पच् शप् ध्वम्', यहाँ टित आत्मने० (३।४।७९) से टि भाग को ए होकर पचध्वे बना । अब व् से उत्तर ए को इस से अम् होकर पचध्वम् बन गया ॥

आडुत्तमस्य पिच्च ॥३।४।९२॥

आट् १।१॥ उत्तमस्य ६।१॥ पित् १।१॥ च अ० ॥ अनु० - लोटः ॥ अर्थः—लोट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्याडागमो भवति, स चोत्तमपुरुषः पिद् भवति ॥ उदा०—करवाणि, करवाव, करवाम ॥

भाषार्थः—लोट् सम्बन्धी [उत्तमस्य] उत्तम पुरुष को [आट्] आट् का आगम हो जाता है, [च] और वह उत्तम पुरुष [पित्] पित् भी माना जाता है ॥

यहाँ से 'उत्तमस्य' की अनुवृत्ति ३।४।९३ तक जायेगी ॥

एत ऐ ॥३।४।९३॥

एतः ६।१॥ ऐ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—उत्तमस्य, लोटः ॥ अर्थः—लोटसम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य य एकारस्तस्य स्थाने 'ऐ' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—करवै, करवावहै, करवामहै ॥

भाषार्थ:—लोट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष का जो [एतः] एकार, उसके स्थान में [ऐ] 'ऐ' आदेश होता है ।। परि० ३।४।९२ के समान सब कार्य होकर 'करव् आट् इट्' रहा। टित आत्म० (३।४।७९) से एत्व, तथा उस 'ए' को प्रकृतसूत्र से 'ऐ' एवं आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर करवै आदि की सिद्धि जानें ।।

लेटोऽडाटौ ।।३।४।९४।।

लेटः ६।१।। अडाटौ १।२।। स०—अडाटौ इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अर्थः—लेटोऽट् आट् इत्येतौ आगमौ पर्यायेण भवतः ।। उदा०—जीवाति शरदः शतम् । भवति, भवाति, भविषति, भविषाति ।।

भाषार्थ:—[लेटः] लेट् लकार को [अडाटौ] अट् आट् का आगम पर्याय से होता है ।। सिद्धि परि० ३।१।३४ में देखें ।।

यहाँ से 'लेटः' की अनुवृत्ति ३।४।९८ तक जायेगी ।।

आत ऐ ।।३।४।९५।।

आतः ६।१।। ऐ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। अनु०—लेटः ।। अर्थः—लेट्सम्बन्धिन आकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति ।। आत्मनेपदेषु 'आताम् आथाम्' इत्यत्र आकारो विद्यते, तस्येह कार्यमुच्यते ।। उदा०—एधिषैते एधिषैते, एधैते एधैते । एधिषैथे एधिषैथे, एधैथे एधैथे ।।

भाषार्थ:—लेट् सम्बन्धी जो [आतः] आकार उसके स्थान में [ऐ] ऐकारादेश होता है ।। आत्मनेपद के आताम् आथाम् में आकार है, उसी आकार को यहां ऐ होता है ।।

यहाँ से 'ऐ' की अनुवृत्ति ३।४।९६ तक जायेगी ।।

वैतोऽन्यत्र ।।३।४।९६।।

वा अ० ।। एतः ६।१।। अन्यत्र अ० ।। अनु०—ऐ, लेटः ।। अर्थः—लेट्सम्बन्धिन एकारस्य स्थाने वा ऐकारादेशो भवत्यन्यत्र, अर्थात् 'आत ऐ' इत्येतत्सूत्रविषयं वर्जयित्वा ।। उदा०—एधतै एधातै एधते एधाते । एधिषतै एधिषातै एधिषते एधिषाते । एधन्तै एधान्तै एधन्ते एधान्ते एधिषन्तै एधिषान्तै एधिषन्ते एधिषान्ते । एधसै एधासै एधसे एधासे । एधिषसै एधिषासै एधिषसे एधिषासे । एधध्वै एधाध्वै एधध्वे एधाध्वे । एधिषध्वै एधिषाध्वै एधिषध्वे एधिषाध्वे । एधै, एधे । एधिषै, एधिषे । एधवहै एधावहै, एधवहे एधावहे । एधिषवहै एधिषावहै एधिषवहे एधिषावहे । एधमहै एधामहै एधमहे एधामहे । एधिषमहै एधिषामहै एधिषमहे एधिषामहे । अहमेव पशूनामीशै, सप्ताहानि शयै, मदग्र एव वो ग्रहा गृह्यान्तै, मद्देवतान्येव वः पात्राणि उच्यान्तै । न च भवति—यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् ।।

भाषार्थ:—लेट् सम्बन्धी जो [एतः] एकार उसके स्थान में ऐकारादेश [वा] विकल्प से होता है। [अन्यत्र] अन्यत्र अर्थात् आत ऐ (३।४।९५) सूत्र के विषय को छोड़कर ॥ प्रक्रिया दर्शाने के लिए संस्कृतभाग में 'एध' धातु के सब रूप दे दिये गये हैं ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ३।४।९८ तक जायेगी ॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥३।४।९७॥

इतः ६।१॥ च अ० ॥ लोपः १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—वा, लेटः ॥ अर्थः—परस्मैपदविषयस्य लेट्सम्बन्धिन इकारस्य वा लोपो भवति ॥ उदा०— भविषत् भविषात्, भाविषत् भाविषात्, भवत् भवात् । प्रचोदयात् । जोषिषत् । तारिषत् । पक्षे—भविषति भविषाति, भाविषति भाविषाति, भवति भवाति । पताति विद्युत् ॥

भाषार्थ:—[परस्मैपदेषु] परस्मैपद विषय में लेट् लकार सम्बन्धी [इतः] इकार का [च] भी विकल्प से [लोपः] लोप हो जाता है ॥ सिद्धि परि० ३।१।३४ में देखें ॥

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ३।४।१०० तक जायेगी ॥

स उत्तमस्य ॥३।४।९८॥

सः ६।१॥ उत्तमस्य ६।१॥ अनु०—लोपः, लेटः, वा ॥ अर्थः—लेट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्यस्य सकारस्य वा लोपो भवति ॥ उदा०—भविषाव, भविषाम । पक्षे—भविषावः, भविषामः ॥

भाषार्थः—लेट् सम्बन्धी [उत्तमस्य] उत्तम पुरुष के [सः] सकार का लोप विकल्प से हो जाता है ॥ विस्तार से लेट् के रूप सूत्र ३।१।३४ पर दर्शाये हैं, वहीं देख लें । सिद्धि भी परि० ३।१।३४ में देखें ॥

यहाँ से 'स उत्तमस्य' की अनुवृत्ति ३।४।९९ तक जायेगी ॥

नित्यं ङितः ॥३।४।९९॥

नित्यम् १।१॥ ङितः ६।१॥ अनु०—स उत्तमस्य, लोपः, लस्य ॥ अर्थः—ङित्लकारसम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य सकारस्य नित्यं लोपो भवति ॥ उदा०—अपचाव, अपचाम ॥

भाषार्थ:—[ङितः] ङित् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का [नित्यम्] नित्य ही लोप हो जाता है ॥ लङ् लिङ् लुङ् लृङ् ये चार ङित् लकार हैं । वस् मस् के सकार का नित्य लोप होकर लङ् लकार में 'अव् पच् अ व' रहा । अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से दीर्घ होकर अपचाव अपचाम बना है ॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति ३।४।१०० तक, तथा 'ङितः' की अनुवृत्ति ३।४।१०१ तक जायेगी ॥

इतश्च ॥३।४।१००॥

इतः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—नित्यं ङितः, लोपः, लस्य ॥ अर्थः—ङित्-लकारसम्बन्धिन इकारस्य नित्यं लोपो भवति ॥ उदा०—अपचत्, अपचन्, अपचम् । अपठीत् ॥

भावार्थः—ङित् लकार सम्बन्धी [इतः] इकार का [च] भी नित्य ही लोप हो जाता है ॥ अन्ति के इकार का लोप होकर 'अन्त्' रहा । पुनः संयोगान्तस्य० (८।२।२३) से तकार लोप होकर 'अपचन्' लङ् लकार में बना है । अपठीत् की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ॥

तस्थस्थमिपां तांतंतामः ॥३।४।१०१॥

तस्थस्थमिपाम् ६।३॥ तांतंतामः १।३॥ स०—तश्च थश्च थश्च मिप् च तस्थस्थमिपः, तेषां, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । ताम् च तम् च तश्च अम् च तांतंतामः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ङितः, लस्य ॥ अर्थः—ङित्लकारसम्बन्धिनां तस् थस् थ मिप् इत्येतेषां स्थाने यथासंख्यं ताम् तम् त अम् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—अपचताम्, अपचतम्, अपचत, अपचम् ॥

भावार्थ—ङित् लकार सम्बन्धी [तस्थस्थमिपाम्] तस्, थस्, थ, मिप् के स्थान में यथासंख्य करके [तांतंतामः] ताम्, तम्, त और अम् आदेश होते हैं ॥ लङ् लकार में अपचताम् आदि बने हैं । सिद्धियों में कुछ विशेष नहीं है ॥

लिङः सीयुट् ॥३।४।१०२॥

लिङः ६।१॥ सीयुट् १।१॥ अर्थः—लिङादेशानां सीयुड् आगमो भवति ॥ उदा०—पचेत, पचेयाताम्, पचेरन् ॥

भावार्थः—[लिङः] लिङ् के आदेशों को [सीयुट्] सीयुट् आगम होता है ॥ पच् शप् सीयुट् सुट् त=पच् अ सीय् स् त, इस अवस्था में लिङः सलोपो० (७।२।७९)से दोनों सकारों का लोप होकर—पच ईय् त रहा । आद् गुणः(६।१।८४)तथा लोपो व्यो० (६।१।६४) लगकर पचेत बन गया । पचेरन् में झस्य रन्(३।४।१०५) से झ के स्थान में रन् आदेश हो गया है । शेष पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'लिङः' की अनुवृत्ति ३।४।१०८ तक जायेगी ॥

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ॥३।४।१०३॥

यासुट् १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ उदात्तः १।१॥ ङित् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—परस्मैपदविषयस्य लिङो यासुडागमो भवति, स चोदात्तो भवति ङिच्च ॥ उदा०—कुर्यात् कुर्याताम् कुर्युः ॥

भावार्थः—[परस्मैपदेषु] परस्मैपदविषयक लिङ् लकार को [यासुट्] यासुट् का आगम होता है, [च] और वह [उदात्तः] उदात्त तथा [ङित्] ङित्वत् भी माना जाता है ॥ आगम अनुदात्त होते हैं, अतः यासुट को अनुदात्त प्राप्त था। सो उदात्त कहा है ॥

यहाँ से 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तः' की अनुवृत्ति ३।४।१०४ तक जायेगी ॥

किदाशिषि ॥३।४।१०४॥

कित् १।१॥ आशिषि ७।१॥ अनु०—यासुट् परस्मैपदेषूदात्तः, लिङः ॥ अर्थः—आशिषि विहितस्य परस्मैपदविषयस्य लिङो यासुड् आगमो भवति, स किदुदात्तश्च भवति ॥ उदा०—उच्यात् उच्यास्ताम्। इज्यात् इज्यास्ताम्। जागर्यात् जागर्यास्ताम् ॥

भावार्थः—[आशिषि] आशीर्वाद में विहित परस्मैपदसंज्ञक लिङ् को यासुट् आगम होता है, वह [कित्] कित् और उदात्त होता है ॥ कित् तथा ङित् दोनों में गुणप्रतिषेध कार्य समान हैं। किन्तु यहाँ कित् करने के विशेष प्रयोजन ये हैं कि—कित् परे रहते संप्रसारण तथा जागृ धातु को गुण हो जावे। वच् तथा यज् धातु को यासुट् के कित् होने से वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर उच्यात् इज्यात् बनता है। तथा जागर्यात् में यासुट् के कित् करने से जाग्रोऽविचि० (७।३।८५) से गुण हो जाता है। क्योंकि वहाँ ङित् परे रहते गुणनिषेध कहा है, सो कित् परे रहते हो ही जायेगा। उच्यास्ताम् आदि में तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से तस् को ताम् हुआ है ॥

झस्य रन् ॥३।४।१०५॥

झस्य ६।१ रन् १।१॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङादेशस्य झस्य 'रन्' आदेशो भवति ॥ उदा०—पचेरन्, यजेरन् ॥

भावार्थः—लिङादेश जो [झस्य] झ उसको [रन्] रन् आदेश होता है ॥

इटोऽत् ॥३।४।१०६॥

इटः ६।१॥ अत् १।१॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङादेशस्य इटः स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पचेय, यजेय, कृषीय ॥

भावार्थः—लिङ् आदेश [इटः] 'इट्' (उत्तमपुरुष का एकवचन) के स्थान में [अत्] 'अत्' आदेश होता है ॥ 'पच् शप् सीय् इट्' पूर्ववत् होकर लिङः सलोपो० (७।२।७९) से सकार लोपः, तथा प्रकृत सूत्र से इट् के स्थान में अत् आदेश होकर—पच ईय् अ=पचेय बन गया ॥ आशीर्लिङ् में कृ सीय् इट्=कृ सीय् अ=कृषीय बना। यहाँ 'अत्' के 'त्' की इत्संज्ञा का निषेध नहीं होता ॥

सुट् तिथोः ॥३।४।१०७॥

सुट् १।१॥ तिथोः ६।२॥ स०—तिश्च थ च तिथौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङ्सम्बन्धिनोस्तकारथकारयोः 'सुट्' आगमो भवति ॥ उदा०—एधिषीष्ट, एधिषीष्ठाः । भूयात्, भूयास्ताम् । पचेत ॥

भाषार्थः— लिङ् सम्बन्धी [तिथोः] तकार और थकार को [सुट्] सुट् का आगम होता है ॥ ति में इकार उच्चारणार्थ है । परस्मैपद के थस् एवं थ को तस्थस्थमिपां०(३।४।१०१)से क्रम से तम् त आदेश हो जाते हैं । अतः परस्मैपद के थकार के आगम का उदाहरण नहीं देखा जा सकता ॥ सुट् आगम तकार थकार मात्र को कहा है । अतः विधिलिङ् एवं आशीर्लिङ् में आत्मनेपदी परस्मैपदी सभी धातुओं से सुट् होता है । पर विधिलिङ् के सार्वधातुक होने से लिङः सलोपो०(७।२।७९) से सकार लोप होकर श्रवण नहीं होता, आशीर्लिङ् में श्रवण होता है ॥ एधिषीष्ट की सिद्धि परि० १।२।११ के भित्सीष्ट के समान जानें । एधिषीष्ठाः थास् में बनेगा । भूयात् में 'स्कोः संयोगाद्यो० (८।२।२९) से यासुट् के सकार का लोप होगा । तथा पुनः इसी सूत्र से सुट् के सकार का लोप भी हो जायेगा ॥ पचेत् की सिद्धि परि० ३।१।६८ के पठेत् के समान जानें ॥

झेर्जुस् ॥३।४।१०८॥

झेः ६।१॥ जुस् १।१॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङादेशस्य झेः स्थाने जुस् आदेशो भवति ॥ उदा०—पचेयुः, पच्यासुः । भवेयुः, भूयासुः ॥

भाषार्थः—लिङादेश [झेः] 'झि' (परस्मैपद में) को [जुस्] जुस् आदेश हो जाता है ॥ विधिलिङ् आशीर्लिङ् दोनों में ही झि को जुस् हो जायेगा ॥ पचेयुः भवेयुः में सूत्र ३।४।१०२ के समान सारे कार्य होकर प्रकृत सूत्र से झि को जुस् हो जायेगा ॥ आशीर्लिङ् में पच् यास् झि=पच् यास् उस्=रुत्व विसर्गादि होकर पच्यासुः बन गया । विधिलिङ् में सार्वधातुक होने से शप् प्रत्यय होता है । पर आशीर्लिङ् लिङाशिषि (३।४।११६) से आर्धधातुकसंज्ञक होता है । अतः वहाँ शप् विकरण नहीं होता ॥

यहाँ से 'झेर्जुस्' की अनुवृत्ति ३।४।११२ तक जायेगी ॥

सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ॥३।४।१०९॥

सिजभ्यस्तविदिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—सिच् च अभ्यस्तञ्च विदिश्च सिजभ्यस्तविदयः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—झेर्जुस्, लस्य, मण्डूकप्लुतगत्या ङित इत्यप्यनुवर्त्तते, नित्यं ङितः (३।४।९९) इत्यतः ॥ अर्थः—सिचः परस्य, अभ्यस्तसंज्ञके-

भ्यो वेत्तेश्चोत्तरस्य ङितौ झेर्जुसादेशो भवति ॥ उदा०—सिच्—अकार्षुः, अहार्षुः । अभ्यस्तसंज्ञकेभ्यः—अबिभयुः, अजुहवुः, अजागरुः । वेत्तेः-अविदुः ॥

भाषार्थः—[सिजभ्यस्तविदिभ्यः] सिच् से उत्तर, अभ्यस्तसंज्ञक से उत्तर, तथा विद् धातु से उत्तर [च] भी झि को जुस् आदेश होता है ॥ अभ्यस्त और विदि का ग्रहण सिच् परे न रहने पर, अर्थात् लङ् में भी झि को जुस् हो जावे इसलिए है ॥ यहाँ प्रश्न यह है कि लट् लकार में झि को जुस् क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'ङितः' की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुतगति से आती है । सो ङित् लकार (लङ्) के ही झि को जुस् होगा ॥

यहाँ से 'सिचः' की अनुवृत्ति ३।४।११० तक जायेगी ॥

आतः ॥३।४।११०॥

आतः ५।१॥ अनु०—झेर्जुस्, सिचः ॥ अर्थः—पूर्वेणैव प्राप्ते नियमार्थमिदं सूत्रम् । सिचः=सिज्लुकि आकारान्तादेव झेर्जुस् भवति ॥ उदा०—अदुः । अधुः । अस्थुः ॥

भाषार्थः—पूर्वसूत्र से ही झि को जुस् प्राप्त था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है ॥ सिच् से उत्तर (सिच्लुगन्त से उत्तर) यदि झि को जुस् हो, तो [आतः] आकारान्त धातु से उत्तर ही हो ॥ यहाँ 'सिचः' एवं 'आतः' दोनों में पञ्चमी है । सो दोनों से अनन्तर झि सम्भव नहीं, अतः सिचः से यहाँ सिच्लुगन्त अर्थात् जहाँ सिच् का लुक् हो जावे, वहीं का ग्रहण होता है । प्रत्ययलक्षण से वहाँ सिच् से उत्तर 'झि' होगा । तथा श्रुति से आकारान्त धातु से उत्तर भी हो ही जायेगा ॥ दा धा स्था इन धातुओं के सिच् का लुक् गातिस्थाघुपाभूभ्यः० (२।४।७७) से हुआ है ॥

यहाँ से 'आतः' की अनुवृत्ति ३।४।१११ तक जायेगी ॥

लङः शाकटायनस्यैव ॥३।४।१११॥

लङः ६।१॥ शाकटायनस्य ६।१॥ एव अ० ॥ अनु०—आतः, झेर्जुस् ॥ अर्थः—आकारान्तादुत्तरस्य लङादेशस्य झेर्जुस् आदेशो भवति, शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—अयुः, अवुः । अन्येषां मते—अयान्, अवान् ॥

भाषार्थः—आकारान्त धातुओं से उत्तर [लङः] लङ् के स्थान में जो झि आदेश उसको जुस् आदेश होता है, [शाकटायनस्य] शाकटायन आचार्य के मत में [एव] ही ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ३।४।११२ तक जायेगी ॥

द्विषश्च ॥३।४।११२॥

द्विषः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—लङः शाकटायनस्यैव, झेर्जुस् ॥ अर्थः—द्विष्-धातोरुत्तरस्य लङादेशस्य झेर्जुस् आदेशो भवति, शाकटायनस्यैवाचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—अद्विषुः । अन्येषां मते—अद्विषन् ॥

भावार्थः—[द्विषः] द्विष् धातु से परे [च] भी लङादेश झि के स्थान में जुस् आदेश होता है, शाकटायन आचार्य के ही मत में ॥ अन्यों के मत में नहीं होगा, सो अद्विषन् (उन्होंने द्वेष किया) बनेगा ॥

तिङ्शित् सार्वधातुकम् ॥३।४।११३॥

तिङ्शित् १।१॥ सार्वधातुकम् १।१॥ स०—श् इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहिः ॥ तिङ् च शित् च तिङ्शित्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः,प्रत्ययः,परश्च ॥ अर्थः—धातोर्विहिताः तिङः शितश्च प्रत्यया सार्वधातुकसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—भवति, नयति । स्वपिति, रोदिति । पचमानः, यजमानः ॥

भावार्थः—धातु से विहित [तिङ्शित्] तिङ् तथा शित्=शकार जिनका इत्संज्ञक हो, उन प्रत्ययों की [सार्वधातुकम्] सार्वधातुक संज्ञा होती है ॥ शप् के शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा होकर सार्वधातुकार्धित सार्वधातु० (७।३।८४) से 'भू' 'नी' को गुण होता है । स्वपिति रोदिति में तिप् की सार्वधातुक संज्ञा होने से रुदादिभ्यः सार्वधातुके (७।२।७६) से इट् आगम हो गया है । स्वप् इट् ति=स्वपिति, रुद् इट् ति=रोदिति बना । अदिप्रभृतिभ्यः०(२।४।७२)से शप् का लुक् हो ही जायेगा ॥ पचमानः की सिद्धि परि० ३।२।१२४ में देखें । यजमानः में भी इसी तरह जानें, केवल यहाँ पूङ्यजोः शानन् (३।२।१२८) से शानन् प्रत्यय होता है ॥

आर्धधातुकं शेषः ॥३।४।११४॥

आर्धधातुकम् १।१॥ शेषः १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धातोर्विहिताः शेषाः (तिङ्शिद्भिन्नाः)प्रत्यया आर्धधातुकसंज्ञका भवन्ति ॥ तिङ्शितं वर्जयित्वाऽन्यः प्रत्ययः शेषः ॥ उदा०—लविता, लवितुम्, लवितव्यम् ॥

भावार्थः—[शेषः] शेष अर्थात् तिङ्शित् से शेष बचे, धातु से विहित जो प्रत्यय, उनकी [आर्द्धधातुकम्] आर्द्धधातुक संज्ञा होती है ॥ तृच् तुमुन् तव्य प्रत्यय तिङ्शित् से शेष हैं, सो आर्द्धधातुसंज्ञक हैं । आर्धधातुक संज्ञा होने से सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण, तथा आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम हो जाता है ।

यहाँ से 'आर्द्धधातुकम्' की अनुवृत्ति ३।४।११७ तक जायेगी ॥

लिट् च ॥३।४।११५॥

लिट् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—आर्द्धधातुकम् ॥ अर्थः—लिडादेशा ये तिबादयस्ते आर्द्धधातुकसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—पेचिथ, शेकिथ । जग्ले, मम्ले ॥

भाषार्थः—[लिट्] लिडादेश जो तिबादि उनको [च] भी आर्द्धधातुक संज्ञा होती है ॥

लिङाशिषि ॥३।४।११६॥

लिङ् १।१॥ आशिषि ७।१॥ अनु०—आर्द्धधातुकम् ॥ अर्थः—आशिषि विषये यो लिङ् स आर्धधातुकसंज्ञको भवति ॥ उदा०—लविषीष्ट, एधिषीष्ट ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वाद अर्थ में जो [लिङ्] लिङ् वह आर्धधातुकसंज्ञक होता है ॥ परि० १।२।११ के समान सिद्धि जानें । पूर्ववत् यहाँ भी आर्धधातुक संज्ञा होने से इट् आगम होता है ॥

छन्दस्युभयथा ॥३।४।११७॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ अर्थः—छन्दसि विषये उभयथा सार्वधातुकम् आर्धधातुकं च भवति । अर्थात् यस्य सार्वधातुकसंज्ञा विहिता तस्यार्द्धधातुकसंज्ञाऽपि भवति, यस्यार्द्धधातुकसंज्ञा कृता तस्य सार्वधातुकसंज्ञाऽपि भवति ॥ उदा०—वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः (ऋ० ७।९९।७) । स्वस्तये नावमिवारुहेम । लिट् सार्वधातुकम्—ससृवांसो विशृण्विरे । सोममिन्द्राय सुन्विरे । लिङ् उभयथा भवति—उपस्थेयाम शरणं बृहन्तम् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [उभयथा] दोनों सार्वधातुक आर्धधातुक संज्ञायें होती हैं । अर्थात् जिसकी सार्वधातुक संज्ञा कही है, उसकी आर्धधातुक संज्ञा भी होती है । तथा जिसकी आर्धधातुक संज्ञा कही है, उसकी सार्वधातुक संज्ञा भी होती है । अथवा एक ही स्थान में दोनों संज्ञायें हो जाती हैं ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

परिशिष्टम्

परि० वृद्धिरादैच् (१।१।१)

(१) सूत्र-प्रयोजन—'भागः' इस उदाहरण में वृद्धिरादैच् सूत्र का इतना ही कार्य है कि जब अत उपधायाः (७।२।११६) सूत्र से भज् के उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त हुई, तो प्रकृत सूत्र ने बताया कि वृद्धि किसे कहते हैं ॥

(१) भागः (भजन=सेवन करना)

'भज सेवायाम्' (भ्वा० पर०)	भूवादयो धातवः (१।३।१) से भू से लेकर चुरादिगण के अन्त तक जो धातुपाठ में पढ़े क्रियावाची शब्द हैं, उनकी धातु संज्ञा होती है। सो 'भज' धातुसंज्ञक हुआ। उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से उपदेश[1] में जो अनुनासिक अच् उसकी, अर्थात् जँ के अँ की इत् संज्ञा हो गई। मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (१।१।८) से मुख और नासिका से बोले जानेवाले 'अँ' की अनुनासिक संज्ञा हो गई। अब अँ की इत्संज्ञा होने से तस्य लोपः (१।३।९) से उसका लोप हुआ। अदर्शनं लोपः (१।१।५९) ने अदर्शन=न दिखाई पड़ने की लोप संज्ञा कही। सो शेष रहा—
भज्	धातोः (३।१।९१) यह अधिकारसूत्र है। भावे (३।३।१८), प्रत्ययः (३।१।१) परश्च (३।१।२) इनसे भाव अर्थ में धातु से घञ् प्रत्यय परे (भज् से परे) होकर—
भज् घञ्	हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्तिम हल् 'ञ्' की इत् संज्ञा, तथा लशक्वतद्धिते (१।३।८) से प्रत्यय के आदि 'घ्' की इत् संज्ञा होकर, तस्य लोपः (१।३।८), अदर्शनं लोपः (१।१।५९) से दोनों (ञ्, घ्) का लोप हुआ। अब—
भज् अ	यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) से भज् की अङ्ग संज्ञा हुई। क्योंकि जिससे प्रत्यय का विधान करें उस प्रत्यय के

---

१. उपदेश ५ हैं—अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिसूत्र, गणपाठ तथा लिङ्गानुशासनम्। भज वास्तव में 'भजँ' था, पर लगभग गत २०० वर्षों से ये अनुनासिक चिह्न सर्वथा लुप्त हो गये हैं, जो अब बताने ही पड़ते है ॥

परे रहने पर, उससे पहले-पहले जितना भाग है, उसकी अङ्ग संज्ञा होती है। अङ्गस्य (६।४।१) यह अधिकारसूत्र है। अब इस अङ्गाधिकार में वर्तमान अत उपधायाः (७।२।११६) सूत्र से अङ्ग के उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त हुई। उपधा किसे कहते हैं? यह अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४) ने बताया कि अन्त्य अल् से पूर्व (वर्ण) की उपधा संज्ञा होती है। सो भज् के अ की उपधा संज्ञा हुई। प्रकृत सूत्र वृद्धिरादैच् ने आ ऐ औ तीनों वर्णों की वृद्धि संज्ञा की। अतः अकार के स्थान में तीनों वृद्धिसंज्ञक आ ऐ औ प्राप्त हुए। तीनों में से एक करना है, तो कौनसा वर्ण हो? इसका निर्णय स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) परिभाषासूत्र ने किया कि—स्थान में स्थानी का अन्तरतम=सदृशतम हो। सो 'अ' का सदृशतम[1] 'आ' है, अतः 'आ' वृद्धि होकर—

भाज् अ — पुनः अङ्गाधिकार में वर्तमान चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२) से घित् (घ् इत् संज्ञावाले) अ के परे रहते ज् को कवर्ग आदेश प्राप्त हुआ। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से ज् को ग् हुआ।

भाग् अ=भाग — अब कृदतिङ् (३।१।९३) से घञ् की कृत् संज्ञा है। अतः 'भाग' के कृदन्त होने के कारण कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से उस की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) यह अधिकारसूत्र है। स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् (४।१।२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) प्रातिपदिक से २१ प्रत्यय परे प्राप्त हुये। हमें एक ही लाना है। तब सुपः (१।४।१०२) से इन प्रत्ययों के तीन-तीन के जुट को क्रम से एकवचन द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा हुई। विभक्तिश्च (१।४।१०३) से सब (२१ प्रत्ययों) की विभक्ति संज्ञा हुई। अब प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति के एकवचन, द्विवचन, बहुवचनसंज्ञक ३ प्रत्यय प्राप्त हुवे, शेष १८ हट गये। द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) ने कहा कि एकवचन की विवक्षा (=कहने की इच्छा) में एकवचन का प्रत्यय हो। सो 'भाग' से परे एकवचन का प्रत्यय 'सु' आया, शेष दो हट गये।

---

१. वर्णों का सादृश्य उनके स्थान और प्रयत्न की समानता के अनुसार होता है, जिनको वर्णोच्चारणशिक्षा से जान लेना चाहिये।

भाग सुं	मुखनासिकावचनो० (१।१।८), उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से 'उँ' की इत् संज्ञा होकर तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं लोपः (१।१।५९) से लोप हो गया।
भाग स्	अब सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से सुप् अन्तवाले 'भागस्' की पद संज्ञा हुई। पदस्य (८।१।१६) यह अधिकारसूत्र है। सो अब पदाधिकार में वर्त्तमान ससजुषो रुः (८।२।६६) से पद के अन्त के स् को 'रुँ' हो गया।
भाग रुँ	तथा पूर्ववत् रुँ के उँ की इत् संज्ञा होकर लोप हो गया।
भाग र्	विरामोऽवसानम् (१।४।१०९) से विराम की अवसान संज्ञा होकर, खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) से अवसान में वर्त्तमान 'र्' को विसर्जनीय होकर—
भागः	बन गया॥

भागः के समान ही यज धातु से यागः (यज्ञ करना), त्यज से त्यागः (त्याग करना) की सिद्धि भी समझनी चाहिये। पठ से पाठः, तप से तापः, पत से पातः, इत्यादि सैकड़ों शब्दों की सिद्धि भी इसी प्रकार जान लेनी चाहिये॥

विशेषः—सिद्धि समझने के पश्चात् उपरिनिर्दिष्ट 'सूत्र प्रयोजन' पुनः समझना चाहिये, ताकि बुद्धि में दृढ़ हो जावे॥

---

(२) सूत्र-प्रयोजन—'नायकः' इस उदाहरण में जब 'नी' अङ्ग को अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होने लगी, तो वृद्धिरादैच् सूत्र ने बताया कि वृद्धि कहते किसे हैं। बस इस सूत्र का इस उदाहरण में इतना ही कार्य है॥

(२) नायकः (ले चलनेवाला, नेता)

णीञ् प्रापणे	हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्त्य 'ञ्' की इत् संज्ञा, तथा तस्य लोपः (१।३।९) से पूर्ववत् लोप होकर, भूवादयो धातवः (१।३।१) से धातु संज्ञा होकर—
णी	णो नः (६।१।६३) से धातु के आदि ण् को न् होकर—
नी	धातोः (३।१।९१) यह अधिकारसूत्र है। अब इस 'धातोः' अधिकार में वर्त्तमान ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से धातु (नी) से परे ण्वुल् प्रत्यय हुआ।

नी ण्वुल् — कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से यह ण्वुल् कर्त्ता=कर्तृ वाच्य में होता है। स्वतन्त्रः कर्त्ता (१।४।५४) क्रियासिद्धि में प्रधान कारक को कर्त्ता संज्ञा होती है। अब चुटू (१।३।७) से प्रत्यय के आदि 'ण्' की इत् संज्ञा, तथा हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्त्य 'ल्' की इत् संज्ञा, एवं पूर्ववत् लोप हो गया।

नी वु — यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) से 'नी' की अङ्ग संज्ञा हुई। अङ्गस्य (६।४।१), युवोरनाकौ (७।१।१) से अङ्ग के यु वु को अन तथा अक आदेश प्राप्त हुए। सो यु वु स्थानी (जिसके स्थान में आदेश हो) भी दो हैं तो किसके स्थान में कौनसा आदेश हो? तब इसका निर्णय यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०)इस परिभाषासूत्र ने किया कि समान सङ्ख्यावाले आदेशों को यथाक्रम अनुदेश होते हैं। अर्थात् पहले के स्थान में पहला, दूसरे के स्थान में दूसरा इत्यादि होते हैं। अतः यहाँ भी यु के स्थान में अन, और वु के स्थान में अक प्राप्त होने से 'वु' को अक हो गया।

नी अक — पुनः अङ्गाधिकार में वर्त्तमान अचो ञ्णिति (७।२।११५) से अजन्त अङ्ग 'नी' को, णित् परे मानकर वृद्धि प्राप्त हुई। वृद्धिरादैच् से आ, ऐ, औ तीनों की वृद्धि संज्ञा हुई। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६) से 'ई' का सदृशतम 'ऐ' हुआ।

नै अक — परः सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०८) वर्णों के अत्यन्त सामीप्य की संहिता संज्ञा है। संहितायाम् (६।१।७०) यह अधिकारसूत्र है। एचोऽयवायावः (६।१।७५) से एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान में अय् अव् आय् आव् आदेश प्राप्त हुये। यहाँ भी सम सङ्ख्यावाले ४ ही आदेश एवं ४ ही अनुदेश हैं। सो यथासङ्ख्यमनुदेशः० (१। ३।१०) लगकर 'ऐ' के स्थान में आय् आदेश हुआ।

न् आय् अक — पूर्ववत् कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)से 'नायक' को कृदन्त मान कर प्रातिपदिक संज्ञा हुई। पुनः पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

नायकः — बना॥

इसी प्रकार 'चिञ् चयने' धातु से चायकः (चुननेवाला), 'ष्टुञ् स्तुतौ' से स्तावकः (स्तुति करनेवाला) बनेगा। स्तावकः में इतना ही विशेष है कि धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से धातु के आदि ष् को स् हुआ। निमित्त के हटने पर नैमित्तिक भी हट जाता है। अतः ट् को भी त् होकर स्तु रह गया। शेष सब

पूर्ववत् है। 'पूञ् पवने' से पावकः (पवित्र करनेवाला) बनता है। 'पठ व्यक्तायां वाचि' तथा 'डुपचष् पाके' धातु से अत उपधायाः (७।२।११६) से उपधा अकार को वृद्धि होकर पाठकः (पढ़नेवाला), पाचकः (पकानेवाला) बनते हैं।।

'डुकृञ् करणे' धातु से कारकः (करनेवाला) बनता है, इसकी सिद्धि में जो विशेष है, वह निम्नलिखित है—

डुकृञ्　　आदिर्ञिटुडवः (१।३।५) से 'डु' की इत् संज्ञा, तथा हलन्त्यम् (१।३।३) से ञ् की इत् संज्ञा, एवं लोप होकर, पूर्ववत् धातु संज्ञा होकर

कृ ण्वुल्=अक　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त हुई। वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'ऋ' के स्थान में सदृशतम वृद्धि प्राप्त हुई। परन्तु ऋ के स्थान में आ ऐ औ में से किसी का भी सादृश्य (स्थान, प्रयत्न) नहीं मिलता। तब यह सूत्र असफल रह गया। ऐसी दशा में नयी परिभाषा (निर्णय करनेवाला) सूत्र उरण्रपरः (१।१।५०) लगा। इसने कहा कि ऋ के स्थान में अण् (अ, इ, उ) होते-होते रपर=रपरेवाला हो जावे। सो 'आर्' वृद्धि होकर—

कार् अक　　शेष सब पूर्ववत् ही होकर—

कारकः　　बना।।

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' धातु से हारकः (हरन करनेवाला) में जानें।।

---

(३) सूत्र प्रयोजन—शालीयः इस उदाहरण में वृद्धिरादैच् सूत्र का इतना ही कार्य है कि शाला शब्द के आदि 'आ' को वृद्धिरादैच् से वृद्धि संज्ञा होकर शाला को वृद्धिर्यस्याचामा० (१।१।७२) से वृद्ध संज्ञा हो गई। तत्पश्चात् वृद्ध संज्ञा होने से वृद्धाच्छः (४।२।११३) से छ प्रत्यय हो गया।

(३) शालीयः (शालायां भवः=शाला में होनेवाला कोई पदार्थ)

शाला　　टाप्प्रत्ययान्त शाला शब्द से ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) आदि सब भागः के समान ही सूत्र लगकर, आधारोऽधिकरणम् (१।४।४५), सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) से सप्तमी विभक्ति की विवक्षा में 'ङि' प्रत्यय आया।

शाला ङि	अब समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२) से समर्थ 'शाला ङि' सुबन्त से आगे प्रत्यय की उत्पत्ति हो, इसकी अनुमति मिल गयी। तब तत्र भव: (४।३।५३) सूत्र से भव अर्थ में औत्सर्गिक अण् प्राप्त हुआ। अब प्रकृत वृद्धिरादैच् सूत्र से शाला के आदि 'आ' की वृद्धि संज्ञा हुई। वृद्धि संज्ञा होने से वृद्धिर्यस्याचामा० (१।१।६२) से वृद्ध संज्ञा 'शाला' समुदाय की हो गई। शाला की वृद्ध संज्ञा हो जाने के कारण शेषे (४।२।७१) शैषिक अधिकार में वर्त्तमान वृद्धाच्छ: (४।२।११३), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)सूत्र से औत्सर्गिक अण् को बाधकर 'छ' प्रत्यय भव अर्थ में हुआ।
शाला ङि छ	तद्धिता: (४।१।७६) से 'छ' की तद्धित संज्ञा हुई। कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होकर, सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) से प्रातिपदिक के अन्तर्गत जो 'ङि' सुप् है, उसका लुक् हो गया। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की लुक् संज्ञा होती है। सो ङि का लुक् अर्थात् अदर्शन हो गया।
शाला छ	यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३) से शाला की अङ्ग संज्ञा होकर, अङ्गस्य(६।४।१)से अङ्गाधिकार में वर्त्तमान आयनेयीनीयिय: फढ० (७।१।२),यथासङ्ख्यमनुदेश:० (१।३।१०)से छ् को क्रमप्राप्त ईय् आदेश हो गया।
शाला ईय् अ	यचि भम् (१।४।१८) से स्वादियों में यकारादि एवं अजादि प्रत्यय के परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है। सो ईय् अजादि प्रत्यय के परे रहते 'शाला' की भ संज्ञा हो गई। भस्य (६।४।१२९) यह अधिकारसूत्र है। अब भस्य अधिकार में वर्त्तमान यस्येति च (६।४।१४८) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ईय् परे रहते शाला के अन्त्य 'आ' का लोप हुआ। अदर्शनं लोप: (१।१।५९) से अदर्शन की लोप संज्ञा हुई।
शाल् ईय् अ	शालीय की प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर, 'सु' को विसर्जनीय हो गया। तब—
शालीय:	बना।

इसी प्रकार माला शब्द से मालायां भव:=मालीय: (माला में होनेवाला, मूंगा मोती आदि) की सिद्धि जानें॥

---

(४) सूत्र-प्रयोजन—औपगवः इस उदाहरण में 'अण्' को निमित्त मानकर उपगु शब्द के आदि अच् को जब तद्धितेष्वचामा० (७।२।११७) से वृद्धि प्राप्त हुई, तो वृद्धिरादैच् सूत्र ने बताया कि वृद्धि किसे कहते हैं ॥

(४) औपगवः (उपगोरपत्यम्, उपगु नामवाले व्यक्ति की सन्तान)

उपगु ङस्	समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) से समर्थ 'उपगु ङस्' सुबन्त से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ ।
उपगु ङस् अण्	तद्धिताः (४।१।७६) कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) प्रत्ययस्य लुक्० (१।१।६०),
उपगु अण्	हलन्त्यम् (१।३।३) तस्य लोपः (१।३।९), तथा यस्मात् प्रत्य० (१।४।१३) से उपगु की अङ्ग संज्ञा होकर—
उपगु अ	तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से उपगु अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त हुई । वृद्धिरादैच् (१।१।१), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'उ' के स्थान में अन्तरतम 'औ' वृद्धि हुई ।
औपगु अ	यचि भम् (१।४।१८) से उपगु की भ संज्ञा हुई । भस्य (६।४।१२९), अब भस्याधिकार में वर्त्तमान ओर्गुणः (६।४।१४६) से भसंज्ञक उवर्णान्त अङ्ग को तद्धित 'अण्' परे रहते गुण प्राप्त हुआ । अदेङ् गुणः (१।१।२) ने बताया कि अ ए ओ को गुण कहते हैं । स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'उ' को अन्तरतम 'ओ' गुण हुआ ।
औपगो अ	एचोऽयवायावः (६।१।७५), यथासङ्ख्यमनुदेशः० (१।३।१०) से अव् आदेश होकर,
औपगव् अ	तद्धितान्त औपगव की प्रातिपदिक संज्ञा होने से पूर्ववत् सु आया ।
औपगव सु	और उसे विसर्जनीय होकर—
औपगवः	बना ॥

इसी प्रकार 'उपमन्यु' शब्द से उपमन्योरपत्यम् औपमन्यवः (उपमन्यु नामक व्यक्ति का पौत्र) की सिद्धि जानें । यहाँ अनृष्यानन्तर्ये० (४।१।१०४) से अञ् प्रत्यय होता है ॥

---

(५) ऐतिकायनः (इतिकस्य गोत्रापत्यम्, इतिक नामक व्यक्ति का पौत्र)

इतिक ङस् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से गोत्र अपत्य अर्थ में फक् प्रत्यय हुआ।

इतिक ङस् फक् पूर्ववत् ङस् का लुक्, एवं इतिक की अङ्ग संज्ञा होकर,

इतिक फ आयनेयीनीयियः फढख० (७।१।२), यथासङ्ख्य० (१।३।१०) से फ् को आयन् आदेश होकर—

इतिक आयन् अ किति च (७।२।११८), वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'इ' को 'ऐ' वृद्धि हुई। यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), यस्येति च (६।४।१४८),

ऐतिक् आयन अब प्रातिपदिक संज्ञा होने से सु आया,

ऐतिकायन सु एवं विसर्जनीय होकर—

ऐतिकायनः बना ॥

इसी प्रकार अश्वल शब्द से अश्वलस्य गोत्रापत्यम्, आश्वलायनः (अश्वल का पौत्र) की सिद्धि जानें ॥

---

(६) आरण्यः (अरण्ये भवः, जङ्गल में होने वाला)

अरण्य ङि पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर समर्थानां प्रथ० (४।१।८२), अरण्याण्णो वक्तव्यः (वा० ४।२।१०३), इस वार्त्तिक से प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से भव अर्थ में ण प्रत्यय परे हुआ। पश्चात् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अरण्य अ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः,

आरण्य् अ यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), यस्येति च (६।४।१४८)

आरण्य् अ से अन्त्य अकार का लोप होकर, पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

आरण्यः बना ॥

---

(७) सूत्र-प्रयोजन— अचैषीत् यहाँ चिञ् धातु को लुङ् लकार में सिच् परे रहते जब सिचि वृद्धि पर० (७।२।१) से वृद्धि प्राप्त हुई, तब इस सूत्र ने बताया कि आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है ॥

(७) अचैषीत् (उसने चुना)

चिञ् चयने — हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं० (१।१।५९), भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।९१)—

चि — भूते (३।२।८४), लुङ् (३।२।११०), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय हुआ। लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९) से लकार कर्त्ता=कर्तृ वाच्य में आया।

चि लुङ् — हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९), च्लि लुङि (३।१।४३) से लुङ् परे रहते च्लि प्रत्यय हुआ।

चि च्लि ल् — च्लेः सिच् (३।१।४४) से च्लि के स्थान में सिच् आदेश हुआ।

चि सिच् ल् — अब लस्य (३।४।७७) से लकार के स्थान में तिप्तस्झिसिप्थस्थ-मिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् (३।४।७८) से १८ प्रत्यय परे प्राप्त हुये। चाहिये हमें एक, सो आगे सूत्र लगा—लः परस्मैपदम् (१।४।९८), इससे १८ प्रत्ययों की पहले परस्मैपद संज्ञा प्राप्त हुई। पुनः तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) से 'त' से लेकर 'महिङ्' के ङ् पर्यन्त ९ प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा हुई, तो शेष पहिले के ९ परस्मैपदसंज्ञक रह गये। अब शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से चि धातु से शेष ९ परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय प्राप्त हुये। तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (१।४।१००) से तिङ् के तीन तीन की क्रम से प्रथम मध्यम उत्तम संज्ञा हुई। हमें यहाँ प्रथम पुरुष का प्रत्यय चाहिये। अतः आगे सूत्र लगा—शेषे प्रथमः (१।४।१०७), इससे प्रथम पुरुष के तीन प्रत्यय तिप्, तस्, झि प्राप्त हुये। तान्येकवचनद्विवचन-बहुवचन० (१।४।१०१) से उन तीन-तीन की क्रम से एकवचन, द्विवचन बहुवचन संज्ञा हुई। अब यहाँ द्व्येकयोर्द्विवचनै० (१।४।२२) से एकवचन की विवक्षा में तिप् प्रत्यय आया। शेष दोनों हट गये।

चि सिच् तिप् — यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अङ्ग के आदि में अट् आगम होकर, हलन्त्यम् (१।३।३) से ट् च और प् की इत् संज्ञा, एवं उपदेशेऽजनुना० (१।३।२) से 'सि' के इ की इत् संज्ञा तथा लोप पूर्ववत् हुआ।

अ चि स् ति — इतश्च (३।४।१००) से ति के इ का लोप हुआ।

अ चि स् त् — अब आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से सिच् के 'स्' को आर्धधातुक संज्ञा होकर, आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७।२।३५) से वलादि आर्धधातुक 'स्' को इट् आगम प्राप्त हुआ। पर एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) से चिञ् के अनुदात्त होने (अनिट् होने) से इट् का निषेध हो गया। अब तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) से 'त्' की सार्वधातुक संज्ञा, तथा अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१) से अपृक्त संज्ञा हुई। तब अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) से ईट् आगम 'त्' को प्राप्त हुआ, आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) ने कहा कि टित् आगम जिसको कहा हो, वह उसके आदि में हो सो 'त्' के आदि मेंईट् आगम हुआ।

अ चि स् ईट् त् — हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), तथा पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर

अ चि स् ई त् — सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१) से वृद्धि प्राप्त हुई। तब यह वृद्धि 'चि' अङ्ग के च् को हो या 'इ' को हो इस का निर्णय इको गुणवृद्धी (१।१।३) परिभाषा सूत्र ने किया कि गुण वृद्धि जहाँ कही हो, वह इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में हो। सो चि के 'इ' की वृद्धि प्राप्त हुई। वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अन्तरतम ऐ वृद्धि हुई।

अ चै स् ई त् — आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से स् को मूर्धन्य ष् होकर—

अ चै ष् ई त् = अचैषीत् बना॥

इसी प्रकार णीञ् धातु से अनैषीत् (वह ले गया) बना॥

---

(८) अलावीत् (उसने काटा)

लूञ् छेदने — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

अट् लू सिच् ईट् त् — आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से सिच् को इट् आगम आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) तथा पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, एवं अङ्ग संज्ञा होकर,

अट् लू इट् सिच् ईट् त् — सिचि वृद्धिः पर० (७।२।१), इको गुणवृद्धी (१।१।३),

अ लू इ स् ई त् — वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४८)

अ लौ इ स् ई त् — इट ईटि (८।२।२८) से इट् से उत्तर ईट् परे रहते 'स्' का लोप हो गया।

अ लौ इ ई त्, तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९) से 'इ ई' की परस्पर सवर्ण संज्ञा हो गई। तब अकः सवर्णे दीर्घः(६।१।९७) से दोनों 'इ ई' को दीर्घ एकादेश हुआ। एचोऽयवायावः (६।१।७५) से आव् आदेश होकर,

अ लौ ई त् =अलावीत् बन गया॥

इसी प्रकार 'पूञ् पवने' धातु से अपावीत् (उसने छाना) की सिद्धि जानें॥

---

(९) अकार्षीत् (उसने किया)

डुकृञ् करणे पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

अट् कृ सिच् ईट् त् आर्धधातुकं० (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५), एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् निषेध पूर्ववत् हो गया।

अ कृ स् ई त् सिचि वृद्धिः पर० (७।२।१) वृद्धिरादैच्, इको गुण० (१।१।३), स्थानेऽन्तर० (१।१।४९) से सदृशतम वृद्धि प्राप्त हुई। पर 'ऋ' का सदृशतम आ, ऐ, औ में से कोई न होने से उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर 'आर्' वृद्धि हुई।

अकार् स् ई त् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

अकार्षीत् बना॥

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' धातु से अहार्षीत् (उसने हरण किया) की सिद्धि जानें। अपाठीत् (उसने पढ़ा) में 'पठ व्यक्तायां वाचि' धातु से अलावीत् के समान ही सब कार्य हुए। केवल यहाँ अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से 'प' के अ को विकल्प से वृद्धि हुई है, यही विशेष है। जिस पक्ष में वृद्धि हुई तो अपाठीत्, जब नहीं हुई तो अपठीत् बन गया॥

विशेषः— यहाँ तक वृद्धिरादैच् सूत्र के सब उदाहरणों की सिद्धियाँ पूर्ण हुई। यदि विद्यार्थी इतनी सिद्धियाँ एक साथ ग्रहण करने में असमर्थ हो, तो अध्यापक उस को एक दो सिद्धियाँ ही समझाकर अभ्यास करा दें। यह भी विदित रहे कि इस सूत्र में हमने ७ प्रकार की सिद्धियों में से, कृदन्त, तद्धितान्त, सुबन्त, तथा तिङन्त ४ प्रकार की सिद्धियाँ तो बतला दीं। शेष तीन प्रकार की अर्थात् कृत्यप्रत्ययान्त, स्त्रीप्रत्ययान्त तथा समास की सिद्धियाँ भी आगे बतावेंगे। पाठक "एक साधे सब सधे" के सिद्धान्त को पूर्णतया समझने की चेष्टा करें। तभी महान् लाभ होगा।

एक प्रकार की सिद्धि समझ में आ जाने पर उस प्रकार के सहस्रों शब्दों की सिद्धि समझ में आ जाती है। सिद्धि का यही मुख्य प्रयोजन है। प्रारम्भ में इसमें कुछ परिश्रम भी पड़े तो, घबराना नहीं चाहिए ॥

—:o:—

परि० अदेङ् गुणः (१।१।२)

सूत्र-प्रयोजन—'चेता' इस उदाहरण में चिञ् धातु को जब तृच् को मानकर गुण होने लगा, तब अदेङ् गुणः ने बताया कि अ, ए, ओ को गुण कहते हैं ॥

(१) चेता (चुननेवाला)

चिञ् — भूवादयो धातवः (१।३।१) से धातु संज्ञा हुई। धातोः (३।१।९१) अधिकार में वर्त्तमान ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१ १,२) से तृच् प्रत्यय परे आ गया।

चिञ् तृच् — हलन्त्यम् (१।३।३) से इत् संज्ञा, तथा पूर्ववत् लोप होकर—

चि त — आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से तृच् की आर्द्धधातुक संज्ञा हुई। अब यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३) से चि की अङ्ग संज्ञा, अङ्गस्य (६।४।१), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम तृच् को प्राप्त हुआ, उसका एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से निषेध हो गया। सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। अदेङ् गुणः ने अ,ए, ओ की गुण संज्ञा की। इको गुणवृद्धी(१।१।३), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'इ' को अन्तरतम 'ए' गुण हुआ।

चे तृ — कृदतिङ् (३।१।९३) से 'तृच्' की कृत् संज्ञा हुई। कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से तृच् प्रत्यय कर्त्ता में हुआ। कृत्तद्धितसमा० (१।२। ४६) आदि सब सूत्र लगकर पूर्ववत् सु आया।

चे तृ सु — पूर्ववत् सु का अनुबन्ध लोप एवं 'चेतृ' की अङ्ग संज्ञा हुई।

चे तृ स — ऋदुशनस्पुरुदंसोनेहसां च (७।१।९४) से ऋकारान्त तथा उशनस्, पुरुदंसस् ,अनेहस् इन अङ्गों को सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते 'अनङ्' आदेश होता है। सो यहां ऋकारान्त अङ्ग मानकर 'अनङ्' आदेश पाया। अब यह 'अनङ्'आदेश कहां हो, तब अनेकाल्शित्०(१।१।५४) ने कहा कि अनङ् अनेकाल् है, सो सारे 'चेतृ' के स्थान में हो, पर

ङिच्च (१।१।५२) ने कहा कि ङित् आदेश अन्त्य अल् को हो। अतः अन्त्य अल् ऋकार के स्थान में अनङ् हुआ।

चेत् अनङ् स् =चेतन् स्, सुडनपुंसकस्य (१।१।४२) से सुट्=सु, औ, जस्, अम्, औट् इन पाँचों की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। सो 'स्' की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई। अब अप्तृन्तृच्स्वसृ० (६।४।११) से 'स्' परे रहते तृजन्त अङ्ग 'चेतन्' की उपधा को दीर्घ प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४) से अन्त्य अल् से पूर्व की उपधा संज्ञा हुई। ऊकालोऽज्झ्रस्वदी० (१।२।२७) से द्विमात्रिकवाले वर्ण की दीर्घ संज्ञा हुई। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६) से दीर्घ आकार हुआ।

चेतान् स् अब अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१) से 'स्' की अपृक्त संज्ञा होकर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति० (६।१।६६) से अपृक्त 'स्' का लोप हो गया। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।६१) से सु को निमित्त मान कर,

चेतान् सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से 'चेतान्' की पद संज्ञा हुई। पदस्य (८।१।१६), नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से 'न्' का लोप होकर—

चेता बना ॥

इसी प्रकार 'णीञ् प्रापणे' धातु से पूर्ववत् सब सूत्र लगकर नेता (ले चलनेवाला), 'ष्टुञ् स्तुतौ' से स्तोता (स्तुति करनेवाला) बनेगा। 'डुकृञ् करणे' धातु से पूर्ववत् गुण प्राप्त होकर उरण्रपरः (१।१।५०) से 'अर्' गुण होकर कर्त्ता (करनेवाला) तथा 'हृञ् हरणे' धातु से हर्त्ता (हरण करनेवाला) बनेगा।

भविता—यहाँ भू धातु से पूर्ववत् ही सब गुण आदि होगा। केवल आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से भू धातु के सेट् होने से इट् आगम ही विशेष है। सो 'भो इट् तृ' बनकर एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अव् आदेश होकर भवितृ=भविता (होनेवाला) बन गया। 'तॄ प्लवनसंतरणयोः' धातु से इसी प्रकार इट् आगम, एवं उरण्रपरः (१।१।५०) से अर् गुण होकर तर् इट् तृ=तरिता (तैरनेवाला) की सिद्धि जानें ॥

---

(२) जयति (जीतता है)

जि जये भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।९१), वर्त्तमाने लट्

(३।२।१२३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) इनसे वर्त्तमानकाल में लट् प्रत्यय हुआ। होकर—

जि लट् — हलन्त्यम् (१।३।३), उपदेशेऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं० (१।१।५९)

जि ल् — लः कर्मणि च भावे० (३।४।६९) से कर्त्ता में लकार आया। अब यहाँ पूर्ववत् (अबंधीत् के समान) सूत्र लगकर ल् के स्थान में 'तिप्' आया।

जि तिप् — तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३) से 'तिप्' की सार्वधातुक संज्ञा होकर, कर्त्तरि शप् (३।१।६८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से कर्तृ वाची सार्वधातुक 'तिप्' के परे रहते शप् प्रत्यय आया।

जि शप् तिप् — लशक्वतद्धिते (१।३।८), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९)।

जि अ ति — अब पूर्ववत् 'जि' की अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुकार्द्धधातु० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ। अदेङ् गुणः ने अ, ए, ओ की गुण संज्ञा की। इको गुणवृद्धी (१।१।३), स्थानेऽन्तरतमः (१।२।४९) से 'इ' को अन्तरतम 'ए' गुण हुआ।

जे अ ति — एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अय् आदेश होकर—

जयति — बन गया॥

इसी प्रकार 'णीञ् प्रापणे' धातु से नयति (ले जाता है)। भू धातु से भवति की सिद्धि जानें। तॄ धातु को पूर्ववत् तर् गुण होकर तरति (तैरता है) बनेगा॥

पचन्ति में जो विशेष है, वह नीचे दर्शाते हैं।

---

(३) पचन्ति (सब पकाते हैं)

डुपचष् पाके — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर बहुवचन की विवक्षा होने से द्व्येकयोर्द्विवचनै० (१।४।२२) के स्थान में बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) से 'झि' आया। तथा पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

पच् शप् झि — अङ्गस्य (६।४।१) झोऽन्तः (७।१।३) से 'झ' को अन्त् आदेश हुआ।

पच् अ अन्त् इ — अब अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दोनों अकारों को सवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ, पर पूर्व अकार के अपदान्त (=पद के अन्त में न) होने से सवर्ण दीर्घ का बाधक सूत्र अतो गुणे (६।१।९४) लगा। इसने

कहा कि अपदान्त अकार से उत्तर गुण परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हो। अदेङ् गुणः ने परवाले अ की गुण संज्ञा की, तो दोनों अकारों को सवर्ण दीर्घ न होकर पररूप एकादेश हो गया। और—

पच् अन्ति　　=पचन्ति बन गया॥

इसी प्रकार पठन्ति (सब पढ़ते हैं), यजन्ति (सब यज्ञ करते हैं) भवन्ति (सब होते हैं) की सिद्धि जानें॥

---

(४) पचे (मैं पकाता हूं)

डुपचष् पाके　पूर्ववत् ही यहां भी तिबाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगे।

पच　इुपचष् धातु के स्वरितेत् होने से स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) से आत्मनेपद हो गया। यहां उत्तम पुरुष का प्रत्यय लाना है। सो शेषे प्रथमः (१।४।१०७)के स्थान में अस्मद्युत्तमः (१।४।१०६) सूत्र लगा, शेष सब पूर्ववत् है।

पच् शप् इट्= पच अ इ, टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से आत्मनेपदसंज्ञक 'इट्' प्रत्यय के टि भाग को 'ए'प्राप्त हुआ। अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) से अचों में जो अन्त्य अच् तदादि समुदाय की टि संज्ञा होती है। यहां आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२०) से अकेले 'इ' की टि संज्ञा हुई, सो उसी को एत्व हुआ।

पच् अ ए　अब अतो गुणे (६।१।९४) से गुणसंज्ञक कोई अक्षर परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप ('ए' का रूप) एकादेश प्राप्त हुआ। तब अदेङ् गुणः ने ए' की गुण संज्ञा की। इस प्रकार—

पच ए　=पचे बन गया॥

इसी प्रकार 'यज' धातु से 'यजे' (मैं यज्ञ करता हूं) की सिद्धि जानें॥

---

(५)देवेन्द्रः (देवानाम् इन्द्रः,देवों का स्वामी)

देव आम् इन्द्र सु　षष्ठी (२।२।८) से यहां षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ। कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से समास की प्रातिपदिक संज्ञा होकर, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से सुपों का लुक् हो गया।

देव इन्द्र	अब आद् गुणः (६।१।८४) से पूर्व और पर (= अ और इ) के स्थान में गुण एकादेश पाया, अदेङ्गुणः से अ ए ओ की गुण संज्ञा की। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर 'अ' और 'इ' के स्थान में अन्तरतम 'ए' गुण एकादेश हुआ।
देव् एन्द्र	=देवेन्द्र। प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'सु' आकर विसर्जनीय होकर—
देवेन्द्रः	बना ॥

इसी प्रकार सूर्यस्य उदयः=सूर्योदयः (सूर्य का उदय) यहाँ भी "सूर्य ङस् उदय सु" इस स्थिति में पूर्ववत् सब होकर आद् गुणः (६।१।८४) से अन्तरतम 'ओ' गुण एकादेश हुआ है ॥

---

(६) महर्षिः (महांश्चासौ ऋषिश्च, महान् ऋषि)

महत् सु ऋषि सु	सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (२।१।६०), तत्पुरुषः (२।१।२१) से महत् और ऋषि का समानाधिकरण तत्पुरुष समास हुआ। पूर्ववत् सुपों का लुक् होकर—
महत् ऋषि	समानाधिकरण तत्पुरुष होने से आन्महतः समानाधिकरण० (६।३।४४) से महत् शब्द को आकारादेश प्राप्त हुआ। अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'त' को 'आ' हुआ।
मह आ ऋषि	अकः सवर्णे० (६।१।६७), तुल्यास्यप्रयत्नं० (१।१।६) लगकर—
महा ऋषि	आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश प्राप्त, अदेङ् गुणः से गुण संज्ञा हुई, उरण्रपरः (१।१।५०), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर 'अर्' गुण हुआ।
महर्षि	पूर्ववत् समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से सु आकर विसर्जनीय होकर—
महर्षिः	बना ॥

यहाँ तक अदेङ् गुणः की सब सिद्धियाँ समाप्त हुईं ॥

—:०:—

परि० इको गुणवृद्धी (१।१।३)

सूत्र-प्रयोजन—मेद्यति इस उदाहरण में 'य' को निमित्त मानकर जब मिदेर्गुणः (७।३।८२) से मिद् अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, तो वह गुण कहाँ पर हो—'इ' को

हो, या 'म्' को हो, या 'इ' को हो ? इसका निर्णय इको गुणवृद्धी सूत्र ने किया कि अङ्ग के स्थान में गुण हो । सो 'इ' को 'ए' गुण होकर मेद्यति बन गया ।।

(१) मेद्यति (स्नेह करता है)

ञिमिदा स्नेहने　भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटु० (१।३।५) से ञि की इत् संज्ञा, उपदेशेऽजनु० (१।३।२) से 'आ' की इत् संज्ञा, तथा पूर्ववत् लोप हुआ । पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर —

मिद् तिप्　दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६६) से मिद् धातु के दिवादिगण में पढ़ होने से शप् का अपवाद श्यन् प्रत्यय आया ।

मिद् श्यन् तिप्　अनुबन्धलोप, तथा पूर्ववत् 'मिद्' की अङ्ग संज्ञा होकर —

मिद् य ति　अलोन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४), ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से मिद् अङ्ग के 'इ' को लघु उपधा मानकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३ ८६) से श्यन् सार्वधातुक के परे रहते गुण प्राप्त हुआ । पर 'श्यन्' के अपित् होने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से श्यन ङित्वत् = ङित् के समान माना गया, तो क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध हो गया । तब मिदेर्गुणः (७।३।८२) ने पुनः मिद् अङ्ग को गुण प्राप्त कराया । अब यह गुण कहाँ पर हो, सो इको गुणवृद्धी ने कहा कि अङ्ग के इक् को हो । अदेङ् गुणः (१।१।२) ने अ, ए, ओ की गुण संज्ञा की । स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६) लगकर 'इ' को 'ए' गुण होकर—

मेद् य ति　= मेद्यति बना ।।

——

(२) मार्ष्टि (शुद्ध करता है)

मृजूष् शुद्धौ　पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, एवं सब सूत्र लगकर—

मृज् शप् तिप्　अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से मृजूष् के अदादिगण में पढ़े होने से शप् का लुक् हुआ । प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की लुक् संज्ञा हुई ।

मृज् ति　पूर्ववत् 'मृज्' की अङ्ग संज्ञा होकर मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से मृज् अङ्ग को वृद्धि प्राप्त हुई । इको गुणवृद्धी परिभाषासूत्र ने निर्णय किया कि अङ्ग के इक् अर्थात् ऋ को वृद्धि हो । वृद्धिरादैच्

(१।१।१), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६), उरण्रपरः (१।१।५०) से आर् वृद्धि हुई ।

मार्ज् ति — व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८।२।३६) से मार्ज् को षकारादेश प्राप्त हुआ । अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् ज् को ष् हुआ ।

मार्ष् ति — ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से त् को षकार के योग में ट् होकर—

मार्ष्टि ...... बना ॥

शेष सब उदाहरणों की सिद्धियाँ ऊपर के दोनों सूत्रों में कर दी गई हैं । पाठक वहीं देखें ॥

—:o:—

परि० न धातुलोप आर्द्धधातुके (१।१।४)

सूत्र-प्रयोजन—लोलुवः यहाँ पर लूञ् धातु से यङ् प्रत्यय होकर पुनः 'लोलूय' की धातु संज्ञा हुई । तब 'लोलूय अ' इस अवस्था में 'य' का लुक् होकर जब 'अ' आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर लू के 'ऊ' को सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ, तो उसका निषेध न धातुलोप आर्द्धधातुके ने कर दिया ॥

(१) लोलुवः (बार-बार काटनेवाला)

लूञ् छेदने — हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), भूवादयो० (१।३।१), धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से यङ् प्रत्यय हुआ ।

लू यङ्=य — सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से 'लूय' की धातु संज्ञा हुई । एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१), सन्यङोः (६।१।९) से यङन्त 'लूय' धातु के प्रथम एकाच् 'लूय्' को द्वित्व हुआ ।

लूय् लूय् अ — पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०), गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण प्राप्त हुआ । अदेङ् गुणः (१।१।२), इको गुणवृद्धी (१।१।३), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६) लगकर—

लोलूय — धातोः (३।१।९१), नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३।१।१३४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से 'लोलूय' से अच् प्रत्यय हुआ ।

लोलूय अच्=अ — यङोऽचि च (२।४।७४) से अच् परे मानकर 'य' का लुक् हुआ । प्रत्ययस्य लु० (१।१।६०) लगकर—

लोलू अ	अब पूर्ववत् 'लोलू' की अङ्ग संज्ञा होकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से अच् आर्द्धधातुक परे मानकर 'लू' के 'ऊ' को गुण प्राप्त हुआ। उसका न धातुलोप आर्द्धधातुके से निषेध हो गया। क्योंकि उसी अच् आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर धातु के अवयव 'य' का लुक् हुआ था, और उसी अच् को निमित्त मानकर अब गुण प्राप्त हो रहा है, सो न हुआ। अब अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वो० (६।४।७७) से उवङ् आदेश ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् 'ऊ' को हुआ।
लो ल् उवङ् अ	=लोलुव् अ, कृदतिङ् (३।१।९३), कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर सु आया। पुनः विसर्जनीय होकर—
लोलुवः	बना ॥

इसी प्रकार 'पूङ् पवने' धातु से पोपुवः (बार-बार छाननेवाला) की सिद्धि जानें ॥

---

(२) मरीमृजः (बार-बार शोधन करनेवाला)

मृजूष	पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर यङ् का लुक्, एवं अच् प्रत्यय हुआ।
मृमृज् अ	उरत् (७।४।६६) से अभ्यास के ऋ को अकार आदेश होकर, उरण्रपरः (१।१।५०) से रपर हुआ।
मर् मृज् अ	हलादिः शेषः (७।४।६०) लगकर—
म मृज् अ	रीगृदुपधस्य च (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम प्राप्त हुआ। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अन्त में होकर—
म रीक् मृज् अ	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से अङ्ग को वृद्धि प्राप्त हुई। उसका न धातुलोप आर्द्धधातुके से निषेध हुआ। क्योंकि 'अ' को निमित्त मानकर ही यङ् का लुक् हुआ है। एवं 'अ' को निमित्त मानकर ही मरीमृज अङ्ग को वृद्धि प्राप्त है, सो न हुई। आगे पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—
मरीमृजः	बना ॥

इसी प्रकार 'सृप्लृ गतौ' से सरीसृपः (बार-बार सरकनेवाला=सर्प आदि) की सिद्धि जानें। केवल यहाँ इतना विशेष है कि 'सरीसृप् अ' इस अवस्था में पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण प्राप्त होता है, उसका पूर्ववत् निषेध हो जायेगा ॥

—:०:—

परि० क्क्ङिति च (१।१।५)

सूत्र-प्रयोजन— जिष्णुः इस उदाहरण में 'जि' अङ्ग को जब ग्स्नु आर्धधातुक को निमित्त मानकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है, तब उसका निषेध क्क्ङिति च से हो जाता है, क्योंकि ग्स्नु गित् है ॥

(१) जिष्णुः (जीतने के स्वभाववाला, जयनशील)

जि जये — भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः (३।२।१३९), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

जि ग्स्नु — लशक्वतद्धिते (१।३।८), तस्य लोपः (१।३।९) होकर –

जि स्नु — आर्द्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से प्राप्त इट् आगम का एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से निषेध हो गया। पूर्ववत् 'जि' की अङ्ग संज्ञा होकर सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः (७।३।८४) से 'जि' अङ्ग को 'स्नु' को निमित्त मानकर गुण प्राप्त हुआ। उसका निषेध स्नु के गित् होने से क्क्ङिति च से हो गया। आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से प्रत्यय से सकार को षकार हुआ।

जि ष्नु — रषाभ्यां नो णः समानपदे (८।४।१) से न को ण हुआ।

जि ष्णु — कृदतिङ् (३।१।९३), कृत्तद्धित० (१।२।४६) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

जिष्णुः — बन गया ॥

इसी प्रकार भू धातु से भूष्णुः (होने के स्वभाववाला) की सिद्धि पूर्ववत् ही समझें। केवल यहाँ इतना विशेष है कि ७।२।३५ से जब भू धातु के सेट् होने से इट् आगम होने लगा, तब उसका निषेध श्र्युकः किति (७।२।११) से गित् परे होने से हो जाता है। शेष सब पूर्व सिद्धि में दिखा ही दिया है ॥

———

( ) चितः (चुना हुआ)

चिञ् — हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९)।

चि — भूवादयो० (१।३।१) धातोः (३।१।९१) निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

चि क्त — लशक्वतद्धिते (१।३।८), तस्य लोपः (१।३।९)।

चि त — आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से 'क्त' की आर्धधातुक संज्ञा हुई।

एवं पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुका० (७।३।८४) से क्त को निमित्त मानकर चि अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। सो क्किङति च से क्त के कित् होने से निषेध हो गया। पूर्ववत् एकाच उप० देशे० (७।२।१०) से इट् आगम का निषेध भी हो गया। अब पूर्ववत् कृदतिङ् (३।१।९३), कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर स्वाद्युत्पत्ति. एवं रुत्व विसर्जनीय होकर —

चितः बना ॥

इसी प्रकार ष्टुञ् धातु से स्तुतः (स्तुति किया हुआ) की सिद्धि जानें। धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से ष्टुञ् के ष् को स् हो ही जायेगा। डुकृञ् धातु से कृतः (किया हुआ), तथा भिदिर् से भिन्नः (टूटा हुआ) बनेगा। भिन्नः में इतना विशेष है कि 'भिद् त' इस अवस्था में पुगन्तलघूप० (७।३।८६) से गुण प्राप्त होता है। उसका प्रकृत सूत्र से निषेध होकर, रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः (८।२।४२) से द तथा निष्ठा के त को न् होकर भिन् न=भिन्नः बन गया। मृजूष् धातु से मृष्टः (शुद्ध किया हुआ) की सिद्धि जानें। मार्ष्टि के समान ही ज् को ष्, तथा त को ट यहाँ हुआ है। मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से प्राप्त वृद्धि का ही यहाँ प्रतिषेध होता है। शेष पूर्ववत् ही समझें ॥

---

(२) चितवान् (उसने चुना)

चिञ् पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर निष्ठासंज्ञक क्तवतु प्रत्यय आया।

चि क्तवतु=तवत्, पूर्ववत् ही अङ्ग संज्ञा होकर, गुण प्राप्त होकर प्रकृत सूत्र से निषेध हुआ। अब कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सूत्र लगकर सु परे आया।

चितवत् सु=स् सुडनपुंसकस्य (१।१।४२) से सु की सर्वनामस्थान संज्ञा होकर अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४), अलोन्त्यात् पूर्व० (१।१।६४) से अत्वन्त की उपधा को दीर्घ हुआ।

चितवात् स् अब उगिदचां सर्वनाम० (७।१।७०) से उगित् अङ्ग 'चितवात्' को सर्वनामस्थान परे रहते 'नुम्' आगम प्राप्त हुआ। मिदचोन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् 'वा' के आ से परे हुआ।

चितवा नुम् त् स् पूर्ववत् अनुबन्ध लोप तथा अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१) से 'स्' की अपृक्त संज्ञा होकर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से अपृक्त स् का लोप हुआ।

चितवान्त्	सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६) से चितवान्त् की पद संज्ञा हुई । हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) से 'न् त्' की संयोग संज्ञा होने से संयोगान्तस्यलोपः (८.२।२३) से 'त्' का लोप होकर—
चितवान्	बना ॥

इसी प्रकार स्तुतवान् (उसने स्तुति की), कृतवान् (उसने किया), भिन्नवान् (उसने तोड़ा) मृष्टवान् (उसने शुद्ध किया) की सिद्धियाँ जानें । इनमें जो-जो विशेष है, वह पूर्व क्त प्रत्ययान्त की सिद्धि में दिखा आये हैं ॥

——

(४) चिनुतः (वे दोनों चुनते हैं)

चिञ्	पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर प्रथम पुरुष के द्विवचन का तस् प्रत्यय आया । तस् के सकार की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत् संज्ञा प्राप्त होती है । परन्तु विभक्तिश्च (१।४।१०३) से तस् की विभक्ति संज्ञा होने के कारण न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से इत्संज्ञा का निषेध हो जाता है ।
चि तस्	स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३) से शप का अपवाद श्नु प्रत्यय हुआ ।
चि श्नु तस्	लशक्वतद्धिते (१।३।८), तस्य लोपः (१।३।९) से श्नु के श् का लोप ।
चि नु तस्	यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३) से 'चि' को श्नु परे रहते, तथा 'चि श्नु' को तस् परे रहते अङ्ग संज्ञा हुई । अङ्गस्य (६।४।१), तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से 'श्नु' सार्वधातुक को निमित्त मानकर 'चि' अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ । सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से श्नु ङित्वत् हो गया । तब क्ङिति च से गुण निषेध हो गया । 'चि श्नु' की अङ्ग संज्ञा होने से तस् को निमित्त मानकर 'नु' को गुण पाया । सो उसका भी इसी प्रकार ङित्वत् (१।२।४ से) होने से निषेध हो गया । सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६), ससजुषो रुः (८।२।६६) लगकर—
चिनुत रु = र्	विरामोऽवसानम् (१।४।१०९), खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) लगकर—
चिनुतः	बना ॥

इसी प्रकार 'षुञ् अभिषवे' धातु से सुनुतः (वे दोनों सोमरस निचोड़ते हैं) बनेगा । धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से ष को स् हो ही जायेगा । चिन्वन्ति में जो विशेष है, वह निम्न प्रकार है—

(५) चिन्वन्ति (वे सब चुनते हैं)

चि नु झि — पूर्ववत् ही सब सूत्र लगे । पूर्ववत् ही गुणप्राप्ति एवं गुणनिषेध कार्य यहाँ भी जानें । झोऽन्तः (७।१।३) से झ् को अन्त आदेश ।

चि नु अन्त् इ — अब यहाँ इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त हुआ । पर उसको बाधकर अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरि० (६।४।७७) से उवङ् आदेश श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग को पाया । पर उस उवङ् को भी बाधकर हुश्नुवोः सार्वधातुके (६।४।८७) से असंयोगपूर्व श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग होने के कारण पुनः यणादेश ही हुआ । और –

चिन् व् अन्ति =चिन्वन्ति बना ॥

इसी प्रकार सुन्वन्ति की सिद्धि जानें ॥

---:o:---

परि० दीधीवेवीटाम् (१।१।६)

(१) आदीध्यनम् (अच्छी प्रकार से प्रकाशित होना)

दीधीङ् — हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), भूवादयो० (१।३।१)।

दीधी — धातोः (३।१।९१), ल्युट् च (३।३।११५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

आङ् दीधी ल्युट् =यु, पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाकौ (७।१।१), यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०) से यु को अन ।

आदीधी अन — आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से 'धी' के 'ई' को गुण प्राप्त हुआ । उसका दीधीवेवीटाम् से निषेध हो गया । अब अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से इयङ् आदेश प्राप्त हुआ । तब उसको भी बाधकर पुनः एरनेकाचोऽसंयो० (६।४।८२) से यणादेश ही हुआ ।

आदीध्यन — कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर—

आदीध्यन सु — अतोऽम् (७।१।२४) से नपुंसकलिङ्ग में होने से अम् होकर—

आदीध्यन अम् — अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप हुआ । और—

आदीध्यनम् — बना ॥

इसी प्रकार आङ्पूर्वक वेवीङ् धातु से आवेव्यनम् (अच्छी प्रकार जानना) की सिद्धि जानें ॥

---

(२) आदीध्यकः (अच्छी प्रकार प्रकाश करनेवाला)

आङ् दीधीङ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) से ण्वुल् प्रत्यय आया ।

आ दीधी ण्वुल् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाकौ (७।१।१) से 'वु' को 'अक' आदेश हुआ ।

आ दीधी अक अब यहाँ अचोञ्णिति (७।२।११५) से धी के 'ई' को वृद्धि प्राप्त हुई । जिसका दीधीवेवीटाम् से निषेध हो गया । शेष यणादेश एवं स्वाद्युत्पत्ति पूर्ववत् होकर—

आदीध्यकः बन गया ॥

इसी प्रकार आवेव्यकः (अच्छी प्रकार जाननेवाला) में भी जानें ॥

---

(३) पठिता (वह कल पढ़ेगा)

पठ उपदेशेऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९) ।

पठ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), अनद्यतने लुट् (३।३।१५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

पठ् लुट् = ल् स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)। पूर्ववत् ल् के स्थान में तिप् प्रत्यय भी हुआ ।

पठ् तास् तिप् लुटः प्रथमस्य डारौरसः (२।४।८५), यथासङ्ख्यम० (१।३।१०)।

पठ् तास् डा आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५), आद्यन्तौ० (१।१।४५) ।

पठ् इट् तास् डा अब डित्यभस्यापि० अनुबन्धकरणसामर्थ्यात् (महा० वा० ६।४।१४३) इस वार्त्तिक से तास् के टि भाग = आस् का लोप हुआ। अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) ।

पठ् इ त् आ = पठित् आ । पूर्ववत् 'पठित्' की अङ्ग संज्ञा होने से पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से लघु उपधा इट् को गुण पाया । उसका दीधीवेवी-

वीटाम् से निषेध होकर —

पठिता बन गया ॥

इसी प्रकार कण धातु से कणिता (वह कण जायेगा) बनेगा ॥

—:०:—

परि० हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७)

गोमान् (गावः सन्ति यस्य=बहुत गौवोंवाला)

गो — अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि सब सूत्र लगकर—

गो जस् — तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४)।

गो जस् मतुप् — कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

गो मतुप् — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति एवं अनुबन्ध लोप होकर—

गो मत् स् — सुडनपुंसकस्य (१।१।४२), अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४), अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४) से मत् की उपधा को दीर्घ हुआ।

गोमात् सु — उगिदचां सर्वनाम० (७।१।७०), मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)।

गोमा नुम त् स् — अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१), हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से स् का लोप हुआ।

गोमा न् त् — सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६), अब हलोऽनन्तराः संयोगः से न् त् की संयोग संज्ञा होने से संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से संयोग के अन्त तकार का लोप होकर—

गोमान् — बना ॥

इसी प्रकार यवमान् (जौवाला) की सिद्धि जानें। चितवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में कर आये हैं। इन्द्र, यहाँ न्, द्, र की संयोग संज्ञा होने से संयोगे गुरु (१।४।११) से इन्द्र के इ की गुरु संज्ञा हो गई। तब गुरोरनृतो० (८।२।८६) से 'इ' को प्लुत होकर इ३न्द्र बन गया ॥

—:०:—

परि० नाज्झलौ (१।१।१०)

(१) दण्डहस्तः (जिसके हाथ में दण्ड हो, ऐसा मनुष्य)

दण्डहस्तः, यहाँ दण्ड शब्द के अन्तिम 'अ' तथा हस्त के 'ह' इन दोनों वर्णों का

स्थान अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः (वर्णो० २२) से कण्ठ है, तथा 'अ' का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृतकरणाः स्वराः (वर्णो० ५७) से विवृत, एवं 'ह' का भी विवृतकरणा वा (वर्णो० ५६) से विवृत है। सो दोनों वर्णों का स्थान और प्रयत्न तुल्य है। अतः तुल्यास्यप्रयत्नं० (१।१।६) से दोनों की परस्पर सवर्णसंज्ञा होकर अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से 'अ' और 'ह' को दीर्घ एकादेश होकर 'दण्डास्तः' ऐसा अनिष्ट रूप पाता है। पर यह तुल्य स्थान और तुल्य प्रयत्नवाले अ और ह वर्ण क्रमशः एक अच तथा दूसरा हल् है। सो सवर्ण संज्ञा का ही नाज्झलौ से निषेध हो गया,तो सवर्ण अच् परे न होने से दीर्घ नहीं हुआ॥

दधि शीतलम् (ठण्डा दही), यहाँ भी दधि के 'इ' एवं शीतलम् के 'श' दोनों का स्थान इचुयशास्तालव्याः (वर्णो० २८) से तालु होने से समान है। प्रयत्न भी पूर्ववत् ही तुल्य है। सो सवर्ण संज्ञा होने से दीर्घ (६।१।९७) प्राप्त था। पर 'इ' के अच् एवं 'श' के हल् होने से प्रकृत सूत्र से सवर्ण संज्ञा का ही निषेध हो गया, तो दीर्घ नहीं हुआ॥

---

(२) वैपाशो मत्स्यः (विपाशि भवः=व्यास नदी में होनेवाली मछली)

विपाश्	अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्राति० (४।१।१) सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—
विपाश् ङि	समर्थानां० (४।१।८२), प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३), तत्र भवः (४।३।५३) से अण् प्रत्यय होकर—
विपाश ङि अण्	तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।
विपाश् अ	तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) वृद्धिरादैच् (१।१।१) स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।
वैपाश् अ	यचि भम् (१।४।१८) से 'वैपाश' की भ संज्ञा हुई। भस्य (६।४।१२९)। अब यस्येति च (६।४।१४८) से श् का लोप प्राप्त हुआ। क्योंकि यस्येति च से अवर्ण और इवर्ण का लोप कहा है। सो जिस प्रकार ह्रस्व 'अ' और 'इ' का लोप कहने पर, दीर्घ अवर्ण तथा इवर्ण का भी सवर्ण संज्ञा होने से लोप हो जाता है, उसी प्रकार 'इ' के साथ शकार का भी पूर्ववत् स्थान(वर्णो० २८), तथा प्रयत्न (वर्णो० ५६, ५७) समान होने से १।१।६ से सवर्ण संज्ञा, एवं अणुदित्सवर्णस्य० (१।१।६८)से सवर्ण शकार का ग्रहण होकर, लोप पाया। पर

	इ तथा श् के क्रमशः अच् और हल् होने से सवर्ण संज्ञा का ही नाज्झलौ से निषेध हो गया, तो लोप नहीं हुआ। अब पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर —
वैपाशः	बन गया ॥

इसी प्रकार आनडुहं चर्म (बैल का चमड़ा) यहाँ अनडुह् शब्द से प्राणि-रजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५२) से अञ् एवं (७।२।११७) से वृद्धि आदि होकर 'आनडुह् अ' रहा। यहाँ भी यस्येति च (६।४।१४८) में कहे अवर्ण के साथ ह् का स्थान और प्रयत्न समान होने से सवर्ण का ग्रहण अणुदित्० (१।१।६८) से होकर 'ह' का लोप पाता है। जो सवर्ण संज्ञा के निषेध होने से नहीं होता। शेष पूर्ववत् ही जानें ॥

—:०:—

परि० ईदूदेद्द्वि० (१।१।११)

(१) अग्नी इति (दो प्रकार की अग्नियां)

अग्नि	अर्थवदधातुर० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर द्विवचन का 'औ' प्रत्यय हुआ।
अग्नि औ	प्रथमयाः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से 'इ' और 'औ' को पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ।
अग्नी + इति	अब अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से अग्नी के 'ई' तथा इति के 'इ' को दीर्घ पाया। पर ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् से द्विवचनान्त 'अग्नी' शब्द की प्रगृह्य संज्ञा होने से प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१) से प्रकृतिभाव रह गया। अर्थात् सन्धि (दीर्घ) नहीं हुई। बस यही प्रगृह्य संज्ञा का प्रयोजन है। इस प्रकार
अग्नी इति	ही रहा ॥

इसी प्रकार 'वायू इति' में भी इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त था, पर वायू के ऊकारान्त द्विवचनान्त शब्द होने से प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि पूर्ववत् नहीं हुई ॥

---

(२) माले इति (दो मालायें)

माला	अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर —
माला औ	औङ आपः (७।१।१८) से 'औ' के स्थान में शी आदेश अनेकाल्शित्

सर्वस्य (१।१।५४) से 'औ' के स्थान में हुआ ।

माला औ ई — आद् गुणः (६।१।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—

माले + इति — अब यहाँ एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश प्राप्त हुआ । उसका ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् से माले की प्रगृह्य संज्ञा होने से प्लुतप्रगृह्या अचि० (६।१।१२१) से पूर्ववत् प्रकृतिभाव हो गया, अर्थात् सन्धि न हुई । और—

माले इति — बना ॥

---

(३) पचेते इति (वे दोनों पकाते हैं)

डुपचष् — भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३) आदि सब सूत्र लगकर, स्वरितञितः० (१।३।७२) से आत्मनेपद का 'आताम्' आया ।

पच् शप् आताम् — पूर्ववत् 'पच् अ' की अङ्ग संज्ञा, तथा सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से आताम् को ङित्‌वत् होकर—

पच् अ आताम् — आतो ङितः (७।२।८१) से अदन्त अङ्ग 'पच' से उत्तर 'आ' को इय् आदेश हुआ ।

पच इय् ताम् — लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से यकार का लोप होकर—

पच् इ ताम् — अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३), टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से टि भाग 'आम्' को एत्व हुआ ।

पच इ त् ए — आद् गुणः (६।१।८४) अदेङ् गुणः (१।१।२) स्थानेऽन्त० (१।१।४९) होकर—

पचेते + इति — अब यहाँ पूर्ववत् एचोऽयवायावः (६।१।७५) प्राप्त हुआ । सो प्रगृह्य संज्ञा होकर पूर्ववत् प्रकृतिभाव हो गया । और—

पचेते इति — रहा ॥

इसी प्रकार पचेये इति में भी समझें ॥

—:०:—

परि० अदसो मात् (१।१।१२)

अमी अत्र (वे यहाँ हैं)

अदस् — अर्थवदधातुरप्रत्ययः० (१।२।४५) इत्यादि सब सूत्र पूर्ववत् लगकर

अस् भायर।

अदस् जस्	त्यदादीनामः (७।२।१०२), अलोन्त्यस्य (१।१।५१)।
अद अ जस्	अतो गुणे (६।१।९४), अदेङ् गुणः (१।१।२)।
अद जस्	जसः शी (७।१।१७), अनेकाल्शित्० (१।१।५४)।
अद शी=ई	प्रथमयोः पूर्व० (६।१।७८) से प्राप्त दीर्घ एकादेश का नादिचि (६।१।१००) से प्रतिषेध होकर, आद् गुणः (६।१।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—
अदे	एत ईद् बहुवचने (८।२।८१) से अदस् के दकार से उत्तर 'ए' को 'ई' तथा 'द' को 'म' हो गया।
अमी+अत्र	अब यहाँ इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त हुआ, तब अदसो मात् से अदस् सम्बन्धी जो अमी का म् उससे उत्तर 'ई' की प्रगृह्य संज्ञा हो गई,तो प्लुतप्रगृह्या०(६।१।१२१)से सन्धि नहीं हुई। और–
अमी अत्र	ही बना॥

इसी प्रकार अमी आसते (वे सब बैठते हैं) में भी समझें॥

---

(२) अमू अत्र (वे दो व्यक्ति यहाँ हैं)

अदस्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
अद औ	अब प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ। पुनः नादिचि (६।१।१००) से निषेध होकर वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हो गया।
अदौ	अदसोऽसेर्दादु दो मः (८।२।८०) से अदस् के 'द' को 'म' तथा दकार से उत्तर 'औ' को उवर्ण आदेश पाया। स्थानेऽन्तरतमः(१।१।४९) से औ के स्थान में दीर्घ ऊकार हो गया।
अमू+अत्र	यहाँ भी पूर्ववत् ही यणादेश प्राप्त हुआ। सो उसका निषेध प्रगृह्य संज्ञा होने से हो गया। और—
अमू अत्र	ही बना॥

इसी प्रकार अमू आसाते (वे दो व्यक्ति बैठते हैं) में समझें॥

—:o:—

परि० शे (१।१।१३)

(१) अस्मे इन्द्राबृहस्पती (हम सब के लिये इन्द्र और बृहस्पति)

अस्मद् — अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर –

अस्मद् भ्यस् — सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (७।१।३९) से 'शे' आदेश अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) से सम्पूर्ण भ्यस् के स्थान में हुआ ।

अस्मद् शे — लशक्वत० (१।३।८), तस्य लोपः (१।३।९), शेषे लोपः (७।२।९०) से अद् भाग का लोप होकर—

अस्मे — बना ।

अस्मे + इन्द्राबृहस्पती अब यहाँ एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अय् आदेश प्राप्त हुआ । पर 'शे' से 'ए' की प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का पूर्ववत् प्लुत प्र० (६।१।१२१) से निषेध हो गया । और —

अस्मे इन्द्राबृहस्पती बना ॥

इसी प्रकार युष्मे इति (तुम्हारा), इसमें षष्ठी बहुवचन 'आम्' के स्थान में शे आदेश हुआ । इसी प्रकार अस्मे इति (हमारे लिये) में भी समझें ॥

---

(२) त्वे इति (तुझ

युष्मद् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

युष्मद् ङसि — त्वमावेकवचने (७।२।९७), मपर्यन्तस्य (७।२।९१) ।

त्व अद् ङसि — शेषे लोपः (७।२।९०), सुपां सुलुक्० (७।१।३९) ।

त्व शे = ए — अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप एकादेश हुआ ।

त्वे + इति — पूर्ववत् अयादेश (६।१।७५ से) पाया, तो प्रगृह्य संज्ञा होने से उसका निषेध हो गया । और

त्वे इति — ही रहा ॥

इसी प्रकार अस्मद् शब्द के मपर्यन्त को त्वमावेकवचने (७।२।९७) से ही 'म' आदेश होकर एवं पूर्ववत् सूत्र लगकर मे इति बना । तब पूर्ववत् ही सन्धि प्राप्ति होने से प्रगृह्य संज्ञा होकर निषेध हो गया । 'मे' में ङसि अथवा 'ङि' के स्थान में 'शे' होता है ॥

—:०:—

परि० सम्बुद्धौ शाक० (१।१।१६)

वायो इति (हे वायु)

वायु — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा सम्बोधने च (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का 'सु' आया।

वायु सु=स् — यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) से गुण होकर—

वायो स् — अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१), एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) से 'स्' का लोप हुआ। एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४१) से सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि संज्ञा होती है।

वायो+इति — अब यहाँ एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अवादेश प्राप्त हुआ। सो सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार होने से प्रकृत सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर प्लुतप्रगृ० (६।१।१२१) से सन्धि का निषेध होकर—

वायो इति — बना॥

इसी प्रकार भानो इति (हे भानु), अध्वर्यो इति (हे अध्वर्यु) में भी जानें। जब पाणिनि जी के मत में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी, तो अवादेश होकर वायविति; भानविति; अध्वर्यविति ऐसे प्रयोग बनेंगे॥

—:०:—

परि० ईदूतौ च सप्तम्यर्थे (१।१।१८)

गौरी अधिश्रितः (ऋ० ६।१२।३)

गौरी — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ङि' विभक्ति आई।

गौरी ङि — अब यहाँ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे० (७।१।३९) से ङि विभक्ति का लुक् होकर 'गौरी' ऐसा ही रूप रहा।

गौरी+अधिश्रितः — अब यहाँ इको यणचि (६।१।७४) से गौरी के 'ई' को यणादेश प्राप्त हुआ। पर सप्तम्यर्थ में वर्तमान 'ई' होने से ईदूतौ च सप्तम्यर्थे से प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का निषेध हो गया। और—

गौरी अधिश्रितः रहा॥

इसी प्रकार अध्यस्यां मामकी तनू इति यहाँ भी मामकी ङि, तनू ङि की विभक्ति का पूर्ववत् लुक् होकर 'मामकी' 'तनू' रहा। पदपाठ करते समय जब मामकी इति तनू इति ऐसा रखा, तब इस अवस्था में इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त हुआ। सो प्रकृतसूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर पूर्ववत् निषेध हो गया॥

—:०:—

परि० दाधाघ्वदाप् (१।१।१९)

सूत्र-प्रयोजन— प्रणिददाति आदि उदाहरणों में 'दा' तथा 'धा' रूपवाले धातुओं को घु संज्ञा का मुख्य फल यही है कि नेर्गदनदपतपदघु० (८।४।१७) से प्र उपसर्ग से उत्तर नि के 'न्' को 'ण्' घुसंज्ञक धातु के परे रहते हो जाता है।

(१) प्रणिददाति (अच्छी प्रकार निश्चय से देता है)

डुदाञ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर शप् तिप् प्रत्यय आये।
डुदाशप तिप	जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य० (१।२।६०)।
डुदा तिप्	श्लौ (६।१।१०), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से श्लु परे रहते द्वित्व हुआ।
दा दा ति	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), ह्रस्वः (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व हुआ।
प्र नि ददाति	प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे (१।४।५८) से प्र नि की उपसर्ग संज्ञा हुई। अब दाधाघ्वदाप् से दारूप वाले ददाति की घु संज्ञा होकर, नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च (८।४।१७) से घुसंज्ञक धातु के परे रहते नि को णि होकर—
प्रणिददाति	बना॥

इसी प्रकार 'डुधाञ्' धातु से प्रणिदधाति (अच्छी प्रकार निश्चय से धारण करता है) की सिद्धि जानें। अभ्यास के ध् को द् अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से होगा, ऐसा जानें॥

---

(२) प्रणिदीयते (अच्छी प्रकार निश्चय से दिया जाता है)

डुदाञ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, लः कर्मणि च भावे चा० (३।४।६९) से कर्म में लकार हुआ।

दा लट्　　भावकर्मणोः (१।३।१३) से आत्मनेपद का 'त' प्रत्यय लकार के स्थान में हुआ।

दा त　　तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) से 'त' की सार्वधातुक संज्ञा हुई। तब सार्वधातुके यक् (३।१।६७) प्रत्ययः; परश्च (३।१।१,२) से कर्मवाच्य में 'यक्' प्रत्यय हुआ।

दा य त　　पूर्ववत् 'दा' की अङ्ग संज्ञा, तथा प्रकृत सूत्र से 'घु' संज्ञा हो जाने से घुमास्थागापाजहातिसां हलि (६।४।६६) से घुसंज्ञक अङ्ग 'दा' को ईत्व प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'आ' को वह 'ई' होकर—

प्र नि दी य त　　अब घु संज्ञा होने से नेर्गदनदपतपदघु० (८।४।१७) सूत्र से णत्व हो गया।

प्रणि दीयत　　टित आत्मने० (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) लगकर—

प्रणिदीयते　　बना॥

इसी प्रकार डुधाञ् धातु से प्रणिधीयते (अच्छी प्रकार निश्चय से धारण किया जाता है) की सिद्धि जानें। घु संज्ञा का फल यहाँ भी पूर्ववत् घुमास्था० (६।४।६६) से ईत्व, एवं णत्व करना ही है। श्लु न होने से यहाँ द्वित्वादि कार्य नहीं होंगे। डुदाञ् से तृच् प्रत्यय में प्रणिदाता (अच्छी प्रकार निश्चय से देनेवाला), तथा डुधाञ् से प्रणिधाता (अच्छी प्रकार निश्चय से धारण करनेवाला) की सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान जानें। घु संज्ञा का फल यहाँ भी पूर्ववत् णत्व करना ही है॥

---

(२) प्रणियच्छति (अच्छी प्रकार निश्चय से देता है)

दाण्　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर —

प्रनि दा शप् तिप्　　पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः (७।३।७८) से शित् प्रत्यय परे रहते 'दाण्' को 'यच्छ्' आदेश अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) से सम्पूर्ण के स्थान में हुआ। घु संज्ञा होने से णत्व भी पूर्ववत् होकर—

प्र णि यच्छ् अ ति=प्रणियच्छति बना॥

---

(४) प्रणिद्यति (अच्छी प्रकार निश्चय से काटता है)

दो अवखण्डने पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दो तिप् दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) प्रत्यय; परश्च (३।१।१,२)।

दो श्यन् ति पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर ओतः श्यनि (७।३।७१) से श्यन् परे रहते ओकारान्त अङ्ग का लोप प्राप्त हुआ, अलोन्त्यस्य (१।१।५१)।

प्र नि द् य ति पूर्ववत् घु संज्ञा होकर, णत्व होकर—

प्रणिद्यति बना॥

———

(५) प्रणिदयते (अच्छी प्रकार निश्चय से रक्षा करता है)

देङ् रक्षणे पूर्ववत् सब सूत्र लगकर अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से देङ् के ङित् होने से आत्मनेपद हुआ।

प्र नि दे शप् त एचोऽयवायावः (६।१।७५), टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)।

प्र नि दय् अ ते पूर्ववत् घु संज्ञा होने से णत्व होकर—

प्रणिदयते बन गया॥

इसी प्रकार 'धेट् पाने' धातु से प्रणिधयति वत्सो मातरम् (बछड़ा माता का दुग्ध पान करता है) को सिद्धि जानें॥

———

(६) देहि (तू दे)

डुदाञ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), लोट् च (३।३।१६२)।

दा लोट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दा शप् सिप् यहाँ शप् का श्लु, श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व, अभ्यासकार्य प्रणिददाति के समान होकर—

द दा सि सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) से लोट्सम्बन्धी 'सि' को 'हि' हो गया।

द दा हि अब दाधाघ्वदाप् से 'दा' की घु संज्ञा होने से घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६।४।११९) से घुसंज्ञक अङ्ग को एकारादेश तथा अभ्यास का लोप 'हि' परे रहते प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् दा' के 'आ' को ए होकर—

देहि बना॥

इसी प्रकार डुधाञ् धातु से धेहि (तू रख) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२०)

सूत्र-प्रयोजन—औपगवः की सिद्धि परि० १।१।१ में कर आये हैं। यहाँ पर जो विशेष हैं, वह आगे दर्शाते हैं—जिस प्रकार 'कर्त्तव्यम्' में कृ धातु से हुए 'तव्य' प्रत्यय को अनेक अच् होने से आद्युदात्तश्च (३।१।३) से आद्युदात्त हो जाता है, उसी प्रकार औपगवः में अण् के अकेले होने पर भी प्रकृत सूत्र से आदिवत् व्यवहार होकर आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय को आद्युदात्त हो जाता है। यही प्रकृत सूत्र का प्रयोजन है ॥

(१) औपगवः

उपगु अण्	पूर्ववत् परिशिष्ट १।१।१ के समान सब जानें। आद्युदात्तश्च (३।१।३), उच्चैरुदात्तः (१।२।२९), आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२०) से एक 'अ' वर्ण में ही आदिवत् व्यवहार होकर उदात्त हो गया। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५१) से एक को (=उदात्त या स्वरित को) छोड़कर शेष को अनुदात्त हो गया।
औपगव् अ	शेष पूर्ववत् सब होकर—
औपगवः	बना ॥

सूत्र-प्रयोजन—आभ्याम्, इस उदाहरण में अ+भ्याम् इस अवस्था में सुपि च (७।३।१०२) से 'अ' के अकेले होने पर भी प्रकृत सूत्र से 'अ' को अन्तवद्भाव होकर अदन्त अङ्ग मानकर दीर्घ होगया। जिस प्रकार पुरुषाभ्याम् आदि में होता है ॥

(२) आभ्याम् (इन दोनों के द्वारा)

इदम्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
इदम् भ्याम्	त्यदादीनामः (७।२।१०२), अलोन्त्यस्य (१।१।५१)।
इद अ भ्याम्	अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—
इद भ्याम्	हलि लोपः (७।२।११३) से इद् भाग का लोप हो गया।

अ भ्याम् — अब 'अ' की अङ्ग संज्ञा होकर सुपि च (७।३।१०२) से अदन्त अङ्ग 'अ' को दीर्घ प्राप्त हुआ। पर 'अ' तो अकेला ही है, तब आद्यन्तवदे० से अन्तवद्भाव होकर —

आभ्याम् — बन गया ॥

—:o:—

(१) परि० तरप्तमपौ घः (१।१।२१)

कुमारितरा (दो कुमारियों में से जो अधिक कुमारी)

कुमारी — द्विवचनविभज्योपपदे तरबी० (५।३।५७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

कुमारी तरप् — तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितसमासाश्च (१.२।४६) अजाद्यतष्टाप् (४।१।४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

कुमारीतर टाप् — अब तरप्तमपौ घः से तरप् की घ संज्ञा होने से घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः (६।३।४१) से ह्रस्व हो गया।

कुमारितर आ — अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ होकर -

कुमारितरा — ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) आदि सब सूत्र लगकर पूर्ववत् सु आकर उसका हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से लोप होकर—

कुमारितरा — बना ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणितरा (दो ब्राह्मणियों में से जो आचार-विचार आदि मे अधिक श्रेष्ठ) में भी पूर्ववत् ह्रस्वत्वादि कार्य समझें ॥

—:o:—

(२) कुमारितमा (सब से बड़ी कुमारी)

कुमारी — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) से तमप् प्रत्यय हुआ।

कुमारी तमप् — कृत्तद्धित० (१।२।४६), तथा पूर्ववत् टाप् प्रत्यय, एवं घ संज्ञा होकर घरूपकल्प० (६।३।४१) से ह्रस्व हो गया।

कुमारि तम टाप् शेष सब पूर्ववत् ही होकर—

कुमारितमा — बना ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणितमा (जो सब से अधिक ब्राह्मणी) में भी जानें ॥

—:o:—

परि० बहुगणवतु० (१।१।२२)

(१) बहुकृत्वः (बहुत बार)

बहु — अर्थवदधातु० (१।२।४५), बहुगणवतुडति सङ्ख्या से 'बहु' की सङ्ख्या संज्ञा होने से सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (५।४।१७) से कृत्वसुच् प्रत्यय हुआ।

बहु कृत्वसुच् — तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितस० (१।२।४६) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

बहु कृत्वस् सु — अब तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७) से 'बहु कृत्वस्' की अव्यय संज्ञा होकर, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो गया।

बहुकृत्वस — सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६), ससजुषो रुः (८।२।६६)।

बहुकृत्व रु=र् — विरामोऽव० (१।४।१०६), खरवसानयोर्विस० (८।३।१५) लगकर—

बहुकृत्वः — बना ॥

इसी प्रकार गण शब्द से पूर्ववत् गणकृत्वः (समूहवार) बनेगा ॥

तावत्कृत्वः में जो विशेष है, वह दर्शाते हैं—

(२) तावत्कृत्वः (उतनी बार)

तद — अर्थवदधातु० (१।२।४५), यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् (५।२।३९), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

तद सु वतुप्=वत — पूर्ववत सुलुक् होकर, सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६) से तद् की सर्वनाम संज्ञा होने से आ सर्वनाम्नः (६।३।८९) से आकारादेश। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'द्' को 'आ' हुआ।

त आ वत् — अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७), तुल्यास्यप्र० (१।१।९)

तावत् — कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), पुनः पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से 'तावत्' की सङ्ख्या संज्ञा होने से संख्यायाः०(५।४।१७)से कृत्वसुच् प्रत्यय हुआ।

तावत् कृत्वसुच् — सुपो धातु० (२।४।७१), शेष पूर्ववत् होकर—

तावत्कृत्वः — बना ॥

कतिकृत्वः में भी जो विशेष है, सो दर्शाते हैं—

(३) कतिकृत्वः (कितनी बार)

किम् — अर्थवदधातु० (१।२।४५), किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च (५।२।४१), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

किम् डति=अति यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), टेः (६।४।१४३) से 'किम्' के टि भाग=इम् का लोप हुआ। अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

क् अति=कति पूर्ववत् सब सूत्र लगकर कति की सङ्ख्या संज्ञा होने से संख्यायाः० (५।४।१७) से कृत्वसुच् प्रत्यय आया।

कति कृत्वसुच् शेष सब पूर्ववत् होकर—

कतिकृत्वः ॥

---

(४) बहुधा (बहुत प्रकार से)

बहु — अर्थवदधातुर० (१।२।४५), बहुगणवतुडति सङ्ख्या से सङ्ख्या संज्ञा होने से, सङ्ख्याया विधार्थे धा (५।३।४२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से धा प्रत्यय हुआ।

बहु धा — पूर्ववत् 'सु' आकर—

बहुधा सु — तद्धितश्चासर्व० (१।१।३७) से अव्ययसंज्ञा, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् होकर—

बहुधा — बना ॥

इसी प्रकार गण शब्द से गणधा (समुदाय से), तावत् शब्द से तावद्धा (उतनी प्रकार), कति शब्द से कतिधा (कितनी प्रकार) की सिद्धि जानें। तावत् एवं कति की सिद्धि पूर्ववत् ही समझ लें। तावद्धा में 'त' को 'द्' 'झलां जश् झशि (८।४।५२) से होगा ॥

---

(५) बहुकः (बहुतों से क्रीत=खरीदा हुआ)

बहु — पूर्ववत् बहु की सङ्ख्या संज्ञा होने से सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन् (५।१।२२) से प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर कन् प्रत्यय हुआ।

बहु भिस् कन्=क तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर—

बहुकः — बना ॥

इसी प्रकार गणकः (समुदाय से क्रीत), तावत्कः (उतने से क्रीत), कतिक (कितनों से क्रीत) की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें। तावत् एवं कति की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

---

(६) बहुशः (बहुत बार)

बहु — अर्थवदधा० (१।२।४५), पूर्ववत् सङ्ख्या संज्ञा होकर सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् (५।४।४३) से शस् प्रत्यय हुआ। शस् के स् की इत् संज्ञा प्रयोजनाभाव के कारण नहीं होती।

बहु शस् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

बहु शस् सु — उसकी पूर्ववत् अव्यय संज्ञा होकर अव्ययात्० (२।४।८२) से लुक् हो गया॥

बहु शस् — पुनः शस् के स् को पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

बहुशः — बन गया॥

इसी प्रकार गणशः (समुदाय बार), तावच्छः (उतनी-उतनी बार) बनेगा। तावच्छः में शश्छोऽटि (८।४।६२) से 'श' को 'छ', तथा स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से 'त्' को 'च्' हुआ है। कतिशः (कितनी-कितनी बार) की सिद्धि भी पूर्ववत् ही जानें॥

—:o:—

परि० ष्णान्ता षट् (१।१।२३)

षट् तिष्ठन्ति (छः व्यक्ति बैठते हैं)

षष् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

षष् जस् — ष्णान्ता षट् से षकारान्त जो सङ्ख्यावाची षष् शब्द उसकी षट् संज्ञा होने से षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से जस् का लुक् हुआ। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

षष् — सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), प्रत्ययलोपे प्रत्यय० (१।१।६१), पदस्य (८।१।१६), झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से पदान्त में झल् को जश् अर्थात् 'ष्' को 'ड्' हो गया। विरामोऽवसानम् (१।४।१०९)।

षड् तिष्ठन्ति — वाऽवसाने (८।४।५५) से पक्ष में चर् अर्थात् 'ड्' को 'ट्' होकर—

षट् तिष्ठन्ति — बन गया॥

इसी प्रकार षट् पश्य (छः व्यक्तियों को देखो) में समझें। यहाँ शस् विभक्ति का पूर्ववत् लुक् हुआ है। पञ्चन्, सप्तन्, नवन्, दशन् प्रातिपदिकों की भी नका-

रान्त सङ्ख्यावाची शब्द होने से षट् संज्ञा होकर, इन प्रातिपदिकों से जो जस्, तथा शस् विभक्ति आई, उसका पूर्ववत् लुक् हो गया। पीछे न लोपः प्रातिपदि० (८।२।७) से नकार का लोप भी होकर पञ्च (पांच), सप्त (सात), नव (नौ), दश (दस) रूप बनेंगे ॥

—:o:—

परि० क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५)

चितः चितवान्, स्तुतः स्तुतवान्, भिन्नः भिन्नवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में कर आये हैं, वहीं देखें। पठितः पठितवान् में पठ् धातु के सेट् होने से आर्द्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम होकर—पठ् इट् त=पठितः, पठ् इट् तवान्=पठितवान् बनेगा, यही विशेष है। डुपचष् धातु से पक्वः (पकाया हुआ), पक्ववान् (उसने पकाया) में चोः कुः (८।२।३०) से 'च्' को 'क्', तथा पचो वः (८।२।५२) से निष्ठा के 'त' को 'व्' होता है। शेष सब पूर्ववत् ही जानें ॥

क्त क्तवतु की निष्ठा संज्ञा का यही फल है कि निष्ठा (३।२।१०२) कहने से क्त क्तवतु प्रत्यय हो जावें ॥

—:o:—

परि० सर्वादीनि सर्व० (१।१।२६)

(१) सर्वे (सब)

सर्व — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर जस् आया।

सर्व जस् — सर्वादीनि सर्वनामानि से 'सर्व' को सर्वनाम संज्ञा होने से जसः शी (७।१।१७) से जस को शी आदेश हुआ। अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) लगकर—

सर्व शी—ई — आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—

सर्वे — बन गया ॥

इसी प्रकार 'विश्व' शब्द से विश्वे (सारे) बनेगा ॥

(२) सर्वस्मै (सब के लिये)

सर्व — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

सर्व ङे — सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा होने से सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४) से ङि को स्मै आदेश हुआ। अनेकाल्शित्० (१।१।५४) लगकर—

सर्वस्मै बन गया ॥

इसी प्रकार 'विश्व' शब्द से विश्वस्मै (सब के लिये) भी समझें। सर्वस्मात् (सब से), विश्वस्मात् (सब से), सर्वस्मिन् (सब में), विश्वस्मिन् (सब मे) यहां भी सर्व तथा विश्व शब्दों से सर्वनाम संज्ञा होने के कारण पञ्चमी विभक्ति ङसि, तथा सप्तमी विभक्ति ङि को ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७।१।१५) से क्रमशः स्मात् एवं स्मिन् आदेश हो जाता है। यही सर्वनाम संज्ञा का प्रयोजन है ॥

(३) सर्वेषाम् (सब का)

सर्व — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर षष्ठी का बहुवचन 'आम्' आया।

सर्व आम् — सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा होने से आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२), आद्यन्तौ० (१।१।४५) लगकर —

सर्व सुट् आम् — पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा, वा अनुबन्ध लोप होकर—

सर्व स् आम् — बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।

सर्वे साम् — आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से मूर्धन्य ष् होकर —

सर्वेषाम् — बन गया ॥

इसी प्रकार विश्वेषाम् (सब का) की सिद्धि जानें ॥

(४) सर्वकः (सब बेचारे)

सर्व — अर्थवद० (१।२।४५), ङयाप्प्रातिप० (४।१।१) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा होने के कारण अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः (५।३।७१) से सर्व के टि भाग 'अ' से पूर्व अकच् प्रत्यय हुआ।

सर्व अकच् अ — 'क' के 'अ' तथा च् की इत् संज्ञा और लोप होकर—

सर्वक् अ — पूर्ववत् सूत्र लगकर 'सु' आया।

सर्वक सु — स् को विसर्जनीय होकर—

सर्वकः — बना ॥

इसी प्रकार विश्वकः (सब बेचारे) में भी समझें ॥

—:o:—

परि० विभाषा दिक्समासे० (१।१।२७)

(१) उत्तरपूर्वस्यै (उत्तर और पूर्व दिशा के बीच की दिशा के लिये)

उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम् —

उत्तरा ङस् पूर्वा ङस् दिङ्नामान्यन्तराले (२।२।२६) से बहुव्रीहि समास होकर—

उत्तरापूर्वा — कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

उत्तरापूर्वा ङे — सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः (वा० २।२।२६) इस वार्तिक से पूर्वपद को पुंवद्भाव अर्थात् ह्रस्व हुआ।

उत्तरपूर्वा ङे — ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) आदि सब सूत्र लगकर, विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ से उत्तरपूर्वा की पक्ष में सर्वनाम संज्ञा होने के कारण सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (७।३।११४) से सर्वनाम को ह्रस्व, तथा ङे को स्याट् का आगम हुआ। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—

उत्तरपूर्व स्याट् ङे = उत्तरपूर्व स्या ए। वृद्धिरेचि (६।१।८५), वृद्धिरादैच् लगकर—

उत्तरपूर्वस्यै — बना॥

इसी प्रकार दक्षिणपूर्वस्यै (दक्षिण तथा पूर्व दिशा के बीचवाली दिशा के लिये) में जानें। जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई, उस पक्ष में स्याट् आगम एवं सर्वनाम को ह्रस्व न होकर याडापः (७।३।११३) से याट् का आगम होकर —उत्तरपूर्वा याट् ङे = उत्तरपूर्वा या ए। पूर्ववत् वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर उत्तरपूर्वायै बन गया। इसी प्रकार दक्षिणपूर्वायै में जानें॥

(२) उत्तरपूर्वस्याः (उत्तर और पूर्व की दिशा के कोनेवाली दिशा का)

पूर्ववत् ही सब होकर उत्तरपूर्वा ङस् रहा। पूर्ववत् सर्वनाम संज्ञा होने से स्याट् आगम एवं ह्रस्व होकर 'उत्तरपूर्व स्या अस्' रहा। अकः सवर्णे० (६।१।९७) से सवर्ण दीर्घ एवं स् को पूर्ववत् विसर्जनीय होकर उत्तरपूर्वस्याः बन गया। इसी प्रकार दक्षिणपूर्वस्याः में भी जानें। जिस पक्ष में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई। तो पूर्ववत् याट् आगम होकर उत्तरपूर्वा याट ङस् = उत्तरपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाः बना॥

— :०: —

परि० न बहुव्रीहौ (१।१।२८)

प्रियविश्वाय (सब प्रिय हैं जिसके, उसके लिये)

प्रियाः विश्वे यस्य —

प्रिय जस् विश्व जस् शेषो बहुव्रीहिः (२।२।२३), अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

प्रियविश्व　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

प्रियविश्व ङे　　अब सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६) से विश्व की सर्वनाम संज्ञा होने के कारण सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४) से 'ङे' को 'स्मै' आदेश पाया। पर न बहुव्रीहौ से सर्वनाम संज्ञा का ही प्रतिषेध हो जाने से स्मै आदेश नहीं हुआ। तब ङेर्यः (७।१।१३) से ङे को 'य' आदेश हो गया।

प्रियविश्व य　　सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ होकर—

प्रियविश्वाय　　बन गया ॥

इसी प्रकार प्रिया उभये यस्य=प्रियोभयाय (प्रिय हैं दोनों जिसके, उसके लिये) की सिद्धि जानें। आद् गुणः(६।१।८४) से प्रिय के 'अ' और उभय के 'उ' को गुण एकादेश हो ही जायगा ॥

द्वौ अन्यौ यस्य स द्व्यन्यः, तस्मै द्व्यन्याय (दो हैं अन्य जिसके, उसके लिये), त्रयः अन्ये यस्य स त्र्यन्यः, तस्मै त्र्यन्याय (तीन हैं अन्य जिसके, उसके लिये) यहाँ भी पूर्ववत् ही सिद्धि जानें। सर्वनाम संज्ञा का निषेध ङे को स्मै आदेश न हो इसलिये किया है। इको यणचि (६।१।७४) से यहाँ यणादेश होता है, यही विशेष है ॥

—:०:—

परि० तृतीयासमासे (१।१।२९)

(१) मासपूर्वाय (मास भर पहले उत्पन्न हुये के लिये)

मासेन पूर्वः मासपूर्वः, तस्मै—

मास टा पूर्व सु　　पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः (२।१।३०) से तृतीया तत्पुरुष समास हुआ। कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) लगकर—

मासपूर्व　　पुनः पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

मासपूर्व ङे　　सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६) से 'पूर्व' की सर्वनाम संज्ञा होने से पूर्ववत् 'ङे' को 'स्मै' आदेश प्राप्त हुआ। पर तृतीयासमासे से

सर्वनाम संज्ञा का ही निषेध हो जाने से 'स्मै' आदेश न होकर, ङेर्यः (७।१।१३) से ङे को 'य' हो गया।

मासपूर्व य सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ होकर—

मासपूर्वाय बना ।।

इसी प्रकार संवत्सरपूर्वाय (वर्षभर पूर्व उत्पन्न हुये के लिये) में भी समझें ।।

(२) द्व्यहपूर्वाय (दो दिन पूर्ववाले के लिये)

द्व्यहेन पूर्वः द्व्यहपूर्वः, तस्मै—

द्व्यह टा पूर्व सु पूर्वसदृश० (२।१।३० से समास हुआ। सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

द्व्यहपूर्व ङे पूर्ववत् ही सब होकर—

द्व्यहपूर्वाय बना ।।

इसी प्रकार त्र्यहपूर्वाय (तीन दिन पूर्ववाले के लिये) की सिद्धि जानें ।। द्व्यह की सिद्धि द्विगुश्च (२।१।२२) सूत्र पर की जायेगी ।।

—:०:—

परि० द्वन्द्वे च (१।१।३०)

पूर्वपराणाम् (पूर्व और परवालों का)

पूर्वाश्च पराश्च पूर्वपराः, तेषाम्—

पूर्व जस् पर जस् चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९), सुपो धातु० (२।४।७१)।

पूर्वपर पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पूर्वपर आम् अब यहां सर्वादीनि सर्व० (१।१।२६) से सर्वनाम संज्ञा होने से आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२) से सुट् आगम प्राप्त होता है। पर द्वन्द्वे च से सर्वनाम संज्ञा का ही निषेध हो जाने से सुट् आगम नहीं हुआ। तब ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् आगम हुआ। आद्यन्तौ० (१।१।४५) लगकर—

पूर्वपर नुट् आम् नामि (६।४।३) से अङ्ग को दीर्घ होकर—

पूर्वपरा न् आम् अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से णत्व होकर—

पूर्वपराणाम् बना ।।

इसी प्रकार दक्षिणश्च उत्तरश्च पूर्वश्च दक्षिणोत्तरपूर्वाः, तेषां दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् (दक्षिण उत्तर और पूर्व दिशाओं में रहनेवालों का), तथा कतरकतमानाम् (दो में से तथा बहुतों में से किन सबों का) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० विभाषा जसि (१।१।३१)

(१) कतरकतमे (दो में से कौनसे, तथा बहुतों में से कौनसे)

सर्वनाम संज्ञा पक्ष में कतरकतमे की सिद्धि परि० १।१।२६ के सर्वे के समान जानें। जब पक्ष में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई, तो कतरकतमाः बना। उसकी सिद्धि निम्न प्रकार है—

(२) कतरकतमाः

कतर जस् कतम जस् पूर्ववत् समास आदि सब होकर—

कतरकतम जस् चुटू (१।३।७), तस्य लोपः (१।३।९)। हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्तिम स् की भी इत् संज्ञा प्राप्त हुई। पर न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से विभक्ति का सकार होने से निषेध हो गया।

कतरकतम अस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ।

कतरकतमास् यहाँ विभाषा जसि से पक्ष में सर्वनामसंज्ञा न होने से जसः शी (७।१।१७) से शी आदेश नहीं होता। यही सर्वनामसंज्ञा के विकल्प का फल है। अब पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

कतरकतमाः बना ॥

इसी प्रकार दक्षिणपूर्वे (दक्षिण और पूर्ववाले), और दक्षिणपूर्वाः की सिद्धि भी समझें ॥

—:०:—

परि० तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७)

(१) ततः (उससे)

तद् अर्थवदधा० (१।२।४५) आदि सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—

तद् ङसि पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

तद् ङसि तसिल् तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

तद् तस् — अब प्राग्दिशो विभक्तिः (५।३।१) से तसिल् की विभक्ति संज्ञा होने से त्यदादीनामः (७।२।१०२) से विभक्ति परे मानकर अकारादेश अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से 'द्' के स्थान में हो गया।

त अ तस् — अतो गुणे (६।१।९४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—

ततस् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

ततस् सु — अब तद्धितश्चासर्वविभक्तिः से ततस् को अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो गया।

ततस् — पूर्ववत् स् को रुत्व विसर्जनीय होकर—

ततः — बन गया॥

इसी प्रकार यद् शब्द से यतः (जिस से) भी समझें॥

(२) तत्र (वहाँ)

तद् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

तद् ङि — सप्तम्यास्त्रल् (५।३।१०), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

तद् ङि त्रल् — शेष सब सूत्र पूर्ववत् ही लगकर—

त अ त्र — =तत्र सु, पूर्ववत् ही अव्यय संज्ञा होने से सु का लुक् होकर—

तत्र — बना॥

इसी प्रकार यद् शब्द से यत्र (जहाँ) भी समझें॥

(३) तदा (तस्मिन् काले=तब)

तद् ङि — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा (५।३।१५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से दा प्रत्यय आया।

तद् ङि दा — शेष सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—

त अ दा — =तदा सु, तद्धितश्चा०, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगकर—

तदा — बना॥

इसी प्रकार 'यद' शब्द से यस्मिन् काले=यदा (जब) की सिद्धि जानें। सर्व शब्द को 'दा' प्रत्यय से परे रहते सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (५।३।६) से 'स' आदेश पक्ष में होकर पूर्ववत् 'सदा' भी बनेगा॥

(४) विना (छोड़कर)

वि — अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), विनञ्-

म्यां नानाञौ न सह (५।२।२७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

वि ना पूर्ववत् सु विभक्ति आकर—

विना सु तद्धितश्चासर्व०, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् होकर—

विना बना ॥

इस प्रकार नञ् निपात से विनञ्भ्यां नानाञौ०(५।२।२७)से नाञ् प्रत्यय होकर तथा तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से वृद्धि होकर—'ना नाञ्=नाना सु रहा। सो पूर्ववत् ही अव्यय संज्ञा होने से लुक् होकर—'नाना' (भिन्न-भिन्न प्रकार के) बन गया ॥

—:o:—

परि० कृन्मेजन्तः (१।१।३८)

(१) स्वादुंकारं भुङ्क्ते (स्वादुयुक्त बनाकर खाता है)

अस्वाद्वीम् (यवागूम्) स्वाद्वीम् कृत्वा भुङ्क्ते—

डुकृञ् भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः० (१।३।५), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं लोपः (१।१।५९)।

स्वाद्वी अम् कृ तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२)से स्वादु की उपपद संज्ञा हुई। तो धातोः (३।१।९१), स्वादुमि णमुल् (३।४।२६) से कृ धातु से स्वाद्वी उपपद रहते णमुल् प्रत्यय हुआ। और स्वाद्वी को स्वादुम् निपातन से हो गया।

स्वादुम् अम् कृ णमुल् पूर्ववत् लोपादि होकर—

स्वादुम् अम् कृ अम् कृदतिङ् (३।१।९३), कृन्मेजन्तः से अव्यय संज्ञा होने से अमैवाव्ययेन(२।२।२०)से अमन्त अव्यय के साथ स्वादुम् उपपद का समास हो गया।

स्वादुम् कार अम् कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१), यस्मात्० (१।४।१३), अचो ञ्णिति (७।२।११५), उरण्रपरः (१।१।५०)।

स्वादुम्कारम् मोऽनुस्वारः (८।३।२३),शेष सब पूर्ववत् होकर—

स्वादुंकारम् सु 'स्वादुंकारम्' की अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से 'सु' का लुक् होकर—

स्वादुंकारम् भुङ्क्ते बना ॥

इसी प्रकार सम्पन्नंकारं भुङ्क्ते (सम्पन्न करके खाता है); लवणङ्कारं भुङ्क्ते (लवणयुक्त करके खाता है) की सिद्धि भी जानें। यहां सभी उदाहरणों में वा पदान्तस्य (८।४।५९) से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण ङकार होकर स्वादुङ्कारम् आदि रूप भी बनते हैं। स्वादुमि णमुल् (३।४।२६) में स्वादुम् के अर्थवाची शब्दों का भी ग्रहण है। अतः सम्पन्नम् लवणम् उपपद रहते भी णमुल् प्रत्यय हो जाता है॥ उदरपूरं भुङ्क्ते की सिद्धि भी इसी प्रकार होगी। केवल यहां 'उदर' उपपद रहते पूरि धातु से चर्मोदरयोः पूरेः (३।४।३१) सूत्र से णमुल् होगा, यही विशेष है॥

(२) वक्षे रायः (धनों को कहने के लिये)

वच परिभाषणे भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।९१), तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्से० (३।४।९) से छन्दविषय में तुमुन् के अर्थ में 'से' प्रत्यय आया।

वच् से चोः कुः (८।२।३०) से झल् परे रहते वच् के 'च्' को कुत्व प्राप्त हुआ। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर—

वक् से आदेशप्रत्ययोः (८।३।५९) से षत्व, तथा पूर्ववत् 'सु' विभक्ति आकर—

वक् षे =वक्षे सु, कृन्मेजन्तः, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगाकर—

वक्षे रायः बना। रै+शस्=रायः बनता है॥

'से' तथा 'सेन्' दोनों प्रत्ययों में वक्षे यही रूप बनेगा। केवल इनमें स्वर का ही भेद है॥

इसी प्रकार ता वाम् एषे रथानाम् (रथों को प्राप्त करने के लिए) में 'इष्' धातु से सेन् प्रत्यय, तथा धातु को सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण होकर 'एषे' बन गया है। 'जीव' धातु से 'असे' प्रत्यय होकर जीव् असे=जीवसे बनेगा। 'दृशिर्' धातु से दृशे विख्ये च (३।४।११) सूत्र के निपातन से 'के' प्रत्यय होकर दृश् के=दृश् ए=दृशे बन गया है। म्लेच्छितवै में म्लेच्छ धातु से तुमर्थे सेसेन० (३।४।९) सूत्र से तवै प्रत्यय, तथा आर्धधातुकस्येड्०(७।२।३५) से इट् आगम होकर—म्लेच्छ् इट् तवै=म्लेच्छितवै बनेगा। सर्वत्र कृन्मेजन्तः से एजन्त कृत् मानकर अव्यय संज्ञा, तथा अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो जायेगा॥

—:०:—

परि० क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३९)

(१) पठित्वा (पढ़ करके)

पठ भूवादयो० (१।३।१) आदि सब सूत्र लगकर—

पठ् समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय हुआ।

पठ् क्त्वा =त्वा, आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—

पठ् इट् त्वा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

पठित्वा सु क्त्वातोसुन्कसुनः, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगकर—

पठित्वा बना॥

इसी प्रकार अनिट् चिञ् धातु से चित्वा (चुनकर), जित्वा (जीतकर), कृत्वा (करके), हृत्वा (हरण करके) की सिद्धि जानें। सर्वत्र अव्यय संज्ञा का प्रयोजन 'सु' का लुक् करना है। चित्वा जित्वा आदि में सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण की भी प्राप्ति है। सो उसका क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जाता है। तथा आर्धधातु० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त था। उसका एकाच उपदेशे (७।२।१०) से निषेध हो गया है॥

(२) सूर्यस्योदेतोः

उद् इण् भूवादयो० (१।३।१), प्रादय उपसर्गाः० (१।४।५८), धातोः (३।१।९१)।

उद् इ भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन् (३।४।१६)।

उद् इ तोसुन् =तोस्, आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण।

उद् ए तोस् पूर्ववत् सु आकर—

उदेतोस् सु क्त्वातोसुन्कसुनः से तोसुन् अन्तवाले 'उदेतोस्' की अव्यय संज्ञा हुई। अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो गया।

उदेतोस् सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से पद संज्ञा होकर पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय हो गया।

सूर्यस्य उदेतोः यहाँ आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—

सूर्यस्योदेतोः बना॥

(३) विसृपो विरप्शिन्

सृप्लृ भूवादयो० (१।३।१) पूर्ववत् सब होकर सृपितृदोः कसुन् (३।४।१७)।

वि सुप् कसुन्	पुगन्तलघूप० (७।३।८६), क्ङिति च (१।१।५)।
वि सुप् अस्	पूर्ववत् सु आकर—
विसुपस् स्	क्त्वातोसुन्कसुनः से कसुन्प्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा होकर अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो गया।
विसुपस्	पूर्ववत् 'स्' को 'रु' होकर—
विसुपरुँ+विरप्शिन्	हशि च (६।१।११०) से रु को 'उ'।
विसुप उ विरप्शिन्	आद्गुणः (६।१।८४) लगकर—
विसुपो विरप्शिन्	बना ॥

—:o:—

परि० अव्ययीभावश्च (१।१।४०)

(१) प्रत्यग्नि (अग्नि के सामने)

अग्नि अम् प्रति सु	लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (२।१।१३) से अव्ययीभाव समास होकर, कृत्तद्धितसमा०(१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।
अग्निप्रति	प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१।२।४३) से समासविधायक शास्त्र में जो प्रथमानिर्दिष्ट उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है। सो 'प्रति' की उपसर्जन संज्ञा होने से उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से 'प्रति' शब्द 'अग्नि' के पूर्व में आया।
प्रतिअग्नि	इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर—
प्रत्यग्नि	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।
प्रत्यग्नि सु	अव्ययीभावश्च तथा अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगकर—
प्रत्यग्नि	बना ॥

इसी प्रकार अग्नेः समीपम्=उपअग्नि अकः सवर्णे० (६।१।९७) से दीर्घ होकर उपाग्नि बना है। यहाँ अव्ययं विभक्तिसमीप० (२।१।६) से समीप अर्थ में समास होगा। शेष सब पूर्ववत् है ॥

(२) अधिस्त्रि (स्त्रियों के विषय में)

स्त्रीषु अधिकृत्य कथा प्रवर्तते—

स्त्रीषु सुप् अधि सु	अव्ययं विभक्तिसमीप० (२।१।६)से विभक्ति अर्थ में 'अधि' अव्यय के साथ समास हुआ। पूर्ववत् सब होकर—
स्त्रीअधि	प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२४३), उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)।

प्रधिस्त्री	पूर्ववत् सु आकर—
प्रधिस्त्री सु	अव्ययीभावश्च, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगकर—
प्रधिस्त्री	अव्ययीभावश्च (२।४।१८) से नपुंसकलिङ्ग होकर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से ह्रस्व हुआ। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७), अचश्च (१।२।२८) लगकर—
प्रधिस्त्रि	बना ॥

—:०:—

परि० शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४१)

कुण्डानि (बहुत से कुण्ड)

कुण्ड	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
कुण्ड जस्	जश्शसोः शिः (७।१।२०), अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४)।
कुण्ड शि	=इ, शि सर्वनामस्थानम्, नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२), मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे नुम का आगम हुआ।
कुण्ड नुम् इ	=कुण्ड न् इ, लोपादि सब कार्य होकर—
कुण्ड न् इ	'शि' की सर्वनाम-स्थान संज्ञा होने से, सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८) से दीर्घ होकर—
कुण्डा न् इ	=कुण्डानि बन गया ॥

इसी प्रकार वन शब्द से 'वनानि' (बहुतसे वन), दधि शब्द से दधीनि (बहुत प्रकार के दही), त्रपु शब्द से त्रपूणि (बहुतसे रांगा), जतु शब्द से जतूनि (बहुतसी लाखें) की सिद्धि भी जानें। त्रपूणि में 'न्' को 'ण्' अट् कुप्वाङ्नुम्० (८।४।२) से होगा। इन सब शब्दों के रूप 'शस्' विभक्ति में भी यही होंगे। तथा सिद्धि भी पूर्ववत् ही 'शस्' को 'शि' आदेश होकर इसी प्रकार होगी ॥

—:०:—

परि० सुडनपुंसकस्य (१।१।४२)

राजा (एक राजा)

राजन्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
राजन् सु	सुडनपुंसकस्य, सर्वनामस्थाने चा० (६।४।८)।

राजान् स् अलोऽन्त्यात्० (१।१।६४), हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६)।

राजान् सुप्तिङन्तं० (१।४।१४), न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) लगकर—

राजा बना ॥

इसी प्रकार 'राजन् औ' आदि में सर्वत्र प्रकृत सूत्र से सर्वनामस्थान संज्ञा होने से दीर्घ होकर— राजान् औ = राजानौ; राजन् जस् = राजान् अस् = राजानः। राजानम्, राजानौ बन गया। आगे के उदाहरणों में न लोपः प्राति० (८।२।७) से नकार का लोप नकार के पदान्त में न होने के कारण नहीं होता है। 'राजा' यहां तो 'सु' के लोप हो जाने पर नकार पदान्त में था, अतः 'न्' का लोप हो गया है ॥

—:०:—

परि० न वेति विभाषा (१।१।४३)

शुशाव (वह गया)

टु ओश्वि पूर्ववत् अनुबन्ध लोप होकर, भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), परोक्षे लिट् (३।२।११५)।

श्वि लिट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर लिट् के स्थान में तिप् आया।

श्वि तिप् परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः (३।४।८२), यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०)।

श्वि णल् = अ, विभाषा श्वेः (६।१।३०) से विकल्प से सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। तब न वेति विभाषा ने बताया कि निषेध और विकल्प अर्थों की विभाषा संज्ञा होती है। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४) से यण् के स्थान में जो इक् उसकी सम्प्रसारण संज्ञा हुई। सो यथासङ्ख्यमनु० (१।३।१०) लगकर 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण हो गया।

श् उ इ अ सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) से सम्प्रसारण से उत्तर 'इ' को पूर्वरूप होकर—

शु अ अचो ञ्णिति (७।२।११५), वृद्धिरादैच् (१।१।१), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

शौ अ एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—

शाव् अ लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर द्विर्वचन हुआ।

शी शाव् अ　　ह्रस्वः (७।४।६१), एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) से ह्रस्व होकर
शुशाव् अ　　=शुशाव बना ॥

जिस पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ, उस पक्ष में पूर्ववत् सब होकर, वृद्धि द्विर्वचन (रूपातिदेश) होकर—'श्वि श्वै अ' रहा। हलादिः शेषः (७।४।६०),तथा एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर 'शिश्वाय' बन गया। द्विवचन में 'तस्' के स्थान में पूर्ववत् 'अतुस्' आकर 'श्वि अतुस्' रहा। पूर्ववत् सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप होकर— 'शु अतुस्' रहा। असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) से अतुस के कित्वत् होने से सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से प्राप्त गुण का क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। अब पूर्ववत् 'शु शु' द्वित्व, तथा अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से उवङ् आदेश, ङिच्च (१।१।५२) लगकर अन्तिम अल् उकार को होकर - शुशुवङ् अतुस्=शुशुव् अतुस्। 'स्' को रुत्व, विसर्जनीय होकर—शुशुवतुः बन गया ॥

जिस पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ, उस में पूर्ववत् सब होकर, तथा इकार पूर्ववत् अचि श्नु० (६।४।७७) से इयङ् होकर— शिश्वियतुः बन गया ॥

दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै की सिद्धि परि०(१।१।२७)में देखें। यहाँ विभाषा दिक्० (१।१।२७) से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है ॥

—:०:—

परि० इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)

(१) उक्तः (कहा गया)

वच	भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
वच् क्त	=त, वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५) से सम्प्रसारण हुआ। इग्यणः सम्प्रसारणम्, यथासङ्ख्यमनु० (१।३।१०) लगकर—
उ अ च् त	सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४), एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१) लगकर—
उच् त	चोः कुः (८।२।३०),स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।
उक् त	कृदतिङ् (३।१।९३), कृत्तद्धितस० (२।१।४६) आदि सब पूर्ववत् होकर, 'सु' आकर विसर्जनीय हो गया। और—
उक्तः	बना ॥

(२) उक्तवान् (उसने कहा)

उक्तवान् की सिद्धि में पूर्ववत् 'वच' धातु 'क्तवतु' आकर, तथा सम्प्रसारणादि सब कार्य होकर—'उक् तवत् सु' रहा। अब यहाँ शेष कार्य परि० १।१।५ के 'चित-वान्' के समान होकर—'उक्तवान्' बन गया॥

स्वप् धातु से सुप्तः (सोया हुआ), सुप्तवान् (वह सोया) पूर्ववत् बनेंगे। यज् धातु के 'य्' को क्त परे रहते 'इ' सम्प्रसारण होकर 'इज् त' रहा। व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से 'ज्' को 'ष्', ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से 'त्' को ट् होकर—'इष्टः' (यज्ञ किया हुआ), तथा 'इष्टवान्' (उसने यज्ञ किया) बनेगा। गृहीतः (पकड़ा हुआ), गृहीतवान् (उसने पकड़ा) यहाँ पर भी पूर्ववत् ग्रह धातु के 'र्' को 'ऋ' सम्प्रसारण, तथा ग्रह धातु के सेट् होने से आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम, एवं उस इट् को ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७।२।३७) से दीर्घ होकर—गृह् ईट् त =गृहीतः, गृहीतवान् बन गया॥

सर्वत्र यथासङ्ख्यम० (१।३।१०) लगकर यथासङ्ख्य करके 'य्' को इ, व् को उ, र् को ऋ, तथा ल् को लृ सम्प्रसारण होता है॥

—:o:—

परि० आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)

भविता (वह कल होगा); लविता (वह कल काटेगा) की सिद्धि परि० १।१।६ के पठिता के समान जानें। आर्धधातुकस्ये०(७।२।३५)से वलादि आर्धधातुक तास् को कहा इट् आगम टित् होने से तास् के आदि में होगा। षष्ठी स्थानेयोगा(१।१।४८) से सारे तास् के स्थान में प्राप्त था। सो न हुआ, यही प्रकृत सूत्र का प्रयोजन है॥

(१) त्रापुषम् (त्रपुणो विकारः=राँगे का विकार)

त्रपु ङस् — समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्य विकारः (४।३।१३२), त्रपुजतुनोः षुक् (४।३।१३६) से षष्ठीसमर्थ 'त्रपु' शब्द से अण्, तथा षुक् का आगम प्राप्त हुआ। सो प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से अण प्रत्यय परे हो गया। पर षुक् आगम कहाँ पर हो, इसका निर्णय आद्यन्तौ टकितौ ने किया कि वह कित् है,अतः त्रपु के अन्त में बैठे। सो अन्त में बैठा।

त्रपु षुक् ङस् अण् — तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातु-प्राति० (२।४।७१) से सुप् का लुक्, तथा पूर्ववत् अनुबन्ध लोप होकर—

अपु ष् अ	तद्धितेष्वचा० (७।२।११७), वृद्धिरादैच् (१।१।१) से वृद्धि होकर, और पूर्ववत् सु आकर—
आपुष सु	अतोऽम् (७।१।२४) से सु को नपुंसकलिङ्ग में अम् होकर —
आपुष अम्	अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—
आपुषम्	बना ।।

इसी प्रकार 'जतु' शब्द से जातुषम् (लाख का विकार=चूड़ी आदि) की सिद्धि जानें ।।

(२) भीषयते (डराता है)

ञिभी भये	आदिर्ञिटु० (१।३।५), तस्य लोपः (१।३।९) ।
भी	भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से णिच् प्रत्यय हुआ ।
भी णिच्	भियो हेतुभये षुक् (७।३।४०) से णिच् परे रहते षुक् आगम प्राप्त हुआ । अब यह षुक् आगम कहाँ हो, सो पहले तो षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से सारे 'भी' के स्थान में प्राप्त हुआ । पर उसके भी अपवाद आद्यन्तौ टकितौ ने कहा कि कित् होने से यह अन्त में हो ।
भी षुक् णिच्	अनुबन्ध लोप होकर, सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से 'भीषि' की नई धातु संज्ञा होकर, धातोः (३।१।९१) आदि सब पूर्ववत् सूत्र लगे । भीस्म्योर्हेतुभये (१।३।६८) से आत्मनेपद हुआ ।
भीषि शप् त	सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) ।
भीषे अ त	एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर—
भीषय् अ त	अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३), टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से टि को एत्व होकर—
भीषयते	बना ।।

—:०:—

परि० मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)

(१) भिनत्ति (फाड़ता है)

भिदिर्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

भिद् तिप् रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२), मिदचोऽन्त्यात् परः से श्नम् अन्त्य अच् से परे हुआ।

भि श्नम् द् तिप् =भि न द् ति, खरि च (८।४।५४) से द् को त् होकर—

भिनत् ति =भिनत्ति बना॥

इसी प्रकार छिनत्ति (काटता है) की सिद्धि भी जानें॥

(२) रुणद्धि (रोकता है)

रुधिर् पूर्ववत् ही सब होकर—

रु श्नम् ध् ति =रुन ध् ति, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवा० (८।४।२) से न को 'ण' होकर—

रु ण ध् ति झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से तिप् के 'त्' को 'ध्' हुआ।

रुणध् धि झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर—

रुणद्धि =रुणद्धि बना॥

(३) मुञ्चति (वह छोड़ता है)

मुच्लृ पूर्ववत् सब होकर—

मुच् तिप् तुदादिगण की धातु होने से तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से शप् का अपवाद 'श' हुआ।

मुच् श ति मुच् की अङ्ग संज्ञा होकर अङ्गस्य, (६।४।१), शे मुचा० (७।१।५९) से नुम् आगम हुआ। मिदचोऽन्त्यात् परः लगकर, तथा अनुबन्ध लोप।

मुन् च् अ ति =मुन्चति, नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४)।

मुंचति अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) से परसवर्ण होकर—

मुञ्चति बना॥

(४) वन्दे मातरम् (माता को नमस्कार करता हूं)

वदि अभिवादनस्तुत्योः उपदेशे० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९), भूवादयो० (१।३।१)।

वद् वद् धातु के इदित् होने से इदितो नुम् धातोः (७।१।५८) से नुम् आगम हुआ, मिदचोऽन्त्यात् परः लगकर—

व नुम् द् =वन्द्, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन में—

वन्द् शप् इट् =वन्द् अ इ, टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

वन्ध ए   अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

वन्धे   बना ॥

कुण्डानि, वनानि की सिद्धि परि० १।१।४१ में देखें। यशांसि (बहुत से यश), पयांसि (बहुत से दूध) की सिद्धि में भी यशस् पयस् शब्द से जस् आकर 'कुण्डानि' के समान ही नुम् आगम प्राप्त हुआ। सो वह नुम् अन्त्य अच् से परे होकर—यश नुम् स् जस्, पय नुम् स् जस् रहा। जस् को शि जश्शसोः शिः (७।१।२०) से होकर, तथा दीर्घ भी सान्तमहतः० (६।४।१०) से होकर—यशान्स् इ, पयान्स् इ रहा। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'न्' को अनुस्वार होकर—यशांसि पयांसि बन गया ॥

—:०:—

परि० एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७)

अतिरि कुलम् (जिस कुल ने धन का उल्लङ्घन किया है)

अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—

रै अम् अति सु   अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (वा० २।२।१८), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

रैअति   प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३), उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)।

अतिरै   ह्रस्वो नपुंसके प्राति० (१।२।४७), अचश्च (१।२।२८) से अजन्त नपुंसक लिङ्ग 'ऐ' को ह्रस्व प्राप्त हुआ। पर एच् के तो ह्रस्व वर्ण होते नहीं, उसे क्या ह्रस्व हो? स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) परिभाषा के अनुसार ए ऐ के स्थान में कण्ठ्य अ तथा तालव्य इ प्राप्त हुए। इसी प्रकार ओ औ के स्थान में भी कण्ठ्य अ तथा ओष्ठ्य उ प्राप्त हुए। तब एच इग्घ्रस्वादेशे परिभाषा सूत्र ने नियमरूप से निर्णय किया कि एच् को ह्रस्वादेश करने में इक् ही ह्रस्व हो, अन्य (अर्थात् अकार) नहीं। अतः 'ऐ' को 'इ' होकर पूर्ववत् सु आया—

अतिरि सु   स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से लुक्, प्रत्ययस्य० (१।१।६०)।

अतिरि कुलम्   बना ॥

इसी प्रकार नावम् अतिक्रान्तं यत् कुलम्=अतिनु कुलम् (जिस कुल ने नौका विहार का अतिक्रमण कर दिया है) की सिद्धि भी जानें। 'औ' को 'उ' ह्रस्व स्थानेऽन्त० (१।१।४९) लगकर पूर्ववत् हुआ है ॥

गो: समीपम् उपगु (गाय के समीप), यहाँ पर 'गो ङस् उप सु' इस अवस्था में अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) से समास, तथा सुप् का लुक् पूर्ववत् होकर— "उपगो" रहा। पूर्ववत् 'ओ' को 'उ' ह्रस्व हुआ। पुनः 'सु' की उत्पत्ति होकर, अव्ययीभावश्च (१।१।४०) से 'उपगु' की अव्यय संज्ञा होकर, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो गया है ॥

—:०:—

परि० षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)

सूत्र-प्रयोजन—भविता (होनेवाला), यहाँ आर्धधातुक-विषय में तृच् को मानकर अस्' धातु को अस्तेर्भूः (२।४।५२) से भू आदेश होता है। 'अस्तेः' षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप है। षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध सामान्य 'का, के, की' होता है। पर यहाँ तो "अस्ति का भू होता है" ऐसा कहने से कुछ पता नहीं लगता कि "अस्ति का भू" क्या है ? अर्थात् यहाँ अनियतयोगा (जिसका सम्बन्ध नियत नहीं) षष्ठी है। सो यहाँ षष्ठी स्थानेयोगा परिभाषा सूत्र से स्थानेयोगा षष्ठी हो गई। तब 'अस्तेर्भूः' का अर्थ हो गया—"अस् के स्थान में भू आदेश होता है, आर्धधातुक विषय में"। यही इस सूत्र का प्रयोजन है ॥

(१) भविता (होनेवाला)

अस् — भूवादयो० (१।३।१), आर्धधातुके (२।४।३५), अस्तेर्भूः (२।४।५२), षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से अस् के स्थान में आर्धधातुक का विषय आगे उपस्थित होगा ऐसा मानकर भू आदेश प्राप्त हुआ। पर यह भू अस् के कहाँ पर हो ? इसका निर्णय अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) ने किया कि सम्पूर्ण के स्थान में हो।

भू — अब यह भू तो धातु नहीं, यह तो आदेश है। सो धातोः (३।१।९१) के अधिकार में कहे प्रत्यय कैसे हों ? तब स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५५) लगा, इससे स्थानिवत् होकर 'भू' आदेश 'अस्' के समान ही धातु माना गया। पुनः ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से तृच् प्रत्यय हुआ।

भू तृच् = तृ — आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम होकर—

भू इट् तृ — शेष सिद्धि परि० १।१।२ के भविता के समान होकर—

भविता — बना ॥

वन ए	अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

वने	बना ॥

कुण्डानि, वनानि की सिद्धि परि० १।१।४१ में देखें। यशांसि (बहुत से यश), पयांसि (बहुत से दूध) की सिद्धि में भी यशस् पयस् शब्द से जस् आकर 'कुण्डानि' के समान ही नुम् आगम प्राप्त हुआ। सो वह नुम् अन्त्य अच् से परे होकर—यश नुम् स् जस्, पय नुम् स् जस् रहा। जस् को शि जश्शसोः शिः (७।१।२०) से होकर, तथा दीर्घ भी सान्तमहतः० (६।४।१०) से होकर—यशान्स् इ, पयान्स् इ रहा। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'न्' को अनुस्वार होकर—यशांसि पयांसि बन गया ॥

—:o:—

परि० एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७)

अतिरि कुलम् (जिस कुल ने धन का उल्लङ्घन किया है)

अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—

रै अम् अति सु	अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (वा० २।२।१८), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

रैअति	प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३), उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)।

अतिरै	ह्रस्वो नपुंसके प्राति० (१।२।४७), अचश्च (१।२।२८) से अजन्त नपुंसक लिङ्ग 'ऐ' को ह्रस्व प्राप्त हुआ। पर एच् के तो ह्रस्व वर्ण होते नहीं, उसे क्या ह्रस्व हो? स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) परिभाषा के अनुसार ए ऐ के स्थान में कण्ठ्य अ तथा तालव्य इ प्राप्त हुए। इसी प्रकार ओ औ के स्थान में भी कण्ठ्य अ तथा ओष्ठ्य उ प्राप्त हुए। तब एच इग्घ्रस्वादेशे परिभाषा सूत्र ने नियमरूप से निर्णय किया कि एच् को ह्रस्वादेश करने में इक् ही ह्रस्व हो, अन्य (अर्थात् अकार) नहीं। अतः 'ऐ' को 'इ' होकर पूर्ववत् सु आया—

अतिरि सु	स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से लुक्, प्रत्ययस्य० (१।१।६०)।

अतिरि कुलम् बना ॥

इसी प्रकार नावम् अतिक्रान्तं यत् कुलम्=अतिनु कुलम् (जिस कुल ने नौका विहार का अतिक्रमण कर दिया है) की सिद्धि भी जानें। 'औ' को 'उ' ह्रस्व स्थानेऽन्त० (१।१।४९) लगकर पूर्ववत् हुआ है ॥

गो: समीपम् उपगु (गाय के समीप), यहाँ पर 'गो ङस् उप सु' इस अवस्था में अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) से समास, तथा सुप् का लुक् पूर्ववत् होकर—"उपगो" रहा। पूर्ववत् 'ओ' को 'उ' ह्रस्व हुआ। पुनः 'सु' की उत्पत्ति होकर, अव्ययीभावश्च (१।१।४०) से 'उपगु' की अव्यय संज्ञा होकर, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो गया है ॥

—:o:—

परि० षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)

सूत्र-प्रयोजन —भविता (होनेवाला), यहाँ आर्धधातुक-विषय में तृच् को मानकर अस्' धातु को अस्तेर्भूः (२।४।५२) से भू आदेश होता है। 'अस्तेः' षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप है। षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध सामान्य 'का, के, की' होता है। पर यहाँ तो "अस्ति का भू होता है" ऐसा कहने से कुछ पता नहीं लगता कि "अस्ति का भू" क्या है ? अर्थात् यहाँ अनियतयोगा (जिसका सम्बन्ध नियत नहीं) षष्ठी है। सो यहाँ षष्ठी स्थानेयोगा परिभाषा सूत्र से स्थानेयोगा षष्ठी हो गई। तब 'अस्तेर्भूः' का अर्थ हो गया—"अस् के स्थान में भू आदेश होता है, आर्धधातुक विषय में"। यही इस सूत्र का प्रयोजन है ॥

(१) भविता (होनेवाला)

अस् — भूवादयो० (१।३।१), आर्धधातुके (२।४।३५), अस्तेर्भूः (२।४।५२), षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से अस् के स्थान में आर्धधातुक का विषय आगे उपस्थित होगा ऐसा मानकर भू आदेश प्राप्त हुआ। पर यह भू अस के कहाँ पर हो ? इसका निर्णय अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) ने किया कि सम्पूर्ण के स्थान में हो।

भू — अब यह भू तो धातु नहीं, यह तो आदेश है। सो धातोः (३।१।९१) के अधिकार में कहे प्रत्यय कैसे हों ? तब स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५५) लगा, इससे स्थानिवत् होकर 'भू' आदेश 'अस्' के समान ही धातु माना गया। पुनः ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से तृच् प्रत्यय हुआ।

भू तृच् = तृ — आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम होकर—

भू इट् तृ — शेष सिद्धि परि० १।१।२ के भविता के समान होकर—

भविता — बना ॥

(२) भवितुम् (होने के लिये)

इसी प्रकार भवितुम् यहाँ भी पूर्ववत् ही सब होकर समानकर्तृकेषु तुमुन् (३।३।१५८) से तुमुन् प्रत्यय होकर—भू इट् तुमुन्='भो इ तुम् सु' रहा। कृन्मेजन्तः (१।१।३८) से तुमुन् की अव्यय संज्ञा, एवं सु का लुक् होकर भवितुम् बन गया ॥

भवितव्यम् में भी पूर्ववत् अस् को भू आदेश होकर—तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६) से तव्य प्रत्यय हुआ है। पश्चात् सु को अतोऽम् (७।१।२४) से अम् होकर 'भवितव्यम्' (होना चाहिये) की सिद्धि जानें ॥

(३) वक्ता (बोलनेवाला)

इसी प्रकार ब्रुवो वचिः (२।४।५३) में 'ब्रुवः' में अनियतयोगा षष्ठी है। सो स्थानेयोगा षष्ठी प्रकृत सूत्र से हो गई। तब "ब्रूञ् के स्थान में वच् आदेश हो, आर्धधातुक विषय में" ऐसा अर्थ होने से ब्रूञ् को वच् आदेश होकर, पूर्ववत् वक्ता (बोलनेवाला), वक्तुम् (बोलने के लिये), वक्तव्यम् (बोलना चाहिये) बन गये। चोः कुः (८।२।३०) से च् को क् सर्वत्र यहाँ हुआ है, यही विशेष है ॥

(४) दध्यत्र (दधि यहाँ)

इको यणचि (६।१।७४), यहाँ भी इकः में स्थानेयोगा षष्ठी होकर—दधि+अत्र=दध्यत्र, यहाँ 'इ' के स्थान में 'य्'; मधु+अत्र=मध्वत्र, यहाँ 'उ' के स्थान में 'व्'; पितृ+अर्थम्=पित्रर्थम्, यहाँ 'ऋ' के स्थान में 'र्', तथा लृ+आकृतिः=लाकृतिः यहाँ, लृ' के स्थान में 'ल्' हो जाता है ॥

—:०:—

परि० स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)

सूत्र-प्रयोजन—जहाँ एक ही स्थानी (=जिसके स्थान में आदेश हो) के स्थान में कई आदेश प्राप्त हों, वहाँ कौनसा आदेश उस स्थानी को हो, इसका निर्णय प्रकृत सूत्र करता है कि स्थान में सदृशतम=अत्यन्त मिलता-जुलता आदेश हो। यह समानता ४ प्रकार की होती है—(१) स्थानकृत, (२) अर्थकृत, (३) गुणकृत, (४) प्रमाणकृत ॥

(१) स्थानकृताऽन्तर्यं - दण्ड+अग्रम्=दण्डाग्रम्; दधि+इदम्=दधीदम्; भानु+उदयः=भानूदयः, यहाँ सर्वत्र अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ

एकादेश प्राप्त होने पर आ, ई, ऊ आदि में से कोई भी अक्षर दीर्घ हो सकता था। पर स्थानेऽन्तरतमः ने बताया कि स्थान में अत्यन्त मिलता-जुलता दीर्घ हो। सो 'अ' को आ, 'इ' को ई, और 'उ' को ऊ ही मिलता-जुलता दीर्घ हुआ ॥

अभवताम् (वे दोनों हुये)

(२) अर्थकृताऽन्तर्ये—

भू — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अनद्यतने लङ् (३।२।१११)।

भू लङ् — पूर्ववत् आदेश तस् हुआ।

भू तस् — अङ्ग संज्ञा होकर, लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व० (६।४।७१), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

अट् भू तस् — तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।

अट् भू शप् तस् — पूर्ववत् सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण, तथा एचोऽयवा० (६।१।७५) लगकर—

अ भव् अ तस् — तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) से ताम्, तम्, आदि आदेश प्राप्त हुये। सो कौनसा हो, तब प्रकृत सूत्र ने अर्थकृत आन्तर्य से जिस अर्थ का बोधक स्थानी है, उसी अर्थ का बोध करानेवाला आदेश प्राप्त कराया। अर्थात् यहाँ 'तस्' प्रथमपुरुष द्विवचन का बोधक है, सो प्रथम पुरुष द्विवचन का बोधक 'ताम्' आदेश होकर—

अभवताम् — बना ॥

वातण्ड्ययुवतिः (वतण्ड व्यक्तिविशेष की युवती पौत्री)

वतण्डी चासौ युवतिश्च—

वतण्ड — अर्थवदधा० (१।२।४५) इत्यादि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

वतण्ड ङस् — समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), वतण्डाच्च (४।१।१०८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से वतण्ड का जो स्त्री अपत्य (अर्थात् पौत्री) इस अर्थ में यञ् प्रत्यय आया।

वतण्ड ङस् यञ् — कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।

वतण्ड यञ् — लुक् स्त्रियाम् (४।१।१०९) से यञ् का लुक्।

वतण्ड — स्त्रियाम् (४।१।३), शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् (४।१।७३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

वतण्ड ङीन्=ई   यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर—

वतण्ड् ई   =वतण्डी बना ॥

वतण्डी   अब 'वतण्डी' शब्द का 'युवति' शब्द के साथ कर्मधारयसमास किया, तो

वतण्डी सु युवति सु   पोटायुवतिस्तोककतिपय० (२।१।६४), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), तत्पुरुषः समाना० (१।२।४२)।

वतण्डीयुवति   अब पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु० (६।३।४०) से वतण्डी को पुंवद्भाव, अर्थात् पुंल्लिङ्ग के समान रूप पाया। सो वतण्डी को 'वतण्ड' शब्द भी पुंवद्भाव होकर हो सकता है। पर स्थानेऽन्तरतमः लगाकर अर्थकृत आन्तर्य से जिस प्रकार वतण्डी अपत्य अर्थ का बोधक है, उसी प्रकार पुंवद्भाव आदेश भी अपत्य अर्थ का बोध करानेवाले शब्द को हुआ। अपत्य अर्थ का बोधक "वातण्ड्य" शब्द है, न कि वतण्ड। सो वातण्ड्य शब्द ही पुंवद्भाव होकर आया।

वातण्ड्ययुवति पूर्ववत् 'सु' आकर, एवं विसर्जनीय होकर—

वातण्ड्ययुवतिः बना ॥

(३) गुणकृतान्तर्य—भागः यागः त्यागः, यहाँ सर्वत्र घञ् प्रत्यय के परे रहते भज् यज् त्यज् इन धातुओं के 'ज्' को जब चजोः कु० (७।३।५२) से कु=कवर्गादेश करने लगे, तो कवर्ग के ५ अक्षरों में से कौन अक्षर हो ? तो स्थानेऽन्तरतमः ने बताया कि अत्यन्त मिलता-जुलता ही आदेश हो। सो यहाँ गुणकृत आन्तर्य से जिस प्रकार 'ज्' अल्पप्राण (देखो—वर्णो० ६२, एकेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः), तथा घोष-गुणवाला (देखो—वर्णो० ६३, वर्गाणाम्०) है, उसी प्रकार अल्पप्राण एवं घोष गुण-वाला 'ग्' हो गया, अन्य क् घ् आदि वर्ण नहीं हुए। क्योंकि उनके साथ 'ज्' के पूरे-पूरे गुण नहीं मिलते थे। 'क्' केवल अल्पप्राण था, घोष नहीं था। 'घ्' केवल घोष था अल्पप्राण नहीं था। अतः 'ज्' के साथ ग् का ही गुण अत्यन्त मिल रहा था, सो वही हो गया। शेष सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ॥

(४) प्रमाणकृतान्तर्य—प्रमाणकृत आन्तर्य का अभिप्राय यह है कि जहाँ जिस प्रमाणवाला (=एकमात्रिक द्विमात्रिक आदि) स्थानी हो, वहाँ उसी प्रमाणवाला आदेश भी हो। यथा—'अमुष्मै' यहाँ एकमात्रिक प्रमाणवाले अकार के स्थान में एकमात्रिक ही उकार अदसोऽसे० (८।२।८०) से होकर 'अमुष्मै' बना। तथा 'अमू-भ्याम्' यहाँ द्विमात्रिक आकार को द्विमात्रिक ही ऊकार होकर 'अमूभ्याम्' बना है ॥

अमुष्मै (उस के लिये)

अदस् परि० १।१।१२ के 'अमी' के समान सब कार्य होकर—

अद ङे सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४), सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६)।

अद स्मै अदसोऽसेर्दादु दो मः (८।२।८०) से 'द' को 'म', तथा द् से उत्तर अवर्ण को उवर्णादेश प्राप्त हुआ। अणुदित्सवर्णस्य० (१।१।६८) से उकार के सवर्ण दीर्घ का भी ग्रहण होकर अकार के स्थान में ह्रस्व दीर्घ दोनों प्रकार के 'उ' पाये। तब स्थानेऽन्तरतमः ने निर्णय किया कि अकार के स्थान में सदृशतम उवर्ण हो। यहाँ अकार के साथ उवर्ण का स्थान अर्थ एवं गुणकृत तो सदृशता है नहीं। सो प्रमाणकृत सादृश्य को लेकर एकमात्रिक अकार को एकमात्रिक ह्रस्व 'उ' हो गया।

अमुस्मै आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

अमुष्मै बना॥

अमूभ्याम् (उन दोनों के लिये)

'अमूभ्याम्' यहाँ भी पूर्ववत् सब होकर 'अद+भ्याम्' रहा। सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ होकर 'अदाभ्याम्' रहा। अब यहाँ जब पूर्ववत् आकार को उवर्ण होने लगा, तो ह्रस्व दीर्घ में से कौनसा 'उ' हो, ऐसा सन्देह होने पर प्रकृत सूत्र ने प्रमाणकृत आन्तर्य से दीर्घ आ के स्थान में दीर्घ 'ऊ' आदेश कर दिया, तो 'अमूभ्याम्' बन गया॥

—:०:—

परि० उरण् रपरः (१।१।५०)

कारकः, हारकः, कर्त्ता, हर्त्ता की सिद्धि परि० १।१।१,२ में देखें। वहाँ भली प्रकार उरण् रपरः की आवश्यकता समझाई है॥

(१) किरति (बिखेरता है)

कॄ विक्षेपे पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कॄ तिप् तुदादिभ्यः शः (३।१।७७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

कॄ श तिप् =कॄ अ ति। पूर्ववत् अङ्गसंज्ञा होकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ। सार्वधातुक० (१।२।४) से 'श' के ङित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। तब ऋत इद्धातोः (७।१।१००)

से ऋकारान्त अङ्ग को इकारादेश पाया। उरण्रपरः ने कहा कि यहाँ जो ऋकार को अण् (इ) हो रहा है, सो 'र' परे होकर—

किर् अ ति =किरति बन गया ॥

इसी प्रकार 'गृ निगरणे' धातु से गिरति (निगलता है) बनेगा ॥

(२) द्वैमातुरः (द्वयोः मात्रोरपत्यम्, दो माताओं का पुत्र)

द्वि ओस् मातृ ओस् तद्धितार्थोत्तर० (२।१।५०), कृत्तद्धित० (१।२।४६), तस्यापत्यम् (४।१।९२), मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः (४।१।११५) से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, तथा मातृ को उकारादेश प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम 'ऋ' को उकारादेश प्राप्त हुआ। अब उरण्रपरः से र् परे होकर, और सुपो धातु० (२।४।७१) से सुप् का लुक् होकर—

द्विमातुर् अ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), वृद्धिरादैच् (१।१।१)।

द्वैमातुर सु कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

द्वैमातुरः बना ॥

इसी प्रकार तिसृणां मातॄणामपत्यं त्रैमातुरः (तीन माताओं का पुत्र) भी बनेगा ॥

—:०:—

परि० अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)

(१) द्यौः (द्युलोक)

दिव् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दिव् सु दिव औत् (७।१।८४) से दिव् शब्द सारे को औकारादेश प्राप्त हुआ। तब अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य अल् 'व' को 'औ' हुआ।

दि औ सु इको यणचि (६।१।७४), तथा पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

द्यौ सु =द्यौः बना ॥

(२) सः (वह)

तद् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

तद् सु त्यदादीनामः (७।२।१०२), अलोऽन्त्यस्य लगकर—

त अ सु तदोः सः सावनन्त्ययोः (७।२।१०६)।

स अ सु — अतो गुणे (६।१।९४), अदेङ् गुणः (१।१।२)।
स सु — पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—
सः — बना ॥

(३) पञ्चगोणिः (पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः=पाँच गोणियों से खरीदा हुआ)

पञ्चन् भिस् गोणी भिस् — तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०), कृत्तद्धित० (१।२।४६), तेन क्रीतम् (५।१।३६), आर्हादगोपुच्छसंख्या० (५।१।१९), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१), नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) लगकर—

पञ्चगोणी ठक् — सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१), अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) से प्रत्यय का लुक् होकर—

पञ्चगोणी — लुक्तद्धितलुकि (१।२।४९) से, तद्धित प्रत्यय ठक् के लुक् होने पर स्त्रीप्रत्यय 'गोणी' के 'ई' का लुक् पाया। पर इद् गोण्याः (१।२।५०) ने कहा कि गोणी के स्त्रीप्रत्यय का लुक न होकर इकारादेश हो। अब यह 'इकार' कहाँ पर हो? इसका निर्णय अलोऽन्त्यस्य ने किया कि अन्तिम अल् को हो।

पञ्चगोण् इ — पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—
पञ्चगोणिः — बना ॥

—:०:—

परि० ङिच्च (१।१।५२)

नेता नेता की सिद्धि परि० १।१।२ में दिखा आये हैं। यहाँ ङिच्च का यही प्रयोजन है कि अनेकाल् होते हुए भी अनङ् अन्त्य अल् नेतृ के ऋकार के स्थान में होता है, अनेकाल्० (१।१।५४) से सब के स्थान में नहीं होता ॥

मातापितरौ (माता च पिता च=माता और पिता)

मातृ सु पितृ सु — चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१)।

मातृपितृ — आनङ् ऋतो द्वन्द्वे (६।३।२३) से उत्तरपद परे रहते आनङ् आदेश मातृ शब्द को प्राप्त हुआ। ङिच्च ने कहा कि ङित् होने से अन्तिम अल् को हो। ऋकार को आनङ् आदेश होकर—

मात् आनङ् पितृ =मातानपितृ, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) लगकर—

मातापितृ औ पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा, तथा सुडनपुंसकस्य (१।१।४२) से सर्वनामस्थान संज्ञा होकर, ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (७।३।११०) से ऋकारान्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। उरण्रपरः (१।१।५०) अदेङ् गुणः (१।१।२) से 'अर्' होकर—

मातापितर् औ =मातापितरौ बना॥

इसी प्रकार होता च पोता च होतापोतारौ (होता और पोता, यह दोनों ऋत्विग् विशेष की संज्ञा हैं) की सिद्धि भी जानें॥

—:०:—

परि० आदेः परस्य (१।१।५३)

(१) आसीनः (बैठा हुआ)

आस् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३)।

आस् लट् अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आस् के अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदसंज्ञक ही प्रत्यय प्राप्त हुये। सो तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) से आत्मनेपदसंज्ञक 'शानच्' आदेश लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३।२।१२४) से लट् के स्थान में हुआ। अनेकाल्० (१।१।५४) लगकर—

आस् शानच् तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

आस् शप् शानच् अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक् हो गया।

आस् शानच् =आन अब यहाँ ईदासः (७।२।८३) से आस् से ईत् आदेश प्राप्त हुआ। तब तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) ने कहा कि "पञ्चमीनिर्दिष्ट कार्य उत्तर को हो"। सो ईदासः में आसः में पञ्चमी विभक्ति होने से उससे उत्तर आन को ईत् प्राप्त हुआ। फिर भी यह ईत् 'आन' के अन्त्य अल के स्थान में प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र आदेः परस्य ने कहा कि पर=उत्तर को कहा हुआ कार्य उसके आदि अक्षर को हो। तब आन के आदि 'आ' को 'ई' होकर—

आस् ईन पूर्ववत् कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि लगकर—

आसीन सु रुत्व विसर्जनीय होकर—

आसीनः बना॥

(२) द्वीपम् (द्विर्गता आपो यस्मिन्=जिसमें दोनों ओर पानी हो)

द्वि औ अप् जस् अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१)।

द्विअप् समासान्ताः (५।४।६८), ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ।

द्विअप् अ द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् (६।३।९५) से ईत् आदेश प्राप्त हुआ। सो पूर्ववत् द्वि से उत्तर अप् के अन्त्य अल् को 'ईत्' प्राप्त हुआ। परन्तु आदेः परस्य ने कहा कि 'अप्' के आदि अक्षर को हो। तब ईत् होकर—

द्विईप् अ अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ, तथा पूर्ववत् सु आकर—

द्वीप सु अतोऽम् (७।१।२४), अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

द्वीपम् बना॥

इसी प्रकार अन्तर्गता आपो यस्मिन्=अन्तरीपम् (जिस में पानी अन्दर तक चला गया है); समुद्गता आपो यस्मिन्=समीपम् (जहाँ पानी मिल जाता है) की सिद्धि भी जानें॥

—:०:—

परि० अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४)

भविता, भवितुम्, भवितव्यम् की सिद्धि परि० १।१।४८ में देखें। अस्तेर्भूः (२।४।५२) से हुआ 'भू' आदेश अनेकाल् होने से सारे अस् के स्थान में होता है, यही इस सूत्र का प्रयोजन है॥

पुरुषैः (सब पुरुषों के द्वारा)

पुरुष पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पुरुष भिस् यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), अतो भिस ऐस् (७।१।९) से भिस् को ऐस् आदेश प्राप्त हुआ। अनेकाल्शित् सर्वस्य से सारे भिस् के स्थान में ऐस् हो गया।

पुरुष ऐस् वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हुआ।

पुरुषैस् पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—

पुरुषैः बना॥

कुण्डानि, वनानि की सिद्धि परि० १।१।४१ में देखें। यहाँ जश्शसोः शिः (७।१।२०) से 'शि' आदेश शित् होने से प्रकृत सूत्र से सारे जस् शस् के स्थान में होता है, यही प्रयोजन है ।।

—:०:—

परि० स्थानिवदादेशो० (१।१।५५)

(१) धातु का आदेश धातुवत्—

भविता, भवितुम्, भवितव्यम्; वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् इनकी सिद्धियाँ परि० १।१।४८ में दिखाई जा चुकी हैं। प्रकृत सूत्र का प्रयोजन यहाँ यह है कि—अस् धातु को हुआ अस्तेर्भूः (२।४।५२) से भू आदेश स्थानिवत् अर्थात् अस् के समान ही धातुवत् माना जाता है। विदित रहे कि अस् के स्थान में हुआ 'भू' धातुपाठ में पढ़े हुए 'भू सत्तायाम्' से पृथक् है। अब इस 'भू' के धातुवत् माने जाने से धातु के अधिकार में कहे हुये प्रत्यय, जिस प्रकार धातु होने से 'अस्' से आ सकते हैं, उसी प्रकार 'भू' से भी आ सकते हैं। यही प्रयोजन प्रकृत सूत्र का है। इस प्रकार भू से तृच् तुमुन् आदि प्रत्यय होकर परि० १।१।४८ के समान सिद्धियाँ हुईं। यही प्रक्रिया वक्ता वक्तुम् में जानें ।।

केन (किसके द्वारा)

(२) अङ्ग का आदेश अङ्गवत्—

किम्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
किम् टा	यस्मात् प्रत्ययविधिस्त० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), किमः कः (७।२।१०३) से किम् अङ्ग को 'क' आदेश हुआ।
क टा	अब यहाँ 'क' की अङ्ग संज्ञा करके टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) से अदन्त अङ्ग से उत्तर 'टा' को 'इन' आदेश करना है। पर यहाँ टा प्रत्यय की विधि तो 'किम्' शब्द से हुई है। तो उसी की अङ्ग संज्ञा होगी, 'क' की तो हो नहीं सकती। तब स्थानिवदादेशो० ने कहा कि 'स्थानिवत् हो जाये'। सो किम् अङ्ग का आदेश 'क' अङ्गवत् माना गया। तो टा को 'इन' आदेश पूर्ववत् हो गया। अनेकाल्० (१।१।५४)।
क इन	आद् गुणः (६।१।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—
केन	बना ।।

इसी प्रकार काम्यां कैः, यहाँ भी पूर्ववत् स्थानिवत् कार्य समझें। काम्यां की सिद्धि परि० १।१।२० के ग्राम्यां के समान, तथा कैः की सिद्धि परि० १।१।५४ के पुरुषैः के समान जानें ॥

प्रकृत्य (अच्छी प्रकार करके)

(३) कृत् का आदेश कृत्वत् ; (४) अव्यय का आदेश अव्ययवत् —

डुकृञ् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

प्र कृ — धातोः (३।१।९१), समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१)।

प्र कृ क्त्वा=त्वा — कुगतिप्रादयः (२।२। ८) से 'कृत्वा', तथा 'प्र' का समास हो गया।

प्रकृत्वा — समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७।१।३७) से 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' आदेश हुआ। षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)।

प्र कृ ल्यप् =य — अब ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६९) से ह्रस्व 'कृ' को पित् कृत् परे रहते तुक् आगम पाया। पर यहाँ ल्यप् पित् तो है, पर कृत् नहीं है। क्योंकि धातु के अधिकार में ३।४।११७ तक कहे प्रत्यय ही कृदतिङ् (३।१।९३) से कृत्-संज्ञक होते हैं। सो 'क्त्वा' कृत् था, पर ल्यप् नहीं है। तब प्रकृत सूत्र से 'क्त्वा' कृत् का आदेश 'ल्यप्'स्थानिवत् होकर कृतवत् माना गया। तो तुक् आगम ह्रस्वस्य० (६।१।६९) से हो गया। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

प्र कृ तुक् य — पुनः पूर्ववत् स्थानिवत् से ल्यप् को कृत् मानकर कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। सो पूर्ववत् सु आ गया।

प्रकृत्य सु — अब यहाँ पुनः 'क्त्वा' प्रत्यय का आदेश अव्ययवत् स्थानिवदादेशो० से माना जाकर, 'ल्यप्' की अव्यय संज्ञा क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३९) से मानी गयी। तो अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)से सु का लुक् होकर—

प्रकृत्य — बना। इस प्रकार अव्यय तथा कृत् दोनों का यह उदाहरण है ॥

इसी प्रकार प्रहृत्य (प्रहार करके) की सिद्धि जानें ॥

दाधिकम् (दध्नि संस्कृतम्=दही में संस्कृत किया हुआ)

(५) तद्धित का आदेश तद्धितवत् —

दधि ङि — पूर्ववत् सब होकर, समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२) दध्नष्ठक् (४।२।१७), संस्कृतं भक्षाः (४।२।१५)।

दधि ङि ठक्	कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१)।
दधि ठक्=ठ	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर ठस्येक (७।३।५०) से 'ठ' को 'इक' आदेश होकर—
दधि इक	अब यहाँ किति च (७।२।११८) से कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि पाई। पर यहां ठक् तो तद्धिता: (४।१।७६) से तद्धित था, 'इक' तो तद्धित नहीं है। तब स्थानिवदादेशो०से स्थानिवत् होकर 'इक' भी तद्धितवत् माना गया। सो वृद्धि हो गई।
दाधि इक	यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), यस्येति च (६।४।१४८)।
दाध् इक	दाधिक के 'इक' के तद्धितवत् होने से कृत्तद्धित० (१।२।४६) से दाधिक की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। पूर्ववत् 'सु' आकर, अतोऽम् (७।१।२४) से सु को अम् हो गया।
दाधिक अम्	अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—
दाधिकम्	बना ॥

शालीयः, यहाँ भी छः के स्थान में हुआ 'ईय्' स्थानिवत् होकर तद्धित माना जाता है। सो कृत्तद्धित० (१।२।४६) से तद्धितान्त मानकर प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है। पूरी सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ॥

अद्यतनम् (आज का)

अद्य	सद्यःपरुत्परा० (५।३।२२), कृत्तद्धित० (१।२।४६), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युटयुलौ० (४।३।२३) से 'ट्यु' प्रत्यय तथा तुट् का आगम हुआ।
अद्य तुट् ट्यु	पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, तथा अङ्ग संज्ञा होकर—
अद्य त् यु	युवोरनाको० (७।१।१) से यु को अन आदेश हुआ।
अद्य त् अन	पूर्ववत् 'अन' को स्थानिवत् करके 'यु' के समान तद्धित माना गया, तो कृत्तद्धित० (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। पूर्ववत् सु आकर, एवं सु को अम् होकर—
अद्यतनम्	बन गया ॥

पुरुषाय (एक पुरुष के लिये)

(६) सुप् का आदेश सुप्वत्—

पुरुष	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पुरुष ङे ङेर्यः (७।१।१३), षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)।

पुरुष य पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर सुपि च (७।३।१०२) से यञादि सुप् परे रहते दीर्घ प्राप्त हुआ। यहाँ ङे तो सुप् था, पर 'य' तो सुप् नहीं था। सो स्थानिवदादेशो० से स्थानिवत् होकर सुप् का आदेश सुप्-वत् माना गया। तब दीर्घ होकर—

पुरुषाय बन गया॥

इसी प्रकार वृक्षाय (एक वृक्ष के लिये) की सिद्धि जानें॥

अकुरुताम् (उन दोनों ने किया)

(७) तिङ् का आदेश तिङ्वत्—

डुकृञ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), अनद्यतने लङ् (३।२।१११):

कृ लङ् पूर्ववत् लङ् लकार के सारे सूत्र लगकर—

अट् कृ शप् तस् तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९), से शप् का अपवाद 'उ' होकर—

अ कृ उ तस् तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) से तस् को ताम् हुआ।

अ कृ उ ताम् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुकार्धधा० (७।३।८४), उरण्रपरः (१।१।५०), अदेङ् गुणः (१।१।१)।

अकर् उ ताम् अब यहाँ अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०) से सार्वधातुक परे रहते कर् के 'अ' को उकारादेश प्राप्त हुआ। पर यहाँ 'ताम्' के तिङ् या शित् न होने से सार्वधातुक संज्ञा नहीं है। तस् तो तिङ् होने से सार्वधातुक था। तब स्थानिवदादेशो० से 'ताम्' स्थानिवत् होकर तस् के समान ही तिङ्वत् माना गया। अतः सार्वधातुक संज्ञा होकर उकारादेश हो गया। सो—

अकुरुताम् बना॥

ग्रामो वः स्वम् (ग्राम तुम्हारी सम्पत्ति है)

(८) पद का आदेश पदवत्—

ग्रामो युष्माकं स्वम् बहुवचनस्य वस्नसौ (८।१।२१)।

ग्रामो वस् स्वम् अब यहाँ ससजुषो रुः (८।२।६६) से पद के स् को रु पाया। पर वस् तो यहाँ सुबन्त न होने से पद है नहीं। युष्माकम् तो पद था, तब स्थानिवदादेशो० से वस् को स्थानिवत् होकर

पद के समान माना गया। अतः स् को 'रु' तथा पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—

ग्रामो वः स्वम् बना ॥

इसी प्रकार ग्रामो नः स्वम् (ग्राम हमारी मिल्कियत है) में भी अस्माकम् के स्थान में पूर्ववत् 'नस्' आदेश, तथा स्थानिवत् मानकर रुत्वादि कार्य हुये हैं ॥

(१) 'अलः विधिः'=अल् से परे विधि के उदाहरण—

अब यहाँ 'अलः विधिः'=अल् से परे विधि में कैसे स्थानिवत् नहीं होता, यह बताने के लिये द्यौः पन्थाः सः की सिद्धि दिखाते हैं। यद्यपि यह द्वितीयावृत्ति का विषय है, तथापि आगे अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) सूत्र समझने के लिये यह समझना आवश्यक है। अतः इन को भी प्रदर्शित करते हैं ॥

(क) द्यौः (द्युलोक)

द्यौः की सिद्धि हम परि० १।१।५१ में दिखा चुके हैं। यहाँ दिव् के वकार के स्थान में सु परे रहते दिव औत् (७।१।८४) से 'औ' आदेश होता है। अब यदि यह औकारादेश स्थानिवत् होकर 'व्' माना जाये, तो हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से हलन्त से उत्तर मानकर 'सु' का लोप होने लगेगा। तो द्यौः रूप न बनकर 'द्यौ' अनिष्ट रूप बनेगा। सो आगे 'अनल्विधौ' से स्थानिवत् का निषेध, 'हल्ङ्याब्भ्यः' में पञ्चमी विभक्ति होने के कारण अलः विधि=अल् से परे विधि मानकर हो गया। तब हलन्त से उत्तर सु न होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ। और रुत्व विसर्जनीय होकर द्यौः रूप बना ॥

(ख) पन्थाः (एक मार्ग)

'अलः विधिः' का दूसरा उदाहरण—

पथिन् पूर्ववत् 'सु' विभक्ति आकर—

पथिन् सु पथिमथ्यृभुक्षामात् (७।१।८५), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से नकार के स्थान में आकारादेश हुआ।

पथि आ सु अब यदि यहाँ 'आ' स्थानिवत् होकर 'न्' माना जावे, तो पूर्ववत् ही हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु का लोप होने लगेगा। पर यहाँ 'अलः विधिः' होने से स्थानिवत् का निषेध पूर्ववत् ही हो गया। और सु का लोप नहीं हुआ।

पथि आ सु — सुडनपुंसकस्य (१।१।४२), इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७।१।८६)।

पथ् अ आ सु — थोन्थः (७।१।८७) से थ् को 'न्थ' आदेश होकर--

पन्थ् अ आ सु — अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ होकर—

पन्थ् आ स् — पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर--

पन्थाः — बन गया ॥

(ग) सः (वह)

'अलः विधिः' का तृतीय उदाहरण—

तद् — पूर्ववत् 'सु' आकर—

तद् सु — त्यदादीनामः (७।२।१०२), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१।।)

त अ सु — अब यहाँ पूर्ववत् ही 'अ' को स्थानिवत् करके यदि 'द्' माना जावे, तो हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से 'सु' लोप होने लगे। पर यहाँ 'अलः विधिः' मानकर पूर्ववत् ही स्थानिवत् का निषेध हो गया। तब 'सु' का लोप नहीं हो सका।

त अ सु — तदोः सः सावनन्त्ययोः (७।२।१०६) से तकार के स्थान में सकार।

स अ स् — अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप, तथा पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर–

सः — बना ॥

(२) अलः विधिः=अल् के स्थान में विधि का उदाहरण—

द्युकामः (दिवि कामो यस्य सः =द्युलोक में कामना है जिसकी)

दिव् ङि काम सु — अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१)।

दिव् काम — दिव उत् (६।१।१२७), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से 'व' को 'उ' हुआ।

दि उ काम — यहाँ यदि वकार के स्थान में हुआ 'उ' स्थानिवत् से 'व्' माना जाये, तो लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'उ' का लोप पाता है। पर यहाँ 'व्यो.' में षष्ठी विभक्ति होने से अलः विधिः=अल् के स्थान में विधि है। सो स्थानिवत् का निषेध अनल्विधौ से हो गया। तब उकार का लोप नहीं हुआ। और इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर, पूर्ववत् सु आकर—

द्युकाम सु = स् — रुत्व विसर्जनीय होकर —

द्युकामः — बन गया ॥

(३) अलि विधिः=अल् को परे मानकर विधि का उदाहरण—

क इष्टः (कौन इष्ट है)

किम्　　पूर्ववत् सु आकर—

किम् सु　　किमः कः (७।२।१०३) से किम् को 'क' आदेश हुआ।

क सु　　पूर्ववत् स् को रुत्व हो गया।

क रु इष्टः　　इष्टः की सिद्धि हम परि० १।१।४४ में दिखा आये हैं। यहाँ स्थानिवत् से इष्टः के 'इ' को 'य्' माना गया, तो हश् परे होने से हशि च (६।१।११०)) से 'रु' को 'उ' होने लगा। पर "हशि" में सप्तमी विभक्ति होने से यहाँ 'अलि विधि'=अल् को परे मानकर विधि है। अतः अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो 'रु' को 'उ' नहीं हुआ।

कर इष्टः　　अब भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि (८।३।१७) से 'र्' को य् होकर—

कय् इष्टः　　लोपः शाकल्यस्य (८।३।१६) से य् का लोप होकर—

क इष्टः　　बना॥

(४) अला विधिः=अल् के कारण विधि का उदाहरण—

महोरस्केन (महत् उरो यस्य तेन=महान् है छाती जिसकी, उसके द्वारा)

महत् सु उरस् सु　　अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

महत् उरस्　　उरः प्रभृतिभ्यः कप् (५।४।१५१) से समासान्त कप् प्रत्यय हुआ।

महत् उरस् कप्　　आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः (६।३।४४), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से त् का आकार होकर—

मह आ उरस् क　　अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।६७), आद् गुणः (६।१।८४)।

महोरसक　　पूर्ववत् स् को रुत्व विसर्जनीय होकर, पुनः सोऽपदादौ (८।३।३८) से विसर्जनीय के स्थान में स् हुआ। पूर्ववत् टा विभक्ति आकर—

महोरस्क टा　　पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) से टा के स्थान में 'इन' आदेश हुआ।

महोरस्क इन　　पुनः आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—

महोरस्केन　　बना यहाँ यदि विसर्जनीय के स्थान में सोऽपदादौ (८।३।३८) से

हुआ सकार स्थानिवत् होकर विसर्जनीय माना जावे, तो अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२)से 'न्' को 'ण्' पाता है। क्योंकि भाष्य-वचन से अयोगवाह (विसर्जनीयादि) भी प्रत्याहारों में आते हैं। सो अट् प्रत्याहार में विसर्जनीय के माने-जाने से णत्व पाया। पर यहाँ 'विसर्जनीय-अल् का व्यवधान मानकर णत्वविधि है। अतः 'अला विधिः' होने से अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध हो गया। अर्थात् 'स्' को विसर्जनीय नहीं माना गया। सो णत्व भी नहीं हुआ, और इष्ट रूप—

महोरस्केन बन गया ॥

इसी प्रकार व्यूढोरस्केन (चौड़ी है छाती जिसकी, उसके द्वारा) की सिद्धि भी जानें ॥

यहाँ तक अल्विधि के चारों प्रकार के उदाहरण समाप्त हुए ॥

—:o:—

परि० अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६)

(१) पटयति (पटुमाचष्टे=कुशल को कहता है)

पटु — अर्थवदधातुर० (१।२।४५) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर, पूर्ववत् द्वितीया का एकवचन अम् आकर, तत्करोति तदाचष्टे (वा० ३।१।२६) इस वार्त्तिक से णिच् प्रत्यय हुआ।

पटु अम् णिच् — सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से णिच्प्रत्ययान्त की धातु संज्ञा, तथा सुपो धातु० (२।४।७१) से अम् का लुक् होकर, णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य (वा० ६।४।१५५) इस वार्त्तिक से णि के परे रहते इष्ठन्वत् कार्य, अर्थात् जिस प्रकार इष्ठन् के परे रहते टेः (६।४।१५५) से टि भाग का लोप होता है, उसी प्रकार यहाँ हो गया।

पट् इ — अब यहाँ अत उपधायाः (७।२।११६) से णित् 'इ' को निमित्त मान कर उपधा अकार 'प' के 'अ' को वृद्धि प्राप्त हुई। पर स्थानिवदादेशो० (१।१।५६) से उकार जो लुप्त हुआ था, उसके स्थानिवत् हो जाने से 'अकार' उपधा न होकर 'टकार' हुआ, तो वृद्धि न हो सकी। पश्चात् अनल्विधौ से अलः (६।१) विधिः होने के कारण स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो पुनः अकार के उपधा होने से

वृद्धि प्राप्त होकर 'पाटयति' अनिष्ट रूप बनने लगा। तब अचः परस्मिन् पूर्वविधौ सूत्र ने कहा कि—'यहां परनिमित्तक (णिच् को निमित्त मानकर) अच् के स्थान में हुआ आदेश (उकार का लोप) है। तथा पूर्व को विधि (वृद्धि) करनी है, अतः यहां अनल्विधौ निषेध न लगकर स्थानिवत् हो जाये'। सो स्थानिवत् हो जाने से पूर्ववत् ही वृद्धि न हो सकी।

पटि] 'पटि' की धातु संज्ञा होने से पूर्ववत् सब सूत्र लगकर शप् तिप् आये।

पटि शप् तिप् सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से शप् को निमित्त मानकर गुण हुआ।

पटे अ ति एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—

पटयति बना ॥

इसी प्रकार लघु शब्द से लघुमाचष्टे=लघयति (छोटों को कहता है) की सिद्धि जानें ॥

(२) अवधीत् (उसने मारा)

हन् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), लुङ् (३।२।११०)।

हन् लुङ् लुङि च (२।४।४३) से हन् को 'वध' आदेश हुआ।

वध लुङ् शेष सारे कार्य परि० १।१।१ के अपठीत् के समान होकर—

अ वध इ सिच् ई त् आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से सिच् की आर्धधातुक संज्ञा हुई। आर्धधातुके (२।४।३५), आर्धधातुक विषय में अतो लोपः (६।४।४८) से वध के अन्त्य 'अ' का लोप हो गया।

अ वध् इ स् ई त् अब यहां भी पूर्ववत् ही अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से 'वध्' के अकार को वृद्धि पाई। पर स्थानिवदादेशो० से अकार के स्थानिवत् हो जाने से हलन्त अङ्ग नहीं रहा, सो वृद्धि अप्राप्त हो गई। पुनः अल् की विधि होने से स्थानिवत् का निषेध अनल्विधौ से पाया। तब प्रकृत सूत्र ने परनिमित्तक अजादेश होने के कारण (आर्धधातुक को निमित्त मानकर अकारलोप आदेश हुआ था) पूर्व-विधि (वृद्धि) करने में स्थानिवत् पुनः प्राप्त करा दिया। सो हलन्त अङ्ग न होने से वृद्धि न हो सकी। शेष परि० १।१।१ के अपठीत् के समान कार्य होकर—

अवधीत् बन गया ॥

(३) बहुखट्वकः (बहुत सी खाटें हैं जिस स्थान में)

बह्व्यः खट्वाः यस्मिन् प्रदेशे—

बह्वी जस् खट्वा जस्	अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), सुपो धातु० (२।४।७१), स्त्रियाः पुंवद्भाषित० (६।३।४२) से पुंवद्भाव हुआ।
बहुखट्वा	शेषाद्विभाषा (५।४।१५४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से समासान्त कप् प्रत्यय हुआ।
बहुखट्वा कप्	आपोऽन्यतरस्याम् (७।४।१५) से आबन्त अङ्ग को ह्रस्व होकर—
बहुखट्व क	अब यहाँ बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि (६।२।१७४) से उत्तरपद का बहुत्व अभिधेय होने पर नञ्वत् स्वर प्राप्त हुआ। अर्थात् जिस प्रकार ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम् (६।२।१७३) से ह्रस्वान्त उत्तरपद परे रहते अन्त्य से पूर्व को नञ् से उत्तर उदात्त कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी 'खट्व' ह्रस्वान्त पद को उत्तर मान कर अन्त्य से पूर्व 'ख' के 'अ' को उदात्त प्राप्त हुआ। पर स्थानिवदादेशो० से ह्रस्व आदेश स्थानिवत् होकर दीर्घ ही माना गया। तब ह्रस्वान्त उत्तरपद न मिलने से अन्त्य से पूर्व उदात्त न हो सका। प्रत्युत कपि पूर्वम् (६।२।१७२) से कप् से पूर्व 'ट्व' के 'अ' को उदात्त प्राप्त हुआ। पुनः अल् की विधि होने से अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध होकर, अन्त्य से पूर्व 'ख' के 'अ' को उदात्त पाया। तब अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ने पुनः परनिमित्तक अजादेश (कप् को मानकर ह्रस्व हुआ था) को पूर्व की विधि ('ख' के अ को उदात्त करने में) स्थानिवत् कर दिया। तब बहोर्नञ्व० (६।२।१७४) से नञ्वत् स्वर (अन्त्य से पूर्व को उदात्त) नहीं हुआ। और कपि पूर्वम् (६।२।१७२) से 'ट्व' के 'अ' को उदात्त हो गया।
बहुखट्व क	अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२) से अनुदात्त होकर, उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर स्वरित हो गया।

बहुखट्वक पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति एवं रुत्व विसर्जनीय होकर

बहुखट्वकः[1] बना ॥

—:o:—

परि० न पदान्तद्विर्वचन० (१।१।५७)

को स्तः (कौन दो हैं)

(१) पदान्तविधि—

अस भूवादयो० (१।३।१) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अस् शप् तस् अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्० (१।१।६०) ।

अस् तस् तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से तस् को ङित्वत् होकर श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) लगा ।

स् तस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

स्तः बना ॥

'किम्' शब्द को 'औ' विभक्ति के परे रहते किमः कः (७।२।१०३) से 'क' आदेश होकर 'कौ' रूप बना है ॥

कौ स्तः अब यहाँ यदि 'अस्' धातु के अकार का लोप स्थानिवत् हो जाये, तो एचोऽयवायावः (६।१।७५) से 'कौ' के 'औ' को आवादेश प्राप्त हो जाये । सो 'कावस्तः' रूप बनेगा, जो कि इष्ट नहीं है । तब आगे अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध अलि विधि मानकर हुआ । परन्तु इसके भी अपवाद सूत्र अचः परस्मिन्० (१।१।५६) सूत्र ने पुनः स्थानिवत् प्राप्त करा दिया, अतः फिर अनिष्ट रूप बनने लगा । तब न पदान्तद्विर्वचन० से यहाँ पदान्तविधि (सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४ से कौ की पद संज्ञा की थी, सो 'औ' पदान्त में था । अतः यहाँ पदान्त

---

१. विदित रहे कि अगला सूत्र न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर० स्वरविधि में स्थानिवत् का निषेध करता है । पर वह निषेध 'बहुखट्वकः' में इसलिये नही होता कि वहाँ वचन है कि—"स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवद् भवति" अर्थात् स्वर दीर्घ तथा यलोप विधियों में लोपरूपी अजादेश स्थानिवत् नही होता। अन्य अजादेश तो स्थानिवत् होंगे ही । सो यहाँ बहुखट्वकः में लोपः अजादेश नहीं है, अपितु ह्रस्व अजादेश है । अतः न पदान्तनिषेध० नहीं लगा ॥

विधि है) होने के कारण स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो अच् परे न होने से यणादेश नहीं हुआ। अतः—

को स्तः ही रहा ॥

इसी प्रकार यौ स्तः (जो दो हैं) में भी समझें। कानि सन्ति (कौन हैं), यानि सन्ति (जो हैं) में सन्ति के 'अ' का लोप पूर्ववत् हुआ है। यदि वह स्थानिवत् हो जाये, तो इको यणचि (६।१।७४) से कानि यानि के 'इ' को यणादेश होने लगे। प्रकृत सूत्र से पदान्तविधि में स्थानिवत् का निषेध हो जाने से यणादेश नहीं होता ॥

दद्ध्यत्र

(२) द्विर्वचनविधि —

दधि अत्र इको यणचि (६।१।७४), संहितायाम् (६।१।७०)।

दध्यत्र यहाँ अनचि च (८।४।४६) से अनच् 'य्' परे रहते 'ध्' को द्वित्व पाया। पर स्थानिवदादेशो० से स्थानिवत् होकर 'य्' 'इ' माना गया, तो अनच् परे न होने से द्वित्व नहीं हुआ। पुनः अनल्विधौ से अल्विधि मानकर स्थानिवत् का निषेध हो गया, तब पुनः द्वित्व पाया। तब अचः परस्मिन्० से पुनः स्थानिवत् हो गया, और द्वित्व की प्राप्ति नहीं हुई। अन्त में न पदान्तद्विर्वचन० से द्विर्वचनविधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो द्वित्व होकर—

दध्ध्यत्र झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर —

दद्ध्यत्र बना ॥

इसी प्रकार मद्ध्वत्र (शहद यहाँ) में भी जानें। सुधीभिरुपास्यः = सुद्ध्युपास्यः (विद्वानों के द्वारा उपासना के योग्य) में भी यही बात है ॥

यायावरः (घुमक्कड़, सानाबदोश)

(३) वरे-विधि—

या भूवादयो० (१।३।१), धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

या यङ् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), सन्यङोः (६।१।९), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।

या या यङ् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), ह्रस्वः (७।४।५९) ।

य या य दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से अभ्यास को पुनः दीर्घ हुआ ।

यायाय धातोः (३।१।९१), यस्च यङः (३।२।१७६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।

यायाय वरच् आर्धधातुके (६।४।४६), अतो लोपः (६।४।४८) ।

यायाय् वर लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'य्' का लोप होकर—

याया वर हुआ । अब यहाँ यङ् का लुप्त 'अ' स्थानिवत् हो गया, तो आतो लोप इटि च (६।४।६४) से अजादि ङित् परे रहते 'या' के 'आ' का लोप प्राप्त हुआ । अनल्विधौ ने अलि विधि होने से स्थानिवत् निषेध की प्राप्ति कराई । पर पुनः अचः परस्मिन्० से परनिमित्तक अजादेश (वरच् को मानकर अतो लोपः से अकारलोप हुआ था) होने से पूर्व की विधि में स्थानिवत् प्राप्त करा दिया । अन्त में न पदान्तद्विर्वचन-वरे० से वरे विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया, तो आकारलोप नहीं हुआ । कृत्तद्धित० (१।२।४६) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

यायावरः बना ।।

यह उदाहरण 'यलोप-विधि' का भी हो सकता है । कण्डूतिः उदाहरण के समान यहाँ घटालें ।।

कण्डूतिः (खाज, खुजली)

(४) यलोपविधि—

कण्डूञ् गात्रविघर्षणे भूवादयो० (१।३।१), कण्ड्वादिभ्यो यक् (३।१।२७) ।

कण्डू यक् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः (३।१।९१), क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (३।३।१७४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।

कण्डूय क्तिच् सार्वधातुकं० (३।४।११४), आर्धधातुके (६।४।४६), अतो लोपः (६।४।४८) ।

कण्डूय्ति यहाँ पर यदि अकारलोप स्थानिवत् हो जावे, तो लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से यकार लोप नहीं हो सकता । इष्ट यह है कि लोप हो जावे । तब अनल्विधौ से पुनः स्थानिवत् निषेध, एवं अचः परस्मिन्०

से स्थानिवत् प्राप्त होकर, अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप० से स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो यकार लोप होकर—

कण्डूति	कृत्तद्धित० (१।२।४६) सब पूर्ववत् होकर—
कण्डूतिः	बन गया ॥

चिकीर्षकः (करने का इच्छुक)

(५) स्वर विधि—

डुकृञ् करणे	आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९)।
कृ	भूवादयो० (१।३।१), धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकादिच्छायां वा (३।१।७), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।
कृ सन्	आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ। पर एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से धातु के अनिट होने से निषेध हो गया। अब सार्वधातुकार्ध० (७।२।८४) से गुण प्राप्त हुआ। पर इको झल् (१।२।९) से झलादि सन् के कितवत् हो जाने से क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया।
कृ स	अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ होकर—
कॄ स	ॠत इद्धातोः (७।१।१००), उरण्रपरः (१।१।५०)।
किर् स	सनाद्यन्ता० (३।१।३२), सन्यङोः (६।१।९), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।
किर् किर् स	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०)।
कि किर् स	कुहोश्चुः (७।४।६२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।
चि किर् स	हलि च (८।२।७७), आदेशप्रत्ययोः (८।३।५९)।
चिकीर्ष	धातोः (३।१।९२), ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—
चिकीर्ष ण्वुल्	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाकौ (७।१।१)।
चिकीर्ष अक	आर्धधातुके (६।४।४६), अतो लोपः (६।४।४८)।
चिकीर्ष् अक	यहाँ 'ण्वुल्' के लित् होने से, लिति (६।१।१८७) से लित् प्रत्यय 'अक' के परे रहते, प्रत्यय से पूर्व 'की' के 'ई' को उदात्त पाया। परन्तु यदि अतो लोपः (६।४।४८) से किया हुआ अकारलोप स्थानिवत् माना जावे, तो 'अक' प्रत्यय से पूर्व ष के अ को उदात्त होना

अतः आगे अल् की विधि होने के कारण अनल्विधौ से स्थानिवत् निषेध हो गया। तो 'की' के "ई" को उदात्त प्राप्त हुआ। पर पुनः अचः परस्मिन्० से परनिमित्तक अजादेश पूर्व की विधि में स्थानिवत माना गया। तब अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर० ने कहा कि स्वर विधि में स्थानिवत् न हो। सो पूर्ववत् 'की' के "ई" को उदात्त हो गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५)।

जिहीर्षक् स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् (१।२।३६) से 'क' के अ को एकश्रुति हुई। एवं पूर्ववत् 'सु' आकर विसर्जनीय होकर—

जिहीर्षकः　बना॥

इसी प्रकार हृञ् हरणे धातु से जिहीर्षकः (हरण करने का इच्छुक) भी बनेगा।

शिण्ढि (विशेषित करो)

(१) सवर्ण विधि, अनुस्वारविधि—

शिष्लृ　उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९), भूवादयो० (१।३।१)।

शिष्　लोट् च (३।३।१६२), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

शिष् लोट्　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, मध्यम पुरुष के एकवचन में सिप् आया।

शिष् सिप्　रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८), मिदचोऽन्त्यात्परः (१।१।४६)।

शि श्नम् ष् सि　सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) से 'सि' को हि हुआ। तथा उसको अपित् भी माना गया।

शि न ष् हि　अपित् होने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से 'हि' ङित्वत् माना गया। और श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्न' के अ का लोप हो गया।

शि न् ष् हि　हुझल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१) से 'हि' को 'धि' हुआ।

शि न् ष् धि　ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर—

शि न् ष् ढि　झलां जश्झशि (८।४।५२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

शिन्ड् ढि　झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से 'ड्' झर् का सवर्ण झर् ढ परे रहते लोप हो गया।

शिन्ढि　अब यहाँ पर 'न्' को नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से झल् परे रहते अनुस्वार पाया। पर यदि 'श्न' के 'अ' का लोप स्थानिवत्

हो जावे, तो झल् परे न होने से अनुस्वार नहीं हो सकता। तब पूर्ववत् ही अनल्विधौ से (अलि विधि होने से) स्थानिवत् निषेध। तथा अचः परस्मिन्० से प्राप्त होकर, अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वार० से स्थानिवत् निषेध होने से अनुस्वार हो गया।

शिंढि अब पुनः इस अनुस्वार को अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) से यय् परे रहते परसवर्ण पाया। पर यदि यहाँ 'श्न' के 'अ' का लोप स्थानिवत् हो जावे, तो यय् प्रत्याहार परे नहीं मिलता और परसवर्ण नहीं हो सकता। तब पूर्वोक्त क्रम से अनल्विधौ, तथा अचः परस्मिन्० लगकर अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णा० से स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो परसवर्ण होकर—

शिण्ढि बना॥

इसी प्रकार पिष्लृ सञ्चूर्णने धातु से पिण्ढि (पीसो) भी समझें। ये उदाहरण अनुस्वार एवं सवर्ण दोनों विधियों के हो सकते हैं, अतः दोनों ही दिखा दिये हैं।

शिंषन्ति: (विशेषित करते हैं)

(७) अनुस्वारविधि—

शिष्लृ लट् प्रथम पुरुष बहुवचन में पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—

शि श्नम् ष् झि पूर्ववत् ही श्नम् के अ का लोप हुआ। झोऽन्तः (७।१।३)।

शि न् ष् अन्ति यहाँ पर भी पूर्ववत् ही अकार लोप यदि स्थानिवत् हो जाये, तो नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से झल् परे न होने से अनुस्वार नहीं प्राप्त होता। तब पुनः पूर्ववत् ही अनल्विधौ, अचः परस्मिन्० लगकर, अन्त में प्रकृत सूत्र से अनुस्वार विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो अनुस्वार होकर—

शिंषन्ति बना॥

इसी प्रकार पिष्लृ धातु से पिंषन्ति (पीसते हैं) में भी जानें॥

प्रतिदीव्ना (प्रतिदिवन् के द्वारा)

(८) दीर्घविधि—

प्रतिदिवन् अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

प्रतिदिवन् टा　यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), अल्लोपोऽन: (६।४।१३४) से अन्नन्त भसंज्ञक प्रतिदिवन् के उपधा 'अ' का लोप हुआ।

प्रतिदिव्न् आ　अब यहाँ हलि च (८।२।७७) से वकार की उपधा इक् को हल् परे रहते दीर्घ होने लगा। पर अकारलोप के स्थानिवत् हो जाने से हल् परे नहीं मिला। सो दीर्घ प्राप्त न हो सका। पुनः अनल्विधौ से स्थानिवत् निषेध, तथा अचः परस्मिन्० से स्थानिवत् की प्राप्ति होकर, न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घ० से दीर्घ विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो हल् परे मिल जाने से दीर्घ होकर—

प्रतिदीव्न् आ　=प्रतिदीव्ना बना ॥

इसी प्रकार चतुर्थी के 'ङे' विभक्ति में प्रतिदीव्ने की सिद्धि भी जानें ॥

सग्धि: (समान भोजन)

(६) जश्विधि—

अद्　भूवादयो० (१।३।१), बहुलं छन्दसि (२।४।३९), षष्ठी स्थाने० (१।१।४८)।

घस्लृ　स्थानिवदादेशः० से घस्लृ स्थानिवत् माना गया, तो धातुवत् होने से धातु के अधिकार में विहित स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय हुआ।

घस्लृ क्तिन्　=घस् ति, घसिभसोर्हलि च (६।४।१००), अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४) से उपधा का लोप होकर—

घ्स् ति　झलो झलि (८।२।२६) से सकार लोप हुआ॥

घ् ति　झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) लगकर—

घ् धि　अब यहाँ झलां जश्झशि (८।२।५२) से 'घ्' को जश्त्व प्राप्त है। पर घसिभसो० से किया हुआ अकारलोप यदि स्थानिवत् हो जाये, तो झश् परे न मिलने से जश्त्व नहीं हो सकता। तब पूर्ववत् ही अनल्विधौ, एवं अचः परस्मिन्० लगकर, न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर-सवर्णानुस्वारदीर्घजश्० से स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो झश् परे मिल जाने से जश्त्व होकर—

ग्धि　बना ॥

पूर्ववत् सु आकर समाना चासौ ग्विः ऐसा विग्रह करके—

समाना सु ग्वि सु पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च (२।१।५७) से समानाधिकरण तत्पुरुष समास हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१) से सुब्लुक्, तथा पुंवत्कर्मधारय० (६।३।४०) से समाना को पुंवद्भाव हुआ।

समानग्वि समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु (६।३।८२) से 'समान' को 'स' आदेश हुआ। पूर्ववत् सु आकर—

सग्विः बन गया॥

बब्धाम्

भस भर्त्सनदीप्त्योः भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), लोट् च (३।३।१६२)।

भस् लोट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

भस् शप् तस् जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लु० (१।१।६०)।

भस् तस् लोटो लङ्वत् (३।४।८५) से लोट् को लङ् के समान कार्य होने से तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) से तस् को 'ताम्' हो गया।

भस् ताम् श्लौ (६।१।१०), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।

भस् भस् ताम् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०), अभ्यासे चर्च

ब भस् ताम् सार्वधातुकमपित् (१।२।४), घसिभसोर्हलि च (६।४।१००) से 'अ' लोप हुआ।

ब भ्स् ताम् झलो झलि (८।२।२६), झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) लगकर—

बभ् धाम् अब यहाँ भी पूर्ववत् ही झलां जश्झशि (८।४।५२) से जश्त्व पाया। पर अकारलोप स्थानिवत् हो जाने से कैसे हो? तब पूर्वोक्त क्रम से अनल्विधौ, अचः परस्मिन्० लगकर, न पदान्त० से जश्विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो जश्त्व होकर—

बब्धाम् बना॥

जक्षतुः (उन दोनों ने खाया था)

(१०) चर्विधि—

अद भूवादयो० (१।३।१), परोक्षे लिट् (३।२।११५)।

अद् लिट् — लिट् च (३।४।११५), आर्धधातुके (२।४।३५), लिट्यन्यतरस्याम् (२।४।४०) से लिट् परे रहते 'अद्' को घस्लृ आदेश हुआ।

घस्लृ लिट् — स्थानिवदादेशो० से घस्लृ आदेश धातुवत् माना गया। पूर्ववत् ही लिट् के स्थान में 'तस्' होकर तस् को परस्मैपदानां० (३।४।८२) से अतुस् हो गया।

घस् अतुस् — असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) से लिट् कित्वत् हो गया। तो गमहन० (६।४।९८) से उपधा का लोप हुआ।

घ्स् अतुस् — लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से स्थानिवत् अतिदेश (इस सूत्र का विशेष व्याख्यान उस सूत्र पर ही देखें) होकर—

घस् घ्स् अतुस् — पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०), कुहोश्चुः (७।४।६२)।

झ घ्स् अतुस् — अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से अभ्यास को जश् हुआ।

ज घ्स् अतुस् — अब यहाँ खरि च (८।४।५४) से 'घ' को चर् प्राप्त हुआ। पर यदि गमहन० से हुआ अकारलोप स्थानिवत् हो जाये, तो खर् परे न होने से चर्त्व नहीं हो सकता। तब अनल्विधौ से स्थानिवत् निषेध, तथा अचः परस्मिन् से कित् निमित्तक लोप अजादेश चर् करने में (पूर्व विधि) में स्थानिवत् माना गया। अन्त में न पदान्तद्विर्वचन-वरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु से चर्विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। तब चर्त्व होकर—

ज क्स् अतुस् — शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से षत्व।

जक्ष् अतुस् — तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

जक्षतुः — बना॥

इसी प्रकार जक्षुः (उन सबने खाया) में भी जानें॥

अघसन्

अद् — पूर्ववत् ही लुङ् (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय आया।

अद् लुङ् — आर्धधातुके (२।४।३५), लुङ्सनोर्घस्लृ (२।४।३७)।

घस्लृ लुङ् — पूर्ववत् घस्लृ स्थानिवत् माना गया। लुङ् लकार के सब कार्य होकर—

अट् घस् च्लि झि — झोऽन्तः (७।१।३) से 'झ्' को अन्तादेश हुआ।

अ घस् च्लि अन्ति इतश्च (३।४।१००), हलोऽनन्तराः० (१।१।७), संयोगान्त० (७।२।२३)।

अ घस् च्लि अन् मन्त्रे घसह्वरणश० (२।४।८०) से च्लि का लुक् हो गया।

अघस् अन् सार्वधातुकमपित् (१।२।४), गमहन० (६।४।९८) लगकर—

अघ्स् अन् अब पूर्ववत् ही यहाँ खरि च (८।४।५४) से चर्त्व पाया। पर अकारलोप के स्थानिवत् हो जाने से खर् परे न होने के कारण न हो सका। तब अनल्विधौ, अचः परस्मिन्० लगकर न पदान्तद्विर्वचन० सूत्र से स्थानिवत् निषेध हो गया। सो चर्त्व होकर—

अक्स् अन् शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) लगकर—

अक्ष् अन् अक्षन् बना॥

—:o:—

परि० द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)

पपतुः (उन दोनों ने रक्षा की)

पा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पा अतुस् असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५), आतो लोप इटि च (६।४।६४)।

प् अतुस् लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से धातु के प्रथम एकाच् को लिट् परे रहते द्वित्व पाया। पर 'पा' के 'आ' का लोप करने पर 'प्' तो हल् रह गया है। सो प्रथम एकाच् कैसे बने? यहाँ तो कोइ 'अच्' है नहीं। तब द्विर्वचनेऽचि ने कहा कि द्विर्वचन निमित्तक अजादि प्रत्यय के परे रहते द्विर्वचन करने में रूप का अतिदेश हो जाये। अर्थात् स्थानी (पा) का जैसा रूप था वैसा ही जाये। सो यहाँ द्विर्वचननिमित्तक अजादि प्रत्यय 'अतुस्' (लिट् परे मानकर द्वित्व करना है) परे था ही, अतः रूपातिदेश होकर स्थानी का रूप 'पा' द्वित्व करने में हो गया।

पा प् अतुस् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), ह्रस्वः (७।४।५९) लगकर—

पपतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

पपतुः बना॥

इसी प्रकार 'उस्' परे रहते पपुः (उन सबने रक्षा की) की सिद्धि जानें॥

जग्मतुः (वे दोनों गये)

गम्लृ पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

गम् अतुस् गमहनजनखनघसां० (६।४।९८) से उपधा लोप हुआ।

ग्म् अतुस् लिटि धातो० (६।१।८), एकाचो द्वे० (६।१।१)। यहाँ पर भी पूर्ववत् ही अच् न होने से द्विर्वचन नहीं हो सकता था. तब द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर द्वित्व हो गया।

गम् ग्म् अतुस् पूर्ववत् अभ्यास कार्य, तथा कुहोश्चुः (७।४।६२) लगकर—

जग्मतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

जग्मतुः बना ॥

इसी प्रकार जग्मुः (वे सब गये) की सिद्धि जानें ॥

चक्रतुः (उन दोनों ने किया)

डुकृञ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कृ अतुस् लिट् च (३।४।११५), सार्वधा० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ। परन्तु असंयोगाल्लिट्कित् (१।२।५) से कित् होने से क्ङिति च (१।१।५) से गुणप्रतिषेध हुआ। तब इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश हुआ।

क्र् अतुस् यहाँ भी पूर्ववत् ही द्वित्व प्राप्त हुआ। पर 'अच्' न होने से द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर द्वित्व हुआ।

कृ क्र् अतुस् पूर्वोऽभ्यासः (६।४।१), उरत् (७।४।६६), उरण्रपरः (१।१।५०)।

कर् क्र् अतुस् हलादिः शेषः (७।४।६०), कुहोश्चुः (७।४।६२)।

चक्रतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

चक्रतुः बना ॥

इसी प्रकार चक्रुः में भी जानें ॥

निनय (मैं ले गया)

णीञ् पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर, तथा णो नः (६।१।६३) से नत्व, एवं अस्मद्युत्तमः (१।४।१०६) से उत्तम पुरुष का प्रत्यय आकर—

नी णल् =अ, णलुत्तमो वा (७।१।९१) से विकल्प से 'णल्' णित्वत् नहीं

	माना गया। सो जिस पक्ष में णित्वत् नहीं माना गया, उस पक्ष में अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि न होकर सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण हुआ।
ने अ	एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—
नय् अ	पूर्ववत् ही यहाँ भी द्वित्व प्राप्त हुआ। सो यहाँ यदि 'नय्' को द्वित्व करें, तो 'नयन' अनिष्ट रूप बनेगा। अतः द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर द्वित्व हुआ।
ने नय् अ	पूर्वोऽभ्यासः, ह्रस्वः (७।४।५९) लगकर—
निनय	बना॥

जिस पक्ष में णलुत्तमो वा (७।१।९१) से णित्वत् माना गया, उस पक्ष में अचो ञ्णिति (७।२।११५) से 'नी' अङ्ग को वृद्धि होकर नै अ=नाय् अ, रहा। पुनः द्विर्वचनेऽचि लगकर पूर्ववत् ही 'ने नाय्' द्वित्व हुआ। पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर 'निनाय' बना॥

इसी प्रकार 'लूञ् छेदने' धातु से पूर्ववत् ही सारे सूत्र लगकर, तथा पक्ष में गुण होकर 'लो अ' रहा। द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर 'लू ल अ' रहा। ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व, तथा पूर्ववत् सब कार्य होकर, लुलव (मैंने काटा) बना। वृद्धिपक्ष में 'लौ अ' रहा। द्विर्वचनेऽचि लगकर लू औ अ=लुलाव बना॥

आटिटत् (उसने भ्रमण करवाया)

अट	भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६)।
अट् णिच्	अत उपधायाः (७।२।११६), वृद्धिरादैच् (१।१।१)।
आट् इ	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः (३।१।९१), लुङ् (३।२।११०)।
आटि लुङ्	पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति होकर—
आटि तिप्	च्लि लुङि (३।१।४३), णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् (३।१।४८)।
आटि चङ् तिप्	णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो गया।
आट् चङ् तिप्	=आट् अ ति, इतश्च (३।४।१००) से इकार लोप होकर—
आट् अ त्	णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से उपधा ह्रस्वत्व हुआ।
अट् अ त्,	चङि (६।१।११), अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२॥) से अजादि के द्वितीय एकाच् 'ट्' को द्वित्व प्राप्त हुआ। पर यहाँ द्वितीय अक्षर

'ट्' में तो कोई अच् ही नहीं, तो कैसे द्वित्व हो ? तब द्विर्वचने-ऽचि से रूपातिदेश होकर टि को द्वित्व हुआ ।

अटि ट् यत् — पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर अ'डजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम । आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से आदि में होकर —

आट् अ टि ट् य त् —आ अ टि ट् य त्, आटश्च (६।१।८६) से वृद्धि एकादेश होकर—

आटिटत् — बन गया ॥

—:०:—

परि० अदर्शनं लोपः (१।१।५६)

शालीयः (शाला में होनेवाला)

'शालीयः' यहाँ पर यस्येति च (६।४।१४८) शाला शब्द के 'आ' का, तथा तस्य लोपः(१।३।६)से सुं के 'उँ' का लोप होने लगा । तो अदर्शनं लोपः ने बताया कि अदर्शन की लोप संज्ञा होती है । पूरी सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ।।

गौधेरः (गोधायाः अपत्यम्, गोह का बच्चा)

गोधा — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ङस्' आया ।

गोधाङस् — समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम्(४।१।९२),गोधाया ढ्रक् (४।१।१२९) ।

गोधा ङस् ढ्रक् — कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) ।

गोधा ढ्रक् — पूर्ववत अङ्ग संज्ञा होकर आयनेयीनीयियः फढखछघां० (७।१।२) से 'ढ्' को 'एय्' आदेश हुआ ।

गोधा एय् र — किति च (७।२।११८), यस्येति च (६।४।१४८) ।

गौध् एय् र — लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'य्' का लोप प्राप्त हुआ । तब अदर्शनं लोपः ने अदर्शन की लोप संज्ञा बताई ।

गौधेर — पूर्ववत् सु आकर—

गौधेरः — बन गया ॥

पचेरन् (वे सब पकायें)

डुप चष् — पूर्ववत् धातु संज्ञा,तथा इत्संज्ञा होकर—

पच् — विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३।३।१६१),

श्रौर लिङः सीयुट् (३।४।१०२) से सीयुट् आगम हुआ ।

पच् सीयुट् लिङ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, आत्मनेपद का झ, तथा शप् आया ।
पच् शप् सीयुट् झ	लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९) से सीयुट् के 'स्' का लोप हुआ ।
पच अ ईय् झ,	झस्य रन् (३।४।१०५) से 'झ' को 'रन्' आदेश हुआ ।
पच ईय् रन्	लोपो व्योर्वलि (६।१।६४), अदर्शनं लोपः लगकर—
पच ई रन्	आद् गुणः (६।१।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—
पचेरन्	बना ।।

जीरदानुः (जीने वाला)

जीव	भूवादयो० (१।३।१), जीवेरदानुक् (उणा० २।२३) से 'रदानुक्' प्रत्यय हुआ ।
जीव् रदानुक	लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'व्' का लोप हुआ, अदर्शनं लोपः ।
जीरदानु	कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय हो गया । तो—
जीरदानुः	बना ।।

आश्रेमाणम् (गति वा शोषण करनेवाले को)

आङ् श्रिवु	भूवादयो० (१।३।१), अनुबन्ध लोप होकर—
आ श्रिव्	सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा० ४।१४५),प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—
आ श्रिव् मनिन्	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) ।
आश्रेव् मन्	लोपो व्योर्वलि (६।१।६४), अदर्शनं लोपः । पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—
आश्रेमन् अम्	सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ)६।४८) से दीर्घ हो गया ।
आश्रेमान् अम्	अट् कुप्वाङ्नुम्व्य० (८।४।२), लगकर—
आश्रेमाण् अम्	=आश्रेमाणम् बना ।।

—:०:—

परि० प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)

विशाखः (विशाखा नक्षत्र से युक्त काल में पैदा होनेवाला)

लुक् का उदाहरण—

विशाखायां जातः　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

विशाखा ङि　समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२); प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) तत्र जातः (४।३।२५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

विशाखा ङि अण्　सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

विशाखा अण्　श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक् (४।३।३४) से अण् प्रत्यय का लुक् हो गया। तब लुक् कहते किसे हैं ? यह प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ने बताया।

विशाखा　यहाँ लुक् कहकर अदर्शन करने से लुक्तद्धितलुकि (१।२।४९) से स्त्री प्रत्यय "टाप्" का भी लुक् हो गया। प्रत्ययस्य लुक्०।

विशाख　पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

विशाखः　बना॥

स्तौति (स्तुति करता है)

ष्टुञ् स्तुतौ　भूवादयो० (१।३।१), धात्वादेः षः सः (६।१।६२) अनुबन्ध लोप होकर—

स्तु　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

स्तु शप् तिप्　अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः।

स्तु तिप्　=ति अब यहाँ लुक् कहकर प्रत्यय का अदर्शन किया गया है, अतः उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७।३।८९) से हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते, उकारान्त 'स्तु' अङ्ग को वृद्धि होकर—

स्तौति　बना॥

जुहोति (हवन करता)

श्लु का उदाहरण—

हु दानादनयोः　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

हु शप् तिप्　जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः।

हु ति — यहाँ श्लु कहकर प्रत्यय का अदर्शन हुआ है, अतः श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व हो गया।

हु हु ति — पूर्वोऽभ्यासः (७।४।६०) कुहोश्चुः (७।४।६२)।

झु हु ति — अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से जश्त्व, तथा पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

जु हु ति — सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—

जुहोति — बना ॥

वरणाः (वरणानाम् अदूरभवो ग्रामः, वरण वृक्षों के समीप का ग्राम)

लुप् का उदाहरण—

वरण — पूर्ववत् सब होकर—

वरण आम् — समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३), अदूर-भवश्च (४।२।६९)।

वरण आम् अण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।

वरण अ — वरणादिभ्यश्च (४।२।८१) से प्रत्यय का लुप् विहित हुआ। तो प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ने बताया कि प्रत्यय के अदर्शन की लुप् संज्ञा है। पुनः प्रत्ययलोपे० (१।१।६१) से प्रत्ययलक्षण वृद्धि न लुमता-ङ्गस्य (१।१।६२) के निषेध होने से नहीं हुई।

वरण — यहाँ लुप् हो जाने से लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१।२।५१) से युक्त-वत् अर्थात् पूर्ववत् व्यक्ति वचन = लिङ्ग और सङ्ख्या प्राप्त हुये। सो यहाँ वरण शब्द यद्यपि अब एकत्ववाची है, परन्तु पहले बहुवचन वाला (विग्रह बहुवचन से ही किया था) था, अतः यहाँ बहुवचन का प्रत्यय 'जस्' आया।

वरण जस् — अस्, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) पूर्ववत् ही सब होकर—

वरणाः — बना ॥

इसी प्रकार पञ्चालानां निवासो जनपदः = पञ्चालाः (पञ्चालों के रहने का देश) में तस्य निवासः (४।२।६८) से अण् हुआ है। उसका जनपदे लुप् (४।२।८०) से लुप् हुआ है। शेष सब पूर्ववत् ही है। लुप् कहकर अदर्शन करने के कारण यहाँ भी पञ्चाल देश के एक होते हुये भी पूर्ववत् ही बहुवचन का प्रत्यय 'जस्' हुआ है ॥

—:०:—

परि० प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।५८)

अग्निचित् (जिसने अग्नि का चयन किया)

अग्नि अम् चिञ्	भूवादयो० (१।३।१) से चिञ् की धातु संज्ञा होने से धातोः (३।१।९१) लगा, तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२), अग्नौ चेः (३।२।९१), प्रत्यय, परश्च (३।१।१,२) से क्विप् प्रत्यय परे हुआ।
अग्नि अम् चि क्विप्	उपपदमतिङ् (२।२।१९), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु-प्राति० (२।४।७२) ॥
अग्निचि व्	अपृक्त एकाल्प्रत्ययः ,(१।२।४१), वेरपृक्तस्य (६।१।६५)।
अग्निचि	अब यहाँ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६९), से पित् कृत् प्रत्यय परे रहते तुक् आगम प्राप्त था। पर यहाँ क्विप् जो कि पित् तथा कृत् था, उसका तो लोप हो गया है। सो कृत् पित् परे न रहने से तुक् आगम कैसे हो ? तब प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ने कहा कि प्रत्यय के लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण कार्य हो। अतः पहले जो प्रत्यय यहाँ था, उसको निमित्त मानकर तुक् आगम हो गया। आद्यन्तौ० (१।१।४५) लगकर—
अग्निचि तुक्	=त्, पूर्ववत् सु आकर—
अग्निचित् सु	=स्, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति० (६।१।६६) से सु का लोप होकर—
अग्निचित्	बना ॥

इसी प्रकार सोम उपपद रहते 'षुञ् अभिषवे' धातु से सोमे सुञः (३।२।९०) से क्विप् प्रत्यय होकर पूर्ववत् ही सोमं सुतवान=सोमसुत् (जिसने सोमरस को निचोड़ा) बना है। यहाँ धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से षुञ् के 'ष्' को 'स्' हो जाता है ॥

अधोक् (उसने दुहा)

दुह प्रपूरणे	पूर्ववत् लङ् लकार में सब सूत्र लगकर—
अट् दुह् शप् तिप्	अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

प्र रुह् ति	पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से अङ्ग की उपधा को गुण हुआ ।
प्र रोह् ति	इतश्च (३।४।१००) से 'ति' के इ का लोप हुआ ।
प्र रोह् त	हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) लगकर—
प्ररोह्	यहाँ दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से 'ह्' को पदान्त में मानकर 'घ' करना है । परन्तु सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से सुप् या तिङ् अन्त में हो जिसके उसकी पद संज्ञा होती है । यहाँ तो 'तिप्' का लोप हो गया है, तो तिङ् अन्त में है नहीं, तो कैसे पद संज्ञा हो ? तब प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से प्रत्ययलक्षण कार्य मानकर पद संज्ञा हो गई । और पदान्त में वर्त्तमान 'ह्' को 'घ्' हो गया ।
प्ररोघ्	एकाचो बशो भष्झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) लगकर—
अघोघ्	झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व ।
अघोग्	वावसाने (८।४।५५) से चर्त्व होकर—
अधोक्	बना ॥

—:०:—

परि० न लुमताङ्गस्य (१।१।६२)

लुक् का उदाहरण—

गर्गाः (गर्गस्य गोत्रापत्यानि बहूनि, गर्ग के बहुत से पौत्र)

गर्ग ङस्	समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से बहुत अपत्यार्थ को कहने में यञ् प्रत्यय हुआ ।
गर्ग ङस् यञ्	सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१) लगकर—
गर्ग य	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'जस्' आया ।
गर्ग य जस्	यञञोश्च (२।४।६४) से बहुत्व अर्थ में वर्तमान यञ् का लुक् हो गया ।
गर्ग जस्	=अस् अब यहाँ 'यञ्' प्रत्यय का लुक् हो जाने पर प्रत्ययलोपे० से प्रत्ययलक्षण कार्य माना गया, तो ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१)

से आद्युदात्त, तथा तद्धितेष्वचा० (७।२।११७) से वृद्धि पाती है। सो यहाँ लुवाला अङ्ग (यञ् का लुक् कहकर अदर्शन हुआ था) होने से न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो गया, वृद्धि एवं आद्युदात्त नहीं हुये।

गर्ग अस् — प्रथमयो: पूर्व० (६।१।९८), तथा पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

गर्गा: — बना ॥

मृष्ट: (वे दोनों शुद्ध करते हैं)

मृजूष् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

मृज् शप् तस् — अदिप्रभृतिभ्य: शप: (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: (१।१।६०)।

मृज् तस् — यहाँ शप् को निमित्त मानकर प्रत्ययलोपे० (१।१।६१), मृजेर्वृद्धि: (७।२।११४) से प्रत्ययलक्षण वृद्धि प्राप्त थी, पर न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध होकर वृद्धि नहीं हुई। पुन: तस् के सार्वधातु० (१।२।४) से ङित्वत् होने से तस् को निमित्त मानकर भी वृद्धि नहीं होती।

मृज् तस् — व्रश्चभ्रस्जसृज० (८।२।३६) से 'ज्' के स्थान में 'ष्' हुआ।

मृष् तस् — ष्टुना ष्टु (८।४।४०) से ष्टुत्व, तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

मृष्ट: — बना ॥

श्लु का उदाहरण—जुहुत: यहाँ परि० (१।१।६०) के जुहोति के समान सब कार्य होकर 'जु हु तस्' रहा। यहाँ शप् का श्लु (लोप) होने पर भी शप् को निमित्त मानकर 'हु' को गुण (७।३।८४) पाता है। पर लुमत् के द्वारा लुप्त होने से (श्लु कहकर शप् का अदर्शन हुआ था) न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो गया, सो गुण नहीं हो सका।

लुप् का उदाहरण—वरणा: की सिद्धि परि० (१।१।६०) में देखें। यहाँ प्रत्यय के लुप् होने पर प्रत्यय को लक्षण मानकर तद्धितेष्व० (७।२।११७) से वृद्धि प्राप्त थी, पर न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध होने से नहीं हुई ॥

—:०:—

परि० अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)

अचोऽन्त्यादि टि के उदाहरण 'पचेते पचेथे' की सिद्धियाँ परि० १।१।११ में देखें। यहाँ आताम् का अन्तिम अच् 'ता' का आ है। सो 'आम्' भाग की टि संज्ञा होकर, उसको एत्व हुआ है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है। 'अग्निचित्' में अन्तिम अच् 'इ' है। सो 'इत्' की, तथा सोमसुत् में 'उ' है, सो 'उत्' भाग की टि संज्ञा है। ये दोनों उदाहरण रूपोदाहरण मात्र हैं ॥

—:०:—

परि० अलोऽन्त्यात् पूर्व० (१।१।६४)

भेत्ता (तोड़नेवाला)

भिदिर्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) से तृच् प्रत्यय आया।
भिद् तृच्	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से लघु उपधा को गुण पाया। उपधा किसे कहते हैं, यह अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ने बताया कि अन्तिम अल् से पूर्व की उपधा संज्ञा हो। ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से ह्रस्व की लघु संज्ञा हुई।
भेद् तृ	खरि च (८।४।५४) से चर्त्व हो गया।
भेत् तृ	शेष सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान जानें। इस प्रकार—
भेत्ता	बना ॥

इसी प्रकार छिदिर् धातु से छेत्ता (छेदन करनेवाला) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६)

आसीनः, द्वीपम् आदि की सिद्धि परि० १।१।५३ में देखें ॥

'ओदनं पचति' यहाँ पर तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से 'पचति' को निघात (सर्वानुदात्त) होता है। क्योंकि तिङ्ङतिङः सूत्र में 'अतिङः' पद में पञ्चमी विभक्ति है। सो तस्मादित्युत्तरस्य सूत्र के कारण 'अतिङः' पद का अर्थ "अतिङ् से उत्तर" ऐसा होगा। अतः यहाँ ओदनम् अतिङ् पद था, उससे उत्तर तिङ् (पचति) को निघात होकर ओदनं पचति (चावल पकाता है) बना ॥

—:०:—

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

परि० गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)

सूत्र-प्रयोजन—'अध्यगीष्ट' यहाँ पर प्रकृत सूत्र से गाङ् से उत्तर सिच् को ङित्वत् होने से गाङ् को घुमास्थागापा० (६।४।६६) से ङित् परे मानकर ईकारादेश हो जाता है, यही ङित्वत् करने का प्रयोजन है ॥

अध्यगीष्ट (उसने अध्ययन किया)

अधि इङ् भूवादयो० (१।३।१) धातो: (३।१।९१) लुङ् (३।२।११०)

अधि इ लुङ् विभाषा लुङ्लृङो: (२।४।५०) से इङ् को गाङ् आदेश होकर,

अधि गाङ् ल् च्लि लुङि (३।१।४३) च्ले: सिच् (३।१।४४)

अधि गा सिच् ल्, गाङ् कुटादिभ्यो० से गाङ् से उत्तर सिच् ङित् माना गया, तो घुमास्थागापाजहातिसां हलि (६।४।६६) से हलादि एवं ङित् सिच् के परे रहते 'गा' को ईत्व प्राप्त हुआ, अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् के स्थान में होकर,

अधि गी स् ल् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ल्' के स्थान में अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद का 'त' आया, यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३)

अधि गी स् त, अङ्गस्य (६।४।१) लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त: (६।४।७१) से अट् आगम प्राप्त हुआ, आद्यन्तौ० (१।१।४५)

अधि अट् गी स् त, इको यणचि (६।१।७४), आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९)

अध्यगीष्त ष्टुना ष्टु: (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर,

अध्यगीष्ट बना ॥

इसी प्रकार 'आताम्' में अध्यगीषाताम् तथा 'झ' में आत्मनेपदेष्वनत: (७।१।५) से झ को 'अत्' आदेश होकर अध्यगीष् अत् अ=अध्यगीषत बनेगा ॥

कुटिता (कुटिलता करनेवाला) कुटितुम्, कुटितव्यम्, उत्पुटिता (अच्छी तरह मिलनेवाला) उत्पुटितुम् उत्पुटितव्यम् की सिद्धियाँ परि० १।१।४८ के समान ही हैं। यहाँ कुटादियों से उत्तर तृच् आदि प्रत्ययों को ङित् करने का यही प्रयोजन है कि पुगन्तलघूप० (७।३।८६) से प्राप्त गुण का क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जावे ॥

—:o:—

परि० सार्वधातुकमपित् (१।२।४)

कुरुतः (वे दोनों करते हैं)

कृ तस् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

कृ तस् तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९) से शप् का अपवाद 'उ' होकर,

कृ उ तस् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से 'कृ' अङ्ग को गुण हुआ, उरण्रपरः (१।१।५०)

कर् उ तस् अब पुनः तस् सार्वधातुक को मानकर सार्वधातुकार्ध० से 'उ' को गुण प्राप्त हुआ, उसका सार्वधातुकमपित् से 'तस्' के ङित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया, तथा तस् के ङित् होने से, ङित् सार्वधातुक के परे रहते अत उत् सार्वधातुके (६।४।११०) से 'क' के 'अ' को 'उ' हो गया।

कुरुतस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर,

कुरुतः बना।

इसी प्रकार पूर्ववत् "कृ उ झि" = कर् उ अन्ति—कुरु अन्ति इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर कुर्वन्ति बन गया। झि को ङित् करने का प्रयोजन पूर्ववत् है॥ चिनुतः चिन्वन्ति की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें॥

—:o:—

परि० असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५)

बिभिदतुः (उन दोनों ने तोड़ा)

भिदिर् विदारणे भूवादयो०, धातोः (३।१।९१) परोक्षे लिट् (३।२।११५)

भिदिर् लिट्=भिद् ल, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

भिद् तस् परस्मैपदानां णलतुसुस्० (३।४।८२)

भिद् अतुस् पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से अतुस् आर्धधातुक को निमित्त मानकर गुण प्राप्त हुआ, पर प्रकृत सूत्र से अतुस् के कित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध हो गया,

भिद् अतुस् लिटि धातोरन० (६।१।८) एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)

भिद् भिद् अतुस् अतुस्, पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) हलादिः शेषः (७।४।६०)

भि भिद् अतुस् अभ्यासे चर्च (७।४।५३) तथा पूर्ववत् विसर्जनीय होकर,

बिभिदतुः	बना ।।

इसी प्रकार छिदिर् धातु से पूर्ववत् चिच्छिदतुः (उन दोनों ने काटा) बनेगा। यहाँ केवल 'चि छिद् अतुस्' इस अवस्था में छे च (६।१।७१) के छकार परे रहते तुक् आगम होकर, 'चि तुक् छिद् अतुस्=चित् छिद् अतुस्' रहा, स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व होकर, चिच्छिदतुः बनता है। बहुवचन में झि को ३।४। ८२ से 'उस्' होकर बिभिदुः चिच्छिदुः पूर्ववत् बनेगा ।।

ईजतुः (उन दोनों ने यज्ञ किया)

यज	पूर्ववत् लिट् लकार में सब सूत्र लगकर,

यज् अतुस्	अब असंयोगाल्लिट कित् से अतुस् के कित् होने से कित् परे रहते वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से 'यज्' को सम्प्रसारण हो गया। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)

इ अ ज् अतुस्, सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) तथा पूर्ववत् द्वित्व होकर,
इज् इज् अतुस्=इ इज् अतुस्, अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)

ईजतुस्	पूर्ववत् विसर्जनीय होकर,

ईजतुः	बना ।।

इसी प्रकार 'झि' में ईजुः की सिद्धि भी जानें ।।

—:०:—

परि० इन्धिभवतिभ्यां च (१।२।६)

ईधे (वह प्रकाशित हुआ)

ञिइन्धी दीप्तौ, लिट् लकार में पूर्ववत् सब सूत्र लगकर अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद होकर, 'त' आया,

इन्ध् त	लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१) अनेकाल्शित्० (१।१।४८)

इन्ध् एश्=ए, अब इन्धिभवतिभ्यां च से 'एश्' के कित्वत् होने से, अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४) से न का लोप हो गया,

इध् ए	पूर्ववत् द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर,

इ इध् ए	अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)

ईधे	बना ।।

इसी प्रकार सम् ईधे=समीधे भी जानें ।।

बभूव (वह था)

भू पूर्ववत् लिट् लकार में सब सूत्र लगकर—

भू णल्=अ, यहाँ णल् के णित् होने से अचो ञ्णिति (७।२।११५) से भू अंग को वृद्धि प्राप्त हुई, पर इन्धिभवतिभ्यां च से णल् के किन्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया।

भू अ भुवो वुग्लुङ्लिटोः (६।४।८८) आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)

भू वुक् अ पूर्ववत् द्वित्व होकर—

भू भूव् अ ह्रस्वः (७।४।५६) अभ्यासे चर्च (८।४।५३)

बुभूव भवतेरः (७।४।७३) से भू धातु के अभ्यास को 'अ' होकर—

बभूव बन गया ॥

—:०:—

परि मृडमृदगुध० (१।२।७)

मृडित्वा (आनन्द देकर)

मृड सुखने भूवादयो० धातोः (३।१।९१) समानकर्त्तृक० (३।४।२१)

मृड् क्त्वा=त्वा, आर्धधातुकं० (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५)

मृड् इट् त्वा, न क्त्वा सेट् (१।२।१८) से सेट् क्त्वा कित्वत् नहीं माना गया, तब पुगन्तलघूपध० (७।३।८६) से मृड् अंग को गुण प्राप्त हुआ, पर मृडमृद० सूत्र से पुनः क्त्वा को कित्वत् विधान करने से क्ङिति च से गुण का निषेध हो गया, यही कित् करने का प्रयोजन है। पूर्ववत् सु आकर, क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३९) से अव्यय संज्ञा होकर

मृडित्वा सु अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् हो गया।

मृडित्वा बना ॥

इसी प्रकार मृद धातु से मृदित्वा (पीस कर) गुध से गुधित्वा (रुष्ट होकर) कुष से कुषित्वा (खींच कर) क्लिशू से क्लिशित्वा (क्लेश देकर) की सिद्धियाँ भी जानें ॥ क्लिशित्वा में इट् आगम क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः (७।२।५०) से होगा। शेष में पूर्ववत् है। गुध, कुष, क्लिश से उत्तर क्त्वा को रलो व्युपधाद्० (१।२।२६) से विकल्प से कित्वत् प्राप्त था, इस सूत्र से नित्य हो। कित्वत् होने से पूर्ववत् गुण निषेध हो गया ॥

उदित्वा (बोलकर)

वद पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

वद् इट् त्वा पूर्ववत् ही प्रकृत सूत्र से कित्वत् होने से वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५) से सम्प्रसारण हुआ,

उ अ द् इ त्वा सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४)

उदित्वा सु पूर्ववत् ही सु का लुक् होकर

उदित्वा बना ॥

वस् धातु को भी 'क्त्वा' के कित् होने से पूर्ववत् सम्प्रसारण होकर 'उस् इ त्वा' रहा। शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से 'स्' को 'ष्' होकर उषित्वा (रह कर) बन गया ॥

—:०:—

परि० रुदविदमुषग्रहि० (१।२।८)

क्त्वा प्रत्ययान्त रुदित्वा (रोकर) विदित्वा (जान कर) मुषित्वा (चुरा कर) की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें। ७।३।८६ से प्राप्त गुण का निषेध करना ही कित् करने का प्रयोजन है।

ग्रह् से उत्तर क्त्वा को कित् करने से ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण होकर 'गृह् इट् त्वा' रहा। ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७।२।३७) से 'इट्' को दीर्घ होकर गृहीत्वा (ग्रहण करके) बन गया ॥

स्वप् तथा प्रच्छ से उत्तर भी क्त्वा के कित् होने से वचिस्वपियजा० (६।१।१५,१६) से सम्प्रसारण होकर सुप्त्वा (सो करके) पृष्ट्वा (पूछ कर) बनता है। एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से यहाँ इट् निषेध हो जाता है। पृष्ट्वा यहाँ इतना विशेष है कि तुक् सम्प्रसारणादि सब कार्य होकर, 'पृच्छ् त्वा' इस अवस्था में च्छ्वोः शूड० (६।४।१९) से 'च्छ्' को 'श्' तथा व्रश्चभ्रस्जसृजमृ० (८।२।३६) से 'श्', को 'ष्' होकर, 'पृष् त्वा' बना। ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से 'त्' को 'ट्' होकर पृष्ट्वा बन गया ॥

रुरुदिषति (वह रोना चाहता है)

रुदिर् भूवादयो० (१।३।१) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३।१।७) प्रत्ययः, परश्च, से इच्छा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर

रुद् सन् आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) आद्य-

क्ङिति च (१।१।४५) पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

रुद् इट् स पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण प्राप्त हुआ, पर रुदविदमुष० से सन् को कित्वत् होने से क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। सनाद्यन्ता धातव (३।१।३२) से 'रुदिस' पूरे समुदाय को पुनः धातुः संज्ञा होकर, सन्यङोः (६।१।९) एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से सन्नन्त शब्द का जो प्रथम एकाच् समुदाय 'रुद्' उसे द्वित्व हुआ।

रुद् रुद् इ स पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) हलादि शेषः (७।४।६०) पूर्ववत् शप्, तिप् हुये।

रुरुदिस शप् तिप् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

रुरुदिष अ ति अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

रुरुदिषति बना॥

इसी प्रकार विविदिषति (जानने की इच्छा करता है) मुमुषिषति (चोरी करना चाहता है) की सिद्धि भी जानें। कित् होने से गुण निषेध हो जावे यही प्रयोजन है॥

जिघृक्षति (ग्रहण करना चाहता है)

ग्रह पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

ग्रह सन् यहाँ आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ उसका सनि ग्रहगुहोश्च से सन परे रहते निषेध होकर—

ग्रह् सन् अब रुदविदमुषग्रहि० से सन् के कित्वत् होने से ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण हो गया।

ग् ऋ अ ह् स, सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०५) से पूर्वरूप तथा पूर्ववत् धातु संज्ञा एवं द्वित्व होकर—

गृह् गृह् स, उरत् (७।४।६६) उरण्रपरः (१।१।५०)

गर् ह् गृह् स, कुहोश्चुः (७।४।६२) हलादिः शेषः (७।४।६०)

ज गृह स सन्यतः (८।४।७९) से अभ्यास को इत्व होकर—

जिगृह् स हो ढः (८।२।३१) से ह् को 'ढ्' हो गया।

जिगृढ् स एकाचो बशो भष् झषन्तस्य० (८।२।३७) से ग् को घ्

जिघृढ् स षढोः कः सि (८।२।४१) से ढ् को 'क्' होकर—

जिघृक् स आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) पूर्ववत् शप् तिप् आकर—
जिघृक्षति बन गया ।

स्वप् धातु से इसी प्रकार सुषुप्सति तथा प्रछ् से पिपृच्छिषति बनेगा । कित् करने से ६।१।१५,१६ से सम्प्रसारण हो जाये, यही प्रयोजन है ॥ पिपृच्छिषति में इट् आगम किरश्च पञ्चभ्यः (७।२।७५) से होता है, तथा छे च (६।१।७१) से तुक् आगम होकर पि पृ तुक् छ् इट् स श ति=स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व होकर पिपृच्छिषति बनता है ॥

—:o:—

परि० इको झल् (१।२।९)

चिचीषति (चुनना चाहता है)

चिञ् पूर्ववत् सन् प्रत्यय आकर—
चि सन् एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) से इट् का निषेध हुआ, अब सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से चि अंग को गुण प्राप्त हुआ,तो इको झल् से झलादि सन् के कित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया ।
चि स अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से चि के इ को दीर्घ हुआ ।
ची स पूर्ववत् द्वित्व होकर, पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), ह्रस्वः (७।४।५९)
चि ची स पूर्ववत् धातु संज्ञा होकर शप्, तिप् आकर—
चिचीस शप् तिप्=चिचीषति, बना ॥

पक्ष में विभाषा चेः (७।३।५८) से कुत्व होकर चिकीषति भी बनता है ॥

तुष्टूषति (स्तुति करना चाहता है)

ष्टुञ् पूर्ववत् सन होकर, तथा धात्वादेः षः सः (६।१।६२) ।
स्तु स पूर्ववत् ही कित् होने से गुण निषेध एवं दीर्घ तथा द्वित्वादि सब हो गया ।
स्तू स्तू स अब यहाँ हलादिः शेषः का अपवाद सूत्र शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) लगकर शर् प्रत्याहार का (स् का) लोप होकर खय् शेष रह गया ।

—:o:—

तु स्तू स — आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९) से सन् के 'स' को षत्व होकर

तुस्तूष — पूर्ववत् शप् तिप् सब होकर, स्तौतिण्योरेव षण्य० (८।३।६१) से षत्व होकर—

तुष्तूष शप् तिप्=तुष्तूष अति, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर—

तुष्टूषति — बना ॥

परि० १।१।५७ में चिकीर्षकः, जिहीर्षकः की सिद्धि की है, ठीक उसी प्रकार 'चिकीर्ष' 'जिहीर्ष' इतने तक सिद्धि करके आगे 'चिकीर्ष' 'जिहीर्ष' की सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से नई धातु संज्ञा करके शप्, तिप् लगकर चिकीर्षति (करना चाहता है) जिहीर्षति (हरण करना चाहता है) बन जायेगा ॥

—:०:—

परि० हलन्ताच्च (१।२।१०)

बिभित्सति (तोड़ना चाहता है)

भिदिर् — पूर्ववत् सन् आकर, एवं एकाच उप० (७।२।१०) से इट् निषेध होकर—

भिद् सन् — पुगन्तलघू० (७।३।८६) से भिद् अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ पर भि के 'इ' के समीप यहाँ द् हल् है, उससे उत्तर झलादि सन् (जिसको इट् आगम न हो) है, सो हलन्ताच्च से कित्वत् होकर क्ङिति च से निषेध हो गया। पूर्ववत् द्वित्व होकर—

भिद् भिद् सन्=भि भिद् स, अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से भ् को ब् तथा खरि च (८।४।५४) से द् को त् एवं पूर्ववत् शप् तिप् होकर—

बिभित् स शप् तिप्=बिभित्सति, बन गया ॥

इसी प्रकार बुभुत्सते (जानने की इच्छा करता है) यहाँ बुध अवगमने (दिवा० आ०) धातु से पूर्ववत् ही सन् के परे रहते इट् निषेध, एवं हलन्ताच्च से कित्वत् होकर गुण निषेध, तथा द्वित्वादि होकर, बुध् बुध् स=बुबुध् स रहा। एकाचो बशो भष्० (८।२।३७) से 'ब्' को 'भ्' तथा आत्मनेपद का 'त' आकर, बुभुत्स शप् त रहा, टित० आत्मनेप० (३।४।७९) लगकर बुभुत्सते बन गया ॥

—:०:—

परि० लिङ्सिचावा० (१।२।११)

भित्सीष्ट (वह फोड़े)

भिदिर् भूवादयो० धातोः (३।१।६१), आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)

भिद् लिङ् लिङः सीयुट् (३।४।१०२) आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)

भिद् सीयुट् ल् पूर्ववत् स्वरितञितः (१।३।७२) आदि सब सूत्र लगकर, आत्मनेपद का 'त' आया।

भिद् सीय् त, सुट् तिथोः (३।४।१०७) आद्यन्तौ टकितौ।

भिद् सीय् सुट् त, लिङाशिषि (३।४।११६) से लिङ् को आर्धधातुक संज्ञा होकर, आर्धधातुक परे रहते पुगन्तलघू० (८।३।८६) से भिद् अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, पर लिङ्सिचावा० से लिङ् को कित्वत् होकर, क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया।

भिद् सीय् स् त लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) आदेशप्रत्यययोः (८।३।५६)

भिद् सी ष् त, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) खरि च (८।४।५४) से—

भित्सीष्ट बना॥

इसी प्रकार बुध धातु से 'बुध् सी ष् ट'=बुध् सीष्ट=एकाचो बशो भष० (८।२।३७) से 'ब्' को 'भ्' होकर भुत्सीष्ट (वह जाने) बन गया॥

अभित्त (उसने फोड़ा)

भिदिर् पूर्ववत् लुङ् लकार में परि० १।२।१ के अध्यगीष्ट के समान सब होकर—

अ भिद् सिच् त, पूर्ववत् गुण प्राप्त होकर प्रकृत सूत्र से कित्वत् होने से निषेध हो गया। झलो झलि (८।२।२६) से सिच् के 'स्' का लोप होकर—

अ भिद् त खरि च (८।४।५४) से 'द्' को 'त्' होकर—

अभित त=अभित्त, बन गया॥

इसी प्रकार बुध धातु से अबुद्ध (उसने जाना) की सिद्धि जानें। अ बुध् सिच् त=अबुध् त, यहाँ झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से 'त' को 'ध' होकर, अबुध् ध रहा। झलां जश् झशि (८।४।५२) से 'ध्' को 'द्' होकर अबुद्ध बन गया॥

—:०:—

परि० वा गमः (१।२।१३)

संगसीष्ट (अच्छी प्रकार संगत होवे)

गम्लृ पूर्ववत् आशीर्लिङ् में भित्सीष्ट के समान सब होकर—

सम् गम् सीयुट् लिङ् समो गम्यृच्छिभ्याम् (१।३।२९) से आत्मनेपद तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

सम् गम् सीय् सुट् त, प्रकृत सूत्र से लिङ् के कित् होने से अनुदात्तोपदेशवन० (६।४।३७) से गम् के अनुनासिक का लोप होकर—

सम् ग सीष्ट मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से सम् के मकार का अनुस्वार होकर—

संगसीष्ट बना ।।

जिस पक्ष में कित्वत् नहीं हुआ, तब अनुनासिक का लोप भी नहीं हुआ, सो मकार को नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से अनुस्वार होकर 'संगसीष्ट' बन गया ।।

इसी प्रकार लुङ् लकार में भी "सम् अट् गम् सिच् त" पूर्ववत् होकर, कित् होने से अनुनासिक लोप तथा ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सिच् के स् का लोप होकर समगत (वह अच्छी प्रकार मिला) बन गया । जब पक्ष में कित् नहीं होता तो अनुनासिक लोप तथा (ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सिच् के न होने से) सिच् लोप भी न होकर समगंस्त बनता है ।।

—:o:—

परि० स्थाघ्वोरिच्च (१।२।१७)

उपास्थित (वह उपस्थित हुआ)

ष्ठा गतिनिवृत्तौ, भूवादयो धातवः (१।३।१) धात्वादेः षः सः (६।१।६२) ।

स्था पूर्ववत् लुङ् लकार में सब सूत्र लगकर—

उप स्था सिच् लुङ्, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर तथा अकर्मकाच्च (१।३।२६) से आत्मनेपद का 'त' आकर—

उप अ स्था स् त अब स्थाघ्वोरिच्च से स्था को इकारादेश प्राप्त हुआ, जो कि अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'आ' को

उप अ स्थि स् त हुआ, तथा सिच् के कित्वत् होने से, सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से 'स्थि' के 'इ' को प्राप्त गुण का क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया । ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७), अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) लगकर—

उपास्थित　　बना ॥

इसी प्रकार आताम् में उपास्थिषाताम् तथा 'झ' में उपास्थिषत की सिद्धि जानें ॥

प्रदित (उसने दिया)

डुदाञ्　　लुङ् लकार में पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दा सिच् लुङ्, स्वरितञितः कर्त्र० (१।३।७२) से आत्मनेपद होकर—

प्र दा स् त　　दाधाघ्वदाप् (१।१।१९) से 'दा' की घु संज्ञा होकर पूर्ववत् स्था-घ्वोरिच्च से इकारादेश तथा कित्वत् हो गया ।

प्र दि स् त　　कित् होने से पूर्ववत् गुण निषेध हो गया । ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सिच् के सकार का लोप होकर—

प्रदित　　बन गया ।

इसी प्रकार डुधाञ् धातु से प्रधित (उसने धारण किया) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० ऊकालोऽज्झ्रस्व० (१।२।२७)

दधिच्छत्रम्

दधिच्छत्रम् यहाँ दधि का 'इ' एकमात्रिक=उकाल वाला है, सो प्रकृत सूत्र से ह्रस्व संज्ञा होने से 'छत्रम्' परे रहते छे च (६।१।७१) से ह्रस्व को तुक् का आगम होकर 'दधि तुक् छत्रम्' रहा । स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व होकर तुक् के 'त्' को 'च्' हो गया, तब दधिच्छत्रम् बन गया । मधुच्छत्रम् में भी इसी प्रकार मधु के 'उ' की ह्रस्व संज्ञा होने से तुक् आगम हो गया है ॥

कुमारी

कुमारी　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, सु आया ।

कुमारी सु　　यहाँ प्रकृत सूत्र से कुमारी के 'ई' की दीर्घ संज्ञा होकर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से दीर्घ से उत्तर सु का लोप हो गया है ।

कुमारी　　बना ॥

इसी प्रकार गौरी में भी जानें ॥

देवदत्त३अत्र न्वसि (देवदत्त ! क्या तुम यहाँ हो)

देवदत्त३अत्र न्वसि यहाँ देवदत्त ३ में प्रश्नान्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः (८।२।

१०१) से प्लुत होने लगा तो प्रकृत सूत्र ने बताया कि त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा होती है। तत्पश्चात् देवदत्त ३ के आगे जो सम्बोधने च (२।३।४७) से 'सु' आया, उसे ससजुषो रुः (८।२।६६) से रु हो गया, पुनः 'रु' को भोभगोअघोअपू० (८।३।१७) से 'य्' होकर उस य् का लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से लोप हो गया, तो देवदत्त ३ अत्र न्वसि बन गया॥

—:०:—

परि० उच्चैरुदात्तः (१।२।२९)

प्रोपुगुव की सिद्धि परि० १।१।२० में देखें॥

ये (जो सब)

यद्	अर्थवदधातु० (१।२।४५) फिषोऽन्त उदात्तः (फिट् १) फिष् अर्थात् प्रातिपदिक अन्तोदात्त होता है, उच्चैरुदात्तः ने कहा कि ऊर्ध्वभाग निष्पन्न अच की उदात्त संज्ञा हो। यद् में अन्तिम अच् 'य' का 'अ' है, सो उसी को उदात्त हो गया। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, 'जस्' विभक्ति आई.
यद् जस्	अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से जस् अनुदात्त हुआ, नीचैरनुदात्तः (१।२।३०) ने अनुदात्त संज्ञा बताई।
यअ् जस्	त्यादादीनामः (७।२।१०२) अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।
य अ जस्	अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर, एकादेश०(८।२।५) से दोनों अकारों का एकादेश उदात्त हुआ।
य जस्	जसः शी (७।१।१७) अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४)।
य शी	स्थानिवदादेशो० (१।१।५५) से स्थानिवत् होकर 'शी' जस् के समान माना गया, तब जस् का जो अनुदात्त स्वर था, वही स्वर शी का भी हो गया। अनुबन्ध लोप होकर—
य ई	आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश हो गया।
ये	एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त 'य' के 'अ' के साथ जो अनुदात्त 'ई' का एकादेश हुआ है, वह उदात्त ही हुआ, उच्चैरुदात्तः से उदात्त संज्ञा हुई।
ये	बन गया॥

इसी प्रकार तद् शब्द से 'ते' (वे सब) किम् शब्द से 'के' (कौन सब) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० नीचैरनुदात्तः (१।२।३०)

नमस्ते देवदत्त

"नमस् तुभ्याम्" यहाँ तुभ्यं के स्थान में तेमयावेकवचनस्य (८।१।२२) से 'ते' आदेश हुआ, जो कि अनुदात्तं सर्वमपादादौ (८।१।१८) से अनुदात्त हो गया। आगे देवदत्त यह सम्बोधनवाची पद है, सो सामन्त्रितम् (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होकर आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से 'देवदत्त' पद को सर्वानुदात्त होने लगा, तो नीचैरनुदात्तः ने नीचे भागों से बोले आनेवाले अच् की अनुदात्त संज्ञा की, तब नमस्ते देवदत्त बन गया ॥

त्व सम सिम

त्व सम सिम ये शब्द त्वत्वसमसिमेत्यनुच्चानि (फिट् ७८) इस फिट् सूत्र से अनुदात्त हैं ॥

—:०:—

परि० समाहारः स्वरितः (१।२।३१)

क्वं (कहाँ)

किम् ङि — पूर्ववत् किम् शब्द से ङि आकर, किमोऽत् (५।३।१२) प्रत्ययः; परश्च।

किम् ङि अत्, अनुबन्ध लोप एवं सुपो धातु० (२।४।७१) लगकर—

किम् अ — तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से 'अ' प्रत्यय स्वरित होने लगा, तो समाहारः स्वरितः ने बताया कि स्वरित क्या है।

किम् अं — क्वाति (७।२।१०५) से किम् को क्व आदेश हुआ।

क्व अं — यहाँ फिषोऽन्त उदात्तः (फिट् १) से किम् का 'इ' उदात्त था, अतः किम् को हुआ 'क्व' आदेश भी स्थानिवत् से उदात्त ही होगा।

क्व अं — यस्येति च (६।४।१४८) से क्व के अ का लोप हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६) पूर्ववत् 'सु' आकर—

क्व् अं सु — तद्धितश्चा० (१।१।३६) अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)। इस प्रकार

क्वं — 'क्वं' स्वरित हुआ।

शिक्यम् (छिक्का) कन्याम्

शिक्यम् तथा कन्या शब्द तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः (फिट् ७६) इस फिट् सूत्र से अन्त स्वरित हैं, शेष को अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से अनुदात्त हो ही जायेगा ।

सामसु साधुः सामन्यः (सामवेद में कुशल) यहाँ 'सामन् सुप्' इस अवस्था में तत्र साधुः (४।४।६८) से यत् प्रत्यय होकर सामन् सुप् यत्='सामन् य' रहा । तित्स्वरितम् (१।१।१७९) से य को स्वरित, तथा अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से शेष का निघात होकर सामन्यः बन गया ॥ यहाँ ये चाभाव० (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव होने से नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि का लोप नहीं हुआ ।

—:०:—

परि० विभाषा छन्दसि (१।२।३६)

(१) अग्निम् (अग्नि=ईश्वर को)

अगि गतौ — भूवादयो० (१।३।१), उपदेशे० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)

अग् — इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)

अनुम् ग्=अन्ग्, धातोः (६।१।१५६) से धातु को अन्त उदात्त अर्थात् 'अ' को उदात्त हुआ ।

अन्ग् — धातोः (३।१।९१) अङ्गेर्नलोपश्च (उणा० ४।५०) से 'नि' प्रत्यय तथा नुम के 'न' का लोप होकर—

अग् नि — आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय उदात्त हुआ, अब यहाँ 'अग्नि' में 'अ' तथा 'नि' दोनों उदात्त प्राप्त थे, तब सतिशिष्टस्वरो बलीयान् (महाभाष्य ६।१।१५२) इस भाष्य वचन से पीछे आनेवाला 'नि' का स्वर बलवान् (उदात्त) रहा और अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से 'अ' अनुदात्त हो गया ।

अग्नि — कृत्तद्धित० (१।२।४६) कर्मणि द्वितीया (२।३।२) आदि सब सूत्र लगकर 'अम्' आया ।

अग्नि अम् — अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से 'सुप्' होने से 'अम्' अनुदात्त हुआ ।

अग्नि अम् — अमि पूर्वः (६।१।१०३)

अग्निम् — एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त 'इ' के साथ अनुदात्त 'अ' का एकादेश उदात्त ही हुआ ।

अग्निम् — बना ॥

ईडे (स्तुति करता हूँ)

'ईड्' धातु से उत्तमपुरुष के एकवचन 'इट्' में ईडे की सिद्धि परि० १।१।२ के समान जानें। शेष स्वरसिद्धि निम्न प्रकार है—

ईड् को प्रथम धातोः (६।१।१५६) से धातुस्वर अन्तोदात्त प्राप्त हुआ। 'इट्' आने पर आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय-स्वर आद्युदात्त हुआ। तास्यनुदात्तेन्ङिद० (६।१।१८०) से लसार्वधातुक के अनुदात्त होने पर धातुस्वर ही प्राप्त हुआ। परन्तु अग्निम् ईडे इस अवस्था में तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से अतिङ् अग्निम् से उत्तर तिङन्त ईडे को सर्वनिघात=सर्वानुदात्त हो गया। पीछे उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर 'ईडे' के 'ई' को स्वरित हो गया। अनुदात्तं पदमेक० से (६।१।१५२) 'डे' के 'ए' को अनुदात्त होकर, स्वरितात् संहि०(१।२।३९) से उस अनुदात्त को एकश्रुति हो गई॥

पुरोहितम् (पुर एनं दधतीति=पुरोहित को)

पूर्वस्मिन् देशे; ऐसा विग्रह मानकर—

पूर्व ङि	पूर्ववत् रहा, पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५।३।३९) से पूर्व को 'पुर्' आदेश, तथा असि प्रत्यय हुआ।
पुर् ङि असि	सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), तथा पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—
पुर् अस् सु	तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७), अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)।
पुरस्	यहाँ आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय आद्युदात्त, अर्थात् 'पुरस्' के 'र' का 'अ' उदात्त है।

अब 'पुरो दधति एनम्' ऐसा विग्रह करके 'डुधाञ्' धातु से क्त प्रत्यय हुआ, तब—

पुरस् धा क्त	कृत्यल्युटो० (३।३।११३) से क्त प्रत्यय यहाँ बाहुलक से हुआ है। दधातेर्हिः (७।४।४२) लगकर—
पुरस् हित	अब प्रत्ययस्वर से 'क्त' भी यहाँ उदात्त हुआ। पुरोऽव्ययम् (१।४।६६) से पुरस् की गति संज्ञा होकर कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से 'पुरस् हित' का समास हो गया।
पुरस्हित	अब यहाँ समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त की प्राप्ति में गतिरनन्तरः (६।२।४९) से पूर्वपद 'पुरस्' को प्रकृतिस्वर, अर्थात् 'र' के 'अ' को जैसा उदात्त था वैसा ही रहा। अनुदात्तं पदमेक०(६।१।१५२) से शेष निघात हो गया।

पुरस्‌हित	ससजुषो रुः (८।२।६६), हशि च (६।१।११०) लगकर—
पुर उ हित	आद् गुणः (६।१।८४) से गुण होकर—
परोहित	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) लगकर—
परोहित	पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—
परोहित अम्	अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४), अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—
परोहितम्	स्वरितात् संहितायाम्० (१।२।३९) लगकर—
परोहितम्	बना ॥

यज्ञस्य (यज्ञ का)

यज	भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), धातोः (६।१।१५६)।
यज	यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (३।३।९०), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
यज् नङ्	आद्युदात्तश्च (३।१।३) 'सतिशिष्टस्वरो बलीयान्' से प्रत्यय को ही उदात्त हुआ, धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) लगकर—
यज् न	स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व हो गया।
यज्ञ	पूर्ववत् 'ङस्' विभक्ति आकर, टाङसिङसामि० (७।१।१२) से 'ङस्' को स्य आदेश हुआ।
यज्ञस्य	अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) लगकर—
यज्ञस्य	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से 'स्य' के 'अ' को स्वरित होकर—
यज्ञस्य	बना ॥

देवम् (देव को)

दिव्	पूर्ववत सब सूत्र लगकर धातुस्वर हुआ।
दिव्	नन्दिग्रहिपचादिभ्यो० (३।१।१३४) से अच् प्रत्यय होकर—
दिव् अच्	चितः (६।१।१५७), अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२)।
दिव् अ	पुगन्तलघूप० (७।३।८६) से पूर्ववत् गुण हुआ।
देव	कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—
देव अम्	अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) लगकर—

देव अम् — अमि पूर्व:(६।१।१०३), एकादेश उदात्तेनोदात्त:(८।२।५)होकर—

देवम् — ऐसा स्वर रहा ॥]

ऋत्विजम् (ऋतौ यजतीति=ऋत्विक् को)

ऋतु यज — भूवादयो० (१।३।१), धातो: ((६।१।१५६) से धातु को अन्तोदात्त हुआ।

ऋतु यज् — ऋत्विग्दधृक्स्रग्दि० (३।२।५६) से क्विन्प्रत्ययान्त ऋत्विक् शब्द निपातन है। अत:—

ऋतु यज क्विन् — वचिस्वपियजादीनां० (६।१।१५), इग्यण: सम्प्रसारणम् (१।१।४४)।

ऋतु इ अ ज् क्विन् =ऋतु इ ज् व् उपपदमतिङ् (२।२।१९), इको यणचि (६।१।७४)।

ऋत्विज् व् — वेरपृक्तस्य (६।१।६५), अपृक्त एकाल्प्रत्यय: (१।२।४१)।

ऋत्विज् — यहां अब समासस्य (६।१।२१७) के अन्तोदात्त को बाधकर गतिकारकोपपदात् कृत (६।२।१३८) से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर, अर्थात् 'इ' को उदात्त हुआ। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२),तथा पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

ऋत्विज् अम् — अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) लगकर—

ऋत्विजम् — उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित: (८।४।६५) होकर—

ऋत्विजम् — ऐसा स्वर रहा ॥

होतारम् (होता को)

हु — भूवादयो० (१।३।१), आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (३।२।१३४), तृन् (३।२।१३५), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

हु तृन् — सार्वधातु० (७।३।८४) से पूर्ववत् गुण।

होतृ — अब यहां प्रत्ययस्वर आद्युदात्तश्च (३।१।३) का अपवाद ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) लगा। उससे नित् प्रत्यय 'तृ' के परे रहते 'हो' के 'ओ' को उदात्त हुआ। पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर, अनुदात्तं पद० (६।१।१५२), अनुदात्तौ सु० (३।१।४)। लगकर—

होतृ अम् — उदात्तादनुदा० (८।४।६५) लगकर—

होतृ अम् — अब यहां ऋतो ङिसर्वना० (७।३।११०) से गुण, तथा अप्तृन्तृच्स्वसृ० (६।४।११) से दीर्घ होकर—

होतार् अम् स्वरितात् संहितायाः० (१।२।३९) लगकर—
होतारम् बना ॥

रत्नधातमम् (रत्नों को धारण करनेवालों में सब से श्रेष्ठ को)

रत्नानि दधाति ऐसा विग्रह करके 'रत्नधा' बना—

रत्न शस् धा	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, क्विप् च (३।२।७६) से क्विप् ।
रत्न शस् धा क्विप्	पूर्ववत् ही उपपदसमासादि, तथा क्विप् का सर्वापहारी लोप हुआ ।
रत्नधा	अब गतिकारकोपपदात् कृत् (६।२।१३८) से उत्तरपद को प्रकृति-स्वर अर्थात् धातुस्वर ही रहा । अनुदात्तं पद० (६।१।१५२), कृत्तद्धित० (१।२।४६) ।
रत्नधा	अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) से तमप् प्रत्यय हुआ ।
रत्नधा तमप्	अनुदात्तौ सु० (३।१।४) लगकर—
रत्न धातम्	पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर उसे भी अनुदात्त हो गया ।
रत्नधातम अम्	उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५), अमि पूर्वः (६।१।१०३) ।
होतारं रत्नधातमम्	स्वरितात् संहितायाः० (१।२।३९) से 'होतारम्' के 'ता' स्वरित से उत्तर अनुदात्त 'र' के 'अ', तथा अनुदात्त 'रत्न' के र के अकार को एकश्रुति हो गई । एवं 'तमम्' के 'म' के अ को भी एकश्रुति हो गई । अब 'धा' उदात्त के परे रहते रत्न के न को उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (१।२।४०) से एकश्रुति का अपवाद अनुदात्ततर स्वर हुआ । और—

होतारं रत्नधातमम् बना ॥

सर्वत्र उदाहरणों में विभाषा छन्दसि (१।२।३६) से एक पक्ष में ऐसा ही स्वर, तथा दूसरे पक्ष में एकश्रुति हो जाती है ॥

२. इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ (यजुः ४०।१)—

इषे (अन्न और विज्ञान की प्राप्ति के लिये)

इष गतौ	पूर्ववत् ही क्विप् च (३।२।७६) से क्विप् प्रत्यय हुआ ।
इष् क्विप्	तथा पूर्ववत् ही क्विप् का सर्वापहारी लोप, तथा 'ङे' विभक्ति ।
इष् ङे	अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से 'ङे' को अनुदात्त प्राप्त हुआ । पर सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः (६।१।१६२) ने अनुदात्त को बाध-

	कर विभक्ति को उदात्त कर दिया।
इष् ए	अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२) लगकर—
इषे	बना ॥

त्वा (तुझको)

'त्वा' यहाँ 'त्वाम्' पद के स्थान में त्वामौ द्वितीयायाः (८।१।२३) से त्वा आदेश हुआ है। तथा उसे अनुदात्तं सर्वमपादादौ (८।१।१८) से अनुदात्त भी हुआ है ॥

ऊर्जे (बल के लिये)

पूर्ववत् ही 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' धातु से 'इषे' के समान ही क्विप्, तथा क्विप् का लोपादि होकर, 'ङे' विभक्ति को सावेकाचस्तृ० (६।१।१६२) से उदात्त हो गया, तथा शेष अनुदात्त हो गया। सो ऊर्जे शब्द अन्तोदात्त रहा। अब आगे त्वा ऊर्जे को आद्गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश हुआ। तो अनुदात्त 'आ' तथा अनुदात्त 'ऊ' का एकादेश अनुदात्त ही होकर त्वोर्जे बना। इषे त्वोर्जे यहाँ 'षे' उदात्त से परे त्वोर्जे के 'त्वो' अनुदात्त को उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से स्वरित नहीं हुआ। क्योंकि इसके बाधक नोदात्तस्वरितोदय० (८।४।६६) ने 'र्जे' उदात्त के परे रहते 'त्वो' अनुदात्त को स्वरित होने से निषेध कर दिया ॥

आगे 'त्वा' पूर्ववत् ही अनुदात्त था, पर उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः(८।४।६५) से उदात्त से उत्तर स्वरित होकर त्वोर्जे त्वा बना ॥

वायवः (बहुत प्रकार की वायु)

वा गतिगन्धनयोः	भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), धातोः (६।१।१५६) कृवापाजिमि० (उणा० १।१), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
वा उण्	आतो युक्चिण्कृतोः (७।३।३३) से युक् आगम हुआ।
वा युक् उ=वा य् उ	आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय हुआ, तो धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), तथा पूर्ववत् 'जस्' आया।
वायु जस्	जसि च (७।३।१०९), अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४)।
वायो अस्	उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५), एचोयवायावः (६।१।७५)।
वायवस्	पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—
वायवः	बना ॥

स्थ

'स्थ' यहाँ मध्यम पुरुष बहुवचन में अस् धातु से लट् के लकार के स्थान में थ आदेश, तथा शप् का २।४।७१ से लुक् होकर 'अस् थ' रहा। श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) लगकर 'स्थ' बना। यहाँ तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात होकर, पुनः उस अनुदात्त को स्वरितात् संहितायाम्० (१।२।३९) से एकश्रुति हो गई ॥

शेष पूरे मन्त्र की स्वरसिद्धि हमारे बनाये 'यजुर्वेद-भाष्य-विवरण' यजु० १।१ में देखें। अन्य मन्त्रों की स्वरसिद्धि भी विस्तारभय हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। सर्वत्र उदाहरणों में मन्त्रपाठ के समय विभाषा छन्दसि (१।२।३६) से एक पक्ष में एकश्रुति हुआ करेगी ॥

—:०:—

परि० न सुब्रह्मण्यायां (१।२।३७)

सुब्रह्मण्योरेम् (सुब्रह्मणि साधुः)

सुब्रह्मन् ङि — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर रहा। समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तत्र साधुः (४।४।९८) से साधु (कुशल) अर्थ में यत् प्रत्यय हुआ।

सुब्रह्मन् ङि यत् — सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), तित्स्वरितम् (६।१।१७९)।

सुब्रह्मन् यं — अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२); कृत्तद्धित० (१।२।४६), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)।

सुब्रह्मन्यं टाप् — अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४), अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)।

सुब्रह्मन्या — यहाँ स्वरित और अनुदात्त के स्थान में हुआ एकादेश आन्तर्य से स्वरित ही हुआ। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से न को ण हुआ।

सुब्रह्मण्या ओरेम् — अब यहाँ ओरेम् निपात का ओमाङोश्च (६।१।९२) से पररूप एकादेश हुआ।

सुब्रह्मण्योरेम् — निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से ओम् उदात्त था। सो आन्तर्य से स्वरित और उदात्त का एकादेश स्वरित ही हुआ।

सुब्रह्मण्योरेम् — न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य० से स्वरित के स्थान में उदात्त होकर—

सुब्रह्मण्योरेम् — हो गया ॥

इन्द्र

इन्द्र यह सम्बोधन पद है। सामन्त्रितम् (२।३।४८) से इसकी आमन्त्रित

संज्ञा होकर, आमन्त्रितस्य च (६।१।१९८) से आद्युदात्त हुआ। पीछे अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से 'द्र' अनुदात्त होकर, उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से स्वरित हुआ। अब इस स्वरित को न सुब्रह्मण्यायां० से उदात्त हो गया। सो इन्द्र में दोनों अच् उदात्त गये ॥

आगच्छ

'आगच्छ' यह 'आङ् पूर्वक गम्लृ' धातु का लोट् मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८१) इस फिट् सूत्र से आङ् का 'आ' उदात्त है। तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से गच्छ को सर्वानुदात्त हुआ। उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से 'ग' का 'अ' स्वरित हुआ। उस स्वरित को न सुब्रह्मण्यायां० से उदात्त हो गया। तो 'आ' तथा 'ग' दोनों उदात्त, तथा 'छ' को अनुदात्त होकर आगच्छ बना ॥

हरिव आगच्छ

'हरिवः' यहाँ हरि शब्द से तदस्यास्त्य० (५।२।९४) से मतुप् हुआ है। उगिदचां० (७।१।७०) से नुम् आगम, तथा सम्बुद्धि का सु आकर हरि म नुम् त् सु= हरि म न् त् स् रहा। हल्ङ्याबि लोप, तथा संयोगान्त लोप होकर हरिमन् रहा। अब मतुवसो रु सम्बुद्धौ० (८।३।१) से न् को रु, तथा छन्दसीरः (८।२।१५) से 'म' को 'व' होकर हरिवर्=हरिवः बना। हरिवः अब यह आमन्त्रित पद है। सो पूर्ववत् ही आमन्त्रितस्य च (६।१।१९८) से आद्युदात्त है। आगे उदात्त से उत्तर अनुदात्त 'रि' को जो पूर्ववत् स्वरित हुआ, उस स्वरित को प्रकृत सूत्र ने उदात्त विधान कर दिया, तो हरिवः बना। 'वः' अनुदात्त ही रहा। आगच्छ में पूर्ववत् ही स्वर जानें ॥

मेधातिथेर्मेष

मेधातिथेः यह षष्ठ्यन्त सुबन्त है। मेष यह आमन्त्रित पद है। सो सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (२।१।२) से 'मेधातिथेः' को पराङ्गवत् (पर के अङ्ग के समान) 'मेष' के समान स्वरवाला माना गया। 'मेष' आमन्त्रितस्य च (६।१।१९८) से आद्युदात्त था। पराङ्गवद्भाव होने से मेधातिथेः का 'मे' उदात्त हुआ, शेष सारे निघात हो गये। उस उदात्त से उत्तर जो 'धा' अनुदात्त उसको उदात्ता० (८।४।६५) से स्वरित हुआ। उस स्वरित को प्रकृत सूत्र से उदात्त हो गया, तो 'मेधातिथेर्मेष' में आदि के दो उदात्त रहे ॥

वृषणश्वस्य मेने

वृषाणो अश्वा यस्य स वृषणश्वः, तस्य 'वृषणश्वस्य मेने'। यहाँ भी 'मेने'

आमन्त्रित पद था। अतः सारा स्वर पराङ्गवत् होकर मेधातिथे र्मेष के समान ही है ॥

गौरावस्कन्दिन्

गौरावस्कन्दिन् यह भी आमन्त्रित पद है। सो पूर्ववत् ही गो के 'ओ' को उदात्त होकर, उस उदात्त से उत्तर स्वरित को प्रकृत सूत्र से उदात्त विधान हुआ ॥

अहल्यायै जार

'अहल्यायै जार' में 'मेधातिथेर्मेष' के समान ही स्वरकार्य होंगे। क्योंकि 'जार' यह आमन्त्रित पद था। उसके परे रहते 'अहल्यायै' को पराङ्गवद्भाव हो गया ॥

कौशिकब्राह्मण तथा गोतमब्रुवाण यह आमन्त्रित पद हैं। अतः गौरावस्कन्दिन् की तरह ही स्वर रहेगा ॥

श्वः शब्द निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से उदात्त है ॥

सुत्याम्[1]

सुत्या यहाँ 'षुञ्' धातु से संज्ञायां समजनिषदनिपत० (३।३।९९) से क्यप् प्रत्यय हुआ है। वहां उदात्त की अनुवृत्ति मन्त्रे वृषेष० (३।३।९६) से आती है। सो यहां उदात्त क्यप् हुआ। धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से 'ष्' को 'स्', तथा ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम, एवं अजाद्य० (४।१।४) से टाप् होकर सुत्या बना है। अम् आकर, तथा एकादेश होकर 'आ' ही उदात्त रहा। अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से सुत्या का सु अनुदात्त हो गया। अब उदात्तादनुदात्त० (८।४।६५) से 'श्वः' उदात्त से परे 'सुत्या' का 'सु' स्वरित हो गया। तब उस स्वरित को प्रकृत सूत्र ने उदात्त कर दिया। सो 'सुत्या' में दोनों अच् उदात्त रहे ॥

आगच्छ का स्वर पूर्ववत् ही जानें ॥

मघवन्

मघवन् यह आमन्त्रित पद है। सो 'आगच्छ' पद से उत्तर आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से सर्वनिघात हो गया ॥

—:०:—

---

१. 'श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्' यह पाठ शतपथ ब्राह्मण में सुब्रह्मण्यादि निगदों के अन्तर्गत प्राप्त नहीं है। वस्तुतः यह पाठ ऊहकृत है।

परि० देवब्रह्मणो० (१।२।३८)

देवा ब्रह्माणः

देवाः, ब्रह्माणः ये दोनों पद आमन्त्रितसंज्ञक हैं। सो आमन्त्रितस्य च (६।१। १६२) से दोनों को आद्युदात्त होने पर शेष अनुदात्त हो गया। अब उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर अनुदात्त को जो स्वरित हुआ था, उसको पूर्व सूत्र से उदात्त प्राप्त था। पर प्रकृत सूत्र ने अनुदात्त कर दिया, तो 'देवा ब्रह्माणः' ऐसा स्वर रहा। यहां आमन्त्रितं पूर्वं० (८।१।७२) से देवाः का अविद्यमानवद्भाव होने से आष्टमिक आमन्त्रित निघात नहीं हुआ॥

—:०:—

परि० स्वरितात् संहितायां० (१।२।३९)

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋक् १०।७५।५)

'इदम्' शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है। पूर्ववत् 'इदम्' शब्द के आगे 'अम्' विभक्ति आई। त्यदादीनामः (७।२।१०२) से इदम् के 'म्' को अकारादेश, तथा दश्च (७।२।१०९) से 'द्' को 'म' होकर—इम अम्=इमम् बना। अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से विभक्ति अनुदात्त थी। सो अमि पूर्वः (६।१।१०३) से उदात्त 'म' का अ (प्रातिपदिकस्वर से उदात्त है), तथा अनुदात्त अम् का एकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त ही रहा। शेष निघात होकर इमम् ऐसा स्वर रहा॥

'मे' यहां मम शब्द को तेमयावेकवचनस्य (८।१।२२) से अनुदात्त 'मे' आदेश हुआ। उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से 'मे' स्वरित हो गया। आगे गङ्गे यमुने तथा सरस्वति पद आमन्त्रितसंज्ञक हैं। सो 'मे' पद से उत्तर सब को आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात हो गया। तब उन अनुदात्तों को प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हो गई। शुतुद्रि का स्वर अगले सूत्र पर देखें॥

माणवक जटिलकाध्यापक

माणवक यह आमन्त्रित पद होने से आमन्त्रितस्य (६।१।१९२) से आद्युदात्त है। शेष को निघात होकर उदात्त से उत्तर स्वरित हो गया। शेष बचे पूर्ववत् अनुदात्तों को प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हो गई। जटिलकाध्यापक ये दोनों पद भी आमन्त्रितस्य च

(८।१।१९) से सर्वनिघात हैं। उन को भी प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हुई है। आमन्त्रितं पूर्वम० (८।१।८२) से यहां पूर्व आमन्त्रित की अविद्यमानता प्राप्त थी। सो पद से उत्तर न मिलने से यहां निघात न होता, पर नामन्त्रिते समाना० (८।१।७३) से विद्यमानवत् ही माना गया, तो निघात होकर एकश्रुति हो गई॥

क्वं गमिष्यसि

क्वं यह स्वरितान्त पद है (देखो परि० १।२।३१)। इस क्वं से उत्तर गमिष्यसि को तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात हुआ है। उस निघात को प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हो गई है॥

—:०:—

परि० उदात्तस्वरित० (१।२।४०)

देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः

'देवा मरुतः पृश्निमातरः' ये तीनों पद आमन्त्रितसंज्ञक हैं। तीनों के एकीभूत होने पर आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त होकर शेष निघात हो गया। विभाषितं विशेष० (८।१।७४) से विद्यमानपक्ष में भी आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात हो गया। इस प्रकार 'दे' उदात्त, 'वा' उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से स्वरित, और शेष सब अच् स्वरितात्० (१।२।३९) से एकश्रुति हुए। परन्तु पृश्निमातरः के अनुदात्त 'र' से परे उदात्त 'प' आ रहा है। अतः यहां एकश्रुति न होकर प्रकृत सूत्र से सन्नतर आदेश हो गया है। आगे संक्षेपार्थ 'मातृ जस्' अंश को लेकर सिद्धि दर्शाई गई है—

मातृ जस्	पूर्ववत् जस् विभक्ति आकर, ऋतो ङिसर्वनाम० (७।३।११०) से मातृ को गुण हुआ।
मातरस् अपः	'अपः' शब्द यहां शस्-विभक्त्यन्त है, जो कि ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (६।१।१६५) से अन्तोदात्त है। शेष 'अ' अनुदात्त है। अब यहां 'मातरस्' के स् को रुत्व होकर—
मातरर् अपः	अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९) से 'उ'। तथा—
मातर उ अपः	आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश हो गया।
मातरो अपः	एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से 'ओ' तथा 'अ' को पूर्वरूप एकादेश (ओकार) हो गया। यह ओकारादेश दोनों अनुदात्तों के स्थान में हुआ है, अतः आन्तर्य से अनुदात्त ही हुआ। एवं यह ओकार उदात्तपरक=उदात्त परेवाला ('प' उदात्त परे है)

भी है। अतः यहां प्रकृत सूत्र से 'ओ' को सन्नतर आदेश होकर—
मातरोऽव: ... बना ॥

सरस्वति शुतुद्रि

'शुतुद्रि' यह आमन्त्रित पद पाद के आदि में है। सो इसे आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात नहीं होता। क्योंकि यहां अनुदात्तं सर्वमपादादौ (८।१।१८) का अधिकार आता है। अतः पाद के आदि में होने से 'शुतुद्रि' को निघात न होकर आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त (शुतुद्रि के शु को उदात्त) होता है। इस उदात्त के परे रहते सरस्वति का इकार, जो कि आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात था, उसे प्रकृत सूत्र से सन्नतर=अनुदात्ततर आदेश हो जाता है॥

अध्यापक क्व

यहां 'क्व' स्वरित के परे रहते 'अध्यापक' का 'क' जो कि आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से अनुदात्त था, उसको प्रकृत सूत्र से स्वरितपरक होने से अनुदात्ततर आदेश हो गया॥

—:०:—

परि० अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१)

वाक् (वाणी)

वाच्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
वाच् सु=स्	अपृक्त एकाल्प्रत्ययः से एक अल् 'स्' की अपृक्त संज्ञा होने से हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६६) से 'स्' का लोप हो गया।
वाच्	चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व हुआ। झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) लगकर—
वाग्	वावसाने (८।४।५५) से पुनः चर्त्व होकर क्, ग् दोनों रहे।

वाक्, और पक्ष में वाग् बना॥

लता, कुमारी यहां भी अपृक्त 'स्' का लोप पूर्ववत् ही हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से हुआ है॥

घृतस्पृक् (घृतं स्पृशतीति=घी को छूनेवाला)

घृत अम् स्पृश	भूवादयो० (१।३।१), तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२), स्पृशोऽनुदके क्विन् (३।२।५८), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) लगकर—

घृत अम् स्पृश् क्विन्[1] उपपदमतिङ् (२।२।१६), सुपो धातु० (२।४।७)।

घृतस्पृश् व्	अपृक्त एकाल्प्रत्ययः से एक अल् 'व्' की अपृक्त संज्ञा हुई। तो वेरपृक्तस्य (६।१।६५) से उसका लोप हो गया। कृत्तद्धित० (१।२।४६) लगकर, पूर्ववत् सु आकर—
घृतस्पृश् सु	अपृक्त एकाल्०, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) लगकर—
घृतस्पृश्	क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से श् का ख् होकर—
घृतस्पृख्	झलां जशो० (८।२।३९) से ख् को ग्, तथा वावसाने (८।४।५५) चर्त्व होकर—

घृतस्पृग्, घृतस्पृक् बना ॥

अर्द्धभाक् (अर्धं भजतीति=आधे को प्राप्त करनेवाला)

अर्द्ध अम् भज	सब पूर्ववत् ही होकर, भजो ण्विः (३।२।६२) से ण्वि प्रत्यय हुआ।
अर्द्ध अम् भज ण्वि	पूर्ववत् ही समासादि सब होकर—
अर्द्ध भज् व्	अत उपधायाः (७।२।११६) से उपधा को वृद्धि हुई। तथा पूर्ववत् ही अपृक्त 'व्' का लोप हुआ।
अर्द्धभाज्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—
अर्द्धभाज् सु=स्	अपृक्त एकाल्०, हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—
अर्द्धभाज्	चोः कुः (८।२।३०)।
अर्द्धभाग्	वावसाने (८।४।५५) लगकर—

अर्द्धभाग्, अर्द्धभाक् बना ॥

इसी प्रकार 'पादं भजतीति=पादभाक्' (चौथाई को प्राप्त करनेवाला) में भी जानें ॥

—:o:—

परि० तत्पुरुषः समा० (१।२।४२)

पाचकवृन्दारिका (अच्छी रोटी पकानेवाली)

पाचिका चासौ वृन्दारिका च—

पाचिका सु वृन्दारिका सु समर्थः पदविधिः (२।१।१), तत्पुरुषः (२।१।२१), वृन्दा-

---

१. क्विन् में इकार उच्चारणार्थ है, अनुबन्ध नहीं है।

रकनागकुञ्जरैः० (२।१।६१) से तत्पुरुष समास हुआ। सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) लगकर—

पाचिकावृन्दारिका — अब यहाँ 'पाचिकावृन्दारिका में' वही पाचिका है, तथा वही वृन्दारिका है। अर्थात् समानाधिकरण तत्पुरुष है। सो तत्पुरुषः समानाधिकरणः० से कर्मधारय संज्ञा हो गई। कर्मधारय संज्ञा होने से पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (६।३।४०) से पुंवद्भाव, अर्थात् पुंल्लिङ्ग के समान रूप हो गया। आगे पूर्ववत् सु आकर—

पाचकवृन्दारिका सु=स् — हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) लगकर—

पाचकवृन्दारिका — बना॥

परमञ्च तद् राज्यञ्च=परमराज्यम् (बढ़िया राज्य); उत्तमञ्च तद् राज्यञ्च उत्तमराज्यम् (उत्तमराज्य), यहाँ पर भी समानाधिकरण है। क्योंकि वही राज्य है, तथा वही परम और उत्तम भी है। सो सन्महत्परमोत्तमो० (२।१।६०) से तत्पुरुष समास होकर प्रकृत सूत्र से कर्मधारय संज्ञा हो गई। कर्मधारय संज्ञा होने से अकर्मधारये राज्यम् (६।२।१२९) से उत्तरपद को आद्युदात्त नहीं होता। और समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त हो जाता है। शेष सब पूर्ववत् ही जानें॥

—:०:—

परि० प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३)

कष्टश्रितः (कष्टम् श्रितः=कष्ट को प्राप्त हुआ)

कष्ट अम् श्रित सु — समर्थः पदविधिः (२।१।१), प्राक्कडारात् समासः (२।१।३), तत्पुरुषः (२।१।२१), द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्त० (२।१।२३) से द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ। द्वितीया श्रितातीत० यह सूत्र समास विधान करता है, और यहाँ "द्वितीया" पद में प्रथमा विभक्ति है। सो प्रथमानिर्दिष्ट होने से द्वितीयान्त पद 'कष्टम्' की प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होकर उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से 'कष्टम्' पद ही पूर्व में आता है।

कष्ट अम् श्रित सु — कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) पूर्ववत् सु आकर—

कष्टश्रित सु — रुत्व विसर्जनीय होकर—
कष्टश्रितः — बन गया ॥

शङ्कुलाखण्डः (शङ्कुलया खण्डः=सरोते के द्वारा काटा हुआ टुकड़ा)

शङ्कुला टा खण्ड सु — तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२।१।२६) से तृतीयातत्पुरुष समास हुआ। यहाँ भी तृतीया तत्कृतार्थेन० सूत्र में 'तृतीया' पद में प्रथमा विभक्ति होने से प्रकृत सूत्र से तृतीयान्त को उपसर्जन संज्ञा होकर उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से तृतीयान्त उपसर्जनसंज्ञक 'शङ्कुलया' शब्द ही पूर्व में आता है। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।

शङ्कुलाखण्ड — पूर्ववत् सु आकर रुत्व विसर्जनीय होकर—
शङ्कुलाखण्डः — बना ॥

यूपदारु (यूपाय दारु=खम्भे के लिये लकड़ी)

यूप ङे दारु सु — चतुर्थी तदर्थार्थबलि० (२।१।३५) से चतुर्थी तत्पुरुष समास हुआ। यहाँ भी 'चतुर्थी' पद में प्रथमा विभक्ति होने से चतुर्थ्यन्त को प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होकर पूर्ववत् 'यूपाय' चतुर्थ्यन्त पद ही पूर्व में आता है।

यूप ङे दारु सु — कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) लगकर—

यूपदारु — पूर्ववत् सु आकर स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से उसका लुक् होकर—

यूपदारु — बना ॥

वृकभयम् (वृकेभ्यो भयम्=भेड़ियों से डर)

वृक भ्यस् भय सु — पञ्चमी भयेन (२।१।३६) यहाँ भी 'पञ्चमी' में प्रथमा होने से पञ्चम्यन्त को प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होकर पूर्ववत् पञ्चम्यन्त पद ही पूर्व में आता है।

वृक भ्यस् भय सु — कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—
वृकभय — पूर्ववत् सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४) लगा। और—
वृकभयम् — बना ॥

राजपुरुषः (राज्ञः पुरुषः = राजा का पुरुष)

राजन् ङस् पुरुष सु — षष्ठी (२।२।८) यहां भी षष्ठ्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्ववत् षष्ठ्यन्त हो पूर्व में आता है।

राजन् ङस् पुरुष सु — शेष पूर्ववत् होकर, तथा नलोपः प्राति० (८।२।७) से नकार लोप होकर—

राजपुरुषः — बन गया ॥

अक्षशौण्डः (अक्षेषु शौण्डः = पासों में आसक्त = धूर्त)

अक्ष सुप् शौण्ड सु — सप्तमी शौण्डैः (२।१।३९) यहां भी 'सप्तमी' में प्रथमा विभक्ति होने से प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होकर सप्तम्यन्त पद ही पूर्व आता है। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

अक्षशौण्ड — पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—

अक्षशौण्डः — बना ॥

—:०:—

परि० एकविभक्ति० (१।२।४४)

निष्कौशाम्बिः (कौशाम्बी से जो निकल गया, वह)

निर् सु कौशाम्बी ङसि — निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या (वा० २।२।१८) से समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

निर् कौशाम्बी — एकविभक्ति चापूर्वनिपाते से यहां 'कौशाम्बी' की उपसर्जन संज्ञा हो गई। क्योंकि विग्रह करने पर निष्क्रान्त शब्द यद्यपि सब विभक्तियों से युक्त होता है, पर कौशाम्बी यह शब्द नियत पञ्चम्यन्त ही है। पूर्व निपात कार्य को छोड़ कर उपसर्जन संज्ञा होती है। अतः कौशाम्बी का पूर्व निपात उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से नहीं होता है। कौशाम्बी की उपसर्जन संज्ञा होने से गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से उसको ह्रस्व हो जाता है।

निरकौशाम्बि — खरवसानयो० (८।३।१५) से र् को विसर्जनीय होकर—

निःकौशाम्बि — इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य (८।३।४१) से उस विसर्जनीय को षत्व हो गया।

निष्कौशाम्बि पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—
निष्कौशाम्बिः बना ॥

इसी प्रकार निर्वाराणसिः में भी जानें । केवल यहां खर् परे न होने से 'र्' को विसर्जनीय नहीं होता, यही विशेष है ।

—:०:—

परि० गोस्त्रियो०(१।२।४८)

चित्रगुः (चित्रा गावो यस्य सः =चित्रित हैं गायें जिसकी)

चित्र जस् गो जस् अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), सप्तमी विशेषणे० (२।२।३५) से विशेषणवाची चित्र का पूर्व प्रयोग हुआ ।

चित्रगो बहुव्रीहि समास में सारे ही पद उपसर्जन होते हैं । अतः 'चित्रगो' उपसर्जन गोशब्दान्त प्रातिपदिक है । सो प्रकृत सूत्र से ह्रस्व प्राप्त हुआ । अब 'ओ' को क्या ह्रस्व हो, तो एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) ने कहा कि 'एच्' को 'इक्' ह्रस्व हो । पूर्ववत् सब सूत्र लगकर सु आया ।

चित्रगु सु पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—
चित्रगुः बना ॥

इसी प्रकार 'शबला गावो यस्य स शबलगुः' (चितकबरी हैं गायें जिसकी, वह) की सिद्धि भी जानें । निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः की सिद्धि भी परि० १।२।४४ में देखें । कौशाम्बी वाराणसी स्त्रीप्रत्ययान्त (ङीबन्त) शब्द हैं । १।२।४४ से उपसर्जनसंज्ञक भी हैं । अतः प्रकृत सूत्र से ह्रस्व हो गया है ॥

खट्वामतिक्रान्तः = अतिखट्वः (जो खाट को अतिक्रमण = लांघ गया हो), मालामतिक्रान्तः = अतिमालः (जो माला का अतिक्रमण कर गया हो), यहां भी 'अति सु खट्वा अम्'; अति सु माला अम्, इस अवस्था में अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (वा० २।२।१८) इस वार्तिक से समास, तथा सब कार्य पूर्ववत् होकर अतिखट्वा, अतिमाला रहा । यहां खट्वा माला स्त्रीप्रत्ययान्त (टाबन्त) शब्द हैं । इनको उपसर्जन संज्ञा भी १।२।४४ से हो जाती है । सो प्रकृत सूत्र से ह्रस्व, तथा शेष पूर्ववत् होकर अतिखट्वः, अतिमालः बन गया है ॥

परि० लुक्तद्धितलुकि (१।२।४६)

इन्द्राणी

इन्द्र	अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), स्त्रियाम् (४।१।३), इन्द्रवरुणभवशर्व० (४।१।४६) से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् आगम इन्द्र शब्द को हुआ। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

इन्द्र आनुक् ङीष्=इन्द्र आन् ई अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)।

इन्द्रानी	अट्कुप्वाङ्नुम्व्य० (८।४।२) से णत्व, तथा पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञादि।

इन्द्राणी	बना॥

अब यहाँ पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य=पञ्चेन्द्रः (पाँच इन्द्राणियाँ देवता हैं इस स्थालीपाक की) ऐसा विग्रह करके पञ्चेन्द्रः बना है।

पञ्चेन्द्रः

पञ्चन् जस् इन्द्राणी जस् तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) से समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

पञ्चन्इन्द्राणी नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७), आद्गुणः (६।१।८४)।

पञ्चेन्द्राणी	सास्य देवता (४।२।२३) से अण् प्रत्यय हुआ, तद्धिताः (४।१।७६)।

पञ्चेन्द्राणी अण् संख्यापूर्वो० (२।१।५१), द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से द्विगुसम्बन्धी अण् प्रत्यय का लुक् हुआ।

पञ्चेन्द्राणी	लुक्तद्धितलुकि से तद्धितप्रत्यय अण् के लुक् हो जाने पर इन्द्रवरुणभव० (४।१।४६) से जो स्त्रीप्रत्यय ङीष् आया था, उसका भी लुक् हो गया। तथा उस स्त्रीप्रत्यय के साथ जो आनुक् आगम हुआ था, वह भी हट गया (इस विषय में देखो परिभाषा ७५)।

पञ्चेन्द्र	पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

पञ्चेन्द्रः	बना॥

इसी प्रकार दश इन्द्राण्यो देवता अस्य=दशेन्द्रः की सिद्धि भी जानें॥

पञ्चशष्कुलम् (पाँच पूरियों से खरीदी हुई वस्तु)

पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीतम्—

पञ्चन् भिस् शष्कुली भिस् पूर्ववत् ही समासादि सब कार्य होकर—

पञ्चशष्कुली	तेन क्रीतम् (५।१।३६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२), तद्धिताः (४।१।७६)।

पञ्चशष्कुली ठक् सङ्ख्यापूर्वो० (२।१।५१), अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) से ठक् प्रत्यय का लुक् हो गया।

पञ्चशष्कुली लुक्तद्धितलुकि से ठक् के लुक् हो जाने पर, स्त्रीप्रत्यय जो कि शष्कुल शब्द से षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) से हुआ था, उसका भी लुक् हो गया।

पञ्चशष्कुल पूर्ववत् सु आकर, 'सु' को अम् अतोऽम् (७।१।२४) से हो गया।

पञ्चशष्कुल अम्=पञ्चशष्कुलम् बन गया॥

आमलकम् (आमलक्याः फलम्=आँवले वृक्ष का फल)

आमलक अर्थवदधा० (१।२।४५), षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) लगकर—

आमलक ङीष्=आमलक ई यस्येति च (६।४।१४८)।

आमलकी पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर ङस् आया।

आमलकी ङस् वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्० (१।१।७२), वृद्धिरादैच् (१।१।१), तस्य विकारः (४।३।१३२), नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४।३।१४२), तद्धिताः (४।१।७६)कृत्तद्धित०,(१।२।४६),सुपो धातुप्रा०(२।४।७१)।

आमलकी मयट् अब इस मयट् का, जो कि विकार अर्थ में आया था, फले लुक् (४।३।१६१) से लुक् हो गया।

आमलकी तो लुक्तद्धितलुकि से स्त्री प्रत्यय ङीष् का भी लुक् हो गया।

आमलक पूर्ववत् 'सु' आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगकर—

आमलकम् बना॥

बकुल, कुवल, बदर शब्द भी गौरादि में पढ़े हैं, सो पूर्ववत् ङीष् होकर बकुली, कुवली, बदरी शब्दों से अनुदात्तादेश्च (४।३।१३८) से विकार अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय आया। उसका पूर्ववत् ही फले लुक् (४।३।१६१) से लुक् होकर, प्रकृत सूत्र से स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो गया। शेष सब पूर्ववत् होकर बकुलम् (कटुकी वृक्ष का फल); कुवलम् (कुवल वृक्षविशेष का फल); बदरम् (बदर वृक्ष का विकार, अर्थात् बेर) बन गया॥

—:०:—

परि० लुपि युक्तवद्० (१।२।५१)

पञ्चालाः जनपदः (पञ्चाल नाम का जनपद)

पञ्चाल पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ङस्' विभक्ति आई।

पञ्चाल ङस् 　समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), जनपद-शब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से 'पञ्चालस्यापत्यानि बहूनि' इस अर्थ में 'अञ्' हुआ ।

पञ्चाल ङस् अञ् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), ते तद्राजाः (४।१।१७२), तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (२।४।६२) से बहुत्व अर्थ में आये तद्राज प्रत्यय का लुक् हो गया ।

पञ्चाल 　अब यह पञ्चाल शब्द पुँल्लिङ्ग तथा बहुवचनविषयक है । क्योंकि यह पञ्चाल नामक क्षत्रिय की बहुत सी सन्तानों (पुत्र पौत्रादि) को कहता है । सो इस पुँल्लिङ्ग बहुवचन विषयक शब्द से आगे 'तेषां (पञ्चालानां) निवासो जनपदः' ऐसा विग्रह करके प्रत्यय लाना है । अतः पूर्ववत् सब सूत्र लगकर आम् विभक्ति आई ।

पञ्चाल आम् तस्य निवासः (४।२।६८) से निवास अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ ।

पञ्चाल आम् अण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

पञ्चाल अ 　जनपदे लुप् (४।२।८०) से अण् का लुप् हुआ ।

पञ्चाल 　अब यह 'पञ्चाल' एक जनपद का वाचक शब्द है। सो एकत्व का वाचक होने से एकवचन होना चाहिये । पर लुपि युक्तवद् व्यक्ति-वचने ने कहा कि—'लुप् होने पर प्रकृतिवत् ही लिङ्ग वचन हों', तो यहाँ अण् का लुप् हुआ है । अतः प्रकृतिवत् लिङ्ग वचन प्राप्त हुये । अण् प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व यह पञ्चाल शब्द, "पञ्चाल क्षत्रिय" के बहुत अपत्यों को कहता था । अतः बहुवचनविषयक एवं पुँल्लिङ्ग था । सो अब यद्यपि एक जनपद को कहता है, तो भी बहुवचन एवं पुँल्लिङ्ग ही होगा । अब कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर, बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) से बहुत्व विवक्षा में 'जस्' हुआ ।

पञ्चाल जस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण, तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

पञ्चालाः जनपदः बन गया ॥

कुरवः (कुरु नाम का जनपद)

'कुरोरपत्यानि बहूनि' इस अर्थ में 'कुरु' शब्द से कुरुनादिभ्यो ण्यः (४।१।१७०) से ण्य प्रत्यय आया । और उसका पूर्ववत् तद्राजस्य बहुषु० (२।४।६२)

से लुक् होकर 'कुरु' ही रहा। पूर्ववत् ही यह 'कुरु' शब्द अब बहुवचनविषयक तथा पुंल्लिङ्ग है। सो 'कुरूणां निवासो जनपदः' ऐसा विग्रह करके पूर्ववत् अण् प्रत्यय आया। तथा उसका लुप् भी जनपदे लुप् (४।२।८०) से हो गया। अब यह 'कुरु' शब्द जनपद का वाची है, सो एकवचन होना चाहिये, पर लुपि युक्तवद्० से पूर्ववत् लिङ्ग वचन होने से पूर्व जैसे कि बहुवचनविषयक था, वैसे ही हो गया। सो 'जस्' विभक्ति आकर जसि च (७।३।१०९) से गुण होकर 'कुरो अस्'=कुरस्=कुरवः जनपदः बन गया॥

मगधाः जनपदः, मत्स्याः, अङ्गाः, वङ्गाः, सुह्माः, पुण्ड्राः इन सारे उदाहरणों में द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् (४।१।१६८) से बहुत अपत्यों को कहने में अण् प्रत्यय होकर पूर्ववत् तद्राजस्य० (२।४।६२) से लुक् होकर, पुनः निवास अर्थ में अण् प्रत्यय आया। सिद्धि पूर्ववत् ही जानें। प्रकृत सूत्र से बहुवचन विषयक ये सारे शब्द हो गये। ऊपर की ही सारी बात यहाँ भी लगा लेनी चाहिये॥

गोदौ ग्रामः (गोदौ नाम का ग्राम)

गोदौ नाम ह्रदौ=गोदौ यह दो जलाशयों का नाम है। सो 'गोदयोरदूरभवो ग्रामः' ऐसा विग्रह करके अदूरभवश्च (४।२।६९) से अदूरभव (निकट) अर्थ में अण् प्रत्यय होकर "गोद ओस् अण्" रहा। वरणादिभ्यश्च (४।२।८१) से पूर्ववत् ही अण् का लुप् होकर 'गोद' रहा। अब यह गोद एकत्वाभिधायी है, क्योंकि एक ग्राम को कहता है। सो यहाँ एकवचन का प्रत्यय होना चाहिये, पर अण् प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व यह 'गोद' शब्द द्विवचनान्त था। अतः प्रकृत सूत्र से अब भी द्विवचन ही होकर, द्विवचन का प्रत्यय 'औ' आकर गोदौ ग्रामः बन गया॥

कटुकबदरी ग्रामः (कटुकबदरी नाम का ग्राम)

यहाँ भी 'कटुकबदर्याः अदूरभवो ग्रामः' (कटुकबदरी के समीपवाला ग्राम) इस अर्थ में पूर्ववत् अदूरभवश्च (४।२।६९) से अण् प्रत्यय होकर वरणादिभ्यश्च (४।२।८१) से पूर्ववत् अण् का लुप् हो गया, तो 'कटुकबदरी' रहा। अब यह कटुकबदरी शब्द पुंल्लिङ्ग ग्राम शब्द का वाचक है। सो समानाधिकरण होने से कटुकबदरी में भी पुंल्लिङ्ग होना चाहिये। पर लुपि युक्तवद्० सूत्र ने कहा कि पूर्ववत् लिङ्ग वचन हों। सो यहाँ अण् प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व कटुकबदरी में स्त्रीलिङ्ग था। अतः अब यद्यपि ग्राम पुंल्लिङ्ग का वाचक है, तो भी स्त्रीलिङ्ग ही रहा। शेष पूर्ववत् ही सु आकर, हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से उसका लोप हो गया॥

वस्तुतः यह उदाहरण पूर्ववत् व्यक्ति=लिङ्ग करने का है, तथा ऊपर के सब उदाहरण पूर्ववत् वचन=सङ्ख्या (एकत्व द्वित्व बहुत्वादि) करने के हैं॥

—:०:—

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः

परि० आदिर्ञिटुडवः (१।३।५)

मिन्नः (स्निग्ध हुआ-हुआ)

ञिमिदा — भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।६), अदर्शनं लोपः (१।१।५६) लगकर—

मिद — अब यहाँ 'मिद्' का 'ञि' इत् गया है। सो धातोः (३।१।६१), ञीतः क्तः (३।२।१८७) से वर्त्तमानकाल में 'क्त' प्रत्यय हुआ।

मिद् क्त — आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ पर आदितश्च (७।२।१६) से निषेध हो गया। रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः (८।२।४२) से निष्ठा के 'त' को 'न', एवं पूर्व दकार को भी 'न' होकर—

मिन्न — पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय हो गया। सो—

मिन्नः — बना ॥

इसी प्रकार 'ञिधृषा' धातु से पूर्ववत् ही सब होकर 'धृष् त' रहा। ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर धृष्टः (ढीठ) बन गया। 'ञिक्ष्विदा' धातु से क्ष्विण्णः (स्निग्ध हुआ-हुआ) भी इसी प्रकार बना है। केवल अट् कुप्वाङ्० (८।४।२) से पूर्व नकार को णकार होकर, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से पर नकार को णत्व हुआ है, यही विशेष है ॥

इद्धः (=प्रकाशित हुआ) यहाँ भी पूर्ववत् ही 'ञिइन्धी' धातु से 'इन्ध् त' रहा। अनिदितां हल० (६।४।२४) से अनुनासिकलोप, तथा झषस्तथोर्धो० (८।२।४०) से 'त' को 'ध' होकर 'इध् ध' रहा। झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर इद्धः बन गया ॥

वेपथुः (कँपकँपी)

टुवेपृ — भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), उपदेशेऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।६), अदर्शनं० (१।१।५६) लगकर—

वेप् — धातोः (३।१।६१), ट्वितोऽथुच् (३।३।८९) से 'वेप्' का टु इत्संज्ञक होने से अथुच् प्रत्यय हुआ।

वेप् अथुच् — पूर्ववत् सु आकर —

वेप् अथुप् सु=वेप् अथु स्=वेपथुः बन गया ॥

इसी प्रकार 'टुओश्वि' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'श्वि अथुच्' रहा। सार्व-धातु० (७।३।८४) से 'श्वि' को 'श्वे' गुण, तथा एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर श्वय् अथु स्=श्वयथुः (सूजन) बना है ॥

पक्त्रिमम् (पाकेन निर्वृत्तम्=पाक से बननेवाला)

डुपचष् पाके भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), उपदेशेऽज० (१।३।२), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं लोपः (१।१।५९) लगकर—

पच् अब यहाँ 'पच्' डु इत्‌वाला है। सो ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८) से क्त्रि प्रत्यय हुआ।

पच् क्त्रि=त्रि चोः कुः (८।२।३०), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर—

पक्त्रि क्त्रेर्मम्नित्यम् (४।४।२०) से 'पक्त्रि' से 'मप्' प्रत्यय हुआ।

पक्त्रि मप्=म कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर—

पक्त्रिम सु अतोऽम् (७।१।२४) से सु को अम् होकर, अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

पक्त्रिमम् बन गया ॥

इसी प्रकार 'डुकृञ्' धातु से कृत्रिमम् (किया हुआ=बनावटी), तथा 'डुवप्' धातु से उप्त्रिमम् (बीज बोने से होनेवाला) बनेगा। वप् को सम्प्रसारण भी वचि-स्वपि० (६।१।१५) से 'क्त्रि' प्रत्यय परे रहते हो जाता है, यही यहाँ विशेष है ॥

—:o:—

परि० षः प्रत्ययस्य (१।३।६)

नर्तकी (नृत्य करनेवाली)

नृती नर्तने भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

नृत् धातोः (३।१।९१), शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से ष्वुन् प्रत्यय हुआ।

नृत् ष्वुन् षः प्रत्ययस्य से आदि षकार की इत् संज्ञा हुई, हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

नृत् वु — पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाकौ (७।१।१) से 'वु' को 'अक' हो गया ।

नृत् अक — पुगन्तलघू० (७।३।८४) से 'नृत्' अङ्ग को गुण हुआ ।

नर्त् अक — यहां 'वु' के षित् होने से षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) से ङीष् हो गया ।

नर्त् अक ङीष्=ई यचि भम् (१।४।१८), यस्येति च (६।४।१४८) ।

नर्तक् ई — अचो रहाभ्यां० (८।४।४५) लगकर—

नर्त्तक् ई — पूर्ववत् सु आकर, हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

नर्त्तकी ... बना ।।

रजकी (धोबिन) यहाँ भी 'रञ्ज' धातु से पूर्ववत् ही सिद्धि हुई । केवल यहाँ 'रञ्ज' धातु के अनुनासिक का लोप रजकरजनरज:सूपसङ्ख्यानम् (वा० ६।४।२४) इस वार्तिक से हुआ है ।।

—:०:—

परि० चुटू (१।३।७)

कौञ्जायन्य: (कुञ्ज नामक व्यक्ति का पौत्र)

कुञ्ज — अर्थवद० (१।२।४५), पूर्ववत् ङस् विभक्ति आकर—

कुञ्ज ङस् — समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् (४।१।९८), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

कुञ्ज ङस् च्फञ् कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) ।

कुञ्ज च्फञ् — चुटू (१।३।७), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोप: (१।३।९) लगकर—

कुञ्ज फ — पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आयनेयीनीयिय:० (७।१।२) लगकर—

कुञ्ज आयन् अ तद्धितेष्वचामादे: (७।२।११७), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर—

कौञ्ज् आयन् कृत्तद्धित० (१।२।४६), व्रातच्फञोरस्त्रियाम् (५।३।११३) से ञ्य प्रत्यय ।

कौञ्जायन ञ्य चुटू (१।३।७), तस्य लोप: (१।३।९), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—

कौञ्जायन्य: बना ।।

शाण्डिक्यः (शण्डिक देश है निवास=अभिजन जिसका, वह)

शण्डिक पूर्ववत् प्रथमा विभक्ति का सु आकर—

शण्डिक सु शण्डिकादिभ्यो ञ्यः (४।३।९२) से ञ्य प्रत्यय हुआ।

शण्डिक सु ञ्य कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१), चुटू तथा तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

शण्डिक य पूर्ववत् वृद्धि, एवं यस्येति लोप (६।४।१४८ से) होकर—

शाण्डिक्य सु=शाण्डिक्यः बना ॥

ब्राह्मणाः (बहुत से ब्राह्मण) यहाँ पर भी जस् विभक्ति के 'ज्' की प्रकृत सूत्र से इत् संज्ञा हुई है। आगे प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर ब्राह्मणाः बना है ॥

'वाच' शब्द से 'टा' विभक्ति आकर, टकार की प्रकृत सूत्र से इत् संज्ञा होकर वाच् आ=वाचा बना है ॥

कुरुचरी (कुरुषु चरति=कुरु देश में घूमनेवाली)

कुरु सुप् चर् भूवादयो० (१।३।१), तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९१), चरेष्टः (३।२।१६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

कुरु सुप् चर् ट उपपदमतिङ् (२।२।१९) से समास होकर, सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगा।

कुरुचर् ट चुटू, तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

कुरुचर् अ अब यहाँ टित् होने से टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हुआ। तथा पूर्ववत् सु आया—

कुरुचर ङीप् सु=कुरुचर् ई स् हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

कुरुचरी बन गया ॥

इसी प्रकार मद्रेषु चरति=मद्रचरी (मद्र देश में घूमनेवाली) यहाँ भी जानें ॥

उपसरजः (उपसरे जातः=तालाब के समीप पैदा होनेवाला)

उपसर ङि जन पूर्ववत् ही सब होकर सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७) से ड प्रत्यय, तथा समास इत्यादि पूर्ववत् ही होकर—

उपसर जन् ड् चुटू से 'ड्' की इत् संज्ञा हो गई, तस्य लोपः (१।३।९)।

उपसर जन अ डित् होने से डित्सामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोप: (वा० ६।४।१४३) इस वार्त्तिक से डि भाग का लोप हो गया ।

उपसर ज् अ   कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

उपसरज: बना ।।

इसी प्रकार मन्दुरायां जात:=मन्दुरज: (=अश्वशाला में पैदा होनेवाला) की सिद्धि जानें । केवल यहाँ मन्दुरा को ह्रस्व ङ्यापो: संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (६।३। ६१) से हो गया है, यही विशेष है ।।

आन्न: (अन्न लब्धा=अन्न को प्राप्त करनेवाला)

अन्न   पूर्ववत् अन्न शब्द से द्वितीया विभक्ति आकर—

अन्न अम्   अन्नाण्ण: (४।४।८५) से ण प्रत्यय हुआ ।

अन्न अम् ण   चुटू, तस्य लोप: (१।३।९), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) ।

अन्न अ   तद्धितेष्व० (७।२।११७), यस्येति च (६।४।१४८), पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

आन्न: बना ।।

—:०:—

परि० लशक्वतद्धिते (१।३।८)

चयनम् (चुनना)

चिञ्   भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), ल्युट् च (३।३।११५), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

चि ल्युट्   लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोप: (१।३।९) होकर—

चि यु   पूर्ववत् युवोरनाकौ (७।१।१) से यु को 'अन', तथा सार्वधातु० (७।३।८४) से अङ्ग को गुण, एवं अयादेश होकर—

चयन   पूर्ववत् सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४), अमि पूर्व: (६।१।१०३) लगा, और—

चयनम्   बना ।।

इसी प्रकार 'जि' धातु से जयनम् (जीतना) की सिद्धि जानें ॥

भवति (होता है), पचति (पकाता है) की सिद्धि परि० १।१।२ के पचन्ति के समान ही जानें। शप् के शकार की इत् संज्ञा प्रकृत सूत्र से होती है। भू शप् तिप्, भू को गुण तथा अवादेश होकर 'भवति' बन गया। भुक्तः भुक्तवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें ॥

प्रियंवदः (प्रियं वदतीति=प्रिय बोलनेवाला)

प्रिय अम् वद प्रियंवशे वदः खच् (३।२।३८) से प्रिय उपपद रहते वद से खच् प्रत्यय हुआ।

प्रिय अम् वद् खच् उपपदमतिङ् (२।२।१९), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

प्रियवद् खच् लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) होकर—

प्रियवद् अ यहाँ 'ख्' की इत संज्ञा होने से, खिदन्त उत्तरपद 'वद' के परे रहते अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (६।३।६६) से 'मुम्' का आगम प्राप्त हुआ, मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) लगकर—

प्रिय मुम् वद सु=प्रियम् वद स् मोऽनुस्वारः (८।३।२३) होकर—

प्रियंवदः बना ॥

इसी प्रकार 'वशं वदति=वशंवदः (अनुकूल वचन बोलनेवाला) की सिद्धि भी जानें ॥

भङ्गुरम् (नाशवान्)

भञ्ज भूवादयो० (१।३।१), भञ्जभासमिदो घुरच् (३।२।१६१) से घुरच् प्रत्यय हुआ।

भञ्ज् घुरच् लशक्वतद्धिते से 'घ्' की इत् संज्ञा हुई। हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

भञ्ज् उर चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

भग्न् उर नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), अनुस्वारस्य० (८।४।५७)।

भङ्ग उर कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४) लगकर—

भङ्गुर अम्=भङ्गुरम् बन गया ॥

ग्लास्नुः (ग्लानि करनेवाला); जिष्णुः, भूष्णुः की सिद्धि परि० १।१।५

में देखें। ग्स्नु प्रत्यय के 'ग्' की इत् संज्ञा प्रकृत सूत्र से हुई है। सो गित् होने से १।१।५ से गुण-निषेध। एवं भूष्णुः में श्युकः किति (७।२।११) से इट् निषेध भी हुआ है। ग्लास्नुः में 'ग्लै' धातु है, सो उसे आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व हुआ है॥

वाच् शब्द से ङस् विभक्ति होकर उसके 'ङ्' की प्रकृत सूत्र से इत् संज्ञा होकर 'वाच् अस्' रहा। पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर वाचः बना है॥

—:०:—

परि० अनुदात्तङित० (१।३।१२)

आस्ते (बैठता है)

आस	भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं लोपः (१।१।५९) लगकर—
आस्	'आस' में पाणिनि जी ने 'स' में 'अ' अनुदात्त रखा था, सो उसकी इत् संज्ञा हुई है। अतः यह अनुदात्तेत् धातु है। अनुदात्तेत् धातु होने से पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का 'त' आया। कर्त्तरि शप् (३।१।६८) से शप् प्रत्यय भी होकर—
आस् शप् त	अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।
आस् त	टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) लगकर—
आस्ते	बना॥

'वस' और 'एध' में भी अनुदात्त अकार अनुबन्ध पाणिनि जी ने लगाया था, सो वे अनुदात्तेत् धातुएं हैं। अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद, अदि० (२।४।७२) से शप् लुक् होकर पूर्ववत् वस्ते (ढकता है) बन गया। एध धातु भ्वादिगण की है, अतः शप् का लुक् नहीं हुआ है। एध् अ ते=एधते (बढ़ता है) बना॥

'सूते' यहाँ षूङ् धातु है, सो ङित् होने से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर आस्ते के समान ही सूते (पैदा करता है) बना है। 'षूङ्' के 'ष्' को 'स्' धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से हो जाता है। शीङ् धातु से शेते (=सोता है) की सिद्धि भी इसी प्रकार जानें॥

—:०:—

परि० भावकर्मणो: (१।३।१३)

आस्यते (बैठा जाता है)

आस — पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, और वर्त्तमानकाल में लट् प्रत्यय आकर—

आस् लट — ल: कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य: (३।४।६९) से 'आस' धातु के अकर्मक होने से भाव में लकार आया है। पूर्ववत् सब सूत्र लादेश के लगकर, भावकर्मणो: से आत्मनेपद हुआ।

आस् त — तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३), सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से भाववाची सार्वधातुक के परे रहते यक् प्रत्यय हुआ।

आस् यक् त — टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) होकर—

आस् यक् ते=आस्यते बन गया ॥

इसी प्रकार 'ग्लै' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व होकर, 'ग्ला' रहा। पूर्ववत् 'यक् त' आकर ग्लायते (ग्लानि की जाती है) बना है। 'स्वप' धातु से सुप्यते (सोया जाता है), यहाँ भी पूर्ववत् यक् त आकर, यक् के परे रहते वचिस्वपियजादीनां० (६।१।१५) से स्वप् को सम्प्रसारण हो गया। स् उ अ प् यक् त=सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर सुप्यते बन गया है॥

खाद' तथा 'पठ' धातु के सकर्मक होने से कर्मवाच्य में पूर्ववत् ही खाद्यते, पठ्यते बनेगा॥

क्रियते (किया जाता है)

डुकृञ् — पूर्ववत् ही सब होकर—

कृ य ते — रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से ऋकारान्त अङ्ग 'कृ' को रिङ् आदेश हुआ। ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् को हुआ।

क् रिङ् य ते=क्रियते बन गया॥

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' धातु से ह्रियते (हरण किया जाता है) में भी जानें॥

—:०:—

परि० कर्त्तरि कर्म० (१।३।१४)

व्यतिलुनते (परस्पर एक-दूसरे का काटते हैं)

लूञ् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर लट् प्रत्यय आया।

वि अति लू लट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद होकर बहुवचन का 'झ' आया ।

वि अति लू झ क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) से शप् का अपवाद श्ना हुआ ।

वि अति लू श्ना झ इको यणचि (६।१।७४) लगकर—

व्यति लू ना झ लिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३), सार्वधातुकमपित् (१।२।४), श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) ।

व्यति लू न् झ आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से 'झ्' को 'अत्' आदेश हुआ ।

व्यतिलून् अत् अ प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०) से 'लू' को शित् परे रहते ह्रस्व हो गया ।

व्यतिलुनत टित० आत्मने० (३।४।७९) लगकर—

व्यतिलुनते बना ॥

इसी प्रकार 'पूञ् पवने' धातु से व्यतिपुनते (एक-दूसरे को पवित्र करते हैं) भी बनेगा ॥

—:o:—

परि० न गतिहिंसार्थेभ्यः (१।३।१५)

व्यतिगच्छन्ति (एक-दूसरे के लिये जाते हैं)

वि अति गम्लृ पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर, पूर्व सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त हुआ । सो प्रकृत सूत्र से निषेध होकर—

व्यति गम् शप् झि इषुगमियमां छः (७।३।७७), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) ।

व्यतिगछ् अ झि छे च (६।१।७१) से तुक् आगम प्राप्त हुआ, आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—

व्यति ग तुक् छ् अ झि स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९), झोऽन्तः (७।१।३) ।

व्यतिगच्छ् अ अन्ति अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—

व्यतिगच्छन्ति बना ॥

'सृप्लृ' धातु से इसी प्रकार 'व्यति सृप् अ अन्ति' होकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण हुआ । सो व्यतिसर्प अन्ति=व्यतिसर्पन्ति (एक दूसरे के लिये सरकते हैं) बना । 'हिसि' धातु से व्यतिहिंसन्ति (एक-दूसरे को मारते हैं) में भी सब पूर्ववत् है । केवल यहां यह विशेष है कि हिसि धातु के इ की इत्संज्ञा

होकर इदितो नुम् धातोः (७।१।५८) से नुम् होकर हिन्स् बना। तथा रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८) से श्नम् प्रत्यय हुआ। और वह मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे बैठा। सो व्यति हि श्नम् न् स् अन्ति = व्यतिहिन न् स् अन्ति रहा। श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से 'न' के 'अ' का लोप होकर व्यतिहिन् न् स् अन्ति रहा। अब श्नान्न लोपः (६।४।२३) से पर नकार का लोप हुआ, तो व्यतिहिन्सन्ति रहा। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'न्' को अनुस्वार होकर = व्यतिहिंसन्ति बन गया॥

व्यतिघ्नन्ति (एक-दूसरे को मारते हैं)

हन पूर्ववत् ही सब होकर—

व्यति हन् शप् झि अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक्।

व्यतिहन् अन्ति सार्वधातुकमपित् (१।२।४), गमहनजनखन० (६।४।९८)।

व्यतिह् न् अन्ति हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४) से 'ह्' को कुत्व प्राप्त हुआ। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अन्तरतम 'ह्' को घ् होकर—

व्यतिघ्नन्ति बना॥

—:०:—

परि० परिव्यवेभ्यः क्रियः (१।३।१८)

परिक्रीणीते (सब प्रकार से खरीदता है)

परि डुक्रीञ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर—

परि क्री त क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) से शप् का अपवाद श्ना हुआ।

परि क्री श्ना त ई हल्यघोः (६।४।११३), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।

परि क्री नी त अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२)।

परि क्री णी त टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)।

परिक्रीणीते बना॥

इसी प्रकार विक्रीणीते (बेचता है), अवक्रीणीते (खरीदता है) भी समझें॥

—:०:—

परि० आङो दोऽना० (१।३।२०)

आदत्ते (ग्रहण करता है)

डुदाञ् सद पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर—

आङ् दा शप् त जुहोत्यादिभ्य:० (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: (१।१।६०)।

आ दा त　श्लौ (६।१।१०), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।

आ दा दा त　पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), ह्रस्व: (७।४।५९)।

आ द दा त　सार्वधातुकमपित् (१।२।४), श्नाभ्यस्तयोरात: (६।४।११२)।

आ द द् त　खरि च (८।४।५४) से 'द्' को 'त्', तथा शेष पूर्ववत् होकर—

आदत्ते　बना ॥

—:o:—

परि० आङो यमहन: (१।३।२८)

आयच्छते (लम्बा होता है)

आङ् यम　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर शप् त आया।

आ यम् शप् त=आ यम् अ त इषुगमियमां छ: (७।३।७७), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।

आ य छ् अ त छे च (६।१।७१), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

आ य तुक् छ् अ त स्तो: श्चुना श्चु: (८।४।३९) लगकर—

आ यच्छ त　टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९) से एत्व होकर—

आयच्छते　बना ॥

आहते (चोट करता है)

आ हन्　... पूर्ववत् ही सब होकर—

आ हन् शप् त अदिप्रभृतिभ्य: शप: (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप:(१।१।६०)।

आ हन् ते　अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से 'हन्' के अनुनासिक का लोप होकर

आहते　बना ॥

आघ्नाते यहाँ भी पूर्ववत् ही "आ हन् शप् आताम्"=आ हन् आताम् रहा। गमहनजन० (६।४।९८) से 'हन्' की उपधा का लोप होकर 'आह् न् आताम्' रहा। हो हन्तेर्ञ्णि० (७।३।५४) से हन् के 'ह्' को कुत्व, तथा पूर्ववत् ही 'आताम्' की 'टि' को एत्व होकर=आ घ्न् आत् ए=आघ्नाते बन गया ॥

—:o:—

परि० गन्धनावक्षेपण० (१।३।३२)

उत्कुरुते (चुगली करता है)

डुकृञ् प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर, एवं सब सूत्र लगकर—

उद् कृ त तनादिकृञ्भ्य उ: (३।१।७९) से शप् का अपवाद 'उ' हो गया।

उद् कृ उ त सार्वधातुकार्धधातुकयो: (७।३।८४), उरण्रपर: (१।१।५०)।

उद् कर् उ त अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०) से 'त' सार्वधातुक के परे रहते 'कर्' के 'अ' को 'उ' हो गया। खरि च (८।४।५५) द् का त् होकर—

उत् कुर् उ ते=उत्कुरुते बन गया ॥

एधोदकस्य उपस्कुरुते में उदक कर्म में षष्ठी कृञः प्रतियत्ने (२।३।५३) से हुई है। इसी प्रकार काण्डं गुडस्य उपस्कुरुते यहाँ गुडस्य में भी जानें। उपस्कुरुते, यहाँ उपपूर्वक 'कृ' धातु से उपकुरुते पूर्ववत् ही होकर उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु (६।१।१३४) से 'उप' उपसर्ग से उत्तर 'कृ' धातु को सुट् आगम होकर उप सुट् कुरुते=उपस्कुरुते बन गया है ॥

—:०:—

परि० सम्माननोत्० (१।३।३६)

उन्नयते (उछालता है)

णीञ् भूवादयो० (१।३।१), णो न: (६।१।६३) से 'ण्' को 'न्' होकर—

उद् नी प्रकृत सूत्र से उत्सञ्जन अर्थ में आत्मनेपद, तथा पूर्ववत् सब होकर—

उद् नी शप् त सार्वधातुकार्ध० (७।४।८४) से गुण होकर—

उद् ने अ त एचोऽयवायाव: (६।१।७५) से अयादेश।

उद्नयते यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४४) से द् को न् होकर—

उन्नयते बना ॥

—:०:—

परि० अपह्नवे ज्ञ: (१।३।४४)

अपजानीते

अप ज्ञा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद, तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अप ज्ञा त क्र्यादिभ्य: श्ना (३।१।८१) से श्ना।

अप ज्ञा श्ना त ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९) से शित् परे रहते 'ज्ञा' को 'जा' आदेश हुआ।

अप ना ना ते सार्वधातुकमपित् (१।२।४), ई हल्यघोः (६।४।११३) से ईत्व होकर—

अपजानीते बना ॥

—:०:—

परि० ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः (१।३।५७)

सन्नन्त धातुओं की सिद्धियाँ परि १।३।६ में कर आये है। अतः उन कार्यों को छोड़कर विशेष-विशेष यहाँ दिखाते हैं। 'ज्ञा' धातु से जिज्ञासते (जानना चाहता है) की सिद्धि में तो कुछ विशेष नहीं है ॥

शुश्रूषते (सुनना चाहता है)

श्रु — भूवादयो० (१।३।१), धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकादिच्छायां वा (३।१।७)।

श्रु सन् — आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ। पर एकाच्० (७।२।१०) से निषेध हो गया। अब सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से 'श्रु' अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। पर उसका भी इको झल् (१।२।६) से झलादि सन् के कितवत् हो जाने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। अज्झनगमां सनि (६।३।१६) से दीर्घ होकर—

श्रू स — पूर्ववत् द्वित्व, हलादि शेष, तथा ह्रस्वः (७।४।५६) से ह्रस्व होकर—

शुश्रूष — पूर्ववत् सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर, प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का विधान होकर 'शप् त' आया ।

शुश्रूष शप् त पूर्ववत् ही सब होकर—

शुश्रूषते बन गया ॥

सुस्मूर्षते (स्मरण करना चाहता है)

स्मृ सन् — पूर्ववत् सब होकर, अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ होकर—

स्मॄ सन् — उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२), उरण्रपरः (१।१।५०)।

स्मुर् स — हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होकर—

स्मूर् स — पूर्ववत् द्वित्व होकर—

स्मूर् स्मूर् स हलादिः शेषः (७।४।६०) से सकार शेष रहा, शेष का लोप हो गया।
सुस्मूर् स पूर्ववत् ही सब होकर, तथा आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होकर—
सुस्मूर्षते बन गया॥

दिदृक्षते (देखना चाहता है)

दृशिर् पूर्ववत् सब होकर—
दृश् सन् पूर्ववत् गुण प्राप्त हुआ। पर हलन्ताच्च (१।२।१०) से सन् को कित्वत् होकर क्क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध हो गया।
दृश् स पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य, तथा सन्यतः (७।४।७९) से इत्व होकर—
दि दृश् स व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८।२।३६) लगकर—
दि दृष् स षढोः कः सि (८।२।४१), आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)।
दि दृक् ष शेष पूर्ववत् होकर, तथा आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होकर—
दिदृक् ष शप् त = दिदृक्षते बन गया॥

—:०:—

परि० आम्प्रत्ययवत्० (१।३।६३)

ईक्षाञ्चक्रे (उसने देखा)

ईक्ष दर्शने भूवादयो० (१।३।१), परोक्षे लिट् (३।२।११५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
ईक्ष् लिट् दीर्घं च (१।४।१२), इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६) से लिट् परे रहते आम् प्रत्यय हुआ।
ईक्ष् आम् ल् आमः (२।४।८१) से आम् प्रत्यय से उत्तर लि का लुक् हो गया, प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)। कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—
ईक्ष् आम् सु कृन्मेजन्तः (१।१।३८), अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)।
ईक्षाम् कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३।१।४०) से आम्प्रत्ययान्त 'ईक्षाम्' से कृञ् का अनुप्रयोग, तथा पुनः लिट् प्रत्यय हुआ।
ईक्षाम् कृ लिट् अब पूर्ववत् सब सूत्र लगकर प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का विधान हुआ। क्योंकि आम् प्रत्यय जिस से हुआ है, वह ईक्ष् धातु आत्मनेपदी है। सो उसके समान अनुप्रयोग 'कृञ्' धातु से भी आत्मनेपद होगा।
ईक्षाम् कृ त लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१), अनेकाल्शित्सर्वस्य (१।१।५४)।
ईक्षाम् कृ एश् इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर—

ईहाम् कृ ए लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।
ईहाम् कृ कृ ए पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), उरत् (७।४।६६), उरण्रपरः (१।१।५०)।
ईहाम् कर् कृ ए हलादिः शेषः (७।४।६०), कुहोश्चुः (७।४।६२)।
ईहाम् चक्रे मोऽनुस्वारः (८।३।२३), वा पदान्तस्य (८।४।५८) से विकल्प से परसवर्ण होकर—
ईहाञ्चक्रे, ईहांचक्रे बना ॥

इसी प्रकार 'ईह चेष्टायाम्' धातु से ईहाञ्चक्रे, ईहांचक्रे (उसने चेष्टा की) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० प्रोपाभ्यां युजेर० (१।३।६४)

प्रयुङ्क्ते (प्रयोग करता है)

प्र युजिर् पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का विधान होकर—
प्र युज् ते रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८), मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)।
प्र यु श्नम् ज् ते=प्र यु न ज् त श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से 'श्न' के 'अ' का लोप हुआ।
प्र यु न् ज् ते चोः कुः (८।२।३०), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।
प्र यु न् ग् ते खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर—
प्रयु न् क् ते नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) लगकर—
प्रयुङ्क्ते बना ॥

इसी प्रकार उपयुङ्क्ते (उपयोग करता है) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० न पादम्याङ्यमाङ्यस० (१।३।८६)

पाययते (पिलाता है)

पा भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
पा णिच् शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७।३।३७), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।
पा युक् इ=पायि सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

तथा निगरणार्थ होने से परस्मैपद की प्राप्ति में प्रकृत सूत्र से परस्मैपद का प्रतिषेध होकर आत्मनेपद हुआ।

पायि शप् त पूर्ववत् गुण, तथा अयादेशादि होकर—
पाययते बन गया ॥

आयामयते (फैलता है)

आङ् यम पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
आ यम् णिच्=इ अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होकर—
आ याम् इ अब यहाँ घटादयो मितः धातुपाठ के सूत्र से 'यम्' के मित् होने से मितां ह्रस्वः (६।४।६२) से ह्रस्व प्राप्त हुआ। पर धातुपाठ के सूत्र यमोऽपरिवेषणे से मित् का प्रतिषेध होने से ह्रस्व नहीं हुआ।
आयामि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा चलनार्थक होने से प्राप्त परस्मैपद का प्रतिषेध होकर—
आयामि शप् त=आयामे अ ते=आयामयते बन गया ॥

दमयते में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल अत उपधायाः (७।२।११६) से जो वृद्धि हुई थी, उसको जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च से मित्संज्ञा होकर, मितां ह्रस्वः से ह्रस्व हो गया है। शेष सिद्धियाँ पूर्ववत् ही वृद्धि इत्यादि होकर समझें ॥

—:०:—

परि० वा क्यषः (१।३।६०)

लोहितायति (अलोहितो लोहितो भवति=जो लाल नहीं वह लाल होता है)

लोहित सु पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् (३।१।१३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
लोहित सु क्यष्=लोहित य पूर्ववत् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) इत्यादि सब सूत्र लगकर, तथा वा क्यषः से परस्मैपद का विधान होकर—
लोहितय शप् तिप् अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७।४।२५) से दीर्घ होकर—
लोहिताय अ ति=लोहितायति बना ॥

पक्ष में प्रकृत सूत्र से परस्मैपद न होकर लोहितायते भी इसी प्रकार बनेगा ॥

पटपटायति (पटत्-पटत् करोति=पटपट शब्द करता है)

पटत् अर्थवदधातु० (१।२।४५), डाचि द्वे भवतः (वार्त्तिक ८।१।१२)

इस वार्त्तिक से डाच् प्रत्यय के विषय में 'पटत्' शब्द को द्वित्व हुआ। 'डाचि' यहाँ विषय सप्तमी है, अतः डाच् आने से पूर्व ही द्वित्व हो गया।

पटत्पटत् अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् (५।४।५७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

पटत्पटत् डाच् तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) से उस द्वित्व किये हुये परवाले 'पटत्' की आम्रेडित संज्ञा हो गई। आम्रेडित संज्ञा होने से नित्यमाम्रेडिते डाचि (महाभाष्य वा० ६।१।९९) इस महाभाष्य के वार्त्तिक से जो डाच्परक आम्रेडित उसके परे रहते, उससे पूर्व वाले पटत् के त् तथा उससे परे प इन दोनों को पररूप एकादेश हुआ।

पट पटत् डा=आ यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), टेः (६।४।१४३) से टि (अत्) भाग का लोप हुआ।

पटपट् आ लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् (३।१।१३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)

पटपट् आ क्यष्=पटपटाय सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) इत्यादि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा वा क्यषः से परस्मैपद का विधान होकर—

पटपटाय शप् तिप्=पटपटाय अ ति अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—

पटपटायति बन गया॥

पक्ष में प्रकृत सूत्र से परस्मैपद न होकर पटपटायते भी बनेगा॥

—:०:—

परि० द्युद्भ्यो लुङि (१।३।९१)

व्यद्युतत् (विशेष रूप से प्रकाशित हुआ)

वि द्युत् लुङ् पूर्ववत् लुङ् लकार में परि० १।१।१ के अचैषीत् के समान सब सूत्र लगकर—

वि द्युत् च्लि लुङ् प्रकृत सूत्र से परस्मैपद होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगे।

वि अट् द्युत् च्लि तिप् पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५) से च्लि को अङ् आदेश, तथा क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध होकर—

वि अ द्युत् अङ् ति इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश, तथा पूर्ववत् सूत्र लगकर—

व्यद्युत् अ त्=व्यद्युतत् बना॥

इसी प्रकार अलुठत् (उसने मारा) में भी समझें॥

व्यद्योतिष्ट

वि द्युत् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

वि अट् द्युत् सिच् त प्रकृत सूत्र से पक्ष में परस्मैपद न होकर पूर्ववत् लावेश के सूत्र लगे।

वि अ द्युतस् स् त आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५), इको यणचि (६।१।७४)।

व्यद्युत् इट् स् त पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण हुआ।

व्यद्योत् इ स् त आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९), ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) लगकर—

व्यद्योतिष्ट बना॥

इसी प्रकार अलोठिष्ट में भी समझें॥

—:०:—

परि० वृद्भ्यः स्यसनोः (१।३।९२)

वर्त्स्यति (वह बरतेगा)

वृतु वर्तने भूवादयो० (१।३।१), लृट् शेषे च (३।३।१३)।

वृत् लृट् स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३) से लृट् परे रहते स्य प्रत्यय हुआ।

वृत् स्य लृ अब आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ। पर न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७।२।५९) से निषेध हो गया। पूर्ववत् लावेश के सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से परस्मैपद का विधान होकर—

वृत् स्य तिप् पूर्ववत् अङ्गसंज्ञा होकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण हुआ।

वर्त् स्य ति=वर्त्स्यति बना॥

अवर्त्स्यत् (वह बरतता)

वृत् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, लिङ्निमित्ते लृङ्० (३।३।१३९) से लृङ् प्रत्यय हुआ।

वृत् लृङ् पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से परस्मैपद का विधान होकर स्य प्रत्यय हुआ। तथा सब सूत्र लगकर—

वृत् स्य ति पूर्ववत् अडागम, गुण, तथा इतश्च (३।४।१००) से 'ति' के इ का लोप होकर—

अवर्त्स्यत् बना॥

विवृत्सति (बरतना चाहता है) में सन्नन्त की प्रक्रिया परि० १।२।१० के बिभित्सति के समान ही जानें। जब पक्ष में परस्मैपद प्रकृत सूत्र से नहीं होगा, तो लृट् लकार में वर्तिष्यते बनेगा। इस पक्ष में न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७।२।५६) से इट् आगम निषेध नहीं होगा। सो 'वर्त् इट् स्य त' यहाँ षत्व होकर वर्तिष्यते बनेगा॥

प्रवर्त्तिष्यत, विवर्त्तिषते यहाँ भी इट् आगम हो जावेगा। और कुछ भी विशेष नहीं है॥

—:०:—

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः

परि० आकडारादेका संज्ञा (१।४।१)

भेत्ता (तोड़नेवाला)

भिदिर् परि० १।१।२ के चेता के समान यहाँ तृच् आकर—

भिद् तृच्=भिद् तृ अब यहाँ ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से लघु संज्ञा हुई। अर्थात् यहाँ लघु संज्ञा को अवकाश मिला। लघु संज्ञा होने से पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण हो गया।

भेद् तृ शेष सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान जानें। केवल यहाँ खरि च (८।४।५४) से 'द्' को 'त्' ही विशेष होकर—

भेत्ता बना॥

इसी प्रकार छेत्ता में जानें॥

शिक्षा (पठन-पाठन)

शिक्ष भूवादयो० (१।३।१), यहाँ 'शिक्ष्' के 'इ' की संयोगे गुरु (१।४।११) से गुरु संज्ञा हुई। अर्थात् गुरु संज्ञा को अवकाश प्राप्त हुआ। गुरु संज्ञा होने से गुरोश्च हलः (३।३।१०३) से 'अ' प्रत्यय हुआ।

शिक्ष् अ कृत्तद्धित० (१।२।४६), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

शिक्ष् अ टाप् सु=शिक्ष आ स् हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु का लोप होकर—

शिक्षा बना॥

इसी प्रकार भिक्षा यहाँ भी जानें॥

अब यहां अततक्षत् इस उदाहरण में दोनों गुरु लघु संज्ञायें प्राप्त हुई, जो कि अन्यत्र सावकाश भी हैं। सो कौन हो ? इसका निर्णय प्रकृत सूत्र ने किया ॥

अततक्षत् (उसने छीला)

तक्ष्	परि० १।१।५८ के आटिटत् के समान ही यहां सब कार्य हुआ। केवल द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) नहीं लगा।
अट् तक्ष् तक्ष्	णिच् चङ् त्=अ त तक्ष् इ अ त्, अब यहां 'तक्ष्' के 'अ' की पूर्ववत् गुरु लघु दोनों संज्ञाएं प्राप्त हैं। सो प्रकृत सूत्र से एक ही संज्ञा होने का नियम हुआ। वह कौनसी हो, तो परत्व से गुरु संज्ञा ही हुई। गुरु संज्ञा होने से सन्वल्लघुनि चङ्परे० (७।४।९३) से लघु धात्वक्षर न होने से सन्वद्भाव नहीं होता। यदि यहां लघु संज्ञा भी हो जाये, तो सन्वद्भाव होकर, सन्यतः (७।४।७९) लगकर 'अतीतक्षत्' ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। सो 'एक ही संज्ञा हो' इस नियम से नहीं होता। और—

अ त तक्ष् अ त्=अततक्षत् बना ॥

—:०:—

परि० यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)

कुमार्यै (कुमारी के लिये)

कुमारी	अर्थवद० (१।२।४५), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
कुमारी ङे	कुमारी शब्द यहां ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग का वाचक है। अत प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा हो गई। नदी संज्ञा होने से आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् आगम हो गया। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—
कुमारी आट् ए	आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर—
कुमारी ऐ	इको यणचि (६।१।७४) लगकर—
कुमार्यै	बना ॥

इसी प्रकार ङस्, ङसि, ङि विभक्तियों के परे रहते भी नदी संज्ञा होकर आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् आगम होता है। यही नदी संज्ञा का फल है ॥

इसी प्रकार गौर्यै (गौरी के लिये), शार्ङ्गरव्यै; और ब्रह्मबन्धू आट् ङे=ब्रह्मबन्ध्वै, यवाग्वै की सिद्धि भी जानें ॥

—:०:—

परि० नेयङुवङ्० (१।४।४)

हे श्रीः (हे लक्ष्मी)

श्री — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, सम्बोधने च (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति आई ।

श्री सु — अब यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) से यहाँ श्री की नदी संज्ञा प्राप्त हुई । पर श्री शब्द इयङ् स्थानी है, अर्थात् 'श्री' को अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से इयङ् आदेश होकर श्रियौ श्रियः आदि रूप बनते हैं । अतः प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा का प्रतिषेध हो गया । यदि नदी संज्ञा हो जाती, तो अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७।३।१०७) से 'श्री' को ह्रस्व हो जाता । सो अब नहीं होता ।

श्री स् — पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

हे श्रीः — बना ॥

हे भ्रूः (हे भौंहो) यहाँ भी भ्रू शब्द उवङ् स्थानी है, अर्थात् भ्रुवौ, भ्रुवः आदि रूप बनते हैं। सो पूर्ववत् ही नदी संज्ञा का प्रतिषेध होकर सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६)

नदी संज्ञा पक्ष में कृति शब्द से कृत्यै (कृति के लिये), धेन्वै (गाय के लिये) की सिद्धि परि० १।४।३ के कुमार्यै के समान जानें ॥

कृतये

कृति — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कृति ङे — जब पक्ष में प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा नहीं हुई, तो शेषो घ्यसखि (१।४।७) से घि संज्ञा होकर, घेर्ङिति (७।३।१११) से गुण हुआ ।

कृते ए — एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर—

कृतये — बना ॥

इसी प्रकार घि संज्ञा पक्ष में धेनवे की सिद्धि जानें ॥

श्रियै (लक्ष्मी के लिये)

श्री ङे — इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा होकर आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् आगम हुआ ।

श्री आट् ए अचि श्नुधातुभ्रुवां (६।४।७७) से इयङ् आदेश होकर—
श्रियङ् आ ए=श्रिय् आ ए आटश्च (६।१।८७) सूत्र लगकर—
श्रियै बना ॥

इसी प्रकार 'भ्रुवै' में भी जानें ॥

जब पक्ष में नदी संज्ञा नहीं हुई, तो आट् आगम नहीं हुआ । शेष सब पूर्ववत् ही होकर श्रिय् ए=श्रिये, भ्रुवे बन गया ॥

—:०:—

परि० ह्रस्वं लघु (१।४।१०)

भेत्ता छेत्ता की सिद्धि परि० १।४।१ में देखें ॥

अचीकरत् (उसने कराया)

डुकृञ् परि० १।१।५८ के आटिटत् के समान सब कार्य होकर, अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि भी हो गई ।

कारि चङ् तिप्=कारि अ त् पूर्ववत् ही णि का लोप, एवं णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से उपधा ह्रस्वत्व होकर—

कर् अ त् चङि (६।१।११), णौ कृतम् स्थानिवद् भवति (महा० १।१।५८) इस ज्ञापक के अनुसार द्विर्वचनेऽचि (१।१।५९) से रूपातिदेश स्थानिवत् होकर—

कृ कर् अ त् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), उरत् (७।४।६६), उरण्रपरः (१।१।५०) ।

कर् कर् अ त् हलादिः शेषः (७।४।६०), कुहोश्चुः (७।४।६२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) सूत्र लगे, तथा अडागम हुआ ।

अट् च कर त् ह्रस्वं लघु से 'क' के 'अ' की लघु संज्ञा होने से सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७।४।९३) से लघु अक्षर परे रहते अभ्यास को सन्वद्भाव हुआ । सो सन्यतः (७।४।७९) से अभ्यास को इत्व होकर—

अचि कर त् दीर्घो लघोः (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ होकर—

अचीकरत् बना ॥

इसी प्रकार हृञ् धातु से अजीहरत् (उसने हरण कराया) की सिद्धि जानें । केवल यहाँ कुहोश्चुः (७।४।६२) से 'ह्' को 'झ्' कर लेने पर अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से 'झ्' को 'ज्' होता है ॥

—:०:—

परि० संयोगे गुरु (१।४।११)

कुण्डा (जलाना)

कुडि दाहे — भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)।

कुड् — इदितो नुम्धातोः (७।१।५८), मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)।

कु नुम् ड्=कुन्ड् — हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७), संयोगे गुरु से 'कु' की गुरु संज्ञा हुई। गुरोश्च हलः (३।३।१०३) लगकर—

कुन्ड् अ — कृत्तद्धित० (१।२।४६), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)।

कुन्ड् अ टाप् — पूर्ववत् सु आकर—

कुन्ड् अ आ सु — अकः सवर्णे० (६।१।९७), हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति० (६।१।६६), नश्चापदा० (८।३।२४), अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) लगकर—

कुण्डा — बना॥

इसी प्रकार 'हुडि सङ्घाते' धातु से हुण्डा (सङ्घात) की सिद्धि जानें। शिक्षा भिक्षा की सिद्धि परि० १।४।१ में देखें॥

—:o:—

परि० यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३)

कर्त्ता हर्त्ता की सिद्धि परि० १।१।२ में देखें। अङ्ग संज्ञा होने से तृच् परे रहते गुण हो जाता है। औपगवः, कापटवः की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें॥

करिष्यति (करेगा)

डुकृञ् — परि० १।३।९२ के वत्स्यंति के समान सब कार्य होकर—

कृ स्य ति — आर्द्धधातुकस्येड्० (७।२।३५), एकाच उपदेशे० (७।२।१०), ऋद्धनोः स्ये (७।२।७०) से इट् आगम हुआ।

कृ इट् स्य ति — प्रकृत सूत्र से स्य प्रत्यय के परे रहते 'कृ' की अङ्ग संज्ञा हुई। तब 'कृ' अङ्ग को सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण हुआ।

कर् इ स्य ति — आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

करिष्यति — बना॥

लृङ् लकार में अकरिष्यत् (वह करता) की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें॥

करिष्यावः (हम दोनों करेंगे)

कृ इट् स्य वस् पूर्ववत् सब होकर, यहाँ स्य के परे रहते 'कृ' की अङ्ग संज्ञा होने से पूर्ववत् गुण हुआ।

कर् इ स्य वस् तथा 'तदादि'=उस धातु और प्रातिपदिक का जो आदि अक्षर वह आदि में है जिसके, उसकी प्रत्यय के परे रहते अङ्ग संज्ञा होती है। सो 'करि स्य' की वस् परे रहते अङ्ग संज्ञा हो गयी। 'करिष्य' की अङ्ग संज्ञा होने से अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो गया। पूर्ववत् षत्व, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

करिष्यावः बन गया ॥

इसी प्रकार 'मस्' में करिष्यामः बनेगा ॥

—:o:—

परि० नः क्ये (१।४।१५)

राजीयति (आत्मनः राजानमिच्छति=अपने राजा को चाहता है)

राजन् अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

राजन् अम् सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

राजन् अम् क्यच् सनाद्यन्ता० (३।१।३२), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१) से विभक्ति का लोप।

राजन् य न: क्ये से क्यच् परे रहते 'राजन्' की पद संज्ञा हो गई। तो नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से नकार का लोप हो गया।

राजय क्यचि च (७।४।३३) से ईत्व होकर—

राजीय पूर्ववत् शप् तिप् होकर—

राजीय शप् तिप्=राजीयति बना ॥

राजायते (राजा इवाचरति=राजा के समान आचरण करता है)

यहाँ 'राजन् सु' इस सुबन्त से कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) से क्यङ् प्रत्यय, तथा पूर्ववत् ही पद संज्ञा होकर नकार का लोप हो गया। अब 'राज य' इस अवस्था में अकृत्सार्वधातु० (७।४।२५) से दीर्घ होकर 'राजाय' रहा। क्यङ् के ङित् होने से अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद होकर राजाय शप् त= राजायते बन गया ॥

चर्मायति (अचर्म चर्म होता है)

यहाँ 'चर्मन्' शब्द से लोहितादि० (३।१।१३) से क्यष् प्रत्यय होकर, पूर्व-

वत् ही पद संज्ञा होने से न लोपः० (८।२।७) से नकार का लोप होकर 'चर्मव' रहा। पूर्ववत् ही सब कार्य होकर चर्मायति बना। तथा वा क्यषः (१।३।९०) से पक्ष में परस्मैपद न होकर 'चर्मायते' बन गया ॥

—:०:—

परि० सिति च (१।४।१६)

भवदीयः (आपका)

भवत् ङस् समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), त्यदादीनि च (१।१।७३) से 'भवत्' की वृद्ध संज्ञा होकर भवतष्ठक्छसौ (४।२।११४) से छस् प्रत्यय हुआ।

भवत् ङस् छस् हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)। पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

भवत् छ आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से 'छ' को 'ईय्' आदेश हुआ।

भवत् ईय् अ यहाँ यचि भम् (१।४।१८) से 'भवत्' की 'भ' संज्ञा प्राप्त थी, पर 'छ' के सित् होने से सिति च से पद संज्ञा हो गई। पद संज्ञा होने से झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'त्' को 'द्' हो गया।

भवद् ईय पूर्ववत् सु आकर रुत्व विसर्जनीय हो गया। और—

भवदीयः बना ॥

ऊर्णायुः (ऊर्णाऽस्य विद्यते=भेड़)

ऊर्णा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

ऊर्णा सु ऊर्णाया युस् (५।२।१२३) से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होकर—

ऊर्णा सु युस् सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से सु का लोप।

ऊर्णा युस् हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

ऊर्णा यु यहाँ सिति च से पद संज्ञा होने से भ संज्ञा का बाध हो गया। अतः भ संज्ञा होने से जो यस्येति लोप प्राप्त था, अब नहीं हुआ। यही पद संज्ञा का फल है।

ऊर्णायु पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय हो गया। और—

ऊर्णायुः बना ॥

—:०:—

परि० स्वादिष्वसर्व० (१।४।१७)

राजभ्याम्, राजभिः में भ्याम् भिस् के परे रहते 'राजन्' की प्रकृत सूत्र से पद संज्ञा होने से नलोपः प्राति० (८।२।७) से नकार लोप हो गया है। सभी उदाहरणों में पद संज्ञा का नकार लोप ही प्रयोजन है ॥

राजत्वम् (राजापन), राजता यहाँ 'राजन् ङस्' इस अवस्था में क्रम से तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११८) से त्व, तल् प्रत्यय हुये हैं। पूर्ववत् ही नकार लोप, तथा सु आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगकर राजत्वम् बना। राज तल्=यहाँ टाप् होकर सु का लोप हल्ङ्या० (६।१।६६) से होकर राजता बन गया है ॥

राजतरः (अधिक प्रकाशमान), राजतमः (सब से अधिक प्रकाशमान) में भी राजन् शब्द से तरप् तमप् प्रत्यय के परे रहते पद संज्ञा होने से नकार लोप हो गया है। तरप् तमप् प्रत्ययों में सिद्धियाँ परि० १।१।२१ में दिखाई हैं, उसी प्रकार जानें ॥

वाग्भिः (वाणियों के द्वारा)

वाच्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
वाच् भिस्	प्रकृत सूत्र से भिस् परे रहते 'वाच्' की पद संज्ञा होने से चोः कुः (८।२।३०), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से च् को क्, तथा झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'क्' को 'ग्' हो गया।
वाग् भिस्	पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—
वाग्भिः	बना ॥

—:०—

परि० तसौ मत्वर्थे (१।४।१९)

विद्युत्वान् (बिजलीवाला)

विद्युत्	अर्थवद० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
विद्युत् सु	तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)
विद्युत् सु मतुप्	सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से सु लोप।
विद्युत् मत्	झयः (८।२।१०) से मतुप् के मकार को वकार होकर—
विद्युत् वत्	यहाँ 'विद्युत्' तकारान्त शब्द है। सो उसकी प्रकृतसूत्र से भ संज्ञा हो गई। स्वादिष्वसर्व० (१।४।१७) से पद संज्ञा प्राप्त थी। भ संज्ञा होने से पद संज्ञा का बाध हो गया। तो झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से

'त्' को 'द्' नहीं हुआ। शेष सिद्धि चितवान् के समान परि० १।१।५ होकर—

विद्युत्वान् बना ॥

इसी प्रकार उदश्वित् शब्द से उदश्वित्वान् (वही मट्ठेवाला) में भी समझें ॥

यशस्वी (बहुत यशवाला)

यशस् सु — यहाँ पूर्ववत् ही सब होकर, अस्मायामेधास्रजो विनिः (५।२।१२१) से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय हुआ।

यशस् सु विनि — सुपो धातु० (२।४।७१)। यहाँ भी 'यशस्' के सकारान्त होने से प्रकृत सूत्र से भ संज्ञा हो गई। सो पद संज्ञा का बाध हो गया। अतः पदाधिकार में वर्त्तमान ससजुषो रुः (८।२।६६) से 'स्' को रुत्व नहीं हुआ।

यशस् विन् — पूर्ववत् 'सु' आकर—

यशस्विन् सु — सौ च (६।४।१३) से उपधा को दीर्घ होकर—

यशस्वीन् स् — हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से सु लोप।

यशस्वीन् — नलोपः प्रातिपदि० (८।२।७) से न लोप होकर—

यशस्वी — बना ॥

इसी प्रकार तपस्, पयस् शब्द से तपस्वी (तप करनेवाला), पयस्वी (बहुत दूधवाला) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० अयस्मयादीनि० (१।४।२०)

अयस्मयम् (लोहे का विकार)

अयस् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अयस् ङस् — द्व्यचश्छन्दसि (४।३।१४८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

अयस् ङस् मयट् — सुपो० धातु० (२।४।७१)। यहाँ भी प्रकृत सूत्र से भ संज्ञा होने

अयस् मय — से पद संज्ञा का बाध हो गया। तो ससजुषो रुः (८।२।६६) से रुत्व नहीं हुआ। पूर्ववत् सु आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगा। और—

अयस्मयम् — बना ॥

ऋक्वता

'ऋक्वता' यहां ऋच् शब्द से पूर्ववत मतुप् प्रत्यय, तथा मतुप् के 'म' को 'व',

एवं टा विभक्ति होकर 'ऋच् वत् टा=ऋच् वत् आ' रहा। अब यहां प्रकृत सूत्र से 'ऋच्' की पद संज्ञा होने से चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व होकर 'ऋक् वता' बना। पुनः पदान्त मानकर जब झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व करने लगे, तो इसी सूत्र से 'ऋक्' की भ संज्ञा हो गई, सो जश्त्व नहीं हुआ। अर्थात् कुत्व के प्रति ऋच् की पद संज्ञा, तथा जश्त्व के प्रति भ संज्ञा हो गई। तात्पर्य यह है कि वेद में जैसा देखा जाता है, वैसा साधु समझा जाता है। सो यहां कुत्व तथा जश्त्वाभाव दोनों देखे गये, तो भ पद दोनों संज्ञायें माननी पड़ीं। इस प्रकार ऋक्वता हो रहा ॥

—:०—

परि० गतिश्च (१।४।५९)

'प्रकृत्य' की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। गति संज्ञा होने से कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास होता है ॥

प्रकृतम् (अच्छी प्रकार से किया हुआ)

डुकृञ् — पूर्ववत् परि० १।१।५ के चितः के समान सब कार्य होकर—

प्र सु कृत — गतिश्च से गति संज्ञा होकर कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास हो गया। पूर्ववत् सुपो धातु० (२।४।७१)।

प्रकृत — पुनः सु आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगा।

प्रकृतम् — अब पुनः प्रकृत सूत्र से 'प्र' की गति संज्ञा होने से गतिरनन्तरः (६।२।४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर हुआ। अर्थात् उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इस फिट् सूत्र से 'प्र' उदात्त हो गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५)।

प्रकृतम् — स्वरितात् संहितायाम० (८।२।३९) लगकर—

प्रकृतम् — बना ॥

यत् प्रकरोति (जो प्रारम्भ करता है)

डुकृञ् धातु से परि० १।३।३२ के समान 'कृ उ तिप्' होकर पूर्ववत् 'कृ' को 'उ' आर्द्धधातुक के निमित्त से गुण हुआ। सो 'कर् उ ति' रहा। तिप् को निमित्त मानकर पुनः 'उ' को गुण होकर प्रकर् ओ ति=प्रकरोति बन गया। यहां स्वर-सिद्धि निम्न प्रकार है—

यत् प्रकरोति — यहां तिङ्ङतिङः (८।२।२८) से अतिङ् 'प्र' से उत्तर 'करोति' को

सर्वनिघात प्राप्त हुआ। पर यद्वृत्तान्नित्यम् (८।१।६६) से उसका निषेध हो गया। तब 'करोति' जो कि प्रत्ययस्वर (३।१।३) से मध्योदात्त, अर्थात् 'रो' उदात्त था, वही रहा। तिप् तो अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से अनुदात्त हो था।

यहाँ 'प्र' को उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) से आद्युदात्त प्राप्त था। पर गतिश्च से 'प्र' की गति संज्ञा भी हो जाने से उपसर्गाश्चा० (फिट् ८१) को बाधकर तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) से उदात्तवान् तिङ् (करोति मध्योदात्त था ही) के परे रहते 'प्र' को अनुदात्त हो गया। शेष को अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से अनुदात्त, एवं उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर स्वरित होकर—

यत् प्र॒करोति बना ॥

—:o—

परि० ऊर्यादिच्विडाचश्च (१।४।६०)

ऊर्यन्त पटपटाकृत्य ('पटत्-पटत्' ऐसा शब्द करके) की सिद्धि परि० १।३।६० के समान जानें। पटपटायते के समान ही 'पटपटा' ऐसा बनकर उसकी प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा हो गई। गति संज्ञा करने का फल परि० १।४।५६ के समान ही जानें। ऊरीकृत्य (स्वीकार करके) में भी पूर्ववत् ही गति संज्ञा का प्रयोजन समझें ॥

शुक्लीकृत्य (अशुक्लं शुक्लं कृत्वा=जो सफेद नहीं उसे सफेद करके)

शुक्ल   कृभ्वस्तियोगे संपद्य० (५।४।५०) से च्वि।
शुक्ल च्वि   =व् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर अस्य च्वौ (७।४।३२) लगकर—
शुक्ली व्   वेरपृक्तस्य (६।१।६५) होकर—
शुक्ली कृञ्   यहां 'शुक्ली' च्व्यन्त शब्द है, सो उसकी प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा होकर, ते प्राग्धातोः (१।४।७६) से 'शुक्ली' पूर्व में आया। शेष सिद्धि परि० १।४।५६ के समान ही जानें। गति संज्ञा का फल भी पूर्ववत् ही जानें। इस प्रकार—
शुक्लीकृत्य   बना ॥

—:o:—

परि० विभाषा कृञि (१।४।७१)

गति संज्ञा पक्ष में तिरस्कृत्य, तिरः कृत्य; तिरस्कृतम्, तिरः कृतम्; यत् तिरस्करोति, यत् तिरःकरोति की सिद्धियाँ परि० १।४।५६ के समान हो हैं। स्वर भी उसी प्रकार रहेगा। केवल यहाँ तिरसोऽन्यतरस्याम् (८।३।४२) से 'तिरः' के विसर्जनीय को विकल्प से सकारादेश होकर दो रूप बनते हैं। जब पक्ष में गति संज्ञा नहीं होती, तो सकारादेश विकल्प से नहीं होता। क्योंकि तिरसोऽन्यत० (८।३।४२) में 'गति' की ऊपर से अनुवृत्ति है ॥

अगतिसंज्ञा पक्ष में प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा नहीं हुई, तो 'तिरः कृत्वा' बना। क्योंकि गति संज्ञा न होने से कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास नहीं हुआ। समास न होने से समासेऽनञ० (७।१।३७) से क्त्वा को ल्यप् भी नहीं हो सका ॥

तिरः कृतम् यहाँ भी गति संज्ञा न होने से समास नहीं हुआ। तथा गतिरनन्तरः (६।२।४६) का स्वर नहीं लगा। तब फिषोऽन्तोदात्तः (फिट् १) से 'तिरः' अन्तोदात्त रहा। अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से शेष अनुदात्त हो गया। कृतम् का भी आद्युदात्तश्च (३।१।३) से 'क्त' उदात्त है, शेष अनुदात्त रहा ॥

'यत् तिरः करोति' यहाँ भी अगतिसंज्ञा पक्ष में परि० १।४।५६ के समान स्वर न होकर तिरः तथा करोति का पृथक्-पृथक् स्वर रहा। 'करोति' परि० १।४।५६ के समान ही मध्योदात्त है। तथा तिरः पूर्ववत् प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त रहा ॥

—:o:—

परि० अधिपरि अनर्थकौ (१।४।९२)

अध्यागच्छति (आता है)

अधि आङ् पूर्वक 'अध्यागच्छति' की सिद्धि परि० १।३।१५ के समान जानें। आगे अधिपरी अनर्थकौ से 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो गई, तो गति और उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया। अर्थात् 'अधि' की गति या उपसर्ग संज्ञा नहीं हुई। गति संज्ञा का बाध हो जाने से यहाँ गतिर्गतौ (८।१।७०) से आङ् गति के परे रहते 'अधि' को निघात नहीं हुआ। यही कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है। अब उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) से 'आङ्' को आद्युदात्त हो गया, तथा 'अधि' का 'अ' निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से अलग उदात्त हो गया। आगे तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से अतिङ् 'आङ्' से उत्तर 'गच्छति' को निघात हो गया। उदात्ता-

दनु० (८।४।६५) से उदात्त 'प्राङ्' से उत्तर गच्छति के 'ग' को स्वरित हो गया, तो प्रध्यागच्छति ऐसा स्वर रहा। स्वरितात् संहिता० (१।२।३६) से अनुदात्तों को एकश्रुति होकर कुतो प्रध्यागच्छति रहा। एङः पदान्तादति (६।१।१०५) लगकर कुतोऽध्यागच्छति(कहाँ से आता है) बन गया ॥

इसी प्रकार कुतः पर्यागच्छति (कहां से आता है) में भी जानें ॥

—:०:—

परि० विभाषा कृञि (१।४।६७)

अधिकरिष्यति

अधिकरिष्यति की सिद्धि परि० १।४।१३ के करिष्यति के समान जानें। यहाँ स्वरसिद्धि निम्न प्रकार है:—

यदत्र मामधिकरिष्यति यहाँ तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से 'करिष्यति' को सर्वनिघात प्राप्त हुआ। पर उसका निपातैर्यद्यदिहन्त० (८।१।३०) से निषेध हो गया। तब प्रकृत सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति उपसर्ग-संज्ञा का बाध होकर, तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) नहीं लग सका। यद्यपि करिष्यति उदात्तवान तिङ् परे था। तब निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से अधि का 'अ' उदात्त हुआ। तथा शेष को निघात होकर पूर्ववत् उदात्त से उत्तर स्वरित हो गया।

अधि　　तथा 'करिष्यति' का प्रत्ययस्वर से 'स्य' उदात्त था, सो वही रहा। इस प्रकार दोनों के पृथक्-पृथक् स्वर रहे। और—

यदत्र मामधिकरिष्यति बना ॥

जब पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं हुई, तो गतिश्च (१।४।५६) से 'अधि' की गति संज्ञा होकर तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) लग गया। सो गतिसंज्ञक 'अधि' को निघात हो गया। शेष करिष्यति का स्वर पूर्ववत् ही रहा। इस प्रकार यदत्र मामधिकरिष्यति ऐसा स्वर रहा ॥

॥इति प्रथमोऽध्यायः ॥

—:०:—

अथ द्वितीयाध्याय-परिशिष्टम्

परि० सुबामन्त्रिते० (२।१।२)

कुण्डेन अटन् (कुण्ड के द्वारा हे घूमते हुए)

उदाहरण में 'अटन्' सम्बोधनान्त पद है। अतः इसकी सामन्त्रितम् (२।३।४८)से आमन्त्रित संज्ञा हुई है। आमन्त्रित संज्ञा होने से आमन्त्रितस्य च(८।१।१९)से 'कुण्डेन' पद से उत्तर 'अटन्' को सर्वानुदात्त प्राप्त हुआ। तब प्रकृत सूत्र ने कहा कि "स्वरविषय में आमन्त्रित पद परे रहते पूर्व सुबन्त को पराङ्गवत्=पर अङ्ग के समान ही माना जाये"। सो यहाँ 'अटन्' आमन्त्रित पद के परे रहते 'कुण्डेन' सुबन्त को अटन् के समान ही आमन्त्रित पद माना गया, अर्थात् एक ही पद माना गया। ऐसी अवस्था में पद से उत्तर आमन्त्रित पद नहीं रहा, तो आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात न हो सका। तब षाष्ठिक=छठे अध्याय के आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त हुआ, जो कि पराङ्गवद्भाव होने से 'कुण्डेन' के 'कु' को ही उदात्त हुआ। शेष को अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से अनुदात्त होकर उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर अनुदात्त 'ण्डे' को स्वरित हो गया। पीछे 'ण्डे' स्वरित से उत्तर, सब अनुदात्तों को स्वरितात्संहितायाम० (१।२।३९) से एकश्रुति हो गई है॥

इसी प्रकार 'परशुना वृश्चन्' (कुल्हाड़ी के द्वारा काटते हुये हे मनुष्य) में 'वृश्चन्' आमन्त्रित पद है, एवं 'परशुना' सुबन्त है। तथा मद्राणां राजन्, कश्मीराणां राजन् (हे मद्र देश तथा कश्मीर देश के राजा) में राजन् आमन्त्रित पद, एवं मद्राणां कश्मीराणां सुबन्त हैं। सो प्रकृत सूत्र से पराङ्गवद्भाव हो जाने से पूर्ववत् सुबन्त पदों 'परशुना' आदियों को आद्युदात्त हो गया। यही पराङ्गवद्भाव का प्रयोजन है। शेष स्वरसिद्धि पूर्ववत् ही है॥

—:०:—

परि० द्विगुश्च (२।१।२२)

पञ्चराजम् (पञ्चानां राज्ञां समाहारः=पाँच राजाओं का समुदाय)

पञ्चन् आम् राजन् आम् तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) से समाहार गम्यमान होने से समास हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६),सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

पञ्चन् राजन् सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से सङ्ख्या पूर्व में होने से समास की द्विगु संज्ञा हुई। तब द्विगुश्च ने द्विगुसंज्ञक की तत्पुरुष संज्ञा कर दी। तत्पुरुष संज्ञा होने से राजाहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१) से राजन् अन्तवाले प्रातिपदिक को तत्पुरुष समास में समासान्त टच् प्रत्यय हो गया।

पञ्चराजन् टच् नस्तद्धिते (६।४।१४४), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

पञ्चराज अ पुनः पूर्ववत् सु आया।

पञ्चराज सु अतोऽम् (७।१।२४) लगकर—

पञ्चराज अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) होकर—

पञ्चराजम् बना॥

इसी प्रकार 'दशराजम्' की सिद्धि भी जानें॥

द्व्यहः (द्वे अहनी समाहृते=दो दिन का समुदाय)

द्वि औ अहन् औ पूर्ववत् समासादि कार्य, एवं प्रकृत सूत्र से समास की तत्पुरुष संज्ञा होने से टच् प्रत्यय हुआ।

द्विअहन् टच् नस्तद्धिते (६।४।१४४), अह्नष्टखोरेव (६।४।१४५), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

द्विअह् अ यहाँ अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५।४।८८) से अहन् को 'अह्न' आदेश भी पाता है, जिसका न सङ्ख्यादेः समाहारे (५।४।८९) से निषेध हो जाता है। रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९) से यहाँ पुंलिङ्ग भी होता है। इको यणचि (६।१।७४) लगकर—

द्व्यह् अ पूर्ववत् 'सु' आकर—

द्व्यहः बना॥

इसी प्रकार 'त्रीणि अहानि समाहृतानि=त्र्यहः' की सिद्धि जानें॥

पञ्चगवम् (पञ्चानाम् गवाम् समाहारः=पांच गायों का समुदाय)

पञ्चन् आम् गो आम् पूर्ववत् समासादि कार्य, एवं प्रकृत सूत्र से समास की तत्पुरुष संज्ञा होने से गोरतद्धितलुकि (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ।

पञ्च गो टच् एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—

पञ्चगव् अ पूर्ववत् सब होकर—

पञ्चगवम् बना॥

इसी प्रकार 'दशगवम्' की सिद्धि भी जानें॥

परि० स्वयं क्तेन (२।१।२४)

स्वयंधौतौ पादौ (स्वयं धुले हुए पैर)

धावु गतिशुद्धयोः भूवादयो० (१।३।१), उपदेशे० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)।
धाव् धातोः (३।१।९१), निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवतू० (१।१।२५)।
धाव् क्त आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् प्राप्त हुआ, जिसका यस्य विभाषा (७।२।१५) से निषेध हो गया। क्योंकि यस्य विभाषा का अर्थ है—"जिस धातु को विकल्प से इट् विधान कहीं पर भी किया हो, उस धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता"। यहाँ धावु धातु को उवित् होने से उदितो वा (७।२।५६) से क्त्वा परे रहते विकल्प से इट् आगम प्राप्त था। अतः यहाँ निष्ठा परे रहते इट् निषेध हो गया।
धाव् त च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९) से वकार के स्थान में ऊठ् आदेश होकर—
धा ऊठ् त=धा ऊ त अब आद् गुणः (६।१।८४) से यहाँ गुण एकादेश प्राप्त हुआ। पर एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८६) ने गुण को बाध कर वृद्धि एकादेश विधान कर दिया। इस प्रकार—
धौत बना। अब—
स्वयं सु धौत सु स्वयं क्तेन से स्वयं अव्यय का धौत क्तान्त सुबन्त के साथ समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—
स्वयंधौत पूर्ववत् 'औ' विभक्ति आकर—
स्वयंधौत औ वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर—
स्वयंधौतौ पादौ बना॥

'स्वयंभुक्तम्' की सिद्धि में कोई विशेष नहीं है॥

—:०:—

परि० कालाः (२।१।२७)

अहरतिसृताः मुहूर्त्ताः

अति पूर्वक 'सृ गतौ' धातु से क्त प्रत्यय आकर 'अतिसृत' क्तान्त शब्द बना है। सो इसी क्तान्त शब्द के साथ कालवाची 'अहन्' का समास हुआ है। अहन् अम् अतिसृत जस्, कालाः से समास होकर, पूर्ववत् सब कार्य हुए।

अहन् अतिसृत रोऽसुपि (८।२।६६) से अहन् के अकार को रेफ होकर—
अहरतिसृता: बना ॥

इसी प्रकार "रात्रि अतिसृता:=रात्र्यतिसृता:' यणादेश होकर पूर्ववत् जानें ॥

छः मुहूर्त होते हैं, जो कि क्रम से चलते हैं। जिनमें से कुछ अहर=दिन में, अर्थात् उत्तरायण में चलते हैं। तथा कुछ रात्रि में, अर्थात् दक्षिणायण में चलते हैं। सो उनका उत्तरायण में ही, या दक्षिणायन में ही एक साथ चलना कभी नहीं हो पाता। अतः अनत्यन्त संयोग है। अहरतिसृता: का अर्थ 'दिन=उत्तरायण को उल्लङ्घन किया' ऐसा है। एवं रात्र्यतिसृता: का अर्थ रात्रि=दक्षिणायन को उल्लंघन किया ऐसा है। अत्यन्तसंयोग होने पर तो अगले सूत्र अत्यन्तसंयोगे च (२।१।२८) से ही समास होता है ॥

रात्रिसंक्रान्ता: (दक्षिणायन को पार किया)

सम् पूर्वक 'क्रमु पादविक्षेपे' धातु से क्त आकर 'सम् क्रम् त' रहा। यस्य विभाषा (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध, एवं अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (६।४।१५) से अनुनासिकान्त अङ्ग क्रम को दीर्घ होकर 'संक्राम् त' बना। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), एवं अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) से 'म्' को 'न्' होकर संक्रान्त बना। अब यह क्तान्त शब्द है। सो कालवाची 'रात्रि' शब्द का इसके साथ पूर्ववत् समास हो गया है। अनत्यन्तसंयोग भी पूर्ववत् ही समझें, कुछ भी विशेष नहीं ॥

मासप्रमित:

प्र पूर्वक 'माङ् माने' धातु से आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च (३।४।७१) से कर्त्ता में क्त प्रत्यय होकर 'प्र मा त' बना। द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति (७।४।४०) से 'मा' के 'आ' को इत्व होकर 'प्रमित' बन गया है। अब पूर्ववत् "मास अम् प्रमित सु" यहाँ प्रकृत सूत्र से समास होकर मासप्रमितश्चन्द्रमा: बन गया। मासप्रमितश्चन्द्रमा: का अर्थ है—'प्रतिपद के चन्द्रमा ने मास को बनाना (क्रम से बढ़ना) प्रारम्भ किया'। इस प्रकार यहाँ मास के एक देश प्रतिपद का चन्द्रमा के साथ योग दिखाया गया है, न कि पूरे मास का, सो अनत्यन्तसंयोग है ॥

—:०:—

परि० तद्धितार्थोत्तरपद० (२।१।५०)

पौर्वशाल: (पूर्वस्यां शालायां भवः=पूर्व की शाला में होनेवाला)

पूर्वा ङि शाला ङि तद्धितार्थोत्तरपद'समाहारे च, तत्पुरुषः (२।१।२१), समर्थः पदविधिः, (२।१।१), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) लगकर—

पूर्वाशाला — स्त्रियाः पुंवद्भाषित० (६।३।३२) से, अथवा सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः (महा० २।२।२८) इस भाष्यवचन से 'पूर्वा' को पुंवद्भाव होकर—

पूर्वशाला — दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः (४।२।१०६), तत्र भवः (४।३।५३), तद्धिताः (४।१।७६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) होकर—

पूर्वशाला ञ — तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से वृद्धि।

पौर्वशाला ञ — पूर्ववत् भ संज्ञा होकर, यस्येति च (६।४।१४८) लगा।

पौर्वशाल् अ — पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा, एवं सब सूत्र लगकर सु आया।

पौर्वशाल सु — तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

पौर्वशालः — बना॥

इसी प्रकार आपरशालः (दूसरी शाला में होनेवाला) में भी समझें॥

पाञ्चनापितिः (पञ्चानां नापितानामपत्यम्=पाँच नाइयों की सन्तान)

पञ्चन् आम् नापित आम् पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से तद्धितार्थ में समासादि होकर, तथा नलोपः प्राति० (८।२।७) लगकर—

पञ्चनापित — अत इञ् (४।१।९५) से अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय हुआ।

पञ्चनापित इञ् — पूर्ववत् वृद्धि, एवं यस्येति लोप होकर—

पाञ्चनापित् इ — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

पाञ्चनापितिः — बना॥

पञ्चकपालः (पाँच कपालों पर रखके पकाया हुआ पुरोडाश)

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—

पञ्चन् सुप् कपाल सुप् पूर्ववत् तद्धितार्थ में समास इत्यादि होकर—

---

१. उदाहरण में पहले समास प्रकृत सूत्र से हो, तो प्रातिपदिक संज्ञा होकर तद्धित प्रत्यय आवे। तथा तद्धितार्थ में समास कहा है, सो समास जब तक तद्धित प्रत्यय न आवे, तब तक प्राप्त ही नहीं है। यहाँ इतरेतराश्रय दोष आता है। अतः 'तद्धितार्थे' में विषयसप्तमी मानकर, 'तद्धित का विषय आगे आयेगा' ऐसा अर्थ मानकर पहले समास करके, पश्चात् तद्धितोत्पत्ति करते हैं।

पञ्चकपाल　संस्कृतं भक्षाः (४।२।१५) से अण् प्रत्यय हुआ।

पञ्चकपाल अण् सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से द्विगु संज्ञा होकर, अत्र द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से द्विगुसम्बन्धी 'अण्' प्रत्यय का लुक् हो गया।

पञ्चकपाल　पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

पञ्चकपालः　बना॥

पूर्वशालाप्रियः (पूर्व का भवन जिसको प्रिय है)

पूर्वा शाला प्रिया यस्य—

पूर्वा सु शाला सु प्रिया सु यहाँ अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) से पहले पूर्वा शाला प्रिया इन तीन पदों का बहुव्रीहि समास हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

पूर्वाशालाप्रिया अत्र तद्धितार्थोत्तरपद० से 'प्रिया' उत्तरपद के परे रहते 'पूर्वाशाला' का तत्पुरुष समास हुआ। तत्पुरुष समास होने से बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (६।२।१) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। किन्तु 'पूर्वशाला' के 'ला' के 'आ' को समासस्य (६।१।२१७) से उदात्त हुआ है। विभक्ति का लुक् तो बहुव्रीहि समास होने से ही हो जाता। सो यहाँ स्वर करना ही तत्पुरुष समास का फल है। यहाँ यह समझना चाहिये कि तत्पुरुष संज्ञा 'पूर्वशाला' की है। सो 'ला' ही समास के अन्त में हुआ, न कि 'प्रिया' का 'या'। अतः 'ला' को ही उदात्त हुआ है। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२), उदात्तादनुदा० (८।४।६५), स्वरितात् संहितायां० (१।२।३९) लगकर=

पूर्वाशालाप्रिया स्त्रियाः पुंवद्भाषित० (६।३।३२) से, अथवा पूर्ववत् भाष्यवचन से पूर्वा को पुंवद्भाव होकर—

पूर्वशालाप्रिया गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से 'प्रिया' को ह्रस्व होकर—

पूर्वशालाप्रिय पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

पूर्वशालाप्रियः बना॥

इसी प्रकार अपरा शाला प्रिया यस्य स =अपरशालाप्रियः (दूसरी शाला प्रिय है जिसको) की सिद्धि जानें॥

पञ्चगवधनः (पाँच गायें हैं धन जिसका)

पञ्च गावो धनं यस्य—

पञ्चन् जस् गो जस् धन सु पूर्ववत् ही पहले त्रिपद बहुव्रीहि होकर—

पञ्चगोधन पश्चात् 'धन' शब्द के परे रहते प्रकृत सूत्र से 'पञ्चगो' की तत्पुरुष संज्ञा हो गई। तत्पुरुष संज्ञा होने से गोरतद्धितलुकि (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ।

पञ्चगो टच् धन=पञ्चगो अ धन एचोऽयवायाव: (६।१।७५) लगकर—

पञ्चगवधन पूर्ववत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

पञ्चगवधन: बना॥

पूर्व सिद्धि के समान यहां भी 'पञ्चगो' की तत्पुरुष संज्ञा होने से समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त करना भी प्रयोजन है, सो पूर्ववत् समझ लें। यहाँ टच् का प्रयोजन ही दिखाया है॥

इसी प्रकार पञ्चनावप्रिय: (पाँच नौकायें प्रिय हैं जिनको) की सिद्धि भी जानें। केवल यहां नावो द्विगो: (५।४।९९) से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, यही विशेष है। पर प्रक्रिया सब वही है॥

पञ्चपूली (पांच पूलियों का समूह)

पञ्चानाम् पूलानाम् समाहार:—

पञ्चन् आम् पूल आम् पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से समाहार गम्यमान होने पर समास, एवं अन्य कार्य होकर—

पञ्चपूल सङ्ख्यापूर्वो द्विगु: (२।१।५१) से द्विगु संज्ञा होकर, अकारान्तोत्तरपदो द्विगु: स्त्रियां भाष्यते (वा० २।४।३०) इस वार्त्तिक से अकारान्त उत्तरपदवाले 'पञ्चपूल' से स्त्रीलिङ्ग होकर, स्त्रियाम् (४।१।३), द्विगो: (४।१।२१) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हो गया।

पञ्चपूल ङीप्=ई यस्येति च (६।४।१४८) लगकर—

पञ्चपूल् ई द्विगुरेकवचनम् (२।४।१) से एकवद्भाव, अर्थात् एक अर्थ की वाचकता होकर पूर्ववत् 'सु' आ गया। जिसका हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से लोप होकर—

पञ्चपूली बना॥

इसी प्रकार अष्टानाम् अध्यायानां समाहार:=अष्टाध्यायी की सिद्धि भी समझें। अष्टन् आम् अध्याय आम्='अष्टअध्याय ङीप्=ई' रहा। सवर्ण दीर्घ होकर अष्टाध्यायी बन गया॥

पञ्चकुमारि (पांच कुमारियों का समूह), यहां "पञ्चन् आम् कुमारी आम्" इस अवस्था में पूर्ववत् समास इत्यादि होकर 'पञ्चकुमारी रहा। द्विगुरेकवचनम् (२।

१।४१) से एकवद्भाव, तथा स नपुंसकम् (२।४।१७) से नपुंसक लिङ्ग होकर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से पञ्चकुमारी के 'ई' को ह्रस्व हो जाता है। पूर्ववत् 'सु' आकर स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से 'सु' का लुक् होकर पञ्चकुमारि बना। इसी प्रकार दशकुमारि की सिद्धि भी जानें ॥

—:०:—

द्वितीयः पादः

परि० कर्त्तरि च (२।२।१६)

शायिका (सोने की बारी)

शीङ्	भूवादयो० (१।३।१), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९)।
शी	धातोः (३।१।९१), पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच् (३।३।१११)।
शी ण्वुच्=वु	यस्मात् प्रत्ययवि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), युवोरनाकौ (७।१।१)।
शी अक	अचो ञ्णिति (७।२।११५), वृद्धिरादैच् (१।१।१) लगकर—
शै अक	एचोऽयवायावः (६।१।७५), कृत्तद्धित० (१।२।४६), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)।

शायक टाप्=आ प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः (७।३।४४) लगकर—
शाय् इ क आ=शायिका बना ॥

अब यह 'शायिका' शब्द कृदन्त है। अतः शायिका का प्रयोग होने पर कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्ता में, अर्थात् 'तव' 'मम' शब्दों में षष्ठी विभक्ति हुई है। अब 'तव शायिका' यहाँ षष्ठी (२।२।८) से समास प्राप्त था। पर 'तव' में कर्ता में षष्ठी है, और शायिका अकान्त शब्द है। सो कर्त्तरि च से समास का निषेध हो गया ॥

'जागरिका' में 'जागृ' धातु से पूर्ववत् ण्वुच् प्रत्यय होकर जाग्रोऽविचि० (७।३।८५) से जागृ को गुण होकर 'जागर् वु' रहा। शेष सब पूर्ववत् होकर जागरिका बन गया। पूर्ववत् 'मम जागरिका' (मेरे जागने की बारी) में समास प्राप्त था। प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया है ॥

—:०:—

परि० नित्यं क्रीडाजीविकयोः (२।२।१७)

पुष्पभञ्जिका

'भञ्ज' धातु से संज्ञायाम् (३।३।१०९) से ण्वुल् प्रत्यय होकर भञ्ज ण्वुल् रहा। पूर्ववत् वु को अक, टाप् प्रत्यय, एवं प्रत्ययस्थात्० (७।३।४४) से इत्व होकर भञ्जिका बना है। अब यहाँ 'पुष्प आम् भञ्जिका सु' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से समास होकर पुष्पभञ्जिका बना ॥

इसी प्रकार 'प्र' पूर्वक 'चिञ्' धातु से पूर्ववत् ण्वुल् प्रत्यय, एवं अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि, तथा सब कार्य पूर्ववत् होकर प्रचायिका बना। पश्चात् पुष्प के साथ इस सूत्र से षष्ठी समास हुआ ॥

यहाँ दोनों उदाहरणों में पहले पुष्प का भञ्जिका, या प्रचायिका के साथ इस सूत्र से षष्ठी समास होकर पुनः उद्दालक एवं वारण का पुष्पभञ्जिका एवं पुष्पप्रचायिका के साथ षष्ठी (२।२।८) सूत्र से षष्ठी समास होता है ॥

उद्दालक लोगों के पुष्प खेड़ने का कोई खेल'उद्दालक पुष्पभञ्जिका'कहा जाता है। इसी प्रकार वारण लोगों के पुष्पचयन करने की किसी क्रीडाविशेष का नाम 'वारणपुष्पप्रचायिका' है ॥ जो कोई दाँत की कलाविशेष से जीविका चलाये वह 'दन्तलेखक', एवं जो नाखून की कलाविशेष से जीविका चलाये, वह 'नखलेखक' है। दन्त एवं नख षष्ठ्यन्त पद हैं, सो प्रकृत सूत्र से नित्य ही समास हो जाता है ॥

—:o:—

परि० सङ्ख्ययाऽव्यया० (२।२।२५)

उपदशाः (दशानां समीपे ये=दसों के जो समीप, अर्थात् नव वा एकादश)

उप सु दशन् आम् सङ्ख्ययाऽव्ययासन्ना० से सङ्ख्या का उप अव्यय के साथ बहुव्रीहि समास हुआ। सुपो धातु० (२।४।७१)।

उपदशन् — बहुव्रीहि समास होने से बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात् (५।४।७३) से समासान्त डच् प्रत्यय हुआ।

उपदशन् डच्=अ टेः (६।४।१४३), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

उपदश् अ — कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् जस् विभक्ति आकर—

उपदश जस् — चुटू (१।३।७), तस्य लोपः (१।३।९), प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) लगकर—

उपदशास — पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

उपदशाः — बना ॥

इसी प्रकार विंशतेः समीपे ये=उपविंशाः (बीस के समीप) की सिद्धि जानें। भेद केवल इतना है कि यहाँ ति विंशतेर्डिति (६।४।१४२) से विंशति के 'ति' का लोप होता है। तथा अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप एकादेश हो जाता है ॥

दशानाम् आसन्नाः=आसन्नदशाः (दश के निकट) दशानाम् अदूरम्=अदूरदशाः की सिद्धि भी पूर्ववत् ही है ॥

द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः (दो या तीन) में भी पूर्ववत् डच् प्रत्यय, टि भाग का लोप होकर द्वित्र् अ जस् द्वित्राः बना है ॥

त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः (तीन या चार), यहाँ इतना ही विशेष है कि समासान्त डच् प्रत्यय न होकर चतुरोऽच्प्रकरणे त्र्युपाभ्यामुपसङ्ख्यानम् (वा० ५।४।७७) इस वार्त्तिक से त्रि पूर्व में रहते चतुर् शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। अच् प्रत्यय होने से यहाँ टेः (६।४।१४३) से टि भाग का लोप भी न हो सका। सो "त्रिचतुर् अच् जस्=त्रिचतुराः" बन गया ॥

—:०:—

चतुर्थः पादः

परि० रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९)

द्विरात्रः (द्वे रात्री समाहृते=दो रात्रियाँ)

द्वि औ रात्रि औ तद्धितार्थोत्तर० (२।१।५०), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१)।

द्विरात्रि अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (५।४।८७) लगकर—

द्विरात्रि अच् यस्येति च (६।४।१४८), रात्राह्नाहाः पुंसि से पुंल्लिङ्ग होकर—

द्विरात्र अ पूर्ववत् 'सु' विभक्ति आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

द्विरात्रः बना ॥

इसी प्रकार त्रिरात्रः की सिद्धि जानें। चतूरात्रः की सिद्धि में केवल यह विशेष है कि 'चतुर' के रेफ का लोप रो रि (८।३।१४) से हो जाता है। तत्पश्चात् ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६।३।१०९) से 'चतु' के 'उ' को दीर्घ होकर चतूरात्रः बना है ॥

पूर्वाह्णः (अह्नः पूर्वो भागः=दिन का पूर्व भाग)

पूर्व सु अहन् ङस् पूर्वापराधरोत्तर० (२।२।१) से समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

पूर्व अहन् राजाहःसखि० (५।४।९१), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

पूर्व अहन् टच् अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५।४।८८) से अहन् को अह्न आदेश।

पूर्व अह्न अ=पूर्वाह्न अह्नोऽदन्तात् (८।४।७) से णत्व होकर—

पूर्वाह्ण पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से पुँल्लिङ्ग, एवं 'सु' आकर विसर्जनीय होकर—

पूर्वाह्णः बना ॥

इसी प्रकार अपराह्णः (दिन का अपर भाग), मध्याह्नः (दिन का मध्य भाग) की सिद्धि जानें। केवल मध्याह्नः में रेफ से उत्तर न होने से णत्व नहीं होगा, यही विशेष है ॥

द्व्यहः, त्र्यहः की सिद्धि परि० २।१।२२ में देखें ॥

—:०:—

परि० अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति (२।४।३६)

प्रजग्ध्य (अच्छी तरह खाकर)

प्र अद पूर्ववत् परि० २।१।५५ के प्रकृत्य के समान सारी सिद्धि होकर—

प्र अद् ल्यप् अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति से अद् को जग्धि आदेश होकर (जग्धि में इकार उच्चारणार्थ है, वस्तुतः 'जग्ध्' आदेश होता है)—

प्रजग्ध् य=प्रजग्ध्य बना ॥

इसी प्रकार विजग्ध्य (विशेष रूप से खाकर) की सिद्धि जानें ॥

जग्धः (खाया हुआ)

अद भूवादयो० (१।३।१), निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५)।

अद् क्त पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से 'जग्ध्' आदेश होकर—

जग्ध् त झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से 'त' को 'ध' हुआ।

जग्ध् ध झलां जश् झशि (८।४।५२) से पूर्व धकार को 'द्' हुआ।

जग्द् ध झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से 'द' का लोप होकर—

जग्ध पूर्ववत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

जग्धः बना ॥

इसी प्रकार क्तवतु प्रत्यय में 'जघ् तवत्' होकर पूर्ववत् ही 'त्' को 'ध्', तथा पूर्व धकार को दकार, एवं 'द्' का लोप होकर 'जग् धवत्' रहा। शेष सिद्धि परि० १।१।५ के चितवान् के समान होकर जग्धवान् बना है॥

—:०:—

परि० लुङ्सनोर्घस्लृ (२।४।३७)

अघसत् (उसने खाया)

अद　　भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), लुङ् (३।३।११०)।
अद् लुङ्　　लुङ्सनोर्घस्लृ से अद् को घस्लृ आदेश होकर —
घस्लृ ल्　　शेष कार्य परि० १।१।१ के अचैषीत् के समान होकर —
अट् घस् च्लि त् पुषादिद्युताद्यॢदितः० (३।१।५५) से घस् के ॡदित् होने से च्लि के स्थान में अङ् होकर—
अ घस् अङ् त्=अघसत् बन गया॥

जिघत्सति (भोजन करना चाहता है)

अद　　यहां परि० १।२।८ के रुरुदिषति के समान सन् प्रत्यय आकर, प्रकृत सूत्र से घस्लृ आदेश होकर द्वित्वादि कार्य हुये।
घस् घस् सन् एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् आगम का निषेध।
घ घस् स　　कुहोश्चुः (८।४।६२), अभ्यासे चर्च (८।४।५३), सन्यतः (७।४।७९), सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) से सकार का तकार।
जिघत् स　　सनाद्यन्ता० (३।१।३२) पूर्ववत् शप् तिप् आकर—
जिघत् स शप् तिप् अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—
जिघत्सति　　बना॥

—:०:—

परि० वेञो वयिः (२।४।४१)

उवाय (उसने बुना)

वेञ्　　भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), परोक्षे लिट् (३।२।११५)।
वेञ् लिट्　　आर्धधातुके (२।४।३५) वेञो वयिः से वेञ् के स्थान में वय् आदेश होकर—
वय् लिट्　　पूर्ववत् लिट् के स्थान में तिप् आकर—

वय् तिप् परस्मैपदानां णलतु० (३।४।८२) से तिप के स्थान में णल् ।

वय् णल् लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८) से द्वित्व ।

वय् वय् अ लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६।१।१७) से अभ्यास को सम्प्रसारण हुआ ।

उ अ य् वय् अ सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४), हलादिः शेषः (७।४।६०) ।

उवयअ अत उपधायाः (७।२।११६) लगकर—

उवाय बना ॥

ऊयतुः

वेञ् पूर्ववत् ही वेञ् को 'वय्' आदेश, तथा 'तस्' के स्थान में अतुस् आदेश होकर—

वय् अतुस् असंयोगाल्लिट कित् (१।२।५), ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६।१।१६) से य् को सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। पर उसके अपवाद सूत्र लिटि वयो यः (६।१।३७) ने कहा कि लिट् परे रहते 'वय्' के यकार को सम्प्रसारण न हो, किन्तु वश्चास्यान्यतरस्यां० (६।१।३८) से 'य' को 'व' हो। सो य को 'व्', एवं पूर्व व को सम्प्रसारण होकर, लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८) से द्वित्व हुआ ।

उव् उव् अतुस् हलादि शेषः (७।४।६०), अकः सवर्णे० (६।१।९७) ।

ऊवतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

ऊवतुः बना ॥

इसी प्रकार 'उस्' में ऊवुः बना है ॥

वश्चास्यान्यत० (६।१।३८) में अन्यतरस्याम् कहने से पक्ष में जब 'य्' को 'व्' नहीं हुआ। तो पूर्ववत् ही ऊयतु ऊयुः बन गया ॥

'वयि' आदेश के अभाव में ववौ, ववतुः ववुः रूप बनते हैं। आदेच० (६।१।४५) से आत्व सर्वत्र होता है। ववौ में आत औ णलः (७।१।३४) से णल् को औकार हुआ है। तथा अन्यत्र आतो लोपः० (६।४।६४) से आकार का लोप होता है। वेञः (६।१।४०) से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है ॥

—:०:—

परि० हनो वध० (२।४।४२)

वध्यात् (वह वध करे)

हन भूवादयो (१।३।१) धातोः, (३।१।९१), आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)

हन् लिङ्   यासुट् परस्मैपदेषू० (३।४।१०३) से यासुट् आगम, तथा प्रकृत सूत्र से 'हन्' को वध आदेश होकर—

वध यासुट् लिङ् पूर्ववत् लादेश होकर—

वध यास् ति   अतो लोप: (६।४।४८), इतश्च (३।४।१००)।

वध् यास् त्   सुट् तिथो: (३।४।१०७) से सुडागम।

वध् यास् सुट् त्=वध् यास् स् त्   स्को: संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९), हलोऽनन्तरा: संयोग: (१।१।७)।

वध् या स् त्   पुन: स्को: संयोगाद्यो० (८।२।२९) सूत्र लगकर—

वध्यात्   बना॥

आगे द्विवचन में भी 'वध् यास् तस्' पूर्ववत् होकर, तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम: (३।४।१०१) से तस् को ताम् आदेश होकर वध्यास्ताम् बना है। बहुवचन में 'झि' को झेर्जुस् (३।४।१०८) से जुस् होकर वध् यास् जुस्=वध् यास् उस् रहा। रुत्व विसर्जनीय होकर वध्यासु: बन गया॥

—:o—

परि० विभाषा लुङ्लृङो: (२।४।५०)

अध्यगीष्ट की सिद्धि परि० १।२।१ में देखें॥

अध्यैष्ट

अधि इङ्   अध्यगीष्ट की सिद्धि के समान ही लुङ्, सिच्, लादेश होकर, यहाँ आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम हुआ है।

अधि आट इ ष् ट सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण।

अधि आ ए ०ट आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश, तथा इको यणचि (६।१।७४) से य होकर—

अध्यैष्ट   बना॥

द्विवचन में पूर्ववत् सब होकर, 'आताम्' आकर—अध्यै ष् आताम्=अध्यैषाताम् बन गया॥

अध्यगीष्यत (वह पढ़ेगा)

अधि इङ्   भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), लिङ्निमित्ते लृङ् क्रिया० (३।३।१३९)।

अधि इ लृङ्   प्रकृत सूत्र से इङ् को गाङ् आदेश होकर—

अधि गाङ् लृ   पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अधि अट् गा त स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३) से स्य होकर—

अधि अ गा स्य त गाङ् कुटादिभ्यो० (१।२।१), घुमास्थागापा० ६।४।६६)।

अधि अ गी स्य त आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९), इको यणचि (६।१।७४) लगकर—

अध्यगीष्यत   बना ॥

पक्ष में जब गाङ् आदेश नहीं हुआ, तो पूर्ववत् ही सब होकर "अधि आट् इङ् स्य त=अधि आ इ ष्य त रहा। धातु को गुण, आट् के साथ वृद्धि एकादेश, तथा यण् होकर अध्यैष्यत बना ॥ द्विवचन में अध्यै ष्य आताम् पूर्ववत् होकर, आतो ङितः (७।२।८१) से आताम् के 'आ' को 'इय्' होकर 'अध्यै ष्य इय् ताम्' बना। आद् गुणः (६।१।८४) से गुण, तथा लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) लगकर अध्यैष्येताम् बन गया ॥

—:o:—

परि० णौ च संश्चङोः (२।४।५१)

अधिजिगापयिषति (पढ़ाने की इच्छा करता है)

अधि इङ्   भूवादयो० (१।३।१), उपसर्गाः क्रियायोगे (१।४।५८), हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होकर—

अधि इ णिच्=इ सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः कर्मणः समानक० (३।१।७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

अधि इ इ सन्   अब यहाँ सन्परक णिच्परक इङ् धातु है। सो इङ् को णौ च संश्चङोः से गाङ् आदेश हुआ।

अधि गा इ स   अर्त्तिह्रीव्लीरी० (७।३।३६), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

अधि गा पुक् इ स आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५) से सन् को इट् आगम हुआ।

अधि गा प् इ इट् स अब सन्यङोः (६।१।९), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से प्रथम एकाच् 'गाप्' को द्वित्व हुआ।

अधि गाप् गाप् इ इ स पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०)।

अधि गा गाप् इ इ स कुहोश्चुः (७।४।६२) लगकर—

अधि जा गाप् इ इ स ह्रस्वः (७।४।५९), सन्यतः (७।४।७९)।

अधि जि गापि इ स आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४)।

अधि जि गापे इ स एचोऽयवायावः (६।१।७८), आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)।

अधिजिगापयिष .सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से 'जिगापयिष' की धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् 'शप् तिप्' आकर—
अधिजिगापयिष शप् तिप् अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—
अधिजिगापयिषति बना ॥

जब इङ् को गाङ् आदेश नहीं हुआ, तब पूर्ववत् सब कार्य होकर 'अधि इङ् णिच् सन्' बना। णिच् को निमित्त मानकर इङ् को 'ऐ' अचो ञ्णिति (२।७। ११५) से वृद्धि हुई। तब क्रीङ्जीनां णौ (६।१।४७)से 'ऐ' को आत्व हुआ। सो 'अधि आ पुक् इ इट् स=अधि आ पि इ स रहा। पूर्ववत् गुण एवं अयादेश होकर 'अधि आपयिष' बना। अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से द्वितीय एकाच् को द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होने से पि पय् ऐसा द्वित्व होकर 'अधि आ पि पय् इ ष' रहा। यणादेश एवं पूर्ववत् शप् तिप् होकर 'अध्यापिपयिषति' बन गया ॥

अध्यजीगपत् (उसने पढ़ाया)

अधि इङ् पूर्ववत् णिच् प्रत्यय आकर—
अधि इ णिच् सनाद्यन्ता धातवः ((३।१।३२) से 'इ इ' की धातु संज्ञा हुई। लुङ् (३।२।११०), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
अधि इ इ लुङ् च्लि लुङि (३।१।४३),णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३।१।४८)।
अधि इ इ चङ् ल् अब यहां चङ्परक णि होने से प्रकृत सूत्र से इङ् को गाङ् आदेश हुआ।
अधि गा इ अ ल् अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयी० (७।३।३६), आद्यन्तौ टकितौ।
अधि गा पुक् इ अ ल् णेरनिटि (६।४।५१) लगकर—
अधि गाप् अ ल् णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से चङ्परक 'गाप्' अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हुआ।
अधि गप् अ ल् चङि (६।१।११), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।
अधि गप् गप् अ ल् पूर्ववत् अभ्यासकार्य होकर—
अधि ज गप् अ ल् सन्वल्लघुनि चङ्परे० (७।४।९३) से अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते सन्वद्भाव हुआ। सन्वद्भाव होने से सन्यतः (७।४।७९) से अभ्यास को इत्व हो गया।
अधि जि गप् अ ल् दीर्घो लघोः (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ हुआ।
अधि जी गप् अ ल पूर्ववत् लादेश होकर तिप् आया।

अधि जी गप तिप् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१) लगा।

अधि अट् जी गप ति इको यणचि (६।१।७४), इतश्च (३।४।१००) लगकर—

अध्यजीगपत् बना ॥

जब पक्ष में गाङ् आदेश नहीं हुआ, तो निम्न प्रकार से अध्यापिपत् बना—

अध्यापिपत्

अधि इङ् पूर्ववत् ही णिच् आकर, तथा इङ् को वृद्धि होकर—

अधि ऐ णिच् : क्रीङ्जीनां णौ (६।१।४७) से आत्व होकर, पूर्ववत् अर्तिह्रीव्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ।

अधि आ पुक् इ =अधि आपि सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से 'आपि' को धातु संज्ञा होकर लुङ् प्रत्यय हुआ।

अधि आपि लुङ् च्लि लुङि (३।१।४३), णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३।१।४८)।

अधि आपि चङ् ल् पूर्ववत् ही णिलोप, तथा उपधाह्रस्वत्व होकर—

अधि अप् अ ल् चङि (६।१।११), अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त हुआ। पर द्वितीय वर्ण 'प्' के अच्वाला न होने से द्वित्व न हो सका। तब पूर्ववत् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर द्वित्व हुआ।

अधि अपि प् अ ल् पूर्ववत् लादेश होकर—

अधि अपिप तिप् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आडजादीनाम् (६।४।७२) लगा।

अधि आट् अपिप त् आटश्च (६।१।८६),इको यणचि (६।१।७४) लगकर—

अध्यापिपत् बना ॥

—:o:—

परि० ण्यक्षत्रियार्षञितो० (२।४।५८)

कौरव्यः पिता

कुरु अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१)। पूर्ववत् ङस् विभक्ति आकर—

कुरु ङस् तस्यापत्यम् (४।१।९२), कुर्वादिभ्यो ण्यः (४।१।१५१) से गोत्रापत्य में ण्य प्रत्यय हुआ। अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) से पौत्रप्रभृति अपत्य की गोत्रसंज्ञा होती है। सो ण्य प्रत्यय गोत्रसंज्ञक हुआ।

कुरु ङस् ण्य	सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१), यचि भम् (१।४।१८)।
कुरु य	ओर्गुणः (६।४।१४६) लगकर—
कुरो य	तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), वृद्धिरादैच् (१।१।१)।
कौरो य	वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७६) लगकर—
कौरव्य	पूर्ववत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—
कौरव्यः	बना ॥

यह कौरव्य शब्द गोत्रापत्य में अर्थात् पौत्रादि को कहने में प्रयुक्त होता है। सो 'कौरव्य' युवापत्य की अपेक्षा से पिता हुआ। अतः 'कौरव्यः पिता' कहलाया ॥

कौरव्यः (पुत्रः)

कौरव्य	पूर्ववत् ही 'कौरव्य' बनकर, कौरव्य शब्द से युवापत्य को कहने में अत इञ् (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय हुआ। जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३)।
कौरव्य इञ्	यहाँ इञ् प्रत्यय युवापत्य में ण्यप्रत्ययान्त से आया है। अतः ण्यक्षत्रियार्षञितो० से इस इञ् का लुक् हो गया।
कौरव्य	पूर्ववत् 'सु' आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—
कौरव्यः पुत्रः	बना ॥

इस प्रकार युवापत्य को कहने में भी कौरव्यः ही बना। गोत्रापत्य की अपेक्षा से युवापत्य(चौथा)पुत्र था। अतः 'कौरव्यः पुत्रः' बना। वस्तुतः इस सूत्र का 'कौरव्यः पुत्रः' ही उदाहरण है। पर कौरव्यः पिता (गोत्रापत्य का) यह उदाहरण गोत्रापत्य तथा युवापत्य दोनों में एक जैसा प्रयोग बनता है, यह साम्य दिखाने के लिये है। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी जानें ॥

श्वाफल्कः पुत्रः

'श्वाफल्क' शब्द क्षत्रियवाची है। सो ऋष्यन्धकवृ० (४।१।११४) से गोत्रापत्य में अण् प्रत्यय हुआ, तो 'श्वाफल्कः पिता' कहलाया। पुनः अत इञ्(४।१।९५) से युवापत्य में इञ हुआ। जिसका कि प्रकृत सूत्र से लुक् होकर 'श्वाफल्कः पुत्रः' प्रयोग बना ॥

'वसिष्ठ' ऋषिवाची शब्द से पूर्ववत् अण् आकर वासिष्ठः पिता बना। तत्पश्चात् इञ् आकर, तथा इञ् का लुक् होकर 'वासिष्ठः पुत्रः' बन गया ॥

बैदः पुत्रः

'बिद' शब्द से गोत्रापत्य में अनृष्यानन्तर्ये० (४।१।१०४) से अञ् प्रत्यय

आया। सो वृद्धि आदि होकर बैदः पिता बना। पुनः पूर्ववत् युवापत्य में इञ् होकर बैद के ञित्प्रत्ययान्त होने से उसका लुक् प्रकृत सूत्र से हो गया। सो बैदः पुत्रः बन गया॥

तैकायनिः पुत्रः

'तिक' शब्द से तिकादिभ्यः फिञ् (४।१।१५४) से फिञ् प्रत्यय गोत्रापत्य में हुआ। आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से फ् को 'आयन्' होकर 'तिक आयन इ' रहा। पूर्ववत् वृद्धि आदि होकर 'तैकायनिः पिता' बना। पश्चात् इस ञित् गोत्र-प्रत्ययान्त 'तैकायनि' शब्द से प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) से अण् प्रत्यय हुआ। जिसका कि प्रकृत सूत्र से लुक् होकर 'तैकायनिः पुत्रः' बना॥

—:०:—

परि० तद्राजस्य बहुषु० (२।४।६२)

अङ्गाः (अङ्ग के बहुत से पुत्र-पुत्रियां)

अङ्गस्यापत्यानि बहूनि—

अङ्ग — अर्थवदधातु० (१।२।४५), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर ङस् विभक्ति आई।

अङ्ग ङस् — वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् / द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूर० (४।१।१६८) से द्व्यच् मानकर बहुत अपत्यों को कहने में अण् प्रत्यय हुआ।

अङ्ग ङस् अण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

अङ्ग अ — ते तद्राजाः (४।१।१७२) से अण् प्रत्यय की तद्राजसंज्ञा हो गई। तद्राजसंज्ञा होने से तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् से बहुत्व अर्थ में (बहुत अपत्यों को कहने में) अण् प्रत्यय आया था, आये अण् का लुक् हो गया। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

अङ्ग — कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) लगकर बहुत्व विवक्षा में 'जस्' विभक्ति आई।

अङ्ग जस्=अस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) आदि सूत्र लगकर—

अङ्गाः — बना॥

अङ्ग के एक या दो अपत्य को कहना होगा, तो प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय का लुक् नहीं होगा। सो आङ्गः आङ्गौ प्रयोग बनेंगे। पर बहुत अपत्यों को कहने में पूर्ववत् अङ्गाः बनेगा॥

इसी प्रकार वङ्गाः, मगधाः, कलिङ्गाः की सिद्धि जानें॥

परि० प्रागस्त्यको० (२।४।७०)

प्रगस्तय: (प्रगस्त्य ऋषि के पौत्र-प्रपौत्र)

अगस्त्यस्य गोत्रापत्यानि बहूनि—

प्रगस्त्य　　प्रर्थवदधातु० (१।२।४५), पूर्ववत् ङस् विभक्ति प्राकर—
प्रगस्त्य ङस्　　तस्यापत्यम् (४।१।९२), ऋष्यन्धकवृष्णि० (४।१।११४) से ऋषि-वाची प्रगस्त्य शब्द से बहुत प्रपत्यों को कहने प्रर्थ में प्रण् प्रत्यय हो गया ।
प्रगस्त्य ङस् प्रण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—
प्रगस्त्य प्र　　प्रब प्रकृत सूत्र से प्रण् का लुक् हुप्रा । पुनः इसी सूत्र से प्रगस्त्य प्रकृति को 'प्रगस्ति' आदेश भी हो गया ।
प्रगस्ति　　पूर्ववत् बहुवचन में जस् प्राकर—
प्रगस्ति जस्　　जसि च (७।३।१०९) से गुण, तथा प्रयादेश, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—
प्रगस्तय:　　बना ॥

एक या दो प्रपत्य को कहने में प्रण् का लुक्, एवं प्रगस्ति प्रादेश न होने से प्रागस्त्य: प्रागस्त्यौ ही बनेगा ॥

इसी प्रकार कुण्डिना: में 'कुण्डिनी' शब्द से बहुत्व प्रपत्य विवक्षा में गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुप्रा । प्रकृत सूत्र से यञ् का लुक् हो गया । पुन: प्रकृत सूत्र से ही 'कुण्डिनी' को कुण्डिनच् प्रादेश भी हो गया । पूर्ववत् हो जस् विभक्ति प्राकर कुण्डिनच् जस्=कुण्ठिन प्रस्, प्रथमयो: पूर्व० (६।१।९८) प्रादि लगकर कुण्डिना: बना ॥

एक वचन द्विवचन में कौण्डिन्य:, कौण्डिन्यौ ही बनेगा ॥

—:o:—

परि० सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)

पुत्रीयति (प्रात्मन: पुत्रमिच्छति=प्रपने पुत्र को चाहता है)

पुत्र प्रम्　　सुप: प्रात्मन: क्यच् (३।१।८) प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२) ।
पुत्र प्रम् क्यच्　　सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२) से धातु संज्ञा हुई ।
पुत्र प्रम् य　　सुपो धातुप्रातिपदिकयो: से धातु के प्रन्तर्गत जो सुप् (प्रम्) उसका लुक् हो गया । प्रत्ययस्य लुक्श्लुप: (१।१।६०) ।

पुत्रय क्यचि च (७।४।३३) से ईत्व होकर—
पुत्रीय पूर्ववत् शप् तिप् आकर—
पुत्रीय शप् तिप् =पुत्रीय अ ति अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—
पुत्रीयति बना ॥

इसी प्रकार घटमिवाचरति=घटीयति (किसी छोटे बर्तन को घड़े जैसा व्यवहार करता है) में उपमानादाचारे (३।१।१०) से क्यच् प्रत्यय हुआ है। शेष सब पूर्ववत् ही जानें ॥

कष्टश्रितः आदि की सिद्धि परि० १।२।४३ में देखें ॥

—:०:—

परि० यङोऽचि च (२।४।७४)

लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः, सरीसृपः की सिद्धि परि० १।१।४। में देखें ॥

पापठीति (बार बार पढ़ता है)

पठ भूवादयो० (१।३।१) धातोरेकाचो हलादेः० (३।१।२२), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

पठ यङ् यङोऽचि च में बहुल की अनुवृत्ति होने से अच् प्रत्यय के बिना भी यङ् का लुक् हो गया। तब प्रत्ययलक्षण से यङन्त मानकर सन्यङोः (६।१।९) से द्वित्व हुआ।

पठ् पठ् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), पूर्ववत् अभ्यासकार्य होकर—

प पठ् दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ होकर—

पा पठ् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पापठ शप् तिप् चर्करीतञ्च (धातुपाठ अजमेर मं० पृ० १८) इस सूत्र से यङ्लुगन्त धातुओं से परस्मैपद, तथा अदादिवत् कार्य, अर्थात् अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक् हो जाता है।

पापठ तिप् यङो वा (७।३।९४) से तिप् हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् का आगम होकर—

पापठ् ईट् ति=पापठीति बना ॥

इसी प्रकार 'लप' धातु से लालपीति (बार-बार बोलता है) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५)

परि० १।१।६० में जुहोति की सिद्धि देखें।

बिभर्ति (भरण-पोषण करता है)

डुभृञ् धारणपोषणयोः भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९)।

भृ		पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—

भृ शप् तिप्	जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

भृ ति		परि० १।१।६० के समान ही द्वित्व, उरत् तथा रपरत्व होकर—

भर् भृ ति	भृञामित् (७।४।७६) से अभ्यास को इत्व होकर, हलादिः शेषः (७।४।६०), अभ्यासे चर्च (८।४।५३)।

बि भृ ति	सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) होकर—

बि भर् ति = बिभर्ति बना ॥

नेनेक्ति (शुद्ध करता है)

णिजिर्		भूवादयो० (१।३।१), णो नः (६।१।६३)। पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—

निज् निज् ति = नि निज् ति निजां त्रयाणां गुणः श्लौ (७।४।७५) से अभ्यास को गुण होकर—

ने निज् ति	पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से उपधा को गुण होकर—

ने नेज् ति	चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व होकर—

ने नेग् ति	खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर—

नेनेक्ति		बना ॥

—:o:—

परि० बहुलं छन्दसि (२।४।७६)

दाति, धाति

'डुदाञ् दाने, डुधाञ् धारणपोषणयोः' ये जुहोत्यादिगण की धातुएं हैं। सो शप् को 'श्लु' प्राप्त था, पर यहाँ बहुल कहने से श्लु नहीं हुआ। शप् का लुक् हो गया। शप् को श्लु न होने से 'दा' 'धा' को श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व भी नहीं हुआ। सो दाति धाति बन गया ॥

वष्टि

'वश कान्तौ' धातु अदादिगण की है। सो शप् का लुक् अदि० (२।४।७२) से होकर, भाषाविषय में वष्टि प्रयोग बनता है। पर वेदविषय में प्रकृत सूत्र से बहुल कहने

से भ्वादिगण की होते हुये भी शप् को श्लु हो गया है। तो श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व भी होकर 'वश्-वश् तिप्' रहा। शेष अभ्यासकार्य, तथा बहुलं छन्दसि (७।४।७८) से अभ्यास को इत्व होकर वि वश् ति रहा। व्रश्चभ्रस्जसृज० (८।२।३६) से 'श्' को 'ष्', तथा ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर 'विवष्टि' बन गया॥

विवक्ति

पूर्ववत् ही 'वच परिभाषणे' धातु अदादिगण की है। सो भाषाविषय में 'वक्ति' प्रयोग बनता है। पर वेद-विषय में प्रकृत सूत्र से शप् को श्लु होकर पूर्ववत् ही कार्य हुये, तो 'वि वच् ति' रहा। चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व होकर 'विवक्ति' बन गया॥

—:o:—

परि० मन्त्रे घसह्वरणश० (२।४।८०)

'अक्षन्' की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें॥

मा ह्वः

ह्वृ कौटिल्ये भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् लुङ् लकार में सब सूत्र लगकर—

ह्वृ च्लि तिप् प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक् होकर—

मा ह्वृ त् न माङ्योगे (६।४।७४) से अट् आगम का निषेध, तथा सार्वधातुका० (७।३।८४), उरण्रपरः (१।१।५०) से गुण एवं रपरत्व हुआ।

मा ह्वर् त् हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से 'त्' लोप, तथा विसर्जनीय होकर—

मा ह्वः बना॥

प्रणङ् मर्त्यस्य

णश् अदर्शने भूवादयो० (१।३।१), णो नः (६।१।६३)। पूर्ववत् सब कार्य होकर—

प्र नश् च्लि तिप् प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक्, तथा उपसर्गादसमासेऽपि० (८।४।१४) से नश् के 'न' को णत्व होकर—

प्र णश् त् पूर्ववत् न माङ्योगे (६।४।७४) से अट् आगम का अभाव हुआ। क्योंकि मन्त्र "मा नः शंसो अररुषो धूर्त्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य" यहाँ 'माङ्' का योग है। हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

प्र णश् नशेर्वा (८।२।६३) से कुत्व—'ख्' होकर, झलां जशो० (८।२।३९) से 'ग्' हुआ।

प्रणग् मर्त्यस्य यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४४) लगकर—
प्रणङ् मर्त्यस्य बना ॥

आवः

'ह्वः' के समान ही 'आङ् पूर्वक वृञ्' धातु से 'आवः' की सिद्धि जानें । केवल यहाँ अट् आगम का अभाव माङ् का योग न होने से नहीं होता । सो अट् आगम होकर सवर्ण दीर्घ करके 'आवः' बनता है ॥

धक्

'दह भस्मीकरणे' पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दह् च्लि सिप् पूर्ववत् माङ् का योग होने से अट् आगम का अभाव, एवं प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक् होकर —

दह् स्	हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से 'स्' का लोप होकर—
दह्	दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से 'ह्' को 'घ्' होकर—
दघ	एकाचो बशो भष्झषन्तस्य० (८।२।३७) से 'द' को 'ध्' हुआ ।
धघ्	झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'घ्' को 'ग्' ।
धग्	वावसाने (८।४।५५) से 'ग्' को क् होकर —
धक्	बना ॥

आप्राः

आङ् प्रा	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

आ अट् प्रा च्लि सिप् प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक् होकर—

आ अ प्रा स्	सवर्ण दीर्घ, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—
आप्राः	बना ॥

वर्क्

वृज्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से 'च्लि' का लुक् होकर—
वृज् तिप्	पूर्ववत् अट् आगम का अभाव, तथा पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण होकर—
वर्ज् त्	हल्ङ्यादि लोप, एवं चोः कुः (८।२।३०) से 'ज्' को 'ग्' होकर—
वर्ग्	वावसाने (८।४।५५) से चर्त्व होकर—
वर्क्	बन गया ॥

अकन्

कृञ्	पूर्ववत् सब लुङ् के कार्य होकर—

अट् कृ च्लि झि प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक्, एवं झोऽन्तः (७।१।३) लगकर—
अ कृ अन्ति = अ कृ अन्त् संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) लगकर—
अ कृ अन् इको यणचि (६।१।७४) लगकर—
अक्रन् बना ॥

अग्मन्

'गम्लृ' धातु से पूर्ववत् ही 'झि' में अग्मन् रूप जानें। केवल यहाँ गमहनजन० (६।४।९८) से उपधा लोप ही विशेष होगा ॥

अज्ञत

'जन' धातु से पूर्ववत् 'अट् जन् च्लि झ' रहा। प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक्, एवं गमहनजन० (६।४।९८) से उपधा लोप होकर 'अ ज् न् झ' रहा। आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से 'झ' को 'अत' आदेश, तथा स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व होकर 'अज्ञत' बन गया ॥

इति द्वितीयाऽध्याय-परिशिष्टम् ॥

—:•:—

अथ तृतीयाध्याय-परिशिष्टम्

परि० आद्युदात्तश्च (३।१।३)

कर्त्तव्यम् (करना चाहिये)

डुकृञ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), धातोः (६।१।१५६)।

कृ तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६) से तव्य प्रत्यय हुआ। प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

कृ तव्य आद्युदात्तश्च से तव्य के 'त' का 'अ' उदात्त हुआ। सो सति शिष्ट-स्वरो बलीयान् (महाभाष्य ६।१।१५२) से धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२)।

कृ तव्य सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४), उरण्रपरः (१।१।५०)।

कर्तव्य पूर्ववत् सु विभक्ति आकर—

कर्तव्य सु अतोऽम् (७।१।२४) से 'सु' को अम् हुआ।

कर्तव्य अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३), अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५), उदात्तादनु-दात्त० (८।४।६५) लगकर—

कर्त्तव्यम बना॥

तैत्तिरीयम् (तित्तिरि प्रोक्त ग्रन्थ)

तित्तिरि अर्थवदधातु० (१।२।४५), फिषोऽन्त उदात्तः (फिट् १)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

तित्तिरि टा तित्तिरिवरतन्तुखण्डि० (४.३।१०२) से तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१) अर्थ में छण् प्रत्यय हुआ। प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

तित्तिरि टा छण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)। पूर्ववत् प्रकृ संज्ञा होकर आयने-यीनीयियः० (७।१।२) से छ् को 'ईय्' हुआ।

तित्तिरि ईय् अ स्थानिवदादेशो० (१।१।५५) से 'ईय्' आदेश प्रत्यय माना गया, तो आद्युदात्तश्च से ईय् का 'ई' उदात्त हुआ। सति शिष्टस्वरो बलीयान् से प्रातिपदिक का उदात्त स्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२), तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर

तैत्तिरीय कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् सु आकर, सु को अम् हो गया।

तै॒त्ति॒रीय् अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप हो गया। और उदात्तादनुदा०
(८।४।६५) लगकर—

तै॒त्ति॒रीयं॑म् बना॥

—:o:—

परि० अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४)

दृषदौ (दो सिल)

दृ विदारणे भूवादयो० (१।३।१), धातोः (६।१।१५६), दृणातेः षुग्घ्रस्वश्च (उणा० १।१३१) से दृ धातु को ह्रस्व, षुक् आगम एवं 'अदि' प्रत्यय हुआ।

दृ षुक् अदि=दृष् अद् अब यहां आद्युदात्तश्च से 'अद्' का 'अ' उदात्त हुआ। सो सतिशिष्टस्वरो० से धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) लगकर—

दृ॒षद् कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् 'औ' विभक्ति आकर—

दृ॒षद् औ अनुदात्तौ सुप्पितौ से 'औ' के सुप् होने से अनुदात्त हो गया।

दृ॒षदौ॑ उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) लगकर—

दृ॒षदौ॑ बना॥

इसी प्रकार जस् विभक्ति में दृ॒षदः॑ बनेगा॥

पच॑ति (पकाता है)

'डुपचष् पाके' धातु से पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'पच् शप् तिप्' रहा। धातोः (६।१।१५६) से पच् के 'अ' को उदात्त हुआ। शप् तिप् आकर शप् तिप् के पित् होने से अनुदात्तौ सुप्पितौ से उनको अनुदात्त हो गया। सो 'पच् अ॒ ति॒' यह स्वर रहा। पुनः उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से शप् के 'अ' को स्वरित, और स्वरितात् संहिता० (१।२।३९) से 'ति' को एकश्रुति होकर पच॑ति बना॥

इसी प्रकार पठ॑ति की सिद्धि जानें॥

—:o:—

परि० मान्बधदान्० (३।१।६)

मीमांसते (जिज्ञासा करता है)

मान भूवादयो० (१।३।१) मान्बधदान्शान्भ्यो० से सन् प्रत्यय हुआ।

मान् सन् ह्रिस्व इत्यादि सारे कार्य परि० १।२।९ के अनुसार होकर—

मा मान् स ह्रस्वः (७।४।५९), सन्यतः (७।४।७९) लगकर—

मि मास् स अब पुनः प्रकृत सूत्र से अभ्यास को दीर्घ हो गया ।
मीमास् स यहां सिद्धि में यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि सन्यतः (७।४।७९)से ह्रस्व करने के पश्चात् ही प्रकृत सूत्र से से दीर्घ होगा । क्योंकि सूत्र में अभ्यासस्य विकारः(तस्य विकारः ४।३।१३२ से अण् हुआ है)'आभ्यासस्य'=अभ्यास के विकार को दीर्घ कहा है, न कि अभ्यासमात्र को । तत्पश्चात् दीर्घ-विधान-सामर्थ्य से ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व नहीं होगा । पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद हुआ ।
मीमान्स शप् त टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९), अतो गुणे (६।१।९४) ।
मीमान्सते नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) लगकर—
मीमांसते बना ॥

बीभत्सते (विपरीत आचरण करता है), यहां पूर्ववत् 'बध' धातु से सन् प्रत्यय, द्वित्वादि कार्य, तथा अभ्यास को दीर्घ होकर 'बी बध् स' रहा । एकाचो बशो० (८।२।३७) से ब को 'भ', खरि च (८।४।५४) से 'धं' को त् होकर 'बीभत्स' रहा । पूर्ववत् सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातुसंज्ञा होकर 'शप् त' आकर 'बीभत्सते' बन गया ॥

इसी प्रकार 'दान' तथा 'शान' धातु से दीदांसते (सरलता का व्यवहार करता है), शीशांसते (तेज करता है) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० धातोरेकाचो० (३।१।२२)

पापच्यते (बार-बार पकाता है)

डुपचष् भूवादयो० (१।३।१),धातोरेकाचो हलादे: क्रिया० (३।१।२२) ।
पच यङ् शेष सारे कार्य परि० २।४।७४ के पापठीति के समान जानें ।
पा पच् य पूर्ववत् सब सूत्र लगकर शप, तथा अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद हुआ ।
पा पच् य शप् त अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप हुआ ।
पापच्यत टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) लगकर—
पापच्यते बना ॥

इसी प्रकार 'पठ' धातु से पापठ्यते (बार-बार पढ़ता है); 'ज्वल' धातु से जाज्वल्यते (खूब जलता है); 'दीपी दीप्तौ' से देदीप्यते (खूब प्रकाशित होता है)

की सिद्धि जानें। देदीप्यते में अभ्यास को गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से गुण होता है॥

—:०:—

परि० नित्यं कौटिल्ये गतौ (३।१।२३)

चङ्क्रम्यते (टेढ़ी गति से जाता है)

क्रम भूवादयो० (१।३।१), नित्यं कौटिल्ये गतौ लगकर—
क्रम् यङ् पूर्ववत् ही सब कार्य होकर, कुहोश्चुः (७।४।६२) आदि लगकर—
च क्रम् य नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७।४।८५) से अभ्यास को नुक् आगम, तथा पूर्ववत् शप् त आकर—
च नुक् क्रम् य शप् त=चन् क्रम् य शप् त नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४)।
चंक्रम्य शप् त अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) लगकर—
चङ्क्रम्य त=चङ्क्रम्यते बन गया॥

इसी प्रकार 'द्रम' धातु से दन्द्रम्यते (कुटिल गति करता है) की सिद्धि जानें॥

—:०:—

परि० लुपसदचर० (३।१।२४)

चञ्चूर्यते (गन्दे ढङ्ग से चलता है)

चर भूवादयो० (१।३।१), लुपसदचर०, तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
च चर् य चरफलोश्च (७।४।८७) से अभ्यास को नुक् आगम हुआ।
च नुक् चर् य=चन्चर् य उत्परस्यातः (७।४।८८) से अभ्यास से उत्तर 'अ' को उकारादेश हुआ।
चन् चर् य हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होकर, सनाद्यन्ता० (३।१।३२)।
चन्चूर्य पूर्ववत् शप् त आकर, तथा नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) ये सूत्र लगकर—
चञ्चूर्यते बना॥

जञ्जप्यते (ठीक जप नहीं करता है)

'जञ्जप्यते' यहाँ भी पूर्ववत् सब कार्य होकर 'ज जप् य' रहा। जपजभदहदश-भञ्जपशां च (७।४।८६) से अभ्यास को नुक् आगम होकर, तथा शेषकार्य पूर्ववत् होकर 'जञ्जप्यते' बन गया। पूर्ववत् जपजभदह० (७।४।८६) से नुक् आगम, एवं

सब कार्य पूर्ववत् होकर 'जभ' धातु से जञ्जम्यते (बुरे ढङ्ग से शरीर को मरोड़ता है)। 'दह' से दन्दह्यते (बुरे ढङ्ग से जलाता है)। 'दंश' से दन्दश्यते (बुरे ढङ्ग से काटता है) की सिद्धि भी जानें। दंश के अनुनासिक का लोप अनिदितां हल० (६।४।२४) से होगा। पश्चात् पूर्ववत् नुक् आगम हो जायेगा॥

निजेगिल्यते (बुरे ढंग से निगलता है)

गृ	भूवादयो० (१।३।१), लुपसदचरजप० लगकर—
गृ यङ्	यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), ऋत इद्धातोः (७।१।१००), उरण्रपरः (१।१।५०) होकर—
गिर् य	पूर्ववत् द्वित्व, एवं अभ्यासकार्य। कुहोश्चुः (७।४।६२) आदि होकर—
जि गिर् य	गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होकर—
जे गिर् य	ग्रो यङि (८।२।२०) से गृ धातु के रेफ को लत्व हो गया।
जे गिल् य	सनाद्यन्ता० (३।१।३२)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
निजेगिल्य शप् त	प्रादय उपसर्गाः० (१।४।५८)। पूर्ववत् सब कार्य होकर—
निजेगिल्यते	बन गया॥

—:०—

परि० आयादय० (३।१।३१)

गोप्ता (वह रक्षा करेगा)

गुपू	भूवादयो० (१।३।१), अनद्यतने लुट् (३।३।१५) से लुट्।
गुप लुट्	गुपूधूपविच्छि० (३।१।२८) से 'आय' प्रत्यय प्राप्त हुआ। पर आयादय आर्धधातुके वा० से आय प्रत्यय का पक्ष में निषेध हो गया। शेष सिद्धि परि० १।१।६ के समान जानें। यहां विशेष यही है कि गुप् धातु के ऊदित् होने से स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (७।२।४४) से पक्ष में इट् आगम नहीं होगा। इस प्रकार—
गोप्ता	बना॥

जिस पक्ष में इट् आगम होगा, उस पक्ष में 'गोपिता' रूप बनेगा। जिस पक्ष में आयादय आर्धधातुके वा से 'आय' प्रत्यय का निषेध नहीं हुआ, तो गुपूधूपविच्छि० (३।१।२८) से आय प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'गोपाय' धातु बनकर लुट् प्रत्यय आया। शेष कार्य परि० १।१।६ के समान होकर 'गोपायिता' बन गया। यहां आर्धधातु-

कस्येड् वलादेः (७।२।३५) से इट् आगम हो जायेगा। तथा अतो लोपः (६।४।४८) से 'आय' के अ का लोप होगा।

इसी प्रकार 'ऋति' धातु से जिस पक्ष में प्रकृतसूत्र से ऋतेरीयङ् (३।१।२९) से प्राप्त ईयङ् का निषेध हो गया, उस पक्ष में अर्त्तिता (वह घृणा करेगा)। एवं जिस पक्ष में ईयङ् हो गया, उस पक्ष में 'ऋतीयिता' बनेगा। 'कमु' धातु से जब कमेर्णिङ् (३।१।३०) से प्राप्त णिङ् का निषेध हो गया, तो कमिता (वह कामना करेगा)। तथा जिस पक्ष में णिङ् हो गया, तो पूर्ववत् अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि आदि होकर 'कामयिता' बन गया॥

—:०:—

परि० सिब्बहुलं लेटि (३।१।३४)

भविषति

भू भूवादयो० (१।३।१), लिङर्थे लेट् (३।४।७) से वेदविषय में लेट् प्रत्यय होकर—

भू लेट् = भू ल् पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर 'ल्' के स्थान में तिप् हुआ।

भू तिप् सिब्बहुलं लेटि से लेट्-स्थानिक तिप के परे रहते सिप् प्रत्यय हुआ।

भू सिप् तिप् लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से लेट् को पर्याय से से अट् और आट् का आगम होता है। सो यहाँ अट् आगम होकर आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगा।

भू सिप् अट् तिप् आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५)।

भू इट् सिप् अट् तिप् = भू इ स अ ति सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) लगकर—

भो इ स अ ति आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९), एचोयवायावः (६।१।७५) लगकर—

भविष् अट् ति = भविषति बन गया॥

भविषाति, यहाँ पूर्ववत् ही 'भविष् ति' बनकर लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से आट् आगम होकर भविषाति बन गया॥ इसी प्रकार अट आगम, तथा पक्ष में इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३।४।९७) से तिप् के इकार का लोप, एवं झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से त् को द् होकर भविषद् बना। 'आट्' आगम होकर भविषाद् बनेगा। वावसाने (८।४।५५) से पक्ष में 'द्' को 'त्' होकर भविषात् रूप बनेगा॥

भाविषति

भू इ ष् अट् ति पूर्ववत् ही होकर, सिब्बहुलं छन्दसि णित् (महा० वा० ३।१।३४)

इस वार्त्तिक से सिप् प्रत्यय बहुल से णित्वत् माना गया। तो अचो ञ्णिति (७।२।११५) से 'भू' को वृद्धि हुई।

भौ इ ष् अ ति एचोऽयवायावः (६।१।७५) से आवादेश होकर—
भाविषति बना ॥

आट् आगम पक्ष में भाविषाति। पूर्ववत् तिप् के इकार का लोप होकर भाविषद् भाविषाद्। द को त् होकर भाविषत् भाविषात् रूप बन गये। बहुल कहने से जब णित्वत् नहीं होता, उस पक्ष के रूप भविषति आदि दर्शा चुके हैं ॥

सिब्बहुलं लेटि में बहुल कहने से जब पक्ष में सिप् प्रत्यय नहीं हुआ, तो कर्त्तरि शप् (३।१।६८) से शप् प्रत्यय होकर भू शप् अट् ति=भो अ अ ति रहा। अतो गुणे (६।१।९४), तथा एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर भवति बन गया। आट् पक्ष में सवर्ण दीर्घ होकर भवाति बना। तिप् से इकार का लोप होकर भवद् भवाद् तथा भवत् भवात् रूप बनेंगे। ये सब १८ रूप तिप् प्रत्यय में बनते हैं ॥

तस् में पूर्ववत् सब होकर, 'स्' को रुत्व विसर्जनीय होकर भविषतः, भविषातः। णित् पक्ष में वृद्धि होकर भाविषतः भाविषातः। शप् पक्ष में भवतः भवातः ये ६ रूप बनेंगे ॥

झि में भविष् अट् झि=भविष अन्ति, यहाँ पूर्ववत् पक्ष में अन्ति के इकार का लोप होकर 'भविष अन्त्' रहा। संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से 'त्' का लोप, तथा अतो गुणे (६।१।९४) लगकर भविषन् बना। शेष लेट् लकार के रूप प्रकृत सूत्र की प्रथमावृत्ति में देख लें। कोई विशेष नहीं है, पूर्ववत् ही कार्य हुये हैं ॥

सिप् में भविषसि आदि प्रयोग भी पूर्ववत् बनेंगे। जिस पक्ष में सिप् के इकार का लोप हो जायेगा, उस पक्ष में सिप् के 'स्' को रुत्व विसर्जनीय होकर भविषः भविषाः रूप बनेंगे ॥ थस्, थ में कोई विशेष नहीं है ॥

मिप् में भविषमि की सिद्धि पूर्ववत् होगी। केवल यहां यह समझना चाहिये कि अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से दीर्घ यहाँ इसलिये नहीं होता कि अट् आगम मिप् को हुआ है, अतः मिप् का भाग है। सो भविष्' अदन्त अङ्ग नहीं रहता। एवं उधर मिप् को अट् का आगम होने से यञादि परे भी नहीं मिलता ॥ इसी प्रकार वस् मस् में भी जानें। शेष रूप पूर्ववत् जानें। वस् मस् के सकार का स उत्तमस्य (३।४।९८) से पक्ष में लोप होकर भविषव भविषाव, तथा भाविषव भाविषाव आदि प्रयोग भी बनेंगे। जब सकारलोप नहीं होगा तो 'स्' को रुत्व विसर्जनीय हो जायेगा ॥

जोषिषत्

'जुष' धातु से जिस पक्ष में णित्वत् नहीं हुआ, एवं सिप् प्रत्यय हुआ, उस

पक्ष में भी लघूपध गुण होकर 'ओषिषत्' ही रूप बनेगा । 'तृ' धातु से णित् पक्ष में वृद्धि होकर 'तारिषत्' बना । 'मदि' धातु को इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) से नुम् होकर 'मन्द्' बना । पुनः पूर्ववत् सब कार्य होकर 'मन्दिषत्' बना । ओषिषत्, मन्दिषत् में व्यत्यय से परस्मैपद हुआ है ॥

'पत्' धातु से जब प्रकृत सूत्र से सिप् प्रत्यय नहीं हुआ, तो शप् प्रत्यय होकर आट् पक्ष में 'पताति' बना । णिजन्त 'च्युङ्' धातु से शप् एवं आट् पक्ष में 'च्यावयाति', तथा 'जीव' धातु से भी शप् एवं आट् होकर 'जीवाति' की सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥

—:०:—

परि० उषविदजागृभ्यो० (३।१।३८)

ओषाञ्चकार (उसने जलाया); विदाञ्चकार (उसने जाना), जागराञ्चकार (वह जागा) इन सब की सिद्धि परि० १।३।६३ के समान जानें । यहाँ केवल यही विशेष है कि 'उष विद जागृ' धातुएँ परस्मैपदी हैं । अतः कृञ् का जो अनुप्रयोग हुआ है, वह भी परस्मैपदी में हुआ है । सो कृञ् के अनुप्रयोग से परस्मैपदानां णलतु० (३।४।८२) से णल् होकर 'चकार' बन गया है ॥ इस सूत्र में विद का अकारान्त उच्चारण (निपातन) किया है । सो अतो लोपः (६।४।४८) से उस अकार का लोप हो जाता है । अतः जब विद् को आम् परे रहते लघूपध गुण होने लगता है, तो वह अकार स्थानिवत् हो जाता है। इस प्रकार उपधा इक् नहीं मिलती, सो गुण नहीं हो पाता । परि० १।१।५६ के अवधीत् के समान यह बात समझें ॥

उवोष

उष — उषविदजागृ० से जब पक्ष में आम् नहीं हुआ, तो द्वित्वादि सब कार्य पूर्ववत् होकर—

उ उष् णल् — पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण हुआ ।

उ ओष् अ — अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८) से असवर्ण 'ओ' के परे रहते अभ्यास को उवङ् आदेश हुआ ।

उवङ् ओष् अ — उव् ओष् अ = उवोष बन गया ॥

'विवेद' में कोई विशेष नहीं है । यहाँ अवन्त निपातन का अभाव होने से गुण हो जाता है । 'जजागार' में सब पूर्ववत् ही है । केवल यहाँ जागृ के 'गृ' को वृद्धि अचो ञ्णिति (७।२।११५) से हुई है । यही विशेष है ॥

—:०:—

परि० कृञ्चानुप्रयु० (३।१।४०)

पाठयाञ्चकार (उसने पढ़ाया)

पठ भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होकर—

पठ् णिच्=इ अत उपधायाः (७।२।११६), सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)।

पाठि परोक्षे लिट् (३।२।११५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

पाठि लिट् कास्प्रत्ययादाम० (३।१।३५) से पाठि-प्रत्ययान्त धातु से लिट् परे रहते 'आम्' प्रत्यय हुआ।

पाठि आम् ल् णेरनिटि (६।४।५१)से णि का लोप प्राप्त हुआ। तो अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६।४।५५) ने णि लोप को बाधकर 'णि' को अयादेश विधान कर दिया।

पाठय् आम् ल्=पाठयाम् ल् शेष परि० १।३।६३ के समान जानें॥ यहाँ केवल विशेष यह है कि 'पठ' धातु परस्मैपदी है। अतः कृञ् का अनुप्रयोग भी परस्मैपद में होगा। इस प्रकार—

पाठयाञ्चकार बना॥

प्रकृत सूत्र से 'भू' का अनुप्रयोग करने पर भू के अभ्यास को भवतेरः (७।४।७३) से अत्व, तथा अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से जश्त्व होकर पाठयाम्बभूव बना है। अस् का अनुप्रयोग करने पर अस्-अस् द्वित्व, एवं अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यासदीर्घ, पश्चात् सवर्ण दीर्घ होकर आस्=पाठयामास बन गया॥

—:०:—

परि० अभ्युत्सादयाम्० (३।१।४२)

अभ्युदसीषदत् (उसने ज्ञान प्राप्त किया)

षद्लृ भूवादयो० (१।३।१), धात्वादेः षः सः (६।१।६२)।

सद् पूर्ववत् सब कार्य परि० १।१।५८ के आटिटत् के समान होकर—

अभि उद् साद् इ चङ् ल् णेरनिटि (६।४।५१) लगकर—

अभ्युद् साद् अ ल् णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से उपधा को ह्रस्व।

अभ्युद् सद् अ ल् शेष सिद्धि परि० २।४।५१ के अध्यजीगपत् के समान जानें।

अभ्युद् अ सी सदत् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

अभ्युदसीषदत् बन गया॥

'प्र पूर्वक जन' धातु से प्राजीजनत् की सिद्धि जानें। प्रजनयामकः, रमयामकः

में णिच् को परे मानकर जो जन् तथा रम् की उपधा को वृद्धि हुई थी, उसको जनिजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च (धातुपाठ पृ० १२) इस धातुपाठ के सूत्र से जन् तथा रम् के मित् माने जाने के कारण मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व हो गया है। शेष निपातन कार्य प्रथमावृत्ति में देखें।।

'रम' धातु से अरीरमत की सिद्धि भी णिच् चङ् आकर पूर्ववत् जानें।। अचेचीत् की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें।।

पाव्यात्

यहाँ 'पूङ् या पूञ्' धातु से णिच् प्रत्यय आकर 'पू' को वृद्धि, तथा आवादेश होकर 'पावि' रहा। सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर, आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३) से लिङ् आया। शेष लिङ् लकार की सिद्धि के समान ही यासुट् पर० (३।४।१०३) से यासुट, तथा सुट् तिथोः (३।४।१०७) से सुट् होकर 'पावि यासुट् सुट् तिप्'=पावि यास् स् त् रहा। णेरनिटि (६।४।५१) से णिच् का लोप हो गया, तो 'पाव् यास् स् त्' रहा। स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से यासुट् के सकार का लोप हुआ। तथा पुनः यही सूत्र लगकर सुट् के सकार का भी लोप हो गया, तो 'पाव्यात्' बन गया।।

अवेदिषुः

लङ् लकार में पूर्ववत् ही 'अट् विद् इट् सिच् झि' होकर सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९) से झि को जुस् होकर 'अ विद् इ स् जुस्' रहा। लघूपधगुण, षत्व, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर 'अवेदिषुः' बन गया।।

—:०:—

परि० शल इगुपधा० (३।१।४५)

अधुक्षत् (उसने दुहा)

दुह प्रपूरणे भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् ही सारे लुङ् लकार के कार्य परि० १।१।१ के अचेचीत् के समान होकर—

अट् दुह् च्लि त् शल इगुपधादनिटः क्सः से दुह धातु के शलन्त (शल् प्रत्याहार अन्तवाली), अनिट् एवं इक् उपधावाली होने से च्लि के स्थान में क्स आदेश हुआ।

अ दुह् क्स त् दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से 'ह्' को 'घ्' आदेश होकर—

अ दुघ् स त् एकाचो बशो भष्० (८।२।३७) से 'द्' को 'ध्' होकर—

अ धुघ् स त् खरि च (८।४।५४) से घ् को क् होकर—
अ धुक् स त् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) लगकर—
अ धुक् ष त् यहाँ दुह धातु को क्स को परे मानकर पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६)
　　से गुण प्राप्त था। पर क्ङिति च (१।१।५) से निषेध होकर—
अधुक्षत्　　बन गया ॥

इसी प्रकार 'लिह आस्वादने' धातु से अलिक्षत् (उसने स्वाद लिया) की सिद्धि जानें। यहाँ केवल यही विशेष है कि हो ढः (८।२।३१) से लिह् के ह् को ढ्, तथा षढोः कः सि (८।२।४१) से ढ् को 'क्' हो जाता है ॥

—:०:—

परि० न दृशः (३।१।४७)

अदर्शत्

दृशिर्　　भूवादयो० (१।३।१), हलन्त्यम् (१।३।३), उपदेशऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)। पूर्ववत् ही लुङ् लकार के सब कार्य होकर—
अट् दृश् च्लि त् यहाँ दृश् धातु के शलन्त अनिट् एवं इगुपध होने से शल इगुपधादनिटः० (३।१।४५) से च्लि के स्थान में क्स आदेश प्राप्त हुआ, जिसका कि प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। तब दृश् धातु के इरित् होने से इरितो वा (३।१।५७) से च्लि के स्थान में 'अङ्' आदेश हो गया।
अ दृश् अङ् त् अब यहाँ अङ् को परे मानकर पुगन्तलघू० (७।३।८६) से दृश् की उपधा को गुण प्राप्त हुआ। जिसका क्ङिति(१।१।५) च से निषेध हो गया। तब ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) ने अङ् परे रहते गुण कर दिया। उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर—
अदर् श् अ त्=अदर्शत् बन गया ॥

अद्राक्षीत्

दृशिर्　　पूर्ववत् लुङ् के कार्य होकर—
अ दृश् च्लि त् प्रकृत सूत्र से क्स आदेश का निषेध होकर, इरितो वा (३।१।५७) से पक्ष में च्लि के स्थान में यथाप्राप्त च्लेः सिच् (३।१।४४) से सिच् आदेश होकर—
अ दृश् सिच् त् सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६।१।५७), मिदचोऽन्त्यात् परः(१।१।४६)।

अ व् अम् श् स् त् इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश हुआ ।
अ व्रश् स् त् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से वृद्धि हुई ।
अ व्राश् स् त् अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) लगकर—
अ व्राश् स् ईट् त् व्रश्चभ्रस्जसृजमृ० (८।२।३६) से श् को 'ष्' होकर—
अ व्राष् स् ई त् षढोः कः सि (८।२।४१) लगकर—
अ व्राक् स् ई त् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से स् को ष् होकर—
अव्राक्षीत् बन गया ।।

—:०:—

परि० णिश्रिद्रुस्रुभ्यः० (३।१।४८)

परि० १।४।१० में अचीकरत्, अजीहरत् की सिद्धि देखें ।।

श्रि, द्रु, स्रु से बिना णिच् आये ही च्लि को चङ् होगा । श्रि को चङि (६।१।११) से द्वित्व, तथा हलादिः शेषः (७।४।६०) लगकर अट् शि श्रि अ त् रहा । अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से श्रि को इयङ् होकर अ शि श्रियङ् अ त्=अशिश्रियत् (उसने आश्रय लिया) बन गया ।। इसी प्रकार द्रु स्रु धातुओं को अचि श्नु० (६।४।७७) से उवङ् आदेश होकर, तथा शेष सब पूर्ववत् ही होकर अदुद्रुवत् (वह गया), असुस्रुवत (वह टपक पड़ा) बन गये हैं ।।

—:०:—

परि० विभाषा धेट्श्व्योः (३।१।४९)

चङ् पक्ष में 'धेट्' धातु से आतो लोप इटि च (६।४।६४) से 'धा' के 'आ' का लोप होकर, तथा पूर्ववत् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगकर चङि (६।१।११) से द्वित्वादि कार्य हुये, तो अट् धा ध् अ त् रहा । अभ्यासे चर्च (८।४।५३), ह्रस्वः (७।४।५९) से अभ्यास को जश्त्व तथा ह्रस्व होकर अ द ध् अ त्='अदधत्' बन गया ।।

जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से चङ् नहीं होगा, तो यथाप्राप्त च्लेः सिच् (३।१।४४) से सिच् होगा । उस सिच् का भी विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः (२।४।७८) से पक्ष में लुक् हो गया, तो 'अधात्' रूप बना ।

जिस पक्ष में विभाषा घ्राधेट्० (२।४।७८) से सिच् का लुक् नहीं हुआ, तो अधासीत्' बना । इसकी सिद्धि २।४।७८ सूत्र पर ही देख लें ।।

'श्वि' धातु से प्रकृत सूत्र से चङ्, तथा पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'अ शि श्वि अ त्' रहा। अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से इयङ् होकर—अ शि श्वि यङ् अ त् =अशिश्वियत् बन गया॥

जब प्रकृत सूत्र से पक्ष में चङ् नहीं हुआ, तो जॄस्तम्भुम्रुचु० (३।१।५८) से च्लि के स्थान में अङ् होकर 'अट् श्वि अङ् त्' बना। श्वयतेरः (७।४।१८) से श्वि अङ्ग के अन्तिम अल् इ'को अलो० (१।१।५१) से 'अ' आदेश अङ् परे रहते होकर 'अ श्व अ त्' रहा। अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर 'अश्वत्' बन गया॥

अश्वयीत् (वह फूला=सूजा)

जॄस्तम्भु० (३।१।५८) से अङ् का भी विकल्प होता है। अतः पक्ष में जब अङ् नहीं हुआ, तो यथाप्राप्त सिच् हो गया। शेष कार्य परि० (१।१।१) के अला-वीत् के समान होकर 'अट् श्वि इट् सिच् ईट् त्' रहा। अब यहाँ सिचि वृद्धिःपर-स्मैपदेषु (७।२।१) से वृद्धि प्राप्त हुई, तो ह्म्यन्तक्षणश्वस० (७।२।५) से निषेध हो गया। तब सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण, तथा एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर 'अ श्वय इ स् ई त्' रहा। इट ईटि (८।२।२८) से स् का लोप, तथा दोनों इकारों को सवर्ण दीर्घ एकादेश हो गया, तो 'अश्वयीत्' बन गया॥

—:०:—

परि० गुपेश्छन्दसि (३।१।५०)

अजूगुपतम्

'गुपू रक्षणे' धातु से चङ् पक्ष में पूर्ववत् द्वित्व, तथा अभ्यासादि कार्य होकर, मध्यम पुरुष के द्विवचन में लुङादेश 'थस्' हुआ। सो 'अट् जु गुप् चङ् थस्' रहा। तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६।१।७) से अभ्यास को दीर्घ होकर 'अ जू गुप् अ थस्' बना। तस्थस्थमिपां तांतंतामः (३।४।१०१) से थस् को 'तम्' होकर 'अजूगुपतम्' बन गया॥

अगोप्तम्

गुप् पूर्ववत् सब कार्य होकर—

अट् गुप् च्लि थस् प्रकृत सूत्र से जब पक्ष में चङ् नहीं हुआ, तो च्लि को यथाप्राप्त सिच् हो गया।

अ गुप् सिच् यस् आर्धधातु० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ। जिसका स्वरतिसूतिसूयति० (७।२।४४) से पक्ष में निषेध हो गया। वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से वृद्धि।

अ गोप् स् तम् झलो झलि (८।२।२६) लगकर—
अगोप्तम् बन गया॥

अगोपिष्टम्

जब स्वरति० (७।२।४४) से पक्ष में इट् आगम हो गया, तो 'अगोपिष्टम्' बना। यहाँ वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से वृद्धि प्राप्त थी। पर नेटि (७।२।४) से उसका निषेध हो गया। तब लघूपध गुण हो गया॥

अगोपायिष्टम्

'गुप्' धातु से जब गुपूधूपविच्छि० (३।१।२८) से प्राप्त आय प्रत्यय आयादय आर्धधातुके वा (३।१।३१) से पक्ष में हुआ, तो गुप् को लघूपधगुण होकर, सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से 'गोपाय' नयी धातु बन गई। तत्पश्चात् पूर्ववत् सब कार्य होकर 'अट् गोपाय सिच् यस्' रहा। आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम, तथा अतो लोपः (६।४।४८) से 'य' के अ का लोप होकर 'अ गोपाय् इ स् तम्' =अगोपायिष्टम् बन गया॥

—:०:—

परि० अस्यतिवक्ति० (३।१।५२)

पर्यास्थत (उसने फेंका)

परि असु क्षेपणे उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम् (वा० १।३।२९) इस वार्तिक से आत्मनेपद, और पूर्ववत् सारे लुङ् लकार के कार्य होकर—

परि अस् च्लि त अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् से च्लि के स्थान में अङ् हुआ।
परि अस् अङ् त पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर अस्यतेस्थुक् (७।४।१७), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५), आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम हुआ।

परि आट् अस् थुक् अङ् त इको यणचि (६।१।७४) लगकर—
पर्यास्थ् अ त=पर्यास्थत बन गया॥

पर्यास्थेताम्, यहाँ पूर्ववत् सब होकर 'पर्यास्थ् अ आताम्' रहा। आतो ङितः (७।२।८१) से आताम् के आ को 'इय्' होकर 'पर्यास्थ इय् ताम्' रहा। लोपो व्योर्वलि

(६।१।६४) से यकार लोप, तथा आद् गुणः (६।१।८४) से पूर्व पर को गुण एकादेश होकर 'पर्यास्थेताम्' बन गया ॥

अवोचत् (वह बोला)

वच परिभाषणे पूर्ववत सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से च्लि को अङ् होकर—
अट् वच् अङ् त् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, वच उम् (७।४।२०), मिदचोऽन्त्यात्परः
(१।१।४६)।

अ व उम् च् अ त्=अ व उ च् अ त् आद् गुणः (६।१।८४) लगकर—
अवोचत् बन गया ॥

'अवोचताम्' में तस् को तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से ताम् हो गया है ॥ 'अवोचन्' यहाँ पूर्ववत् सब होकर 'अवोच झि' रहा। झि को अन्ति आदेश, तथा इतश्च (३।४।१००) से इकार लोप होकर 'अवोच अन्त्' रहा। संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से 'त्' का लोप होकर अवोचन् बन गया ॥

आख्यत् (उसने वर्णन किया)

आख्यत्, यहाँ आङ् पूर्वक 'ख्या' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'आङ् अट् ख्या अङ् त्' रहा। आतो लोप इटि च (६।४।६४) से 'ख्या' के आ का लोप होकर 'आ अ ख्य् अ त्'। सवर्ण दीर्घ होकर 'आख्यत्' बन गया ॥

—:०:—

परि० लिपिसिचिह्वश्च (३।१।५३)

'अलिपत्' (उसने लीपा), यहाँ 'लिप' धातु से पूर्ववत् सब कार्य होकर, तथा प्रकृत सूत्र से अङ् आदेश होकर 'अ लिप् अ त्' रहा। यहाँ पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण प्राप्त था। जिसका क्ङिति च (१।१।५) से निषेध होकर 'अलिपत्' बन गया ॥

'षिच' धातु के 'ष्' को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से 'स्' हो गया है। शेष सब पूर्ववत् ही होकर 'असिचत्' (उसने सींचा) बन गया ॥

आह्वत् (उसने बुलाया), यहाँ 'ह्वेञ्' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'आङ् अट् ह्वा अङ् त्' रहा। आतो लोप० (६।४।६४) से आकार लोप, तथा आङ् एवं अट् के 'अ' को सवर्ण दीर्घ होकर 'आह्वत्' बन गया ॥

—:०:—

परि० आत्मनेपदेष्वन्य०(३।१।५४)

'लिप' तथा 'सिच' धातुएं स्वरितेत् हैं। अतः स्वरितेत् होने से कर्त्रभिप्राय क्रिया-फल में स्वरितञितः० (१।३।७२) से आत्मनेपद होता है। तथा 'ह्वेञ्' धातु के भी ञित् होने से स्वरितञितः० (१।३।७२) से ही आत्मनेपद होगा। आत्मनेपद होने पर प्रकृत सूत्र से अङ्, तथा पक्ष से यथाप्राप्त सिच् होता है। अङ् पक्ष में पूर्ववत् सब होकर अलिपत, असिचत बन जायेगा। सिच् पक्ष में झलो झलि (८।२।२६) से सिच् के स् का लोप होकर 'अलिप्त, असिक्त' बनेगा। यहाँ लघूपधगुण लिङ् सिचावात्मने० (१।२।११) से कित् वत् होने से नहीं हुआ है। सिच् के 'च्' को 'क्' भी चोः कुः (८।२।३०) से हो जाता है॥

'ह्वेञ्' धातु से अङ् पक्ष में पूर्ववत् ही 'आह्वत' के समान आत्मनेपद में 'अह्वत' बनेगा। सिच् पक्ष में 'अह्वास्त' पूर्ववत् ही बनेगा॥

—:o:—

परि० सर्त्तिशास्त्य० (३।१।५६)

असरत् (वह सरक गया)

सृ पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से अङ् होकर—

अट् सृ अङ् त् अब सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ। जिसका क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। तब ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) से गुण हो गया। उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर—

असरत् बन गया॥

इसी प्रकार 'ऋ' धातु से 'आरत्' (वह प्राप्त हुआ) बनेगा। केवल यहाँ अट् आगम न होकर आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम होगा। यही विशेष है॥

'अशिषत्' यहाँ शास इदङ्हलोः (६।४।३४) से शास् की उपधा को इत्व, तथा शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से शास् के 'स्' को 'ष्' होकर 'अ शिष् अङ् त्' = अशिषत् बन गया॥

—:o:—

परि० इरितो वा (३।१।५७)

रुधिर् भिदिर् छिदिर् धातुओं से प्रकृत सूत्र से अङ् होकर, पूर्ववत् अरुधत् (उसने रोका), अभिदत् (उसने फाड़ा), अच्छिदत् (उसने छेदा) बन जायगा। अच्छिदत्

में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, तथा स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३६) से श्चुत्व ही विशेष है ॥

जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से अङ् नहीं हुआ, तो यथाप्राप्त सिच् होकर, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'अ रुध् सिच् त्' रहा। अस्तिसिचोऽ० (७।३।९६) से ईट् आगम, तथा वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर 'अरौध स् ईट् त्' रहा। खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर 'अरौत्सीत्' बन गया। इसी प्रकार 'अभैत्सीत्, अच्छैत्सीत्' में भी समझें ॥

—:०:—

परि० जॄस्तम्भु० (३।१।५८)

अङ् पक्ष में 'अजरत्' (वह जीर्ण हो गया) की सिद्धि परि० ३।१।५६ के 'असरत्' के समान जानें। शेष 'स्तम्भु' तथा 'ग्लुञ्चु' धातु से अङ् परे रहते अनिदितां हल० (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होकर पूर्ववत् ही 'अस्तभत्' (उसने रोका), 'अग्लुचत्' (वह गया) बनेगा। 'अम्रुचत् (वह गया), 'अम्लुचत्' (वह गया), 'अग्रुचत्' (उसने चुराया), 'अग्लुचत्' (उसने चुराया) में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

सिच् पक्ष में अजारीत्, अस्तम्भीत् की सिद्धि परि० १।१।१ के अलावीत् के समान जानें। यथाप्राप्त गुण एवं वृद्धि सर्वत्र जानें ॥ अश्वत्, अश्वयीत्, अशिश्वियत् की सिद्धि परि० ३।१।४९ में देखें ॥

—:०:—

परि० दुहश्च (३।१।६३)

'अदोहि' की सिद्धि ३।१।६० सूत्र के समान जानें ॥

जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से चिण् नहीं हुआ, तो शल इगुपधा० (३।१।४५) से च्लि के स्थान में क्स होकर 'अट् दुह् क्स त' रहा। लुग्वा दुहदिह० (७।३।७३) से क्स का लुक्, तथा दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से दुह् के 'ह्' को 'घ्' होकर 'अदुघ त' रहा। झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से त् को ध् होकर, 'अदुघ् ध' रहा। झलां जश् झशि (८।४।५२) से 'घ्' को 'ग्' होकर 'अदुग्ध गौः स्वयमेव' (गौ स्वयं दुही गई) कर्मकर्त्ता में बन गया ॥

—:०:—

परि० कर्त्तरि शप् (३।१।६८)

'भवति, पठति' की सिद्धि परि० १।१।२ के जयति के समान जानें ॥

'भवतु, पठतु' में सब पूर्ववत् ही होगा। केवल यहाँ एरुः (३।४।८६) से तिप् के 'इ' को 'उ' हो जावेगा।

लङ् लकार में पूर्ववत् ही सब होकर, तथा लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व० (६।४।७१) से अट् आगम होकर, 'अट् भू शप् तिप्' रहा। भू को पूर्ववत् गुण, तथा अवादेश, एवं इतश्च (३।४।१००) से तिप् के इकार का लोप होकर 'अभवत्' बना है। इसी प्रकार 'अपठत्' में भी जानें ॥

भवेत् (होवे)

भू	भूवादयो० (१।३।१), विधिनिमन्त्रणा० (३।३।१६१), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
भू लिङ्	पूर्ववत् लादेश 'तिप्' होकर—
भू तिप्	यासुट् परस्मैपदेषू० (३।४।१०३), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।
भू यासुट् ति	सुट् तिथोः (३।४।१०७), तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३)।
भू यास् सुट् त्	कर्त्तरि शप् लगकर—
भू शप् यास् सुट् त्	=भो अ यास् स् त्, एचोऽयवायावः (६।१।७५)।
भव् अ यास् स् त्	लिङः सलोपोऽन० (७।२।७९) से दोनों सकारों का लोप।
भव या त्	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, अतो येयः (७।२।८०) से 'या' को इय्।
भव इय् त्	लोपो व्योर्वलि (६।१।६४), आद् गुणः (६।१।८४) लगकर—
भवेत्	बन गया ॥

इसी प्रकार 'पठेत्' की सिद्धि जानें ॥

—:o:—

परि० दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९)

दीव्यति (वह चमकता है)

दिव्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
दिव् तिप्	तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), दिवादिभ्यः श्यन् लगकर -
दिव् श्यन् ति	=दिव् य ति, पुगन्तलघू० (७।३।८६) से श्यन् को परे मानकर दिव् की उपधा को गुण प्राप्त हुआ। पर श्यन् के अपित् होने से

सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित्वत् होकर क्ङिति च (१।१।५) से गुण का निषेध हो गया।

दिव् य ति — हलि च (८।२।७७) से हल् परे रहते वकारान्त दिव् की उपधा इक् को दीर्घ होकर—

दीव्यति — बन गया॥

'षिवु' धातु के 'ष्' को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स् होकर, शेष कार्य सब पूर्ववत् ही होकर 'सीव्यति' (वह सीता है) बना है॥

—:०:—

परि० स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३)

सुनोति (सोमरस निकालता है) की सिद्धि० परि० १।१।५ के सुनुतः के समान हो जानें। केवल यहाँ विशेष यह है कि 'सु नु तिप्' इस अवस्था में तिप् को परे मानकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण हो जाता है। किन्तु जब श्नु को परे मानकर 'सु' को गुण करने लगेंगे, तो सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से 'श्नु' को ङित्-वत् होकर क्ङिति च (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। गुण करते समय 'सु' तथा 'नु' दोनों की, एवं 'सु' मात्र की कैसे अङ्ग संज्ञा है, यह बात परि० १।४।१३ के समान जान लें॥ षिञ् धातु से सिनोति (बांधता है) की सिद्धि भी इसी प्रकार है॥

—:०:—

परि० धिन्विकृण्व्योर च (३।१।८०)

धिनोति (तृप्त करता है)

धिवि — भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽज० (१।३।२), इदितो नुम्धातोः (७।१।५८)।

धि नुम् व=धिन्व् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

धिन्व् तिप् — अब धिन्विकृण्व्योर च से 'उ' प्रत्यय हुआ, तथा अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से 'व्' के स्थान में 'अ' अन्तादेश भी हो गया।

धिन् अ उ ति अतो लोपः (६।४।४८) से उस 'अ' का लोप हो गया।

धिन् उ ति सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) लगकर—

धिन् ओ ति यहां लघूपध गुण अचः परस्मिन्० (१।१।५६) से अकार लोप के स्थानिवत् हो जाने से प्राप्त ही नहीं होता, ऐसा जानें। अतः—

धिनोति — बन गया॥

इसी प्रकार 'कृवि' धातु से 'कृणोति' (हिंसा करता है) की सिद्धि जानें। ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम् (वा० ८।४।१) इस वार्त्तिक से यहाँ णत्व भी हो जाता है ॥

—:०:—

परि० लिङ्याशिष्यङ् (३।१।८६)

उपस्थेयम्

ष्ठा भूवादयो० (१।३।१), धात्वादेः षः सः (६।१।६२), आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

उप स्था लिङ् परि० ३।१।६३ के समान यासुट् आगम, तथा लादेश 'मिप्' होकर—

उप स्था यासुट् मिप् तस्थस्थमिपां तां० (३।४।१०१), लिङ्याशिष्यङ् लगकर—

उप स्था अङ् यास् अम् लिङाशिषि (३।४।११६) से यहाँ लिङ् आर्धधातुकसंज्ञक है। पर छन्दस्युभयथा (३।४।११७) से सार्वधातुक आर्धधातुक दोनों संज्ञायें होने से सार्वधातुक मानकर, लिङः सलोपो० (७।२।७६) से सकारलोप, तथा अतो येयः (७।२।८०) से 'या' को इय् हुआ है।

उप स्था अ इय् अम् आतो लोप इटि च (६।४।६४) से अङ् परे रहते 'था' के 'आ' का लोप होकर—

उप स्थ् अ इय् अम् आद्गुणः (६।१।८४) लगकर—

उपस्थेयम् बना ॥

'गै' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व होकर, शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'उपगेयम्' की सिद्धि जानें ॥

'गमेम' यहाँ पूर्ववत् सब होकर 'मस्' विभक्ति आई। तथा प्रकृत सूत्र से अङ् हो गया, तो 'गम् अङ् यासुट् मस्'=गम् अ यास् मस् रहा। नित्यं ङितः (३।४।९९) से मस् के सकार का लोप। तथा शेष कार्य सब पूर्ववत् होकर 'गमेम' बना है ॥

'वोचेम' 'वच' धातु से वोचेम की सिद्धि इसी प्रकार जानें। केवल यहाँ विशेष यह है कि अङ् परे रहते वच उम् (७।४।२०) से 'उम्' आगम होता है, जो कि मिदचोऽन्त्यात्० (१।१।४६) से अन्त्य अच् परे बैठता है। सो 'व उम् च् अङ् या मस्=व उ च् अ इय् मस' रहा। आद् गुणः (६।१।८४) लगकर 'वोच् अ इ म' रहा। पुनः आद्गुणः (६।१।८४) लगकर 'वोचेम' बन गया ॥

गमेम के समान ही 'शक्लृ' धातु से 'शकेम'; 'वह' धातु से 'वहेम' की सिद्धि जानें। यहाँ अन्येषाम० (६।३।१३७) से सांहितिक दीर्घ हुआ है ॥

'विद' धातु से 'विदेयम्', तथा 'शक्लृ' से 'शकेयम्' की सिद्धि उपस्थेयम् के के समान ही जानें ॥

—:०।—

परि० कर्मवत्० (३।१।८७)

'भिदिर्' धातु से 'भिद्यते' की सिद्धि परि० १।३।१३ के आस्यते के समान जानें। 'अभेदि' की सिद्धि चिण् ते पदः (३।१।६०) सूत्र पर की गई सिद्धि के समान जानें ॥

कारिष्यते

'कारिष्यते' यहाँ लृट् लकार में प्रकृत सूत्र से कर्मवद्भाव होने से कर्माश्रित कार्य स्यसिच्सीयुट्० (६।४।६२) से 'चिण्वद्भाव करना' हो गया है। तथा इसी सूत्र से इट् आगम भी हो गया है। चिण्वत्कार्य यहाँ अचो ञ्णिति (७।२।११५) से 'कृ' को वृद्धि करना ही है। शेष सारी सिद्धि परि १।४।१३ के करिष्यति के समान ही है। आत्मनेपद भी भावकर्मणोः (१।३।१३) से हो ही जायेगा। सो यहाँ वृद्धि, स्यसिच० (६।४।६२) से इट् आगम, तथा आत्मनेपद करना ही विशेष है ॥

—:०:—

परि० न दुहस्नुनमां० (३।१।८९)

दुग्धे

दुह — भूवादयो० (१।३।१), यहाँ कर्मकर्त्ता में कर्मवत् कर्मणा० (३।१।८७) से कर्मवद्भाव होने से कर्मवाच्य के सब कार्य प्राप्त हुये। पर प्रकृत सूत्र से यक् का प्रतिषेध हो जाने से, कर्त्तरि शप् (३।१।६८) से शप् ही गया। भावकर्मणोः० (१।३।१३) से आत्मनेपद हो ही जायेगा। टित आत्मने० (३।४।७९) लगकर—

दुह् शप् ते — अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), दादेर्धातोर्घः (८।२।३२)।

दुघ् ते — झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) लगकर—
दुघ् धे — झलां जश् झशि (८।४।५२) लगकर—
दुग्धे — बना ॥

अबोहि; अबुग्ध

'अबोहि' की सिद्धि ३।१।६० सूत्र के समान जानें । जिस पक्ष में कर्मकर्त्ता में दुहश्च (३।१।६३) से चिण् हो गया, उस पक्ष का यह रूप है ॥ जब पक्ष में चिण् नहीं हुआ, तो सिच् हो गया, तब 'अबुग्ध' बना । सिद्धि इस पक्ष में परि० ३।१।६३ में ही देखें ॥

प्रास्नोष्ट; प्रास्नाविष्ट

'प्र पूर्वक स्नु' धातु से पूर्ववत् ही शप् का लुक् होकर 'प्रस्नुते' बना है । लुङ् लकार में कर्मवत् कर्मणा० (३।१।८७) से चिण् प्राप्त था । जिसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया । तो च्लेः सिच् (३।१।४४); से सिच, तथा पूर्ववत् सब कार्य होकर 'प्र अट् स्नु सिच् त=प्र अ स्नु स् त' रहा । आदेशप्र० (८।३।५६) से षत्व, एवं ष्टुत्व तथा सवर्ण दीर्घ होकर 'प्रास्नोष्ट' बना है ॥ स्यसिच्सीयुट्० (६।४।६२) से पक्ष में चिण्वत् कार्य होने से इट् आगम, तथा अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होकर—'प्र अट् स्नौ इट् स् त' रहा । आवादेश होकर 'प्रास्नाविष्ट' बन गया ॥

अनंस्त

'नम' धातु से प्रकृत सूत्र से यक् का प्रतिषेध होने पर शप् होकर 'नमते' बना है । लुङ् में भी चिण् का प्रतिषेध होकर सिच् हो गया, तो 'अट् नम् सिच् त' रहा । नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'म्' को अनुस्वार होकर 'अनंस्त' बना है ॥

—:o:—

परि० अचो यत् (३।१।९७)

गेयम् (गाने योग्य)

गै शब्दे — भूवादयो० (१।३।१), आदेच उपदेशे० (६।१।४४), धातोः (३।१।९१), अचो यत्, प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।
गा यत् — यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), ईद्यति (६।४।६५), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।
ग् ई य — सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४), कृत्तद्धित० (१।२।४६) ।

ग् ए य　　पूर्ववत् सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४), अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—
गेयम्　　बना ॥

इसी प्रकार 'पा' धातु से 'पेयम्' (पीने योग्य) की सिद्धि जानें ॥ 'चि यत् जि यत्' यहाँ पूर्ववत् गुण होकर 'चेयम्' (चुनने योग्य), 'जेयम्' (जीतने योग्य) बनेगा ॥ ये प्रत्यय कृत्याः (३।१।९५) से कृत्यसंज्ञक हैं। अतः तयोरेव कृत्य० (३।४।७०) से भाव कर्म में ही होंगे, न कि कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से कर्त्ता में ॥

—:०:—

परि० पाघ्राध्मा० (३।१।१३७)

उत्पिबः (उठाकर पीनेवाला)

पा　　भूवादयो० (१।३।१) धातोः (३।१।९१), पाघ्राध्माधेट्दृशः शः, कर्त्तरि कृत् (३।४।६७)।
पा श　　तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।
पा शप् अ　　पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्० (७।३।७८) से पा को 'पिब' आदेश।
उद् पिब अ अ अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—
उत्पिब अ　　अतोगुणे (६।१।९४), खरि च (८।४।५४), पूर्ववत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—
उत्पिबः　　बन गया ॥

इसी प्रकार पूर्ववत् सब कार्य, तथा पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) से घ्रा को जिघ्र, ध्मा को धम, तथा दृश् को 'पश्य' आदेश शप प्रत्यय के परे रहते होकर—उज्जिघ्रः (सूंघनेवाला), विजिघ्रः (विशेष रूप से सूंघनेवाला), उद्धमः (धौंकनेवाला), विधमः (विपरीत धौंकनेवाला), उत्पश्यः (ऊपर को देखनेवाला), विपश्यः (विशेष देखनेवाला), पश्यः (देखनेवाला) बनेगा। 'धेट्' धातु से पूर्ववत् सब कार्य होकर 'धे' अ अ' रहा। अयादेश तथा अतो गुणे (६।२।९४) से पररूप होकर उद्धयः (पीनेवाला), विधयः (विशेष पान करनेवाला) बनेगा ॥

—:०:—

परि० अनुपसर्गाल्लिम्प० (३।१।१३८)

'लिप' तथा 'विद्लृ' धातुएं तुदादि गण की हैं। सो इनसे प्रकृत सूत्र से श

प्रत्यय होकर, तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से श विकरण भी हुआ है। शे मुचादीनाम् (७।१।५९) से श प्रत्यय के परे रहते नुम् आगम होकर 'लि नुम् प् श अ' रहा। पूर्ववत् दोनों अकारों को पररूप होकर 'लिम्पः' (लीपनेवाला), 'विन्दः' (प्राप्त होनेवाला) बनेगा॥ 'धृञ्, पृ' तथा 'उत् पूर्वक एजृ' इन धातुओं से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच्, तथा वृद्धि होकर 'धारि पारि उदेजि' धातुएं (३।१।३२) बनी हैं। तत्पश्चात् प्रकृत सूत्र से श प्रत्यय, तथा शप् विकरण होकर 'धारि शप् श' रहा। गुण तथा अयादेश होकर 'धारयः' (धारण करानेवाला), 'पारयः' (पालन करानेवाला), 'उदेजयः' (कंपानेवाला) बनेगा॥ शेष 'विद' 'चिती संज्ञाने' 'षह मर्षणे' धातुएं चुरादि की हैं। सो चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५) से णिच् होकर, तथा शेष पूर्ववत् होकर 'वेदयः' (बतलानेवाला), 'चेतयः' (चेतना लानेवाला), 'साहयः' (सहनेवाला) बनेगा। 'साति' सौत्र पाठ की धातु है, उससे पूर्ववत् सब होकर 'साति शप् श' = 'सातयः' बना है॥

—:०:—

परि० ददातिदधा० (३।१।१३९)

ददः (देनेवाला)

डुदाञ् — भूवादयो० (१।३।१), ददातिदधात्योर्विभाषा, प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

दा श — तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८), जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५)। प्रत्ययस्य लुक्० (१।१।६०), श्लौ (६।१।१०), पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)।

द दा श — ह्रस्वः (७।४।५९), सार्वधातुकमपित् (१।२।४), श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२)।

द द् श — पूर्ववत् सु आकर रुत्व विसर्जनीय होकर—

ददः — बना॥

इसी प्रकार 'डुधाञ्' धातु से 'दधः' (धारण करनेवाला) की सिद्धि जानें। अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से यहां अभ्यास के 'ध' को 'द' हो जाता है। आकारान्त धातु होने से पक्ष में श्याद्व्यधास्रु० (३।१।४१) से ण प्रत्यय होकर 'दायः' 'धायः' बनेगा। आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३) से यहां युक् आगम ही विशेष है॥

—:०:—

परि० श्याद्व्यधास्रु०(३।१।१४१)

'श्यैङ्' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व, तथा प्रकृत सूत्र से ण प्रत्यय होकर 'अव श्या ण' रहा। आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम होकर 'अवश्याय:' (ओस), प्रतिश्याय: (जुकाम) बना है। 'दाय: धाय:' की सिद्धि परि० ३।१।१३९ में देखें॥

अत उपधाया: (७।२।११६) से वृद्धि होकर 'व्याध:' (शिकारी), 'श्वास:' (सांस लेनेवाला) की सिद्धि जानें। 'स्रु' धातु को ण परे रहते अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि, तथा आवादेश होकर 'आस्राव:' (बहनेवाला), संस्राव: (बहनेवाला) बनेगा। 'अति पूर्वक इण्' धातु से भी इसी प्रकार वृद्धि आयादेश करके 'अत्याय:' (उल्लङ्घन करनेवाला), तथा 'हृ' धातु से 'अवहार:' (ले जानेवाला) बनेगा। 'षो' धातु को धात्वादे: ष: स: (६।१।६२) से 'ष्' को 'स्', तथा पूर्ववत् आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व एवं युक् आगम होकर 'अवसाय:' (समाप्त करनेवाला) की सिद्धि जानें। 'लेह: (चाटनेवाला), श्लेष: (चिपकनेवाला) में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल यहाँ पुगन्तलघू० (७।३।८६) से लघूपधगुण हुआ है॥

—:०:—

द्वितीय: पाद:

परि० एजे: खश् (३।२।२८)

अङ्गमेजय: (अङ्गों को कंपा देनेवाला)

एजृ	भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६)।
एज णिच्=एजि	सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२)।
अङ्ग अम् एजि	तत्रोपपदं सप्त० (३।१।९२), एजे: खश् लगकर—
अङ्ग अम् एजि खश्	उपपदमतिङ् (२।२।१९), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।
अङ्ग एजि अ	तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।
अङ्ग एजि शप् अ	सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४), अरुर्द्विषदजन्तस्य० (६।३।६५)।

प्रङ्ग मुम् एजे अ अ=प्रङ्गन् एजे अ अ	एचोयवायावः (६।१।७५), प्रतो गुणे (६।१।६४), कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् सु प्राकर—
प्रङ्गमेजयः	बन गया ॥

इसी प्रकार 'जनमेजयः' (हस्तिनापुर का प्रसिद्ध राजा), 'वृक्षमेजयः' (वृक्षों को कंपा देनेवाला=वायु) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० नासिकास्तनयो० (३।२।२९)

नासिकन्धमः (नासिका को धौंकनेवाला)

'नासिका' कर्म उपपद रहते 'ध्मा' धातु से प्रकृत सूत्र से खश् प्रत्यय होकर, पूर्व सूत्र के अनुसार ही सिद्धि जानें। केवल यहाँ विशेष यह है कि खित्यनव्ययस्य (६।३।६४), से नासिका के 'का' को ह्रस्व हो गया है। तथा पाघ्राध्मास्था० (७।३।७८) से ध्मा को धम आदेश हो गया है ॥

'स्तनन्धयः' (स्तन को पीनेवाला बच्चा), 'नासिकन्धयः' (नासिका को पीने वाला कोई बच्चा) यहाँ भी धेट् के धे को धयादेश होकर, पूर्ववत् सिद्धि जानें। धेट् के टित् होने से 'स्तनन्धयी' में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् भी होता है ॥

—:०:—

परि० कुमारशीर्ष० (३।२।५१)

कुमारघाती (कुमारं हन्तीति=कुमार को मारनेवाला)

कुमार अम् हन्	भूवादयो० (१।३।१), तत्रोपपदं० (३।१।९२), कुमारशीर्षयोर्णिनिः।
कुमार अम् हन् णिनि	उपपदमतिङ् (२।२।१९), सुपो धातु० (२।४।७१)।
कुमारहन् इन्	हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।
कुमारघन् इन्	हनस्तोऽचिण्णलोः (७।३।३२) से 'न्' को 'त्' होकर—
कुमारघत् इन्	अत उपधायाः (७।२।११६) लगकर—
कुमारघातिन्	कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् 'सु' आकर—
कुमारघातिन् सु	सौ च (६।४।१३) से दीर्घ होकर—
कुमारघातीन् स्	अपृक्त एका० (१।२।४१), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)।

कुमारघातीन् नलोपः प्रातिपदि० (८।२।७) से 'न्' लोप होकर—

कुमारघाती बना ॥

इसी प्रकार 'शिरस' कर्म उपपद रहते 'शीर्षघाती' (सिर काटनेवाला) की सिद्धि जानें। प्रकृत सूत्र के ही निपातन से शिरस् को शीर्षभाव भी हो जायेगा ॥

—:०:—

परि० ऋत्विग्दधृक्० (३।२।५६)

प्राङ् (पूर्व)

अञ्चु भूवादयो० (१।३।१), ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगु०, प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

प्र अञ्च् क्विन्=प्र अञ्च् व् अनिदितां हल उपधायाः० (६।४।२४)।

प्र अच् व् अपृक्त एकाल्० (१।२।४१), वेरपृक्तस्य (६।१।६५)।

प्र अच् अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।६७), कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् सु विभक्ति आकर—

प्राच् सु उगिदचां सर्वनाम० (७।१।७०), मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)।

प्रा नुम् च् स् हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)।

प्रा संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३), हलोऽनन्तराः० (१।१।७)।

प्रान् क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६)। लगकर—

प्राङ् बना ॥

इसी प्रकार 'प्रति पूर्वक अञ्चु' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'प्रति अङ्' बना। यणादेश होकर 'प्रत्यङ्' (पश्चिम) बन गया। 'उद् पूर्वक अञ्चु' धातु से 'उदङ्' (उत्तर) की सिद्धि जानें। 'युज् धातु' से 'युङ्' (जोड़नेवाला) की सिद्धि में युजेरसमासे (६।१।७१) से नुम् होता है। शेष पूर्ववत् है। 'कुञ्च' धातु से क्रुङ् (एक प्रकार का बगला) की सिद्धि भी प्राङ् के समान ही पूर्ववत् जानें। निपातनों के साथ पाठ होने के कारण कुञ्च की उपधा नकार का लोप नहीं हुआ ॥

—:०:—

परि० सत्सूद्विषद्रुह० (३।२।६१)

वेदि शुचि तथा अन्तरिक्ष उपपद रहते षद्लृ धातु से प्रकृत सूत्र से क्विप्

प्रत्यय होकर, तथा क्विप् का सर्वापहारी लोप होकर—वेदिषत् (होता); शुचिषत्; अन्तरिक्षसत् बनेगा। षद्लृ के 'ष्' को 'स्' धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से होता है। वेदिषत्, शुचिषत् में 'स' को 'ष्' पूर्वपदात् (८।३।१०६) से होता है। ये सब छान्दस प्रयोग हैं। ऋग्०४।४०।५ में इनका इस प्रकार पाठ है—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥

प्रसत् (अच्छी तरह बैठनेवाला); वत्ससूः गौः (बछड़ा देनेवाली गौ); अण्डसूः (अण्डे को पैदा करनेवाली=मुर्गी); शतसूः (सौ को उत्पन्न करनेवाली); प्रसूः (प्रसव करनेवाली) की सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है। मित्रद्विट (मित्र से द्वेष करनेवाला), प्रद्विट् (शत्रु) यहाँ 'द्विष्' के ष को ड झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से, तथा 'ड्' को ट् वावसाने (८।४।५५) से हुआ है॥

मित्रध्रुक् (मित्र से द्रोह करनेवाला); प्रध्रुक् (द्रोही), यहाँ 'द्रुह' धातु के ह् को घ वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् (८।२।३३) से होकर, एकाचो बशो भष्० (८।२।३७) से भषत्व, तथा पूर्ववत् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९), वावसाने (८।४।५५) लगकर मित्रध्रुक्, प्रध्रुक् बन गया॥

गोधुक् (ग्वाला), प्रधुक् (ग्वाला), यहाँ 'दुह्' के 'ह्' को 'घ' दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से हुआ है। शेष मित्रध्रुक के समान जानें॥ अश्वयुक् (घोड़े को जोतनेवाला), प्रयुक् (जोतनेवाला), यहाँ युज् के ज् को चोः कुः (८।२।३०) से ग्, तथा वावसाने (८।४।५५) से क् हुआ है, शेष पूर्ववत् है॥ वेदवित् (वेद को जाननेवाला); ब्रह्मवित् (ब्रह्म को जाननेवाला); प्रवित् (वेत्ता); काष्ठभित् (काष्ठ को फाड़नेवाला); प्रभित् (बढ़ई); रज्जुच्छित् (रस्सी को काटनेवाला); प्रच्छित् (काटनेवाला), यहाँ छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, तथा श्चुत्व ही विशेष हुआ है॥ शत्रुजित् (शत्रु को जीतनेवाला); प्रजित् (जीतनेवाला), यहाँ ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम होकर—शत्रु जि तुक्=शत्रुजित् बना॥ 'णीञ्' धातु के ण को णो नः (६।१।६३) से 'न' होकर सेनानीः (सेनापति); प्रणीः (नेता); अग्रणीः (नेता); ग्रामणीः (ग्राम का नायक) बना है। प्रणीः में उपसर्गाद० (८।४।१४) से णत्व होता है। अग्रणीः, ग्रामणीः में णत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि पूर्वपदात् संज्ञा० (८।४।३) से संज्ञा में ही नियम है, और 'अग्रणी ग्रामणी' संज्ञा नहीं हैं। परन्तु स एषां ग्राम० (५।२।७८) सूत्र में ग्रामणी पद के प्रयोग से ज्ञापित होता है कि असंज्ञा में भी णत्व होता है। अतः दोनों उदाहरणों में णत्व सिद्ध हो जाता है। विश्वराट् (परमेश्वर), विराट् (परमेश्वर), सम्राट् यहाँ 'राज्' धातु के 'ज्' को 'ष्' व्रश्चभ्रस्जसृज० (८।२।३६) से होकर, शेष जश्त्व चर्त्व मित्रद्विट् के समान जानें। 'सम्राट्'

यहां 'सम्' के मकार को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार प्राप्त था, सो मो राजि समः क्वौ (८।३।२५) से मकार को मकारादेश ही विधान कर दिया है, ताकि अनुस्वार न हो ॥

—:०:—

परि० अन्येभ्योऽपि० (३।२।७५)

शोभनं शृणाति=सुशर्मा (अच्छे सुखवाला), यहां 'सु' उपपद रहते 'शॄ हिंसायाम्' धातु से प्रकृत सूत्र से मनिन् होकर, पूर्वसूत्र के 'सुदामा' के समान सिद्धि जानें ॥ प्रातरित्वा (प्रातःकाल जानेवाला), यहां प्रातर् शब्द उपपद रहते 'इण् गतौ' धातु से क्वनिप् प्रत्यय होकर—'प्रातर् इण् क्वनिप्'=प्रातर् इ वन् रहा। ह्रस्वस्य पिति कृति० (६।१।६९) से तुक् आगम होकर—'प्रातरि तुक् वन्' बना। पूर्ववत् दीर्घ इत्यादि होकर 'प्रातरित्वा' बन गया ॥

'जनी प्रादुर्भावे' धातु से वनिप् प्रत्यय के परे रहने विड्वनोरनुनासि० (६।४.४१) से अन्त्य अल् (१।१।५१) न् को आत्व होकर—'प्र ज आ वनिप्=प्रजावन् सु' रहा। शेष पूर्ववत् होकर प्रजावा (पैदा होनेवाला) बनेगा। अग्रेगावा (आगे जानेवाला) में भी 'अग्रे उपपद रहते गम् धातु' से पूर्ववत् 'म्' को आत्व होकर सिद्धि जानें ॥

'रिष्' धातु से विच् प्रत्यय होकर तथा विच् का सर्वापहारी लोप, और लघूपध गुण होकर 'रेष् सु' रहा। हल्ङ्यादि लोप, तथा झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व होकर रेड् असि='रेडसि' बन गया ॥

—:०:—

परि० क्विप् च (३।२।७६)

उखास्रत् (उखायाः स्रंसति=बटलोई से गिरनेवाला)

'उखास्रत्' यहां उखा उपपद रहते 'स्रंसु' धातु से प्रकृत सूत्र से क्विप् प्रत्यय हुआ है। अनिदितां हल उप० (६।४।२४) से अनुनासिक का लोप, तथा क्विप् का सर्वापहारी पूर्ववत् लोप होकर—'उखास्रस् सु' रहा। हल्ङ्यादि लोप, तथा वसुस्रंसुध्वंस्वन० (८।२।७२) से 'स्रस्' के स् को द् होकर—उखास्रद् बना। वाऽवसाने (८।४।५५) से चर्त्व होकर 'उखास्रत्' बन गया ॥

इसी प्रकार 'पर्ण' उपपद रहते 'ध्वंसु' धातु से पर्णानि ध्वंसते= पर्णध्वत् (पत्ते गिरानेवाला) बनेगा। वाह उपपद रहते 'भ्रन्शु अधःपतने' धातु से पूर्ववत् सब होकर, तथा व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष्, एवं पूर्ववत् जश्त्व चर्त्व होकर 'वाहभ्रट्' बना। अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३५) से दीर्घ होकर वाहाभ्रट् बन जायेगा॥

—:०:—

परि० लिटः कानज्वा (३।२।१०६)

चिक्यानः

चिञ्	भूवादयो० (१।३।१), छन्दसि लिट् (३।२।१०५) से लिट् प्रत्यय होकर—
चि लिट्	प्रकृत सूत्र से लिट् के स्थान में कानच् आदेश होकर, तथा लिटि धातोर० (६।१।८) से द्वित्व होकर—
चि चि कानच्	= चि चि आन विभाषा चेः (७।३।५८) लगकर—
चि कि आन	अचि श्नुधातु०(६।४।७७)से इयङ् आदेश प्राप्त हुआ। पर इयङ् को बाधकर एरनेकाचोऽसं० (६।४।८२) से यणादेश हो गया।
चिक्यान	कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् 'सु' आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—
चिक्यानः	बन गया॥

'षुञ्' धातु से पूर्ववत् ही सुषुवाणः की सिद्धि जानें। अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से उवङ् आदेश। आदेशप्रत्ययोः (८।३।५९) से षत्व, तथा अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व होना ही यहाँ विशेष है॥

अब पक्ष में कानच् आदेश नहीं हुआ, तो 'दृशिर्' धातु से लिट् के स्थान में णल् होकर 'ददर्श' बन गया॥

—:०:—

परि० भाषायां सद० (३।२।१०८)

उपसेदिवान् कौत्सः (कौत्स पहुँचा)

'षद्लृ' धातु से प्रकृत सूत्र से भूतसामान्य में लिट् के स्थान में क्वसु विधान करने से लिट् प्रत्यय भी भूतसामान्य में इसी सूत्र से हो जाता है, ऐसा अनुमान

किया गया। पुनः लिट् को क्वसु आदेश होकर—'सद् क्वसु' रहा। क्वसु को स्थानिवत् से लिट् ही मानकर द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् हो गये, तो—'सद् सद वस्' रहा। वस्वेकाजाद्घसाम् (७।२।६७) से इट् आगम होकर—'सद् सद् इट् वस्' बना। अत एक० हल्मध्ये० (६।४।१२०) से अभ्यासलोप, तथा एत्व होकर 'सेद् इ वस्' रहा। सान्त-महतः० (६।४।१०) से दीर्घ होकर 'उपसेदिवास्' रहा। शेष सिद्धि परि० १।१।५ के जितवान् के समान जानें॥

लुङ् लकार में 'उपासदत्' की सिद्धि परि० ३।१।५३ के अलिपत् के समान जानें। यहाँ पुषादिद्युता० (३।१।५५) से च्लि के स्थान में अङ् होता है॥ लङ् लकार में सद् को पाघ्राध्मास्था० (७।३।७८) से शप् परे रहते सीद आदेश होकर 'अट् सीद् शप् तिप्=उप असीदत्' रहा। सवर्ण दीर्घ होकर 'उपासीदत्' बन गया॥

परोक्षे लिट् (३।२।११५) से लकार होकर तिप् को णल्, तथा पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'उपससाद' बन गया। अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि हो ही जायेगी॥

अनूषिवान् (वह रहा), यहाँ अनुपूर्वक 'वस' धातु से पूर्ववत क्वसु होकर, तथा वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर—'अनु उस् वस' रहा। पूर्ववत् ही द्वित्वादि सारे कार्य, तथा शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से षत्व होकर—'अनु उ उष् इट् वस्' रहा। सवर्ण दीर्घ, तथा पूर्ववत् सब होकर 'अनूषिवान्' बन गया॥

'अन्ववात्सीत्' की सिद्धि परि० १।१।१ के अलावीत् के समान ही है। केवल वदव्रजहल० (७।२।३) से वृद्धि, तथा सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) से स् को 'त्' करना ही यहाँ विशेष है। यहाँ इट् का प्रतिषेध एकाच उपदे० (७।२।१०) से हो जाता है॥

लङ् लकार 'अन्ववसत्' में कुछ भी विशेष नहीं है, तथा लिट् लकार 'अनुवास' में पूर्ववत् सम्प्रसारण कार्य जानें॥

'उपशुश्रुवान्' की सिद्धि क्वसु परे रहते पूर्ववत् जानें॥ लुङ् लकार में 'उपाश्रौषीत्' की सिद्धि भी परि० १।१।१ के अकार्षीत् के समान ही जान लें॥ लिट् लकार के 'उपशुश्राव' में भी कोई विशेष नहीं है॥ लङ् लकार में श्रुवः शृ च (३।१।७४) से श्नु विकरण तथा श्रु धातु को 'शृ' भाव होकर—'अ शृ श्नु त्' रहा। गुण होकर 'अशृणोत्' बना॥

—:०:—

परि० उपेयिवान० (३।२।१०९)

'उपागात्' यहाँ 'इण्' धातु को इणो गा लुङि (२।४।४५) से लुङ् परे रहते 'गा' आदेश हुआ है। गातिस्थाघुपा० (२।४।७७) से यहाँ सिच् का लुक् होता है। शेष कार्य लुङ् की सिद्धि के समान जानें ॥

'उपेत्' यहाँ लङ् लकार के पूर्ववत् सब कार्य होकर—'उप आट् इ शप् तिप्' रहा। अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक्, और सार्वधा० (७।३।८४) से गुण होकर 'उप आ ए त्' रहा। आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश, तथा पुनः 'उप' के साथ वृद्धि एकादेश होकर 'उपैत्' बन गया ॥

उपेयाय

इण् गतौ — भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् ही यहाँ भी लिट् के स्थान में तिप्, तथा तिप् को परस्मै० (३।४।८२) से णल् आदेश होकर—

इ णल् — अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि। एवं आयादेश होकर—

आय् अ — लिटि धातो० (६।१।८), एकाचो द्वे० (६।१।१), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।

इ आय् अ — अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८), क्ङिच (१।१।५२)।

उप इयङ् आय् अ = उप इय् आय आद् गुणः (६।१।८४) लगकर—

उपेयाय — बन गया ॥

'अश्' धातु से लुङ् में पूर्ववत् आट् आदि होकर—'आट् अश् इट् स् ईट् त्' रहा। सिच् के स् का लोप, सवर्णदीर्घ, तथा आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर आशीत् बना। न आशीत् = 'नाशीत्' सवर्णदीर्घ होकर बन गया ॥

लङ् लकार में न आश्नात् = 'नाश्नात्' बना है। क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) से श्ना विकरण, तथा आट् आगम हो ही जायेगा ॥

'नाश' यहाँ लिट् लकार में पूर्ववत् द्वित्व, तथा णल् आकर 'अ अश् अ' रहा। उपधावृद्धि तथा अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ होकर 'आश' बना। न आश = 'नाश' बन गया ॥

'अनु पूर्वक ब्रूञ्' धातु को ब्रुवो वचिः (२।४।५३) से वच् आदेश होकर—'अन्ववोचत्' की सिद्धि परि० (३।१।५२) के अवोचत् के समान जानें। 'अनु अवोचत्' यणादेश होकर 'अन्ववोचत्' बन गया ॥

लङ् लकार में पूर्ववत् सब कार्य होकर 'अनु अट् ब्रू शप् तिप्' रहा। ब्रुव

ईट् (७।३।९३) से ईट् आगम, तथा अदि प्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् का लुक् होकर–'अनु अ ब्रू ईट् त्'=अन्व ब्रो ई त्, अवादेश होकर अन्वब्रवीत् बन गया ।। लिट् लकार में परि० २।४।४१ के 'उवाच' की सिद्धि के समान ही यहाँ सब कार्य होकर 'वच्' धातु से 'अनु उवाच'='अनूवाच' बन गया ।।

—:०:—

परि० विभाषा साकाङ्क्षे (३।२।११४)

'वत्स्यामः' की सिद्धि सूत्र ३।२।११२ में देखें । उसी प्रकार 'पास्यामः' को भी समझें ।। 'भोक्ष्यामहे' की सिद्धि में भी पूर्ववत् सब कार्य होकर– भुज् ष्या महिङ्' रहा । लघूपध गुण होकर—'भोज् ष्या महि' रहा । चोः कुः (८।२।३०) से ज् को ग्, तथा खरि च (८।४।५४) से ग् को क् होकर–'भोक् ष्या महि' रहा । टित आत्मने० (३।४।७९) से टि को एत्व होकर 'भोक्ष्यामहे' बन गया ।। 'अवसाम' की सिद्धि सूत्र ३।२।११३ में देखें ।।

अभुञ्ज्महि

'भुज' धातु से भी पक्ष में प्रकृत सूत्र से लङ् होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर– 'अट् भुज् महिङ्' रहा । रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८), तथा मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे श्नम् होकर–'अ भु श्नम् ज् महि=अ भु न अ महि' रहा । श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से श्नम् के अ का लोप होकर–'अभुन्ज् महि' रहा । नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), तथा अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) लगकर 'अभुञ्ज्महि' बन गया ।।

—:०:—

परि० लटः शतृशा० (३।२।१२४)

पचन्तम् (पकाते हुये को)

डुपचष्　भूवादयो० (१।३।१), वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।

पच् लट्　लटः शतृशानचावप्रथ० से लट् के स्थान में शतृ हुआ ।

पच् शतृ=पच् अत्　तिङ्शित्० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८) ।

पच् शप् अत्=पच् अ अत्　अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—

पचत्　कृत्तद्धित० (१।२।४६) । पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

पचत् अम् सुडनपुंसकस्य (१।१।४२), उगिदचां सर्व० (७।१।७०), मिदचो० (१।१।४६)।

पच नुम् त् अम् = पचन्त् अम् = पचन्तम् बन गया ॥

पचमानम् (पकाते हुए को)

डुपचष् पूर्ववत् लट् के स्थान में 'शानच्' आदेश हुआ।

पच् शप् शानच् = पच आन पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आने मुक् (७।२।८२), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) सूत्र लगे।

पच मुक् आन = पच म् आन पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

पचमान अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

पचमानम् बन गया ॥

—:०:—

परि० लक्षणहेत्वोः० (३।२।१२६)

'शीङ्' धातु से प्रकृत सूत्र से 'शानच्' होकर 'शी शानच्' रहा। पूर्ववत् शप विकरण होकर उसका अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से लुक् भी हो गया। शीङः सार्वधा० (७।४।२१) से गुण, एवं अयादेश होकर 'शय् आन' = 'शयानः' बन गया ॥

शतृ परे रहते 'स्था' को पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) से तिष्ठ आदेश होकर—'तिष्ठ शप् अत्' रहा। नुम् आगम पूर्ववत् होकर—'तिष्ठ अ अ नुम् त्' = 'तिष्ठ अ अ न् त् रहा'। संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से 'त्' का लोप, तथा अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर 'तिष्ठन्' बन गया ॥ 'उप पूर्वक विश' धातु से 'उपविशन्' पूर्ववत् ही समझें ॥

'अधि पूर्वक इङ् अध्ययने' धातु से 'अधि इ शप् आन' रहा। अदिप्रभृ० (२।४।७२) से शप् का लुक्। तथा अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से इयङ् होकर—'अधि इयङ् आन' रहा। सवर्ण दीर्घ होकर—अधीय् आन = 'अधीयानः' बन गया ॥

—:०:—

परि० ताच्छील्य० (३।२।१२९)

मुण्डयमानाः (मुण्डं करोति मुण्डयति = मुण्डन किये हुये)

मुण्ड अर्थवदधातु० (१।२।४५), तत्करोतीत्युपसङ्ख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम् (वा० ३।१।२६) इस वार्त्तिक से णिच् आकर—

मुण्ड णिच् — णाविष्ठवत् प्राति० (वा० ६।४।१५५) से टि भाग का लोप हुआ। अचोन्त्यादि टि (१।१।६३) लगकर—

मुण्ड इ — सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः (३।१।९१)।

मुण्डि — अब मुण्डि धातु बनकर ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु० से 'चानश्' प्रत्यय होकर, प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

मुण्डि चानश्=आन शेष परि० ३।२।१२४ के समान मुक् होकर—

मुण्डि शप् मुक् आन — सार्वधातुकार्धधा० (७।३।८४) लगकर—

मुण्डे अम् आन — एचोयवायावः (६।१।७५) से अयादेश।

मुण्डय् अम् आन — कृत्तद्धित० (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'जस्' विभक्ति आई।

मुण्डयमाना जस्=अस् — प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८), तथा रुत्व विसर्जनीय पूर्ववत् होकर—

मुण्डयमानाः — बना॥

इसी प्रकार 'भूष' धातु से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर—भूष इ 'भूषि' धातु बनकर 'भूषयमाणाः' (सजे हुए) पूर्ववत् समझें। अट् कुप्वाङ्० (८।४।२) से केवल यहाँ आन के न को ण हुआ है, यही विशेष है॥

पर्यस्यमानाः

परि असु — भूवादयो० (१।३।१), प्रादयः उपसर्गाः० (१।४।५८)।

परि अस् — पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर चानश् हुआ—

परि अस् चानश् — दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से दिवादिगण को होने से श्यन् विकरण होकर—

परि अस् श्यन् आन — यणादेश होकर, तथा सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—

पर्यस्यमानाः — बना॥

इसी प्रकार 'वह्' तथा 'पच' धातु से बिना णिच् लाये सारे सूत्र वही लगकर 'वहमानाः, पचमानाः' भी बन गया॥

निघ्नानाः

नि हन — भूवादयो० (१।३।१), प्रादय उपसर्गाः० (१।४।५८), ताच्छील्यवयोवचन० से चानश् प्रत्यय। तिङ्शित्सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।

निहन् शप् चानश् अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक् ।

नि हन् आन	सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से अपित् सार्वधातुक चानश् के ङित्वत् हो जाने से गमहनजनखनघसां० (६।४।९८) से उपधा का लोप हो गया ।
निह्न् आन	हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४), स्थानेन्तरतमः (१।१।४९) ।
निघ्न् आन	पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा होकर जस् विभक्ति आई ।
निघ्नान जस्	पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीयादि होकर—
निघ्नानाः	बना ॥

—:०:—

परि० पोश्छन्दसि (३।२।१३७)

'पृङ् अवस्थाने' (तुदा० आ०) तथा 'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो० प०) से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होकर, तथा अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होकर–'पारि पारि' धातुएँ (३।१।३२) बनीं । तब प्रकृत सूत्र से इष्णुच् प्रत्यय हुआ । णेरनिटि (६।४।५१) के अपवाद अयामन्ताल्वाय्येत्० (६।४।५५) से णि को अयादेश होकर—'पारय् इष्णु; पारय् इष्णु' बना । पूर्ववत् जस् विभक्ति आकर जसि च (७।३।१०९) से गुण एवं अवादेश होकर–'पारयिष्णवः; पारयिष्णवः' बन गया ॥

—:०:—

परि० शमित्यष्टा० (३।२।१४१)

शमी (शान्त)

शमु उपशमे	भूवादयो० (१।३।१), शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्; प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।
शम् घिनुण्=शम् इन्	अब यहाँ अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि प्राप्त हुई । पर नोदात्तोपदेश० (७।३।३४) से निषेध हो गया ।
शमिन् सु	सौ च (६।४।१३), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) ।
शमीन्	नलोपः प्रा० (८।२।७) लगकर—
शमी	बना ॥

इसी प्रकार 'तमु काङ्क्षायाम्', 'दमु उपरमे', 'श्रमु तपसि खेदे च', 'भ्रमु अनवस्थाने', 'क्षमूष् सहने', 'क्लमु ग्लानौ' इन धातुओं से तमी (आकाङ्क्षा करने-

वाला); दमी (दमन करनेवाला); श्रमी (श्रम करनेवाला); भ्रमी (भ्रमण करनेवाला); क्षमी (सहन करनेवाला); क्लमी (ग्लानि करनेवाला) की सिद्धियाँ जानें ।।

'मदी हर्षे' धातु से वृद्धि आदि होकर प्रमादी (प्रमाद करनेवाला); उन्मादी (उन्माद करनेवाला) बना है। उन्मादी में उद् के 'द्' को 'न्' यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से हो जाता है।

—:०:—

परि० आदृगमहन० (३।२।१७१)

पपिः

पा	भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), आदृगमहनजनः किकिनौ० से 'कि' प्रत्यय करें वा 'किन्' एक ही रूप बनता है।
पा कि	लिट्वत् कार्यातिदेश करने से लिट् लकार के कार्य द्वित्वादि होते हैं। आतो लोप इटि च (६।४।६४) लगकर—
प् इ	लिटि धातोरन० (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।
पा प् इ	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), ह्रस्वः (७।४।५९)।
पपि	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—
पपिः	बना ।।

इसी प्रकार 'डुदाञ्' धातु से ददिः बनेगा ।।

ततुरिः

तॄ	भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), आदृगमहनजनः किकिनौ० लगकर—
तॄ कि	बहुलं छन्दसि (७।१।१०३) से उत्व प्राप्त, उरण्रपरः (१।१।५०) से रपर हुआ।
तुर् इ	लिट्वत् अतिदेश होने से लिटि धातोरन० (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगकर द्वित्व हुआ।
तॄ तुर् इ	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), उरत् (७।४।६६), उरण्रपरः (१।१।५०)।
तर् तुर् इ	हलादिः शेषः (७।४।६०) लगकर—

त तुर् इ पूर्ववत् स्याद्युत्पत्ति, तथा विसर्जनीय होकर—
ततुरिः बना ॥

इसी प्रकार 'गॄ निगरणे' धातु से 'जगुरिः' बनेगा ॥

जग्मिः

गम् कि पूर्ववत् सब लगकर—
गम् इ गमहनजनखनघसां० (६।४।९८), अलोऽन्त्यात् पूर्व० (१।१।६४), लिटि धातोरनभ्या० (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।
गम् गम् इ पूर्ववत् अभ्यासकार्य, कुहोश्चुः (७।४।६२) आदि होकर—
जग्मि शेष पूर्ववत् कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि लगकर—
जग्मिः बना ॥

इसी प्रकार 'हन्' धातु से जघ्निः में सब पूर्ववत् ही जानें। 'ज्ञा' धातु से जज्ञिः में भी पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यासकार्य जानें ॥

—:०:—

परि० भ्राजभास० (३।२।१७७)

विभ्राट् (प्रकाशवान्)

भ्राजृ दीप्तौ भूवादयो० (१।३।१), भ्राजभासधुर्वि० से क्विप् होकर—
भ्राज् क्विप्=व् वेरपृक्तस्य (६।१।६५)। पूर्ववत् सु आकर।
विभ्राज् सु हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)।
विभ्राज् व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० (८।२।३६), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।
विभ्राष् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९), वावसाने (८।४।५५) लगकर—
विभ्राट् बना ॥

'औ' विभक्ति में 'विभ्राजौ' बनेगा। 'भास्' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'भास् क्विप् सु' रहा। पूर्ववत् ही क्विप् के व् तथा सु का लोप होकर—'भास्' रहा। स् को रुत्व विसर्जनीय होकर 'भाः' (प्रकाश) बन गया। 'विद्युत्' (बिजली) में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

'ऊर्ज्' धातु से क्विप्, चोः कुः (८।२।३०) से ग्, तथा वावसाने (८।४।५५) से ग् को क् होकर 'ऊर्क्' (बलवान्) बन गया ॥

'जु' सौत्र धातु है। उसको इसी सूत्र के निपातन से दीर्घ भी होकर 'जूः'

(गतिशील) बनता है ॥ ग्रावस्तुत् (ऋत्विग्-विशेष) में 'ग्राव' उपपद रहते 'स्तु' धातु से क्विप् हुआ है । ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम हो ही जायेगा ॥

धूः (मारनेवाला)

धुर्वी भूवादयो० (१।३।१), भ्राजभास०से क्विप् होकर—
धुर्व् क्विप् राल्लोपः (६।४।२१) से रेफ से उत्तर 'व्' का लोप होकर—
धुर् व् सु वेरपृक्तस्य (६।१।६५), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—
धुर् र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (८।२।७६),खरवसानयो०(८।३।१५) होकर—
धूः बना ॥

'पृ' धातु को उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२), उरण्रपरः (१।१।५०) से उत्व रपरत्व होकर 'पुर्' बना । पूर्ववत् दीर्घत्वादि होकर 'पूः' (पालन करनेवाला) बन गया ॥

—:o:—

परि० दाम्नीशस० (३।२।१८२)

वा ष्ट्रन्, यहाँ षः प्रत्ययस्य (१।३।६) से ष् की इत् संज्ञा हो जाने पर ष्टुत्व होकर जो त् को ट् हो गया था, वह भी 'त्' रह गया । तो दात्र सु='दात्रम्' बन गया ॥

'योक्त्रम्' में चोः कुः (८।२।३०) से युज् के 'ज्' को ग् होकर, खरि च (८।४।५४) से 'क्' हुआ है ॥

मेढ्रम् (वाक्य)

मिह भूवादयो० (१।३।१), दाम्नीशस० से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर—
मिह् ष्ट्रन् =मिह् त्र पुगन्तलघू० (७।३।८६)। हो ढः (८।२।३१) ।
मेढ् त्र झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) लगकर—
मेढ ध्र ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) ।
मेढ् ढ्र ढो ढे लोपः (८।३।१३) । पूर्ववत् 'सु' आकर, सु को अम् होकर—
मेढ्रम् बना ॥

'दंष्ट्रा' में ष्ट्रन् के षित् होने से स्त्रीलिङ्ग में षिद्गौरा० (४।१।४१) से ङीष् की प्राप्ति थी । परन्तु दंष्ट्रा का अजादिगण में पाठ होने से अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप् हो जाता है ॥

नद्ध्रम्

मह् ष्ट्रन्=मह् त्र नहो धः (८।२।३४), झषस्त० (८।२।४०)।

मध् त्र झलां जश् झशि (८।४।५२) लगकर—

मद् ध्र सु=मद्ध्रम् बन गया॥

—:०:—

तृतीयः पादः

परि० कर्मव्यतिहारे णच्० (३।३।४३)

व्यावक्रोशी (आपस में चिल्लाना)

क्रुश भूवादयो० (१।३।१), कर्मव्यतिहारे णच्०, प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

क्रुश णच् पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण।

वि अव क्रोश कुगतिप्रादयः (२।२।१८), इको यणचि (६।१।७४)।

व्यवक्रोश णचः स्त्रियामञ् (५।४।१४) से णजन्त व्यवक्रोश शब्द से अञ् प्रत्यय होकर व्यवक्रोश अञ् बना॥

व्यवक्रोश् अ अव न य्वाभ्यां पदा० (७।३।३) से यहाँ ऐच् आगम आदि अच् को प्राप्त हुआ। पर न कर्मव्यतिहारे० (७।३।६) से निषेध हो गया। तब तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से वृद्धि होकर—

व्यावक्रोश कृत्तद्धितस० (१।२।४६), टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप्।

व्यावक्रोश ङीप् सु=व्यावक्रोश ई स् यस्येति च (६।४।१४८), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

व्यावक्रोशी बन गया॥

इसी प्रकार 'लिख अक्षरविन्यासे' धातु से व्यावलेखी (आपस में मिलकर लिखना); 'हसे हसने' से व्यावहासी (आपस में मिलकर हँसना) की सिद्धि जानें॥

—:०:—

परि० अभिविधौ० (३।३।४४)

सांकूटिनम् (चारों ओर से जलाना)

कूट दाहे — भूवादयो० (१।३।१), अभिविधौ भाव इनुण् से इनुण् प्रत्यय।

कूट इनुण्=कूट इन् — कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से सम् तथा कूटिन् का समास हुआ।

सम्कूटिन् — कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), अणिनुणः (५।४।१५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

सम्कूटिन् अण् — नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि भाग (इन्) का लोप अण् परे रहते प्राप्त हुआ। जिसका इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव अर्थात् निषेध हो गया। तद्धितेष्वचा० (७।२।११७), मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार।

सांकूटिन — पूर्ववत् सु आकर, सु को अतोऽम् (७।१।२४) से अम् होकर—

सांकूटिनम् — बन गया॥

इसी प्रकार 'रु' धातु को इनुण् परे रहते अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि, एवं आवादेश होकर—'राविन्' बना। शेष सब पूर्ववत् होकर सांराविणम् (चारों ओर से शोर होना) की सिद्धि जानें। अट् कुप्वाङ्नु० (८।४।२) से यहाँ णत्व भी हो जायेगा॥

—:०:—

परि० कृञः श च (३।३।१००)

क्रिया

डुकृञ् — भूवादयो० (१।३।१), कृञः श च से श प्रत्यय भाव में हुआ।

कृ श — भाव में होने से सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक् प्रत्यय हुआ है।

कृ यक् श=कृ य अ, रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८), क्ङिति च (१।१।५२)।

क् रिङ् य अ — अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप्।

क् रि य अ टाप्=क्रिय अ आ, अतो गुणे (६।१।९४), अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)।

क्रिया — बना॥

प्रकृत सूत्र में 'भावे' तथा 'अकर्तरि च कारके' दोनों का अधिकार है। सो भाव में यक् करके सिद्धि प्रदर्शित कर दी। इसी प्रकार कर्म में भी सार्वधातुके० (३।१।६७) से यक् होकर पूर्ववत् कार्य होते हैं। परन्तु जब करणादि कारकों में 'श' होगा, तब यक् न होकर निम्न प्रकार सिद्धि होगी—

कृ अ   पूर्ववत् रिङ् आदेश होकर—
क्रि अ   अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७), क्ङिच (१।१।५२)।
क्रिय् अ   अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप्।
क्रिय् अ टाप्=क्रिया बना ॥

क्यप् पक्ष में ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम होकर 'कृत्या' बना है। महाभाष्य वचन से क्तिन् प्रत्यय करने पर 'कृतिः' बन ही जायेगा ॥

—:०:—

परि० रोगाख्यायां० (३।३।१०८)

'प्र पूर्वक छर्द वमने', 'वि पूर्वक चर्च अध्ययने' से सत्याप—चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५) से णिच् होकर, प्रकृत सूत्र से ण्वुल् होगा। णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो ही जायेगा। शेष सिद्धि परि० ३।३।१९ के 'जायिका' के समान होकर 'प्रच्छर्दिका' (वमन रोग); 'विचर्चिका' (खाज) बना है। प्रच्छर्दिका में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, एवं श्चुत्व भी हो जायेगा। 'वह प्रापणे' से इसी प्रकार 'प्रवाहिका' (पेचिश) की सिद्धि जानें। केवल यहाँ हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होगा, यही विशेष है ॥

शिरोऽर्त्तिः (सिर पीड़ा का रोग)

प्रकृत सूत्र में बहुल कहने से जब रोग की आख्या गम्यमान होने पर भी ण्वुल् नहीं हुआ, तो 'अर्द' धातु से स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय, तितुत्र० (७।२।९) से इट् निषेध, तथा खरि च (८।४।५४) से द् को त् होकर 'अर्त्तिः' बना। पश्चात् शिरस् शब्द के साथ शिरसः अर्त्तिः='शिरोऽर्त्तिः' ऐसा विग्रह करके षष्ठीसमास हो गया। शिरस् के स् को ससजुषो रुः (८।२।६६) से र्, तथा अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९) से उत्व, एवं आद् गुणः (६।१।८४), एङः पदान्तादति (६।१।१५०) लगकर 'शिरोऽर्त्तिः' बन गया ॥

—:०:—

परि० पुंसि संज्ञायां० (३।३।११८)

दन्तच्छदः (होठ)

छद अपवारणे भूवादयो० (१।३।१), सत्याप... ...चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५)।

छद् णिच् अत उपधायाः (७।२।११६), सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)।
वस्त्र शस् छादि पुंसि संज्ञायां घ:०, उपपदमतिङ् (२।२।१९)।
वस्त्रच्छादि घ छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य (६।४।९६) से छाद् अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होकर—
वस्त्रछदि घ णेरनिटि (६।४।५१), छे च (६।१।७१), स्तोः श्चुना० (८।४।३९) होकर—
वस्त्रच्छद सु=वस्त्रच्छदः बन गया ॥

इसी प्रकार 'उरस्' उपपद रहते स् को श्चुत्व होकर 'उरश्छदः' (कवच) की सिद्धि जानें ॥ आङ् पूर्वक 'कृ' धातु से 'आकरः' (खान), तथा 'ली श्लेषणे' धातु से 'आलयः' (घर) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० विभाषा कथमि० (३।३।१४३)

क्रोशेत् की सिद्धि परि० (३।१।६८) के पठेत् के समान, तथा अक्रोशत् की सिद्धि अपठत् के समान जानें ॥

क्रोक्ष्यति

क्रुश आह्वाने रोदने च यहाँ परि० १।३।६२ के वर्त्स्यति के समान सब कार्य होकर—
क्रुश् स्य ति पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण होकर—
क्रोश् स्य ति व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० (८।२।३६), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।
क्रोष् स्य ति षढोः कः सि (८।२।४१) लगकर—
क्रोक् ष्य ति=क्रोक्ष्यति बना ॥

लुट् लकार में 'क्रोष्टा' की सिद्धि परि० १।१।६ के समान ही जानें। केवल ८।२।३६ से षत्व, तथा ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व करना ही यहाँ विशेष है ॥

लुङ् लकार के 'अक्रुक्षत्' में शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५) से च्लि के स्थान में 'क्स' होकर—'अट् क्रुश् क्स त्= अ क्रुष् स त्' रहा। पूर्ववत् ही ष् को 'क्' होकर 'अक्रुक् स त्' रहा। षत्व होकर 'अक्रुक्षत्' बन गया ॥

लिट् लकार में णल् परे रहते 'चुक्रोश' की सिद्धि परि० १।१।५८ के चकतुः

के समान ही जानें। केवल यहाँ द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) की प्राप्ति नहीं। एवं लघूपध गुण होता है, यही विशेष है ॥

—:o:—

परि० अधीष्टे च (३।३।१६६)

अध्यापय

अधि इङ्	परि० २।४।५१ के अध्यापिपत् के समान 'अध्यापि' धातु बनकर प्रकृत सूत्र से लोट् प्रत्यय हुआ।
अध्यापि लोट्	पूर्ववत् लोट् के स्थान में लादेश 'सिप्' तथा शप् होकर—
अध्यापि शप् सिप्	सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७), सार्वधातुका० (७।३।८४)।
अध्यापे अ हि	एचोऽयवायाव: (६।१।७५), अतो हे: (६।४।१०५) लगकर—
अध्यापय	बना ॥

'हु' धातु से परि० १।१।६२ के जुहुत: के समान लोट् लकार में 'जु हु सि' बनकर, पूर्ववत् सि को 'हि' हो गया। तत्पश्चात् हुझल्भ्यो हेर्धि: (६।४।१०१) से हि को धि होकर 'जुहुधि' बन गया ॥

—:o:—

परि० क्तिच्क्तौ च० (३।३।१७४)

तन्ति: (लम्बी फैली हुई रस्सी)

तनु विस्तारे	भूवादयो० (१।३।१), क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् से क्तिच्।
तन् क्तिच्=तन् ति	अनुनासिकस्य क्विझलो:० (६।४।१५) से यहाँ 'तन्' अङ्ग को दीर्घ, तथा अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से अनुनासिक लोप प्राप्त हुआ। जिनको न क्तिचि दीर्घश्च (६।४।३९) से निषेध हो गया। तो पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—
तन्ति:	बन गया ॥

'षणु दाने' धातु से धात्वादे ष: स: (६।१।६२) से ष् को स्, तथा पूर्ववत् सब होकर 'सन् ति' बना। सन: क्तिचि लोपश्चा० (६।४।४५) से 'न्' के स्थान में आत्व होकर 'साति:' (दान) बन गया ॥

इसी प्रकार भूति: (अणिमादि आठ ऐश्वर्य) की सिद्धि भी जानें ॥ 'डुदाञ्' धातु से प्रकृत सूत्र से क्त प्रत्यय होकर दा क्त=दात रहा। दो दद् घो: (७।४।४६) से

'दा' को दद् आदेश, तथा खरि च (८।४।५५) से चर्त्व होकर 'दत्तः' बना है। देवैः दत्तः=देवदत्तः, तृतीया तत्पुरुष समास होकर बन गया ॥

—:०:—

चतुर्थः पादः

परि० भव्यगेयप्रवच० (३।४।६८)

'भू' धातु से अचो यत् (३।१।९७) से यत् प्रत्यय। तथा गुण होकर 'भो य' रहा। धातोस्तन्निमि० (६।१।७७) से अवादेश होकर 'भव्यम्' बना है ॥

'गेयम्' की सिद्धि परि० ३।१।९७ में देखें ॥ 'उप पूर्वक स्था' धातु तथा 'प्र पूर्वक वच' धातु से तव्यत्तव्यानीयरः(३।१।९६)से अनीयर् प्रत्यय होकर उपस्थानीयः, प्रवचनीयः बना है ॥

'जन्यः' में तकिशसिचतियतिजनीनामुपसङ्ख्यानम् (वा० ३।१।९७) इस वार्त्तिक से यत् प्रत्यय हुआ है। 'आप्लाव्यः'में 'आङ् पूर्वक प्लु' धातु से ओरावश्यके (३।१।१२५) से ण्यत् प्रत्यय हुआ है। प्लु को प्लौ वृद्धि होकर पूर्ववत् आवादेश धातोस्तन्नि० (६।१।७७) से हो गया ॥

'आङ् पूर्वक पत्लृ' धातु से ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय होकर 'आपात्यः' बना है ॥ प्रकृत सूत्र से ये शब्द कर्त्ता में, तथा पक्ष में भाव कर्म में होते हैं ॥

—:०:—

परि० गत्यर्थाकर्म० (३।४।७२)

'गतः' में 'गम्' के अनुनासिक का लोप अनुदात्तोपदे० (६।४।३७)से हो जाता है ॥ व्रज इट् क्त='व्रजितः' बना है ॥ 'ग्लै' धातु को आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व होकर क्त प्रत्यय होता है। पुनः निष्ठा के त् को संयोगादेराती० (८।२।४३) से न् होकर 'ग्लानः' बना है ॥ 'श्लिष' धातु से 'उपश्लिष्टः' में ष्टुना ष्टुः(८।४।४०) से ष्टुत्व करना ही विशेष है ॥ 'शीङ्' धातु से परे निष्ठा प्रत्यय निष्ठा शीङ्स्विदि० (१।२।१९) से कित् नहीं माना जाता। अतः 'शी' को सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण, एवं अयादेश होकर 'शयितः'बना है ॥

'उपस्थितः' में 'स्था' धातु के था को घतिस्यतिमास्था० (७।४।४०) से इत्व होकर 'उप स्थित'=उपस्थितः बना है ॥

'अनु पूर्वक वस' धातु से वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण, तथा वसतिक्षुधोरिट् (७।२।५२) से इट् आगम होकर 'अनु उस् इट् त' रहा। शासिवसिघसी० (८।३।६०) से षत्व, तथा सवर्ण दीर्घ होकर 'अनूषितः' बना है ॥

'अनुजातः' में जनसनखनां० (६।४।४२) से जन् के 'न्' को आत्व हो जाता है ॥

आरूढः

रुह भूवादयो० (१।३।१), निष्ठा (३।२।१०२)।
आङ् रुह् क्त हो ढः (८।२।३१), झषस्तथोर्धो० (८।२।४०)।
आ रुढ् ध ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) लगकर—
आ रुढ् ढ ढो ढे लोपः (८।३।१३), ढ्लोपे पूर्वस्य० (६।३।१०६) लगकर—
आरूढ सु=आरूढः बन गया ॥

'जॄ' धातु को ऋत इद् धातोः (७।१।१००) से इत्व, एवं उरण्रपरः (१।१।५०) से रपरत्व होकर 'जिर् त' रहा। हलि च (८।२।७७) से दीर्घ, एवं रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से निष्ठा को नत्व होकर 'अनुजीर्न' बना। रषाभ्यां नो० (८।४।१) से णत्व होकर 'अनुजीर्णः' बन गया ॥

सर्वत्र प्रकृत सूत्र से क्त प्रत्यय कर्त्ता एवं यथाप्राप्त भाव कर्म में हुआ है, यही प्रयोजन है ॥

—:०:—

परि० ब्रुवः पञ्चाना० (३।४।८४)

आत्थ (तुम बोलते हो)

ब्रू लट्=ब्रू शप् सिप् प्रकृत सूत्र से सिप् को थल्, तथा ब्रू को 'आह' आदेश होकर, अदिप्रभृ० (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ।
आह थल् आहस्थः (८।२।३५) से ह को 'थ्' होकर—
आथ् थ खरि च (८।४।५४) लगकर—
आत्थ बना ॥

ब्रवीति (बोलता है)

'ब्रू शप् तिप्' पूर्ववत् होकर अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक्

हो गया। ब्रू व ईट् (७।३।९३) से हलादि पित् सार्वधातुक 'तिप्'को ईट् आगम होकर 'ब्रू ईट् ति' रहा। गुण एवं अवादेश होकर 'ब्रवीति' बन गया ॥

इसी प्रकार ब्रवीषि, ब्रवीमि में भी जानें। ब्रुवन्ति में अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से उवङ् आदेश होता है ॥

—:०:—

परि० सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७)

लुनीहि (तुम काटो)

लूञ्	भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
लू सिप्	क्र्यादिभ्य: श्ना (३।१।८१) लगकर—
लू श्ना सि	सेर्ह्यपिच्च से सि को हि आदेश, तथा सिप् के पित् होने से स्थानिवत् से जो हि को पित् प्राप्त था, उसको यहाँ अपित् कर दिया। प्वादीनां ह्रस्व: (७।३।८०) लगकर—
लु ना हि	हि के अपित् हो जाने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से 'हि' ङित्-वत् हो गया। तो ई हल्यघो: (६।४।११३) से 'ना' के 'आ' को ईत्व होकर—
लुनीहि	बन गया ॥

इसी प्रकार 'पुनीहि' में भी जानें। 'राध' धातु स्वादिगण की है, सो स्वादिभ्य: श्नु: (३।१।७३) से श्नु विकरण, तथा शेष पूर्ववत् होकर, 'राध्नुहि' बना है। तनूकरणे तक्ष: (३।१।७६) से 'तक्ष्णुहि' में श्नु विकरण होता है। रषाभ्यां०(८।४।१)से णत्व भी यहाँ हो जायेगा ॥

—:०:—

परि० आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२)

करवाणि

डुकृञ्	भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
कृ मिप्	तनादिकृञ्भ्य उ: (३।१।७९)। आडुत्तमस्य पिच्च।
कृ उ आट् मि	सार्वधातुका० (७।३।८४), उरण्रपर:(१।१।५०), मेर्नि:(३।४।८९)।
कर् उ आ नि	पुन: 'आनि' को निमित्त मानकर 'उ' को गुण हुआ।

कर् ओ आ नि एचोऽयवायावः (६।१।७५), अट् कुप्वाङ्० (८।४।२) लगकर—
कर् अव् आ नि=करवाणि बन गया ॥

वस् मस् में इसी प्रकार 'करवाव करवाम' की सिद्धि जानें। केवल यहां प्रकृत सूत्र से आट् के पित् माने जाने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) नहीं लगता। अतः गुण हो जाता है ॥

—:०:—

परि० आत ऐ (३।४।९५)

एधिषैते

एध	भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९०), लिङर्थे लेट् (३।४।७)।
एध् लेट्	लस्य (३।४।७७), तिप्तस्झि० (३।४।७८) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
एध् आताम्	सिब्बहुलं लेटि (३।१।३४), आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४)।

एध् सिप् आताम् आर्धधातुस्येड्० (७।२।३५), आद्यन्तौ० (१।१।४५)।
एध् इट् सिप् आताम् लेटोऽडाटौ (३।४।९४) लगकर—
एध् इ स् अट् आताम् आत ऐ से आताम् के 'आ' को 'ऐ' होकर—
एधिस् अ ऐ ताम् टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९), आदेशप्र० (८।३।५९)।
एधिष ऐ त् ए =एधिष ऐ ते वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर—
एधिषैते बना ॥

जिस पक्ष में लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से आट् आगम हुआ, उस पक्ष में पूर्ववत् ही सब कार्य होकर आट् के 'आ' एवं 'ऐ' को वृद्धि एकादेश होकर एधिषैते' ही रूप बनेगा। 'आथाम्' में भी इसी प्रकार सिद्धि होकर 'एधिषैथे' रूप बनेगा। जिस पक्ष में सिप् नहीं होगा, उस पक्ष में शप् विकरण होकर पूर्ववत् सारे कार्य होकर 'एध् शप् अट ऐ त् ए=एध अ ऐ ते' रहा। वृद्धि एकादेश होकर 'एधैते' बन गया। आट् पक्ष में भी 'एधैते' ही रूप बनेगा ॥

—:०:—

परि० वैतोऽन्यत्र (३।४।९६)

एधिषतै

एध् इट् सिप् अट् त पूर्ववत् होकर टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९)।

एधिस् अ ते वैतोऽन्यत्र से टित आत्मनेपदा० (३।४।७९) सूत्र से किये हुए ए को 'ऐ' होकर—

एधिस तै आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) लगकर—

एधिष तै=एधिषतै बना ॥

आट् पक्ष में 'एधिषातै' बना। जब सिप् नहीं हुआ, तो शप् होकर 'एध् शप् अट तैं'=एध् अ अ तैं रहा। अतो गुणे (६।१।९४) लगकर 'एधतै' बना। आट् पक्ष में 'एधातै' बनेगा। इसी प्रकार भू (भव्त), यास् आदि में समझें। सर्वत्र टित आत्म० (३।४।७९) से किये हुये ए को ऐ होगा ॥

वैतोऽन्यत्र से जिस पक्ष में टित आत्मने० से किये हुए 'ए' को 'ऐ' नहीं होता, उस पक्ष में 'एधिषते, एधिषाते' आदि रूप पूर्ववत् बने हैं। कोई विशेष नहीं है ॥

ईशै

ईश् पूर्ववत् शप् पक्ष में उत्तम पुरुष का इट् आकर—

ईश् शप अट् इट् अदि प्रभृति० (२।४।७२) से शप् लुक्। टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९) लगकर—

ईश् अ ए वैतोऽन्यत्र लगकर—

ईश् अ ऐ वृद्धिरेचि (६।१।८५) होकर—

ईशै बना ॥

इसी प्रकार 'शीङ्' धातु से गुण होकर 'शयै' बनेगा ॥

गृह्यान्तै

ग्रह उपादाने पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

ग्रह् आट् अन्त कर्मवाच्य में सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक् प्रत्यय हुआ।

ग्रह् यक् आट् अन्त टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९) से टि को एत्व।

ग्रह् य आ अन्ते वैतोऽन्यत्र, अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) लगकर—

ग्रह्य आन्तै यक् के कित् होने से ग्रहिज्यावयि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण हुआ। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)।

ग् ऋ अ ह् य आन्तै सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४), अकः सवर्णे० (६।१।९७) लगकर—

गृह्यान्तै बना ॥

इसी प्रकार 'वच परिभाषणे' धातु से 'उच्यान्तै' में समझें ॥

दधसे

धा	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर जब सिप् नहीं हुआ, तो शप् होकर—
धा शप् थास्	लेटोऽडाटौ (३।४।९४), जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५)।
धा अट् थास्	श्लु अर्थात् अदर्शन होकर श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व।
धा धा अ थास्	अभ्यासकार्यादि होकर—
द धा अ थास्	थासः से (३।४।८०) लगकर—
द धा अ से	अब यहाँ वैतोऽन्यत्र से 'से' के ए को ऐ होना चाहिए। पर सूत्र में विकल्प कहने से नहीं हुआ। घोर्लोपो लेटि वा (७।३।७०) से 'धा' के 'आ' का लोप होकर—

दध् अ से=दधसे बना ॥

दधसे उत्तरम्	एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—
दधसय् उत्तरम्	लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से लोप होकर—
दधस उत्तरम्	रहा ॥

—:०:—

परि० सिजभ्यस्त० (३।४।१०९)

'डुकृञ्' तथा 'हृञ्' धातुओं से लुङ् लकार में झि आकर, प्रकृत सूत्र से सिच से उत्तर झि को जुस्, एवं रुत्व विसर्जनीयादि होकर 'अकार्षुः' 'अहार्षुः' बना है। शेष सिद्धि परि० १।१।१ के अकार्षीत् के समान जानें ॥

'ञिभी' धातु से 'अबिभयुः', तथा 'हु' धातु से 'अजुहवुः' की सिद्धि लङ् लकार में जानें। परि० १।१।६२ के जुहुतः के समान यहाँ सब द्वित्वादि कार्य होंगे। द्वित्व कर लेने पर उभे अभ्यस्तम् (६।१।५) से द्वित्व किये हुये दोनों की अभ्यस्त संज्ञा हुई। सो प्रकृत सूत्र से अभ्यस्त से उत्तर 'झि' को जुस् हो गया। जुसि च (७।३।८३) से गुण होकर 'अ बि भे उस्' बना। अयादेश होकर 'अबिभयुः' (वे डरे) बना। अवादेश होकर 'अजुहवुः' (उन्होंने दिया) भी इसी प्रकार बना ॥

'जागृ' धातु के शप् का लुक् अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से होकर— 'अट् जागृ झि' रहा। जक्षित्यादयः षट् (६।१।६) से जागृ की अभ्यस्त संज्ञा होती है। इस प्रकार अभ्यस्त से उत्तर 'झि' हो जाता है। अतः प्रकृत सूत्र से झि को

जुस् होकर 'अ जागृ उस्' बना। जुसि च (७।३।८३) से गुण पूर्ववत् ही होकर 'अजागरुः' बना॥

'अट विद् शप् झि' यहाँ भी पूर्ववत् शप् का लुक् होकर 'अविदुः' बन गया॥

—:०:—

परि० लिट् च (३।४।११५)

'डुपचष्' धातु से 'पेचिथ' तथा 'शक्लृ' धातु से 'शेकिथ' में थल् परे रहते परि० ११।५८ के चक्रतुः के समान द्वित्वादि कार्य होकर—'प पच् थल्'; 'श शक् थल्' रहा। ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३) के नियम से इट् आगम, तथा थलि च सेटि(६।४।१२१) से थल् परे रहते अभ्यास-लोप, एवं 'अ' को एत्व होकर 'पेचिथ; शेकिथ' बना है। प्रकृत सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा करने का यही प्रयोजन है कि ७।२।६३ से इट् आगम हो जाये॥

'ग्लै म्लै' धातु से 'जग्ले मम्ले' की सिद्धि में द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् ही हैं। 'त' को लिटस्तझयो० (३।४।८१) से एश होकर—'ज ग्ला एश्'; 'म म्ला एश्' रहा। प्रकृत सूत्र से एश् की आर्धधातुक (स्थानिवत् होने से) संज्ञा होने से आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आकार-लोप होकर जग्ल् ए=जग्ले; मम्ल् ए=मम्ले बना है॥

—:०:—

परि० छन्दस्युभयथा (३।४।११७)

वर्धन्तु

'वृधु' धातु से वर्धन्तु में हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर, एवं गुण होकर 'वर्धि लोट्=वर्धि झि' रहा। झोऽन्तः (७।१।३), तथा एरुः (३।४।८६) लगकर—'वर्धि अन्तु' रहा। यहाँ प्रकृत सूत्र से अन्तु की आर्धधातुक संज्ञा होने से णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो गया। तथा शप् विकरण नहीं हुआ, तो 'वर्ध् अन्तु'=वर्धन्तु बन गया॥

स्वस्ति

'अस्' धातु से स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय होकर—'सु अस् क्तिन्' रहा। यणादेश होकर 'स्वस्ति' बन गया। यहाँ क्तिन् की आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से आर्धधातुक संज्ञा प्राप्त थी, पर छन्द में प्रकृत सूत्र से सार्वधातुक संज्ञा ही हुई। तो अस्तेर्भूः (२।४।५२) से अस् को भू आदेश नहीं हुआ। साथ ही सार्वधातुक संज्ञा भी होने से श्नसोरल्लोपः(६।४।१११)से अकार लोप नहीं हुआ॥

विभृण्विरे

'भृ' धातु से लिट् लकार में 'विभृण्विरे' रूप बना है। लिट् की लिट् च (३।४।११५) से आर्धधातुक संज्ञा प्राप्त थी। पर प्रकृत सूत्र से सार्वधातुक हो जाने से भ्रुवः भृ च (३।१।७४) से भ्रु को भृ आदेश तथा श्नु विकरण हो गया, तो 'वि भृ नु इरेच्' रहा। हुश्नुवोः० (६।४।८७) से यणादेश एवं णत्व होकर 'विभृण्विरे' बन गया। 'सुन्विरे' में पूर्ववत् ही सार्वधातुक संज्ञा होने से श्नु विकरण हो गया है। यहाँ विकरण का व्यवधान होने से धातु से अव्यवहित लिट् परे नहीं है। अतः लिटि धातोः० (६।१।८) से द्वित्व नहीं होता॥

उपस्थेयाम

पूर्ववत् लिङ् लकार में सब कार्य होकर—'उप स्था यासुट् मस्' रहा। प्रकृत सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा होने से एर्लिङि (६।४।६७) से स्था के आ को एत्व होकर—'उप स्थे यास् मस्' रहा। यहाँ छान्दस प्रयोग होने से लिङ्याशिष्यङ् (३।१।८६) से प्राप्त अङ् नहीं होता। लिङाशिषि (३।४।११६) से यहाँ भी लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा प्राप्त थी। पर प्रकृत सूत्र से सार्वधातुक संज्ञा होने से लिङः सलोपो० (७।२।७९) से सकार लोप हो गया, तो 'उपस्थेयाम' बन गया॥

इति तृतीयाध्याय-परिशिष्टम्॥

—:०:—

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित

वेदांग वाङ्मय

१. **शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र** १०.००
२. **निघण्टु-निर्वचनम्**- देवराजयज्वाकृत १५०.००
३. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**- नीलकण्ठ १५०.००
४. **निरुक्त-समुच्चयः**- वररुचिकृत ३०.००
५. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** १२.००
६. **अष्टाध्यायीभाष्य**- (संस्कृत-हिन्दी) पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्र-वृत्ति (पदच्छेद-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि) प्रथमभाग १४०.००
द्वितीयभाग ८०.००, तृतीयभाग १००.००
७. **पारिभाषिकः**-व्याख्याकार-आचार्य प्रद्युम्न। व्याकरण की परिभाषाओं की प्रामाणिक व्याख्या- ६०.००
८. **काशिका**-वामनजयादित्य- सं०- आचार्य विजयपाल जी ५००.००
९. **माधवीया धातुवृत्तिः**- सं०- आचार्य विजयपाल जी ५००.००
१०. **महाभाष्य**-यु०मी० कृत हिन्दीव्याख्यासहित- (दो अध्याय)प्रथमभाग(१) ६५.००, (२) ६०.००, द्वितीयभाग ८०.००, तृतीयभाग ८०.००
११. **वैदिक स्वरमीमांसा**- पं० युधिष्ठिर मीमांसक ६०.००
१२. **अष्टाध्यायी-शुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**- ५०.००
१३. **धातुपाठः** (धातुसूचीसहित) १०.००
१४. **क्षीरतरंगिणी** (धातुपाठ-व्याख्या) ८०.००
१५. **धातुप्रदीप-धातुपाठवृत्ति**- मैत्रेयरक्षित ६०.००
१६. **संस्कृत-धातु-कोष**-युधिष्ठिर मीमांसक ३०.००
१७. **संस्कृतपठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**
प्रथमभाग, ३५.००, द्वितीयभाग ५०.००
प्रथमभाग का अंग्रेजी अनुवाद ८०.००
१८. **उणादिकोष**-ऋषि दयानन्द ४०.००
१९. **दशपाद्युणादिवृत्ति-संग्रह**-प्रथमभाग (माणिक्यदेव विरचित अति प्राचीन वृत्ति, अनेक परिशिष्टों के साथ) सं०- यु०मी०, चन्द्रदत्त शर्मा ६०.००
द्वितीय भाग में तीन प्राचीन वृत्तियों का संग्रह ६०.००
२०. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**- प्रथमभाग २००.०० ,
द्वितीयभाग २००.००
२१. **वैदिकवाङ्मय में प्रयुक्त स्वरांकन प्रकार**- पं० यु० मी० १२.००